

श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती विरचित

लब्धिसार

(सिद्धान्तबोधिनी टीका सम्बन्धित)

सम्पादक :
स्व. ब्र. पं. रत्नचन्द्र मुख्तार
सहारनपुर (उ.प्र.)

लब्धिसार विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
मंगलाचरण	१	गुणध्वेष्टि निर्जराका कथन	५८
प्रथमोपशम सम्यक्त्व		गुण संक्रमण का कथन	६१
प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के योग्य जीव	१	स्थिति काण्डक का स्वरूप	६२
पंचलब्धियों का नाम निर्देश	४	स्थिति काण्डक धातु की विशेषताएं	६३
सप्तोपशमलब्धि-विशुद्धिलब्धि का स्वरूप	५	अनुभाग काण्डक धातु आदि का कथन	६४
देशनालब्धि का स्वरूप	६	अनिवृत्तिकरण का स्वरूप और उसमें होने वाले कार्य	६७
प्रायोग्यलब्धिका स्वरूप	७	अन्तरकरण सम्बन्धी कथन	६८
प्रथमोपशम सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता का विवेचन	७	अन्तरकरण के पश्चात् होने वाले विशेष कार्य	७१
प्रथमोपशम सम्यक्त्वाभिमुख स्थितिवन्धपरिणाम	९	प्रथमोपशम सम्यक्त्व के ग्रहणकाल में होने वाले	
प्रायोग्य लब्धिकाल में प्रकृति बन्धापसरण	९	विशेष कार्य	७२
चौत्तीस प्रकृति बन्धापसरण का प्रतिपादन	१०	मिथ्यात्व को तीन भागों में विभक्त करने की विधि	७३
चारोंगतियों में पाये जाने वाले बन्धापसरण	१४	गुण संक्रमण की सीमा और विव्यातसंक्रम का	
गतियोंके आधार से बध्यमान प्रकृतियों का प्रतिपादन	१७	प्रारम्भ	७४
स्थिति-अनुभागबन्ध का कथन	१९	अनुभाग काण्डकोत्कीरण कालादि २५ पदों का	
सम्यक्त्वाभिमुख मिथ्यादृष्टि के प्रदेशविभाग	२०	अलवहुत्य	७५
महादण्डकों में कथित अपुनरुक्त प्रकृतियां	२१	प्रथमोपशम ग्रहणकाल में स्थिति सत्त्व का कथन	८०
प्रथमोपशम सम्यक्त्वाभिमुख विशुद्ध मिथ्यादृष्टि के		देशसंयम व सकलसंयम के साथ प्रथमोपशम सम्यक्त्व	
उदययोग्य प्रकृति सम्बन्धी स्थिति-अनुभाग तथा		ग्रहण करने वाले जीव के स्थिति सत्त्व	८०
प्रदेशों की उदय-उत्तीरणा का कथन	२४	दर्शन मोहोपशम काल में होने वाली विशेषता	८१
प्रकृत सत्त्व के सम्बन्ध में विशेष विचार	२५	सासादन का स्वरूप एवं काल का कथन	८२
सत्कर्म प्रकृतियों के स्थित्यादि सत्कर्म कथन		उपशम सम्यक्त्व सम्बन्धी प्रारम्भिक सामग्री	८३
पूर्वक प्रायोग्यलब्धि का उपसंहार	२७	उपशम सम्यक्त्व काल के अनन्तर उदययोग्य कर्म	
करणलब्धि का विवेचन	२८	का विशेष कथन	८७
अधःप्रवृत्तादि तीन करणों का स्वरूप	२९	दर्शन मोहनीयकर्म के अन्तरायाम पूरण का विधान	८७
अधःकरण का विशेष विवेचन	३०	सम्यक्त्व प्रकृति के उदय का कार्य	९०
अपूर्वकरण का विशेष विचार	४१	मिश्र प्रकृति के उदय का कार्य	९२
गुणध्वेष्टि का स्वरूप निर्देश	४५	मिथ्यात्व प्रकृति के उदय का कार्य	९६
निक्षेप व अतिस्थापना का विशेष कथन	४६	प्रथमोपशम सम्यक्त्व चूलिका	९८
व्याघातापेक्षा उत्कृष्ट अतिस्थापना	४९	आधिक सम्यक्त्व प्ररूपणा—	
उत्कर्षण सम्बन्धी विशेष निर्देश	५०	आधिक सम्यक्त्वोत्पत्ति की सामग्री	१०४

दर्शन मोह की अपणा करने वाले प्रस्थापक- निष्ठापक के सम्बन्ध में विशेष कथन	१०५	देशसंयम के कार्य विशेष का कथन	१४६
अनस्तानुबन्धी की विसंयोजना सम्बन्धी कथन	१०६	अथाप्रवृत्तसंयत के काल में होने वाले कार्य	१४७
विसंयोजना के अनन्तर होने वाले कार्य	१०६	विशेष का स्पष्टीकरण	१४७
मिश्रद्विक की चरमफालिका गुण श्रेणी में निहित	११८	अथाप्रवृत्तसंयत के गुणश्रेणि द्रव्य की प्ररूपणा	१४८
द्रव्य के क्रमसहित प्रमाणादि का कथन	११८	अथाप्रवृत्तसंयत की प्रतिष्ठा पूर्वक अल्पबहुत्व का कथन	१४९
अनुभाग अपवर्तन का निर्देश	१२०	देशसंयम की जघन्य-उत्कृष्टलब्धि के साथ उसके अल्पबहुत्व का कथन	१५१
सम्यक्त्व के छठ वर्ष प्रमाण स्थिति सत्त्व रहने पर होने वाले कार्य विशेष	१२२	जघन्य देशसंयम के अविभागी प्रतिच्छेदों के प्रमाण का कथन एवं उक्त संयम के भेदों व उसमें अन्तर का निर्देश	१५२
छठ वर्ष की स्थिति के बाद होने वाले कार्य विशेष	१२२	देशसंयम के जघन्य व उत्कृष्ट रूप से प्रतिपातादि तीन भेदों में कौन किसमें है	१५३
अन्तिम काण्डक का विधान	१२६	देशसंयम के उक्त प्रतिपातादि भेदों में स्वामित्व का निर्देश	१५४
साम्प्रतिक गुण श्रेणि के स्वरूप निर्देश पूर्वक चरमफालि का पतनकाल	१२९	सकलचारित्र की प्ररूपणा का प्रारम्भ	१५७
कृतकृत्यवेदक सम्यक्त्व के प्रारम्भ समय में अवस्था विशेष की प्ररूपणा	१३१	वेदकसम्यक्त्व के मांय मिथ्यात्वी आदि जीव के सकलसंयम ग्रहण समय में होने वाली विशेषता	१५७
अधःकरण के प्रथम समय से कृतकृत्यवेदक के चरम समय पर्यन्त लेश्या परिवर्तन होने यथावा न होने सम्बन्धी कथन	१३२	देशसंयम के समान सकलसंयम में होने वाली प्रक्रिया विशेष का निर्देश	१५८
कृतकृत्यवेदक काल में पायी जाने वाली क्रिया विशेष	१३३	जघन्यसंयत के विशुद्ध सम्बन्धी अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्या	१५९
अल्पबहुत्व के कथन की प्रतिष्ठा	१३६	सकलसंयम सम्बन्धी प्रतिपातादि भेदों को बताते हुए प्रतिपाद भेद स्थानों का कथन	१६०
अल्पबहुत्व के ३३ स्थानों का कथन	१३६	प्रतिपक्षमान स्थानों का कथन	१६१
आधिक सम्यक्त्व के कारण गुण-भ्रमसीमा- आधिक-लब्धिरूप आदि का कथन	१४१	अनुभय स्थानों का कथन	१६२
चारित्र्यलब्धि अधिकार—		सूक्ष्म साम्पराय व यथाख्यातसंयम स्थान प्रतिपातादि स्थानों का विशेष कथन	१६३
देशसंयम और सकलसंयमलब्धि की प्ररूपणा	१४३	धारित्र्यमोहनोपशमनाधिकार—	
मिथ्यादृष्टि के देशसंयम की प्राप्ति के पूर्व पायी जाने वाली सामग्री का कथन	१४३	उपशान्त कषाय वीतरागियों को नमन करके उपशमचारित्र का विधान प्ररूपण	१६९
उपशम सम्यक्त्व के साथ देशसंयम को ग्रहण करने वाले जीव का कार्य	१४४	दर्शनमोह के उपशमका निर्देश, उपशमश्रेणि पर प्रारोहण की योग्यता का निर्देश तथा दर्शन- मोहोपशम में गुणसंकमण के अभाव का प्रतिपादन	१७०
मिथ्यादृष्टि जीव के वेदक सम्यक्त्व के साथ देश- चारित्र्य ग्रहण के समय होने वाली विशेषता	१४४		
देशसंयम की प्राप्ति के समय से गुण श्रेणि रूप कार्य विशेष	१४६		

विषय	पृष्ठ
दर्शनमोहोपशम के समय पाया जाने वाला स्थिति- सत्त्व विशेष, अपूर्वकरण में होने वाले कार्य विशेष, अन्तरकरण आदि का कथन	१७२
दर्शनमोह के संक्रम सम्बन्धी विशेष ऊहापोह	१७४
द्वितीयोपशम सम्प्रदृष्टि के विशुद्धि सम्बन्धी	
एकान्तानुवृद्धि काल का प्रमाण	१७५
द्वितीयोपशम सम्प्रदृष्टि के विशुद्धि में हानि-वृद्धि का कथन	१७६
उपशमश्रेणि में होने वाले प्रमुख कार्य	१७६
चारित्र्य मोहोपशम विधान में पाये जाने वाले आठ कार्य	१७७
अपूर्वकरण में स्थिति काण्डक का कथन	१७७
अनुभाग काण्डक आदि के प्रमाण का निर्देश	१७९
अपूर्वकरण के प्रथम समय में गुरुश्रेणि निर्जरा का प्ररूपण	१८०
अपूर्वकरण में बन्ध-उदय व्युत्थिति को प्राप्त प्रकृतियाँ	१८०
अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में होने वाले कार्यों का निर्देश	१८१
अनिवृत्तिकरण गुरु स्थान के प्रथम समय में कर्मों के स्थितिबन्ध-स्थितिसत्त्व के प्रमाण का कथन	१८३
अनिवृत्तिकरण काल में स्थितिबन्धापसरण के क्रम से स्थितिबन्धों के क्रमशः अल्प होने का कथन	१८३
बन्धापसरण के विषय में विशेष कथन	१८५
स्थिति बन्धों के क्रमकरणकाल में स्थिति बन्धों का प्रमाण	१८६
उक्त प्रकरण में अल्पबहुत्व प्ररूपणा सम्बन्धी विशेषताएँ	१८८
द्वितीय क्रम का निर्देश	१८८
अन्य क्रम के निर्देशपूर्वक पुनरपि क्रम भेद निर्देश	१८६
क्रमकरण के उपसंहारपूर्वक उसके अन्त में होने वाली असंख्यात समय प्रवृत्तियों की उदीरणा का सकारण प्रतिपादन	१९०

विषय	पृष्ठ
देश घातिकरण का कथन	१९१
अन्तरकरण का निरूपण	१९३
अन्तरकरण की विधि का प्रतिपादन	१९५
अन्तरकरणकी निष्पत्ति के अनन्तर समय में होने वाली क्रिया विशेष	१९७
चारित्र्यमोहोपशम का क्रम	१९९
उक्त क्रम में सर्वप्रथम नपुंसक वेद का उपशम विधान	२००
उदीरणा और उदयादिरूप द्रव्यसम्बन्धी अल्पबहुत्व	२०१
स्थिति काण्डकादि के अभाव का निर्देश	२०२
स्थिति बन्धापसरण के प्रमाण का निर्देश	२०३
स्थिति बन्धापसरण सम्बन्धी विशेष कथन	२०४
नपुंसकेदोपशमता के पश्चात् होने वाली स्त्री- वेदोपशमता का कथन	२०४
स्त्रीवेद के उपशमन काल में होने वाले कार्य विशेष	२०५
सात नौकषायोपशमता एवं क्रिया विशेष का कथन	२०६
पुरुषवेद के उपशमनकाल के अन्तिम समय में स्थिति बन्ध प्रमाण प्ररूपणा	२०८
पुरुषवेद की प्रथम स्थिति में दो आवलि शेष रहने पर होने वाली क्रियान्तर	२०८
अहं नौ कषाय के द्रव्य का पुरुष वेद में संक्रमित होने का निषेध	२०९
पुरुष वेद सम्बन्धी नवकबन्ध के उपशम का विधान	२०९
अपगत वेद के प्रथम समय में स्थितिबन्ध का कथन	२१०
अपगतवेदी के अन्य कार्य	२११
क्रोध द्रव्य के संक्रम का विशेष	२१२
उपशमनावली के अन्तिम समय में होने वाली क्रिया विशेष	२१३
मानत्रय का उपशम विधान	२१४
प्रत्यावलि में एक समय शेष रहने पर होने वाले कार्य	२१६
माया की प्रथम स्थिति करने का निर्देश	२१७
मायात्रय के उपशम विधान का कथन	२१८
लोभत्रय के उपशम विधान का कथन	२२०

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
संज्वलन लोभ के अनुभागसंख्य की कृष्टिकरण विधि	२२१	अवरोहण (पतन) की अपेक्षा नवम गुण स्थान को प्राप्त जीव की क्रिया विशेष का कथन	२५९
संज्वलन लोभ सम्बन्धी कृष्टियों की निक्षेपण विधि	२२२	मायावेदक के क्रिया विशेष	२६१
द्वितीयादि समयों में निक्षेपण का कथन	२२३	मानवेदक जीव के कार्य विशेष	२६३
कृष्टिगत द्रव्यों के विभाग का निर्देश	२२४	संज्वलन क्रोध में होने वाली क्रिया विशेष का विचार	२६४
तृतीयादि समयों में कृष्टियों के विशेष कथन पूर्वक निक्षेपद्रव्य के पूर्व-अपूर्वगत संधि विशेष का कथन	२३२	अवरोहक नवम गुण स्थानवर्ती के पुरुषोदयकाल सम्बन्धी क्रिया विशेष	२६६
कृष्टियों का शक्ति सम्बन्धी अल्पबहुत्व	२३४	स्त्रीवेद के उपशम के विनाश की प्ररूपणा	२६८
कृष्टिकरण काल में स्थितिबन्ध के प्रमाण की प्ररूपणा	२३५	नपुंसकवेद के विनाश व उस समय होने वाली क्रिया विशेष	२७०
संक्रमणकाल सम्बन्धी अवधि का विचार	२३७	उतरते हुए लोभसंक्रमण, बंधावलि व्यतीत होने पर उधीरणा की प्ररूपणा	२७१
लोभत्रय की उपशमन विधि	२३७	क्रमकरण के नाश का विधान	२७४
सूक्ष्म साम्पराय में किये जाने वाले कार्य विशेष	२३८	अवरोहक अनिवृत्तिकरण के चरम समय का स्थितिबन्ध	२८०
सूक्ष्म साम्पराय गुण स्थान के प्रथम समय में उधीयमान कृष्टियों का निर्देश	२३९	अवरोहणापेक्षा अपूर्वकरण में होने वाले कार्य विशेष	२८१
द्वितीयादि समयों में उदयानुकृष्टि का निर्देश	२४०	अधःप्रवृत्तिकरण के प्रथम समय में अवस्थित गुण श्रेणि	२८२
सूक्ष्मकृष्टि द्रव्य के उपशम की विधि एवं सूक्ष्म-साम्पराय के अन्त में कर्मों के स्थिति बन्ध का निर्देश	२४१	प्राचीन गुणश्रेणि के विशेष निर्देश	२८४
पूर्वोक्त कथन का उपसंहार	२४२	एव स्थान संयमी के गुणश्रेणि आयाम के तीन स्थान	२८५
उपशान्तकषाय कब होता है ? इसका निर्देश	२४३	अवरोहक अप्रमत्त के अधःप्रवृत्तिकरण में संक्रम विशेष का कथन	२८६
उपशान्तकषाय गुण स्थान के काल का कथन करते हुए विशेष स्पष्टीकरण	२४४	द्वितीयोपशम सम्पत्त्व के कालका प्रमाण	२८६
उक्त गुण स्थान में उदय योग्य ५९ प्रकृतियों में अवस्थित-अनवस्थित वेदन वाली प्रकृतियों का विभाजन	२४६	द्वितीयोपशम सम्पत्त्व से सासावन को प्राप्त जीव के मरण का कथन करते हुए सासावनवर्ती जीव का अन्य गतित्रय में मरण नहीं होने का कारण	२८८
चरित्र मोहोपशमना परिशिष्ट अधिकार	२४९	उपश्रेणि से उतरते हुए जीव के सासावन की प्राप्ति का अभाव	२८९
उपशान्तकषाय से अधःपतन कथनाधिकार—		उपश्रेणि चढ़ने वाले १२ प्रकार के जीवों की क्रिया में पाये जाने वाले भेद का कथन	२९०
उपशान्तकषाय वीतरागी के भवशयरूप पतन कारण का विवेचन	२५३	उपशमश्रेणी में अल्पबहुत्व के कथन की प्रतिज्ञा	
उपशान्तकषाय वीतरागी के कालक्षयरूप पतन कारण का प्ररूपण	२५४	पुरस्सर अल्पबहुत्व स्थानों का कथन	२९७
उपशान्तकषाय से गिरकर सूक्ष्मसाम्पराय गुण स्थान को प्राप्त जीव के कार्य विशेष	२५५		





लब्धिसार

“सिद्धान्तबोधिनी हिन्दोटीका”

“मंगलाचरणम्”

सिद्धे जिणिंदचंदे आयरिय उवउभाय साहुगणे ।

वंदिय सम्मद सण-चरित्तलद्धि परूवेमो ॥१॥

अर्थ—मैं नेमिचन्द्रआचार्य सिद्ध-अरिहन्त-आचार्य-उपाध्याय तथा सर्वसाधुओं को नमस्कार करके सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र्यकी प्राप्ति (के उपाय) को कहूंगा ।

विशेषार्थ—चन्द्रमाके समान सम्पूर्णलोकके प्रकाशक अरहन्त भगवान्को, जिनके सभी कार्य सिद्ध होनेसे जो कृतकृत्य हो गये हैं अर्थात् जिन्होंने सम्पूर्णकर्मोंका क्षय कर दिया है ऐसे सिद्ध भगवान्को, तेरहप्रकारके चारित्र्यमें जो स्वयं प्रवृत्ति करते हैं तथा अन्यको प्रवृत्ति कराते हैं ऐसे आचार्यको, जिनवाणीके पठन-पाठनमें रत उपाध्यायों को और रत्नत्रयके साधक साधुगणोंको अर्थात् इन पंचपरमेष्ठियोंको नमस्कार करके श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीने लब्धिसारग्रन्थको कहनेकी प्रतिज्ञा की है । इस लब्धिसार ग्रन्थमें सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र्य की प्राप्तिके उपायका कथन किया जावेगा ।

प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्तिके योग्य जीवको बताते हैं—

‘चदुगदिमिच्छो सरणी पुरणो गवभज विसुद्ध सागारो ।

पढमुवसमं स गिरहदि पंचमवरलद्धिचरिमग्धि ॥२॥

१. दृश्यतां षट्स्रष्टागम, जीवस्थान जूलिका (अष्टमी) सूत्र ४ एवं किञ्चित् पाठान्तरेण जीवकांडेऽपि आगता गाथेयं । (गो. जी. मा. ६५२)

अर्थ—चारोंगतिका मिथ्यादृष्टि-संज्ञी-पर्याप्त-गर्भज-विशुद्धपरिणामी-साका-रोपयोगी जीव अंतिम पंचमलब्धिका अंत होनेपर प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम करनेवाला जीव सामान्यरूपसे चारों ही गतियोंमें होता है। 'सण्णी' पदसे तिर्यञ्चगति सम्बन्धी एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंका प्रतिषेध किया गया है। पर्याप्तावस्थामें ही सम्यक्त्वोत्पत्ति की योग्यता होती है, अपर्याप्तावस्थामें नहीं इसलिये 'पुण्णो' विशेषण दिया गया है। लब्धव्यपर्याप्त और निवृत्त्यपर्याप्तावस्थाको छोड़कर नियमसे संज्ञीपंचेन्द्रियपर्याप्तजीव ही प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्तिके योग्य होता है'।

नरकगतिसम्बन्धी सर्व नारकपृथ्वियोंके सभी इन्द्रकबिलोंमें, सर्व श्रेणिबद्ध व प्रकीर्णकबिलोंमें विद्यमान नारकीजीव यथोक्तसामग्रीसे परिणत होकर वेदनाअभि-भवादि कारणोंसे प्रथमोपशमसम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं। भवनवासियोंके जितने आवास हैं, उन सभीमें उत्पन्न हुए जीव जिनबिम्बदर्शन और देवद्विदर्शनादि कारणोंसे प्रथमोप-शमसम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं। सर्व द्वीप और समुद्रोंमें रहनेवाले संज्ञीपंचेन्द्रियतिर्यञ्च-पर्याप्त तथा ढाईद्वीप-समुद्रोंमें संख्यातवर्षकी आयुवाले गर्भज और असंख्यातवर्षकी आयु-वाले सभी मनुष्य जातिस्मरणा, धर्मश्रवणादि निमित्तोंसे अपने-अपने लिए सर्वत्र प्रथमो-पशमसम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं, यहां देशविशेषका नियम नहीं है।

शंका—असंज्ञीजीवोंसे रहित असंख्यातसमुद्रोंमें तिर्यञ्चोंका प्रथमोपशमसम्यक्त्व को उत्पन्न करना कैसे सम्भव है ?

समाधान—उन असंख्यातसमुद्रोंमें भी बैरीदेवोंके द्वारा ले जाये गये तिर्यञ्चोंके प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्ति पाई जाती है। असंख्यातद्वीप-समुद्रोंमें जो व्यन्तरावास हैं उन सभीमें वर्तमान वानव्यन्तरदेव जिनमहिमादर्शनादि कारणोंसे प्रथमोपशमसम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं।

ज्योतिषीदेव भी जिनबिम्बदर्शन और देवद्विदर्शनादि कारणोंसे सर्वत्र प्रथमो-पशमसम्यग्दर्शनको उत्पन्नकरनेके योग्य होते हैं। सौधर्मकल्पसे उपरिमर्त्रवेयकपर्यन्त सर्वत्र विद्यमान और अपनी-अपनी जातिसे सम्बन्धित सम्यक्त्वोत्पत्तिके कारणोंसे परिणत हुए देव प्रथमोपशमसम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं।

शंका—उनसे (उपरिमग्न वेयकसे) आगे अनुदिश और अनुत्तरविमानवामी-देवोंमें प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान—अनुदिश व अनुत्तरविमानोंमें प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि उनमें सम्यग्दृष्टिजीवोंके ही उत्पन्न होनेका नियम है ।

आभियोग्य और कित्विषिकादि अनुत्तमदेवोंमें भी यथोक्त हेतुओंका सन्निधान होनेपर प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्ति अविरुद्ध है^१ । तिर्यञ्च व मनुष्योंमें गर्भजको ही प्रथमोपशमसम्यक्त्व होता है, सम्मूर्च्छनको नहीं होता ।

दर्शनमोहके उपशामक जीव विशुद्धपरिणामी ही होते हैं, अविशुद्धपरिणामी नहीं । अधःप्रवृत्तकरणके पूर्व ही अन्तर्मुहूर्तसे लेकर अनन्तगुणी विशुद्धि प्रारम्भ हो जाती है ।

शंका—ऐसा किस कारणसे है ?

समाधान—जो जीव अतिदुस्तर मिथ्यात्वरूपी गर्तसे उद्धार करनेका मनवाला है, जो अलब्धपूर्व सम्यक्त्वरूपी रत्नको प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छावाला है जो प्रतिसमय क्षयोपशमलब्धि और देशनालब्धि आदि के बलसे वृद्धिगत सामर्थ्यवाला है और जिसके संवेग व निर्वेदसे उत्तरोत्तर हर्षमें वृद्धि हो रही है उसके प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिकी प्राप्ति होनेका निषेध नहीं है^२ ।

जिसके द्वारा उपयुक्त होता है उसका नाम उपयोग है । अर्थके ग्रहणरूप आत्म परिणामको भी उपयोग कहते हैं । उपयोगके साकार और अनाकारके भेदसे दो प्रकार हैं । इनमें से साकार तो ज्ञानोपयोग और अनाकार दर्शनोपयोग है, इनके क्रमसे मतिज्ञानादिक और चक्षुदर्शनादिक भेद हैं । दर्शनमोहका उपशामकजीव साकारोपयोगसे परिणत होता हुआ प्रथमोपशमसम्यक्त्वको उत्पन्न करता है, क्योंकि अविमर्शक और सामान्यमात्रग्राही चेतनाकार दर्शनोपयोगके द्वारा विमर्शकस्वरूप तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके प्रति अभिमुखपना नहीं बन सकता । इसलिए मति-श्रुतअज्ञान (कुमति व कुश्रुतज्ञान) से या विभंगज्ञानसे परिणत होकर यह जीव प्रथमोपशम-

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २६८ से ३०० ।

२. ज. ध. पु. १२. पृ. २०० ।

सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेके योग्य होता है' । विमर्शकका अर्थ है किसी तथ्यका अनु-
संधान, किसी विषयका विवेचन या विचार ।

सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा वेदकसम्यग्दृष्टिजीव प्रथमो-
पशमसम्यक्त्वको प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि इन जीवोंके प्रथमोपशमसम्यक्त्वरूप परिणामन
होनेकी शक्तिका अभाव है । उपशमश्रेणिपर चढ़नेवाले वेदकसम्यग्दृष्टिजीव उपशम-
सम्यक्त्वको प्राप्त करनेवाले होते हैं, किन्तु उस सम्यक्त्वका 'प्रथमोपशमसम्यक्त्व' यह
नाम नहीं है, क्योंकि उस उपशमश्रेणिवाले उपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्ति सम्यक्त्वपूर्वक
होती है^१ इसलिये प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करनेवाला मिथ्यादृष्टि ही होना
चाहिए^२ ।

अथानन्तर सम्यक्त्वोत्पत्तिसे पूर्व मिथ्यात्वगुणस्थानमें जो पांचलब्धियां होती
हैं उनका व्याख्यान करते हैं—

‘खयउवसमियविसोही, देसणपाउम्भकरणलद्धि य ।

चत्तारि वि सामण्णा, करणं सम्मत्तचारित्ते ॥३॥

अर्थ—‘प्रथमोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य व करणलब्धि ये पांच लब्धियां
हैं इनमेंसे चार लब्धियां तो सामान्य हैं^३ तथा करणलब्धिके होनेपर (उपशम) सम्यक्त्व
या चारित्र्य अवश्य होता है ।

विशेषार्थ—यहां गाथामें जो ‘सामण्णा’ शब्द है इसका प्रयोग आगे गाथा ७
व १५ में भी हुआ है, किन्तु प्रत्येकगाथामें ‘सामण्णा’ शब्द विभिन्न विषयोंका द्योतक
है । यहांपर ‘करणं सम्मत्तचारित्ते’ से यह स्पष्ट हो जाता है कि करणलब्धिसे पूर्वकी

१. ज. घ. पु. १२ पृ. २०३-२०४
२. ‘सम्यग्दृष्टिरेव द्वितीयोपशमं प्राप्नोति;’ घ. पु. १ पृ. २११-१२; मूलाचार अ. १२ गा १०५ की
टीका; स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ४८४ की टीका ।
३. घ. पु. ६ पृ. २०६-७ व घ. पु. १ पृ. ४१० ।
४. घ. पु. ६ पृ. २०५, परंतत्र चतुर्थचरणं “करणं पुण होइ सम्मत्त” इति पाठः । इयमेव गाथा
धवला जीवस्थानचूलिकायां (षष्ठे पुस्तके) अप्यागता, घ. पु. ६ पृ. १३६; गो जी. गा. ६५१ ।
५. एदाओ चत्तारिवि लद्धीओ भवियाभवियमिच्छाइट्ठीणं साहारणाओ । .

(क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना व प्रायोग्य) चार लब्धियां होनेपर प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्तिका नियम नहीं है, किन्तु करणलब्धि के प्रारम्भ होनेपर प्रथमोपशमसम्यक्त्व अवश्य उत्पन्न होगा। जिन जीवोंको प्रथमोपशम सम्यक्त्व होना है उनको तथा जिनको नहीं होना है उनको भी क्षयोपशमादि चारलब्धियां हो जाती हैं। अतः प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्ति और अनुत्पत्तिकी अपेक्षा आदिकी चारों लब्धियां साधारण (सामान्य) हैं।

अब क्रमप्राप्त क्षयोपशमलब्धिका स्वरूप कहते हैं—

कम्ममलपटलसत्ती पडिसमयमणंतगुणविहीणकमा ।

होदूणुदीरदि जदा तदा त्वओवसमलद्धी दु ॥४॥

अर्थ—प्रतिसमय क्रमसे अनन्तगुणी हीन होकर कर्ममलपटल शक्तिकी जब उदीरणा होती है तब क्षयोपशम लब्धि होती है।

विशेषार्थ—पूर्वसंचित कर्मोंके मलरूप पटलके अर्थात् अप्रशस्त (पाप) कर्मोंके अनुभागस्पर्धक जिससमय विशुद्धिके द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुणीहीन होते हुए उदीरणाको प्राप्त होते हैं उससमय, क्षयोपशमलब्धि होती है^१।

अब विशुद्धिलब्धिका स्वरूप कहते हैं—

आदिमलद्धिभवो जो भावो जीवस्स सादपहुदीणं ।

सत्थाणं पयडीणं बंधणजोगो विसुद्धलद्धी सो ॥५॥

अर्थ—आदि (प्रथम) लब्धि होनेपर साताआदि प्रशस्त (पुण्य) प्रकृतियोंके बन्धयोग्य जो जीवके परिणाम वह विशुद्धिलब्धि है।

विशेषार्थ—प्रतिसमय अनन्तगुणितहीन क्रमसे उदीरित अनुभागस्पर्धकोंसे उत्पन्न हुआ साताआदि शुभकर्मोंके बन्धका निमित्तभूत और असाताआदि अशुभकर्मोंके बन्धका विरोधी जो जीवका परिणाम, वह विशुद्धि है उसकी प्राप्ति का नाम विशुद्धिलब्धि है^२।

१. ध. पु. ६ पृ. २०४।

२. ध. पु. ६ पृ. २०४।

अथानन्तर देशनालब्धिका स्वरूप कहते हैं—

छद्मवणवपयत्थोवदेसयरसूरिपहुदिलाहो जो ।

देसिदपदस्थधारणलाहो वा तदियलखी दु ॥६॥

अर्थ—छद्मद्रव्य और नवपदार्थका उपदेश देनेवाले, आचार्यादिका लक्षण तथा वा उपदेशित पदार्थोंको धारण करनेका लाभ, यह तृतीयलब्धि है ।

विशेषार्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छद्मद्रव्योंके और जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन नौ पदार्थोंके उपदेशका नाम 'देशना' है । उस देशनासे परिणत आचार्यादिकी उपलब्धिको और उपदिष्ट अर्थके ग्रहण, धारण तथा विचारणकी शक्तिके समागमको देशनालब्धि कहते हैं^१ ।

गाथाके अन्तमें 'दु' शब्द आया है उसके द्वारा वेदनानुभव, जातिस्मरण, जिनबिम्बदर्शन, देवऋद्धि दर्शनादि कारणोंका ग्रहण होता है, क्योंकि इन कारणोंसे नैसर्गिक प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होता है । जो प्रथमोपशमसम्यक्त्व धर्मोपदेशके बिना जिनबिम्बदर्शनादि कारणोंसे उत्पन्न होता है वह नैसर्गिकसम्यग्दर्शन है,^२ क्योंकि जातिस्मरण और जिनबिम्बदर्शनके बिना नैसर्गिक प्रथमसम्यग्दर्शनका उत्पन्न होना असम्भव है^३ । जिनबिम्बदर्शनसे निधत्ति और निकाचितरूप भी मिथ्यात्वादि कर्म-कलापका क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिम्बदर्शन प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें कारण होता है^४ । जिनपूजा, वंदना और नमस्कारसे भी बहुत कर्मप्रदेशोंकी निर्जरा होती है^५ । सामान्यरूपसे भवस्मरण (जातिस्मरण) के द्वारा सम्यक्त्वकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु धर्मबुद्धिसे पूर्वभवमें किये गये मिथ्यानुष्ठानोंकी विफलताका दर्शन प्रथमो-पशमसम्यक्त्वके लिए कारण होता है^६ ।

१. ध. पु. ६ पृ. २०४ ।

२. "बाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम्" [सर्वार्थसिद्धि १।३ व राजवार्तिक १।३।५]

३. जाइस्स जिणबिबदंसणेहि विणा उप्पज्जमाणणइसग्गियपढमसम्मत्तस्स असंभावादो (ध. पु. ६ पृ. ४३१)

४. ध. पु. ६ पृ. ४२७ ।

५. ध. पु. १० पृ. २८६ ।

६. ध. पु. ६ पृ. ४२२ ।

अब प्रायोग्यलब्धिका स्वरूप कहते हैं—

अंतोकोडाकोडी विट्ठाणे ठिदिरसाण जं करणं ।

पाउभगलद्धिणामा भव्वाभव्वेसु सामणणा ॥७॥

अर्थ—कर्मोंकी स्थितिको अन्तःकोडाकोडी तथा अनुभागको द्विस्थानिक करने को प्रायोग्यलब्धि कहते हैं । यह लब्धि भव्य और अभव्यके समानरूपसे होती है ।

विशेषार्थ—अंतःकोडाकोडीसागर कर्मस्थिति रह जानेपर संजीपंचेन्द्रियपर्याप्त-जीवके प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी प्राप्तिकी योग्यता होती है । इस प्रायोग्यलब्धिमें इतनी विशुद्धता हो जाती है कि सर्वकर्मोंकी उत्कृष्टस्थितिका काण्डकघातके द्वारा घातकरके अन्तःकोडाकोडीसागरप्रमाण स्थिति कर देता है तथा अप्रशस्तप्रकृतियोंके चतुःस्थानीय अनुभागको घातकरके द्विस्थानीयअनुभागमें स्थापन कर देता है अर्थात् घातियाकर्मोंका अनुभागलता-दारुरूप और अप्रशस्त अधातियाकर्मोंका अनुभाग निम्ब-कांजीररूप द्विस्थानगत शेष रह जाता है, किन्तु प्रशस्तप्रकृतियोंका अनुभाग गुड़-खांड-शर्करा और अमृतरूप चतुःस्थानीय ही होता है, क्योंकि विशुद्धिके द्वारा प्रशस्तप्रकृतियोंके अनुभागका घात नहीं होता है^१ । इन अवस्थाओंके होनेपर करण अर्थात् पंचम करणलब्धि होनेके योग्य भाव पाए जाते हैं^२ । इतनी विशुद्धि भव्यसिद्धिक और अभव्यसिद्धिक इन दोनों प्रकारके जीवोंके हो सकती है; इसबातको बतलानेके लिए गाथा में 'भव्वाभव्वेसु सामणणा' पद दिया है; इसमें किसी भी आचार्यको विवाद नहीं है ।

अथानन्तर प्रसंगप्राप्त प्रथमोपशमसम्यक्त्वग्रहणकी योग्यताका प्रतिपादन करते हैं—

जेट्टवरट्टिदिबन्धे जेट्टवरट्टिदितियाण सत्ते य ।

ए य पडिवज्जदि पढमुवसमसम्मं मिच्छजीवो हु ॥८॥

गाथार्थ—उत्कृष्ट अथवा जघन्यस्थितिबन्ध करनेवाले तथा स्थिति-अनुभाग व प्रदेश इन तीनोंके उत्कृष्ट या जघन्य सत्त्ववाले मिथ्यादृष्टिजीवके प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता ।

१. ध. पु. ६ पृ. २०६ एवं ध. पु. १२ पृ. १८ व ३५ ।

२. ध. पु. ६ पृ. २०५ ।

विशेषार्थ—जो सर्वपर्याप्तियोंसे पर्याप्त है, साकार जागृत श्रुतोपयोगसे उपयुक्त है, उत्कृष्टस्थितिबन्धके साथ उत्कृष्टस्थितिबन्धके योग्य संक्लेश परिणामवाला है अथवा ईषत् मध्यमसंक्लेशपरिणामवाला है ऐसा कोई एक संजीपचेन्द्रियमिथ्यादृष्टि-जीव सातकर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र व अन्तराय) के उत्कृष्टस्थितिबन्धका स्वामी है^१ । जो अन्यतर सूक्ष्मसाम्परायिकक्षपक अन्तिमबंधमें अवस्थित है, ऐसा सम्यग्दृष्टिजीव छहकर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र व अन्तराय) के जघन्यस्थितिबन्धका स्वामी है । जो अनिवृत्तिकरणक्षपक अन्तिम-स्थितिबन्धमें अवस्थित है वह मोहनीयकर्मके जघन्यस्थितिबन्धका स्वामी है^२ । उत्कृष्ट-विशुद्धिके द्वारा जो स्थितिबन्ध होता है वह जघन्य होता है, क्योंकि सर्वस्थितियोंके प्रशस्तभावका अभाव है । संक्लेशकी वृद्धिसे सर्वप्रकृतिसम्बन्धी स्थितियोंकी वृद्धि होती है और विशुद्धिकी वृद्धिसे उन्हीं स्थितियोंकी हानि होती है^३ । असातावेदनीयके बन्ध-योग्य परिणाम संक्लेशित और साताके बंधनेयोग्य परिणाम विशुद्ध होते हैं^४ । जो चतुःस्थानीय यवमध्यके ऊपर अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण स्थितिको बांधता हुआ स्थित है और अनन्तर उत्कृष्टसंक्लेशको प्राप्त होकर जिसने उत्कृष्टस्थितिका बन्ध किया है ऐसे किसी भी मिथ्यादृष्टिजीवके उत्कृष्टस्थितिसत्त्व होता है^५ । किसी भी क्षपकजीवके सकषायवस्थाके अन्तिमसमयमें अर्थात् सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके चरमसमयमें मोहनीय-कर्मका जघन्यस्थितिसत्त्व होता है^६ । ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मोंका जघन्यस्थितिसत्त्व क्षीणमोह गुणस्थानके अन्तिमसमयमें होता है । चार अघातिया कर्मों का जघन्यस्थितिसत्त्व अयोगकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें होता है, क्योंकि इन सर्वकर्मोंका वहां-वहां एकसमयमात्र स्थितिसत्त्व पाया जाता है । जो जीव उत्कृष्टअनु-भागका बन्ध करके जबतक उस अनुभागका घात नहीं करता तबतक वह जीव उत्कृष्ट अनुभागसत्त्ववाला होता है^७ । सकषाय क्षपकके अर्थात् दसवेंगुणस्थानके अन्तिमसमयमें मोहनीयकर्मका जघन्यअनुभागसत्त्व होता है^८ । शेष तीन घातिया कर्मोंका जघन्यअनु-भागसत्त्व क्षीणमोहगुणस्थानके अन्तिमसमयमें होता है और उत्कृष्ट प्रदेशसत्त्व गुणित-

१. महाबन्ध पु. २ पृ. ३३ ।

२. महाबन्ध पु. २ पृ. ४० ।

३. घ. पु. ११ पृ. ३१४ ।

४. घ. पु. ६ पृ. १८० ।

५. ज. घ. पु. २ पृ. १६ ।

६. ज. घ. पु. ३ पृ. २० ।

७. ज. घ. पु. ५ पृ. ११ ।

८. ज. घ. पु. ५ पृ. १५ ।

कर्माशिकके सातवें तरकमें चरमसमयमें होता है। क्षपितकर्माशिकके दसवेंगुणस्थानके अन्तिमसमयमें मोहनीयकर्मका और १२वें गुणस्थानके चरमसमयमें तीनधातिया कर्मोंका जघन्य प्रदेशसत्त्व है । विशेष जाननेके लिए ध. पु. १० देखना चाहिए । स्वामित्व-सम्बन्धी उपर्युक्त कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्कृष्टस्थितिबन्ध व उत्कृष्टस्थिति-अनुभाग व प्रदेशसत्त्व उत्कृष्टसंक्लेशपरिणामी मिथ्यादृष्टिजीवके होता है जिसके उत्कृष्टसंक्लेशके कारण प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हो सकता तथा जघन्यस्थिति-बन्ध व जघन्यस्थिति-अनुभाग-प्रदेशसत्त्व क्षपकश्रेणिमें होता है वहांपर तो क्षायिक-सम्यक्त्व होता है ।

अब आगे प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुखजीवके स्थितिबंधपरिणामोंको कहते हैं—

सम्मत्तहिमुहमिच्छो विसोद्विवद्धीहि बहुमाणो हु ।

अंतोकोडाकोडि सत्तरहं बंधणं कुणदी ॥६॥

अर्थ—विशुद्धिकी वृद्धिद्वारा वर्धमान तथा प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिजीव सातकर्मोंका अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण स्थितिबन्ध करता है ।

विशेषार्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख सभी मिथ्यादृष्टिजीव एककोड़ा-कोड़ीसागरके भीतरकी स्थिति अर्थात् अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरोपमको बांधता है, इससे बाहर अर्थात् अधिकस्थितिको नहीं बांधता^१ । कहा भी है—स्थितिबन्ध भी इन्हीं अर्थात् बांधनेवाली प्रकृतियोंका अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरोपमप्रमाण ही होता है, क्योंकि यह अर्थात् प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुखजीव विशुद्धतरपरिणामोंसे युक्त होता है^२ ।

अथानन्तर प्रायोग्यलब्धिकालमें प्रकृतिबंधायसरणको कहते हैं—

ततो उदबधिसदस्स य पुधत्तमेत्तं पुणो पुणोदरिय ।

बंधम्मि पयडि बंधुच्छेदपदा होंति चोत्तीसा ॥१०॥

अर्थ—उससे अर्थात् अन्तःकोड़ाकोड़ीसागर स्थितिसे पृथक्त्व सौ सागरहीन स्थितिको बांधकर पुनः पुनः पृथक्त्व १०० सागर घटाकर स्थितिबन्ध करनेपर प्रकृति-बन्ध व्युच्छित्ति के ३४ स्थान होते हैं ।

विशेषार्थ—अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरोपम स्थितिबन्धसे पृथक्त्व १०० सागर-प्रमाण स्थितिबन्ध घटनेका क्रम इसप्रकार है—अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण स्थितिबन्धसे पल्यके संख्यातवैभागसे हीन स्थितिको अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त समानता लिये हुए ही बांधता है, फिर उससे पल्यके संख्यातवैभागहीन स्थितिको अन्तर्मुहूर्ततक बांधता है । इसप्रकार पल्यके संख्यातवैभागहीन क्रमसे एकपल्यहीन अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरोपम स्थितिको अन्तर्मुहूर्ततक बांधता है तथा इसी पल्यके संख्यातवैभाग हीन क्रमसे स्थितिबन्धापसरण करता हुआ दो पल्यसे हीन, तीनपल्यसे हीन इत्यादि स्थितिको अन्तर्मुहूर्ततक बांधता है । पुनः इसीक्रमसे आगे-आगे स्थितिबन्धका ह्रास करता हुआ एक सागरसे हीन, दो सागरसे हीन, तीन सागरसे हीन इत्यादि क्रमसे सात-आठसां सागरोपमोंसे हीन अन्तःकोड़ाकोटीप्रमाण स्थितिको जिससमय बांधने लगता है, उससमय प्रकृतिबन्ध-व्युच्छित्तिरूप एकबन्धापसरण होता है । उपर्युक्त क्रमसे ही स्थितिबन्धका ह्रास होता है और जब वह ह्रास सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमित हो जाता है तब प्रकृति बन्ध व्युच्छित्तिरूप दूसरा बन्धापसरण होता है । यहीक्रम आगे भी जानना चाहिए ।

आगे चौतिस प्रकृतिबन्धापसरणोंको पांच गाथाओंके द्वारा कहते हैं—

आऊ पडि शिरयदुगे, सुहुमलिये सुहुमदोरिण पत्तेयं ।

बादरजुन दोरिण पदे, अपुरणजुद विविचसरिणसरणीसु ॥११॥

अट्ट अपुरणपदेसु वि, पुरणेण जुदेसु नेसु तुरियपदे ।

एइंदिय आदावं, थावरणामं च मिलिदव्वं ॥१२॥

तिरिगदुगुज्जोवो वि य, गीचे अपसत्थगमणदुभगतिए ।

हुंडासंपत्ते वि य, णउंसए वामखीलीए ॥१३॥

खुज्जडं णाराए, इत्थीवेदे य सादिराराए ।

णगोधवज्जणाराए मणुओरालदुगवज्जे ॥१४॥

अथिरअसुभ जस अरदी, सोयअसादे य होति चउतीसा ।

बंधोसरणट्टाणा, भन्वाभव्वेसु सामरणा ॥१५॥

१. यह विशेषार्थ ल. सा. की संस्कृतटीकाके आधारसे लिखा है ।

अर्थ—आयुबन्धव्युच्छित्ति स्थानोंके पश्चात् क्रमशः नरकद्विक, सूक्ष्मादि तीन, सूक्ष्मादि दो व प्रत्येक, बाहर-अपर्याप्त-साधारण, बाहर-अपर्याप्त-प्रत्येक, अपर्याप्त-द्वीन्द्रिय, अपर्याप्त-त्रीन्द्रिय, अपर्याप्तचतुरिन्द्रिय, अपर्याप्त-असंज्ञी-पंचेन्द्रिय, अपर्याप्त-संज्ञीपंचेन्द्रिय ॥११॥ आठ पदोंमें अपर्याप्तके स्थानपर पर्याप्त जोड़ना चाहिए, किन्तु चतुर्थपद एकेन्द्रिय-आतप-स्थावर भी मिलाना चाहिए । अर्थात् (पूर्वोक्त छठे पदसे १३वें पदतक ८ पदोंमें अपर्याप्तके स्थानपर पर्याप्त जोड़ना चाहिए) । तिर्यञ्चद्विक व उद्योत, नीचगोत्र, अप्रशस्तविहायोगति और दुर्भगादि तीन (दुर्भग-दुःस्वर-अनादेय), हुण्डसंस्थान-सृपाटिकासंहनन, नपुंसकवेद, वामनसंस्थान व कीलितसंहनन । कुब्जसंस्थान-अर्धनाराचसंहनन, स्त्रीवेद, स्वातिसंस्थान-नाराचसंहनन, न्यग्रोधसंस्थान-वज्रनाराच-संहनन, मनुष्यगतिद्विक (मनुष्यगति-मनुष्यगत्यानुपूर्वी)-औदारिकद्विक (औदारिक-शरीर-औदारिकअङ्गोपाङ्ग)-वज्रपद्मनाराचसंहनन । अस्थिर-अशुभ-अयशःकीर्ति-अरति-शोक व असातावेदनीयकी बन्धव्युच्छित्ति होती है । ये ३४ बन्धापसरणस्थान भव्य व अभव्यके समानरूपसे होते हैं ।

विशेषार्थ—सात-आठसौ सागरोपमसे हीन अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण स्थितिको जिससमय बांधने लगता है उससमय एक नरकायु प्रकृति 'बन्धसे व्युच्छिन्न होती है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे अपसरणकरके तिर्यञ्चायुकी 'बन्धव्युच्छित्ति होती है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर मनुष्यायुका 'बन्धव्युच्छेद' होता है तथा उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर देवायुकी 'बन्धव्युच्छित्ति होती है । उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे नरकगति और नरकगत्यानुपूर्वी इन दोनों प्रकृतियोंका एकसाथ 'बन्धव्युच्छेद होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर बाहर-सूक्ष्म अपर्याप्त-साधारणशरीर परस्परसंयुक्त इन तीनों प्रकृतियोंका युगपत् 'बन्धव्युच्छेद होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे जाकर सूक्ष्म-अपर्याप्त-प्रत्येक परस्पर संयुक्त इन तीन प्रकृतियोंका 'बन्धव्युच्छेद होता है । उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर बाहर-अपर्याप्त-साधारणशरीर परस्पर संयुक्त इन तीन प्रकृतियोंका 'बन्धव्युच्छेद होता है । उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे जाकर परस्परसंयुक्त बाहर-अपर्याप्त-प्रत्येकशरीर इन तीनों प्रकृतियोंकी एकसाथ 'बन्धव्युच्छित्ति होती है । उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसंयुक्त द्वीन्द्रियजाति और अपर्याप्त इन दोनों प्रकृतियोंका 'बन्ध-व्युच्छेद युगपत् होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसंयुक्त

त्रोन्द्रियजाति और अपर्याप्त इन दोनों प्रकृतियोंकी ^{११}बन्धव्युच्छित्ति एकसाथ होती है । उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसंयुक्त **चतुरिन्द्रियजाति और अपर्याप्त** इन दोनों प्रकृतियोंका एकसाथ ^{१२}बन्धव्युच्छेद होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **असंज्ञोपंचेन्द्रियजाति और अपर्याप्त** परस्परसंयुक्त इन दोनों प्रकृतियोंका युगपत् ^{१३}बन्धव्युच्छेद होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसंयुक्त **संज्ञोपंचेन्द्रियजाति और अपर्याप्त** इन दोनों प्रकृतियोंकी एकसाथ ^{१४}बन्धसे व्युच्छित्ति होती है । उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसंयुक्त **सूक्ष्म-पर्याप्त-साधारण** इन तीनों प्रकृतियोंकी एकसाथ ^{१५}बन्धव्युच्छित्ति होती है; उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसंयुक्त **सूक्ष्म-पर्याप्त-प्रत्येकशरीर** ये तीनों प्रकृतियां युगपत् ^{१६}बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं । उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसंयुक्त **बाबर-पर्याप्त-साधारणशरीर** इन तीनों प्रकृतियोंका युगपत् ^{१७}बन्धसे व्युच्छेद होता है; उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसंयुक्त **बाबर-पर्याप्त-प्रत्येकशरीर-एकेन्द्रिय-आतप-स्वावर** इन छहों प्रकृतियोंकी ^{१८}बन्धव्युच्छित्ति युगपत् होती है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसंयुक्त **द्वोन्द्रियजाति और पर्याप्त** इन दोनों प्रकृतियोंका एकसाथ ^{१९}बन्धव्युच्छेद होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसंयुक्त **त्रोन्द्रियजाति और पर्याप्त** इन दोनों प्रकृतियोंका एकसाथ ^{२०}बन्धव्युच्छेद होता है; उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसंयुक्त **चतुरिन्द्रियजाति और पर्याप्त** ये दोनों प्रकृतियां युगपत् ^{२१}बन्धव्युच्छित्तिको प्राप्त होती हैं । उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर परस्परसंयुक्त **असंज्ञोपंचेन्द्रियजाति और पर्याप्त** इन दोनों प्रकृतियोंकी युगपत् ^{२२}बन्धव्युच्छित्ति होती है । उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **तिर्य्यगति-तिर्य्यगस्यानुपूर्वी और उद्योत** इन तीनों प्रकृतियोंका एकसाथ ^{२३}बन्धसे व्युच्छेद हो जाता है; उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **बोच्चगोत्रकी** ^{२४}बन्धव्युच्छित्ति होती है । उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भंग, दुःस्वर और अनादेय** ये चारों प्रकृतियां ^{२५}बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं । उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **हुण्डकसंस्थान व असंप्राप्ता-सूपाटिकासंहनन** ये दो प्रकृतियां युगपत् ^{२६}बन्धसे व्युच्छिन्न हो जाती हैं । उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **नपुंसकवैशका** ^{२७}बन्धव्युच्छेद होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर **वामनसंस्थान और कीलितशरीरसंहनन** ये दोनों

प्रकृतियां ^{२५}बन्धव्युच्छित्तिको प्राप्त होती हैं। उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर कुब्जकसंस्थान और अर्धनाराचशरीरसंहनन इन दोनों प्रकृतियोंका एकसाथ ^{२६}बन्धव्युच्छेद होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर स्त्रीवेदका ^{२७}बन्धव्युच्छेद होता है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर स्वातिसंस्थान और नाराचशरीरसंहनन इन दोनों प्रकृतियोंकी ^{२८}बन्धव्युच्छित्ति युगपत् होती है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान और वज्रनाराचसंहनन ये दो प्रकृतियां युगपत् ^{२९}बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर मनुष्यगति मनुष्यगत्यानुपूर्वी, औदारिकशरीर-औदारिकशरीरअंगोपांग और वज्रधर्मनाराचसंहनन इन पांच प्रकृतियोंकी युगपत् ^{३०}बन्धव्युच्छित्ति होती है, उससे सागरोपमशतपृथक्त्व नीचे उतरकर अरति-शोक, अस्थिर-अशुभ, अयशःकीर्ति-असातावेदनीय इन छहों प्रकृतियोंका युगपत् ^{३१}बन्धव्युच्छेद होता है।

शंका—प्रकृतियोंके बन्धव्युच्छेदका यह क्रम किस कारणसे है ?

समाधान—अशुभ, अशुभतर और अशुभतमके भेदसे प्रकृतियोंका अवस्थान माना गया है उसी रूपेक्षासे यह प्रकृतियोंके बन्धव्युच्छेदका क्रम है। बन्धव्युच्छेदका यह क्रम विशुद्धिको प्राप्त होनेवाले भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टिजीवोंमें साधारण अर्थात् समान है,^२ किन्तु जयधवलाकारने कहा है कि “जो अभव्योंके योग्य विशुद्धिसे विशुद्ध हो रहा है उसके तत्प्रायोग्य अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण स्थितिबन्धकी अवस्था में एक भी कर्मप्रकृतिकी बन्धव्युच्छित्ति नहीं होती^३।” इसप्रकार इससम्बन्धमें दो मत हैं। इसीप्रकार ३४ स्थितिबन्धापसरणोंके सम्बन्धमें भी दो मत हैं—ध. पु. ६ पृ. १३६ से १३६ तक प्रत्येक बन्धापसरणमें सागरोपमशतपृथक्त्व स्थितिबन्ध घटनेका क्रम बताया है, किन्तु ज. ध. पु. १२ पृ. २२१ से २२४ तक मात्र सागरोपमपृथक्त्व स्थितिबन्ध घटनेका उल्लेख है।

अन्तिम ३४ वें बन्धापसरणमें असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्ति इन छह प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिजीवके हो जाती है। यद्यपि ये प्रकृतियां प्रमत्तसंयतगुणस्थानतक बन्धके

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २२१ से २२५ एवं ध. पु. ६ पृ. १३४ से १३६।

२. ध. पु. ६ पृ. १३६-१३६।

३. ज. ध. पु. १२ पृ. २२१।

योग्य हैं, तथापि यहां इनकी बन्धव्युच्छित्तिका कथन विरोधको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उन प्रकृतियोंके बन्धयोग्य संक्लेशका उल्लंघनकर उनकी प्रतिपक्षभूत प्रकृतियोंसे बन्ध की निमित्तभूत विशुद्धिसे वृद्धिको प्राप्त हुए सर्वविशुद्ध इस जीवके उन प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति होनेमें कोई विरोध नहीं^१ । इन उपर्युक्त प्रकृतियोंके बन्धसे व्युच्छिन्न होनेपर अवशिष्ट प्रकृतियोंको सम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टि तिर्यच और मनुष्य तब तक बांधता है जबतक वह मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके चरमसमयको प्राप्त होता है^२ ।

उपर्युक्त ३४ बंधापसरणोंमें से चारोंगतिमें कौन-कौनसे बंधापसरणस्थान होते हैं सो कहते हैं—

एारतिरियाणं ओघो भवणतिसोइम्मजुगलए विदियं ।

तिदियं अट्टारसमं तेवीसदिमादि दसपदं चरिमं ॥१६॥

ते चेव चोदसपदा अट्टारसमेण हीणया होति ।

रणणादिपुढविच्छक्के सणक्कुमारादिदसकप्पे ॥१७॥

ते तेरस विदिणए यं तेवीसदिमेण चावि परिहीण ।

आणदकप्पादुवरिमगेवेज्जंतोत्ति ओसरणा ॥१८॥

अर्थ—मनुष्य और तिर्यचोंमें ओघ अर्थात् चौतीसबन्धापसरण होते हैं । भवनत्रिक और सौधर्मयुगलमें दूसरा, तीसरा, अठारहवां और तेईसवां आदि दश व अन्तिम ३४वां ये १४ बन्धापसरण होते हैं । रत्नप्रभा आदि छह नरक पृथ्वियोंमें और सनत्कुमार आदि दशकल्पों (स्वर्गों) में उपर्युक्त १४ बन्धापसरणोंमें से १८वां बंधापसरण नहीं होता (शेष १३ बन्धापसरण होते हैं) आनतकल्पसे लेकर उपरिम नौवें अवेयकपर्यन्त उपर्युक्त १३ स्थानोंमें से दूसरा और २३वां बन्धापसरण नहीं होते (शेष ११ बन्धापसरण होते हैं) ।

विशेषार्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मनुष्य व तिर्यचोंके पूर्वोक्त ३४ बंधापसरण होते हैं जिनमें ४६ प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है । प्रथमोपशम-सम्यक्त्वके अभिमुख देव तथा सातवें नरकको छोड़कर शेष छह पृथ्वीके नारकी जीवोंके

१. ज. घ. पु. १२ पृ. २१४-२२५ ।

२. घ. पु. ६ पृ. १४० ।

नहीं बंधनेवाली प्रकृतियोंका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—असातावेदनीय, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, अरति, शोक, चारोंआयु, नरकगति, तिर्यग्गति, देवगति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, वैक्रियिकशरीर, आहारकशरीर, सम-चतुरस्रसंस्थानको छोड़कर शेष पांचसंस्थान, वैक्रियिकशरीर-अंगोपांग, आहारशरीर अंगोपांग, वज्रधर्मनाराचसंहननको छोड़कर शेष पांच संहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अप्रशस्तविहायोगति, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, नीचगोत्र, और तीर्थंकर' । इनमेंसे अपनी-अपनी बन्ध-अयोग्य प्रकृतियोंको घटाकर शेष प्रकृतियोंका बन्धापसरणों द्वारा बन्धव्युच्छेद हो जाता है ।

भवनत्रिक (भवनवासी, वानव्यंतर, ज्योतिष) देवों व सौधर्म-ऐशानस्वर्गके देवोंमें तिर्यगायु, मनुष्यायु, एकेन्द्रिय, आतप, स्थावर, तिर्यचगति, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, उद्योत, नीचगोत्र, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, हुण्डकसंस्थान, असं-प्राप्तासृपाटिकासंहनन, नपुंसकवेद, वामनसंस्थान, कीलितसंहनन, कुब्जकसंस्थान, अर्ध-नाराचसंहनन, स्त्रीवेद, स्वातिसंस्थान, नाराचसंहनन, न्यग्रोधसंस्थान, वज्रनाराचसंहनन, अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति, अरति, शोक, असातावेदनीय इन ३१ प्रकृतियोंकी बन्ध-व्युच्छिष्टि प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख जीवके होती है । प्रथमादि छह नरक और तृतीयस्वर्ग से बारहवेंस्वर्गतकके जीवोंमें उपर्युक्त ३१ प्रकृतियोंमेंसे बन्धके अयोग्य एकेन्द्रियजाति, आतप और स्थावर इन तीन प्रकृतियोंको कम करनेसे शेष २८ प्रकृतियों की बन्धव्युच्छिष्टि सम्यक्त्वके अभिमुखजीवके होती हैं । १३वें स्वर्गसे १६वें स्वर्ग तथा नौग्रंथेयकतकके देवोंमें उपर्युक्त २८ प्रकृतियोंमें से बन्धके अयोग्य तिर्यगायु, तिर्यचगति, तिर्यचगत्यानुपूर्वी और उद्योत इन चार प्रकृतियोंको कम करनेसे शेष २४ प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छिष्टि प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुखजीवके होती है ।

शंका—जिसप्रकार मनुष्य व तिर्यचोंके औदारिकशरीर और औदारिकअंगो-पांग इन प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छिष्टि होती है उसीप्रकार उसी विशुद्धिमें वर्तमान देव और नारकियोंके औदारिकशरीर व अंगोपांगका बन्धव्युच्छेद क्यों नहीं होता ?

समाधान—सहकारीकारणरूप मनुष्यगति और तिर्यचगतिके उदयसे वजित अकेली (केवल) विशुद्धि औदारिकशरीर व औदारिकशरीरअङ्गोपाङ्गका बन्धव्युच्छेद

करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि कारणसामग्रीसे उत्पन्न होनेवाले कार्यकी विकलकारणसे उत्पत्तिका विरोध है । देव और नारकियोंमें औदारिकशरीरादि प्रकृतियोंका ध्रुवबन्ध होता है अतः उनकी बन्धव्युच्छिन्ति नहीं होती है । इसीप्रकार वज्रर्षभनाराचसंहननके विषयमें भी जानना चाहिए^१ ।

अब सातवीं नरकपृथ्वीमें बंधापसरणपदोंको कहते हैं—

ते चेवेककारपदा तदिऊणा विदियठाणसंपत्ता ।

चउवीसदिमेणूणा सत्तमिपुढविग्घि ओसरणा ॥१६॥

अर्थ—गाथा १८ में कहे गये ११ बन्धापसरणोंमें से तीसरा व २४वां बन्धापसरण घटानेपर तथा दूसरा बन्धापसरण मिलानेपर सातवीं नरकपृथ्वीमें १० बन्धापसरण होते हैं ।

विशेषार्थ—सातवें नरकमें मनुष्यायु बन्धयोग्य नहीं है इसलिये तीसरा बंधापसरण कम किया गया है । प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख सातवें नरकके नारकी-जीवके नीचगोत्रकी बन्धव्युच्छिन्ति नहीं होती^२ अतः २४वां बन्धापसरण भी कम किया गया है । मिथ्यादृष्टि सप्तमपृथ्वीस्थ नारकीके तिर्यचायु बन्धयोग्य है, किंतु प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख जीवके तिर्यचायुकी बन्धव्युच्छिन्ति हो जाती है अतः दूसरा बंधापसरण मिलाया गया है । इसप्रकार सप्तमनरकमें १० बंधापसरण होते हैं, जिनके द्वारा २३ प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छिन्ति होती है । सप्तमनरकमें बन्धयोग्य ६६ प्रकृतियां हैं,^३ उसमेंसे २३ प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छिन्ति हो जानेपर ७३ प्रकृतियां बन्धयोग्य शेष रह जाती हैं । इन ७३ प्रकृतियोंमें उद्योतप्रकृतिका बन्ध भजनीय है अर्थात् बन्ध होता भी है और नहीं भी होता है । यदि उद्योतप्रकृति बंधती है तो ७३ प्रकृतियोंका बन्ध होता है, यदि उद्योतका बन्ध नहीं होता तो ७२ प्रकृतियोंका बन्ध होता है ।

शंका—तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उद्योत और नीचगोत्र इन प्रकृतियोंकी सातवें नरकमें बन्धव्युच्छिन्ति क्यों नहीं होती ?

१. ध. पु. ६ पृ. १४१ ।

२. ज. ध. पु. १२ पृ. २२३; ध. पु. ८ पृ. ११०; गो. क. गा. १०७ ।

३. गो. क. गा. १०५ से १०७ की टीका व मूल एवं ज. ध. पु. १२ पृ. २२५ । क. पा. सुत्त पृ. ६१६

समाधान— नहीं होती, क्योंकि भवसम्बन्धी संबन्धोंके कारण शेषगतियोंके बन्धके प्रति अयोग्य ऐसे सातवीं पृथ्वीके नारकी मिथ्यादृष्टिके तिर्य्यचगति, तिर्य्यच-गत्यानुपूर्वी, उद्योत और नीचगोत्रको छोड़कर सदाकाल इनकी प्रतिपक्षस्वरूप प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है^१ तथा विशुद्धिके वशसे ध्रुवबन्धी प्रकृतियोंका बन्धव्युच्छेद नहीं होता, अन्यथा उस विशुद्धिके वशसे जानावरणादि प्रकृतियोंके भी बन्धव्युच्छिन्नताका प्रसंग प्राप्त हो जावेगा, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि वैसा माननेपर अनवस्थादोष आता है^२ ।

आगे मनुष्य व तिर्य्यचगतिमें प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीवके द्वारा बध्यमान प्रकृतियोंको तथा मनुष्यगतिमें अप्रमत्तगुणस्थानमें बंधनेवाली २८ प्रकृतियों को दो गाथाओंमें कहते हैं—

घादिति सादं मिच्छं कसायपुं हस्तरदि भयस्स दुगं ।

अप्रमत्तडवीसुच्चं बंधंति विमुद्धणरतिरिया ॥२०॥

देवतसवरणाअगुरुचउक्कं समचउरतेजकम्मइयं ।

शरणाभयां पण्दिदी थिरादिअणिरामिणमडवीसं ॥२१॥

अर्थ—विशुद्ध (सम्यक्त्वके अभिमुख प्रायोग्यलब्धिमें स्थित मिथ्यादृष्टि) मनुष्य या तिर्य्यच तीन घातिया (जानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय) कर्म साक्षात्वेदनीय, मिथ्यात्व, कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भयद्विक (भय-जुगुप्सा), अप्रमत्तगुणस्थान-सम्बन्धी २८ और उच्चगोत्रको बंधता है । देवचतुष्क, असचतुष्क, वर्णचतुष्क, अगुरु-लघुचतुष्क, समचतुरस्रसंस्थान, तैजसशरीर, कामराशरीर, प्रशस्तविहायोगति, पंचेन्द्रिय-जाति, स्थिरादि ६ और निर्माणि ये २८ प्रकृतियां अप्रमत्तगुणस्थानसम्बन्धी जानना ।

विशेषार्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख, प्रायोग्यलब्धिमें जिसने ३४ बन्धापसरणोंसे ४६ प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छिन्नता कर दी है ऐसा विशुद्ध मिथ्यादृष्टि गर्भजसंजीवनेन्द्रिय पर्याप्ततिर्य्यच अथवा मनुष्य, पाँचों जानावरणीय (मति-श्रुत-अवधि-

१. एवदि सत्तमपुढविणेरइयमस्सियूण तिरिक्खगइ-तिरिक्खगइ पाओग्गाणुपुव्वीउज्जोव-णीचा-गोदाणं बंधवोच्छेदो एत्थि । (ज. घ. पु. १२ पृ. २२३; गो. क. गा. १०७) तिरिक्खगइ-तिरिक्खगइपाओग्गाणुपुव्वीणीचागोदाणं.....एत्थ ध्रुवबंधितादो । (ध.पु. ८ पृ. ११०; ज.घ.पु. १३ पृ. २२६)

२. घ. पु. ६ पृ. १४३-१४४ ।

मनःपर्यय-केवलज्ञानावरण) नौ दर्शनावरण (चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवलदर्शनावरण, स्थानगृही, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, निद्रा, प्रचला) पांच अंतराय (दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यांतराय) इसप्रकार तीन वातियाकर्माकी १६ प्रकृतियाँ, सातावेदनीय, मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी-अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ ये १६ कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, देवगति, देवगत्यानुपूर्वा, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिकशरीरअङ्गोपाङ्ग (देवचतुष्क), अस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर (असचतुष्क), वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श (वर्णचतुष्क), अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास (अगुरुलघुचतुष्क), समचतुरस्रसंस्थान, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, प्रशस्तविहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति (स्थिरादिछह) निर्माण और उच्चगोत्र इन ७१ प्रकृतियोंको बांधता है^१ ।

आगे देव-नरकगतिमें प्रथमोपशमसम्यक्त्वाभिमुख मिथ्यादृष्टिके द्वारा बध्यमान प्रकृतियोंको कहते हैं—

तं सुरचउक्कहीणं एरचउवज्जजुद पयडिपरिमाणं ।

सुरख्खपुडवीमिच्छा सिद्धोसरणा हु बंधति ॥२२॥

अर्थ—उन (उपर्युक्त ७१ प्रकृतियों) में से देवचतुष्कको कम करके मनुष्यचतुष्क (मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, औदारिकशरीर, औदारिकशरीरअङ्गोपाङ्ग) और वज्रवर्षभनाराचसंहननको मिलानेसे इन ७२ प्रकृतियोंको, बन्धापसरण कर चुकनेपर मिथ्यादृष्टिदेव और प्रथमादि छह पृथिवियोंके नारकी बांधते हैं ।

विशेषार्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख देव व प्रथम छह पृथ्वीके नारकी प्रायोग्यलब्धिमें बन्धापसरण करनेके पश्चात् इन ७२ प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं— पांचज्ञानावरण, नौदर्शनावरण, सातावेदनीय, मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी आदि १६ कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, औदारिकशरीरअङ्गोपाङ्ग, वज्रवर्षभनाराचसंहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, अस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण, उच्चगोत्र और पांचअन्तराय ये ७२ प्रकृतियाँ हैं^२ ।

१. घ. पु. ६ पृ. १३३-३४ । ज. घ. पु. पृ. २११ । एवं पृ. २२५-२२६ ।

२. घ. पु. ६ पृ. १४०-१४१ । ज. घ. पु. १२ पृ. २११-१२ ।

अथानन्तर सप्तमपृथ्वीमें बन्धप्रकृतियोंको कहते हैं—

तं एरदुगुचहीणं तिरियदु रीचजुद पयडिपरिमाणं ।

उज्जोवेण जुदं वा सत्तमखिदिगा हु बंधंति ॥२३॥

अर्थ—उन (पूर्वोक्त ७२ प्रकृतियों) में से मनुष्यद्विक (मनुष्यगति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी) और उच्चगोत्रको कम करनेसे तथा तिर्यचगतिद्विक (तिर्यचगति, तिर्यच गत्यानुपूर्वी) व नीचगोत्रको मिलानेपर ७२ प्रकृतियां होती हैं। यदि उद्योतप्रकृति मिलाई जाती हैं तो ७३ प्रकृतियां हो जाती हैं। उन ७२ अथवा ७३ प्रकृतियोंको (प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख) सातवीं पृथ्वीका मिथ्यादृष्टि नारकी बांधता है।

विशेषार्थ—सम्यक्त्वके अभिमुख सप्तमपृथ्वीका मिथ्यादृष्टि नारकी बन्धाप-सरण कर चुकनेके पश्चात् जिन ७२ प्रकृतियोंका बन्ध करता है वे इसप्रकार हैं—पांचज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, सातावेदनीय, मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी आदि १६ कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, तिर्यचगति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, समचतुरत्वसंस्थान, औदारिकशरीरअङ्गोपाङ्ग, वज्रषभनाराच-संहनन, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, अस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण, नीचगोत्र और पांचों अन्तराय ये ७२ प्रकृतियां हैं। उद्योत प्रकृतिको कदाचित् बांधता है और कदाचित् नहीं बांधता है। यदि बांधता है तो ७३ प्रकृतियोंका बन्ध होता है।

इसप्रकार सम्यक्त्वके अभिमुखमिथ्यादृष्टिजीवके प्रकृतिबन्ध-अबन्धका विभाग समाप्त हुआ।

अथानन्तर स्थिति-अनुभागबन्धमेवका कथन करते हैं—

अंतोकोडाकोडीठिदि असत्थाण सत्थगाणं च ।

विचउट्ठाणरसं च य बंधाणं बंधणं कुणदि ॥२४॥

अर्थ—(सम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टि) बंधनेवाली प्रकृतियोंका स्थितिबंध अन्तःकोटाकोटीसागरोपमप्रमाण करता है। अप्रशस्तप्रकृतियोंका द्विस्थानीय अनुभागबंध करता है और प्रशस्तप्रकृतियोंका चतुःस्थानीय अनुभागबन्ध करता है।

विशेषार्थ—गाथा २१-२२ व २३ में कही गई प्रकृतियोंका स्थितिवन्ध अंतः कोड़ाकोड़ीसागरोपमप्रमाण ही होता है, क्योंकि सम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिजीव विशुद्धतर परिणामोंसे युक्त होता है, इसलिए उसके इससे अधिक स्थितिवन्ध सम्भव नहीं है । अनुभागबन्ध भी अप्रशस्तप्रकृतियोंका द्विस्थानीय होता है, प्रशस्तप्रकृतियोंका चतुःस्थानीय होता है ।

अने सम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिके प्रदेशविभागको कहते हैं—

मिच्छणधीणति सुरचउ समवउजएसत्थगमणसुभगतियं ।

णीचुक्कस्सपदेसमणुक्कस्सं वा पबंधदि हु ॥२५॥

एदेहिं विहीणाणं तिणिण महादंडएसु उत्ताणं ।

एकट्ठिपमाणाणमणुक्कस्सपदेसंबंधणं कुणदि ॥२६॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धीचतुष्क, स्त्यानगृद्धिप्रिक, देवचतुष्क, समचतुर-स्रसंस्थान, वज्रर्षभनाराचसंहनन, प्रशस्तविहायोगति, सुभगादि तीन और नीच गोत्रका उत्कृष्ट व अनुत्कृष्टप्रदेशबन्ध करता है । इन प्रकृतियोंसे रहित तीन महादण्डक अर्थात् गाथा २१-२२ व २३ में कही गई शेष ६१ प्रकृतियोंका अनुत्कृष्टप्रदेशबन्ध करता है ।

विशेषार्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिजीव जिन प्रकृतियोंको बांधता है उसका कथन तीन महादण्डक द्वारा किया गया है प्रथम महादण्डकमें मनुष्य व तिर्यचके बंधयोग्य प्रकृतियोंका कथन है, द्वितीय महादण्डकमें देवों व प्रथमछह-नारकियोंके बन्धयोग्य प्रकृतियोंका कथन है । तृतीय महादण्डकमें सप्तमपृथ्वीके नारकी द्वारा बन्धयोग्य प्रकृतियोंका कथन है^१ । निद्रा-निद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धीक्रोध-मान-माया-लोभ, देवगति-देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिकशरीर-वैक्रियिकशरीरअंगोपांग, वज्रर्षभनाराच-संहनन, समचतुरस्रसंस्थान, प्रशस्तविहायोगति, सुभग, सुस्वर, आदेय और नीचगोत्र इन १६ प्रकृतिप्रोंका उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट प्रदेश-बन्ध होता है । पांच जानावरणीय, छहदर्शनावरणीय, सातावेदनीय, अप्रत्याख्याना-वरण-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोध-मान-माया व लोभरूप १२ कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, तिर्यगगति, मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर,

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २१३; ध. पु. ६ पृ. २०६-१० ।

२. ध. पु. ६ पृ. १३३-३४; १४०-४१-४२-४३ ।

कार्मणशरीर, औदारिकशरीरांगोपांग, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, मनुष्य-
गत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, उद्योत, अस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक-
शरीर, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति, निर्माण, उच्चगोत्र और पांचअन्तराय (दान-लाभ-
भोग-उपभोग और वीर्य) इन ६१ प्रकृतियोंका अनुत्कृष्टप्रदेशबन्ध होता है^१ ।

उक्त तीन महादण्डकोंमें कथित अपुनरुक्त प्रकृतियोंको कहते हैं—

पदमे सव्ये विदिये पण तिदिये चउ कमा अपुणरुत्ता ।

इदि पयडोणमसीदी तिदंडएसु वि अपुणरुत्ता ॥२७॥

अर्थ—कमशः प्रथमदण्डकमें सर्वप्रकृतियां, द्वितीयदण्डकमें पांचप्रकृतियां और तृतीयदण्डकमें चारप्रकृतियां, इसप्रकार तीनों दण्डकोंमें सर्व ८० प्रकृतियां अपुनरुक्त हैं ।

विशेषार्थ—प्रथमदण्डक (गाथा २०) में प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिमनुष्य व तिर्यचोके बन्धयोग्य ७१ प्रकृतियोंका नामोल्लेख है; ये ७१ प्रकृतियां अपुनरुक्त हैं, क्योंकि ये प्रकृतियां प्रथमदण्डकसम्बन्धी हैं । द्वितीयदण्डक (गाथा २२) में प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिदेव व प्रथमादि छह पृथ्वियों के नारकसम्बन्धी बन्धयोग्य ७२ प्रकृतियोंका कथन है; इन ७२ प्रकृतियोंमें ६७ प्रकृतियां तो प्रथमदण्डकसम्बन्धी हैं, किन्तु मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, औदारिकशरीर, औदारिकअङ्गोपाङ्ग, वज्रप्रभनाराचसंहनन ये पांच प्रकृतियां प्रथमदण्डकसम्बन्धी नहीं हैं, अतः अपुनरुक्त हैं । तृतीयदण्डक (गाथा २३) में ६६ प्रकृतियां तो द्वितीयदण्डक-सम्बन्धी हैं, किन्तु तिर्यचगति, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, नीचगोत्र और उद्योत ये चार प्रकृतियां प्रथम व द्वितीयदण्डकमें नहीं हैं अतः अपुनरुक्त हैं । तृतीयदण्डकमें प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख सातवीं पृथ्वीके मिथ्यादृष्टि नारकीसम्बन्धी बन्धयोग्य प्रकृतियोंका कथन है और सातवीं पृथ्वीका उक्तजाव निरन्तर तिर्यचगतिआदि प्रकृतियोंका बन्ध करता है । इसप्रकार प्रथमदण्डककी सर्व ७१, द्वितीयदण्डककी ५ प्रकृति तथा तृतीयदण्डककी ४ ये सर्वमिलकर (७१ + ५ + ४) ८० प्रकृतियां अपुनरुक्त कही गई हैं ।

इसप्रकार प्रथमसम्यक्त्वके अभिमुख विशुद्धमिथ्यादृष्टिके प्रकृति-स्थिति-
अनुभाग और प्रवेशोंके बन्ध-अबन्धरूपभेद को कहकर उसीके उदयका कथन करते हैं—

उदये चउदसधादी शिदापयलाणमेवकदरगं तु ।

मोहे दस सिय णामे वचिठाणं सेसगे सजोगेवकं ॥२८॥

अर्थ—तीन घातियाकर्मोंकी १४ प्रकृतियां, निद्रा या प्रचलामें से कोई एक, मोहनीयकर्मकी स्यात् (कथंचित्) १० प्रकृति, नामकर्मकी भाषापर्याप्तिकालमें उदययोग्य प्रकृतियां और शेष वेदनीय, मोह व अशुभकर्मकी एक-एक प्रकृति भी मिला लेना चाहिए । ये सर्वप्रकृतियां उदययोग्य हैं ।

विशेषार्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख चारोंगतिसम्बन्धी मिथ्यादृष्टि-जीवके सर्व मूल प्रकृतियोंका उदय होता है तथा उत्तरप्रकृतियोंमें से पांचज्ञानावरण, चारदर्शनावरण, पांचअंतराय ये (५+४+५) १४ प्रकृतियां, मिथ्यात्व, पंचेन्द्रियजाति, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपधात, परधात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, निर्माण इन प्रकृतियोंका नियमसे उदय होता है, क्योंकि यहांपर इन प्रकृतियोंका ध्रुव उदय होता है । साता व असातावेदनीयमें से किसी एकका उदय होता है, क्योंकि ये दोनों प्रकृतियां परावर्तमान उदयस्वरूप हैं^१ । मोहनीयकर्मकी १०-६ अथवा ८ प्रकृतिका उदय होता है । मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धीक्रोध-मान-माया-लोभमें से कोई एक, अप्रत्याख्यानावरण-क्रोध-मान-माया व लोभमें से कोई एक, प्रत्याख्यानावरण-क्रोध-मान-माया व लोभमें से कोई एक, संज्वलनक्रोध-मान-माया व लोभमें से कोई एक (क्रोधादिमें से जिसकषायका उदय हो, अनन्तानुबन्धीआदि चारोंमें उसी कषायका उदय होगा) स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इन तीनों वेदोंमें से कोई एक, हास्य-रति और अरति-शोक इन दोनों युगलोंमें से कोई एक युगल, भय और जुगुप्सा; मोहनीयकर्मकी ये १० प्रकृतियां उदयस्वरूप होती हैं । इन १० प्रकृतियोंमें से भय या जुगुप्सा (किसी एक) को कम कर देनेसे मोहनीयकर्मकी ६ प्रकृतियां उदयस्वरूप रह जाती हैं । इन्हीं १० प्रकृतियोंमें से भय और जुगुप्सा इन दोनों प्रकृतियोंको कम कर देनेपर मोहनीयकर्मकी आठ प्रकृतियां उदयस्वरूप रह जाती हैं^२ । चारों आयुओंमें से किसी एक आयुकर्मका उदय होता है,

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २१५-१६ । यस्माच्च—वेदणीयस्स सादासादाणं एत्थि उदएण भीणदा ।
(ज. ध. पु. १२ पृ. २२७)

२. ध. पु. ६ पृ. २११ । गो. क. ४७५ से ४७६ एवं प्राकृतपंचसंग्रह सप्तति अ. पृ. ३२५ गा. ३६ तथा ध. पु. १५ पृ. ८२-८३; ज. ध. पु. १२ पृ. २३० ।

क्योंकि ये चारों पृथक्-पृथक् प्रतिनियत गतिविशेषसे प्रतिबद्ध हैं इसलिए तदनुसार ही उस-उस आयुकर्मके उदयका नियम देखा जाता है । चारगति, दोशरीर, छहसंस्थान और दो अंगोपांग ; इनमेंसे अन्यतर एक-एक नामकर्म प्रकृतिका उदय होता है । छहसंहननोंमें से कदाचित् किसी एक-एकका उदय होता है और कदाचित् उदय नहीं होता । यदि मनुष्य या तिर्यच प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख है तो किसी एक संहननका नियमसे उदय होता है । यदि देव या नारकी प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख है तो किसी भी संहननका उदय नहीं होता । उद्योतका कदाचित् उदय पाया जाता है ; क्योंकि पंचेन्द्रियतिर्यचोंमें किन्हींके उद्योतका उदय होता है । दो विहायोगति, शुभग-दुर्भग, सुस्वर-दुःस्वर, आदेय-अनादेय, यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति इन पांच युगलोंमें से किसी एक-एक प्रकृतिका उदय होता है अर्थात् इन पांच युगलोंमें से प्रत्येकयुगलकी किसी एक प्रकृतिका उदय होता है । उच्चगोत्र और नीचगोत्र इनमेंसे किसी एक प्रकृतिका उदय होता है । यह प्रकृतियोंके उदयसम्बन्धी कथन चारोंगतिकी अपेक्षासे है । आदेशकी अपेक्षा चारोंगतियोंमें जो विशेषता है वह इसप्रकार है—चारों आयुओंमें से जिसगतिमें जो आयु अनुभव की जाती है उस आयुका उसगतिमें उदय होता है^१ । नरकगति व तिर्यचगतिमें नीचगोत्रका ही उदय है,^२ मनुष्यगतिमें नीचगोत्र और उच्चगोत्रमेंसे एकका उदय है^३ और देवगतिमें उच्चगोत्रका ही उदय है^४ । नामकर्मकी अपेक्षा यदि नारकी है तो नरकगति, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियिकशरीर, तैजसशरीर, कामैराशरीर, हुण्डकसंस्थान, वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्ग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, अप्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, सुभग, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण ; नाम-दुस्वर कर्मकी इन २६ प्रकृतियोंका उदय होता है । यदि तिर्यच है तो तिर्यचगति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कामैराशरीर, छह संस्थानोंमें से कोई एक संस्थान, औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग, छह संहननोंमें से कोई एक, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, कदाचित् उद्योत, दो विहायोगतिमें से कोई एक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, शुभग-दुर्भगमें से कोई एक, सुस्वर-दुःस्वरमें से कोई एक, आदेय-अनादेयमें से कोई एक, यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिमें से कोई एक और निर्माण । नामकर्मकी इन ३० या ३१ प्रकृतियोंका उदय होता है ।

यदि मनुष्य है तो उपर्युक्त ३० प्रकृतियोंमें तिर्यचगतिके स्थानपर मनुष्यगतियुक्त ३० प्रकृतियोंका उदय होता है । मनुष्योंमें उद्योतका उदय सम्भव नहीं है अतः नामकर्मकी ३१ प्रकृतियोंका उदय नहीं होता है । यदि देव है तो देवगति, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियिक-शरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्ग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रकृताविहायोगति, अस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येकशरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशः-कीर्ति और निर्माण; नामकर्मकी इन २६ प्रकृतियोंका उदय होता है^१ ।

उपर्युक्त गाथामें तथा ध. पु. ६ पृ. २१० पर निद्रा और प्रचला किसी एकके उदयके साथ दर्शनावरणीयकर्मकी पांचप्रकृतियोंका उदय बतलाया है, किन्तु ज. ध. पु. १२ पृ. २२७ पर पांचों निद्राकी उदयव्युच्छिन्ति कही गई है, क्योंकि साकारोपयोग और जागृत अवस्थाविशिष्ट दर्शनमोह-उपशमकके पांच निद्रादिके उदयरूप परिणामका विरोध है । इसप्रकार निद्रा व प्रचलाके उदयमें दोमत है । एकमत निद्रा या प्रचलाका उदयस्वीकार करता है, दूसरा मत निद्रा या प्रचलाका उदय स्वीकार नहीं करता^२ ।

प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिके निद्रादि पांचदर्शनावरणा, चारजातिनामकर्म, चारों आनुपूर्वी नामकर्म, आत्मा, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति और साधारणशरीर, ये प्रकृतियां उदयसे व्युच्छिन्न होती है^३ ।

अथ प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख विशुद्ध मिथ्यादृष्टिके उदययोग्य प्रकृति-सम्बन्धी स्थिति व अनुभागका तथा प्रदेशोंकी उदय-उद्वोरणाका कथन करते हैं—

उदइल्लाणं उदये पत्तेक्कठिदिस्स वेदगो होदि ।

विचउट्ठाणमसत्थे सत्थे उदयल्लरसभुत्ती ॥२६॥

अजहरणमणुक्कस्सपदेसमणुभवदि सोदयाणं तु ।

उदयिल्लाणं पयडिचउक्काणमुदोरगो होदि ॥३०॥

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २१६-२२० । गो. क. गा. ५६५-५६७ व ३०३-३०४ । अत्र भाषापर्याप्तिस्थाने उदयागतप्रकृतिकथनं वर्तते ।

२. ज. ध. पु. १२ पृ. २२६-३० ।

३. ज. ध. पु. १२ पृ. २२६-२७ ।

बद्धायुष्क है तो उसके भुज्यमान व बद्धमानआयुके बिना शेष दो आयुका सत्त्व नहीं होता । जिसने दूसरे या तीसरे तरककी आयुका बन्ध करनेके पश्चात् तीर्थंकरप्रकृतिका बन्ध किया है वह जीव एक अन्तर्मुहूर्तके लिए मिथ्यात्वमें जाता है^१ पुनः वेदकसम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है, क्योंकि पल्योपमके असंख्यातवैभागपर्यन्त वेदकसम्यक्त्वका उत्पत्तिकाल है^२ । वेदकसम्यक्त्वोत्पत्तिकालके पश्चात् प्रथमोपशमसम्यक्त्वका ग्रहण हो सकता है^३ । आहारकचतुष्कके उद्देलनाकालसे वेदकसम्यक्त्वोत्पत्तिकाल बड़ा है^४ अतः आहारकचतुष्ककी उद्देलना किये बिना प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हो सकता । प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख किसी जीवके सम्यक्त्वप्रकृतिका सत्त्व नहीं होता और किसी जीवके सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति इन दोनों ही का सत्त्व नहीं होता अथवा दोनोंका सत्त्व होता है ।

प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिजीवके आठों ही मूलप्रकृतियोंका सत्त्व होता है । उत्तरप्रकृतियोंमें भी ज्ञानावरणकी पांच, दर्शनावरणकी नौ, वेदनीयकी दो, मोहनीयकर्मकी मिथ्यात्व, १६ कषाय और नव नोकषाय ये छब्बीस प्रकृतियां सत्कर्म रूपसे होती हैं, क्योंकि अनादिमिथ्यादृष्टि तथा २६ प्रकृतियोंके सत्कर्मवाले सादि मिथ्यादृष्टिके इनका सद्भाव पाया जाता है । अथवा सादिमिथ्यादृष्टिके सम्यक्त्वप्रकृतिके बिना मोहनीयकर्मकी २७ प्रकृतियां सत्कर्मरूपसे होती हैं, क्योंकि सम्यक्त्वप्रकृतिकी उद्देलनाकरके उपशमसम्यक्त्वके अभिमुख हुए जीवके उनके होनेमें कोई विरोध नहीं है । अथवा सम्यक्त्वप्रकृतिके साथ २८ प्रकृतियां सत्कर्मरूपसे होती हैं, क्योंकि वेदकसम्यक्त्वके योग्यकालको उल्लंघनकर जिसने सम्यक्त्वप्रकृतिकी पूर्णरूपसे उद्देलना नहीं की है, ऐसे उपशमसम्यक्त्वके अभिमुख जीवके उक्तप्रकारसे २८ प्रकृतियों का सद्भाव देखा जाता है । आयुकर्मकी एक या दो प्रकृतियां सत्कर्मरूपसे होती हैं । जिसने परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध किया है, उसके आयुकर्मकी दो प्रकृतियां होती हैं और जिसने परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध नहीं किया, उसके भुज्यमानआयुकी एकप्रकृति होती है । नामकर्मकी चारगति, पांचजाति, औदारिक-वैक्रियिक-तैजस व कार्मणशरीर,

१. ध. पु. ८ पृ. १०४-प्रथमपृथिव्यां तीर्थंकरप्रकृतियुक्तमिथ्यात्वीनारकीनामभावः ।

२. गो. क. गा. ६१५ ।

३. गो. क. गाथा ६१५ तथा ध. पु. ५ पृ. ६-१० और ३३-३४ ।

४. गो. क. गा. ६१३ तथा ज. ध. पु. १२ पृ. २०६ ।

इन्हीं शरीरोंके बन्धन और संघात, छहसंस्थान, आहारकशरीरांगोपांगके बिना दो अङ्गोपाङ्ग, छहसंहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, चारोंआनुपूर्वी, अगुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगति, अस-स्थावर्गादि १० युगल और निर्माण ये प्रकृतियां सत्कर्मरूप हैं । गोत्रकर्मकी नीच-उच्चगोत्ररूप दो प्रकृतियां सत्कर्मरूप हैं तथा अन्तरात्मकर्मकी चारोंप्रकृतियां सत्कर्मरूप हैं । इन प्रकृतियोंका प्रकृतिसत्कर्म है; शेष प्रकृतियोंका नहीं है ।

शंका—पहले उत्पन्न किये गये सम्यक्त्वके साथ आहारकशरीरका बन्धकरके पुनः मिथ्यात्वमें आकर तत्प्रायोग्य पत्न्यके असम्यक्तात्वे भागप्रमाण बलके द्वारा उपशम-सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेवाले जीवके आहारकद्विकका सत्कर्म यहां क्यों नहीं उपलब्ध होता ?

समाधान—आहारकद्विकका सत्कर्म उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि आहारक-शरीरकी उद्धेलना किये बिना प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी प्राप्तिकी योग्यता नहीं होती । वेदकसम्यक्त्वके योग्य कालसे आहारकशरीरका उद्धेलनाकाल स्तोक है ऐसा परमाणमका उपदेश है ।

अथानन्तर सत्कर्मप्रकृतियोंके स्थितिआदि सत्कर्मके कथन पूर्वक प्रायोग्यता-लक्षिका उपसंहार करते हैं—

अजहरणमणुककस्सं ठिदीतियं होदि सत्तपयडीणं ।

एवं पयडिचउक्कं बंधादिसु होदि पत्तेयं ॥३२॥

अर्थ—उक्त सत्त्वप्रकृतियोंका स्थितित्रिक (स्थिति-अनुभाग-प्रदेश) अजघन्य-प्रत्यक्ष होता है । बन्धादि (बन्ध-उदय-उदीरणा) प्रत्येकमें इसीप्रकार प्रकृतिचतुष्क (प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश) जगा लेना चाहिए ।

विशेषार्थ—आयुर्कर्मके अतिरिक्त इन्हीं उक्त प्रकृतियोंका स्थिति-सत्कर्म अंतः-कोड़ाकांडीसागर होता है । आयुर्कर्मका तत्प्रायोग्य स्थितिसत्कर्म होता है । पांचशाना-वरण, नीदर्शनावरण, असातावेदनीय, मिथ्यात्व, १६ कषाय, नवनोकषाय, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व, नरकगति, तिर्यचगति, एकेन्द्रियादि चारजाति, पांचसंस्थान, पांचसंहनन, अप्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्त-

विचार—वह करण—येहाँ तीनप्रकारका होता है । प्रथम अधःप्रवृत्तकरण, द्वितीय अपूर्वकरण और तृतीय अनिवृत्तिकरण । ये तीनोंकरण क्रमशः होते हैं^१ । अर्थात् प्रथमोपशमसमयवृत्तको प्राप्त होनेवाले जीवके अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके भेदसे तीनप्रकारकी विणुद्धियां होती हैं^२ ।

आगे तीनोंकरणोंके कालका अल्पबहुत्वसहित कथन करते हैं—

अंतोमुहुत्तकाला तिरिणवि करणा इवन्ति पत्तेयं ।

उवरीदो गुणियकमा कमेण संखेज्जरुवेण ॥३४॥

अर्थ—तीनों करणोंमें से प्रत्येककरणका अन्तर्मुहूर्तप्रमाण काल होता है, किन्तु उससे नीचेके करणोंका काल संख्यातगुणा कम लिये हुए है ।

विशेषार्थ—अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणोंमें से प्रत्येक करणका काल अन्तर्मुहूर्त है । इसमें भी अनिवृत्तिकरणका काल स्वीकृत है, उससे संख्यातगुणा अपूर्वकरणका काल है, उससे संख्यातगुणा अधःप्रवृत्तकरणका काल है । अन्तर्मुहूर्तकालके बहुत भेद हैं ।

अबानन्तर अधःप्रवृत्तकरणका निर्वृत्तिपूर्वक कथन करते हैं—

‘जम्हा हंढिमभावा उवरिमभावेहि सरिसगा होंति ।

तम्हा पहमं करणं अधापवत्तोत्ति णिदिट्ठं ॥३५॥

अर्थ—क्योंकि अथस्तन (नीचेके) भाव उपरितनभावोंके साथ सद्गुण होते हैं अतः प्रथमकरणको अधःप्रवृत्तकरण कहा गया है ।

विशेषार्थ—प्रथमकर्मणमें विद्यमानजीवके करणपरिणाम अर्थात् उपरितन समयके परिणाम (पूर्व) समयके परिणामोंके समान प्रवृत्त होते हैं वह अधःप्रवृत्तकरण है । इसकरणमें उपरिणसमयके परिणाम नीचेके समयोंमें भी पाये जाते हैं, क्योंकि

१. ज. घ. पु. १२ पृ. २३३ ।

२. ध. पु. ६ पृ. २१४; ज. घ. पु. १२ पृ. २३३; क. पा. सु. पृ. ६२१ ।

३. क. पा. सु. ११ पृ. ५२१ ।

४. विविधत्वादिना नृपयोगसाध्याऽऽगता गोममटसारजीवकाण्डे (गाथा ४८) ।

५. ज. घ. पु. १२ पृ. २३३ ।

उपरितनसमयवर्ती परिणाम अधः अर्थात् अधस्तनसमयवर्ती परिणामोंमें समानताको प्राप्त होते हैं अतः अधःप्रवृत्त यह गंजा सार्वक है* ।

आगे अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके स्वरूपका निरूपण करते हैं—

‘समए समए भिरया भावा तम्हा अपुव्वकरणो दु ।

‘अणियट्ठीवि तहं वि य पडिसमयं एवकपरिणामो ॥३६॥

अर्थ—प्रतिसमय भिन्न भाव होते हैं इसलिये यह अपूर्वकरण है और प्रतिसमय एक समान ही परिणाम होते हैं अतः वह अनिवृत्तिकरण है* ।

विशेषार्थ—जिस करणमें प्रतिसमय अपूर्व अर्थात् असमान व नियमसे अनन्तगुणरूपसे वृद्धिगत करण अर्थात् परिणाम होते हैं वह अपूर्वकरण है । इसकरण में होनेवाले परिणाम प्रत्येक समयमें असंख्यातलोकप्रमाण होकर भी अन्यसमयमें स्थित परिणामोंके सदृश नहीं होते यह उक्तकथनका भावार्थ है* ।

जिसकरणमें विद्यमान जीवोंके एकसमयमें परिणाम भेद नहीं है वह अनिवृत्तिकरण है* । अनिवृत्तिकरणमें एक-एक समयमें एक-एक ही परिणाम होता है, क्योंकि यहाँ एकसमयमें जघन्य व उत्कृष्टभेदका अभाव है* । एकसमयमें वर्तमानजीवोंके परिणामोंकी अपेक्षा निवृत्ति या विभिन्नता जहाँ नहीं होती वे परिणाम अनिवृत्तिकरण कहलाते हैं* ।

आगे अधःप्रवृत्तकरणसम्बन्धी विशेष कथन ५ गाथाओंमें करते हैं—

गुणसेढी गुणसकम ठिदिरसखंडं च एत्थि पढमम्हि ।

पडिसमयमणंतगुणं विसोद्विवट्ठीहिं वडुदि दु ॥३७॥

१. घ. पु. ६ पृ. २१७ ।

२. गो. जी. गा. ५१; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. ८; घ. पु. १ पृ. ८३ ।

३. ‘होंति अणियदिणोते, पडिसमयं जेस्समेवकपरिणामा’ गो. जी. गा. ५७; घ. पु. १ पृ. १८६; घ. पु. ६ पृ. २२; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. २२ ।

४. क. पा. सुत्त पृ. ६२१ ।

५. ज. घ. पु. १२ पृ. २३४ ।

६. ज. घ. पु. १२ पृ. २३४ ।

७. घ. पु. ६ पृ. २२१ ।

८. घ. पु. ६ पृ. २२२ ।

सत्थाणमसत्थाणं चटविट्ठाणं रसं च बंधदि हु ।
 पडिसमयमणंतेण य गुणभजियकमं तु रसबंधे ॥३८॥
 पल्लस्स संखभागं मुहुत्तअंतेण ओसरदि बंधे ।
 संखेज्जसइस्साणि य अधापवत्तम्मि ओसरणा ॥३९॥
 आदिमकरणद्धाप पडमट्ठिदिबंधो दु चरिमम्मि ।
 संखेज्जगुणविहीणो ठिदिबंधो होइ णियमेण ॥४०॥
 तच्चरिमे ठिदिबंधो आदिमसम्मेण देससयलजमं ।
 पडिज्जमाणागस्स वि संखेज्जगुणेण हीणकमो ॥४१॥

अर्थ—प्रथम (अधःकरण) में गुणश्रेणि, गुणसंक्रमण, स्थितिक्षण्ड और अनुभागखण्ड नहीं होते, किन्तु प्रतिसमय विशुद्धिमें अनन्तगुणीवृद्धिद्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है । प्रशस्तप्रकृतियोंका चतुःस्थानीय (गुड़, खांड, शर्करा और अमृत) अनुभागबन्ध होता और अप्रशस्तप्रकृतियोंका द्विस्थानीय (लता-दारु या निब-कांजीर) अनुभागबन्ध होता है । प्रतिसमय प्रशस्तप्रकृतियोंका अनन्तगुणे क्रम सहित बन्ध होता है और अप्रशस्तप्रकृतियोंके अनन्तवैभागप्रमाण अनुभागबन्ध होता है । तथा एक-एक अंतर्मुहूर्तके अन्तरालसे पल्यका संख्यातवांभाग घटता हुआ स्थितिबन्ध होता रहता है । अधःप्रवृत्तकरणकालमें संख्यातहजार स्थितिबन्धापसरण होते रहते हैं । अधःप्रवृत्तकरणके आदिमें जो प्रथम स्थितिबन्ध होता है तथा अन्तमें नियमसे उससे संख्यातगुणाहीन स्थितिबन्ध होता है । इस चरमस्थितिबन्धसे देशसंयमसहित प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करनेवाले जीवके स्थितिबन्ध संख्यातगुणाहीन होता है । इसस्थितिबन्धसे सकलसंयमसहित प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करनेवालेके संख्यातगुणाहीन स्थितिबन्ध होता है ।

विशेषार्थ—यद्यपि यह जीव अधःप्रवृत्तकरणकालमें प्रत्येक समयमें अनन्तगुणी विशुद्धिसे अत्यन्तविशुद्ध होता जाता है तथापि स्थितिकाण्डक व अनुभागकाण्डकघातके प्रोक्ष्य विशुद्धिको प्राप्त नहीं होता है । इसलिए अधःप्रवृत्तकरणभावमें विद्यमान इसके स्थितिकाण्डक और अनुभागकाण्डकघात नहीं होता^१ । अधःप्रवृत्तकरणमें स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, गुणश्रेणी और गुणसंक्रमण नहीं होता, क्योंकि इन अधः-

प्रवृत्तकरणपरिणामोंमें पूर्वोक्त चतुर्विध कार्योंके उत्पन्न करनेकी शक्तिकर (विशुद्धिका) अभाव है; मात्र अनन्तगुणी विशुद्धिके द्वारा प्रतिसमय विशुद्धिको प्राप्त होता हुआ यह जीव अप्रशस्तकर्मोंके द्विस्थानीय (नीच-काञ्जीर) अनुभागको प्रतिसमय अनन्तगुणाहीन बांधता है और प्रशस्तकर्मोंका गुड़-खांड-शकरी-अमृतरूप चतुःस्थानीय अनुभागको प्रतिसमय अनन्तगुणा-अनन्तगुणा बांधती है। अधःप्रवृत्तकरणकालमें एक स्थितिबन्धका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है। एक-एक स्थितिबन्धका काल पूर्ण होनेपर वल्योपमके संख्यातवै-भागसे हीन अन्य स्थितिबन्ध होता है। इस प्रकार संख्यातसहस्रवार स्थितिबन्धापसरण हो जानेपर अधःप्रवृत्तकरणकाल समाप्त हो जाता है। अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमय-सम्बन्धी स्थितिबन्धसे उसीका अन्तिमसमयसम्बन्धी स्थितिबन्ध संख्यातगुणाहीन होता है। यहीपर (अधःप्रवृत्तकरणके चरमसमयमें) प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुखजीवके जो स्थितिबन्ध होता है, उससे प्रथमोपशमसम्यक्त्वसहित संयमांसयमके अभिमुख जीवका स्थितिबन्ध संख्यातगुणाहीन होता है, इससे प्रथमोपशमसम्यक्त्वसहित सकलसंयमके अभिमुख जीवका अधःप्रवृत्तकरणके चरमसमयसम्बन्धी स्थितिबन्ध संख्यातगुणाहीन होता है।

अब ८ गाथाओंमें अधःप्रवृत्तकरणसम्बन्धी अनुकृष्टि और अल्पबहुत्व इन दो अनुयोगद्वारोंका कथन करते हैं—

आदिमकरणछाप पडिसमयमसंखलोगपरिणामा ।

अद्वियकमा हु विसेसे मुहुत्तअंतो हु पडिभागो ॥४२॥

ताए अधापवत्तछाप संखेजभागेमेत्त तु ।

अणुकटीए अछा णिठवग्गणकडयं तं तु ॥४३॥

पडिसमयगपरिणामा णिठवग्गणसमयमेत्तखंडकमा ।

अद्वियकमा हु विसेसे मुहुत्तअंतो हु पडिभागो ॥४४॥

पडिखंडगपरिणामा पत्तेयमसंखलोगमेत्ता हु ।

लोयाणमसंखेजजा छट्ठाणाणी विसेसेवि ॥४५॥

पढमे चरिमे समये पढमं चरिमं च खंडमसरित्थं ।

सेसा सरिसा सव्वे अट्ठुव्वंकादिअंतगया ॥४६॥

चरिमे सव्वे खंडा पुव्वरिमसमओत्ति अपरखंडाय ।

असरिसखंडाणोली अधापवत्तमिह करणमिह ॥४७॥

पढमे करणे अवरा णिव्वग्गणसमयमेत्तगा तत्तो ।

अहिगदिणा वरमवरं तो वरपंती अणंतगुणिदकमा ॥४८॥

पढमे करणे पढमा उट्ठुगसेढीय चरिमसमयस्स ।

तिरियगखंडाणोली असरित्थाणंतगुणिदकमा ॥४९॥

अर्थ—आदिकरण (अधःप्रवृत्तकरण) के कालमें प्रतिसमय अधिकक्रम लिए हुए असंख्यातलोकप्रमाण परिणाम होते हैं । विशेष (चय) को प्राप्त करनेके लिए अन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्रतिभाग है । उस अधःप्रवृत्तकरणकालके (समयोंके) संख्यातवेंभाग-प्रमाण अनुकृष्टिरचनाका आयाम है और जितना वह आयाम है उतने समयोंका एक-निर्वर्गणाकाण्डक होता है । निर्वर्गणाकाण्डकके समान प्रतिसमयके परिणामोंके क्रमशः खण्ड होते हैं, वे खण्ड अधिकक्रमवाले होते हैं । यहां विशेषको प्राप्त करनेका प्रतिभाग अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है । प्रत्येकखण्डमें असंख्यातलोकप्रमाण परिणाम हैं । प्रत्येकखण्डमें षट्स्थानपतितवृद्धि असंख्यातलोकबार होती है । एक-एक विशेष (चय) में भी षट्स्थानपतितवृद्धि असंख्यातलोकबार होती है । प्रथमसमयका प्रथमखण्ड और चरम-समयका अन्तिमखण्ड ये विसदृश और शेषखण्ड सदृश हैं । सर्वखण्डोंका आदि 'अष्टांक' है और अन्त 'उर्वांक' है । चरमसमयके सर्वखण्ड और प्रथमसमयसे लेकर द्विचरम-समयपर्यन्तका सर्वप्रथमखण्ड; यह अधःप्रवृत्तकरणमें असदृशखण्डोंकी पंक्ति है । प्रथम (अधःप्रवृत्त) करणमें निर्वर्गणाकाण्डकप्रमाण समयोंमें प्रत्येकसमयके प्रथमखण्डके जघन्यपरिणाम ऊपर-ऊपर अनन्तगुणे क्रमसे हैं । निर्वर्गणाकाण्डकके चरमसमयसम्बन्धी जघन्यपरिणामसे प्रथमसमयका उत्कृष्टपरिणाम अनन्तगुणा है, उससे द्वितीय निर्वर्गणाकाण्डकके प्रथमसमयके प्रथमखण्डका जघन्यपरिणाम अनन्तगुणा है इसप्रकार जघन्यसे उत्कृष्ट और उससे जघन्य सर्पकी चालवत् अनन्तगुणेक्रमसे हैं । प्रथम (अधःप्रवृत्त)

करणमें सर्वसमयोंके प्रथमखण्डकी उर्ध्वधरोणीरूपसे और चरमसमयके सर्वखण्डोंकी तिर्यगावलिरूपसे रचना करनेपर सर्व असदृशखण्डोंकी पंक्ति हो जाती है जो अनन्तगुणित क्रमसे स्थित है ।

विशेषार्थ— इन गाथाओंमें अधःप्रवृत्तकरणसम्बन्धी अनुकृष्टि और अल्पबहुत्व, इन दो अनुयोगद्वारोंका कथन किया गया है । अनुकृष्टिको कथन करनेके पश्चात् अल्प-बहुत्वका कथन किया गया है । अनुकृष्टिको कथन इसप्रकार है— अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयसे लेकर चरमसमयपर्यन्त पृथक्पृथक् एक-एकसमयमें छह वृद्धियोंके क्रमसे अवस्थित और स्थितिबद्धाप्रसरणादिके कारणभूत असंख्यातलोकप्रमाण परिणामस्थान होते हैं । परिपाटीक्रमसे विरचित इन परिणामोंके पुनरुक्त और अपुनरुक्तभावका अनुसंधान करना अनुकृष्टि है । 'अनुकर्षणमनुकृष्टिः' अर्थात् उनपरिणामोंकी परस्पर समानताका विचार करनेमें यह अनुकृष्टिका अर्थ है । अन्तर्मुहूर्तप्रमाण अवस्थितकालका जो कि अधःप्रवृत्तकरणके संख्यातवैभागेप्रमाण है, विच्छेद होनेपर अर्थात् निर्वर्गणाकाण्डकके व्यतीत होनेपर अनुकृष्टिको विच्छेद होता है । अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयमें असंख्यातलोकप्रमाण परिणामस्थान होते हैं । पुनः दूसरे समयमें वे ही परिणामस्थान अन्य अपूर्व परिणामस्थानोंके साथ विशेष अधिक होते हैं । प्रथमसमयके परिणामस्थानोंमें अन्तर्मुहूर्तका भाग देनेपर जो एकभागप्रमाण असंख्यातलोकप्रमाण परिणाम प्राप्त होते हैं वह विशेषका प्रमाण है । इसप्रकार इस प्रतिभागके अनुसार प्रत्येकसमयमें विशेषअधिक परिणामस्थान करके अधःप्रवृत्तकरणके अन्तिमसमयतक ले जाना चाहिए । अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयसम्बन्धी परिणामस्थानके अन्तर्मुहूर्त अर्थात् अधःप्रवृत्तकरणकालके संख्यातवैभागेप्रमाण कालके जितने समक है, उतने खण्ड करने चाहिए, वही निर्वर्गणाकाण्डक है । विवक्षितसमयके परिणामोंको जिसस्थानसे आगे अनुकृष्टिविच्छेद होता है वह निर्वर्गणाकाण्डक कहा जाता है । ये खंड परस्पर सदृश नहीं होते, विसदृश ही होते हैं, क्योंकि एक दूसरेसे यथाक्रम विशेषअधिकक्रमसे अवस्थित हैं । अन्तर्मुहूर्तका भाग देनेपर जो लब्ध प्राप्त हो उतना विशेष (चय) का प्रमाण है । पुनः प्रथमखंडको छोड़कर इन्हीं परिणामस्थानोंको दूसरेसमयमें परिपाटीको उल्लंघन कर स्थापित करना चाहिये, किन्तु इतनी विशेषता है कि इस दूसरे समयमें असंख्यातलोक-

१. ज. घ. पु. १२ पृ. २३४ अतिमपंक्ति ।

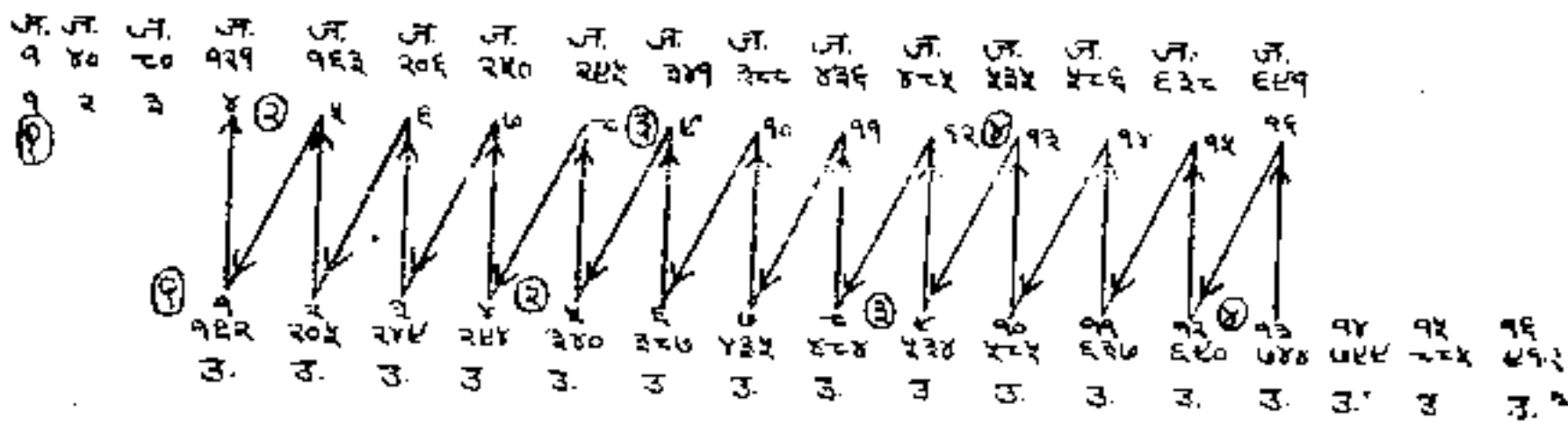
२. ज. घ. पु. १२ पृ. २३५-२३६ ।

अल्पबहुत्व स्वस्थान और परस्थानके भेदसे दो प्रकारका है । स्वस्थान अल्प-
बहुत्व इसप्रकार है—अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयमें प्रथमखण्डका जघन्यपरिणाम सबसे
स्तोक है, उससे वहीपर द्वितीयखण्डका जघन्यपरिणाम अनन्तगुणा है । उससे वहीपर
तीसरेखण्डका जघन्यपरिणाम अनन्तगुणा है । इसप्रकार वहीपर अन्तिमखण्डका
जघन्यपरिणाम अनन्तगुणा है । इसस्थानके प्राप्त होनेतक जानना चाहिये । इसप्रकार
मात्र प्रथमसमयके परिणामखण्डोंके जघन्यपरिणामस्थानोंका अवलम्बन लेकर स्वस्थान-
अल्पबहुत्व किया । अब प्रथमसमयमें प्रथमखण्डका उत्कृष्टपरिणाम स्तोक है । उससे
वहीपर दूसरे खण्डका उत्कृष्टपरिणाम अनन्तगुणा है, उससे वहीपर तृतीयखण्डका
उत्कृष्टपरिणाम अनन्तगुणा है । इसीप्रकार आगे भी अन्तिमखण्डका उत्कृष्टपरिणाम
अनन्तगुणा है इसस्थानके प्राप्त होनेतक कथन करना चाहिए । इसप्रकार प्रथमसमयके
सर्वखण्डोंके उत्कृष्टपरिणामोंका अवलम्बन लेकर स्वस्थान अल्पबहुत्वका कथन किया ।
इसीप्रकार दूसरे समयसे लेकर अधःप्रवृत्तकरणके अन्तिमसमयतक प्रत्येकखण्डके प्रति
प्राप्त जघन्य और उत्कृष्टपरिणामोंका स्वस्थान अल्पबहुत्व जानना चाहिए । इसके
पश्चात् स्वस्थान अल्पबहुत्वका कथन समाप्त हुआ ।

परस्थान अल्पबहुत्व इसप्रकार है—अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयमें जघन्य-
विशुद्धि सबसे स्तोक है, क्योंकि इससे कम अन्य कोई जघन्यविशुद्धिस्थान अधःप्रवृत्त-
करणमें नहीं है । उससे दूसरे समयमें जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है, क्योंकि प्रथमसमयके
जघन्यविशुद्धिस्थानसे परस्थानक्रमसे असंख्यातलोकमात्र विशुद्धिस्थानोंको उल्लंघनकर
स्थित हुए द्वितीयखण्ड (४०) के जघन्यविशुद्धिस्थानका दूसरे समयमें जघन्यपना देखा
जाता है ; इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त जानना चाहिए तथा अन्तर्मुहूर्त से ऊपर जाकर
स्थित प्रथमनिर्वर्गणाकाण्डके अन्तिमसमयके प्राप्त होनेतक इस क्रमसे जघन्यविशुद्धिका
ही प्रतिसमय अनन्तगुणित क्रमसे कथन करना चाहिए । उससे प्रथमसमयकी (४२की)
उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है, क्योंकि इसके अनन्तर पूर्व जो जघन्यविशुद्धि कही गई
है वह अधःप्रवृत्तकरणके अन्तिमखण्ड (४२) की जघन्यविशुद्धि है और यह उस
अन्तिमखण्ड (४२) की उत्कृष्टविशुद्धि है जो उक्त जघन्यविशुद्धिसे छहस्थान क्रमसे
वृद्धिरूप असंख्यातलोकप्रमाण परिणामस्थानोंको उल्लंघनकर अवस्थित है । इसलिए
अनन्तरपूर्वकी जघन्यविशुद्धिसे यह उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी हो गई है । इस उत्कृष्ट-

विशुद्धिसे द्वितीय निर्वर्गणाकाण्डकके प्रथमसमयकी (४३) जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है, क्योंकि प्रथमसमयकी उत्कृष्टविशुद्धि 'उर्वक' रूपसे अवस्थित है और द्वितीयनिर्वर्गणाकाण्डकके प्रथमसमयकी जघन्यविशुद्धि 'अष्टांक' रूपसे अवस्थित है इसलिये अनन्तगुणी हो गई। उससे प्रथमनिर्वर्गणाकाण्डकके दूसरेसमयकी उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है, क्योंकि पूर्वकी जघन्यविशुद्धि दूसरे समयके अन्तिमखण्डके जघन्यपरिणामस्वरूप है और यह उत्कृष्टविशुद्धि असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानवृद्धिको उल्लंघन कर स्थित हुए दूसरे समयके अन्तिमखण्डकी उत्कृष्टविशुद्धि है, इसलिये यह उत्कृष्टविशुद्धि पूर्वकी जघन्यविशुद्धिसे अनन्तगुणी सिद्ध हो जाती है। इस पद्धतिसे अन्तर्मुहूर्तकालप्रमाण एक निर्वर्गणाकाण्डकको अवस्थित करके उपरिम और अधस्तन जघन्य और उत्कृष्टपरिणामोंसे अल्पबहुत साधना चाहिए। अल्पबहुत्वका यह क्रम सर्व निर्वर्गणाकाण्डकोंको क्रमसे उल्लंघन कर पुनः द्विचरमनिर्वर्गणाकाण्डकके अन्तिमसमयकी उत्कृष्ट विशुद्धिसे अधःप्रवृत्तकरणके अन्तिम निर्वर्गणाकाण्डककी जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी होकर जघन्यविशुद्धिका अन्त प्राप्त होने तक करना चाहिए। इतनी दूर तक जो एक-एक निर्वर्गणाकाण्डकके अन्तरसे जघन्य और उत्कृष्ट विशुद्धिस्थानोंका अल्पबहुत्व कहा गया है उसमें कोई भेद नहीं है। इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है— प्रथमनिर्वर्गणाकाण्डकके दूसरे समयकी (४३ की) उत्कृष्टविशुद्धिसे दूसरे निर्वर्गणाकाण्डकके दूसरे समयकी (४४ की) जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है, इससे प्रथमनिर्वर्गणाकाण्डकके तीसरेसमयकी (४४ की) उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है, इससे द्वितीयनिर्वर्गणाकाण्डकके तीसरेसमयकी (४५ की) जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है, इससे प्रथमनिर्वर्गणाकाण्डकके चौथेसमयकी (४५ की) उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है। इसप्रकार दूसरे निर्वर्गणाकाण्डकके अन्तिमसमयकी जघन्यविशुद्धिपर्यन्त अनन्तगुणात्व ले जाना चाहिए। इसीप्रकार तृतीय निर्वर्गणाकाण्डकके समयोंकी जघन्यविशुद्धि और द्वितीयनिर्वर्गणाकाण्डकके समयोंकी उत्कृष्टविशुद्धिका परस्पर अल्पबहुत्व कहना चाहिये। इसीप्रकार अनन्तर उपरिम निर्वर्गणाकाण्डकके जघन्यपरिणामोंका अनन्तर अधस्तन निर्वर्गणाकाण्डकके उत्कृष्टपरिणामोंके साथ क्रमसे अनुसन्धान करते हुए अधःप्रवृत्तकरणके अन्तिमसमयकी जघन्यविशुद्धि द्विचरमनिर्वर्गणाकाण्डकके अन्तिमसमयकी उत्कृष्टविशुद्धिसे अनन्तगुणी होकर जघन्यविशुद्धियोंके अन्तको प्राप्त होती है; यहां ले जाना चाहिए। पुनः द्विचरमनिर्वर्गणाकाण्डकके अन्तिमसमयकी (५३ की) उत्कृष्टविशुद्धिसे अधःप्रवृत्तकरणके अन्तिमसमयकी

(५४ की) जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है, उससे चरमनिर्वर्गणाकांडकके प्रथमसमयकी (५४ की) उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है, उससे चरमनिर्वर्गणाकांडकके द्वितीय समय (५५ की) उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी है, उससे तीसरे समयकी (५६ की) उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है, उससे चतुर्थसमयकी (५७ की) उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है । इसप्रकार यह क्रम अधःप्रवृत्तकरणके अन्तिमसमयतक (अन्तिमनिर्वर्गणाकांडकके अन्तिमसमयतक) ले जाना चाहिए^१ ।



उपर्युक्तसंदृष्टिमें— १ से १६ तक की संख्या अधःप्रवृत्तकरणके समयोंकी सूचक है ।

अब अपूर्वकरण सम्बन्धी कथन करते हैं—

पहमं व विदियकरां पडिसमयमसंखलोगपरिणाम ।

अहियकमा हु विसेसे मुहुत्तअंतो हु पडिभागो ॥५०॥

अर्थ—प्रथम अर्थात् अधःप्रवृत्तकरण के समान द्वितीय अर्थात् अपूर्वकरण है । इसमें प्रतिसमय अधिक क्रमसहित असंख्यातलोक परिणाम होते हैं । विशेष (चय) के लिए अन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्रतिभाव है ।

विशेषार्थ—अधःप्रवृत्तकरणमें प्रतिसमय असंख्यातलोक परिणाम होते हैं और वे चय अधिकक्रमसे होते हैं ऐसा कथन पहले गाथा ४२ में किया जा चुका है । यहां द्वितीय अपूर्वकरणसम्बन्धी कथन किया जावेगा । अपूर्वकरणसम्बन्धी तीन अनुयोगद्वारा हैं—(१) प्ररूपणा (२) प्रमाण और (३) अल्पबहुत्व । अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें परिणामस्थान हैं, दूसरेसमयमें परिणामस्थान हैं । इसप्रकार अपूर्वकरणके अन्तर्मुहूर्त-

१. ज. घ. पु. १२ पृ. २४५ से २५१ तक ।

१. अपूर्वकरणद्वारा संवत्स समए समए असंखेज्जलोगा परिणामद्वाराणि । (क.पा.सुत्त पृ. ६३३)

कालके चरमसमयतक अतिसमयमें परिणामस्थान जानना, प्रमाण (अनुयोगद्वारा) समाप्त हुआ ।

एक-एक समयमें परिणामस्थान असंख्यातलोक प्रमाण हैं । प्रमाण अनुसोचकर समाप्त हुआ ।

अल्पबहुत्व दो प्रकारका है—विशुद्धियोंकी तीव्रतामंदतासम्बन्धी अल्पबहुत्व और परिणामोंकी पंक्तियोंकी दीर्घता (संख्या) के सम्बन्धी अल्पबहुत्व । अपूर्वकरणोंके प्रथमसमयमें परिणामोंकी पंक्तिका आयाम (संख्या) सबसे स्तम्भके सिरों पर सिरों के समयमें विशेष अधिक है । प्रथमसमयसम्बन्धी परिणामोंके अन्तर्मुहूर्तके समयप्रमाण खण्ड करनेपर उनमेंसे एकखण्डप्रमाण विशेषअधिकका प्रमाण है । अर्थात् प्रथमसमयके परिणामोंको अन्तर्मुहूर्तके समयसे भाग देनेपर जो लब्ध प्राप्त हो, उसके (असंख्यातलोक) प्रमाण विशेषअधिक है । इसप्रकार अन्तर्सेपनिधाका आश्रय करके अर्थात् निरन्तर विशेषअधिक क्रमसे अन्तिमसमयके परिणामोंकी पंक्तिके आयाम (परिणामों की संख्या) के प्राप्त होनेतक कथन करते हुए ले जाना चाहिये, किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रत्येकसमयमें अपूर्व ही परिणामस्थान होते हैं । इसप्रकार अपूर्वकरणके अन्तर्मुहूर्तकालमें सर्वत्र समवेकसमयमें असंख्यातलोकोंका प्रमाण परिणामस्थान होते हैं ।

दूसरे कारणकी अपूर्वकस्मृतिसे ही देनेका ध्येय कहते हैं—

जम्हाताउपरिसम्भवन हेटिमम्भवेहिंसास्थिरिसत्तं ।

जम्हा विदिष्टं कस्यां अनुचक्रणं पत्तिरिदं सत्त्वं ।

अर्थ—क्योंकि उपरिसा-समवेकके परिणामोंकी चोटी समयसम्बन्धी परिणामोंके समान नहीं होते इसलिये इस दूसरे कारणको अपूर्वकरण कहा गया है ।

विशेषार्थ—जितने स्थान ऊपर जाकर विवक्षित समयके परिणामोंकी अनुकृष्टिका विच्छेद होता है उसीका नाम निर्वर्गसाकंशक है, किन्तु यह अपूर्वकरणके प्रत्येकसमयमें निर्वर्गसाकंशकोंको ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि विवक्षितसमयके परिणामोंके ऊपरके एक भी समयमें सम्भव नहीं है । प्रत्येकसमयमें अनुकृष्टिके विच्छेद स्वरूप अपूर्वकरणका लक्षण जानना चाहिये ।

१. ज. घ. पु. १२ पृ. २२२-२३-२४ ।

२. दृश्यताम् घ. पु. १ पृ. १८३ । प्रा. पं. सं. घ. १ भा. १८३; गो. जी. म. ५१ ।

३. ज. घ. पु. १२ पृ. २४४ ।

— १. क्रूरणी नाम परिणामको है । अपूर्व जो करणी होते हैं उन्हें अपूर्वकरण कहते हैं; जिनका अर्थ असंख्योत्पत्ति होता है । इस प्रकार अपूर्वकरणों की लक्षण निरूपण किया गया है । ५७. ६१. ५८. ५९. ६०. ६१. ६२. ६३. ६४. ६५. ६६. ६७. ६८. ६९. ७०. ७१. ७२. ७३. ७४. ७५. ७६. ७७. ७८. ७९. ८०. ८१. ८२. ८३. ८४. ८५. ८६. ८७. ८८. ८९. ९०. ९१. ९२. ९३. ९४. ९५. ९६. ९७. ९८. ९९. १००.

इहाऽपि अत्र परिणामोक्तिं वरस्परं विशेषता कहते हैं—

विदियकरणादिसमयादतिमसमञ्जोति अवस्वरसुद्धी ।

अत्रिगदिसमाः सन्तु सञ्जे ह्येति अण्तेयागुणिकमभाध २॥

अर्थ—दूसरे अर्थात् अपूर्वकरणों के प्रथमसमय से लेकर अतिसमयपर्यन्त प्रत्येक समय के जघन्यपरिणाम से उसी समय का उत्कृष्टपरिणाम अनन्तगुणी विशुद्धिवाला है । इस उत्कृष्टपरिणाम से अनन्तर उत्तरसमय का जघन्यपरिणाम अनन्तगुणी विशुद्धिवाला है । इस प्रकार सपकी चाल के समान विशुद्धतासम्बन्धी अल्पबहुत्व का कथन है ।

विशेषार्थ—अपूर्वकरणों के प्रथमसमय से असंख्यातलोकप्रमाण विशुद्धिस्थानों के मध्य जो जघन्यविशुद्धि है वह सबसे नीचे तो कर्मात्मानुभागावली है । अपूर्वकरणों के प्रथमसमय में जो उत्कृष्टविशुद्धि है वह असंख्यातलोक-षट्स्थानकृत्तिकों से लब्धकर अवस्थित है और वह पूर्वकी जघन्यविशुद्धि से अनन्तगुणी है । प्रथमसमय की उत्कृष्ट-विशुद्धि द्वितीयसमय की जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है, क्योंकि असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानकृत्तिकों के अन्तर से इसकी उत्पत्ति होती है । अपूर्वकरणों के दूसरे समय की उत्कृष्ट-विशुद्धि उसी समय की जघन्यविशुद्धि से अनन्तगुणी है । द्वितीयसमय की उत्कृष्टविशुद्धि से तृतीयसमय की जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है । तृतीयसमय की उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है; कारण पूर्ववत् ही है । इस प्रकार यह क्रम अपूर्वकरणों के चरमसमय तक ले जाना चाहिए ।

१. ध. पु. १ पृ. १८१ ।
२. ध. पु. ६ पृ. २२१ । एवं क. पा. सुत. पृ. ६२३ ।
३. क. पा. सुत. पृ. ६२३ सूत्र ६५-७१ ।
४. ज. ध. पु. १२ पृ. २५३-५४ ।
५. ध. पु. ६ पृ. २२१ ।

आगे अपूर्वकरणपरिणामका कार्यविशेष बतानेके लिए गाथासूत्र कहते हैं—
गुणसेढीगुणसंकमठिदिरसखंडा अपुव्वकरणादो ।

गुणसंकमेण सम्मा मिस्साणं पूरणोत्ति हवे ॥५३॥

अर्थ—अपूर्वकरणके प्रथम समयसे लेकर; गुणसंकमण से सम्यक्त्व-मिश्रद्वय प्रकृतिके पूरनेके कालके चरमसमयपर्यन्त गुणश्रेणि, गुणसंकमण, स्थितिकांडकघात और अनुभागकांडकघात होते हैं ।

विशेषार्थ—उपशमसम्यक्त्वके कालमें यद्यपि दर्शनमोहकी गुणश्रेणि व स्थितिकांडकघातादि नहीं होते, किन्तु आयुकर्म और मिथ्यात्वको छोड़कर शेषकर्मोंके स्थितिघात, अनुभागघात और गुणश्रेणिरूप कार्य तबतक होते रहते हैं जबतक गुण-संकमण (मिथ्यात्वका) होता रहता है^१ । प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुखजीवके अपूर्वकरणके प्रथमसमयसे गुणसंकमण प्रारम्भ नहीं होता, किन्तु प्रथमोपशमसम्यक्त्वके प्रथमसमयसे सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिमें असंख्यातगुणों क्रमसे प्रदेशपुंज देनेके लिये गुणसंकमण प्रारम्भ होता है । इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकालतक गुणसंकमण होता है उसके पश्चात् उपशमसम्यक्त्वके अन्ततक विध्यातसंकमण होता है^२ ।

स्थितिबन्धापसरण कब तक होता है सो कहते हैं—

^३ठिदिबंधोसरणं पुण अधापवत्तादुपूरणोत्ति हवे ।

ठिदिबंधट्टिदिखंडुक्कीरणकाला समा होमि ॥५४॥

अर्थ—स्थितिबन्धापसरण भी अधःप्रवृत्तकरणसे लेकर सम्यक्त्व व मिश्र-प्रकृतियोंके पूरणकालतक होता है । स्थितिबन्धापसरणकाल और स्थितिकांडकघातका उत्कीरणकाल; ये दोनों काल समान अर्थात् तुल्य होते हैं ।

विशेषार्थ—स्थितिबन्धापसरण यद्यपि प्रायोग्यलब्धिमें भी होता है, किन्तु यहां उसकी विवक्षा नहीं है, क्योंकि प्रायोग्यलब्धि भव्य और अभव्य दोनोंके समानरूपसे होनेसे प्रायोग्यलब्धिमें सम्यक्त्वोत्पत्तिका नियम नहीं है । (देखो गा. ७) प्रथमोपशम सम्यक्त्वके कालमें मिथ्यात्वका बन्ध नहीं होता इसलिये सम्यक्त्वकालमें दर्शनमोहनीय-कर्मका बन्धापसरण नहीं होता, किन्तु अन्यकर्मोंका बन्धापसरण होता रहता है ।

१. ज. घ. पु. १२ पृ. २८५; घ. पु. १६ पृ. ४१५; गो. क. गा. ४१६ ।

२. ज. घ. पु. १२ पृ. २८२ से २८४ ।

३. तम्हि ट्टिदिखंडयद्धा ठिदिबंधगद्धा च तुल्ला । क. पा. सुत्त पृ. ६२५ सूत्र ८७ ।

अन्तर्मुहूर्तकालतक समान स्थितिका बन्ध होनेके पश्चात् स्थिति घटकर बंधती है वह स्थिति भी अन्तर्मुहूर्तकालतक बंधी है । इसप्रकार एकस्थितिबन्धापसरणका काल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कहा गया है । स्थितिकांडकघात करनेमें भी अन्तर्मुहूर्तकाल लगता है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्तके प्रत्येकसमयमें एक-एक फाली (कुछद्रव्य) उत्कीर्ण की जाती है । अन्तिमफाली द्वारा शेषद्रव्य उत्कीरण होने पर स्थितिघात होता है । अतः स्थितिकांडकघातमें जितनाकाल लगता है वह काल और स्थितिबन्धापसरणकाल दोनों तुल्य व अन्तर्मुहूर्तप्रमाण हैं । अपूर्वकरणमें प्रथमस्थितिबन्धापसरणकाल व स्थितिकांडकोत्कीरणकाल तुल्य हैं । द्वितीयादि स्थितिकांडक और स्थितिबंधका काल परस्पर समान है, किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रथमस्थितिकांडकके उत्कीरणकालसे और प्रथमस्थितिबन्धके कालसे द्वितीयादिकोंका काल यथाक्रम विशेषहीन-विशेषहीन जानना चाहिए ।

अथानन्तर गुणश्रेणीके स्वरूपका निर्देश करते हैं—

गुणसेढीदीहत्तमपुव्वदुगादो दु साहियं होदि ।

गलिदवसेसे उदयावलिवाहिरदो दु णिक्खेवो ॥५५॥

अर्थ—गुणश्रेणीकी दीर्घता अर्थात् गुणश्रेणीआयाम अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणकालसे अधिक होता है वह गुणश्रेणीआयाम गलितावशेष है तथा उदयावलीसे बाह्यनिक्षेप होता है ।

विशेषार्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख यह जीव अपूर्वकरणके प्रथम-समयमें आयुकर्मके अतिरिक्त शेषकर्मोंका गुणश्रेणिनिक्षेप प्रारम्भ कर देता है ।

शंका—आयुकर्मका गुणश्रेणिनिक्षेप क्यों नहीं करता है ?

समाधान—आयुकर्मका गुणश्रेणिनिक्षेप स्वभावसे ही नहीं करता है, क्योंकि इसमें गुणश्रेणिनिक्षेपकी प्रवृत्ति असंभव है ।

उस गुणश्रेणिनिक्षेपका प्रमाण अपूर्वकरणकालसे और अनिवृत्तिकरणकालसे अर्थात् इन दोनों कालोंसे विशेषअधिक है । यहां अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरणके समुदित कालका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है, उससे विशेषअधिक इस गुणश्रेणिनिक्षेपका आयाम है ।

शंका—विशेषका प्रमाण कितना है ?

समाधान—अनिवृत्तिकरणकालके संख्यातवेंभाग विशेषका प्रमाण है ।

नोट—(जिन निषेकोमें गुणाकार क्रमसे अपकर्षितद्रव्य निक्षेपित किया जाता है अर्थात् दिया जाता है उन निषेकोका नाम गुणश्रेणिनिक्षेप है उन निषेकोकी संख्याका प्रमाण गुणश्रेणीआयाम है ।

अथानन्तर निक्षेप व अतिस्थापनाके स्वरूप-मैद-प्रमाणादिका कथन करते हैं—

णिवस्त्रेवमदित्थावणमवरं सप्तउण्णावलिमितिभागं ।

तेणुणावलिमेतं विदियावलिमादिमणितेगे ॥५६॥

अर्थ—द्वितीयावलिका आदिनिषेक अर्थात् उदयावलिसे अनन्तर उपरिमें निषेक में से द्रव्य अपकर्षितकरके नीचे उदयावलिमें देता है तब एकसमयकम आवलिका विभाग तो जघन्यनिक्षेप है तथा आवलिके शेषनिषेक जघन्यअतिस्थापना है ।

विशेषार्थ—जो स्थिति अभी उदयावलिके अन्तिमसमयमें प्रवृद्ध नहीं हुई है, किन्तु अनन्तर अगले समयमें प्रविष्ट होनेवाली है उसके निक्षेप और अतिस्थापना सर्व-जघन्य हैं । स्पष्टीकरण इसप्रकार है—उस स्थितिका अपकर्षण करके, उदयसमुच्चयसे लेकर आवलिके तृतीयभागतक उसका निक्षेप करता है और ३ भागप्रमाण ऊपरके हिस्सेको अतिस्थापनारूपसे स्थापित करता है । इसलिए आवलिका तृतीयभाग उस अपकर्षितस्थितिके निक्षेपका विषय है और आवलिका ३ भाग अतिस्थापना है ।

शंका—आवलिकी परिगणना कृतयुग्म संख्यामें की गई अतः उसका तृतीय-भाग कैसे ग्रहण किया जाता है ?

समाधान—आवलिका प्रमाण जघन्ययुक्तासंख्यात है, अतः आवलिकी परिगणना कृतयुग्मसंख्यामें की गई है, (जो संख्या ४ से पूर्णरूपेण विभाजित हो जावे वह 'कृतयुग्म' संख्या है) इसलिए उसका शुद्ध तीसराभाग नहीं हो सकता अतः आवलिसे एककम करके उसका तृतीयभाग ग्रहण करना चाहिए । अब यहाँ आवलिमें से जो

१. ज. ध. पु. = पृ. २४३-४४ ।

२. ध. पु. १२ प्रस्तावना पृ. ३; ध. पु. १४ पृ. १४७; ध. पु. १२ पृ. १३४; भगवतीसूत्र लो. प्र. १२।७६; ध. पु. ३ पृ. २४६; ध. पु. १० प्रस्तावना पृ. ३; ध. पु. १०-मूल पृ. २२-३३ ।

एककालीन किया गया है उसको त्रिभागमें मिला देनेपर जघन्यनिक्षेप होता है और एक-कम आवलिका ३ भागप्रमाण जघन्य अतिस्थापना होती है जो जघन्यनिक्षेपके दूनेसे दो समप्रमाण है।

उदाहरण—आवलिका प्रमाण १६ समय है। $(१६-१)=१५$; $१५ \div ३ = ५$; $५ \times १ = ५$ जघन्यनिक्षेप है। $१६-५=१०$ समय जघन्यअतिस्थापना है।

एतो समऊणावलितिभागमेतो तु तं खृण्विखेवो ।

उपरि आवलित्विजय सगट्टिदी होदि खिखेवो ॥५७॥

अर्थ—इस प्रथमनिषेकसे ऊपर एकसमय कम आवलिके त्रिभागतकके निषेकोके अपकृतद्रव्यका निक्षेप तो पूर्वोक्त ही है। इससे ऊपर अतिस्थापनारूप आवलिको छोड़कर अपनी-अपनी स्थितिप्रमाण निक्षेप होता है।

विशेषार्थ—उदयावलिके बाह्य अनन्तर प्रथमस्थितिसे ऊपर अनन्तरसमयवर्ती द्वितीयस्थितिके अपकृतद्रव्यका उतना ही निक्षेप होता है, क्योंकि इसमें कोई भेद नहीं है, किन्तु अतिस्थापना एकसमय अधिक होती है, चूंकि उदयावलिके बाहर की स्थिति भी अतिस्थापनामें मिल गई है। इसप्रकार अतिस्थापनामें उदयावलिके बाहरसे जघन्यनिक्षेपप्रमाण स्थितियोंके प्रविष्ट होनेतक निक्षेपको अवस्थितरूपसे ले जाना चाहिए और अतिस्थापनाको उत्तरोत्तर एक-एकसमयअधिक क्रमसे अवस्थितरूपसे ले जाना चाहिए। यहां जो स्थिति प्राप्त होती है उसकी अतिस्थापना पूर्ण एकावलिप्रमाण है तथा निक्षेप जघन्य ही रहता है।

शंका—जिसस्थिति विशेषके प्राप्त होनेपर अतिस्थापना पूरी एकावलिप्रमाण होती है, वह स्थितिविशेष किसस्थावमें प्राप्त होता है?

समाधान—उदयावलिके बाहर आवलिके तृतीयभागकी जो अन्तिमस्थिति है वहां वह स्थितिविशेष प्राप्त होता है। (यहां अन्तिम स्थितिसे तदनन्तर उपरिम स्थिति विशेष प्राप्त है।)

१. ज. घ. पु. ५ पृ. २४१ ।

२. ज. घ. पु. ५ पृ. २४१ ।

३. ज. घ. पु. ५ पृ. २४५ ।

गाथामें जो 'समऊणावलिभिभाग' पद आया है उससे एकसमयकम आवलिका त्रिभाग व एकसमयअधिक ऐसा ग्रहण करना चाहिये । उदयावलिके बाहर जघन्य-निक्षेपप्रमाण स्थितिका उलंघनकरके जो स्थिति स्थित है उसके प्राप्त होनेपर पूरी एकावलिप्रमाण अतिस्थापना होती है । उससे आगे निक्षेप बढ़ता है, क्योंकि उत्कृष्ट-निक्षेपके प्राप्त होनेतक जघन्यनिक्षेपसे आगे एक-एकसमयाधिक क्रमसे निक्षेपकी वृद्धि होनेमें कोई विरोध नहीं आता, क्योंकि निर्व्याघातप्ररूपणामें सत्त्वप्रकृति पर्याप्त है । (स्थितिकांडकघातका अभाव निर्व्याघात कहलाता है^१ ।)

उदयस्थितिसे लेकर एकसमयाधिक दोआवलिप्रमाण स्थान आगे जाकर वहां अतिस्थापना व निक्षेप दोनों ही एक-एक आवलि प्रमाण हो जाते हैं उदयावलिके बाहर वहांतककी सर्वस्थितियोंके प्रदेशाओंका निक्षेप उदयावलिके भीतर ही होता है । सर्वत्र अपकर्षितस्थितिको छोड़कर उससे नीचे अनन्तरवर्ती स्थितिसे लेकर एकावलिप्रमाण स्थितियां अतिस्थापना होती हैं तथा उदयस्थितिसे लेकर अतिस्थापनासे पूर्वतककी सर्व-स्थितियोंमें निक्षेप होता है ।

उक्कस्सट्ठिदिषंधो समयजुदावलिदुगेण परिहीणो ।

ओक्कट्ठिदिम्मि चरिमे ठिदिम्मि उक्कस्सण्णिवखेवो ॥५८॥

अर्थ—उत्कृष्टस्थितिका बन्ध होनेपर चरमस्थितिके अपकर्षितद्रव्यका समयाधिक दोआवलिहीन उत्कृष्टस्थितिप्रमाण उत्कृष्टनिक्षेप होता है ।

विशेषार्थ—उत्कृष्टस्थितिको बांधकर और बन्धावलि (अचलावलि) को व्यतीतकर फिर चरम अर्थात् अग्रस्थितिका अपकर्षणकरनेपर अतिस्थापनाकी एक आवलिको छोड़कर, उदयपर्यन्त उस अपकर्षितद्रव्यके निक्षिप्त करनेपर निक्षेपका प्रमाण एकसमयाधिक दोआवलिसे न्यून^२ उत्कृष्ट कर्मस्थितिप्रमाण उत्कृष्टनिक्षेप उपलब्ध होता है ।

१. ज. घ. पु. ८ पृ. २४७ ।

२. बन्धके बाद बद्धद्रव्यावलि तक तो सकलकरणोंके अयोग्य होनेसे बद्धद्रव्यका आवलिकाल तक अपकर्षण भी नहीं होगा सो १ आवलि तो यह कम पड़ी तथा अतिस्थापना (आवलीप्रमाण) में अपकृष्ट द्रव्य का निक्षेप नहीं होता । आवली यह और गई तथा अन्तिमनिषेकके द्रव्यका उसी निषेकमें तो निक्षेप या अतिस्थापना होती नहीं अतः एक वह स्वयं कम पड़ा । इसप्रकार बन्धावलि + अतिस्थापनावलि + अपकृष्यमाण निषेक = कुल एक समय अधिक दो आवलिमें निक्षेपण का अभाव हुआ ।

उदाहरण—कर्मस्थिति ४८०० समय । एकसमयाधिक दो आवलि (१६×२ + १) = ३३ समय । ४८०० - ३३ = ४७६७ उत्कृष्टनिक्षेप^१ ।

अब व्याघातापेक्षा उत्कृष्टअतिस्थापनाका कथन करते हैं—

उक्कस्सट्ठिदि बंधिय मुहुत्तअंतेण सुज्झमाणेण ।
इगिकंडयण घादे तस्मिं य चरिमस्स फालिस्स ॥५६॥
चरिमणिसेओक्कडु जेट्ठमदित्थावणं इदं होदि ।
समयजुदंतोकोडाकोडि विणुक्कस्सकम्मठिदी ॥६०॥

अर्थ—उत्कृष्टस्थितिको बांधकर अन्तर्मुहूर्तके द्वारा विशुद्ध होता हुआ, अंतः-कोडाकोड़िसागरप्रमाण स्थितिके अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण उत्कृष्टस्थितिका एकाकांडक-घातके द्वारा घात करनेवालेके कांडककी चरिमफालिके चरमनिषेकके अपकर्षितद्रव्यकी उत्कृष्टअतिस्थापना समयाधिक अन्तःकोडाकोड़िसागरसे होन उत्कृष्टकर्मस्थिति होती है ।

विशेषार्थ—स्थितिका घात करते हुए जिसने स्थितिघात करनेके लिये उत्कृष्ट-कांडकको ग्रहण किया है, उसके उत्कृष्टअतिस्थापना होती है ।

शं ६१—उत्कृष्टकांडक कितना है ?

समाधान—जितनी उत्कृष्टकर्मस्थिति है उसमेंसे अन्तःकोडाकोड़िसागर कम कर देनेपर जो स्थिति शेष रहे उतना उत्कृष्टस्थितिकांडकघात होता है । इस स्थिति-कांडकको प्रारम्भ करनेपर उत्कीरणकाल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होता है और प्रतिसमय होनेवाले घातसे सम्बन्ध रखनेवाली स्थितिकांडकसम्बन्धी फालियां भी उतनी ही होती हैं अर्थात् अन्तर्मुहूर्तके जितने समय होते हैं उतनी ही कांडककी फालियां होती हैं । उसकांडकमें से प्रथमसमयमें जो प्रदेशाग्र उत्कीरण होते हैं उसकी अतिस्थापना एकावलिप्रमाण होती है, क्योंकि कांडकरूपसे ग्रहण की गई इन सर्व स्थितियोंका अभी अभाव नहीं होनेसे इनका व्याघात नहीं होता इसलिए यहांपर भी निर्व्याघातविषयक अतिस्थापना होती है । इसप्रकार द्विचरमसमयवर्ती अनुत्कीर्ण स्थितिकांडकके प्राप्त होनेतक ले जाना चाहिए, क्योंकि कांडकरूपसे ग्रहण की गई इन सर्व स्थितियोंका

अभी अभाव नहीं हुआ है । उस उत्कृष्टस्थितिकांडकघातके अन्तिमसमयकी चरमफालि में जो अग्रस्थिति अर्थात् चरमनिषेकका द्रव्य होता है उसकी अतिस्थापना एकसमयकम कांडकप्रमाण होती है, क्योंकि उस अन्तिमसमयकी फालीमें स्थितिकांडकघातके भीतर आई हुई सभी स्थितियोंका व्याघातके कारण घात होता है । इसलिये चरमस्थितिकी एकसमयकम उत्कृष्टकांडकप्रमाण (उत्कृष्टस्थितिमें से अन्तःकोड़ाकोड़ीसागर कम कर देने पर शेषस्थिति उत्कृष्टकांडक है) उत्कृष्टअतिस्थापना होती है ।

शंका—इस अतिस्थापनाको एकसमयकम क्यों कहा ?

समाधान—क्योंकि अपकर्षणको प्राप्त होनेवाली अग्रस्थिति (अन्तिमनिषेक) अतिस्थापनासे वहिर्भूत होती है ।

यह एकसमयकम उत्कृष्टस्थितिकांडकप्रमाण उत्कृष्टअतिस्थापना स्थितिकांडकविषयक व्याघातके होनेपर होती है, अन्यत्र नहीं होती ।

अब सातगाथाओंमें उत्कर्षणका कथन करते हैं—

सत्तगट्ठिद्विबंधो आदिस्थियुक्कडुणे जहरणेण ।

आवलिअसंखभागं तेत्तियमेत्तेव गिणित्ववदि ॥६१॥

अर्थ—बन्ध होनेपर सत्त्वकर्मकी अग्रस्थिति (अन्तिमस्थितिके द्रव्य) का उत्कर्षण होता है उस उत्कर्षणकी अतिस्थापना (आदिस्थिति) जघन्यसे आवलिके असंख्यातवैभाग होती है और जघन्यनिक्षेप भी उतना ही होता है ।

विशेषार्थ—नवीन अधिकस्थितिवन्धके सम्बन्धसे पूर्वकी स्थितिमेंसे कर्म-परमाणुओं (प्रदेशों) की स्थितिका बढ़ाना 'उत्कर्षण है' । उसके दो भेद हैं—निर्व्याघातविषयक और व्याघातविषयक । जहां आवलिके असंख्यातवैभागादि निक्षेपसे संबंध रखनेवाली एकआवलिप्रमाण अतिस्थापनाका प्रतिघात नहीं होता वहां निर्व्याघात-विषयक अतिस्थापना होती है, क्योंकि उसप्रकारके निक्षेपके साथ प्राप्त हुई एकआवलि-प्रमाण अतिस्थापनाका प्रतिघात यहां व्याघातरूपसे विवक्षित है ।

१. ज. घ. पु. ८ पृ. २४८ से २५० ।

२. अयं विशेषो यद् उदयावलिपरमाणूनामुत्कर्षणं कदापि न सम्भवति उदयावलि बहिः स्थितेष्वपि केषांचिदेव उत्कर्षणं सम्भवति न सर्वेषाम् (अ. पु. ७ पृ. २४२)

३. ज. घ. पु. ७ पृ. २४३ ।

शंका—इसप्रकारका व्याघात कहाँ नहीं होता ?

समाधान—जहाँ सत्कर्मसे 'ऊपर एकसमयाधिक आदिके क्रमसे स्थितिबन्ध वृद्धिको प्राप्त होता हुआ एकआवलिके असंख्यातवेंभागसे युक्त एकआवलि बढ़ जाता है वहाँसे लेकर उत्कृष्ट स्थितिबन्धके प्राप्त होनेतक सर्वत्र ही निर्व्याघातविषयक उत्कर्षण होता है' ।

व्याघातकी अपेक्षा उत्कर्षण—यदि सत्कर्मसे बन्ध एकसमयाधिक हो तो उसस्थितिमें अग्रस्थितिका उत्कर्षण नहीं होता, क्योंकि वहाँ जघन्यअतिस्थापना और निक्षेप इन दोनोंका अभाव है । यदि सत्कर्मसे दो समयाधिक स्थितिका बन्ध होता है तो उस बन्धस्थितिमें भी पूर्व-विवक्षित सत्कर्मकी अग्रस्थितिका स्वभावसे ही उत्कर्षण नहीं होता । इसप्रकार तीनसमयाधिक आदिसे लेकर आवलिके असंख्यातवेंभागतक बन्धकी वृद्धि हो जानेपर भी उत्कर्षण नहीं होता, क्योंकि यहाँ जघन्यअतिस्थापनाके होते हुए भी उससे सम्बन्ध रखनेवाला जघन्यनिक्षेप अभी भी नहीं पाया जाता और निक्षेप विषयक स्थितिके बिना उत्कर्षण नहीं हो सकता, जघन्यअतिस्थापनाके ऊपर फिर भी आवलिके असंख्यातवेंभागप्रमाण बन्धकी वृद्धि होने पर जघन्यनिक्षेपका होना सम्भव है । यदि सत्कर्मसे जघन्यअतिस्थापना और जघन्यनिक्षेपप्रमाण स्थितिबन्ध अधिक हो तो सत्कर्मकी उस अग्रस्थितिका उत्कर्षण होता है, क्योंकि यहाँपर जघन्य-अतिस्थापना और जघन्यनिक्षेप अविकलरूपसे पाये जाते हैं^१ ।

तत्तोदित्थावणगं वद्धुदि जावावली तदुक्कस्सं ।

उवरीदो णिक्खेओ वरं तु बंधिय ट्ठिदि जेट्ठं ॥६२॥

बोलिय बंधावलियं ओक्कड्डिय उदयदो दु णिक्खिविय ।

उवरिमसमये विदियावलिपट्टमुक्कड्डणे जादे ॥६३॥

तक्कालवज्जमाणे वारट्ठिदीए अदित्थियावाहं ।

समयजुदावलियावाहूणे उक्कस्सठिदिबंधो ॥६४॥

१. ज. घ. पु. = पृ. २५३ एवं ज. घ. पु. ७ पृ. २४५ ।

२. ज. घ. पु. = पृ. २५७-२५९ ।

अर्थ—उसके पश्चात् अतिस्थापना एक-एक समय बढ़ते हुए आवलिप्रमाण उत्कृष्ट अतिस्थापना हो जाती है, इसके पश्चात् निक्षेपआवलिके असंख्यातवैभ से उत्कृष्टनिक्षेप प्राप्त होनेतक बढ़ता है । उत्कृष्टनिक्षेप—उत्कृष्टस्थितिको बांधकर बंधावलि बीत जानेपर उस उत्कृष्टस्थितिके अन्तिमनिषेकसम्बन्धी द्रव्यका अपकर्षणकरके उदयादि निषेकोमें निक्षेपण किया अर्थात् दिया । अनन्तर अगले समयमें द्वितीयआवलि के प्रथमनिषेकका उत्कर्षण करनेके लिये उस अनन्तरसमयमें उत्कृष्टस्थितिस हेतु बंधनेवाले कर्मकी उत्कृष्ट आबाधाको अतिस्थापना कर प्रथमादि निषेकोमें निक्षेपण होता है, किन्तु अन्तके एक समयाधिक आवलिप्रमाण निषेकोमें निक्षेपण नहीं होता । अतः एकसमयाधिक आवली और आबाधाकाल इन दोनोंसे न्यून उत्कृष्टस्थितिप्रमाण उत्कृष्टनिक्षेप है^१ ।

विशेषार्थ—तदनन्तर एकसमयाधिक स्थितिबन्धके होनेपर निक्षेप उतना ही रहता है, किन्तु अतिस्थापना वृद्धिको प्राप्त होती है ।

शंका—ऐसा क्यों है ?

समाधान—क्योंकि सर्वत्र अतिस्थापनाकी वृद्धिपूर्वक ही निक्षेपकी वृद्धि देखी जाती है ।

शंका—किन्तु वह अतिस्थापनाकी उत्कृष्टवृद्धि कितनी होती है ?

समाधान—अतिस्थापनाके एक आवलिप्रमाण होनेतक उसकी वृद्धि होती रहती है । स्थितिबन्धकी वृद्धिके साथ वह जघन्यअतिस्थापना एक-एक समयाधिकके क्रमसे बढ़ती हुई पूरी एक आवलिप्रमाण उत्कृष्ट अतिस्थापनाके प्राप्त होनेतक बढ़ती जाती है ।

शंका—इससे आगे भी अतिस्थापना क्यों नहीं बढ़ाई जाती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि परमप्रकर्षको प्राप्त हो जानेपर फिर उसकी वृद्धि होनेमें विरोध आता है^२ ।

उसके आगे उत्कृष्टनिक्षेपके प्राप्त होनेतक निक्षेपकी वृद्धि होती है । यहांपर पूर्वमें विवक्षित मत्कर्मकी अग्रस्थितिके उत्कृष्ट निक्षेपकी वृद्धि एक-एक समयअधिकके

१. ज. घ. पु. ८ पृ. २५६-२६१ ।

२. ज. घ. पु. ८ पृ. २६० ।

क्रमसे होती हुई अतिस्थापनावलिसे अधिक जो अधस्तन अन्तःकोड़ाकोड़ी उससे हीन कर्मस्थितिप्रमाण होती है, किन्तु इतनी विशेषता है कि बन्धावलिके साथ अन्तःकोड़ा-कोड़ीको कम करना चाहिए । यह आदेशसे उत्कृष्टवृद्धि है । फिर इससे नीचेकी सत्कर्मसम्बन्धी द्विचरमादि स्थितियोंकी एक-एक समय अधिकके क्रमसे पश्चादानुपूर्वीकी अपेक्षा निक्षेपवृद्धि तबतक कहनी चाहिए जबतक वह ओषसे उत्कृष्टनिक्षेपको प्राप्त न हो जावे, किन्तु ओषकी अपेक्षा वह उत्कृष्टनिक्षेप होता है ऐसा निर्णय करनेके लिये कहते हैं ।

शंका—उत्कृष्टनिक्षेप कितना है ?

समाधान—जो उत्कृष्टस्थितिका बन्ध करनेके बाद एकआवलिको बिताकर उस उत्कृष्टस्थितिका अपकर्षणकरके उदयावलिके बाहर दूसरी स्थितिमें निक्षेप करता है फिर तदनन्तर समयमें उदयावलिके बाहर अनन्तरवर्तीस्थितिको प्राप्त होगा कि इसस्थितिके कर्मद्रव्यका उत्कर्षणकरके उसका एकसमयाधिक एकआवलिसे कम अग्र-स्थितिमें निक्षेप करता है । यह उत्कृष्टनिक्षेप है ।

स्पष्टीकरण इसप्रकार है—

जिस संज्ञीपंचेन्द्रियपर्याप्त जीवने साकारोपयोगसे उपयुक्त होकर जागृतावस्था के रहते हुए सर्वोत्कृष्ट संक्लेशके कारण उत्कृष्टदाहको प्राप्त होकर ७० कोड़ाकोड़ी-सागरप्रमाण उत्कृष्टस्थितिका बन्ध किया । फिर बन्धावलिके व्यतीत हो जानेपर उस उत्कृष्टस्थितिका अपकर्षण करके उसे उदयावलिके बाहरकी प्रथमस्थितिके निषेकसे विशेषहीन दूसरी स्थितिमें निक्षिप्त किया । फिर तदनन्तर समयमें अनन्तरपूर्व समय-वर्ती स्थितिका उदयावलिके भीतर प्रवेश करवाकर और उस दूसरी स्थितिको प्रथम-स्थितिरूपसे स्थापित करके तदनन्तर समयमें विवक्षित स्थितिको उदयावलिके भीतर प्राप्त कराता, इसप्रकार स्थित होकर उसी समयमें, इससे पूर्व समयमें अपकर्षणको प्राप्त हुए प्रदेशाग्रका उत्कर्षणके वशसे उसी समय हुए नवीनबन्धसे सम्बन्ध रखनेवाली उत्कृष्ट-स्थितिमें निक्षेप किया । यहां इस निक्षेपको आबाधामें नवीनबन्धके परमाणुओंका अभाव होनेसे उत्कृष्टआबाधाको अतिस्थापनारूपसे स्थापित करके आबाधाके बाहर प्रथम-निषेककी स्थितिसे लेकर एकसमयाधिक एकआवलिसे न्यून अग्रस्थितिके प्राप्त होनेतक

करता है, क्योंकि इसके ऊपर शक्ति स्थिति नहीं है । जो जीव इसप्रकार निक्षेप करता है उसके उत्कृष्टनिक्षेप होता है । इस निक्षेपका प्रमाण समयाधिक आवलि और आबाधासे हीन उत्कृष्ट कर्मस्थितिप्रमाण उत्पन्न होता है^१ ।

अहवावलिगदवरठिदिपढमणिसेगे वरस्स बंधस्स ।

विदियणिसेगप्पहुदिसु णिक्खित्ते जेट्ठणिक्खेओ ॥६५॥

अथ—अथवा, आवलि व्यतीत हो जानेपर उत्कृष्टस्थिति के प्रथमनिषेकका द्रव्य बंधनेवाली उत्कृष्टस्थितिके द्वितीयादि निषेकमे निक्षेपण करनेपर उत्कृष्टनिक्षेप होता है^२ ।

विशेषार्थ—उत्कृष्ट आबाधा और एकसमयाधिक एकआवलि इनसे न्यून जितनी उत्कृष्टकर्मस्थिति है उतना उत्कृष्ट निक्षेप है । अथवा, (इस “अथवा” शब्द से ‘यहां आचार्यान्तर के मतानुसार निक्षेप का निरूपण किया गया है’; ऐसा ज्ञातव्य है) उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होने के पश्चात् बन्धावली को बिताकर उससे प्रथम निषेक का उत्कर्षण किया । इस उत्कर्षणमात्र निषेक के द्रव्य का, इस उत्कर्षण क्रिया के समय बद्ध उत्कृष्टस्थितियुक्त समयप्रबद्ध के द्वितीयादि समस्त निषेकों में निक्षेपण किया; किन्तु चरम आवलीप्रमाण स्थिति में निक्षेपण नहीं किया । ऐसा करने पर उत्कृष्ट निक्षेप प्राप्त होता है और इस उत्कृष्ट निक्षेप का प्रमाण एकसमयाधिकआवली और आबाधाकाल; (वर्तमान में बद्ध समयप्रबद्धका) इन दोनोंके योग से हीन उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण उत्कृष्ट निक्षेप होता है^३ ।

विष्पण :—

१. ज. ध. पु. ८ पृ. २५६ से २६१ । क. पा. सुत्त पृ. ३१८; ज. पु. ७ पृ. २४६; ज. ध. पु. ८ पृ. २५६-१.

२. यहां उत्कर्षण के विधान में इतना ज्ञातव्य है कि—१. उत्कर्षण बन्धके समय में ही होता है । अर्थात् जब जिसकर्मका बन्ध हो रहा हो तभी उस कर्म के सत्ता में स्थित कर्मपरमाणुओं का उत्कर्षण हो सकता है; अन्य का नहीं । उदाहरणार्थ—यदि कोई जीव साता प्रकृति का बन्ध कर रहा है तो उस समय सत्ता में स्थित साता प्रकृति के कर्मपरमाणुओं का ही उत्कर्षण होगा, असाता के कर्म-परमाणुओं का नहीं । (ज. ध. ७।२५१)

२. उदयावली के कर्म-परमाणुओं का उत्कर्षण नहीं होता । (ज. ध. ७।२४४ एवं २४०, २४१, २४२ आदि ।)

३. बन्धे हुए कर्म अपने बन्ध समय से लेकर एक आवली काल तक तदवस्थ रहते हैं । (अर्थात् बन्धावली सकलकरणों के अयोग्य है ।)

४. बंधने वाले कर्म की अपने आबाधाकाल में निषेकरचना नहीं पाई जाती । (ज. ध. ७।२५१)

५. अतिस्थापना—कर्मपरमाणुओं का उत्कर्षण होते समय उनका अपने से ऊपर की जितनी स्थिति में निक्षेप नहीं होता, वह “अतिस्थापना” स्थिति कहलाती है । अव्याघात दशा में जघन्य अतिस्थापना एक आवलीप्रमाण और उत्कृष्ट अतिस्थापना, उत्कृष्ट आबाधाप्रमाण होती है, किन्तु व्याघातदशा में जघन्य अतिस्थापना आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण और उत्कृष्ट अतिस्थापना एक समयकम् आवली प्रमाण होती है । (ज. ध. ७।२५०)

६. निक्षेप—उत्कर्षण होकर कर्मपरमाणुओं का जिन स्थितिबिकल्पों में पतन होता है उनकी निक्षेप संज्ञा है । अव्याघात दशा में जघन्य निक्षेप का प्रमाण एकसमय (क. पा. सु. पृ. २१५) और उत्कृष्ट निक्षेप का प्रमाण उत्कृष्ट आबाधा और एक समयाधिक आवली; इन दोनों के योग से हीन ७० कोटाकोटीसागर है । व्याघात दशा में जघन्य और उत्कृष्ट निक्षेप का प्रमाण आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण है । (ल. सा. गा. ६१; ६२ एवं ज. ध. पु. ८ पृ. २५३; ज. ध. ७।२४५)

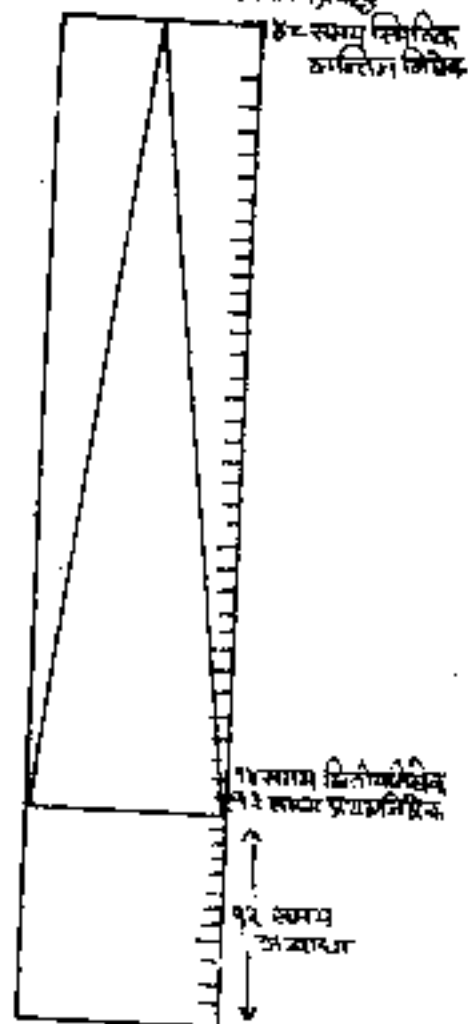
७. बन्ध के समय उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होने पर अन्तिमनिषेक की सब की सब व्यक्तस्थिति होती है । इसका मतलब यह है कि अन्तिम निषेक की एकसमयमात्र भी शक्तिस्थिति नहीं पाई जाती । उपान्त्य निषेक की एक समयमात्र शक्तिस्थिति होती है और शेष स्थिति व्यक्त होती है । तथा त्रिचरम निषेक की दो समयमात्र शक्तिस्थिति होती है और शेषस्थिति व्यक्त होती है । इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक नीचे जाने पर शक्तिस्थिति का एक-एक समय बढ़ता जाता है और व्यक्ति स्थिति का एक-एक समय घटता जाता है । इस क्रम से प्रथम निषेक की शक्तिस्थिति और व्यक्तिस्थिति का विचार करने पर व्यक्तस्थिति एक समय अधिक उत्कृष्ट आबाधाप्रमाण प्राप्त होती है और इस व्यक्तस्थिति को पूरी स्थिति में से घटा देने पर जितनी शेष रहे उतनी शक्तिस्थिति प्राप्त होती है । इस प्रकार यह बन्ध के समय जैसी निषेक-रचना होती है उसके अनुसार विचार हुआ, किन्तु उत्कर्षण से इसमें कुछ विशेषता आजाती है । यथा—उत्कर्षण द्वारा जिस निषेक की जितनी व्यक्तस्थिति बढ़ जाती है, उतनी उसकी शक्तिस्थिति घट जाती है । अपकर्षण करने पर जिस निषेक की जितनी व्यक्त स्थिति घट जाती है उतनी उसकी शक्ति स्थिति बढ़ जाती है । यह सब उत्कृष्टस्थितिबन्ध की अपेक्षा शक्तिस्थिति और व्यक्तिस्थिति का विचार है । उत्कृष्ट स्थितिबन्ध न होने पर जितना स्थितिबन्ध कम हो उतनी अन्तिमनिषेक की शक्ति-स्थिति होती है और शेष निषेकों की भी इसी अनुक्रमसे शक्तिस्थिति बढ़ती जाती है । (जयधवल ७।२५०)

८. अपकर्षण के समय उत्कर्षण नहीं होता, उत्कर्षण के समय अपकर्षण नहीं होता । अब इन सभी (आठों) नियमों को ध्यान में रखते हुए गाथा ६५ को समझने के लिए उदाहरण देते हैं । माना कि आवली = ३ समय तथा विवक्षित कर्म का उत्कृष्टस्थितिबन्ध ४८ समय है तथा प्रारम्भ के १२ समय आबाधा के हैं; शेष ३६ समयों में निषेकरचना हुई है; तो प्रथमनिषेक की १३ समय

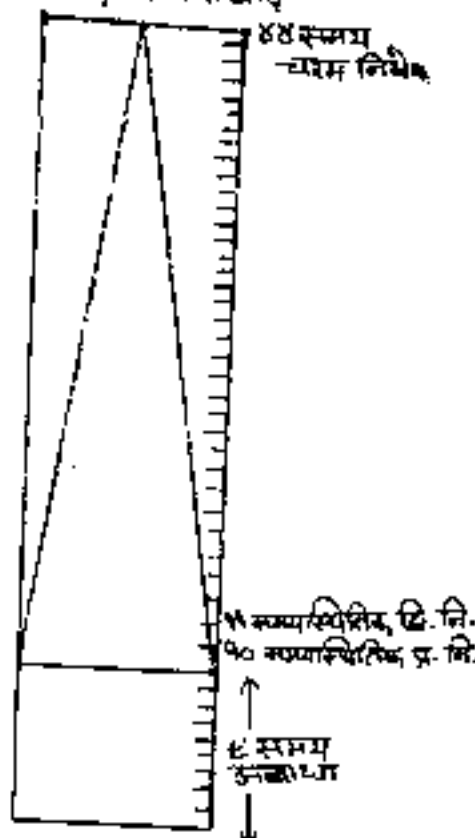
स्थिति पड़ी। (क्योंकि आबाधामें निषेक रचना नहीं होती नियम ४) बन्धावली (३ समय) के बीतने पर प्रथम निषेक (जिसकी कि बन्ध के समय शक्तिस्थिति तो ३५ समय तथा व्यक्तस्थिति १३ समय थी (ज. ध. ७।२५६) की व्यक्तस्थिति १० समय ही रहेगी। तब उस प्रथम निषेक का उत्कर्षण होने पर (नियम नं० ३ से) उससमय बध्यमान उत्कृष्ट प्रबद्ध की उत्कृष्ट आबाधा १२ के बाद १३ वें निषेक में भी निक्षेपण सम्भव नहीं होगा; क्योंकि विवक्षित उत्कृष्ट्यमाण १० समयस्थितिक प्रथम निषेक से ३ समय स्थितिपर अतिरिक्त बन्धावली की वृद्धि के बादमें हर्ष निक्षेप सम्भव होगा; अतः निक्षेप बध्यमान समयप्रबद्ध के १४ वें समय से होगा और यही चौदहवां समय उससमय बध्यमानप्रबद्ध का द्वितीयनिषेक का है (क्योंकि आबाधा के बाद तेरहवां समय प्रथम निषेक का तथा चौदहवां समय द्वितीय निषेक का है। अतः उत्कर्षण के समय बध्यमान प्रबद्ध के द्वितीयनिषेक से उत्कर्षित द्रव्य का निक्षेपण होगा तथा बध्यमान वर्तमानप्रबद्ध की अन्तिमआवली में निक्षेप नहीं करता; क्योंकि उन कर्मपरमाणुओं की उनमें निक्षेपकरने योग्य शक्ति-स्थिति नहीं पाई जाती। (नियम ७ देखो) (ज. ध. ७।२४६) शेष कथन सुगम है। इसप्रकार द्वितीय निषेक से लगाकर सर्वत्र उत्कर्षितद्रव्य का निक्षेप होता है, मात्र चरमावली में नहीं होता।

चित्र—

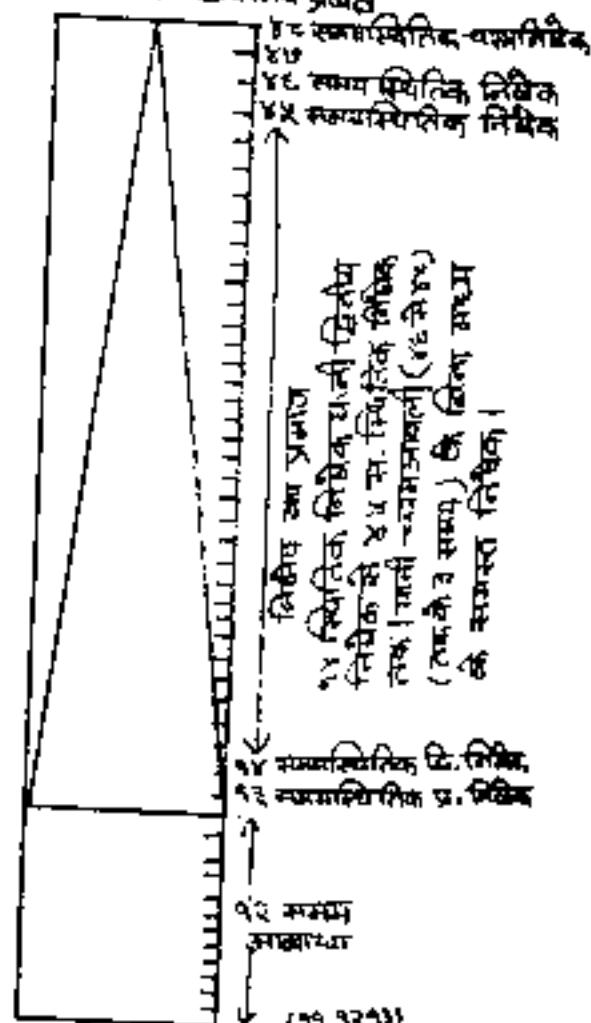
उत्कृष्ट स्थितिक समयप्रबद्ध



बन्धावली बीतने के बाद



उत्कर्षित होने वाले निषेक के उत्कर्षण के समय बद्ध समयप्रबद्ध



नोट - यहां अनिश्चयतावली = प्रथम निषेक एवं १ समयक कर्म अवली प्रथम उत्कर्षण

उत्कर्षसद्विद्विषये आवाहना ससमयमावलयं ।

ओदरियण्णिसेगेसुक्कड्डेसु अवरमावलयं ॥६६॥

अर्थ—उत्कृष्टस्थितिका बन्ध होनेपर उस कर्मबन्धके आवाधाकालसम्बन्धी चरमसमयमें एकसमयअधिक आवलिकाल पूर्वतक जो उदय आने योग्य सत्कर्मनिषेक हैं, उनके द्रव्यका उत्कर्षण होनेपर आवलिप्रमाण जघन्यअतिस्थापना होती है ।

विशेषार्थ—इस गाथासूत्रका यह भाव है कि जो स्थितियां बंधती हैं, उनमें पूर्ववद्ध स्थितियोंका उत्कर्षण होता है और उत्कर्षणको प्राप्त हुई स्थितिकी एक-आवलिप्रमाण अतिस्थापना होती है जो निर्व्याघात उत्कर्षणकी जघन्यअतिस्थापना है । वह इसप्रकार है—७० कोड़ाकोड़ीसागरके बन्धयोग्य कर्मकी पूर्वमें अन्तःकोड़ाकोड़ी-सागरप्रमाण स्थितिका बन्ध हुआ । इसस्थितिके ऊपर बन्ध करनेवाले जीवके एक-समयअधिक, दो समयअधिक आदिके क्रमसे जबतक एकआवलि और एकआवलिके असंख्यातर्वेभाग अधिक स्थितिका बन्ध नहीं होता, तबतक उसस्थितिके अन्तिमनिषेकका उत्कर्षण सम्भव नहीं है, क्योंकि निर्व्याघातउत्कर्षणका प्रकरण है । इसलिये एक-आवलिप्रमाण अतिस्थापना और आवलिके असंख्यातर्वेभागप्रमाण जघन्यनिक्षेपके परिपूर्ण हो जानेपर ही निर्व्याघातविषयक उत्कर्षण प्रारम्भ होता है । इससे आगे आवलिप्रमाण अतिस्थापनाके अवस्थित रहते हुए अपने उत्कृष्टनिक्षेपकी प्राप्ति होनेतक निरन्तर क्रमसे निक्षेपकी वृद्धिका कथन करना चाहिए । इसीप्रकार अन्तःकोड़ाकोड़ी-सागरप्रमाण स्थितिके द्विचरमनिषेकका भी कथन करना चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि पूर्वके निक्षेपस्थानोंसे इसके निक्षेपस्थान एकसमयअधिक होते हैं । इसीप्रकार नीचेकी सर्वस्थितियोंकी प्रत्येकस्थितिको विवक्षित करके प्ररूपणा करनी चाहिए । नवीन कर्मबन्धकी आवाधाके भीतर एकसमयअधिक आवलिप्रमाण नीचे जाकर जो पूर्व सत्कर्मकी स्थिति स्थित है, उसके प्राप्त होनेतक अतिस्थापना एकआवलिप्रमाण ही रहती है । इससे नीचेकी स्थितियोंका उत्कर्षण होनेपर निक्षेप तो पूर्वके समान रहता है, किन्तु इतनी विशेषता है कि उदयावलीके बाहरकी स्थितिके प्राप्त होनेतक इन स्थितियोंकी अतिस्थापना एक-एकसमय बढ़ती जाती है ।

वद्बदती हुई कितनी होती है सो हो कहते हैं—

ओदरिय मदो विदीयावलिपडमुक्कङ्गणे वरं हेट्टा ।

अइच्छावणमावाहा समयजुदावलियपरिहीणा ॥६७॥

अर्थ—वहाँसे उतरकर सत्कर्मसम्बन्धी द्वितीयावलिके प्रथमनिषेक (जो वर्तमानसमयसे आवलिकालके बाद उदयमें आवेगा) का उत्कर्षण होनेपर अधस्तन समयाविकआवलिसे हीन आवाधाकालप्रमाण उत्कृष्ट-अतिस्थापना होती है ।

विशेषार्थ—पूर्वके सत्कर्मसम्बन्धी उदयावलिके निषेकोंका उत्कर्षण सम्भव नहीं है । उदयावलिसे बाह्य-अनन्तर प्रथमनिषेकका उत्कर्षण होनेपर वर्तमान उत्कृष्ट-स्थितिवाले कर्मबन्धकी उत्कृष्टआवाधाके बाहर स्थित निषेकोंमें उत्कर्षितप्रदेशोंका निक्षेपण होता है । आवाधाकाल अतिस्थापना होती है । वर्तमानसमयमें बंध होनेसे आवाधाकाल वर्तमान समयसे प्रारम्भ हो जाता, किन्तु जिसनिषेकका उत्कर्षण हुआ है, वह वर्तमानसमयसे एकआवलिके ऊपर स्थित है अतः आवाधाकालमें से एकआवलि और एकसमय (उत्कर्षण होनेवाले निषेकसम्बन्धी) कम करनेपर उत्कृष्ट अतिस्थापना होती है ।

उदाहरण—उत्कृष्टस्थितिका प्रमाण ४८ समय; उत्कृष्टआवाधा १२ समय; आवलिका प्रमाण ४ समय; वर्तमानमें ४८ समय उत्कृष्टस्थितिवाले कर्मका बन्ध हुआ है । वर्तमानसमयसे १२ समयवाली उत्कृष्टआवाधा प्रारम्भ हो जाती है, किन्तु जिस निषेकका उत्कर्षण हुआ है वह उदयावलि (४ समय) से बाहरका प्रथमनिषेक अर्थात् वर्तमानसे पांचवां निषेक है, अतः आवाधाकाल (१२ समय) में से पांचसमय कम करनेपर (१२-५) ७ समय उत्कृष्ट-अतिस्थापना है^१ ।

अब प्रकरण प्राप्त गुणश्रेणिनिर्जराका कथन करते हैं—

उदयाणमावलिमिह य उभयाणं बाहरम्मि खिवणट्ठं ।

लोयाणमसंखेज्जो कमसो उक्कङ्गणो हारो ॥६८॥

ओक्कङ्गिदइगिभागे पल्लासंखेण भाजिदे तत्थ ।

बहुभागमिदं दव्वं उव्वरिल्लठिदीसु णिक्खिद्वदि ॥६९॥

सेसगभागे भजिदे असंखलोगेण तत्थ बहुभागं ।
 गुणसेहीए सिंचदि सेसेगं च उदयमिह ॥७०॥
 उदयावलिस्स दब्बं आवलिभजिदे दु होदि मज्झमधणं ।
 रुऊणद्धाणद्धेणूणेण णिसेयहारेण ॥७१॥
 मज्झिमधणमवहरिदे पचयं पचयं णिसेयहारेण ।
 गुणिदे आदिणिसेयं विसेसहीणे कमं तत्तो ॥७२॥
 ओक्कड्ढिदमिह देदि हु असंखसमयप्पवद्धमादिमिह ।
 संखातीदगुणक्कममसंखहीणं विसेसहीणकमं ॥७३॥

अर्थ—उदयवान प्रकृतियोंका उदयानलिमें क्षेपण करनेके लिए तथा उदय व अनुदयरूप दोनों प्रकारकी प्रकृतियोंका उदयावलिसे बाहर क्षेपण करनेके लिए भागहार क्रमशः असंख्यातलोक व अपकर्षणभागाहारप्रमाण है । एकभागप्रमाण अपकर्षितद्रव्य को पत्यके असंख्यातवैभागसे भाजित करनेपर बहुभाग उपरितन स्थितियोंमें दिया जाता है । शेष एकभावको असंख्यातलोकसे भाजित करनेपर बहुभाग गुणध्वरेणिमें दिया जाता है और शेष एकभाग उदयावलिमें दिया जाता है । उदयावलिमें दिये जाने वाले द्रव्यको आवलिसे भाजित करनेपर मध्यमधन होता है । एककम अद्वानके आधे को निषेकभागहारमें से घटानेपर जो शेष रहे उसका मध्यमधनमें भाग देनेपर चयका प्रमाण प्राप्त होता है । चयको निषेकभागाहारसे गुणा करनेपर प्रथमनिषेक प्राप्त होता है, उससे ऊपरके निषेक चयहीन-चयहीन क्रमसे हैं । अपकर्षितद्रव्यमें से गुणध्वरेणिके प्रथमनिषेकमें असंख्यातसमयप्रवद्धप्रमाण द्रव्य देता है आगे गुणध्वरेणिशीर्षतक असंख्यात-गुणित क्रमसे देता है, अनन्तर असंख्यातगुणे हीन और उससे आगे क्रमसे चयहीन द्रव्य देता है ।

विशेषार्थ—अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें डेढ़गुणहानिप्रमाण समयप्रवद्धोंको अर्थात् सत्त्वद्रव्यको अपकर्षण-उत्कर्षणभागाहारसे भाजितकर वह लब्धरूपसे प्राप्त एक-खण्डप्रमाण द्रव्यका अपकर्षणकरके उस एकभागप्रमाण अपकर्षितद्रव्यमें पत्यके असंख्यातवैभागसे भाग देनेपर एकभागप्रमाण द्रव्यको असंख्यातलोकसे भाजितकर जो एकभागरूप द्रव्य प्राप्त हो उसे उदयावलिके भीतर गोपुच्छाकार रूपसे निक्षिप्त किया

जाता है अर्थात् चयहान क्रमसे दिया जाता है । उसका विधान इसप्रकार है—उदयावलि प्रमाण द्रव्य (३२००) को आवलिरूप गच्छ (८) से भाजित करनेपर मध्यम धन (३२००÷८=४००) प्राप्त होता है । एकएकअद्वान (८-१=७) के आधे (३) को निषेक भागाहार (८×२=१६) में से घटानेपर जो शेष (१६-३=१३) का भाग मध्यमधनमें देनेपर चयका प्रमाण (४००÷१३=३२) प्राप्त होता है । इस चय (३२) को निषेकभागाहार (१६) से गुणा करनेपर प्रथमनिषेक (३२×१६=५१२) हो जाता है । इस प्रथमनिषेक (५१२) से ऊपरके निषेक (४८०-४४८-४१६-३८४-३५२-३२०-२८८) चय (३२) हीनक्रममें हैं (५१२-३२=४८०, ४८०-३२=४४८ इत्यादि) । पुनः बहुभागप्रमाण (असंख्यातलोक बहुभाग) द्रव्यको उदयावलिसे बाहर गुणश्रेणिमें देता है । इसमें से उदयावलिसे बाह्य अनन्तरस्थितिमें असंख्यात समयप्रवद्धप्रमाण द्रव्यको निक्षिप्त करता है तथा उससे उपरिभस्थितिमें असंख्यातगुणे द्रव्यको देता है । इसप्रकार अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके वादसे विशेष अधिककालमें गुणश्रेणिशीर्षके प्राप्त होनेतक उत्तरोत्तर असंख्यातगुणित श्रेणि-रूपसे निक्षिप्त करता है । इसप्रकार पत्यके असंख्यातवैभागसे भाजित अपकर्षितद्रव्यके एकभाग द्रव्यका विभाजन हुआ । शेष बहुभागको गुणश्रेणिशीर्षसे उपरिमनिषेकोंमें देता है । गुणश्रेणिशीर्षकी उपरिम अनन्तरस्थितिमें असंख्यातगुणा हीनद्रव्य देता है, उसके पश्चात् अतिस्थापनावलिको प्राप्त न होता हुआ उससे पूर्वकी अन्तिमस्थितिपर्यन्त क्रमसे विशेष (चय) हीन द्रव्यका निक्षेप होता है^१ । गुणश्रेणिके प्रथमसमयकी एकशलाका, इससे असंख्यातगुणी द्वितीयसमयवर्ती शलाका, इससे भी असंख्यातगुणी तृतीयसमयकी शलाका इसप्रकार गुणश्रेणिके अन्ततक प्रतिसमय शलाका असंख्यातगुणित क्रम लिये हुए है । सर्वसमयसम्बन्धी शलाकाओंका जोड़ देकर जो प्राप्त हो उससे गुणश्रेणीके लिये अपकर्षितद्रव्यको भाजित करनेपर जो लब्ध प्राप्त हो उसको अपनी-अपनी शलाकाओंसे गुणा करनेपर अपने-अपने निषेकके निक्षिप्तद्रव्यका प्रमाण प्राप्त हो जाता है । पुनः गुणश्रेणिसे उपरिमस्थितियोंके लिए अपकर्षितद्रव्यको कुछ अधिक उद्गुणहानिसे भाजित करनेपर गुणश्रेणिसे उपरिम प्रथमनिषेकमें निक्षिप्तद्रव्यका प्रमाण प्राप्त होता है जो गुणश्रेणिके अन्तिमनिषेकमें निक्षिप्त द्रव्यका

असंख्यातवांभाग है । इससे द्वितीयादि निषेकोमें क्रमसे चयहीन द्रव्य दिया जाता है । प्रत्येक गुणहानिमें दीयमान द्रव्य आधा-आधा होता जाता है ।

पडिसमयमोक्कड्ढदि असंखगुणिदक्कमेण सिंचदि य ।

इदि गुणसेढीकरणं आउगवउजाण कम्माणं ॥७४॥

अर्थ—प्रतिसमय असंख्यातगुणित क्रमसे द्रव्यका अपकर्षण करके सिंचन करता है । आयुके बिना शेष कर्मोंकी इसप्रकार गुणश्रेणि करता है^१ ।

विशेषार्थ—उपरितन द्वितीयादि सर्वसमयोंमें की जानेवाली गुणश्रेणिसंबंधी प्रथमसमयके विधानानुसार कथन करना चाहिए, विशेषता केवल यह है कि प्रथम-समयमें अपकर्षित किये गये प्रदेशाग्रसे द्वितीयसमयमें असंख्यातगुणित प्रदेशाग्रको अप-कर्षित करता है, द्वितीयसमयके प्रदेशाग्रसे तृतीयसमयमें असंख्यातगुणित प्रदेशाग्र अपकर्षित करता है । इसप्रकार यह क्रम सर्वसमयोंमें जानना चाहिए । प्रथमसमयमें दिये जानेवाले प्रदेशाग्रसे द्वितीयसमयमें स्थितिके प्रति दिये जानेवाला प्रदेशाग्र असंख्यातगुणा है । इसप्रकार सर्वसमयोंमें दिये जानेवाले प्रदेशाग्रका यही क्रम कहना चाहिए^२ । इतनी और विशेषता है कि प्रतिसमय गलित होनेसे जो काल शेष रहे उसके आयामके अनुसार अपकर्षितद्रव्य निक्षिप्त करता है^३ ।

प्रथानन्तर वो गाथाओमें गुणसंक्रमणका कथन किया जाता है—

पडिसमयमसंखगुणं दंढवं संकमदि अप्पसत्थाणं ।

बंधुज्झियपयडीणं बंधंतसजादिपयडीसु ॥७५॥

एवंविद् संक्रमणं पढमकसायाण मिच्छमिस्साणं ।

संजोजणखवणाए इदरेसि उभयसेढिम्मि ॥७६॥

अर्थ—प्रतिसमय बन्धरहित अप्रशस्तप्रकृतियोंका द्रव्य असंख्यातगुणित क्रमसे बध्यमान स्वजाति प्रकृतियोंमें संक्रमण करता है । प्रथमअनन्तानुबन्धीकषायका ऐसा

१. किमट्ठमाउगस्स गुणसेढिणिक्खेओ एत्थि ति चे ? ए सहावदो चेव । तत्थ गुणसेढिणिक्खेव-पउत्तीए असंभवादो । (ज. ध. पु. १२ पृ. २६४; क. पा. सु. पृ. ६२५)

२. ध. पु. ६ पृ. २२७ ।

३. ज. ध. पु. १२ पृ. २६५ ।

गुणसंक्रमण विसंयोजनके कालमें होता है । मिथ्यात्व^१ व सम्यग्मिथ्यात्व^२ का गुण-संक्रमण दर्शनमोहनीयकर्मकी क्षपणामें होता है । शेष अप्रशस्तप्रकृतियोंका गुणसंक्रमण उपशम व क्षपकश्रेणियोंमें होता है ।

विशेषार्थ—गाथा ७५ व क्षपणासार की गाथा (६-४००) शब्दशः एक ही हैं । गाथा ७५ प्रथमोपशमसम्यक्त्वके प्रकरणमें आई है और गाथा ४०० का सम्बन्ध चारित्रमोहकी क्षपणासे है । [बन्धरहित अप्रशस्तप्रकृतियोंके द्रव्यका प्रतिसमय असंख्यात-गुणित क्रमसे संक्रमण होना गुणसंक्रमण है] प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख जीवके गुणसंक्रमण नहीं होता है । अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया व लोभका गुणसंक्रमण तो अनन्तानुबन्धीकषायकी विसंयोजना करनेवाले जीवके होता है । मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियोंका गुणसंक्रमण इनकी ही क्षपणाके समय होता है । अन्य अबद्धचमान अप्रशस्तप्रकृतियोंका गुणसंक्रमण उपशम व क्षपक इन दोनों श्रेणियोंमें होता है^३ । प्रशस्त व अप्रशस्तरूप उद्देलनप्रकृतियोंका उद्देलनके अन्तिमकाण्डकमें गुणसंक्रमण होता है ।

अब स्थितिकाण्डकका स्वरूप कहते हैं—

पठमं अवरवरट्टिदिखंडं पल्लस्त संखभागं तु ।

सायरपुधत्तमेत्तं इदि संखसहस्सखंडाणि ॥७७॥

अर्थ—अपूर्वकरणके प्रथम स्थितिखण्ड आयामका प्रमाण जघन्यसे तो पल्यका संख्यातवांभाग और उत्कृष्टसे पृथक्त्वसागरप्रमाण है । अपूर्वकरणमें संख्यातहजार स्थितिखण्ड होते हैं ।

विशेषार्थ—अद्यःप्रवृत्तकरणके कालको व्यतीतकर अपूर्वकरणमें प्रविष्ट हुआ जीव प्रथमसमयमें ही स्थितिकाण्डक और अनुभागकाण्डकघात प्रारम्भ करता है, क्योंकि अपूर्वकरणकी विशुद्धिसे युक्त परिणामोंमें इन दोनोंके घात करनेकी हेतुता है ।

१. प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त कालतक उपशम सम्यक्त्वीके मिथ्यात्वका गुणसंक्रमण होता है ।
(प्र. पु. १६ पृ. ४१५; ज. ध. पु. १२ पृ. २८४)

२. मिथ्यात्व को प्राप्त सम्यक्त्वीके अन्तिम काण्डकमें द्विधरम काली तक गुणसंक्रमण होता है ।
(ध. पु. १६ पृ. ४१६) टिप्पण नं० १-२ में कथित कार्य (गुणसंक्रम) क्षपणामें तो होते ही हैं ।
(ध. पु. १६ पृ. ४१५-१६)

३. ध. पु. १६ पृ. ४०८ एवं गो. क. गा. ४१६ ।

शंका—अपूर्वकरणमें प्रथमस्थितिकाण्डकका प्रमाण एकप्रकारका है या उसमें जघन्य व उत्कृष्ट भेद भी सम्भव हैं ?

समाधान—जघन्यरूपसे पत्यके संख्यातवेंभाग आयामवाला होता है, क्योंकि दर्शनमोहनीयकी उपशामनाके योग्य सबसे जघन्य अन्तःकोड़ाकोड़ीप्रमाण स्थितिसत्कर्म से आये हुए जीवके प्रथमस्थितिकाण्डकका आयाम पत्योपमका संख्यातवांभाग पाया जाता है, किन्तु उत्कृष्टरूपसे सागरोपमपृथक्त्वप्रमाण आयामवाला प्रथमस्थितिकाण्डक होता है, क्योंकि पूर्वके जघन्यस्थिति सत्कर्मसे संख्यातगुणो स्थिति सत्कर्मके साथ आकर अपूर्वकरणमें प्रविष्ट हुए जीवके उसकी उपलब्धि होती है ।

शंका—दोनों जीवोंके ही विशुद्धिरूप परिणामोंके समान होनेपर घात करने से शेष रहे स्थितिसत्कर्मोंमें इसप्रकारकी विसदृशता क्यों होती है ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि संसारावस्थाके योग्य अवकरणविशुद्धियां सभी जीवोंमें समान होती है, ऐसा कोई नियम नहीं है^१ ।

आगे स्थितिकाण्डकघातकी विशेषताएं कहते हैं—

आउगवज्जाणं ठिदिघादो पडमादु चरिमठिदिसत्तो ।

ठिदिवंधो य अपुठवो होदि हु संखेज्जगुणहीणो ॥७८॥

अर्थ—आयुर्कर्मको छोड़कर शेषकर्मोंका स्थितिघात होता है । अपूर्वकरणके प्रथमसमयके स्थितिसत्त्व और स्थितिबन्धसे चरमसमयमें अपूर्व स्थितिसत्त्व तथा स्थितिबन्ध संख्यातगुणाहीन होता है ।

विशेषार्थ—अपूर्वकरणमें संख्यातहजार स्थितिकाण्डक होते हैं, किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रथम स्थितिकाण्डक से दूसरा स्थितिकाण्डक संख्यातवांभागहीन है । इसप्रकार अन्तिम स्थितिकाण्डकके प्राप्त होने तक पूर्व-पूर्वके स्थितिकाण्डकसे आगे-आगे का स्थितिकाण्डक विशेष-विशेषहीन होता जाता है^२ । अपूर्वकरणके प्रथमस्थितिसत्कर्म से अन्तिमसमयवर्ती स्थिति सत्कर्म संख्यातगुणा होन है, क्योंकि अपूर्वकरणके प्रथम-समयमें जो पूर्वकी अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपमप्रमाण स्थिति है उसके संख्यातबहुभाग-

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २६० ।

२. ज. ध. पु. १२ पृ. २६८ ।

प्रमाण स्थितिका अपूर्वकरण-विशुद्धि-निमित्तक सहस्रों स्थितिकाण्डकोंके द्वारा घात होने पर उसके अन्तिमसमयमें संख्यातवैभागमात्र ही स्थितिकर्म शेष रहता है । अब अपूर्वकरणके प्रथमसमयसे लेकर चरमसमयतक जितने सागरोपम स्थितियोंका घात हुआ है वह सब त्रैराशिकके द्वारा प्राप्त हो जाता है । तत्प्रायोग्य संख्यात संख्या प्रमाण स्थितिकाण्डकोंका यदि एक पत्योपम प्राप्त होता है तो इनसे संख्यातहजारकोटिगुण स्थितिवाण्डकोंमें कितने पत्योपम प्राप्त होंगे ? इसप्रकार त्रैराशिकसे स्थितिकाण्डक स्थितिकाण्डकके सदृश है अतः उनका अपनयन करके अधस्तन संख्यात संख्यासे उपरितन संख्यात संख्याको भाजित करनेसे जो लब्ध आवे उससे पत्योपमको गुणा करनेपर स्थितिकाण्डकसम्बन्धी गुणाकारके माहात्म्यसे संख्यातकोड़ाकोड़ीप्रमाण पत्योपम प्राप्त होते हैं । पुनः इन संख्यातकोड़ाकोड़ी पत्योपमोंको त्रैराशिकविधिसे सागरोपमप्रमाणसे करनेपर संख्यातकोटिप्रमाण सागर होते हैं । इतने होते हुए भी अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें विवक्षित अन्तःकोड़ाकोड़ीके संख्यातबहुभागप्रमाण होते हैं, ऐसा यहां ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा अपूर्वकरणके प्रथमसमयसम्बन्धी स्थितिसत्कर्मसे अन्तिमसमयका स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणाहीन नहीं बन सकता । स्थितिबन्धापसरणके विषयमें भी इसीप्रकारकी योजना करनी चाहिए ।

अब अनुभागकाण्डकघातका कथन करते हैं—

एककेवकट्टिदिखंडयणिवडणठिदिवंधओसरणकाले ।

संखेउजसहस्साणि य शिवडंति रसस्स खंडाणि ॥७६॥

अर्थ—एक स्थितिकाण्डकके पतनकालमें अथवा एक स्थितिबन्धापसरणकालमें संख्यातहजार अनुभागकाण्डकोंका पतन होता है^१ ।

निशेधार्थ—अपूर्वकरणमें प्रथम स्थितिकाण्डकका उत्कीरणकाल और प्रथम स्थितिबन्धका काल अर्थात् स्थितिबन्धापसरणकाल अन्तर्मुहूर्त होकर परस्पर तुल्य होते हैं । इसीप्रकार द्वितीयादि स्थितिकाण्डकोत्कीरणकाल व स्थितिबन्धापसरण (स्थितिबन्ध) काल परस्पर तुल्य हैं । एक स्थितिकाण्डक में हजारों अनुभागकाण्डकोंका घात होता है, क्योंकि स्थितिकाण्डकोत्कीरणकाल से अनुभाग काण्डकोत्कीरण काल संख्यात-

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २६६-७० ।

२. क. पा. सुत पृ. ६२५ ।

गुणा हीन होता है । एक अनुभागकाण्डकोत्कीरणकालका स्थितिकाण्डकोत्कीरणकालमें भाग देनेपर संख्यातहजार संख्या प्राप्त होती है । पुनः इस संख्याका विरलनकर प्रथम-स्थितिकाण्डकोत्कीरण कालके समान खण्ड करके प्रत्येक विरलन अङ्क के प्रति देयरूप से देने पर वहां एक-एक अंकके प्रति अनुभागकांडकके उत्कीरणकालका प्रमाण प्राप्त होता है, पुनः यहां पर एक अङ्कके प्रति जो प्राप्त हुआ उसका विरलन कर पृथक् स्थापित करना चाहिये । अब इसप्रकार का जो पृथक् विरलन स्थापित किया उसके प्रथम समयमें पत्योपमके संख्यातवैभाग प्रमाण आयामवाले प्रथम स्थितिकांडककी प्रथमफालिका पतन होता है । अनुभागकांडककी भी जघन्य स्पर्धक से लेकर उत्कृष्ट स्पर्धक तक विरचित स्पर्धकों की अनन्त बहुभागप्रमाण प्रथम फालि का वहीं पर पतन होता है । पृथक् स्थापित हुए उसी विरलनके दूसरे समय में उसी विधि से स्थितिकांडक की दूसरी फालिका तथा अनुभागकांडक की दूसरी फालि का पतन होता है । इसप्रकार पुनः पुनः उन दोनों को ग्रहण करनेसे पूर्वोक्त विरलनके एक-एक अंक प्रति समयका जितना प्रमाण प्राप्त हुआ था, तत्प्रमाण फालियों का पतन होने पर प्रथम अनुभाग-कांडक समाप्त हो जाता है, किन्तु प्रथमस्थितिकांडक अभी भी समाप्त नहीं हुआ, क्योंकि उसके उत्कीरणकालका संख्यातवांभाग ही व्यतीत हुआ है । पुनः इसी विधि से शेष विरलनों के प्रति प्राप्त संख्यातहजार अनुभागकांडकोंका घात करने पर उस समय अपूर्वकरणसम्बन्धी प्रथम स्थितिबन्ध (प्रथमस्थितिबन्धापसरण) प्रथमस्थितिकांडक और यहां तक के संख्यातहजार अनुभागकांडक ये तीनों ही एक साथ समाप्त होते हैं । इसप्रकार एकस्थितिकांडक के भीतर हजारों अनुभागकांडकघात होते हैं यह सिद्ध हुआ ।

स्थितिकांडक की चरमफालि के पतनकाल में ही सर्वत्र स्थितिबन्ध समाप्त हो जाता है, क्योंकि स्थितिकांडकोत्कीरणकाल के साथ स्थितिबन्धका काल समान होता है उसी समयमें तत्सम्बन्धी अन्तिम अनुभागकांडक की अन्तिमफालि भी नष्ट होती है, क्योंकि अनुभागकांडकोत्कीरणकाल से अपवर्तन किये गये स्थितिबन्ध के काल में विकलरूपता नहीं हो सकती^१ ।

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २६६-२६८ ।

२. ध. पु. ६ पृ. २२६ ।

अब शुभ-अशुभप्रकृतियों में अनुभागकाण्डकघातका निषेध-विधिरूप कथन करते हैं—

असुहाणं पयडीणं अणंतभागा रसस्त खंडाणि ।

सुहपयडीणं शियमा एतिथि ति रसस्त खण्डाणि ॥८०॥

अर्थ—अप्रशस्त प्रकृतियोंके अनन्तबहुभागका घात होता है । प्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग का घात नियम से नहीं होता ।

विशेषार्थ—अप्रशस्तप्रकृतियों के तत्कालभावी द्विस्थानीय अनुभागसत्त्व को अनन्तका भाग देने पर एक भाग तो अवशेष रहता है और शेष बहुभाग अनुभागकांडक द्वारा घात जाता है । अवशेष रहे अनुभागको अनन्तका भाग देने पर बहुभाग अनुभागका घात होता है और एक भाग शेष रह जाता है, क्योंकि करण परिणामों के द्वारा अनन्त बहुभाग अनुभाग घाते जानेवाले अनुभागकांडकके शेष विकल्पों का होना असम्भव है । प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभागकांडकघात नियम से नहीं होता, क्योंकि विशुद्धिके कारण प्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग, वृद्धिको छोड़कर उसका घात नहीं बन सकता^१ । एक-एक अन्तर्मुहूर्त में एक-एक अनुभागकांडक होता है । एक अनुभागकांडकोत्कीर्ण काल के प्रत्येक समयमें एक-एक फालिका पतन होता है ।

अनुभागगतस्पर्धक आदिका अल्पबहुत्व कहते हैं—

रसगदपदेसगुणहाणिट्टाणगफट्टयाणि धोवाणि ।

अइत्थावणणिवत्तेवे रसखंडेणंतगुणिदकमा ॥८१॥

अर्थ—अनुभागसम्बन्धी एकप्रदेश गुणहानिस्थानान्तरमें स्पर्धक स्तोक हैं । उनसे अतिस्थापना अनन्तगुणी है, उससे निक्षेप अनन्तगुणा और उससे अनन्तगुणा अनुभागकांडक है ।

विशेषार्थ—अनुभागविषयक एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तर के भीतर जो स्पर्धक हैं वे अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवैभागप्रमाणां होकर आगे कहे जाने वाले पदों की अपेक्षा स्तोक हैं । अनुभागसम्बन्धी स्पर्धकों का अपकर्षण करते हुए

१. क. पा. सुत पृ. ६२५।

२. ज. घ. पु १२ पृ. २६१ से २६३; घ. पु. ६ पृ. २०६; घ. पु. १२ पृ. १८ एवं ३५ आदि ।

जितने अनुभाग-स्पर्धकों को जघन्यरूपसे अतिस्थापित कर उनसे नीचे के स्पर्धकरूप से अपकर्षित करता है वे जघन्य अतिस्थापना विषयक स्पर्धक एकप्रदेश गुणहानिस्थानान्तर के स्पर्धकों से अनन्तगुणे होते हैं, क्योंकि जघन्य अतिस्थापना के भीतर अनन्त प्रदेश-गुणहानि स्थानान्तरोंका अस्तित्व पाया जाता है । जघन्य अतिस्थापना स्पर्धकों को छोड़कर नीचे के शेष सर्व स्पर्धकोंका निक्षेपरूपसे ग्रहण करने पर वे निक्षेप-स्पर्धक जघन्य अतिस्थापना सम्बन्धी स्पर्धकोंसे अनन्तगुणे होते हैं । अपूर्वकरणके प्रथम अनु-भागकाण्डकमें काण्डकरूपसे जो स्पर्धक ग्रहण किये गये वे निक्षेपसम्बन्धी स्पर्धकों से अनन्तगुणे होते हैं, क्योंकि अपूर्वकरण के प्रथम समयमें द्विस्थानीय अनुभागसत्कर्म के अनन्तवें भागको छोड़कर शेष अनन्त बहुभागको काण्डकरूप से ग्रहण किया है^१ ।

अब प्रशस्त-अप्रशस्तप्रकृतिसम्बन्धी अनुभाग विशेषका कथन करते हैं—

^२पडमापुञ्ज्वरसादो चरिमे समये पसत्थइदराणं ।

रससत्तमणंतगुणं अणंतगुणहीणयं होदि ॥८२॥

अर्थ—अपूर्वकरणके प्रथम समय सम्बन्धी प्रशस्त-अप्रशस्त प्रकृतियों का जो अनुभाग सत्त्व है उससे अपूर्वकरण के चरम समय में प्रशस्तप्रकृतियों का अनुभाग तो अनन्तगुणा बढ़ता हुआ तथा अप्रशस्त प्रकृतियों का अनन्तगुणा हीन होता हुआ अनु-भाग सत्त्व है ।

विशेषार्थ—अपूर्वकरण में प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि होने के कारण प्रशस्त प्रकृतियों का अनन्तगुणा बढ़ता अनुभाग सत्त्व है तथा अनुभागकाण्डकघात के माहात्म्य से अप्रशस्तप्रकृतियों का अनन्तवां भाग अनुभाग सत्त्व चरमसमय में होता है ।

अब अनिवृत्तिकरण परिणामोंका स्वरूप और उसका कार्य कहते हैं—

^३विदियं व तदियकरणं पडिसमयं एक्क एक्क परिणामो ।

अणणं ठिदिरसखंडे अणणं ठिदिवंधमाणुवई ॥८३॥

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २६२-६३ ।

२. ध. पु. ६ पृ. २२६ ।

३. ध. पु. ६ पृ. २२६-३० । ज. ध. पु. १२ पृ. २७१ ।

अर्थ—दूसरे करण (अपूर्वकरण) के समान ही तृतीयकरण (अनिवृत्ति-करण) होता है, किन्तु प्रतिसमय एक-एक परिणाम होता है। अन्य स्थितिकाण्डक, अन्य अनुभागकाण्डक और अन्य स्थितिबन्ध को प्रारम्भ करता है।

विशेषार्थ—अनिवृत्तिकरण में भी स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, स्थितिबन्धापसरण, गुणश्रेणी ये सभी क्रिया अपूर्वकरणवत् होती हैं, किन्तु इनका प्रमाण अन्य होता है। अपूर्वकरण में प्रत्येक समयके परिणाम असंख्यातलोक प्रमाण होते हैं, किन्तु अनिवृत्तिकरणमें प्रत्येक समयमें नानाजीवों के एक सा ही परिणाम होता है। [नानाजीवों के परिणामों में निवृत्ति अर्थात् परस्पर भेद जिसमें नहीं है वह अनिवृत्तिकरण है।]

अनिवृत्तिकरण में प्रविष्ट होनेके प्रथम समय से ही अपूर्वकरण के अन्तिम स्थितिकाण्डक से विशेष हीन अन्य स्थितिकाण्डक को प्रारम्भ करता है। पूर्व के स्थिति-बन्ध से पत्योपम के संख्यातवर्भागप्रमाण हीन स्थितिबन्ध भी वहीं पर प्रारम्भ करता है तथा घात करने से शेष रहे अनुभागके अनन्त बहुभागप्रमाण काण्डकको भी वहीं पर ग्रहण करता है, किन्तु गुणश्रेणिनिक्षेप पूर्वका ही रहता है जो अधस्तनस्थितियों के गलने पर जितना शेष रहे उतना होता है तथा प्रतिसमय असंख्यातगुणे प्रदेशों के विन्यास से विशेषता को लिए हुए होता है। शेष विधि भी पूर्वोक्त ही जाननी चाहिए^१।

अब अनिवृत्तिकरणकालमें विशेष कार्यका कथन करते हैं—

संखेज्जदिमे सेसे दंसणमोहस्स अंतरं कुराई ।

अराणं ठिदिरसखंडं अराणं ठिदिबंधणं तत्थ ॥८४॥

अर्थ—(अनिवृत्तिकरणकाल का) संख्यातवांभाग शेष रह जाने पर दर्शन-मोहनीयकर्मका अन्तर करता है। वहां पर अन्यस्थितिकाण्डक अन्य अनुभागकाण्डक और अन्य ही स्थितिबन्ध होता है।

विशेषार्थ—इसप्रकार अनन्तर पूर्व कही गई विधि के अनुसार जो प्रत्येक स्थितिकाण्डक हजारों अनुभाग काण्डकों का अविनाभावी है; ऐसे बहुत हजार स्थिति-

१. अ. पु. १ पृ. १८३ एवं क. पा. सुत्त पृ. ६२४; ज. ध. पु. १२ पृ. २५६।

२. ज. ध. पु. १२ पृ. २७१।

काण्डकों के द्वारा अतिवृत्तिकरणकाल के संख्यात बहुभाग को बिताकर संख्यातवै भागप्रमाण काल शेष रहने पर अन्तरकरण का आरम्भ करता है ।

शका—अन्तरकरण किसे कहते हैं ?

समाधान—विवक्षित कर्मों की अधस्तन और उपरिम स्थितियों को छोड़कर मध्य की अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितियों के निषेकों का परिणाम विशेष के कारण अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं^१ ।

उस समय पूर्व स्थितिकाण्डक से अन्यस्थितिकाण्डक, पूर्व अनुभागकाण्डक से अन्य अनुभागकाण्डक, पूर्व स्थितिवन्ध से अन्य स्थितिवन्ध को प्रारम्भ करता है ।

अथानन्तर अन्तरकरण में लगने वाले कालका परिमाण कहते हैं—

एयट्टिदिखंडुक्कीरणकाले अंतरस्स सिप्पत्ती ।

अंतोमुहुत्तमेत्तं अंतरकरणस्स अच्चाणं ॥८५॥

अर्थ—एक स्थितिकाण्डकोत्कीरणकाल के द्वारा अन्तरकी निष्पत्ति होती है । अन्तरकरणका अध्वान अन्तर्मुहूर्त मात्र है ।

विशेषार्थ—अन्तर करनेवाला कितने काल के द्वारा अन्तर करता है ? जो उस समय स्थितिवन्ध का काल है अथवा स्थितिकाण्डकोत्कीरण काल है उतने काल के द्वारा अन्तर करता है । इस वचन के द्वारा यह बतलाया गया है कि एक समय द्वारा अथवा दो या तीन समयों द्वारा इसप्रकार संख्यात और असंख्यात समयों द्वारा अन्तरकरण विधि समाप्त नहीं होती, किन्तु अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा ही यह विधि समाप्त होती है^२ ।

अन्तरकरण के प्रारम्भ के समकालभावी स्थितिवन्धके कालप्रमाण द्वारा प्रत्येक समयमें अन्तर सम्बन्धी स्थितियोंका फालीरूपसे उत्कीरण करने वाले जीव ने क्रमसे किया जाने वाला अन्तर, अन्तरकरणके काल सम्बन्धी अन्तिम समय में अन्तर सम्बन्धी अन्तिम फालि का पतन करने पर सम्पन्न किया । यह मिथ्यात्वकर्म का ही

१. ज. घ. पु. १२ पृ. २७२, २७४-७५; क. पा. सुत्त पृ. ६२६-अन्तरायाभके समस्त निषेकोंके प्रथम व द्वितीय स्थितिमें देनेको अन्तरकरण कहते हैं । घ. पु. ६ प. २३१; क. प्र. ग्रन्थ पृ. २६० ।

२. ज. घ. पु. १२ पृ. २७३ ।

अन्तरकरण है, क्योंकि दर्शनमोहनीय की उपशामना में अन्य कर्मोंके अन्तरकरणका अभाव है । इतनी विशेषता है कि सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिका सत्कर्म वाला जीव यदि उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होता है तो उन कर्मप्रकृतियोंका भी अन्तरकरण इसी विधि से करता है, किन्तु उन प्रकृतियों सम्बन्धी नीचेकी एक आवलिप्रमाण (उदयावलिप्रमाण) स्थितियोंके सिवाय उपरितन स्थितिसे लेकर ऊपर मिथ्यात्वके अन्तर सदृश अन्तर करता है^१ ।

अब अन्तरायामका प्रमाण एवं उसमें निषेक रचनाविधिका कथन करते हैं—

गुणसेढोए सीसं ततो संखगुण उवरिमठिदि च ।

हेटूदुवरिम्हि य आवाहुज्झिय बंधम्हि संखुहदि ॥८६॥

अर्थ—गुणश्रेणी शीर्ष और उससे संख्यातगुणो उपरितन निषेकों के मिथ्यात्व द्रव्य को ग्रहण कर नीचे प्रथम स्थिति में और ऊपर उस समय बंधने वाले मिथ्यात्वकर्म की आबाधा को उत्लंघ्य करके बंधने वाले कर्मों के निषेकों के साथ द्वितीय स्थिति में देता है ।

विशेषार्थ—गुण श्रेणी शीर्ष अर्थात् अनिवृत्तिकरण काल से उपरिम विशेष अधिक गुणश्रेणी निक्षेप उस सबको तथा गुणश्रेणी शीर्ष से ऊपर अन्य भी संख्यात गुणी स्थितियों (निषेकों) को अन्तर के लिए ग्रहण करता है । अन्तर के लिए जितनी स्थितियों को ग्रहण करता है उसकी अन्तरायाम संज्ञा है, उस अन्तरायाम से नीचे जितना अनिवृत्तिकरण का काल शेष है वह प्रथम स्थिति है । उस अन्तरायाम से जितनी उपरितन कर्मस्थिति है वह द्वितीय स्थिति है । अन्तर के लिये जो द्रव्य ग्रहण किया गया है उसको प्रतिसमग्र फालि रूप से प्रथमस्थिति व द्वितीयस्थिति में देता है, किन्तु उस समय बंधने वाले मिथ्यात्वकर्म की आबाधा में नहीं देता है । अन्तर-फालियों में असंख्यातगुणे क्रम से द्रव्य को ग्रहण करता है । कुछ आचार्यों का यह मत है कि गुणश्रेणीशीर्ष से नीचे संख्यातवें भाग स्थितियों का भी खण्डन करता है । एक स्थितिकाण्डक उत्कीरणकाल के जितने समय हैं उतनी ही फालियों द्वारा अन्तर सम्बन्धी स्थितियों के द्रव्य का उत्कीरण किया जाता है । अन्तर करने के काल के चरम समय

में अंतरसम्बन्धी अंतिमफाली का पतन होने पर अंतर का कार्य सम्पन्न हो जाता है । इसके पश्चात् अनिवृत्तिकरण का जो काल शेष रहा वह प्रथमस्थितिप्रमाण है^१ ।

अथानन्तर अन्तरकरणकी समाप्ति के पश्चात् होने वाले कार्य को कहते हैं—

अंतरकदपढमादौ षडिसमयमसंख्युद्दिदमुवसमदि ।

गुणसंकमेण दंसणमोहणियं जाव पढमठिदी ॥८७॥

अर्थ—अन्तर कर चुकने के पश्चात् प्रथम समय से प्रथमस्थिति के अन्त तक प्रतिसमय गुणसंक्रमण के द्वारा असंख्यातगुणे क्रमसे दर्शनमोह को उपशमाता है ।

विशेषार्थ—इसप्रकार एक स्थितिकांडकोत्कीरण काल के बराबर काल द्वारा अन्तरकरण कर लेने के पश्चात् का समय प्रथमस्थिति का प्रथम समय है उसी प्रथमस्थिति के चरम समय पर्यन्त प्रतिसमय असंख्यातगुणे क्रमसे अंतरायाम के ऊपरवर्ती निषेकरूप द्वितीयस्थिति में स्थित दर्शनमोहनीय के द्रव्य का उपशम करता है ।

यद्यपि यह जीव पहले ही अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर उपशामक ही है तथापि अनिवृत्तिकरणकाल के संख्यात बहुभागों के बीत जाने पर तथा संख्यातका भाग शेष रहने पर अन्तर को करके वहां से लेकर दर्शनमोहनीय की प्रकृति, स्थिति और प्रदेशों का उपशामक होता है^२ । करण परिणामों के द्वारा निश्चित किये गये दर्शनमोहनीय के उदयरूप पर्याय के विना अवस्थित रहने को उपशम कहते हैं । उपशम करने वाले को उपशामक कहते हैं^३ ।

अब दर्शनमोहनीय को उपशम क्रियामें पायी जाने वाली विशेषताका कथन करते हैं—

पढमट्ठदियावलिपडिआवलिसेसेसु णत्थि आगाला ।

पडिआगाला मिच्छत्तस्स य गुणसेदिकरणं पि ॥८८॥

अर्थ—प्रथम स्थिति में आवली प्रत्यावली अर्थात् उदयावली और द्वितीयावली अवशेष रहने पर आगाल-प्रत्यागाल तथा मिथ्यात्व की गुणध्वेगी नहीं होती है ।

१. ध. पु. ६ पृ. २३२ । एवं ज. घ. पु. १२ पृ. २७३-२७५ ।

२. ज. घ. पु. १२ पृ. २७६ ।

३. ज. घ. पु. १२ पृ. २८० ।

विशेषार्थ—‘आगालनं आगालः’ अर्थात् द्वितीयस्थिति के कर्म परमाणुओं का प्रथम स्थिति में अपकर्षण वश आना आगाल है । ‘प्रत्यागालनं प्रत्यागालः’ अर्थात् प्रथमस्थिति के कर्मपरमाणुओं का द्वितीयस्थिति में उत्कर्षण वश जाना प्रत्यागाल है । प्रथम और द्वितीय स्थिति के कर्मपरमाणुओं का उत्कर्षण-अपकर्षण वश परस्पर विषय संक्रमण का नाम आगाल-प्रत्यागाल है । यह आगाल-प्रत्यागाल तब तक व्युच्छिन्न नहीं होता जब तक प्रथमस्थिति में एकसमय अधिक आवलि-प्रत्यावलि शेष रहती है । अतः एव आवलि-प्रत्यावलि को उसकी मर्यादा स्वरूप से गाथा सूत्र में निदेश किया है । आवलि कहने से उदयावलि का ग्रहण होता है प्रत्यावलि शब्द से उदयावलि से उपरिम दूसरी आवलि का ग्रहण होता है । प्रथमस्थिति के आवलि-प्रत्यावलि मात्र शेष रहने पर आगाल-प्रत्यागाल के विच्छेद का नियम है ।

आवलि और प्रत्यावलि के शेष रहने पर मिथ्यात्व की गुणश्रेणी भी नहीं होती, क्योंकि दूसरी स्थिति से प्रथम स्थिति में कर्म परमाणुओं के आने का निषेध है । यदि कहा जावे कि प्रथमस्थिति में प्रत्यावलि के कर्म परमाणुओं का अपकर्षण करके गुणश्रेणी निक्षेप किया जाता है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उदयावलि के भीतर गुणश्रेणी निक्षेप का होना असम्भव है । प्रत्यावलि से अपकर्षित प्रदेशपुंज का वहीं गुणश्रेणी में निक्षेप होता है यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि अपनी अतिस्थापना में अपकर्षित द्रव्य के निक्षेप का विरोध है,^१ किन्तु शेष कर्मों की गुणश्रेणी होती है^२ ।

आगे प्रथमसम्यग्त्वके ग्रहणकाल में होने वाले कार्य विशेषका कथन करते हैं—

अंतरपडमं पत्ते उवसमणामो हु तस्थ मिच्छत्तं ।

ठिदिरसखंडेण विणा उवट्ठाइदूण कुणदि तिधा ॥८६॥

अर्थ—अन्तर के प्रथम समय को प्राप्त होने पर उपशम सम्यग्दृष्टिजीव वहां पर मिथ्यात्व को अपवर्तन करके स्थितिकांडकघात व अनुभागकाण्डकघात के बिना तीन प्रकार करता है ।

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २७७-७८ ।

२. ज. ध. पु. १२ पृ. २७६ ; क. पा. सुत्त पृ. ६२८ सूत्र ६६ ।

विशेषार्थ—अन्तर में प्रवेश करने के प्रथम समय में ही दर्शनमोहनीय का उपशामक उपशम सम्यग्दृष्टि हो गया, किन्तु यहाँ पर सर्वोपशम सम्भव नहीं है, क्योंकि उपशमपने को प्राप्त होने पर भी दर्शनमोहनीय के संक्रमण और अणकर्षण करण पाये जाते हैं । उसी समय वह मिथ्यात्वकर्म के तीन कर्म रूप भेद उत्पन्न करता है । जैसे यन्त्र से कोदों के दलने पर उनके तीन भाग हो जाते हैं, वैसे ही अनिवृत्ति-करण परिणामों के द्वारा दलित किये गये दर्शनमोहनीय के तीन भेदों की उत्पत्ति होने में विरोध का अभाव है^१ ।

अब स्थिति-अनुभागकी अपेक्षा मिथ्यात्वद्रव्यका तीनरूप विभाग बताते हैं—

मिच्छत्तमिस्ससम्मसरूवेण य तत्तिधा य दब्बादो ।

सत्तीदो य असंखाणंतेण य होति भजियकमा ॥६०॥

अर्थ—मिथ्यात्व, मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व), सम्यक्त्व प्रकृतिरूप दर्शनमोहनीय कर्म तीन प्रकार होता है वह क्रमसे द्रव्य की अपेक्षा असंख्यातवां भाग मात्र और अनुभाग की अपेक्षा अनन्तवां भाग प्रमाण जानना^२ ।

विशेषार्थ—मिथ्यात्व के परमाणुरूप द्रव्य को गुणसंक्रम भागहार का अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एक अधिक असंख्यातसे गुणा करने पर जो लब्ध आवे उतने द्रव्य के बिना बहुभाग प्रमाण समस्त द्रव्य मिथ्यात्वरूप है । गुण संक्रमण भागहार से भाजित मिथ्यात्व द्रव्य को असंख्यात से गुणा करने पर जो लब्ध आया उतना द्रव्य सम्यग्मिथ्यात्वरूप परिणमित हुआ और गुणसंक्रमभागहार से भाजित मिथ्यात्व द्रव्य को एक से गुणा करने पर प्राप्त लब्ध प्रमाण द्रव्य सम्यक्त्व-प्रकृतिरूप परिणमित हुआ उससे असंख्यातवां भाग रूप क्रम द्रव्यापेक्षा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्वप्रकृतिमें प्राप्त हुआ । अनुभागापेक्षा संख्यात अनुभाग-कांडकों के घात से मिथ्यात्व का अनुभाग पूर्व अनुभाग का अनन्तवांभाग प्रमाण अवशिष्ट रहा उससे अनन्तवांभाग अनुभाग सम्यग्मिथ्यात्व का अनुभाग है तथा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के इस अनुभाग से अनन्तवांभाग सम्यक्त्वप्रकृतिका अनुभाग है ।

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २८०-८१ । ज. ध. पु. ६ पृ. ८३, क. पा. सुत्त. पृ. ६२८ सूत्र १०२-१०३; ध. पु. ६ पृ. ३८ व २३२; ध. पु. १३ प. ३५८; अमितगतिश्रावकाचार श्लो. ५३ ।

२. ध. पु. ६ पृ. २३५ ।

इस प्रकार अनुभागापेक्षा अनन्तवैभाग रूप क्रम है । अर्थात् मिथ्यात्वप्रकृति के अनुभाग से सम्यग्मिथ्यात्व का अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता है और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के अनुभागसे सम्यक्त्वप्रकृति का अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता है^१ ।

अतान्तर गुणसंक्रमणको सोमा और विध्यातसंक्रमके प्रारम्भका कथन करते हैं—

पठमादो गुणसंकमचरिमोत्ति य सम्ममिस्ससम्मिस्से ।

अहिगदिणाऽसंखगुणो विउक्कादो संकमो ततो ॥६१॥

अर्थ—गुणसंक्रम कालके प्रथम समय से अन्तिम समय पर्यन्त प्रतिसमय सर्प की गति के समान असंख्यातगुणो क्रम सहित मिथ्यात्वरूप द्रव्य है वह सम्यक्त्व और मिश्रप्रकृति रूप परिणामता है । इसके (गुणसंक्रमण के) पश्चात् विध्यात संक्रमण होता है ।

विशेषार्थ—प्रथमसमयवर्ती उपशान्त दर्शनमोहनीय जीव के द्रव्यमें से सम्यग्मिथ्यात्व में बहुत प्रदेशपुञ्ज को देता है, उससे असंख्यातगुणो हीन प्रदेशपुञ्ज को सम्यक्त्व प्रकृति में देता है । प्रथम समय में सम्यग्मिथ्यात्व में दिये गये प्रदेशों से द्वितीय समय में सम्यक्त्वप्रकृति में असंख्यातगुणित प्रदेशों को देता है और उसी दूसरे समयमें सम्यक्त्वप्रकृति में दिये गये प्रदेशों की अपेक्षा सम्यग्मिथ्यात्व में असंख्यातगुणित प्रदेशों को देता है । इसप्रकार इस परस्थान अल्पबहुत्व विधि से अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यन्त गुणसंक्रमण के द्वारा मिथ्यात्व के द्रव्य में से सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व को पूरित करता है । यहां गुणसंक्रम भागहार प्रतिभाग है जो पल्योपम के असंख्यातवै भाग प्रमाण है । इतनी विशेषता है कि सम्यग्मिथ्यात्व के प्रदेशों के आने के निमित्तरूप गुणसंक्रम भागहार से सम्यक्त्व के प्रदेशों के आने का निमित्त गुणसंक्रम भागहार असंख्यातगुणा है । स्वस्थान अल्पबहुत्व का कथन करने पर प्रथम समय में सम्यग्मिथ्यात्व में संक्रमित हुआ प्रदेशपुञ्ज स्तोक है । दूसरे समय में संक्रमित हुआ प्रदेशपुञ्ज असंख्यात गुणा है । यह असंख्यातगुणा क्रम गुणसंक्रमण के अन्तिम समय तक जानना चाहिए । इसीप्रकार सम्यक्त्व का भी स्वस्थान अल्पबहुत्व समझ लेना चाहिए । यहां

१. घ. पु. ६ पृ. २३५ ।

२. घ. पु. ६ पृ. २३५; ज. घ. पु. १२ पृ. २८२ ।

उपशम सम्यग्दृष्टि के द्वितीय समय से लेकर जहां तक मिथ्यात्व का गुण संक्रम होता है वहां तक सम्यग्मिथ्यात्व का भी संक्रमण होता है, क्योंकि सूक्ष्मगुल के असंख्यातवें भाग के प्रतिभागरूप विध्यातगुणसंक्रमण द्वारा सम्यग्मिथ्यात्व के द्रव्य का सम्यक्त्व में संक्रमण उपलब्ध होता है । इस गुणसंक्रमण के पश्चात् सूक्ष्मगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाणवाला मिथ्यात्व द्रव्य का विध्यातसंक्रमण होता है । जब तक उपशमसम्यग्दृष्टि की^१ देदक सम्यग्दृष्टि है । विध्यात् अर्थात् मन्द हुई है विशुद्धि जिसकी ऐसे जीव के स्थितिकांडक, अनुभागकांडक और गुणश्रेणि आदि परिणामों के रुक जाने पर प्रवृत्त होने के कारण यह विध्यातसंक्रमण है । जब तक मिथ्यात्व का गुणसंक्रमण होता है तब तक एकान्तानुवृद्धिरूप परिणामों के द्वारा दर्शनमोहनीय को छोड़कर शेष कर्मों के स्थितिकांडक घात और गुणश्रेणी निक्षेप होते रहते हैं, किन्तु उपशान्त अवस्था को प्राप्त मिथ्यात्व का स्थितिकांडक आदि का अभाव है । अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों के उपरम (समाप्त) हो जाने पर भी पूर्व प्रयोग वश कितने ही काल तक अन्य कर्मों का स्थितिकांडक आदि होने में बाधा नहीं उपलब्ध होती^१ ।

शब्द ५ गाथाओंमें अनुभागकाण्डकोत्कीरणकाल आदि २५ पदों का अल्प-बहुत्व कहते हैं—

विदियकरणादिमादो गुणसंकमपूरणस्स कालोत्ति ।

वोच्छं रसखंडुक्कीरणकालादीणमप्य बहु ॥६२॥

अर्थ—अपूर्वकरण के प्रथम समय से गुणसंक्रमणकाल के पूर्ण होने तक किये जाने वाले अनुभागकांडकोत्कीरणकालादि का अल्पबहुत्व कहेंगे । (इस प्रकार प्रस्तुत गाथा में आचार्यदेव ने आगे किये जाने वाले कथन की प्रतिज्ञा की है ।)

अंतिमरसखंडुक्कीरणकालादो दु पढमओ अहिओ ।

ततो संखेज्जगुणो चरिमट्टिदिखंडहदिकालो ॥६३॥

अर्थ—अन्तिम अनुभागकांडकोत्कीरण काल से प्रथम अनुभाग कांडकोत्कीरण-काल विशेषाधिक है । उससे अन्तिम स्थितिकांडक काल व स्थितिवंधापसरणकाल संख्यातगुणा है ।

१. ध. पु. ६ पृ. २३५-२६; जयधवल पु. १२ पृ. २८२ से २८४ के आधार से ।

विशेषार्थ—दर्शनमोहनीय की प्रथम स्थिति के चरम समय में होने वाले तथा अन्य कर्मों के गुणसंक्रमण काल के अन्तिम समय में जो अनुभागकांडक होता है उसका घात करने का जो अन्तर्मुहूर्तप्रमाण काल है वह अन्तिम अनुभागखंडोत्कीरण काल है जो कि आगे कहे जाने वाले अनुभाग कांडकोत्कीरण काल से स्तोक है। इससे इसीके संख्यातवें भागप्रमाण अर्थात् संख्यात आवलि विशेष से अधिक अपूर्वकरण के प्रथम समय में प्रारम्भ होने वाले अनुभागकांडकोत्कीरण का काल है, क्योंकि अन्तिम अनुभागकांडक से विशेष अधिक क्रम से संख्यातहजार अनुभागकांडक नीचे उतरने पर इसकी उपलब्धि होती है। इससे संख्यातगुणा काल अन्तिम स्थितिकांडकोत्कीरण काल और स्थिति बन्धापसरण काल है ये दोनों परस्पर समान हैं, क्योंकि एक स्थितिकांडक-काल के भीतर संख्यात हजार अनुभागकाण्डक होते हैं। मिथ्यात्व की प्रथमस्थिति के अन्त में होने वाला स्थितिकांडक और अन्य कर्मों का गुणसंक्रमण काल के अन्त में होने वाला स्थितिकाण्डक, सो अन्तिम स्थितिकाण्डक काल है^१।

ततो पढमो अहिओ पूरणगुणसेदिसीसपढमठिदी ।

संखेण य गुणियकमा उवसमगद्धा विसेसहिया ॥६४॥

अर्थ—चरम स्थितिकाण्डकोत्कीरण काल से प्रथमस्थितिकाण्डकोत्कीरण काल अधिक है। इससे सम्यक्त्वप्रकृति व सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र प्रकृति) के पूरण का काल संख्यात गुणा है। इससे गुणश्रेणीशीर्ष संख्यातगुणा है, इससे प्रथम स्थिति संख्यातगुणी है और इससे उपशम करने का काल विशेषाधिक है।

विशेषार्थ—यद्यपि गाथा में अन्तर करने का काल नहीं कहा गया है, किन्तु कषायपाहुड़ चूर्णिसूत्रकार ने 'अन्तर करने का काल' इस अल्पबहुत्व में ग्रहण किया है। उसके अनुसार गाथा ६३ में पूर्वोक्त चरम स्थितिकाण्डकघात काल से अन्तर करने का काल और वहीं पर होने वाले स्थितिबन्ध का काल ये दोनों परस्पर तुल्य होकर विशेष अधिक हैं, क्योंकि पूर्वोक्त काल से नीचे अन्तर्मुहूर्तकाल पीछे जाकर इन दोनों कालों की प्रवृत्ति होती है^२। उससे प्रथमस्थितिकाण्डकोत्कीरण काल और स्थिति बन्ध का

१. ज. घ. पु. १२ पृ. २८६-८७।

२. ज. घ. पु. १२ पृ. २८७।

काल ये दोनों परस्पर तुल्य होकर विशेष अधिक है, क्योंकि पूर्वोक्त दोनों कालों से नीचे अन्तर्मुहूर्त काल पीछे जाकर अपूर्वकरण के प्रथम स्थितिकाण्डक के समय इनकी प्रवृत्ति होती है । इन दोनों से उपशामक जीव जब तक गुणसंक्रम के द्वारा सम्यक्त्वप्रकृति और मिश्रप्रकृति को पूर्ण करता है वह काल संख्यातगुणा है, क्योंकि उस काल के भीतर संख्यात स्थितिकाण्डक और स्थितिबन्ध सम्भव है । प्रथम समयवर्ती उपशामक (अन्तर करने वाला) का गुणश्रेणीशीर्ष अर्थात् अन्तर सम्बन्धी अन्तिम फालिका पतन होते समय गुणश्रेणी निक्षेप^१ के अग्राग्रसे संख्यातवें भाग का खंडन कर जो फालि के साथ निर्जीर्ण होने वाला गुणश्रेणि शीर्ष है वह पूर्वके गुणसंक्रम सम्बन्धीकाल से संख्यातगुणा है, क्योंकि गुणश्रेणिशीर्ष के संख्यातवें भाग में ही गुणसंक्रमकाल का अंत हो जाता है । अथवा गाथा सूत्र में प्रथम समयवर्ती उपशामक सम्बन्धी मिथ्यात्व का गुणश्रेणीशीर्ष ऐसा विशेषण लगाकर नहीं कहा गया है, किन्तु सामान्यरूप से गुणश्रेणी शीर्ष कहा गया है, इसलिये प्रथम समयवर्ती उपशामक के शेष कर्मोंके गुणश्रेणि-शीर्षका ग्रहण करना चाहिए क्योंकि उन कर्मोंका अन्तरकरण न होने से प्रथमसमयवर्ती उपशामकके उसके सम्भव होने में कोई विरोध नहीं पाया जाता । उससे प्रथमस्थिति संख्यातगुणी है, क्योंकि प्रथमस्थिति के संख्यातवें भाग मात्र ही गुणश्रेणीशीर्ष को अन्तर के लिये ग्रहण किया गया है । उससे उपशामक का काल विशेष अधिक अर्थात् एक समय कम दो आवलिमात्र विशेष अधिक है, क्योंकि अन्तिम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के द्वारा बांधे गये मिथ्यात्व सम्बन्धी नवक बन्ध का एक समय प्रथम स्थिति में ही गल जाता है, पुनः इस प्रथमस्थिति सम्बन्धी अन्तिम समय को छोड़कर उपशम सम्यक्त्व काल के भीतर एक समय कम दो आवलि प्रमाण (बन्धावलि व संक्रमावलि) काल ऊपर जाकर उस नवक बन्ध की उपशामना समाप्त होती है इसलिये प्रथमस्थिति में एक समय कम दो आवलिकाल प्रवेश कराकर यह विशेष अधिक हो जाता है^२ ।

अणियट्ठीसंखगुणो णियट्ठिगुणसेडियायदं सिद्धं ।

उवसंतद्धा अंतर अवरवरावाह संखगुणियकमा ॥६५॥

१. गुणश्रेणीनिक्षेप = गुणश्रेणी-आयाम ।

२. ज. ध. पु. १२ पृ. २८८-२९० ।

अर्थ—अनिवृत्तिकरण का काल संख्यातगुणा है इससे अपूर्वकरण का काल, गुणश्रेणि का आयाम, उपशम सम्यक्त्वका काल, अन्तरायाम, जघन्य आबाधा और उत्कृष्ट आबाधा ये संख्यातगुणित क्रम से हैं ।

विशेषार्थ—प्रथमस्थिति से एक समय कम दो आवलि अधिक उपशमावने (उपशामक) के काल से अनिवृत्तिकरण का काल संख्यातगुणा है, क्योंकि सर्वदा अनिवृत्तिकरणकाल के संख्यातवें भाग में प्रथमस्थिति की उपलब्धि होती है । इससे अपूर्वकरण का काल संख्यातगुणा है, क्योंकि सर्वदा अनिवृत्तिकरणकाल से अपूर्वकरण-काल संख्यातगुणा होता है । इससे गुणश्रेणि आयाम (गुणश्रेणिनिक्षेप) विशेष अधिक है, क्योंकि अपूर्वकरण के प्रथमसमय से गुणश्रेणिआयाम की उपलब्धि होती है जो अनिवृत्तिकरणकाल व अनिवृत्तिकरणकाल के संख्यातवें भाग सहित अपूर्वकरण-कालप्रमाण है । इसलिये गुणश्रेणीआयाम, अपूर्वकरणकालसे अनिवृत्तिकरणकाल व अनिवृत्तिकरणकालके संख्यातवें भाग काल प्रमाण अधिक है । गुणश्रेणि आयाम से उपशान्ताद्धा अर्थात् उपशमसम्यक्त्वका काल संख्यातगुणा है; इससे संख्यातगुणा अन्तरायाम है, क्योंकि अन्तर का आयाम अर्थात् जितने निषेकों के मिथ्यात्वद्रव्य का अभाव किया गया है उन निषेकों का काल संख्यातगुणा है, क्योंकि अन्तरायाम के संख्यातवें भाग में ही उपशमसम्यक्त्व के काल को गलाकर उससे आगे दर्शनमोहनीयकी तीनों प्रकृतियों में से किसी एक का अपकर्षण कर उसका वेदन करता हुआ अन्तर को समाप्त करता है । अन्तरायाम से संख्यातगुणी जघन्य आबाधा है । अन्तिम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के जो नवकबन्ध होता है, उसकी आबाधा जघन्य होती है, क्योंकि अन्यत्र मिथ्यात्व की जघन्य आबाधा उपलब्ध नहीं होती, परन्तु शेष कर्मों का गुणसंक्रमण के अन्तिम समय में जो नवक बन्ध होता है; उसकी आबाधा जघन्य होती है, क्योंकि गुणसंक्रमण काल को उल्लंघनकर विध्यातसंक्रम को प्राप्त हुए जीव के मन्दविशुद्धि वश स्थितिवन्ध वृद्धि-गत होता है इसलिये वहां की आबाधा सबसे जघन्य नहीं हो सकती । जघन्य आबाधा से उत्कृष्ट आबाधा संख्यातगुणी है । सर्व कर्मों की अपूर्वकरण के प्रथम समय में स्थितिवन्ध सम्बन्धी आबाधा यहां पर उत्कृष्ट आबाधारूपसे विवक्षित है । जघन्य स्थिति-बन्ध से यह स्थितिवन्ध संख्यातगुणा है इसलिए इसकी आबाधा भी संख्यातगुणी है^१ ।

पठमापुव्वजहण्णट्ठिदिखंडमसंखसंगुणं तस्स ।

अवरवरट्ठिदिवंधा तट्ठिदिसत्ता य संखगुणियकमा ॥६६॥

अर्थ—अपूर्वकरण के प्रथम समय में जघन्य स्थितिखण्ड असंख्यातगुणा है, इससे संख्यातगुणा जघन्य स्थितिबन्ध है । इससे संख्यातगुणा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है, इससे संख्यातगुणा जघन्य स्थितिसत्त्व तथा उससे संख्यातगुणा उत्कृष्ट स्थितिसत्त्व है । इसप्रकार संख्यात गुणित क्रम से स्थान जानना ।

विशेषार्थ—गाथामें “पठमापुव्वजहण्णट्ठिदिखंडमसंखसंगुणं” पाठ है । ध. पु. ६ पृ. २३७ पर “अपुव्वकरणस्स पठमसमए जहण्णओ ट्ठिदिखंडओ असंखेज्जगुणो” यह पाठ है । इन दोनों का अर्थ है कि “अपूर्वकरण के प्रथम समयमें जघन्य स्थितिखंड असंख्यातगुणा है, किन्तु ज. ध. पु. १२ पृ. २६३ पर चूणिसूत्र “जहण्णयं ट्ठिदिखंडयमसंखेज्जगुणं” पाठ है । इसमें “पठमापुव्व” अर्थात् ‘अपूर्वकरणके प्रथम समयमें’ यह पाठ नहीं है । इस पाठ के अभाव में प्रथमस्थिति के अन्त में होने वाले ‘स्थितिखण्ड’ का ग्रहण होता है, क्योंकि अपूर्वकरण के प्रथम स्थितिखण्ड की अपेक्षा प्रथमस्थिति के अन्त का स्थितिखण्ड जघन्य है । यह जघन्य स्थिति खण्ड भी पूर्वोक्त उत्कृष्ट आबाधा से असंख्यातगुणा है । जयधवल टीका में कहा भी है—“मिथ्यात्व की प्रथमस्थिति अल्प शेष रहने पर प्राप्त हुए अन्तिमस्थितिकाण्डक का और शेषकर्मों के गुणसंक्रमण काल के शेष रहने पर प्राप्त हुए अन्तिम स्थितिकाण्डक का जघन्य स्थितिकाण्डकरूपसे ग्रहण करना चाहिए । यह पत्योपमके संख्यातवैभाग प्रमाण होनेसे पूर्वमें कही गई उत्कृष्ट आबाधा से असंख्यातगुणा है ।

यद्यपि गाथामें ‘उत्कृष्ट स्थिति खण्ड’ का कथन नहीं है, किन्तु ध. पु. ६ पृ. २३७ व जयधवल पु. १२ पृ. २६४ के आधारसे यहां उसका कथन किया जाता है—अपूर्वकरण का ‘उत्कृष्ट स्थितिखण्ड’ जघन्य स्थितिखण्ड से संख्यातगुणा है, क्योंकि उत्कृष्ट स्थितिखण्ड का प्रमाण सागरोपम पृथक्त्व है । उससे जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है, क्योंकि अन्तिमसमयवर्ती मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व का जघन्य स्थितिबन्ध और शेष कर्मों का गुणसंक्रम के अन्तिम समय का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण हैं । उससे उत्कृष्टस्थितिबन्ध संख्यातगुणा है, क्योंकि सभी कर्मों का अपूर्वकरण के प्रथम समय में जो स्थितिबन्ध होता है वह पूर्व में कहे गये जघन्य

स्थितिवन्ध से संख्यातगुणा है । उससे जघन्य स्थिति सत्कर्म संख्यातगुणा है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि के अन्तिम समय में मिथ्यात्व का जो जघन्य स्थिति सत्कर्म होता है और शेष कर्मों का भी गुणसंक्रमण काल के अन्तिम समय में जो जघन्य सत्कर्म होता है, बन्ध की अपेक्षा उस सत्कर्म के संख्यातगुणा होने में कोई विरोध नहीं है । उससे उत्कृष्ट सत्कर्म संख्यातगुणा है, क्योंकि सभी कर्मों के अपूर्वकरण सम्बन्धी प्रथम समय से सम्बन्ध रखने वाले उत्कृष्ट सत्कर्म का प्रकृत में अवलम्बन लिया गया है । इसप्रकार पच्चीस पदवाला दण्डक समाप्त हुआ ।

अब प्रथमोपशमसम्यक्त्व ग्रहणकालमें पाये जाने वाले स्थितिसत्त्वका कथन करते हैं—

अंतोकोडाकोडी जाहे संखेज्जसायरसहम्मे ।

गुणा कम्माण ठिदी ताहे उवसमगुणं गहइ ॥६७॥

अर्थ—जब संख्यात हजार सागर से हीन अन्तःकोडाकोडी प्रमाण स्थिति सत्त्व होता है उस समय में उपशमसम्यक्त्व गुण को ग्रहण करता है ।

आगे देशसंयम व सकलसंयमके साथ प्रथमोपशमसम्यक्त्व ग्रहण करनेवाले जीवके स्थितिसत्त्व को कहते हैं—

तट्टाणे ठिदिसत्तो आदिमसम्मेण देससयलजमं ।

पडिवज्जमाणगरस वि संखेज्जगुणेण हीणकमो ॥६८॥

अर्थ—उसी स्थान में यदि देशसंयम सहित प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करे तो उसके पूर्वोक्त स्थितिसत्त्व से संख्यातगुणा हीन स्थिति सत्त्व होता है और यदि सकलसंयम सहित प्रथमोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त करे तो उसके उससे भी संख्यातगुणा हीन स्थिति सत्त्व होता है ।

विशेषार्थ—अनन्तगुणी विशुद्धि की विशेषता के कारण स्थितिस्रण्डायाम संख्यातगुणा होता है उससे घटाई हुई अवशिष्ट स्थिति संख्यातवें भाग होती है^१ ।

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २६३-२६६ । क. पा. मुत्त पृ. ६२६-३० ।

२. ध. पु. ६ पृ. २६८ ।

अथानन्तर दर्शनमोहोपशमके कालमें पायी जाने वाली विशेषता को कहते हैं—

‘उवसामगो य सव्वो णिठ्वाघादो तहा णिरासाणो ।

उवसंते भजियव्वो णिरासणो चेव खीणम्हि ॥६६॥

अर्थ—दर्शनमोह का उपशम करने वाले सर्व जीव व्याघात से रहित होते हैं और उस काल के भीतर सासादनगुणस्थान को प्राप्त नहीं होते हैं । दर्शनमोह का उपशम होने पर सासादनगुणस्थान भजितव्य है, किन्तु क्षीण होने पर सासादनगुणस्थान की प्राप्ति नहीं होती ।

विशेषार्थ—कषायपाहुड़ के सम्यक्त्व अनियोगद्वारा नामा १० वें अध्याय की प्रथम चार गाथाएं प्रश्नात्मक हैं । उसके पश्चात् दर्शनमोह की उपशमना सम्बन्धी १५ गाथाएं हैं । उन १५ गाथाओं में से (लब्धिसार की यह ६६ वीं गाथा) तीसरी-गाथा है । कषायपाहुड़ (जयधवल) पु. १२ में इस गाथा सम्बन्धी टीका को आधार रखते हुए उक्त गाथा का विशेषार्थ लिखा गया है—

यह गाथा दर्शनमोह का उपशम करने वाले जीव के तीन करणों द्वारा व्यापृत अवस्थारूप होने पर निर्व्याघात और निरासानपनेका कथन करती है । जैसे—सभी उपशामक जीव व्याघात से रहित होते हैं, क्योंकि दर्शनमोह के उपशम को प्रारम्भ करके उसका उपशम करने वाले जीव के ऊपर यद्यपि चारों प्रकार के उपसर्ग एक साथ उपस्थित होवें तो भी वह निश्चय से प्रारम्भ से लेकर दर्शनमोह की उपशमन-विधि को प्रतिबन्ध के बिना समाप्त करता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है । इस कथन द्वारा दर्शनमोह के उपशामकका उस अवस्था में मरण भी नहीं होता यह कहा हुआ जानना चाहिये, क्योंकि मरण भी व्याघात का एक भेद है] “तहा णिरासाणो” ऐसा कहने पर दर्शनमोह का उपशम करने वाला जीव उस अवस्था में सासादन गुणस्थान को भी नहीं प्राप्त होता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है । “उवसंते भजियव्वो” अर्थात् दर्शनमोहके उपशान्त होने पर भाज्य है—विकल्प्य है अर्थात् वह जीव कदाचित् सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है और कदाचित् प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उपशम सम्यक्त्व

[के कालमें छह आवलि शेष रहने पर वहां से सासादन गुणस्थानकी प्राप्ति किन्हीं भी जीवों में सम्भव देखी जाती है । “एगोरासाणो य खीणम्मि” अर्थात् उपशम सम्यक्त्व का काल क्षीण होने पर यह जीव सासादनगुणस्थानको नियम से नहीं प्राप्त होता यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

शंका—ऐसा किस कारण से है ?

समाधान—क्योंकि उपशम सम्यक्त्वके काल में जघन्यरूप से एक समय शेष रहने पर और उत्कृष्टरूप से छह आवलि काल शेष रहने पर सासादनगुणस्थान परिणाम होता है, इसके बाद नहीं ऐसा नियम देखा जाता है । अथवा “एगोरासाणो य खीणम्मि” ऐसा कहने पर दर्शनमोहनोपका क्षय होने पर यह जीव निरासान ही है, क्योंकि उसके सासादनगुणस्थानरूप परिणाम सम्भव नहीं है ऐसा यहां ग्रहण करना चाहिये [कारण कि क्षायिक सम्यक्त्व अप्रतिपातस्वरूप होता है और सासादन परिणाम के उपशम सम्यक्त्व पूर्वक होनेका नियम देखा जाता है] ।

आगे सासादनके स्वरूप एवं कालका कथन करते हैं—

‘उवसमसम्मत्तद्धा छावलिमेता दु समयमेत्तोत्ति ।

अवसिट्ठे आसाणो अणअणदरुदयदो होदि ॥१००॥

अर्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वके काल में उत्कृष्टकाल छह आवलि और जघन्य-काल एक समय मात्र अवशेष रह जाने पर अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन चारों में से किसी एक के उदय होने से सम्यक्त्व की आसादना (विराधना) होकर सासादन गुणस्थान होता है^१ ।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन की घातक मिथ्यात्वप्रकृति व अनन्तानुबन्धीकषाय चतुष्क है । “मिथ्यात्वं नाम विपरीताभिनिवेशः । स च मिथ्यात्वादनन्तानुबन्धिनश्चो-त्पद्यते ।” (ध. पु. १ सूत्र ११६ की टीका) विपरीत अभिनिवेश का नाम मिथ्यात्व है और वह विपरीताभिनिवेश मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन दोनों कर्मों

१. ज. घ. पु. १२ पृ. ३०२-३०३ । एवं घ. पु. ६ पृ. २३६ ।

२. पाठान्तरेण उक्तभावो अन्यत्रापि दृश्यते, प्रा. पं. सं. पृ. ६३३ श्लो. ११; गो. जी. गा. १६ ।

३. ज. घ. पु. ४ पृ. २४; ज. घ. पु. १० पृ. १२३-२४; ज. घ. पु. १२ पृ. ३०३ ।

के उदय से होता है । प्रथमोपशम सम्यक्त्व से पूर्व तीनकरण (अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण) होते हैं । अनिवृत्तिकरण काल का बहुभाग व्यतीत हो जाने पर दर्शनमोहनीय कर्म का अन्तर होकर उपशम होता है, किन्तु अनन्तानुबन्धी चतुष्क का न तो अन्तर होता है और न उपशम होता है । हाँ ! परिणामों की विशुद्धता के कारण प्रतिसमय स्तिवुक संक्रमण द्वारा अनन्तानुबन्धीकषाय का अप्रत्याख्यानादि कषायरूप परिणामन होकर परमुख उदय होता रहता है । प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में अधिक से अधिक छह आवलि काल शेष रह जाने पर और कम से कम एक समय काल शेष रह जाने पर यदि परिणामों की विशुद्धता में हानि हो जावे तो अनन्तानुबन्धीकषाय का स्तिवुकसंक्रमण रुक जाता है और अनन्तानुबन्धीका परमुख उदय की बजाय स्वमुख उदय आने के कारण प्रथमोपशम सम्यक्त्व की आसादना (विराधना) हो जाती है और प्रथमोपशम सम्यक्त्व से गिरकर दूसरा सासादन गुण-स्थान हो जाता है । मिथ्यात्वप्रकृति का अभी उदय नहीं हुआ, क्योंकि उसका अन्तर व उपशम है । अतः उसको मिथ्यादृष्टि नहीं कहा गया । अनन्तानुबन्धीकषाय जनित विपरीताभिनिवेश हो जाने के कारण सम्यक्त्व की विराधना हो जाने से उसकी सासादनसम्यग्दृष्टि (सम्यक्त्व की विराधना सहित) संज्ञा हो जाती है ।

अब उपशमसम्यक्त्व सम्बन्धी प्रारम्भिक सामग्रीका कथन करते हैं—

‘सायारे पट्ठवगो णिट्ठवगो मज्झिमो य भजणिज्जो ।

जोगे अण्णदरम्मि दु जहण्णए तेउलेस्साए ॥१०१॥

अर्थ—दर्शनमोहके उपशमन का प्रस्थापक जीव साकार उपयोग में विद्यमान होता है, किन्तु उसका निष्ठापक और मध्य अवस्थावर्ती जीव भजितव्य है । तीनों योगों में से किसी एक योग में विद्यमान तथा तेजोलेश्या के जघन्य अंश को प्राप्त वह जीव दर्शनमोह का उपशामक होता है ।

विशेषार्थ—उक्त गाथा कषायपाहुड़ गाथा ६८ से शब्दशः मिलती है । दर्शनमोहोपशमना सम्बन्धी १५ गाथाओं में से यह चतुर्थ गाथा है । इस गाथा सूत्र में

१. किञ्चित् पाठान्तरेण गाथेयं (ज. घ. पु. १२ पृ. ३०४ गा. ६८ पर) अस्ति । “सायारे पट्ठवगो णिट्ठवगो मज्झिमो य भजणिज्जो । जोगे अण्णदरम्मि दु जहण्णए तेउलेस्साए । (घ. पु. ६ पृ. २३६ गा. ५)

दर्शनमोहोपशामक के उपयोग, योग और लेश्या परिणामगत विशेष कथन किया गया है । 'सायारे बटुवगो' ऐसा कहने पर दर्शनमोह की उपशमविधिको प्रारम्भ करने वाला जीव अधःप्रवृत्तकरण के प्रथमसमयसे अन्तमु हूर्त काल पर्यन्त प्रस्थापक कहलाता है^१ ।

जिसके द्वारा उपयुक्त होता है उसका नाम उपयोग है । आत्मा के अर्थग्रहरूप परिणाम का नाम उपयोग है । वह उपयोग साकार और अनाकार के भेद से दो प्रकार का है । साकार तो ज्ञानोपयोग है और अनाकार दर्शनोपयोग । इनके क्रमणः मतिज्ञानादि और चक्षुदर्शनादि भेद भी हैं^२ । दर्शनमोहोपशामना विधि का प्रस्थापक जीव नियम से ज्ञानोपयोग में उपयुक्त होता है, क्योंकि अविमर्शक और सामान्यमात्र-ग्राही चेतनाकार उपयोग के द्वारा विमर्शक स्वरूप तत्त्वार्थश्चद्धान लक्षण सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के प्रति अभिमुखपना नहीं बन सकता^३ । अर्थात् प्रस्थापक के अविचार स्वरूप दर्शनोपयोग की प्रवृत्ति का विरोध है । इसलिये कुमति, कुश्रुत और विभङ्ग-ज्ञान में से कोई एक साकारोपयोग ही होता है, अनाकार उपयोग नहीं होता । इस वचन द्वारा जागृत अवस्था से परिणत जीव ही मध्यक्त्व की उत्पत्ति के योग्य होता है, अन्य नहीं, क्योंकि निद्रारूप परिणाम सम्यक्त्वोत्पत्ति के योग्य विशुद्ध परिणामों से विरुद्धस्वभावी है । इसप्रकार प्रस्थापक के साकारोपयोग का नियम करके, निष्ठापकरूप और मध्यम अवस्था में साकारोपयोग और अनाकारोपयोग में से अन्यतर उपयोग के साथ भजनीयपने का कथन करने के लिये गाथा में 'एण्डुवगो मज्झिमो य भजजिज्जो' यह वचन कहा है । दर्शनमोह के उपशामनाकरण को समाप्त करने वाला जीव निष्ठापक होता है अर्थात् समस्त प्रथमस्थितिको क्रम से गलाकर अन्तर प्रवेश के अभिमुख जीव निष्ठापक होता है । वह साकारोपयोग से उपयुक्त होता है या अनाकारोपयोग में, क्योंकि इन दोनों उपयोगों में से किसी एक उपयोग के साथ निष्ठापक होने में विरोध का अभाव है इसलिये भजनीय है । इसी प्रकार मध्यम अवस्थावाले के भी कथन करना चाहिए । प्रस्थापक और निष्ठापक पर्यायों के अन्तराल काल में प्रवर्तमान जीव मध्यम कहलाता है । दोनों ही उपयोगों का क्रम से परिणाम होने में विरोध का अभाव होने से भजनीय है^४ ।

१. क. पा. सुत्त पृ. ६३२; ज. ध. पु. १२ पृ. ३०४ ।

२. ज. ध. पु. १२ पृ. २०३; गो. जी. गाथा ६७२-७३; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १७८ पृ. ३७ ।

३. ज. ध. पु. १२ पृ. २०४; क. पा. सुत्त पृ. ६३२ ।

४. ज. ध. पु. १२ पृ. ३०५ ।

गाथा के 'जोगे अण्णवरम्हि' का अर्थ है मनोयोग, वचनयोग और काययोग, इनमें से किसी एक योग में वर्तमान जीव दर्शनमोह की उपशमविधि का प्रस्थापक होता है^१ । जीवप्रदेशों की कर्मों के ग्रहण में कारणभूत परिस्पन्दरूप पर्याय का नाम योग है । वह योग मनोयोग, वचनयोग और काययोग के भेद से तीन प्रकार का है । उनमें से सत्यमनोयोग मृषामनोयोग, सत्यमृषामनोयोग और असत्यमृषामनोयोग के भेद से मनोयोग चार प्रकार का है । इसीप्रकार वचनयोग भी चार प्रकार का है । काययोग सातप्रकार का है । मनोयोग के इन भेदों में से दर्शनमोहोपशमक के (प्रस्थापक के) अन्यतर मनोयोग होता है, क्योंकि उन चारों मनोयोग के ही यहां प्राप्त होने में किसी प्रकार का विरोध नहीं पाया जाता । इसी प्रकार वचनयोग का भी अन्यतर भेद होता है, किन्तु काययोग, औदारिक काययोग या वैक्रियिक काययोग होता है, क्योंकि अन्य काययोग का प्राप्त होना असम्भव है । इन दस पर्याप्त योगों में से अन्यतर योग से परिणत हुआ जीव प्रथमसम्यक्त्व को प्राप्त करने के योग्य (प्रस्थापक) होता है । शेष योगों से परिणत हुआ जीव (प्रस्थापक) नहीं होता^२ । इसीप्रकार निष्ठापक और मध्यमावस्था वाले जीव के भी कहना चाहिए, क्योंकि इन दोनों अवस्थाओं में प्रस्थापक से भिन्न नियम की उपलब्धि नहीं होती^३ ।

गाथा में "जहण्णगे तेउलेस्साए" के द्वारा लेश्या का कथन किया गया है । पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओं में से नियम से कोई एक वर्धमान लेश्या उसके (प्रस्थापक) के होती है । इनमें से कोई भी लेश्या हीयमान नहीं होती । यदि अत्यन्त मन्द विशुद्धि से परिणामन कर दर्शनमोहोपशमनविधि प्रारम्भ करता है तो भी उसके तेजोलेश्या का परिणाम ही उसके योग्य होता है । इससे नीचे की लेश्याका परिणाम अर्थात् कृष्ण, नील और कापोत लेश्यारूप परिणाम नहीं होते, क्योंकि तीन अशुभ लेश्या सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारणरूप करण परिणाम से विरुद्ध स्वरूप हैं ।

शंका—वर्धमान शुभ तीन लेश्याओं का नियम यहां पर किया है वह नहीं बनता, क्योंकि नारकियों के सम्यक्त्वोत्पत्ति करने में व्यापृत होने पर तीन अशुभ लेश्याएं भी सम्भव हैं ?

१. ज. घ. पु. १२ पृ. ३०६ ।

२. ज. घ. पु. १२ पृ. २०२ ।

३. ज. घ. पु. १२ पृ. ३०६ ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि मनुष्य और तिर्यचों की अपेक्षा यह गाथा सूत्र प्रवृत्त हुआ है। तिर्यच और मनुष्यों के सम्यक्त्व प्राप्त करते समय तीन शुभ लेश्याओं को छोड़कर अन्य लेश्याएं सम्भव नहीं हैं, क्योंकि अत्यन्त मन्द विशुद्धि द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले जीवके भी वहां जघन्य पीतलेश्या का नियम है।

शंका—यहां देव और नारकियों की विवक्षा क्यों नहीं है ?

समाधान—देव और नारकियों की विवक्षा नहीं की, क्योंकि उनके अवस्थित लेश्याभावका कथन करने के लिये यहां परिवर्तमान सर्व लेश्यावाले तिर्यच और मनुष्यों की ही प्रधान रूप से विवक्षा है। अथवा देवों में तो यथायोग्य तीन शुभलेश्यारूप परिणाम ही होता है। इसलिये उक्त कथन का वहां कोई व्यभिचार नहीं आता। नारकियों में भी अवस्थित स्वरूप कृष्ण, नील और कापोतलेश्यारूप परिणाम होते हैं, वहां तीन शुभलेश्यारूप परिणाम असम्भव ही हैं इसलिए उनमें यह गाथा सूत्र प्रवृत्त नहीं होता अतः तिर्यचों और मनुष्यों को विषय करनेवाली ही यह गाथा है^१।

यद्यपि गाथा सूत्र में कषाय और वेद का कथन नहीं किया तथापि उनका कथन किया जाता है, क्योंकि इस गाथा सूत्र में एकदेश कथन किया गया है अर्थात् यह देशामर्शक गाथा सूत्र है।

दर्शनमोह का उपशम करनेवाले जीवके क्रोधादि चारों कषायों में से अन्यतर कषायपरिणाम होता है, किन्तु वह नियमसे हीयमान कषायवाला होता है, क्योंकि विशुद्धि से वृद्धि को प्राप्त होनेवाले के वर्धमान कषाय के साथ रहने का विरोध है। इसलिए क्रोधादि कषायों के द्विस्थानीय अनुभागोदय से उत्पन्न हुए तत्प्रायोग्य मन्दतर कषाय परिणाम का अनुभवन करता हुआ सम्यक्त्व को उत्पन्न करने के लिये आरम्भ करता है^२।

सम्यक्त्वोत्पत्ति में व्यापृत हुए जीवके तीन वेदों में से कोई एक वेद परिणाम होता है, क्योंकि द्रव्य और भाव की अपेक्षा तीन वेदों में से अन्यतर वेदपर्याय से युक्त जीवके सम्यक्त्वोत्पत्ति में व्यापृत होनेके विरोध का अभाव है^३।

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २०५ व २०६।

२. ज. ध. पु. १२ पृ. २०२-२०३ एवं क. पा. सुत्त पृ. ६१६।

३. ज. ध. पु. १२ पृ. २०६; क. पा. सुत्त पृ. ६१६ सूत्र १६

अथानन्तर उपशमसम्यक्त्वकालके अनन्तर उदययोग्य कर्मविशेषका कथन करते हैं—

‘अंतोमुहुत्तमद्धं’ सव्योवत्समेण होदि उवसंतो ।

तेण परं उदओ खलु तिरणोवकंदरस्स कम्मस्स ॥१०२॥

अर्थ—अन्तर्मुहूर्त काल तक सर्वोपशमसे उपशान्त रहता है इसके पश्चात् नियम से तीन कर्म प्रकृतियों में से किसी एक का उदय होता है ।

विशेषार्थ—उक्त गाथा कषायपाहुड़ में दर्शनमोहनीय कर्म के सर्वोपशम से अवस्थानकाल के प्रमाणका अवधारण करने के लिये आई है । गाथा सूत्रमें “अंतोमुहुत्त-मद्धं” ऐसा कहने पर अन्तरायाम का संख्यातवां भाग प्रमाण काल लेना चाहिए । यह पूर्व में कहे गये अल्पबहुत्व से जाना जाता है ।

गाथा सूत्र में “सव्योवत्समेण” ऐसा कहने पर सभी दर्शनमोहनीय कर्मों के उपशम से ऐसा ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश से विभक्त मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन तीनों ही कर्मप्रकृतियों का यहां पर उपशान्तिरूपसे अवस्थान होता है । “तेण परं उदओ खलु” उसके पश्चात् दर्शनमोह के भेदरूप तीनों प्रकृतियों में से किसी एक का नियम से उदय होता है^१ ।

अब दर्शनमोहनीयकर्मके अन्तरायाम पूरणका विधान कहते हैं—

उवसमसम्मत्तुवरिं दंसणमोहं तुरंत पूरेदि ।

उदयित्तस्सुदयादो सेसाणं उदयवाहिरदो ॥१०३॥

अर्थ—उपशम सम्यक्त्वकाल के ऊपर जो दर्शनमोह के अन्तरायाम का शेष भाग, उसको शीघ्र ही पूरता है । उदयवान प्रकृतिके द्रव्य को तो उदयस्थिति से देना प्रारम्भ करता है और शेष दो अनुदय प्रकृति के द्रव्य को उदयावलि से बाहर देता है ।

१. ज. ध. पु. १२ पृ. ३१४ गाथा १०३. किन्तु वहां ‘तेण परं उदओ’ के स्थान पर ‘तत्तो परमुदयो’ ऐसा पाठ है । ध. पु. ६ पृ. २४१ । क. पा. गा. १०३ ।

२. ज. ध. पु. १२ पृ. ३१४-३१५ ।

विशेषार्थ—अन्तरायामका संख्यातवां भाग उपशम सम्यक्त्व का काल है । उपशम सम्यक्त्व का काल समाप्त हो जाने पर भी अन्तरायाम का संख्यात बहुभाग शेष रहता है जहां पर दर्शनमोहनीय कर्म के सत्त्व का भी अभाव है । अन्तरायाम के ऊपर द्वितीय स्थिति में दर्शनमोहनीय कर्म का द्रव्य है जिसका अपकर्षण करके अन्तरायामको पूरता है । अर्थात् शेष अन्तरायाम काल में अपकर्षित द्रव्य का क्षेपण करके दर्शनमोहनीय कर्म का सत्त्व स्थापन करता है । मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन तीन प्रकृतियों में से जिस प्रकृति का उदय प्रारम्भ हो जाता है उस प्रकृति के द्रव्य को उदय स्थिति से लेकर सर्व स्थितियों में देता है और जिन दो प्रकृतियों का उदय नहीं है उनके द्रव्य को उदयावलि से बाह्य सर्व स्थितियों में देता है, किन्तु उदयावलि में नहीं देता । इतनी विशेषता है कि अपनी-अपनी अतिस्थापना में तीनों प्रकृतियोंका द्रव्य नहीं दिया जाता ।

यदि मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होता है तो यह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है । यदि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होता है तो सम्यग्मिथ्यादृष्टि हो जाता है । सम्यक्त्वप्रकृति के उदय होने से यह जीव वेदक सम्यग्दृष्टि अथवा क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि हो जाता है ।

श्लोकटिठदङ्गिभागं समपट्टीए विसेसहीणकमं ।

सेसासंखाभागे विसेसहीणेण खिवदि सवत्थ ॥१०४॥

अर्थ—अपकृष्ट द्रव्यका एक भाग तो चय (विशेष) हीन क्रम से उदयावलि में देना शेष असंख्यात बहुभाग सर्वत्र विशेष (चय) हीन क्रम से दिया जाता है ।

विशेषार्थ—यदि उदयरूप सम्यक्त्वप्रकृति होवे तो उसके द्रव्यमें अपकर्षण भागहारका भाग देकर उसमें से बहुभागप्रमाण द्रव्य यथावस्थित ही रहे । एक भाग को असंख्यातलोकका भाग देकर उसमें से एकभागप्रमाण द्रव्य 'उदयावलिस्त वत्थ'^१ इत्यादि सूत्र द्वारा जैसा पूर्वमें विधान कहा था वैसे ही उदयावलिके निषेकोमें चय हीन क्रमसे निक्षिप्त करना । अपकर्षित द्रव्यमें से अवशिष्ट बहुभागमात्र जो द्रव्य है उसे

१. ज. घ. पु. १२ पृ. ३१५ के आधारे से । क. पा. सुत्त पृ. ६३५; घ. पु. ६ पृ. २४१ ।

२. ल. सा. गा. ७१ ।

अपकृष्टावशिष्ट द्रव्य कहते हैं, उस द्रव्यमें से, अन्तरायामके निषेकोंका अभाव था उन निषेकोंका सद्भाव करने के लिये कितना एक (कुछ) द्रव्य दिया जाता है । उस देय द्रव्यका कितना प्रमाण है यह जाननेका विधान कहते हैं—

नानागुणहानिमें स्थित सम्यक्वपकृतिकी द्वितीयस्थितिके द्रव्यको अपकर्षण भागहारका भाग देकर एक भाग पृथक् करके अवशिष्ट बहुभागप्रमाण द्रव्यमें “द्विषड्विगुण-हानिभाजिदे पठमा”^१ इस सूत्र द्वारा साधिक डेढ़गुणहानिप्रमाणका भाग देने पर उस द्वितीय स्थितिके प्रथम निषेकका प्रमाण प्राप्त होता है, सो इसके बराबर अन्तरायामके सर्व निषेकोंको चय रहित स्थापित करके जोड़नेसे आदिधनका प्रमाण प्राप्त होता है । ‘पदहतमुखमादिधन’^२ इस कारण सूत्रसे अन्तरायामप्रमाण गच्छसे उस प्रथम निषेकको गुणा करने पर अन्तरायामके निषेकोंका आदिधन प्राप्त हुआ । तथा द्वितीय स्थितिके नीचे अन्तरायामके निषेक हैं इसलिये द्वितीयस्थितिके आदि निषेकसे चय वृद्धि (बढ़ते) क्रमसे अन्तरायामके निषेक हैं । चयका प्रमाण प्राप्त करने की विधि कहते हैं—

द्वितीय स्थितिकी प्रथमगुणहानिके प्रथमनिषेक से अधस्तनवर्ती अन्तरायाम सम्बन्धी गुणहानिके प्रथम निषेकका द्रव्य दोगुणा प्रमाण युक्त चय है । इसको दो गुणहानिका भाग देनेपर अन्तरायाममें चयका प्रमाण प्राप्त होता है । “सैकपदाहतपद-वलचयहतमुत्तरधन”^३ इस सूत्रसे यहां अन्तरायामप्रमाण गच्छ है, सो एक अधिक गच्छसे गच्छके आधेको गुणा करके पुनः चयसे गुणा करनेपर उत्तरधन प्राप्त होता है । इसप्रकार प्राप्त आदिधन और उत्तरधन (चयधन) को जोड़नेपर जो प्रमाण प्राप्त हुआ उतना द्रव्य उक्त अपकृष्टावशिष्ट द्रव्य से ग्रहणकर अन्तरायाममें देना । द्वितीय

१. इसका अर्थ—प्रथमगुणहानिकी प्रथमवर्गणाका द्रव्य = सर्वद्रव्य ÷ साधिक डेढ़गुणहानि । (गो. जी. गा. ५६ की टीका व ध. पु. १० पु. १२२)

२. आदिद्रव्यको पदसे गुणा करने पर आदिधनका प्रमाण निकलता है । (गो. जी. गा. ५१ की टीका ; गणितसारसंग्रह अ. २।६३)

३. इसका अर्थ—एक अधिक पदसे गुणित ‘पदका आधा’ गुणित चय = उत्तरधन (पद + १) × (पद) ÷ २ × चय = $\frac{(पद + १) पद \times चय}{२}$ = उत्तरधन । यहां “व्यैकपदार्धधन चयगुणो गच्छ उत्तर धन” सूत्र नहीं लगता, क्योंकि अन्तरायामके निषेकों को द्वितीय स्थितिके प्रथम निषेकवत् माननेपर कोई भी निषेक अन्तरायामका सर्वहीन निषेक भी नहीं बनता । अन्तरायामका सर्व-हीन निषेक भी एक चयसे अधिक करने पर बनेगा अतः “सैकपदाहत”..... इत्यादि कहा ।

स्थितिके प्रथम निषेकसे गच्छप्रमाण चयोंसे अधिक द्रव्य तो अन्तरायामके प्रथम निषेकमें देना चाहिए । यहां गच्छका प्रमाण अन्तरायाम और चयका प्रमाण पूर्वोक्त जानना । तथा द्वितीयादि निषेकोंमें एक-एक चयहीन क्रमसे देना । अन्तिम निषेकमें एक चय अधिक (द्वितीयस्थितिके प्रथम निषेककी अपेक्षा) देना । इसप्रकार देने पर जैसे क्रम लिये हुए चाहिए वैसे अन्तरायामके निषेकोंका अभाव हुआ था उनका पुनः सद्भाव हो गया । अब अपकृष्टावशिष्ट द्रव्यमें से इतना द्रव्य देने पर किंचित् ऊन हुआ सो उस अवशेष द्रव्यको अन्तरायाम अथवा द्वितीय स्थितिमें देना । वहां अन्तरायाममें तो पूर्वमें जिसप्रकार आदिधन और उत्तरधनको मिलाकर द्रव्यका प्रमाण निकालनेका विधान कहा था उसी प्रकार द्रव्यका प्रमाण प्राप्तकर उतने द्रव्यको अन्तरायामके निषेकोंमें देना । इतना द्रव्य अन्तरायामके निषेकोंमें देनेके पश्चात् जो द्रव्य अवशिष्ट रहा उसको 'दिवङ्मगुणहारिणभाजिदे पटमा' इत्यादि सूत्र विधान द्वारा द्वितीय स्थितिके नानागुण-हानि सम्बन्धी निषेकोंमें से अन्तिम अतिस्थापनावलीप्रमाण निषेक छोड़कर सर्वत्र देना चाहिए । इसप्रकार उदय योग्य सम्यक्त्वप्रकृतिका विधान कहा । तथा उदयके अयोग्य सम्यग्मिथ्यात्व मिथ्यात्व प्रकृतियोंके द्रव्यको अपकर्षण सागहारका भाग देकर उसमें से एक भाग उदयावलीसे बाहर जो अन्तरायाम है उसमें और द्वितीयस्थितिमें पूर्ववत् निक्षिप्त करना चाहिये उदयावलिमें निक्षिप्त नहीं करना चाहिए । इसीप्रकार सम्यग्मिथ्यात्व अथवा मिथ्यात्वप्रकृति में से अन्यतर उदय योग्य होके अवशेष दो प्रकृति उदययोग्य नहीं होवे तो वहां यथासम्भव विधान जानना । जैसे गाय की पूंछ क्रमसे मोटाईसे हीन होती है वैसे सर्वत्र चय हीन क्रम पाया जाता है, अतः उसे गोपुच्छाकार कहते हैं ।

अथानन्तर सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयका कार्य दो गाथाओं में कहते हैं—

सम्मुदये चलमक्षिणमगाढं सहहृदि तच्चयं अत्यं ।

'सहहृदि असम्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥१०५॥

'सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा स सहहृदि ।

सो चेव हृदि मिच्छाहट्ठी जीवो तदो पट्टदी ॥१०६॥

१. ज. घ. पु. १२ पृ. ३२१ गाथा १०७ का उत्तरार्ध; घ. पु. १ पृ. १७३; घ. पु. ६ पृ. २४२; प्रा. पं. सं. अ. १ गा. १२

२. ज. घ. पु. १२ पृ. ३२२, घ. पु. १ पृ. २६२ ।

३. 'सि तदो पट्टि जीवो' इत्यपिपाठः

अर्थ—सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में तत्त्वों का और पदार्थों का अथवा तत्त्वार्थ का चल-मलिन-अगाढ़ सहित श्रद्धान करता है तथा स्वयं न जानता हुआ गुरु के नियोग से असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान करता है । सूत्र के द्वारा समीचीनरूप से दिखलाये गये उस अर्थका जब यह जीव श्रद्धान नहीं करता उस समय से लेकर वही जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है ।

विशेषार्थ—सम्यक्त्वप्रकृति के द्वारा सम्यग्दर्शनकी स्थिरता और निष्कांक्षता का घात होता है^१ । स्थिरता का घात होने से चल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते हैं । निष्कांक्षता का घात होने से मल दोष उत्पन्न होता है । जैसे बूढ़पुरुष लाठी को पकड़े रहता है, किन्तु कांपती रहती है, स्थिर नहीं रहती । इसीप्रकार वेदक सम्यग्दृष्टि का तत्त्वार्थश्रद्धान स्थिर नहीं रहता-चलायमान रहता है । स्थिरता के घात के कारण श्रद्धा भी दृढ़ नहीं होती । निष्कांक्षता का घात होने से शंका, कांक्षा आदि दोष सम्यक्त्व को मलीन करते रहते हैं । इसीलिये गाथा में कहा गया है कि सम्यक्त्व-प्रकृति के उदय में चल-मलिन व अगाढ़ सहित तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है । “सद्दृष्टि असम्भाव” ऐसा कहने पर असद्भूत अर्थ का भी सम्यग्दृष्टि जीव गुरुवचन को प्रमाण करके स्वयं नहीं जानता हुआ श्रद्धान करता है । इस गाथा के उत्तरार्थ द्वारा आज्ञा-सम्यक्त्वका लक्षण कहा गया है ।

शंका—अज्ञानवश असद्भूत अर्थ का ग्रहण करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह परमागम का ही उपदेश है ऐसा निश्चय होने से उस प्रकार स्वीकार करने वाला वह जीव परमार्थ का ज्ञान नहीं होने पर भी सम्यग्दृष्टिपने से च्युत नहीं होता ।

यदि पुनः कोई परमागमके ज्ञाता विसंवादरहित दूसरे सूत्र द्वारा उस अर्थ को यथार्थ रूप से बतलावे फिर भी वह जीव असत् आग्रहवश उसे स्वीकार नहीं करता है तो उस समय से वह जीव मिथ्यादृष्टि पद का भागी हो जाता है, क्योंकि वह प्रवचन विरुद्ध बुद्धिवाला है ऐसा परमागम का निश्चय है । इसलिये यह ठीक

१. को भागो सम्मतस्स तेस वाइज्जदि ? धिरतं शिक्कंक्खत्तं । (ज. घ. पु. ५. पृ. १३०)

कहा गया है कि प्रवचनमें उपदिष्ट अर्थ का आज्ञा और अधिगम से विपरीतता के बिना श्रद्धान करना सम्यग्दृष्टि का लक्षण है^१ ।

अब मिश्रप्रकृतिके उदयका कार्य कहते हैं—

मिस्सुदये सम्मिस्सं दहिगुडमिस्सं व तच्चमियरेण ।

सद्दहि एक्कसमये मरणे मिच्छो व अयदो वा ॥१०७॥

अर्थ—मिश्रप्रकृति के उदय में दधि और गुड़ के मिश्रित स्वादके समान एक समयमें सम्यक्त्व व मिथ्यात्व मिश्रित तत्त्व का इतर जाति (जात्यन्तर) रूप श्रद्धान होता है । मरणकाल में मिथ्यात्व या असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान होता है ।

विशेषार्थ—जिसप्रकार दही और गुड़ परस्पर इसप्रकार मिल जाते हैं कि उनका पृथक्-पृथक् अनुभव नहीं हो सकता, किन्तु खट्टा और मीठा मिश्रित रसास्वाद का अनुभव होता है उसी प्रकार एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यारूप मिले हुए परिणाम मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) प्रकृति के उदय से होते हैं^२ । अभेद विवक्षा में उसके जात्यन्तर भाव कहा है (अभेदविवक्षाए जच्चन्तरत्तं)^३ किन्तु भेद की विवक्षा करने पर उसमें सम्यग्दर्शन का एक अंश है ही । यदि ऐसा न माना जावे तो उसके जात्यन्तर मानने में विरोध आता है^४ ।

शंका—एक जीव में एक साथ सम्यक् और मिथ्यारूप दृष्टि सम्भव नहीं है, क्योंकि इन दोनों दृष्टियों का एक जीव में एक साथ रहने में विरोध आता है । यदि कहा जावे कि ये दोनों दृष्टियां क्रम से एक जीव में रहती हैं तो उनका सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि नाम के स्वतन्त्र गुणस्थानों में ही अन्तर्भाव मानना चाहिए । इसलिये सम्यग्दृष्टि भाव सम्भव नहीं है ।

समाधान—युगपत् समीचीन और असमीचीन श्रद्धावाला जीव सम्यग्मिथ्या-दृष्टि है । इसमें विरोध भी नहीं आता, क्योंकि आत्मा अनेक धर्मात्मक है, इसलिये उसमें अनेक धर्मों का सहानुवस्थान लक्षण का विरोध असिद्ध है । आत्मा के अनेकांत-

१. ज. घ. पु. १२ पृ. ३२१-२२ ।

२. घ. पु. १ पृ. १६८; प्रा. पं. सं. १।१०; गो. जी. का. गा. २२ ।

३. घ. पु. ५ पृ. २०८ ।

४. घ. पु. ५ पृ. २०८ ।

अपेक्षा वह क्षायोपशमिक है । सम्यग्मिथ्यात्व द्रव्यकर्म सर्वघाति होवे, क्योंकि जात्यन्तरभूत सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सम्यक्त्वता का अभाव है किन्तु श्रद्धानभाग अश्रद्धानभाग नहीं हो जाता, क्योंकि श्रद्धान और अश्रद्धान के एकता का विरोध है । श्रद्धानभाग कर्मोदयजनित भी नहीं है, क्योंकि इसमें विपरीतता का अभाव है और न उनमें सम्यग्मिथ्यात्व संज्ञा का ही अभाव है, क्योंकि समुदाये में प्रवृत्त हुए शब्दों की उनके एक देश में भी प्रवृत्ति देखी जाती है । अतः यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्मिथ्यात्व क्षायोपशमिकभाव है^१ ।

सम्यग्मिथ्यात्वलब्धि क्षायोपशमिक है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व के उदयसे उत्पन्न होती है ।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के स्पर्धक सर्वघाति ही होते हैं इसलिये इसके उदयसे उत्पन्न हुआ सम्यग्मिथ्यात्व क्षायोपशमिक कैसे हो सकता है ?

समाधान—शंका ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के स्पर्धकों का उदय सर्वघाति नहीं होता ।

शंका—यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व में सम्यक्त्वरूप अंश की उत्पत्ति अन्यथा बन नहीं सकती । इससे ज्ञात होता है कि सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके स्पर्धकों का उदय सर्वघाति नहीं होता ।

सम्यग्मिथ्यात्व के देशघाति स्पर्धकों के उदयसे और उसी के सर्वघाती स्पर्धकों की उपशम संज्ञावाले उदयाभाव से सम्यग्मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है इसलिये वह तदुभय प्रत्ययिक (क्षायोपशमिक) कहा गया है^२ ।

सम्यग्मिथ्यात्व की अनुभागउदीरणा सर्वघाति और द्विस्थानीय है ।

शंका—इसका सर्वघातिपना कैसे है ?

समाधान—मिथ्यात्व की उदीरणा से जिसप्रकार सम्यक्त्वगुण का निर्मूल विनाश होता है उसीप्रकार सम्यग्मिथ्यात्व की उदीरणा से भी सम्यक्त्व संज्ञावाले जीव का निर्मूल विनाश देखा जाता है^३ ।

१. ध. पु. ५ पृ. १६८-६९ ।

२. ध. पु. १४ पृ. २१ ।

३. ज. ध. पु. ११ पृ. ३८ ।

नोट—ऐसा प्रतीत होता है कि सम्यग्मिथ्यात्व के मिथ्यात्व अवयव की दृष्टि से उपर्युक्त कथन जयधवला में किया गया है ।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे सम्यग्मिथ्यात्व भाव होता है इसलिये उसको औदयिकभाव कहना चाहिये था ।

समाधान—सम्यग्मिथ्यात्व को औदयिकभाव नहीं कहा गया, क्योंकि मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से जिसप्रकार सम्यक्त्व का निरन्वय नाश होता है, उसप्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व का निरन्वय नाश नहीं होता इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व को औदयिकभाव न कहकर क्षायोपशमिक भाव कहा है ।

शंका—यदि सम्यग्मिथ्यात्व का उदय सम्यग्दर्शन का निरन्वय विनाश नहीं करता तो उसको सर्वघाति क्यों कहा गया ?

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं, क्योंकि वह सम्यग्दर्शन की पूर्णता का प्रतिबन्ध करता है इस अपेक्षा से सम्यग्मिथ्यात्व को सर्वघाति कहा है^१ ।

शङ्का—जिसप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व के उदयसे मिथ्यात्वका बन्धक होता है उसीप्रकार क्या सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्मिथ्यात्व के उदयसे सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति को बांधता है या नहीं ?

समाधान—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति को नहीं बांधता, क्योंकि सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों में दर्शनमोहनोदके बन्धके अभावका मुक्त कण्ठ होकर इस "सम्मामिच्छादृष्टी दंसणमोहस्सऽबन्धगो होइ"^२ इत्यादि गाथा सूत्र में उपदेश दिया गया है । (ज. ध. पु. १२ पृ. ३१३) दूसरे सम्यग्मिथ्यात्व बन्ध योग्य प्रकृति नहीं है इसलिये भी उसका बन्ध सम्भव नहीं है^३ ।

जो सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव है वह या तो साकारोपयोगवाला होता है या अनाकार उपयोगवाला होता है, क्योंकि दोनों ही उपयोगों के साथ सम्यग्मिथ्यात्व गुण की प्राप्ति होने में विरोध का अभाव है । दर्शनमोह की उपशमना में प्रवृत्त हुए जीव के प्रथम अवस्था में जिसप्रकार उपयोग का नियम है उसप्रकार सम्यग्मिथ्यात्व

१. ध. पु. १ सूत्र ११ की टीका पृ. १६६ ।

२. क. पा. गा. १०२ ।

३. गो. क. गाथा ३७ ।

में नियम नहीं है, किन्तु दोनों ही उपयोगों के साथ सम्यग्मिथ्यात्व गुरण को प्राप्त होता है^१ ।

जो जीव सम्यग्दृष्टि होकर और आगामी आयु को बांधकर सम्यग्मिथ्यात्व भाव को प्राप्त होता है वह सम्यक्त्व के साथ ही मरण को प्राप्त होकर उस गति से निकलता है । अथवा जो मिथ्यादृष्टि होकर और आगामी आयु का बंध करके सम्यग्मिथ्यात्वभाव को प्राप्त होता है वह मिथ्यात्व के साथ ही मरण को प्राप्त हो उस गतिसे निकलता है^२ । सम्यग्मिथ्यात्व में मरण नहीं है और आयु बन्ध भी नहीं है^३ ।

अब मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयका कार्य को गाथाओंमें कहते हैं—

‘मिच्छत्तं वेदन्तो जीवो विवरीयदंसणं होदि ।

ए य धम्मं रोचेदि हु मधुरं खु रसं जहा जुरिदो ॥१०८॥

‘मिच्छाइट्ठी जीवो’ उवइट्ठं पवयणं ए सहइदि ।

सहइदि असब्भार्थं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥१०९॥

अर्थ—मिथ्यात्व का वेदन करनेवाला जीव विपरीत श्रद्धानवाला होता है । जैसे ज्वर से पीड़ित मनुष्य को मधुर रस नहीं रुचता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि को धर्म नहीं रुचता । मिथ्यादृष्टिजीव नियम से उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान नहीं करता, उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भाव का श्रद्धान करता है ।

विशेषार्थ—उपर्युक्त गाथा संख्या १०८ जयधवल पु. १२ पृ. ३२३ पर उद्धृत गाथा नं. २ के समान है तथा गाथा १०९ कषायपाहुड़ के गाथा १०८ के सदृश होने से कषायपाहुड़ गाथा १०८ के अनुसार यहां विशेषार्थ दिया जा रहा है ।

१. ज. ध. पु. १२ पृ. ३२४ ।

२. ध. पु. ५ पृ. ३१ ध. पु. ४ पृ. ३४३ ।

३. ध. पु. ७ पृ. ४५८; ध. पु. ४ पृ. ३४३; गो. जी. गाथा २४ ; मिश्रगुणस्थानमें मारणान्तिक समुद्घात भी नहीं होता है ।

४. ज. ध. पु. १२ पृ. ३२३ ।

५. ज. ध. पु. १२ पृ. ३२२ मा १०८ ।

६. ‘णिघमा’ इति पाठान्तरम् ।

जो नियम से मिथ्यादृष्टि जीव है वह नियम अर्थात् निश्चय से जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान नहीं करता है ।

शङ्का—इसका क्या कारण है ?

समाधान—क्योंकि वह दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व) के उदय के कारण विपरीत अभिनिवेशवाला है । इसलिये वह 'सद्दृष्टि असम्भवं' अपरमार्थ स्वरूप असद्भूत अर्थ का ही मिथ्यात्वोदयवश श्रद्धान करता है । वह 'उद्विष्ट' वा अणुवद्विष्ट' अर्थात् उपदिष्ट या अनुपदिष्ट दुर्गमिका ही दर्शनमोह (मिथ्यात्व) के उदयसे श्रद्धान करता है । इसके द्वारा व्युद्ग्राहित और इतर इन दो भेदों से मिथ्यादृष्टि का कथन किया गया है । कहा भी है—

तं मिच्छत्त' जमसद्दृष्टं तच्चार्णं होइ अत्थाणं ।

संसङ्गमभिगृह्यं अणमभिगृह्यं ति तं तिविहं ॥

अर्थ—तत्त्वों का और अर्थों का जो अश्रद्धान है वह मिथ्यात्व है । संशयिक, अभिगृहीत और अनभिगृहीत के भेद से वह मिथ्यात्व तीन प्रकार का है ।

जिसप्रकार पित्तज्वर वाले मनुष्य को दूध आदि मधुर पदार्थ रुचिकर नहीं होते, क्योंकि पित्त के कारण मिष्ट पदार्थ भी कटुक प्रतीत होता है । इसीप्रकार मिथ्यादृष्टिजीव को तत्त्वार्थ का यथार्थ उपदेश रुचिकर नहीं होता, क्योंकि उसके हृदय में मिथ्याश्रद्धान बैठा हुआ है । इसलिये उसको मिथ्यामार्ग ही रुचता है ।

["जीवादि नौ पदार्थ का स्वरूप जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ यथार्थ है या नहीं" इत्यादिरूप से जिसका श्रद्धान दोलायमान हो रहा है वह संशयिक मिथ्यादृष्टि है । जो कुमागियों के द्वारा उपदिष्ट पदार्थों का श्रद्धान करता है वह अभिगृहीत मिथ्यादृष्टि है । जो उपदेश के बिना शरीर आदि में अपनेपत की कल्पना करता है वह अनभिगृहीत मिथ्यादृष्टि है' ।]

“प्रथमोपशमसम्यक्त्व चूलिका”

लब्धिसार ग्रन्थ में १०६ गाथाओं द्वारा प्रथमोपशम सम्यक्त्व नामक प्रथम अधिकार समाप्त हो चुका है, किन्तु कषायपाहुड़ ग्रन्थ में प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्बन्ध में निम्न गाथाओं में कुछ विशेष वर्णन किया गया है अतः उसे उपयोगी जानकर टीका सहित यहाँ पर प्रथमोपशमसम्यक्त्व चूलिका के रूप में उद्धृत किया गया है—

सर्वेहि द्विविसेसेहि उवसंता होंति तिणि कम्मंसा ।

एक्कमिह य अणुभागे णियमा सर्वे द्वि विसेसा ॥१॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्म की तीनों प्रकृतियां सभी स्थिति विशेषों के साथ उपशान्त रहती हैं तथा सभी स्थिति विशेष नियमसे एक अनुभागमें अवस्थित रहते हैं ।

विशेषार्थ—यह कषायपाहुड़ की १०० वीं गाथा है । इस गाथासूत्र में ‘तिणि कम्मंसा’ ऐसा कहने पर मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि दर्शनमोह की उपशमना का प्रकरण है । ये तीनों ही कर्म-प्रकृतियां सभी स्थिति विशेषों के साथ उपशान्त रहती हैं, उनकी एक भी स्थिति अनुपशान्त नहीं होती । अतः मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की जघन्यस्थिति से लेकर उत्कृष्टस्थिति तक इन सब स्थिति विशेषों में स्थित सब परमाणु उपशान्त होते हैं यह सिद्ध हुआ । इसप्रकार उपशान्त हुए उन सब स्थिति विशेषों का अनुभाग एक प्रकार का ही है । ‘एक्कमिह य अणुभागे’ एक ही अनुभाग विशेष में इन तीनों कर्म प्रकृतियों के सब स्थिति विशेष होते हैं । अन्तरायाम के बाहर अनन्तरवर्ती जघन्य स्थिति विशेष में जो अनुभाग है वही उससे उपरिम उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त समस्त स्थिति विशेषों में होता है, अन्य नहीं होता । मिथ्यात्व का तो घात करने से शेष रहा सर्वघाति द्विस्थानीय अनुभाग सब स्थिति विशेषों में अवस्थित रूप से स्थित रहता है । इसीप्रकार सम्यग्मिथ्यात्व का भी जानना चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि मिथ्यात्व के अनुभाग से यह अनन्तगुणा हीन होता है । सम्यक्त्व का अनुभाग तो उससे भी अनन्तगुणा हीन होता है, जो देशघाति द्विस्थानीयरूप होकर दाह समान अनुभाग के अनन्तवैभागरूप से अवस्थित उत्कृष्ट स्वरूप एक प्रकार का सर्वत्र होता है ।

सम्यक्तपदमलंभो सत्त्वोवसमेण तह विद्यद्वेण ।

भजियच्चो य अभिवक्खं सत्त्वोवसमेण देसेण ॥२॥

अर्थ—सम्यक्त्व का प्रथम लाभ सर्वोपशम से ही होता है तथा विप्रकृष्ट जीव के द्वारा भी सम्यक्त्व का लाभ सर्वोपशम से ही होता है, किन्तु शीघ्र ही पुनः पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला जीव सर्वोपशम और देशोपशम से भजनीय है ।

विशेषार्थ—यह कषायपाहुड़ की १०४ वीं गाथा है । अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को जो सम्यक्त्व का प्रथम लाभ होता है वह सर्वोपशम से ही होता है, क्योंकि उसके अन्यप्रकार से सम्यक्त्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है । 'तह विद्यद्वेण' मिथ्यात्व को प्राप्त हो जो बहुत काल के पश्चात् सम्यक्त्व को प्राप्त करता है वह भी सर्वोपशम से ही प्राप्त करता है । इसका भावार्थ इस प्रकार है—सम्यक्त्व को ग्रहणकर पुनः मिथ्यात्व को प्राप्त होकर सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति की उद्वेलना कर पत्योपम के असंख्यातवैभाग प्रमाण काल द्वारा या अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल द्वारा जो सम्यक्त्वको प्राप्त करता है वह भी सर्वोपशम से ही प्राप्त करता है ।

'भजियच्चो य अभिवक्खं' जो सम्यक्त्वसे पतित होता हुआ पुनः पुनः सम्यक्त्व-ग्रहण के अभिमुख होता है, वह सर्वोपशम से अथवा देशोपशमसे सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, क्योंकि यदि वह वेदक प्रायोग्यकाल के भीतर ही सम्यक्त्व को प्राप्त करता है तो देशोपशम से, अन्यथा सर्वोपशमसे प्राप्त करता है' । इसप्रकार वहाँ भजनीयपना देखा जाता है । तीनों (मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व) कर्म प्रकृतियों के उदयाभावका नाम सर्वोपशम है और सम्यक्त्वप्रकृति के देशघातिस्पर्धकों का उदय देशोपशम कहलाता है^१ ।

✓ मिच्छसत्वेदशीयं कम्म उवसावगस्स बोद्धव्वं ।

उवसंते आसाणे तेण परं होवि भजिदच्चो ॥३॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय का उपशम करने वाले जीव के मिथ्यात्वकर्म का उदय जानना चाहिए । दर्शनमोह की उपशान्त अवस्था में मिथ्यात्वकर्म का उदय नहीं होता । उपशमसम्यक्त्व की आसादना के अनन्तर उसका (मिथ्यात्वका) उदय भजनीय है ।

१. गो. क. गा. ६१४-१५ ।

२. ज. ध. पु. १२ पृ. ३१६-१७ ।

विशेषार्थ—यह गाथा कषायपाहुड़ की ६६ वीं गाथा है । इस गाथा द्वारा यह बतलाया गया है कि दर्शनमोहनीय के उपशामक जीव का जब तक अन्तर में प्रवेश नहीं होता, तब तक उसके मिथ्यात्व का उदय नियम से होता है उसके पश्चात् उपशम सम्यक्त्वकाल के भीतर मिथ्यात्व का उदय नहीं होता, परन्तु उपशमसम्यक्त्वकाल के समाप्त होने पर मिथ्यात्व का उदय भजनीय है । इसप्रकार इस गाथा द्वारा तीन विशेष अर्थ कहे गये हैं । तद्यथा—‘मिच्छत वेदनीयं कर्म’ ऐसा कहने पर जिस कर्म के द्वारा मिथ्यात्व वेदा जाता है वह मिथ्यात्ववेदनीयकर्म उदय अवस्था से युक्त उपशामक के नियम से होता है ऐसा जानना चाहिये । इसप्रकार गाथा के पूर्वार्ध का पद सम्बन्ध है । इसलिये मिथ्यात्वकर्म का उदय दर्शनमोह के उपशामक के नियम से होता है ।

शंका—सूत्र द्वारा अनुपदिष्ट उदय विशेषण कैसे उपलब्ध होता है ?

समाधान—ऐसी आशङ्का नहीं करना चाहिये, क्योंकि अर्थ के सम्बन्ध से ही उसप्रकार के विशेषण की यहां उपलब्धि होती है । अथवा जो वेदा जावे वह वेदनीय है । मिथ्यात्व ही वेदनीय मिथ्यात्ववेदनीय है । उदय अवस्था से परिणत मिथ्यात्वकर्म, यह इसका तात्पर्य है । वह उपशम करनेवाले जीव के होता है । इसप्रकार उक्त विशेषण सूत्रोक्त हो जानना चाहिए ।

‘उवसंते आसाणे’ ऐसा कहने पर दर्शनमोहनीय की उपशान्त अवस्थामें उपशमसम्यग्दृष्टिपने को प्राप्त हुए जीव के मिथ्यात्व वेदनीयकर्म के उदयका आसान अर्थात् विनाश ही रहता है, क्योंकि अन्तर प्रवेशरूप अवस्थामें उसके उदयका अत्यन्त-भाव होने से उसका उदय निषिद्ध ही है तथा उसका अनुदय ही उपशान्तरूपसे यहां पर विवक्षित है । अथवा ‘उवसंते’ अर्थात् उपशमसम्यक्त्व काल के भीतर तथा ‘आसाणे’ अर्थात् सासादनकाल के भीतर मिथ्यात्वका उदय नहीं है । इसप्रकार वाक्यशेष के वश से सूत्र का अर्थके साथ सम्बन्ध करना चाहिए ।

‘तेण परं होवि भजिदव्वो’ ऐसा कहने पर उपशमसम्यक्त्वकाल के समाप्त होने पर तदनन्तर मिथ्यात्वकर्म के उदयसे वह भजनीय है, क्योंकि मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व में से अन्यतर के उदय का वहां विरोध नहीं पाया जाता है अर्थात् इन तीनों में से किसी एक का उदय अवश्य होता है ।

मिच्छत्तपचयो खलु बंधो उवसाभगस्त बोद्धव्यो ।

उवसंते आसाणे तेण परं होवि भजिवण्णो ॥४॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयका उपशम करने वाले जीवके नियम से मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध जानना चाहिए, किन्तु उसके उपशान्त रहते हुए मिथ्यात्वनिमित्तक बन्ध नहीं होता तथा उपशान्त अवस्था के समाप्त होने के पश्चात् मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध भजनीय है ।

विशेषार्थ—यह कषायपाहुड़ की १०१ वीं गाथा है । मिथ्यात्व है प्रत्यय अर्थात् कारण जिसका वह खलु अर्थात् स्पष्टरूप से मिथ्यात्व प्रत्यय बन्ध है, जो दर्शनमोह उपशामक के प्रथमस्थिति के अन्तिम समय तक होता है ।

शंका—मिथ्यात्व प्रत्ययबन्ध किन कर्मों का होता है ?

समाधान—मिथ्यात्व और ज्ञानावरणादि शेष कर्मों का मिथ्यात्वप्रत्यय बंध होता है । यद्यपि यहां पर (मिथ्यात्वगुणस्थानमें) शेष असंयम, कषाय और योग का भी प्रत्ययपना है तथापि मिथ्यात्व की ही प्रधानता की विवक्षामें इसप्रकार कहा गया है, क्योंकि ऊपरके गुणस्थानों में मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध के अभाव का कथन करने-वाला यह वचन है ।

‘उवसंते आसाणे’ दर्शनमोहनीय के उपशान्त होने पर अन्तरायाम में प्रवेश करनेके प्रथम समय से लेकर मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध का आसान अर्थात् विनाश ही है । वहां मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध नहीं है यह उक्त कथन का तात्पर्य है । अथवा ‘उवसंते’ दर्शनमोहनीय का उपशम होने पर सम्यग्दृष्टि जीव के और ‘आसाणे’ अर्थात् सासादन सम्यग्दृष्टि जीव के मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध नहीं होता इतना वाक्यशेष का योग करके सूत्रार्थ का समर्थन करना चाहिए ।

‘तेण परं होवि भजिवण्णो’ अर्थात् उपशमसम्यक्त्वकाल के समाप्त होने पर मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध भजनीय है, क्योंकि उपशमसम्यक्त्व कालके क्षीण होने पर दर्शनमोह की तीनों प्रकृतियों में से किसी के होने पर कदाचित् (मिथ्यात्वोदय होने पर) मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध होता है, कदाचित् (सम्यक्त्व या सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय होने पर) अन्य (असंयम, कषाय, योग) निमित्तक बन्ध होता है । अतः

उपशम सम्यक्त्व काल के पश्चात् मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध भजनीय होने में विरोध उपलब्ध नहीं होता^१

सम्मतपठमसंभस्साणंतरं पच्छदो य मिच्छत् ।

लंभस्स अपठमस्स दु भजिवट्ठो पच्छदो होदि ॥५॥

अर्थ—सम्यक्त्व के प्रथम लाभ (उपशमसम्यक्त्व) के अनन्तर (पच्छदो) पूर्व मिथ्यात्व ही होता है । अप्रथमलाभ (क्षयोपशम सम्यक्त्व) के (पच्छदो) पूर्व मिथ्यात्व भजनीय है ।

विशेषार्थ—यह कषायपाहुड़ की १०५ वीं गाथा है । 'पच्छदो' यद्यपि 'पश्चात्' का वाचक है, किन्तु यहां पर 'पीछे' का वाचक शब्द ग्रहण करके 'पूर्व' अर्थ किया गया है, क्योंकि प्रथमोपशमसम्यक्त्व के पश्चात् मिथ्यात्व का नियम नहीं है, सम्यक्त्व या सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति का भी उदय हो सकता है जैसा कि उपरोक्त गाथा ३ व ४ में कहा गया है, किन्तु प्रथमोपशमसम्यक्त्व से अनन्तरपूर्व मिथ्यात्व का उदय नियमसे होता है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व ग्रहण के अभिमुख हो सकता है, अन्य नहीं । अतः यहां पर 'पच्छदो' का 'पीछे' अर्थात् सम्यक्त्व से पूर्व क्या अवस्था थी इस बात का ज्ञान कराने के लिये 'पूर्व' अर्थ किया गया है । इसका समर्थन कषायपाहुड़ की जयधवल टीका से भी होता है जो इसप्रकार है—

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यक्त्व का जो प्रथम लाभ होता है उसके 'अणंतर पच्छदो' अनन्तरपूर्व पिच्छली अवस्थामें मिथ्यात्व ही होता है, क्योंकि उसके प्रथमस्थिति के अन्तिम समयतक मिथ्यात्वके अतिरिक्त प्रकारान्तर सम्भव नहीं है । 'लंभस्स अपठमस्स दु' अर्थात् जो नियमसे अप्रथम सम्यक्त्व का लाभ है उसके अनन्तर पूर्व अवस्था में मिथ्यात्व का उदय भजनीय है । कदाचित् मिथ्यादृष्टि होकर वेदक-सम्यक्त्व (क्षयोपशम सम्यक्त्व) या प्रथमोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त करता है और कदाचित् सम्यग्मिथ्यादृष्टि होकर वेदकसम्यक्त्व को प्राप्त करता है^२ ।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व से गिरने का कथन—

यहां उपशम सम्यक्त्व के रहते हुए जितना अन्तरकाल समाप्त हुआ है उससे जो अन्तरकाल शेष बचा रहता है वह उपशमसम्यक्त्व के काल से संख्यातगुण होता है ।

१. ज. व. पु. १२ पृ. ३११-१२ ।

२. ज. ध. पु. १२ पृ. ३१७; घ. पु. २ पृ. २६८; घ. पु. ६ पृ. २४२; क. पा. सुत्त पृ. ६३५ ।

शंका—यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—दर्शनमोहनीय की उपशामता के सम्बन्धमें जो पंचविंशति (२५) स्थानीय अल्पबहुत्वदण्डक कहा गया है उससे यह जाना जाता है ।

जो मिथ्यादृष्टि हो गया है वह मिथ्यात्वको प्राप्त होने के प्रथमसमय में अन्तरकाल के ऊपर दूसरी स्थिति में स्थित प्रथम निषेक से लेकर मिथ्यात्व की अन्त-कोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थिति के अन्तिम निषेक तक जितनी स्थितियां हैं उन सबके कर्म-परमाणुओं में पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण अपकर्षण-उत्कर्षण भागहार का भाग देकर वहां जो एक भाग प्राप्त होता है उसे अन्तर को पूरा करने के लिये अपकर्षित करता है, फिर इसप्रकार अपकर्षित हुए द्रव्यमें असंख्यातलोकप्रमाण भागहार का भाग देकर जो एकभाग प्राप्त हो उसमें से बहुभाग उदय में देता है । दूसरे समयमें विशेष हीन देता है । यह विशेष का प्रमाण निषेक भागहार से ले आना चाहिए । इसप्रकार उदयावलि के अन्तिम समय तक विशेष हीन विशेष हीन द्रव्य देना चाहिये । यहां उदय समय से लेकर उदयावलि के अन्तिम समयतक असंख्यातलोक प्रतिभाग से प्राप्त हुआ एकभाग प्रमाण द्रव्य समाप्त हो जाता है । फिर शेष असंख्यात बहुभागप्रमाण द्रव्य में से उपरिम अनन्तरवर्ती स्थिति में^१ असंख्यातगुणों द्रव्य का निक्षेप करता है ।

शङ्का—यहां गुणकार का प्रमाण क्या है ?

समाधान—असंख्यातलोक ।

फिर इससे आगे की स्थिति में दोगुणाहानिप्रमाण निषेकभागहार की अपेक्षा विशेषहीन द्रव्यका निक्षेप करता है । इसप्रकार यह कम अनन्तरकाल के अन्तिम समय तक प्रारम्भ रहता है । इससे आगे की उपरिम स्थितिमें दृश्यमान कर्मपरमाणुओं के ऊपर असंख्यातगुणों हीन द्रव्यका निक्षेप करता है फिर इससे आगे अतिस्थापनावलि के प्राप्त होने के पहले तक पूर्वविधि से विशेषहीन विशेषहीन द्रव्य का निक्षेप करता है^२ ।

इसप्रकार दर्शनमोहोपशामता अधिकार पूर्ण हुआ ।

१. अन्तर अवस्थानापेक्षा ।

२. ज. घ. पु. ७ पृ. ३१५-१६ ।

“अथ क्षायिकसम्यक्त्व प्ररूपणा अधिकार”

अब क्षायिक सम्यक्त्वोत्पत्तिको सामग्रीका कथन करते हैं—

दर्शनमोहक्षयवणापट्टवगो कर्मभूमिजो मणुसो ।

तिथ्यरपायमूले केवलिसुदकेवलीमूले ॥११०॥ ✓

अर्थ—कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ मनुष्य तीर्थङ्कर के या अन्यकेवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल में दर्शनमोहकी क्षपणा का प्रस्थापक-प्रारम्भ करनेवाला होता है ।

विशेषार्थ—इस गाथा द्वारा दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है । यह निश्चय किया गया है, क्योंकि अकर्मभूमिज (भोगभूमिज) मनुष्य के दर्शनमोह की क्षपणा करने की शक्तिका अत्यन्त अभाव होने के कारण वहां उसका निषेध किया गया है । इसलिये शेष गतियोंमें दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रतिषेध होनेसे मनुष्यगतिमें ही विद्यमान जीव दर्शनमोहकी क्षपणा प्रारम्भ करता है । मनुष्य भी कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ ही होना चाहिए अकर्मभूमिमें नहीं ऐसा यहां अर्थग्रहण करना चाहिए । कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ मनुष्य भी तीर्थङ्कर, केवली और श्रुतकेवली के पादमूलमें अवस्थित होकर दर्शनमोहकी क्षपणा प्रारम्भ करता है, अन्यत्र नहीं, क्योंकि जिसने तीर्थङ्करादि के माहात्म्यका अनुभव नहीं किया है उसके दर्शनमोहनीय की क्षपणाके कारणभूत करण-परिणामोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती^१ ।

अधःकरण के प्रथम समयसे लेकर मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के द्रव्य का सम्यक्त्वप्रकृतिरूप होकर संक्रमण करने तक अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यंत दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रारम्भक कहा जाता है^२ । जिस कर्म के उदय से जीव मिथ्यात्व परिणाम का वेदन करता है उस कर्मको मिथ्यात्वकर्म कहते हैं । उसके अपवर्तित होने पर अर्थात् सर्वसंक्रम द्वारा संक्रमित होनेपर वहांसे लेकर यह जीव दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक इस संज्ञाको प्राप्त होता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है^३ । परन्तु उसका अप-

१. ज. घ. पु. १३ पृ. २ देखो गाथा ११० कषायपाट्टव ।

२. लब्धिसार गाथा ११० की टीका ।

३. क. पा. सुत्त पृ. ६४० ।

वर्तनकर' किसमें संक्रमित करता है' ऐसा पूछने पर 'सम्मते' अर्थात् सम्यक्त्व कर्मप्रकृति में संक्रमित करता है यह निर्देश किया है^१ ।

मिथ्यात्वका पूरा द्रव्य संक्रमण करने के बाद स्थित हुई सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की ही मिथ्यात्व संज्ञा है^२ । ऐसे जीवके जघन्यसे तेजोलेश्या होनी चाहिए । दर्शनमोहकी क्षपणा करते समय सर्वत्र ही वर्तमान शुभ तीन लेश्याओं में से अन्यतर लेश्या वाला ही होता है, अन्य लेश्या वाला नहीं होता, क्योंकि विशुद्धि के विरुद्ध स्वभाववाली कृष्ण, नील, कापीत लेश्याओंका वहां अत्यन्त अभाव होने से निषेध है । अतः विशुद्धरूप परिणामों में से जघन्यरूप मन्दपरिणामों में विद्यमान दर्शनमोहनीयका क्षपकजीव भी तेजोलेश्या का उल्लंघन नहीं करता है^३ ।

अब दर्शनमोहकी क्षपणा करनेवाले प्रस्थापक-निष्ठापकके सम्बन्धमें विशेष कथन करते हैं—

शिष्टवगो^४ तद्वाणे विमाणभोगावणीसु धम्मे य ।

किदकरणिज्जो चदुसु वि गदीसु उत्पज्जदे जम्हा ॥१११॥ —

अर्थ—प्रारम्भक काल के अनन्तर समय से लगाकर क्षायिकसम्यक्त्व ग्रहण के समय से पहले तक निष्ठापक होता है । यह निष्ठापक जहां दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ हुआ वहां ही या सौधर्मादिस्वर्गोंमें^५ या कल्पातीत विमानों में या भोग-भूमिज् मनुष्य-तिर्यचों में अथवा प्रथम घर्मानरक में होता है; अर्थात् निष्ठापक इतनी जगह हो सकता है, क्योंकि बद्धायुष्क कृतकृत्य वेदक सम्यक्त्वो मरकर चारों गतियों में उत्पन्न होता है ।

विशेषार्थ—दर्शनमोहकी क्षपणाको उद्यत हुए जीवके 'प्रस्थापक' संज्ञा कब प्राप्त होती है, यह पूर्व में कहा ही जा चुका है । यथा—जब मिथ्यात्व प्रकृति के सर्व-

१. ज. घ. पु. १३ पृ. ५ ।

२. क. पा. सुत्त. पृ. ४६० ।

३. ज. घ. पु. १३ पृ. ६ ।

४. "शिष्टवगो चावि सव्वत्थ" । अर्थात् दर्शनमोहकी क्षपणाका निष्ठापक चारों गतियोंमें होता । (क. पा. गा. ११०; जीवस्थान जूलिका ६ सूत्र १२; घ. पु. ६ पृ. २४७)

५. लेकिन भवन अर्कों और देवियों को छोड़कर (ज. घ. पु. १३ पृ. ४)

द्रव्यको सम्यग्मिथ्यात्व में संक्रमण कर देता है और उसके पश्चात् जब सम्यग्मिथ्यात्व के सर्वद्रव्य को सम्यक्त्वप्रकृति में संक्रमण करता है, तब उसे 'प्रस्थापक' यह संज्ञा प्राप्त होती है^१ । [तथा मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय करके कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि होने के बाद यह जीव दर्शनमोहनीयको क्षपणाका निष्ठापक कहलाता है । इसप्रकार प्रस्थापक-निष्ठापक भेद कहा गया ।

प्रस्थापक कौन होता है, यह पूर्व में कहा ही जा चुका है । निष्ठापक कहां-कहां पर स्थित जीव हो सकता है, यह बात इस गाथा में मूल में ही बताई जा चुकी है । जो बुद्ध विषेय है उसे यहाँ पर कहा जाता है—

[यह कृतकृत्य जीव यदि प्रथमसमय में मरता है तो नियम से देवों में उत्पन्न होता है^२] अर्थात् कृतकृत्य होने के प्रथमसमय में ही यदि मरण करता है तो नियम से देवगति में ही उत्पन्न होता है, अन्य गतियों में नहीं । इसका भी कारण यह है कि अन्यगतियों में उत्पत्ति को कारणभूत लेश्या का परिवर्तन उस समय असम्भव है^३ । इसी प्रकार कृतकृत्य जीव के तत्प्रायोग्य अन्तर्मुहूर्तप्रमाण काल के अन्तिमसमयतक द्वितीयादि समयों में भी देवों में ही उत्पत्ति का नियम जानना चाहिये । उसके बाद मरण करने वाला कृतकृत्य जीव शेष गतियों में भी, पहले बांधी आयु के कारण उत्पत्ति के योग्य होता है । कहा भी है [“यदि नारकियों में, तिर्यच्योनियों में और मनुष्य में उत्पन्न होता है तो नियम से कृतकृत्य होने के अन्तर्मुहूर्त काल बाद ही उत्पन्न होता है”^४] क्योंकि अन्तर्मुहूर्त के बिना उक्त गतियों में उत्पत्ति के योग्य लेश्याका परिवर्तन उस समय सम्भव नहीं है । इसका भी कारण यह है कि कृतकृत्य होने पर यदि लेश्या का परिवर्तन होगा, तो भी पूर्व में चली आई हुई लेश्या में वह अन्तर्मुहूर्त तक रहेगा, तत्पश्चात् ही लेश्या-परिवर्तन सम्भव है । शेष कथन सुगम है ।

आगे ५ गाथाओं में अनन्तानुबन्धोकी विसंयोजनासम्बन्धी कथन करते हैं—

पुनर्वं तिरयणविहिता अरां खु अणियट्टिकरणचरिमम्हि ।

उदयावलिवाहिरगं ठिदि विसंजोजदे णियमा ॥११२॥

१. क. पा. सुत्त पृ. ६४० ।

२. क. पा. सुत्त पृ. ६५४ सूत्र ८७ ।

३. ज. ध. पु. १३ पृ. ८७ ।

४. क. पा. सुत्त पृ. ६५४; ज. ध. पु. १३ पृ. ८७ ।

अणियट्टीअद्धाए अणस्स चत्तारि होति पव्वाणि ।
 सायरलक्खपुधत्तं पल्लं दूरावकिट्ठि उच्छिद्धं ॥११३॥
 पल्लस्स संखभागे संखा भागा असंखगा भागा ।
 ठिदिखंडा होति कमे अणस्स पव्वादु पव्वोत्ति ॥११४॥
 अणियट्टीसंखेज्जा भागेषु गदेषु अणगठिदिसत्तो ।
 उदधिसहस्सं तत्तो वियले य समं तु पल्लादी ॥११५॥
 उवहिसहस्सं तु सयं पणं पणवीसमेक्कयं चेव ।
 वियलच्चउक्के एगे मिच्छुक्कस्सट्ठिदी होदि ॥११६॥

अर्थ—दर्शनमोह की क्षपणाके पहले तीनकरण विधान द्वारा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ की उदयावलिसे बाह्य की स्थितिका अनिवृत्तिकरणके अन्त समयमें नियमसे विसंयोजन करता है ।

अनिवृत्तिकरणकाल में अनन्तानुबन्धीकषायके पृथक्त्वलक्षसागर, पत्यप्रमाण, दूरापकृष्टिप्रमाण और उच्छिष्टावलि प्रमाणरूप चार स्थितिसत्त्व होते हैं ।

अनन्तानुबन्धीके स्थितिसत्त्वके प्रथम पर्वसे दूसरे पर्व पर्यन्त, दूसरे से तीसरे पर्व पर्यन्त और तीसरे से चौथे पर्व पर्यन्त जो स्थितिकांडक होते हैं उनका आध्यात्म क्रम से पत्यका संख्यातवांभाग, पत्यका संख्यात बहुभाग और पत्यका असंख्यात बहुभागमात्र है ।

अनिवृत्तिकरणकालके संख्यात बहुभाग व्यतीत होने पर एक भाग अवशिष्ट रहनेपर अनन्तानुबन्धीका स्थितिसत्त्व एक हजारसागर प्रमाण, पश्चात् विकलेन्द्रियके बन्ध समान, पश्चात् पत्य और आदि शब्दसे दूरापकृष्टि और आवलिमात्र होता है ।

विकल चतुष्क अर्थात् असंज्ञी पंचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय के मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध क्रमसे एकहजारसागर, सौ सागर, पचास सागर, पच्चीससागर और एक सागरप्रमाण होता है । इन्हीं के समान अनन्तानुबन्धी का स्थितिसत्त्व होता है । इसका कथन पूर्व में किया ही है ।

विशेषार्थ—अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों ही करणोंको; असंयत, देशसंयत, प्रमत्त और अप्रमत्तसंयत जीव करके अनन्तानुबन्धी की

विसंयोजना करता है । इन करणोंका लक्षण दर्शनमोहकी उपशामनामें जिसप्रकार कहा गया है उसीप्रकार यहां जानना चाहिये, क्योंकि कोई विशेषता नहीं है । अधः-प्रवृत्तकरणरूप विशुद्धि द्वारा अन्तर्मुहूर्त कालतक विशुद्ध होने वाले जीवके प्रतिसमय केवल अनन्तगुणी विशुद्धि से विशुद्ध होता जाता है । अधःप्रवृत्तकरण में स्थितिघात, अनुभागघात, गुणश्रेणि और गुणसंक्रमण नहीं होता, क्योंकि अधःप्रवृत्तकरणरूप विशुद्धि स्थितिघात आदि का कारण नहीं है । हजारों स्थितिबन्धापसरण, अशुभकर्मों का प्रतिसमय अनन्तगुणीरूप से अनुभागबन्धापसरण और शुभ कर्मोंका अन्तगुणी वृद्धिरूप से चतुःस्थानीय अनुभागबन्ध यह अधःप्रवृत्तकरण विशुद्धियोंका फल जानना चाहिये^१ ।

अपूर्वकरणमें स्थितिघात, अनुभागघात, गुणश्रेणि और गुणसंक्रमण है । यहां की गुणश्रेणि सम्यक्त्वकी उत्पत्ति, संयतासंयत और संयतसम्बन्धी गुणश्रेणियोंमें प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यातगुणी है^२ तथा उनके आयामसे संख्यातगुणी हीन है । परन्तु गुणसंक्रमण अनन्तानुबन्धियोंका ही होता है, अन्य कर्मोंका नहीं होता ऐसा कहना चाहिए । इसप्रकार प्रत्येक हजारों अनुभागकांडकोंके अविनाभावी ऐसे स्थितिबन्धापसरणोंके साथ होनेवाले हजारों स्थितिकाण्डकों के द्वारा अपूर्वकरणके कालको समाप्त करता है । अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें जो स्थितिबन्ध और स्थितिसत्कर्म होता है उससे उसके अन्तिम समयमें स्थितिबन्ध और स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणा हीन होता है । तत्पश्चात् प्रथमसमयवर्ती अनिवृत्तिकरणवाला हो जाता है । तब अनन्तानुबन्धियोंका स्थितिसत्कर्म अन्तःकोड़ाकोड़ीके भीतर लक्षपृथक्त्वसागरोपमप्रमाण होता है । शेष कर्मोंका अन्तः-कोड़ाकोड़ीके भीतर होता है । फिर भी अनिवृत्तिकरणमें प्रविष्ट हुए जीवके भी इसीप्रकार स्थितिकांडक, अनुभागकांडक, स्थितिबन्धापसरण, गुणश्रेणिनिर्जरा और गुणसंक्रमण परिणाम व्यामोहके बिना जानना चाहिए^३ ।

अनिवृत्तिकरण में भी पूर्वोक्त स्थितिकांडकघात, अनुभागकांडकघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रमण आदि कार्य होते हैं । [दर्शनमोहकी उपशामना में जिसप्रकार अनिवृत्तिकरणमें अन्तरकरण होता है, उसप्रकार यहां पर नहीं होता है,] क्योंकि दर्शनमोह-

१. ज. घ. पु. १३ पृ. १६८ ।

२. त. सू. अ. ६ सू. ४५ ।

३. ज. घ. पु. १३ पृ. १६९ ।

चारित्रमोहोपशामना और चारित्रमोहक्षपणा में अन्तरकरण सम्भव है, अन्यत्र नहीं ऐसा नियम है^१ । अनिवृत्तिकरणमें हजारों स्थितिकाण्डक और हजारों अनुभागकाण्डकों के हो जानेपर अनिवृत्तिकरणकालका संख्यात बहुभाग बीत जाता है । पश्चात् विशेष घात वश अनन्तानुबन्धी सत्कर्म असंज्ञियोंके स्थितिबन्ध के समान हो जाता है । उसके पश्चात् संख्यातहजार स्थितिकाण्डकों के होने पर स्थिति सत्कर्म चतुरिन्द्रिय जीवोंके स्थितिबन्धके समान होता है । इसप्रकार त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, एकेन्द्रिय के स्थितिबन्धके समान स्थितिसत्कर्म हो जानेपर पुनः पत्योपमप्रमाण स्थितिसत्कर्म हो जाता है । तत्पश्चात् शेष स्थितिके संख्यात बहुभागप्रमाण स्थितिकाण्डक को ग्रहण करता हुआ अनन्तानुबन्धीका दूरापकृष्टिप्रमाण सत्कर्म करके पश्चात् शेष स्थितिके असंख्यात बहु-भागका घात करता हुआ संख्यातहजार स्थितिकाण्डकों के जाने पर अनन्तानुबन्धी के उदयावलि बाह्य समस्त स्थितिसत्कर्मको अनिवृत्तिकरणके अन्तिमसमय में, पत्योपमके असंख्यातवेभागप्रमाण आयामवाले अन्तिम स्थितिकाण्डक सम्बन्धी अन्तिमफालिरूप से बध्यमान शेष कषायों और नो कषायोंमें संक्रमित कर प्रकृत क्रियाओं को समाप्त करता है । इसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकाल तक विश्राम करता है^२ ।

अब अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना वाले जीवके विसंयोजनाके अनन्तर होने वाले कार्यको ११ गाथाओं द्वारा कहते हैं—

अंतोमुहुत्तकालं त्रिस्समिय पुणोवि तिकरणं करिय ।

अणियट्ठीए मिच्छं मिस्सं सम्मं कमेण णासेइ ॥११७॥

^३अणियट्ठिकरणपढमे दंसणमोहस्स सेसगाण ठिदी ।

सायरलक्खपुधत्तं कोडीलक्खगपुधत्तं च ॥११८॥

^४अमणंठिदिसत्तादो पुधत्तमेत्ते पुधत्तमेत्ते य ।

ठिदिखंडेय हवंति हु चउ ति वि एयक्ख पल्लठिदी ॥११९॥

१. ज. ध. पु. १३ प्रस्तावना पृ. २०; ज. ध. पु. १३ पृ. २०० ।

२. ज. ध. पु. १३ पृ. २००-२०१; ध. पु. ६ पृ. २५१ ।

३. ज. ध. पु. १३ पृ. ४१; ध. पु. ६ पृ. २५४ ।

४. ज. ध. पु. १३ पृ. ४१-४२-४३ ।

^१पल्लट्टिदिदो उवरि संखेज्जसहस्समेत्तठिदिखंडे ।
दूरावकिट्ठसणिणद ठिदिसत्तं होदि णियमेण ॥१२०॥

^२पल्लस्स संखभागं तस्स पमाणं तदो असंखेज्जं ।
भागपमाणे खंडे संखेज्जसहस्सगेषु तीदेसु ॥१२१॥

सम्मस्स असंखाणं समयपवद्धाणुदीरणा होदि ।
ततो उवरि तु पुणो बहुखंडे मिच्छुच्छिट्ठं ॥१२२॥

^३जत्थ असंखेज्जाणं समयपवद्धाणुदीरणा ततो ।
पल्लासंखेज्जदिमो हारो णासंखलोगमिदो ॥१२३॥

^४मिच्छुच्छिट्ठादुवरि पल्लासंखेज्जभागिगे खंडे ।
संखेज्जे समतीदे मिसुच्छिट्ठं इवे णियमा ॥१२४॥

^५मिसुच्छिट्ठे समये पल्लासंखेज्जभागिगे खंडे ।
चरिमे पडिदे चेत्ठदि सम्मस्सडवस्सठिदिसत्तो ॥१२५॥

^६मिच्छस्स चरमफालिं मिस्से मिसस्स चरिमफालिं तु ।
संखुहदि हु सम्मत्ते ताहे तेसि च वरदव्वं ॥१२६॥

^७जदि होदि गुणिदकम्मो दव्वमणुक्कस्समणहा तेसि ।
अवरठिदी मिच्छदुगे उच्छिट्ठे समयदुगसेसे ॥१२७॥

अ. पु. १३ पृ. ४४, ५७ ।

अ. पु. १३ पृ. ४८-४९-५७; अ. पु. ६ पृ. २५८ ।

अ. पु. १३ पृ. ४६ ।

अ. पु. १३ पृ. ५३; अ. पु. ६ पृ. २५८ ।

अ. पु. १३ पृ. ५४, ५७ ।

१३ पृ. ५१, ५५ ।

अ. पु. ५१-५२, अ. पु. ६ पृ. २५६-५७-५८ ।

अर्थ—अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त तक विश्राम करके फिर तीन करणोंको करता है । अनिवृत्तिकरणकालमें मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति को नष्ट करता है ॥११७॥

अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमें दर्शनमोहकी स्थिति पृथक्त्व लक्षसागरप्रमाण है और शेष कर्मोंकी स्थिति पृथक्त्व लक्षकोटिसागर प्रमाण है ॥११८॥

दर्शनमोहकी पृथक्त्व लक्षसागरप्रमाण स्थिति प्रथम समयमें सम्भव होती है उससे आगे संख्यातहजार काण्डक होने पर असंज्ञीके बन्धके समान एक हजारसागर स्थितिसत्त्व रहता है । उसके पश्चात् बहुत-बहुत स्थितिकाण्डक हो जाने पर क्रमसे चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रियके स्थितिबन्धके समान सौ सागर, पचास-सागर, पच्चीससागर और एकसागर स्थितिसत्त्व होता है । पश्चात् बहुत स्थितिखण्ड होने पर पत्यप्रमाण स्थितिसत्त्व होता है ॥११९॥

पत्यकी स्थितिसत्त्वके बाद संख्यात बहुभाग आयामवाले संख्यातहजार स्थिति-घात होजाने पर नियमसे दूरापकृष्टि संज्ञावाला स्थितिसत्त्व होता है ॥१२०॥

दूरापकृष्टि नामक स्थितिसत्त्वका प्रमाण पत्यके संख्यातवें भागमात्र है । उससे आगे पत्यमें असंख्यातका भाग देनेपर उसमेंसे बहुभागप्रमाण आयामवाले संख्यातहजार स्थितिकाण्डक होनेपर सम्यक्त्वप्रकृतिके द्रव्यका अपकर्षण किया उसमें असंख्यात समयप्रबद्धप्रमाण उदीरणारूप द्रव्यको उदयावलीमें देता है । इसके पश्चात् बहुत स्थितिखण्डों के द्वारा मिथ्यात्वकी उच्छिष्टावलि अर्थात् उदयावलि मात्र स्थिति रह जाती है ॥१२१-१२२॥

जिस अवसरमें असंख्यात समयप्रबद्धकी उदीरणा होती है उस समयसे उत्तरकालमें उदयावलीमें द्रव्य देने के लिए भागहार पत्यका असंख्यातवां भागमात्र है । पूर्ववत् असंख्यातलोक मात्र नहीं है ॥१२३॥

मिथ्यात्वकी उच्छिष्टावलि स्थितिके बाद पत्यके असंख्यात बहुभागवाले संख्यात स्थितिखण्ड व्यतीत हो जानेपर सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिका नियमसे उच्छिष्टावलि-मात्र स्थितिसत्त्व रहता है ॥१२४॥

जब मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) की उच्छिष्टावलि प्रमाण स्थिति रहती है उसी समयमें रहनेके समयसे सम्यक्त्वप्रकृतिके पत्यके असंख्यात बहुभाग आयामवाले संख्यात

स्थितिघात व्यतीत होकर यहां प्रकृत समयमें होते हैं । अन्तिमकाण्डकके पतन होनेपर सम्यक्त्वकी आठवर्षमात्र स्थिति शेष रहती है^१ ॥१२५॥

मिथ्यात्वप्रकृतिके अन्तिमकाण्डककी चरमफालि जिस समय सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिमें संक्रमित होती है उस समयमें सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिका द्रव्य उत्कृष्ट होता है । तथा सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिकी अन्तिमकाण्डककी चरमफालिका द्रव्य जिससमय सम्यक्त्व-प्रकृतिमें संक्रमित होता है उस समयमें सम्यक्त्वप्रकृतिका द्रव्य उत्कृष्ट होता है ॥१२६॥

दर्शनमोहनीयका क्षय करनेवाला जीव यदि गुणितकर्मणि अर्थात् उत्कृष्ट कर्मसंचय युक्त होता है तो उसके उन दोनों प्रकृतियोंका द्रव्य उस समय उत्कृष्ट होता है और यदि वह जीव उत्कृष्ट कर्मके संचय से युक्त नहीं होता है तो उसको उन्हीं दोनों प्रकृतियोंका द्रव्य वहां अनुत्कृष्ट होता है । तथा मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी स्थिति उच्छिष्टावलिमात्र रही सो क्रमसे एक-एक समयमें एक-एक निषेक गलकर दो समय अवशेष रहनेपर जघन्यस्थिति होती है ॥१२७॥

विशेषार्थ—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के द्वारा दर्शनमोह की क्षपणा होती है । जिसप्रकार दर्शनमोहनीयकर्म की उपशमना में इन तीनोंका लक्षण कहा गया है उसीप्रकार क्षपणामें भी जानना^२ ।

अधःप्रवृत्तकरणमें स्थितिघात, अनुभागघात, गुणश्रेणी और गुणसंक्रमण नहीं है । इतनी विशेषता है कि वह प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि से वृद्धिको प्राप्त होता रहता है । शुभकर्मोंका अनुभाग अनन्तगुणी वृद्धिको लिये हुए बंधता है और अशुभ-कर्मोंका अनुभाग अनन्तगुणी हानि को लिये हुए बंधता है । तथा अन्तर्मुहूर्तकालतक होनेवाले एक स्थितिबन्ध के समाप्त होने पर पत्योपमके संख्यातके भाग हीन-हीन स्थितिबन्ध होता है^३ ।

अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें दो जीवों में से किसी एक स्थितिसत्कर्म से दूसरे जीवका स्थितिसत्कर्म तुल्य भी होता है और संख्यातवां या असंख्यातवांभाग विशेष

१. सम्यग्मिथ्यात्व के उच्छिष्टावली प्रमित स्थिति रहने का तथा सम्यक्त्व प्रकृति की ८ वर्ष स्थिति रहने का एक ही काल है । यह प्रवाह्यमान उपदेश है । ज. ध. १३।५४ क. पा. चूणि ।

२. ज. ध. पु. १२ पृ. १५ ।

३. ज. ध. पु. १३ पृ. २२ एवं ज. ध. पु. ३ पृ. २०३ ।

अधिक भी तथा संख्यातगुणा भी होता है । इसीके अनुसार किसी एकके स्थितिकांडक से दूसरे जीवका स्थितिकांडक तुल्य भी होता है, विशेष अधिक भी होता है, संख्यातगुणा भी होता है^१ । एक साथ ही प्रथम (उपशम) सम्यक्त्वको ग्रहणकर पुनः एक समय ही अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना कर दर्शनमोहकी क्षपणाके लिये उद्यत हुए दो जीवोंका अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें सत्कर्म सदृश होता है तथा स्थितिकांडक भी सदृश होता है^२ । एक जीव दो छ्यासठ सागरोपम तक वेदकसम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्वसहित परिभ्रमण करके दर्शनमोहकी क्षपणाके लिये उद्यत हुआ, दूसरा दो छ्यासठसागर कालतक सम्यक्त्वसहित परिभ्रमण किये बिना दर्शनमोहकी क्षपणाके लिये उद्यत हुआ । दूसरे जीवका प्रथमजीवकी अपेक्षा दो छ्यासठ सागरोपमकाल के समयप्रमाण निषेको की अपेक्षा स्थितिसत्कर्म संख्यातवें भाग विशेष अधिक है^३ ।

दो जीवों में से एक जीव उपशमश्रेणी पर चढ़कर, स्थितिका संख्यात बहु-भागका घातकर, उपशान्तमोह से नीचे उतरकर अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा विशुद्धिको पूरकर तथा दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रारम्भकर ऐसा प्रथमसमयवर्ती अपूर्वकरण परिणामवाला है । दूसरा जीव कषायका उपशम किये बिना दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रारम्भकर ऐसा प्रथमसमयवर्ती अपूर्वकरण परिणामवाला हो गया । इन दोनों जीवोंमें से दूसरे जीवका स्थिति सत्कर्म प्रथम जीवकी अपेक्षा संख्यातगुणा है^४ । अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें जघन्य स्थितिसत्कर्मवाले के स्थितिकांडक पत्योपमके संख्यातवेंभागप्रमाण है । उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्मवालेका स्थितिकांडक पृथक्त्वसागर प्रमाण है^५ । स्थितिवन्धापसरणका प्रमाण पत्योपमका संख्यातवांभाग है । अप्रशस्तकर्मोंके अनुभागकाण्डकका प्रमाण अनुभाग स्पर्द्धाकोंका अनन्तबहुभाग है, किन्तु प्रशस्तकर्मोंका और आयुकमका अनुभाग-काण्डकघात नहीं होता^६ । अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें ही गुणश्रेणीकी रचना की, किन्तु वह यहाँ पर उदयावलिसे बाहर है, क्योंकि यहाँ पर उदयादि गुणश्रेणिका

१. ज. ध. पु. १३ पृ. २३-२४ ।

२. ज. ध. पु. १३ पृ. २४ ।

३. ज. ध. पु. १३ पृ. २५ ।

४. ज. ध. पु. १३ पृ. २७ ।

५. ज. ध. पु. १३ पृ. ३१ ।

६. ज. ध. पु. १३ पृ. ३२ ।

निक्षेप सम्भव नहीं है । परन्तु उसका आयाम अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण कालसे विशेषाधिक है । यही पर मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वका गुण संक्रम भी प्रारम्भ होता है ।

अपूर्वकरणके दूसरे समयमें वही स्थितिकाण्डक है, वही अनुभागकाण्डक है, वही स्थितिबन्ध है, किन्तु गुणश्रेणि अन्य होती है, क्योंकि प्रथमसमयमें जितने द्रव्यका अपकर्षण हुआ है उससे असंख्यातगुणे द्रव्यका अपकर्षणकर उदयावलि के बाहर गलि-तावशेष आयामरूपसे उसका निक्षेप करता है । इसप्रकार एक अनुभागकाण्डकके व्यतीत होनेके अन्तर्मुहूर्तकालतक जानना चाहिये । ऐसे हजारों अनुभागकाण्डकों के समाप्त होने पर प्रथमस्थितिकाण्डक व स्थितिबन्ध काल समाप्त होता है । अनन्तर समयमें अन्यस्थितिकाण्डक, अन्य स्थितिबन्ध और अन्य अनुभागकाण्डकको प्रारम्भ करता है^१ । प्रथमस्थितिकाण्डक बहुत है उससे दूसरा स्थितिकाण्डक विशेष हीन है, उससे तृतीय स्थितिकाण्डक विशेषहीन है । इसप्रकार विशेषहीन-विशेषहीन होते-होते अपूर्वकरण-कालके भीतर अर्थात् अन्तसे पूर्व (पहले) प्रथमस्थितिकाण्डक से संख्यातगुणाहीन स्थितिकाण्डक उपलब्ध होता है^२ । इस क्रमसे हजारों स्थितिकाण्डकोंके व्यतीत होने पर अपूर्वकरण कालके अन्तिम समयको प्राप्त होता है । उसी समय अनुभागकाण्डकका उत्कीरणकाल, स्थितिकाण्डकका उत्कीरणकाल और स्थितिबन्ध युगपत् समाप्त होते हैं । अपूर्वकरणके अन्तिमसमयमें स्थितिसत्कर्म थोड़ा है, क्योंकि संख्यातहजारस्थितिकाण्डकों के द्वारा घात होकर वहां का स्थितिसत्त्व शेष रहा है । उससे अपूर्वकरणके प्रथम-समयमें स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणा है, क्योंकि अपूर्वकरण परिणामों द्वारा उसका घात नहीं हुआ है । अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें स्थितिबन्ध भी बहुत होता है तथा अपूर्व-करणके अन्तिमसमयमें स्थितिबन्ध संख्यातगुणा हीन होता है^३ ।

अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयमें, अपूर्वकरणके अन्तिमस्थितिकाण्डकसे विशेष-हीन अन्यस्थितिकाण्डकसे विशेषहीन अन्य स्थितिकाण्डक होता है, किन्तु वह स्थिति-काण्डक जघन्य स्थितिसत्कर्मवाले के जघन्य होता है और उत्कृष्टस्थिति वाले के उत्कृष्ट होता है । परन्तु द्वितीयादि स्थितिकाण्डक सभी जीवोंके सदृश होते हैं वहीं अनिवृत्ति-

१. ज. ध. पु. १३ पृ. ३५ ।

२. ज. ध. पु. १३ पृ. ३६-३७ ।

३. ज. ध. पु. १३ पृ. ३८ ।

करणके प्रथमसमय में अन्य अनुभागकाण्डक होता है, क्योंकि अपूर्वकरणके अंतिमसमय के अनुभागसत्कर्मका अनन्तबहुभाग अनुभागकाण्डकरूप से ग्रहण किया गया है, किन्तु गुणश्चेति पहलेके समान ही गलितावशेष आयामवाली उदयावलिसे बाहर होती है । मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वका सत्कर्म भी उसीप्रकार प्रवृत्त रहता है^१ । अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयमें दर्शनमोहनीयकर्मकी अप्रशस्तउपशामनाका विनाश हो जाता है, शेषकर्म उपशान्त और अनुपशान्त दोनों प्रकार से रहते हैं । कितने ही कर्मपरमाणुओं का बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग कारणवश उदीरणा द्वारा उदयमें अनागमनरूप प्रतिज्ञा अप्रशस्तोपशामना है । केवल अप्रशस्तउपशामना ही विच्छिन्न नहीं हुई, किन्तु दर्शनमोहनीयत्रिक के निधत्तिकरण व निकाचितकरण भी नष्ट होगये, क्योंकि सभी स्थितियोंके सभी परमाणु अपकर्षण द्वारा उदीरणा करनेके लिये समर्थ हो गये हैं^२ ।

गाथा ११८ द्वारा अनिवृत्तिकरणके अवसंस्तवमें आयुर्कर्मके अतिरिक्त शेष सात कर्मोंकी स्थितिसत्कर्मका निश्चय किया गया है । दर्शनमोहनीयका स्थितिसत्कर्म विशेषघात के वश से पृथक्त्व लक्षसागर हो जाता है^३ । तत्पश्चात् प्रथमस्थितिकाण्डक से लेकर सहस्रों स्थितिकाण्डकों द्वारा अनिवृत्तिकरणकालके संख्यातबहुभाग व्यतीत होने पर और संख्यातवांभाग शेष रहने पर दर्शनमोहनीयका स्थितिसत्कर्म लक्षपृथक्त्वसागर से क्रमशः घटकर पूरा एकसहस्रसागर असंज्ञीपञ्चेन्द्रियके स्थितिबन्धके समान हो जाता है । उसके बाद स्थितिकाण्डक पृथक्त्व के सम्पन्न होने पर चतुरिन्द्रिय जीवोंके बन्धके समान दर्शनमोहनीयका स्थितिकर्म १०० सागर प्रमाण हो जाता है । उसके पश्चात् स्थितिकाण्डकपृथक्त्वके सम्पन्न होने पर त्रीन्द्रियजीवों के स्थितिबन्धके समान ५० सागर, उसके बाद स्थितिकाण्डकपृथक्त्व हो जाने पर द्वीन्द्रियजीवों के स्थितिबन्धवत् २५ सागर, तत्पश्चात् पृथक्त्व स्थितिकाण्डकोंके द्वारा एकेन्द्रियजीवोंके स्थितिबन्ध सदृश एकसागर इसके बाद स्थितिकाण्डकपृथक्त्वद्वारा पल्योपमप्रमाण स्थितिसत्कर्म शेष रह जाता है । यहां 'पृथक्त्व' विपुलवाची है^४ । पल्योपप्रमाण स्थितिसत्कर्म रहनेसे पूर्व सर्वत्र ही अपूर्वकरणके प्रथमसमयसे लेकर स्थितिकाण्डकायाम पल्यके संख्यातवैभाग प्रमाण होता

१. ज. ध. पु. १३ पृ. ३६ ।

२. ज. ध. पु. १३ पृ. ४० ।

३. ज. ध. पु. १३ पृ. ४१ ।

४. ज. ध. पु. १३ पृ. ४२-४३ ।

इन तीनों प्रकृतियोंका सदृश स्थितिकाण्डक होता था, किन्तु सबसे पहले विनाशको प्राप्त होनेवाली मिथ्यात्वप्रकृतिका इस स्थानपर विशेष धात होता है इसमें कोई विरोध नहीं है^१ ।

मिथ्यात्वके अन्तिमकाण्डक की अन्तिमफालीका द्रव्य सर्वसंक्रमण द्वारा संक्रान्त होनेपर सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वका शेष स्थितिसत्कर्मके असंख्यात बहु-भागको धात करनेवाले स्थितिकाण्डक होते हैं । इसप्रकार संख्यातहजार स्थितिकाण्डकों के व्यतीत होनेपर सम्यग्मिथ्यात्वके उदयावलीके बाहर स्थित समस्त द्रव्यका काण्डक-धात द्वारा ग्रहण होता है तथा मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) प्रकृतिकी मात्र उच्छिष्टावलि-प्रमाण स्थिति सत्कर्म शेष रह जाता है^२ । उस समय सम्यक्त्वकी आठवर्षप्रमाण स्थिति शेष रहती है, शेष सर्वस्थितियां स्थितिकाण्डकरूप से धातको प्राप्त हो चुकी हैं^३ ।

मिथ्यात्वके अन्तिमकाण्डककी अन्तिमफालिका पतन होने पर मिथ्यात्वका जघन्यस्थितिसंक्रम होता है, क्योंकि मिथ्यात्वका इससे जघन्य अन्य स्थिति संक्रम नहीं पाया जाता । तत्कालीन समय मिथ्यात्वका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है, क्योंकि मिथ्यात्वके समस्तद्रव्यका सर्वसंक्रम करनेवाले जीवके उत्कृष्टप्रदेश संक्रमकी व्यवस्था बन जाती है । इतनी विशेषता है कि गुणित कर्मांशिक नारक भवसे आकर अतिशीघ्र मनुष्य पर्यायको ग्रहणकर दर्शनमोहकी क्षपणा करनेवाला होना चाहिये, अन्यथा अजघन्य-अनुत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है तथा उसी समय सम्यग्मिथ्यात्वका उत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्म उत्पन्न होता है, क्योंकि मिथ्यात्वका कुछ कम डेढ़गुणाहानि गुणित समय-प्रबद्धप्रमाण समस्त द्रव्य उसरूपसे परिणम जाता है । इसलिये मिथ्यात्व के जघन्य-स्थितिसंक्रमके साथ होनेवाले उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमके प्रतिग्रहवश उसी समय सम्यग्मिथ्यात्व का उत्कृष्ट प्रदेश सत्कर्म होता है, यह सिद्ध हो जाता है । तदनन्तर मिथ्यात्व दो समयकम एक आवलि प्रमाण स्थितियोंको क्रमसे गलाकर जिससमय दो समयमात्र कालवाली स्थिति शेष रहती है, उससमय मिथ्यात्वका जघन्य स्थितिसत्कर्म होता है, क्योंकि मिथ्यात्वका इससे जघन्य स्थितिसत्कर्म उपलब्ध नहीं होता । जिस समय

१. ज. ध. पु. पृ. ४८-५० ।

२. ज. ध. पु. १३ पृ. ५३ ।

३. ज. ध. पु. १३ पृ. ५४ ।

मिथ्यात्वकी दो समय स्थिति शेष रहती है उस समय वह स्तिबुक संक्रम द्वारा सजातीय प्रकृतिमें संक्रमित हो जाती है । इसलिये तदनन्तर समयमें मिथ्यात्वसम्बन्धी प्रकृति सत्कर्म, स्थितिसत्कर्म, अनुभागसत्कर्म और प्रदेशसत्कर्म निःसत्त्व हो जाते हैं^१ ।

इसीप्रकार सम्यग्मिथ्यात्वके अन्तिमकांडकी अन्तिमफालिके कुछ कम डेढ़ गुणहानि समयप्रबद्धप्रमाण द्रव्यको सर्वसंक्रम द्वारा सम्यक्त्वप्रकृतिमें संक्रमित करनेपर सम्यग्मिथ्यात्वका जघन्य स्थितिसंक्रम होता है, क्योंकि अनिवृत्तिरूप परिणामोंके द्वारा दूरापकृष्टिरूप से धातित करनेके बाद शेष बची स्थितिके जघन्य होनेमें विरोधका अभाव है, परन्तु उससमय सम्यग्मिथ्यात्वका प्रदेशसंक्रम उत्कृष्ट होता है, क्योंकि गुणितकर्मांशिक जीवकी विवक्षामें उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होनेमें विरोधका अभाव है तथा उसीसमय सम्यक्त्वप्रकृतिका उत्कृष्ट प्रदेश सत्कर्म होता है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्वके उत्कृष्ट प्रदेशोंका उसमें संक्रम हुआ है । इसके पश्चात् दो समयकम उदयावलि गलित होने पर सम्यग्मिथ्यात्वका जघन्य स्थितिसत्कर्म, दो समय कालप्रमाण, एक स्थितिरूप होता है^२ ।

अब मिश्रद्विक को अन्तिमफालिका गुणश्रेणिमें निक्षिप्तद्रव्यके क्रमसहित प्रमाणआदिका कथन करते हैं—

^३मिस्सदुगचरिमफाली किंचूणदिवड्समयपषड्दपमा ।

गुणसेढि करिय तदो असंखभागेण पुढ्वं व ॥१२८॥

सेसं विसेसहीणं अडवस्सुवरिमठिदीए संखुद्धे ।

चरमाउलिं व सरिसी रयणा संजायदे एत्तो ॥१२९॥

^४अडवस्सादो उवरिं उदयादिअवट्ठिदं च गुणसेढो ।

अंतोमुहुत्तियं ठिदिखंडं च य होदि सम्मस्स ॥१३०॥

१. ज. ध. पु. १३ पृ. ५१-५२-५३ ।

२. ज. ध. पु. १३ पृ. ५५-५६ ।

३. ज. ध. पु. १३ पृ. ६४ ।

४. ज. ध. पु. १३ पृ. ५६-६० व ६५-६६ ।

अर्थ—मिश्रद्विक अर्थात् मिश्रमोहनीय (सम्यग्मिथ्यात्व) और सम्यक्त्व-मोहनीय इन दोनों प्रकृतियोंकी अपनी अपनी अन्तिमफालियोंका द्रव्य कुछकम डेढ़गुण-हानि गुणित समयप्रबद्धप्रमाण है । पूर्वोक्त प्रकार उन दोनों अन्तिमफालियोंके द्रव्यमें पत्यके असंख्यातवैभागका भाग देने पर एक भाग गुणश्रेणी निक्षेपमें दिया जाता है ।

गुणश्रेणि आयामरूप अन्तर्मुहूर्तकाल कम आठवर्ष प्रमाण ऊपरकी स्थितियों में चरमावलिपर्यन्त ? सदृश चय से हीन इस रचनारूप शेष बहुभाग द्रव्य दिया जाता है ।

सम्यक्त्वमोहनीय की आठ वर्ष स्थिति करनेके समयसे लेकर ऊपर सर्वत्र उदयादि अवस्थिति गुणश्रेणि आयाम है तथा सम्यक्त्वमोहनीयकी स्थितिमें स्थितिखंड का आयाम अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है । इसके आगे एक-एक स्थितिकांडक द्वारा अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त स्थिति घटाता है ।

विशेषार्थ—जिस समय सम्यक्त्वप्रकृतिका स्थितिसत्कर्म आठवर्षप्रमाण होता है, उस समयमें (पतित) होनेवाली अपनी अन्तिमफालिके द्रव्यके साथ सम्यग्मिथ्यात्व की अन्तिमफालिको ग्रहणकर सम्यक्त्वके उपरिम आठवर्षप्रमाण निषेकोंमें सिंचन करता हुआ उदयमें स्तोक प्रदेशपुंजको देता है । उससे ऊपरवर्ती समयसम्बन्धी स्थितिमें असंख्यातगुणो प्रदेशपुंजको देता है । इसप्रकार पहलेके गुणश्रेणिशीर्षके प्राप्त होने तक प्रत्येक स्थितिमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणो प्रदेशपुंजको देता है । सम्यग्मिथ्यात्वसम्बन्धी अन्तिमफालिके कुछकम डेढ़गुणहानि गुणित समयप्रबद्धप्रमाण द्रव्यको (अपकर्षणभाग-हारसे असंख्यातगुणे) पत्योपमके असंख्यातवै भाग से खण्डित कर एक भागमात्र द्रव्य को गुणश्रेणिमें निक्षिप्तकर पुनः शेष बहुभागप्रमाण द्रव्यको गोपुच्छाकार से गुणश्रेणि-शीर्ष से ऊपर अन्तर्मुहूर्तकम आठ वर्षकी स्थितियोंमें निक्षिप्त करता है । इसप्रकार गुणश्रेणिशीर्ष से अनन्तर उपरिम प्रथमस्थिति में असंख्यातगुणो प्रदेशपुंज का निक्षेप होता है, क्योंकि द्रव्य बहुभागप्रमाण है और स्थितिआयाम स्तोक है । उससे ऊपर सर्वत्र (अनन्तर उपनिधाके अनुसार) आठ वर्षप्रमाण स्थितिके अन्तिम निषेकके प्राप्त होनेतक विशेषहीन विशेषहीन द्रव्य दिया जाता है । आठवर्षप्रमाण सर्व गोपुच्छोंके

१. जब सम्यग्मिथ्यात्व की चरमफालीका संक्रमण सम्यक्त्वमें होता है, तब सम्यक्त्वका ८ वर्षप्रमाण स्थितिसत्कर्म होता है । (ज. ध. पु. ३ पृ. २०५)

ऊपर इस समय दिया जानेवाला द्रव्य प्रत्येक स्थितिके प्रति पूर्वके अवस्थितद्रव्यसे असंख्यातगुणा होता है, क्योंकि अन्तिमफालि का द्रव्य कुछ कम डेढ़गुणहानिगुणित समयप्रबद्ध प्रमाण है^१ ।

सम्यक्त्व की आठवर्ष स्थितिसत्कर्म से पूर्व उदयावलिसे बाह्य गुणश्रेणि आयाम था, किन्तु अब यहां से उदयरूप वर्तमान समयसे ही गुणश्रेणि आयाम प्रारम्भ हो जाता है इसलिये यह गुणश्रेणी आयाम 'उदयादि' कहा जाता है । पूर्वमें प्रतिसमय गुणश्रेणि आयाम घटता जाता था इसलिये वह गलितावशेष गुणश्रेणि थी, किन्तु अब नीचे का एकसमय व्यतीत होनेपर उपरिम स्थितिका एकसमय गुणश्रेणिमें मिल जानेसे गुणश्रेणि आयाम जितना था उतना ही रहता है, घटता नहीं है; अतः यह गुणश्रेणि आयाम अवस्थित स्वरूप है । इसलिये यह उदयादिअवस्थित गुणश्रेणि-आयाम है । पूर्वमें एकस्थिति काण्डक द्वारा पत्यका असंख्यातवांभाग स्थितिका घात होता था, किन्तु अब एक स्थितिकाण्डक द्वारा अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थितिका घात होता है, क्योंकि इस स्थलपर पत्योपमके असंख्यातवैभाग आदि विकल्प संभव नहीं है^२ ।

अनुभाग अपवर्तन का निर्देश करते हैं—

^३विदियावलिस्त पढमे पढमस्संते य आदिमणिसेये ।

तिट्ठाणेणंतगुणेणकमोवट्टणं चरमे ॥१३१॥

अर्थ—द्वितीयावलिके प्रथम निषेक, प्रथमावलि (उदयावलि) के अन्तिम निषेक और उदयरूप प्रथमनिषेक, इन तीनस्थानों में सम्यक्त्वकी आठवर्षकी स्थितिसे उच्छिष्टावलि पर्यन्त सम्यक्त्वप्रकृतिके अनुभागका प्रतिसमय अनन्तगुणे घटते क्रमसे अपवर्तनघात होता है ।

विशेषार्थ—सम्यक्त्वप्रकृतिके अन्तिमकाण्डककी (मिश्र व सम्यक्त्वप्रकृतिकी) द्विचरम दो फालिके पतन समयमें-आठवर्ष स्थिति करनेके समयसे पूर्वसमय तक तो लता-दारुरूप द्विस्थानगत अनुभाग है सो अनुभागकाण्डकघातसे अनन्तागुणा हीन हुआ ।

१. ज. ध. पु. १३ पृ. ६४-६६ । ध. पु. ६ पृ. २५६-६० ।

२. ज. ध. पु. १३ पृ. ५६-६० ।

३. ज. ध. पु. १३ पृ. ६३ । ध. पु. ६ पृ. २५६ ।

पुनः इन्हीं अन्तिम दो कालिके पतन समयमें-आठवर्षकी स्थिति करनेके समयमें अनन्त-गुणा हीन होकर लताके समान एक स्थानीय अनुभाग हुआ । यहांसे लेकर पूर्वमें जो अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा अनुभागकाण्डकघात होता था उसका अभाव हुआ और प्रति-समय अनन्तगुणे हीन कमसे अनुभागका अपवर्तन होने लगा । वहां अन्तरवर्ती आठवर्ष स्थिति करनेके समयसे पूर्व समयमें निषेकका जो अनुभाग सत्त्व था उससे अनन्तगुणा-हीन आठवर्ष स्थिति करनेके समयमें उदयावलिके उपरवर्ती उपरितनावलीके प्रथम निषेकका अनुभागसत्त्व अवशिष्ट रहता है । अवशिष्ट अनन्त बहुभागरूप अनुभागका विशुद्धि-विशेषसे अपवर्तन हुआ-नाश हुआ । तथा उसी समयमें उदयावलिके अन्तिम निषेकका अनुभागसत्त्व अपनेसे उपरवर्ती उस उपरितनावलिके (द्वितीयावलि के) प्रथमनिषेक सम्बन्धी अनुभाग सत्त्वसे अनन्तगुणा हीन रहता है तथा अवशिष्टका नाश होता है । पुनः उससे अनन्तगुणा-हीन उदयावलिके प्रथम निषेकका अनुभागसत्त्व रहता है, शेषका नाश होता है । उससे अनन्तगुणाहीन आठवर्ष स्थितिकरनेके समयसे लेकर अनन्तरवर्ती आगामी समयमें अनन्तगुणाहीन अनुभागसत्त्व होता है । इसप्रकार प्रति-समय अनन्तगुणा हीन अनुक्रमसे उच्छिष्टावलिके अन्तिम समय पर्यन्त अनुभागका अपवर्तन जानना ।

भावार्थ— जिससमय सम्यक्त्वप्रकृतिका आठवर्षप्रमाण स्थिति सत्कर्म होता है उससे पहले सम्यक्त्वप्रकृतिका अनुभाग लता-दारुरूप द्विस्थानीय था । उसकी अब एक लता स्थानीयरूप से प्रतिसमय अपवर्तना प्रारम्भ होती है, पहले अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा अनुभागकाण्डककी रचना करता था अब पूर्वके काण्डकघातका उपसंहारकर प्रत्येक समयमें सम्यक्त्वप्रकृतिके अनुभागकी अनन्तगुणी हानिरूपसे अपवर्तना होती है । अनन्तरपूर्व समयके अनुभागसत्कर्मसे वर्तमान समयमें अनुभागसत्कर्म उदयावलिसे बाहर (द्वितीयावलिके प्रथम निषेकमें) अनन्तगुणा हीन है । इस अनुभागसत्कर्म से उदयावलि के भीतर अनुप्रविशमान (उदयावलिके अन्तिम निषेक में) अनुभागसत्कर्म अनन्तगुणा हीन है । इससे भी उदय समयमें प्रवेश करनेवाला (प्रथमनिषेकमें) अनुभागसत्कर्म अनन्तगुणा हीन है । इसप्रकार दर्शनमोहनीयके क्षय होनेके एकसमय अधिक एक आवलि पूर्वतक प्रत्येक समयमें इसीप्रकार जानना चाहिये । इसके पश्चात् एक आवलि कालतक उदयमें प्रविशमान अनुभागकी प्रतिसमय अपवर्तना पाई जाती है ।

आठवर्ष की स्थितिके पश्चात् कर्हातक और किस विधिसे द्रव्यनिक्षेप होता है इसका कथन करते हैं—

अडवस्से उवरिमि वि दुचरिमखंडस्स चरिमफालित्ति ।

संखातीदगुणक्कम विशेषहीणक्कमं देदि ॥१३२॥

अर्थ—आठवर्ष की स्थिति करनेके अनन्तर समयसे लेकर द्विचरमकाण्डकी अन्तिमफालिके पतन समयतक उदयादि अवस्थित गुणश्रेणिआयाममें असंख्यातगुणा क्रम लिये हुए तथा ऊपर अन्तर्मुहूर्तकम आठवर्षप्रमाण स्थितियोंमें विशेषहीन अर्थात् चय घटता क्रम लिये निक्षेपण होता है अर्थात् दिया जाता है ।

विशेषार्थ—आठवर्षकी स्थितिसत्कर्मके अनन्तरसे लेकर अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितिकाण्डकघात के द्वारा अपवर्तित होनेवाली सम्यक्त्वकी स्थितियोंमें जो प्रदेश पुंज होता है, अपकर्षण भागहारके प्रतिभागद्वारा उसे ग्रहणकर उदयादि अवस्थित-गुण-श्रेणिमें निक्षिप्त करता हुआ उदयमें स्तोक प्रदेशपुंजको देता है । उससे अनन्तरसमय में असंख्यातगुणा देता है । इसप्रकार क्रमसे गुणश्रेणिशीर्षके अधस्तनसमयके प्राप्त होने तक असंख्यातगुणित क्रमसे सिंचन करता है । पुनः इससे उपरिम अनन्तर एक स्थितिमें भी असंख्यातगुणो प्रदेशपुंज का सिंचन करता है, क्योंकि यहां अवस्थित गुणश्रेणि निक्षेपकी प्रतिज्ञा की गई है । इससमय अपकर्षित हुए द्रव्यके बहुभागको अन्तर्मुहूर्तकम आठवर्षों के द्वारा भाजितकर वहां जो एकभाग प्रमाण द्रव्य प्राप्त हो, विशेष अधिक करके उसे इस समयके गुणश्रेणिशीर्षमें निक्षिप्त करता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है । इससे ऊपर सर्वत्र अतिस्थापनावलिमात्रसे अन्तिमस्थितिको नहीं प्राप्त होने तक विशेषहीन-विशेषहीन द्रव्यका सिंचन करता है । इसप्रकार यह क्रम द्विचरम स्थितिकाण्डकतक होता है ।

आठवर्ष प्रमाण स्थितिसत्त्व अवशिष्ट करनेके प्रथम (पूर्व) समयमें, आठवर्ष-प्रमाण स्थितिसत्त्व करनेके समयमें, आगामी समयमें पाये जानेवाले विधान आदिका कथन—

अडवस्से संपहियं पुण्विल्लादो असंखसंगुणियं ।

उवरिं पुण संपहियं असंखसंख च भागं तु ॥१३३॥

ठिदिखंडाणुक्कीरण दुचरिमसमओत्ति चरिमसमये च ।
 ओक्कट्ठिदफालीगददव्वाणि णिसिचदे जम्हा ॥१३४॥
 अडवस्से संपहियं गुणसेढीसीसयं असंखगुणं ।
 पुठिवत्तादो णियमा उवरि विसेसाहियं दिस्सं ॥१३५॥
 अडवस्से य ठिदीदो चरिमेदर फालिपडिददव्वं खु ।
 संखासंखगुणं तेषुवस्मिस्सिस्समाणमहियं सीसे ॥१३६॥
 जदि गोउच्छविसेसं रिणं हवे तोवि धणपमाणादो ।
 जम्हा असंखगुणं ए गणिज्जदि तं तदो एत्थ ॥१३७॥
 तत्तक्काले दिस्सं वज्जिय गुणसेढीसीसयं एक्कं ।
 उवरिमठिदीसु वट्ठदि विसेसहीणक्कमेणेव ॥१३८॥

अर्थ—सम्यक्त्वप्रकृति की आठ वर्ष स्थिति शेष रहने के समयमें मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) और सम्यक्त्व प्रकृति सम्बन्धी काण्डक की चरमफालियों का द्रव्य, पूर्व समय के सम्यक्त्वमोहनीय के सत्त्व द्रव्य से असंख्यातगुणा है। सम्यक्त्व मोहनीय के सत्त्व द्रव्यसे, स्थितिकाण्डकोत्कीर्णकालके द्विचरम समय पर्यन्त अपकर्षित फालिद्रव्य असंख्यातवें भाग है और अन्तिम समयमें अपकर्षित फालिद्रव्य संख्यातवें भाग है । यह द्रव्य निक्षेप किया जाता है ॥१३३-३४॥

सम्यक्त्वप्रकृति की आठ वर्ष स्थिति शेष रहने के समय गुणश्रेणीशीर्ष का द्रव्य अधस्तन गुणश्रेणिशीर्षके द्रव्यसे नियमतः असंख्यातगुणा है । उपरिम गुणश्रेणि शीर्षों का दृश्यमान द्रव्य अपने अपने से पूर्व गुणश्रेणिशीर्ष के द्रव्यसे विशेषाधिक है ॥ १३५ ॥

सम्यक्त्वप्रकृति की आठ वर्ष प्रमाण स्थिति शेष रहने पर समस्त स्थित द्रव्य से चरम फालि का द्रव्य संख्यातगुणा हीन है और अन्य फालियों का द्रव्य असंख्यात-गुणा हीन है इसलिये उपरितन गुणश्रेणिशीर्षका द्रव्य विशेष अधिक है ॥१३६॥

यद्यपि अधस्तन गुणश्रेणिशीर्ष से उपरितन गुणश्रेणिशीर्ष में गोपुच्छ-चय ऋण है अर्थात् घटता है तो भी धन (मिलाया जाने वाला द्रव्य) के प्रमाणसे

असंख्यातगुणा हीन है। इसलिये इस चयरूप ग्रहण को नहीं गिना अथवा द्रव्यप्रमाण लानेमें इसको दृष्टिसे ओझल कर घटाया नहीं गया ॥१३७॥

उस समय गुणश्रेणिशीर्ष को छोड़कर उपरिम स्थितियों में दृश्यमान द्रव्य प्रत्येक निषेकमें विशेषहीन क्रमसे वर्तन करता है ॥१३८॥

विशेषार्थ— इस समय अपकर्षित हुए द्रव्य के बहुभागको अन्तर्मुहूर्त कम आठ वर्षों द्वारा भाजितकर वहाँ जो एकभागप्रमाण द्रव्य प्राप्त हो, विशेष अधिक करके उसे इस समयके गुणश्रेणिशीर्षमें निक्षिप्त करता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है । इससे ऊपर सर्वत्र अतिस्थापनावलिभात्रसे अन्तिम स्थिति को नहीं प्राप्त होने तक विशेषहीन-विशेषहीन द्रव्यका सिञ्चन करता है । इसप्रकार आठवर्ष के स्थितिसत्कर्मवाले जीवके प्रथमसमयमें दीयमान द्रव्यकी प्ररूपणा की ।

अब वहीं दृश्यमान द्रव्य किसप्रकार अवस्थित रहता है इसका निर्णय करेंगे । यथा-पहलेके गुणश्रेणिशीर्षसे इस समयका गुणश्रेणिशीर्ष असंख्यातगुणा नहीं होता है ।

इस समय अपकर्षित कर ग्रहण किया गया समस्त द्रव्य भी मिलकर आठवर्ष सम्बन्धी एक स्थितिके द्रव्यको पत्योपमके असंख्यातवें भागसे भाजितकर जो एक भाग लब्ध आवे उतना होता है, क्योंकि आठवर्ष प्रमाण निषेकों में अपकर्षण भागहार का भाग देने पर जो लब्ध आवे तत्प्रमाण है । पुनः उसके भी असंख्यातवें भागप्रमाण द्रव्य को ही नीचे गुणश्रेणिमें सिञ्चित करता है । शेष असंख्यात बहुभागको इस समय के गुणश्रेणिशीर्ष से उपरिम गोपुच्छाओं में आगममें प्ररूपित विधि के अनुसार सिञ्चित करता है । इस कारण से पहले के गुणश्रेणिशीर्ष से इस समय का गुणश्रेणिशीर्ष असंख्यातगुणा नहीं हुआ, किन्तु दृश्यमान द्रव्य विशेषाधिक ही है ऐसा निश्चय करना चाहिये । विशेषाधिक होता हुआ भी असंख्यातवां भाग ही अधिक है, अन्य विकल्प नहीं है ।

अब इसी असंख्यातवें भाग अधिक को स्पष्ट करनेके लिये यह प्ररूपणा करते हैं । यथा अधस्तन समयके गुणश्रेणिशीर्ष का द्रव्य लाना चाहते हैं इसलिये डेढ़ गुण-हानि गुणित एक समयप्रबद्ध को स्थापितकर उसका अन्तर्मुहूर्त कम आठवर्ष प्रमाण भागहार स्थापित करना चाहिये । इसप्रकार स्थापित करने पर पिछले समयके गुण-

श्रेणिशीर्षका द्रव्य प्राप्त होता है । इस समय के गुणश्रेणिशीर्ष द्रव्यको लाने की इच्छा होनेपर एक गोपुच्छविशेषसे हीन इसी द्रव्यको स्थापित कर इस समय अपकर्षित द्रव्यके बहुभागको अन्तर्मुहूर्त कम आठवर्षों के द्वारा भाजितकर वहां प्राप्त एकभाग मात्र द्रव्य से इसे अधिक करना चाहिये और यह अधिक द्रव्य, पिछले गुणश्रेणिशीर्षमें जो गोपुच्छ विशेष अधिक है उससे तथा उसीमें अर्थात् पिछले गुणश्रेणिशीर्षमें इस समय प्राप्त हुआ जो असंख्यात समयप्रबद्धप्रमाण गुणश्रेणिसम्बन्धी द्रव्य है उससे असंख्यात-गुणा है, क्योंकि पत्योपमके तत्प्रायोग्य असंख्यातवैभागप्रमाण अंक यहां पर गुणकार-रूपसे पाये जाते हैं परन्तु वहां के समस्त द्रव्य को देखते हुए वह असंख्यातगुणा हीन है, क्योंकि साधिक अपकर्षण-उत्कर्षण भागहार के द्वारा उसके खण्डित करने पर वहां जो एक भाग प्राप्त हो वह उत्प्रमाण है । इसलिये इसने मात्र अधिक द्रव्य को निकालकर और पृथक् रखकर वहां अधस्तन गुणश्रेणिशीर्ष के एक गोपुच्छ विशेष से अधिक तत्काल प्राप्त असंख्यात समयप्रबद्धप्रमाण समधिक द्रव्यके निकाल देने पर अपनीत शेष जो रहे उतना पहलेके गुणश्रेणिशीर्षसे वर्तमान गुणश्रेणिशीर्ष सम्बन्धी द्रव्य अधिक होता है ऐसा निश्चय करना चाहिए । इसप्रकार आगे भी प्रत्येक समयमें असंख्यातगुणे द्रव्यका अपकर्षणकर उदयादि अवस्थित गुणश्रेणि में निक्षेप करनेवाले की दीयमान और दृश्यमान द्रव्यकी पूरी प्ररूपणा इसीप्रकार करनी चाहिए । इतनी विशेषता है कि आठवर्ष प्रमाण स्थिति सत्कर्मवाले जीवके प्रथम स्थितिकाण्डकसे लेकर द्विचरम स्थितिकाण्डकतक पतित होनेवाली इन संख्यातहजार स्थितिकाण्डकों की अन्तिम फालियों में भेद है, क्योंकि उनके पतन समय गुणश्रेणिशीर्षमें पतित होनेवाला द्रव्य वहां सम्बन्धी पूर्वके संचयरूप गोपुच्छको देखते हुए संख्यातवां भाग अधिक देखा जाता है । अब उसका अपवर्तन द्वारा निर्णय करके बतलाते हैं । यथा—वहां सम्बन्धी पूर्वके संचयको लाना चाहते हैं इसलिये डेढ़ गुणहानिगुणित एक समयप्रबद्धको स्थापितकर पुनः अन्तर्मुहूर्त कम आठ वर्ष प्रमाण इसका भागहार स्थापित करना चाहिए । अब प्रथम स्थितिकाण्डककी अन्तिम फालिका पतन होते समय काण्डक द्रव्यको लाना चाहते हैं इसलिये डेढ़गुणहानिगुणित समयप्रबद्धके अन्तर्मुहूर्तसे भाजित आठ वर्ष प्रमाण आयाम को भागहाररूप से स्थापित करना चाहिए । इसप्रकार स्थापित करने पर प्रथम स्थितिकाण्डककी अन्तिमफालिका द्रव्य आता है^१ । पुनः इसके असंख्यातवैभागप्रमाण द्रव्यको

१. देशोन काण्डकद्रव्य प्रमाण आता है । अर्थात् चरमफालि द्रव्यकाण्डक द्रव्यके बहुभागप्रमाण है ।

ही नीचे गुणश्रेणिमें निक्षिप्तकर शेष बहुभागप्रमाण द्रव्यको अवस्थित गुणश्रेणिशीर्ष से लेकर अन्तर्मुहूर्त कम आठ वर्षों में गोपुच्छाकाररूपसे सींचता है । इसलिये अन्तर्मुहूर्तकम आठ वर्षोंके द्वारा इस काण्डकद्रव्यके भाजित करने पर विवक्षित समयके अवस्थित गुणश्रेणिशीर्षमें पतित होनेवाला द्रव्य वहां सम्बन्धी पूर्वके संचयके समनन्तर अधस्तन गुणश्रेणिशीर्ष के संख्यातवां भाग आता है । इसलिये सिद्ध हुआ कि उस अवस्था में द्विचरम गुणश्रेणिशीर्ष से अन्तिम गुणश्रेणिशीर्षका द्रव्य संख्यातवां भाग अधिक होकर दिखाई देता है । इसीप्रकार ऊपर भी सर्वत्र द्विचरमस्थितिकाण्डक की अन्तिमफालि के प्राप्त होने तक ले जाना चाहिये, क्योंकि एक कम स्थितिकाण्डकके उत्कीरणकालप्रमाण कालतक असंख्यातवां भाग अधिक और काण्डकके अन्तिम समय में संख्यातवां भाग अधिक गुणश्रेणिशीर्षमें दृश्यमान द्रव्य होता है । इस प्रकार इस कथनके साथ पूर्वोक्त कथनका कोई भेद नहीं पाया जाता है । इसप्रकार द्विचरम स्थितिकाण्डककी अन्तिम फालि पर्यन्त ही यह प्ररूपणाप्रबन्ध है ।

आगे अन्तिमकाण्डकका विभाग कहते हैं—

गुणसेदिसंखभाग ततो संखगुण उपरिमठिदीओ ।

सम्मत्तचरिमखंडो दुचरिमखंडादु संखगुणो ॥१३६॥

अर्थ—गुणश्रेणि के संख्यात बहुभाग को और उससे संख्यातगुणी उपरितन स्थितियोंको घात के लिये ग्रहण करने वाला चरम स्थितिकाण्डक, द्विचरम स्थितिकाण्डक घात से संख्यातगुणा है ।

विशेषार्थ—पहले आठ वर्षप्रमाण स्थितिसत्कर्म से लेकर विशेषहीनके क्रमसे अन्तर्मुहूर्त आयामवाले स्थितिकाण्डकों का घात कर यहां द्विचरम स्थितिकाण्डकसे संख्यातगुणे आयामरूपसे अन्तिम स्थितिकाण्डकों को ग्रहण करता है यह तात्पर्य है । इसप्रकार इस अल्पबहुत्वके द्वारा अन्तिम स्थितिकाण्डकका प्रमाण-विषयक निर्णय करके अब सम्यक्त्वके अन्तिम स्थितिकाण्डकको ग्रहण करता हुआ इस विधि से ग्रहण करता है इस बातका ज्ञान कराने के लिये कहते हैं—

“चरम स्थितिकाण्डकको घात के लिये ग्रहण करता हुआ गुणश्रेणिके (उपरिम) संख्यात बहुभाग को ग्रहण करता है और उपरिम अन्य संख्यातगुणी स्थितियों को ग्रहण करता है ।”

अन्य स्थितियों को भी ग्रहण करता है ।” इस कथन द्वारा अन्तिम स्थितिकाण्डकका प्रमाण पृथक् दिखलाया गया जानना चाहिये । इसलिए अवस्थित गुणश्रेणिशीर्षसे उपरिम सर्व गोपुच्छार्थे और अवस्थितरूपसे किया गया समस्त गुणश्रेणिशीर्षस्थान इन सबको ग्रहणकर तथा अपूर्वकरणके प्रथम समयसे लेकर अपूर्वकरण और अनिवृत्ति-करणके कालसे विशेष अधिकरूपसे रचित पुराने गुणश्रेणिशीर्षके उपरिम भागमें अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितियोंको ग्रहणकर अन्तिम स्थितिकाण्डकको धातु के लिए ग्रहण करता है ।

सम्यक्त्वप्रकृतिके अन्तिमकाण्डककी प्रथमफालोके प्रथम समयसे लेकर उसके द्विचरमफालोके पतनसमय पर्यन्त उस काण्डकोत्कोरणकालमें फालिद्रव्य व अपकृष्टद्रव्य के निक्षेप विशेषका विषय कहते हैं—

सम्मत्तचरिमखंडे दुचरिमफालित्ति त्रिणिण पठ्वाओ ।
 संपहियपुव्वगुणसेढीसीसे सीसे य चरिमम्हि ॥१४०॥
 तत्थ असंखेज्जगुणं असंखगुणहीणयं विसेसूणं ।
 संखातीदगुणूणं विसेसहीणं च दत्तिकमो ॥१४१॥
 ओक्कट्ठिद बहुभागे पढमे सेसेक्कभागबहुभागे ।
 बिदिण पठ्वेवि सेसिगभागं तदिये जहा देदि ॥१४२॥

अर्थ—सम्यक्त्व प्रकृतिके अन्तिम स्थितिकाण्डककी द्विचरमफालि तक दीयमान द्रव्यके तीन पर्व (श्रेणियां) हैं । वर्तमान इस समयकी गुणश्रेणिशीर्ष तक, प्राचीन गुणश्रेणिशीर्ष तक, अन्तिम स्थिति काण्डक के अन्त तक । प्रथम पर्व में अपकर्षित द्रव्यका असंख्यात बहुभाग असंख्यातगुणो क्रमसे दिया जाता है, उससे अनन्तर स्थितिमें असंख्यातगुणा हीन द्रव्य दिया जाता है । दूसरे पर्वमें शेष असंख्यातवें भागका असंख्यातबहुभाग द्रव्य विशेष हीन क्रमसे दिया जाता है, उससे अनन्तर स्थितिमें असंख्यातगुणा हीन द्रव्य दिया जाता है । तृतीय पर्व में शेष एकभाग प्रमाण द्रव्य विशेष हीन क्रमसे दिया जाता है ।

विशेषार्थ—सम्यक्त्व मोहिनीयकी उदयावलि से बाह्य सभी स्थितियों में से प्रदेशों को अपकर्षित कर वर्तमान गुणश्रेणि में निक्षिप्त करता हुआ उदय स्थितिमें अल्प प्रदेश पुंज को दिया जाता है, क्योंकि आठवर्षप्रमाण स्थितिसत्कर्म से लेकर उदयादि गुणश्रेणिकी प्रतिभाके प्रवर्तमान होनेमें कोई रुकावट नहीं पाई जाती । पुनः तदनन्तर उपरिम स्थिति में असंख्यातगुणे प्रदेशपुंज को देता है । यहां पर गुणकार तत्प्रायोग्य पत्योपमका असंख्यातवा भाग है । इसप्रकार तब तक असंख्यातगुणे प्रदेशपुंजको देता है जबतक चरमसमय स्वरूप स्थितिकाण्डक की प्रथम स्थिति प्राप्त नहीं होती । यही स्थिति गुणश्रेणिशीर्ष बन गई है, यह प्रथम पर्व है । अब तक अपकर्षित द्रव्यके असंख्यातवें भाग को ही गुणश्रेणि में देता था, किन्तु यहां से असंख्यात बहुभाग को गुणश्रेणिमें निक्षिप्त करने लगा और शेष असंख्यातवें भागको उपरिम स्थितियोंके समयमें अविरोधपूर्वक निक्षिप्त करता है । इस शेष बचे असंख्यातवें भाग में से असंख्यातवें भागको पृथक् रखकर वहां प्राप्त बहुभाग को स्थितिकाण्डकके भीतर प्राप्त हुए अन्तर्मुहूर्त प्रमाण गुणश्रेणि अध्वानसे भाजित कर वहां प्राप्त एक खण्डको विशेष अधिक कर इस समयके गुणश्रेणिशीर्षसे उपरिम अनन्तर स्थितिमें अर्थात् स्थितिकाण्डककी आदि स्थितिमें दिया जाता है । उसके पश्चात् प्राचीन गुणश्रेणिशीर्ष तक यहां के बहुभाग द्रव्यको उत्तरोत्तर विशेष हीन दिया जाता है, यह दूसरा पर्व है ।

पृथक् रखे हुए असंख्यातवें भाग प्रमाण द्रव्यको अधस्तन आयामसे संख्यातगुणे उपरिम समस्त आयामसे भाजितकर जो एक भाग प्राप्त हो उसे विशेष अधिक करके वहां की गोपुच्छा में सिंचितकर उससे ऊपर अतिस्थापनावलि से पूर्वतक विशेषहीन क्रमसे एक गोपुच्छा श्रेणिरूप से दिया जाता है, यह तीसरा पर्व है । इसप्रकार यहां पर दीयमान द्रव्यकी तीन श्रेणियां हो गईं । इसप्रकार स्थितिकाण्डकके उत्कीर्ण कालके द्विचरम समय तक अर्थात् द्विचरम फालि तक जानना चाहिए ।

साम्प्रतिकगुणश्रेणिके स्वरूप निर्देशपूर्वक चरमफालिके पञ्चकालका निर्देश करते हैं ।

उदयादिगलिदसेसा चरिमे खंडे हवेज्ज गुणसेही ।

फाडेदि चरिमफालि अणियट्ठीकरणचरिमम्हि ॥१४३॥

अर्थ—सम्यक्त्वप्रकृतिके अन्तिम काण्डककी प्रथम फालिके पतन समयसे लेकर द्विचरमफालिके पतन समय पर्यन्त उदयादि गलितावशेष गुणश्रेणि आयाम जानना । अवशिष्ट अनिवृत्तिकरणकालके अन्तिम समयमें अन्तिम काण्डककी चरम-फालिका पतन होता है ।

विशेषार्थ—उदयादि वर्तमान समयसे लेकर यहां गुणश्रेणि आयाम पाया जाता है इसलिये उदयादि कहते हैं और एक-एक व्यतीत होते हुए एक-एक समय गुणश्रेणि आयाममें घटता जाता है इसलिए गलितावशेष कहा है । इसप्रकार उदयादि गलितावशेष गुणश्रेणि आयाम जानना । पूर्वोक्त विधानसे अन्तिमकाण्डककी द्विचरम-फालि का पतन होने पर काण्डकोत्कीरण कालका अनिवृत्तिकरणकालमें एक समय अवशिष्ट रहता है ।

चरिम फालि देदि हु पढमे पठवे असंखगुणिदकमा ।

अन्तिमसमयम्हि पुणो पल्लासंखेज्जमूलाणि ॥१४४॥

अर्थ—अन्तिमकाण्डककी अन्तिमफालिका द्रव्य प्रथम पर्व (गलितावशेष गुणश्रेणि) में असंख्यात गुणित क्रमसे दिया जाता है । अन्तिम समयमें पल्यके असंख्यात प्रथम वर्गमूल प्रमाण द्रव्य दिया जाता है ।

विशेषार्थ—यहां अपकर्षित होनेवाले द्रव्य का प्रमाण अन्तिमफालिके माहात्म्यवश कुछकम डेढ़गुणहानिगुणित समयप्रबद्धप्रमाण है ऐसा ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि गुणश्रेणिका समस्त द्रव्य अन्तिमफालिको देखते हुए असंख्यातगुणा हीन देखा जाता है । इसको ग्रहणकर कृतकृत्यसम्यक्त्वके कालप्रमाण अधस्तन निषेकोंमें प्रदेश-विन्यास करता हुआ उदयमें अल्पप्रदेशपुंजको देता है, क्योंकि यद्यपि वह असंख्यात समयप्रबद्धप्रमाण है तथापि उसके उपरिम निषेकोंमें सिंचित होने वाले द्रव्यकी अपेक्षा अल्प होनेमें विरोध का अभाव है । तदनन्तर समयकी उपरिम स्थितिमें असंख्यातगुणा देता है । गुणकार क्या है ? तत्प्रायोग्य पल्योपमके असंख्यातवें भाग प्रमाण अङ्क गुणकार हैं । इसप्रकार द्विचरम निषेकके प्राप्त होने तक जानना चाहिए । इतनी विशेषता है कि अधस्तन अनन्तर निषेकके गुणकारसे उपरिम अनन्तर निषेकका गुणकार सर्वत्र असंख्यातगुणी वृद्धिरूपसे ले जाना चाहिये ।

द्विचरम स्थितिमें जो प्रदेशपुञ्ज निक्षिप्त होता है उसे देखते हुए गुणश्रेणि की अन्तिम अग्र स्थितिमें निक्षिप्त होने वाले द्रव्यका जो गुणकार है वह न तो पल्योपम के प्रथम वर्गमूलका असंख्यातवां भाग है और न अन्य ही है, किन्तु पल्योपमके असंख्यात प्रथम वर्गमूल प्रमाण है, क्योंकि नीचे निक्षिप्त किया गया द्रव्य अन्तिम फालिके द्रव्य को पल्योपमके असंख्यात प्रथम वर्गमूलोंसे भाजितकर जो एक भाग लब्ध आवे तत्प्रमाण स्वीकार किया गया है । इस कथन द्वारा अधस्तन समस्त गुणकारों को पल्योपमके तत्प्रायोग्य असंख्यातवैभागप्रमाण सूचित किया गया जानना चाहिए, क्योंकि उन गुणकारों को पल्योपमके असंख्यात प्रथम वर्गमूल प्रमाण होनेपर कर्मस्थितिके भीतर संचित हुए द्रव्यके अंगुलके असंख्यातवै भाग समय प्रबद्ध प्रमाण होनेका अतिप्रसङ्ग प्राप्त होता है । इसलिये अन्तिम गुणकार ही पल्योपमके असंख्यात प्रथम वर्गमूल प्रमाण है, किन्तु अधस्तन समस्त गुणकार पल्योपमके तत्प्रायोग्य असंख्यातवै भागप्रमाण है यह सिद्ध हुआ ।

अब दो गाथाओंमें कृतकृत्यवेदकसम्यक्त्वके प्रारम्भसमयके निर्वेशपूर्वक उसकी अवस्था विशेषकी प्ररूपणा करते हैं—

चरिमे फालि दिण्णे कदकरणिज्जेत्ति वेदगो होदि ।

सो वा मरणं पावइ चउगइगमणं च तट्ठाणे ॥१४५॥ ✓

देवेसु देवमणुए सुरणरतिरिए चउग्गईसुं पि ।

कदकरणिज्जुप्पत्ती कमेण अंतोमुहुत्तेण ॥१४६॥ ✓

अर्थ—अन्तिमफालि द्रव्य के दिये जाने पर कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि होता है । वहां मरण होवे तो चारों गतियोंमें जा सकता है । यदि अन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्रथम भाग में मरे तो देवगतिमें ही उत्पन्न होता है । तत्प्रमाण दूसरे भागमें मरण हो तो देव या मनुष्यों में उत्पन्न होता है । तत्प्रमाण तृतीय भागमें मरण हो तो देव, मनुष्य या तिर्य्यच (इन तीनों में से किसी भी गति) में उत्पन्न होता है । तत्प्रमाण चतुर्थभागमें मरण हो तो चारों गतियोंमें उत्पन्न हो सकता है ।

विशेषार्थ—इसप्रकार अनिवृत्तिकरणके चरमसमयमें सम्यक्त्व मोहनीयके अन्तिमकाण्डककी अन्तिमफालिके द्रव्यका अधस्तनवर्ती निषेकों में निक्षेपण करने के पश्चात् अनन्तरवर्ती समयसे लेकर अनिवृत्तिकरणकालके संख्यातवें भागप्रमाण अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यन्त पुरातन गलितावशेष गुणश्रेणि आयामके शीर्ष को संख्यातका भाग देने पर बहुभागप्रमाण अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि होता है, क्योंकि दर्शनमोहनीयकी क्षपणा योग्य स्थितिकाण्डकादि कार्यों तो अनिवृत्तिकरणके चरम समयमें ही समाप्त हो गया इसलिये किया है करने योग्य कार्य जिसने ऐसे कृत-कृत्य नामको प्राप्त जीव भुज्यमान आयुके नाशसे मरण को प्राप्त होवे तो सम्यक्त्व ग्रहणसे पहले जो आयु बांधी थी उसके वशसे चारों गतियोंमें उत्पन्न होता है । वहां कृतकृत्यवेदकके कालके एक-एक अन्तर्मुहूर्तप्रमाण चार भाग करता है, उनमें से प्रथम-भागमें मरे तो देवों में ही, द्वितीय भाग में मरे तो देव या मनुष्यों में, तृतीयभाग में मरे तो देव-मनुष्य या तिर्यचों में तथा चतुर्थभागमें मरे तो चारों गतियों में उत्पन्न होता है, क्योंकि वहां उन ही में उत्पन्न होने योग्य परिणाम होते हैं । इस क्रम द्वारा कृतकृत्य वेदककी उत्पत्ति जानना चाहिए ।

आगे अधःकरणके प्रथमसमयसे लेकर कृतकृत्यवेदककालके चरम समयपर्यन्त लेश्या परिवर्तन होने अथवा न होने सम्बन्धी कथन करते हैं—

करणपटमाद् जावयं किदुकिञ्चुवरिं मुहुत्तअतोत्ति ।

ण सुहाण परावत्ती सा धि कओदावरं तु वरिं ॥१४७॥

अर्थ—अधःकरण से लेकर कृतकृत्यवेदक के ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल तक शुभ लेश्या को बदलता नहीं अर्थात् शुभ लेश्यामें अवस्थित रहता है । अन्तर्मुहूर्त पश्चात् यदि अन्य लेश्या रूप परिणामता है तो जघन्य कापोतलेश्याका अतिक्रम नहीं करता है ।

विशेषार्थ—अधःप्रवृत्तिकरणमें विशुद्धिको पूर कर तेज (पीत), पद्म और शुक्ल इनमें से किसी एक शुभ लेश्या में दर्शनमोहकी क्षपणा का प्रारम्भकर पुनः जब जाकर यह जीव कृतकृत्य होता है तब तक उसके पूर्वमें प्रारम्भ की गई वही लेश्या पाई जाती है तथा पुनः उसके आगे भी जब तक अन्तर्मुहूर्तकाल नहीं गया तब तक प्रारब्ध उक्त लेश्याको छोड़कर अन्य लेश्यारूप परिवर्तन नहीं करता है, क्योंकि कृतकृत्य भावको प्राप्त होनेवाले जीवके पूर्वमें प्रारब्ध हुई लेश्या का उत्कृष्ट अंश होता है ।

पुनः उसके मध्यम अंशको प्राप्त कर और अन्तर्मुहूर्त कालतक उस रूप रहकर जघन्य अंशमें भी जब अन्तर्मुहूर्त काल तक नहीं रह लेता तब तक अन्य लेश्यारूप परिवर्तन का होना सम्भव नहीं है ।

कुछ आचार्य इसप्रकार भी अर्थ करते हैं कि जिसप्रकार अधःप्रवृत्तकरणके प्रारम्भमें पूर्वोक्त विधिसे तेज, पद्म और शुक्ललेश्यामें से अन्यतर लेश्या के साथ क्षपण-क्रियाका प्रारम्भ करने वाला जो जीव पुनः दर्शनमोहकी क्षपणारूप क्रियाकी समाप्ति होने पर कृतकृत्यरूप से परिणामन करता है उसके नियमसे शुक्ललेश्याके होनेमें विरोध नहीं है । पुनः उसका विनाश होनेसे आगममें बतलाई गई विधिके अनुसार यदि तेज और पद्मलेश्यारूपसे परिणत होता है तो कृतकृत्य होने के बाद जब तक अन्तर्मुहूर्तकाल नहीं जाता तब तक वह उक्त लेश्यारूपसे परिवर्तन नहीं करता । अन्तर्मुहूर्तकाल के पश्चात् कृतकृत्य सम्यग्दृष्टि जीव पहलेकी अवस्थित लेश्याका परित्यागकर जघन्य कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल इनमें से अन्यतर लेश्यारूप से परिणमता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है । इस वचन द्वारा कृष्ण और नीललेश्याका यहाँ अत्यन्त अभाव कहा गया जानना चाहिये, क्योंकि अत्यन्त संकिलष्ट हुआ भी कृतकृत्य जीव अपने कालके भीतर जघन्य कापोत लेश्याका अतिक्रम नहीं करता है ।

अब कृतकृत्यवेदक कालमें पायी जाने वाली क्रिया विशेष को कहते हैं—

अणुसमञ्जो बह्णयं कदकिञ्जंतोति पुञ्चकिरियादो ।

वट्टदि उदीरणं वा असंखसमयप्पवद्धाणं ॥१४८॥

अर्थ—पूर्व प्रयोग वश कृतकृत्यवेदक कालके अन्त तक प्रतिसमय सम्यक्त्वके अनुभागका अनन्तगुणी हानिरूप से अपवर्तन होता है तथा कृतकृत्य वेदककालमें एक समय अधिक एक आवलिकाल शेष रहने तक असंख्यात समयप्रबद्धोंकी उदीरणा भी होती है ।

विशेषार्थ—अनिवृत्तिकरणकालका संख्यातवां भाग अवशिष्ट रहने पर जिस प्रकार दर्शनमोहनीयके अनुभागकाण्डकघात को नष्टकर प्रतिसमय अनन्तगुणे घटते क्रम सहित अनुभागका अपवर्तन कहा था, उसीप्रकार इस कृतकृत्यवेदककालके अन्तिम समयपर्यन्त पाया जाता है, क्योंकि करण परिणामों की विशुद्धता के संस्कार का यहाँ अवशेष रहना सम्भव है । उस कृतकृत्यवेदककालमें जबतक एक समय अधिक

उच्छिष्टावलि अवशेष रहती है तबतक प्रतिसमय असंख्यातगुणो क्रम सहित असंख्यात समय प्रबद्धोंकी उदीरणा पाई जाती है ।

उदयवर्हि ओक्कट्टिय असंखगुणसमुदयभावलिम्हि खिवे ।

उवरिं विसेसहीणं कदकिज्जो जाव अइत्थवणं ॥१४६॥

जदि संकिहेसजुतो विमुद्धितहिदो अतो वि पडिसमयं ।

दव्वमसंखेज्जगुणं ओक्कट्टदि एत्थि गुणसेही ॥१५०॥

जदि वि असंखेज्जाणं समयपवद्धाणुदीरणातोवि ।

उदयगुणसेडिठिदिए असंखभाणो हु पडिसमयं ॥१५१॥

अर्थ—उदयावलिसे बाहरके द्रव्यको अपकर्षित करके उदयावलिमें असंख्यात-गुणो क्रमसे दिया जाता है उससे ऊपर कृतकृत्यवेदककाल में अतिस्थापना शेष रहने तक विशेषहीन क्रमसे द्रव्य दिया जाता है ॥१४६॥

कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि चाहे संक्लेशको प्राप्त हो चाहे विशुद्धिको तो भी उसके एक समय अधिक आवलिकाल शेष रहने तक प्रतिसमय असंख्यातगुणो द्रव्यका अपकर्षण होता है, किन्तु गुणश्रेणि नहीं होती ॥१५०॥

यद्यपि असंख्यात समयप्रबद्धोंकी उदीरणा होती है तथापि प्रतिसमय उदय द्रव्यसे उत्कृष्ट उदीरणा द्रव्य असंख्यातवैभाग मात्र है ॥१५१॥

विशेषार्थ—कृतकृत्यवेदककालप्रमाण सम्यक्त्वमोहनीयके निषेकों का द्रव्य किञ्चित् ऊन द्वयधर्गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण है उसको अपकर्षणभागहार का भाग देकर उसमें से एकभागप्रमाण द्रव्यको उदयावलिसे बाहर उपरितनवर्ती निषेकों से ग्रहणकरके उसको पत्यके असंख्यातवै भागका भाग देकर उसमें से एक भाग तो उदयावलिमें “प्रक्षेपयोगोद्धत” इत्यादि विधानके द्वारा प्रथम समय से लेकर अन्तिम निषेकपर्यन्त असंख्यातगुणो क्रमसे दिया जाता है । तथा अवशिष्ट बहुभाग प्रमाण द्रव्य उस उदयावलिसे उपरितनवर्ती अवशिष्ट अन्तर्मुहूर्तप्रमाण उपरितन स्थितिके अन्तमें एकसमय अधिक अतिस्थापनावलि छोड़कर सर्वनिषेकोंमें “अद्धाणेण सव्वधणे” इत्यादि विधान द्वारा विशेष हीन क्रमसे निक्षिप्त करता है । [इसप्रकार उपरितन स्थितिका जो द्रव्य उदयावलिमें दिया जाता है उसको उदीरणा कहते हैं ।]

कृतकृत्य जीवके कालके भीतर जिसप्रकार गुणश्रेणि निक्षेप आदि विशेष असम्भव हैं उसीप्रकार वहां असंख्यात समयप्रबद्धोंकी उदीरणा भी असम्भव है ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए, किन्तु यह कृतकृत्यजीव अपने कालके भीतर संक्लेशको प्राप्त हो या विशुद्धिको प्राप्त हो तो भी संक्लेश-विशुद्धिनिरपेक्ष असंख्यात समयप्रबद्ध-प्रमाण उदीरणा प्रतिसमय असंख्यातगुणित श्रेणिरूपसे कृतकृत्यके कालमें एकसमय अधिक एक आवलिकाल शेष रहने तक प्रवृत्त होती ही है, प्रतिघातको नहीं प्राप्त होती ।

यद्यपि असंख्यात समयप्रबद्धोंकी उदीरणा पूर्व-पूर्व समय सम्बन्धी उदीरणा-द्रव्यसे असंख्यातगुण क्रमयुक्त है तथापि अन्तिमकाण्डकी अन्तिमफालिके द्रव्यको गुण-श्रेणिआयाममें दिया था उस गुणश्रेणिरूप उदयनिषेकके द्रव्यसे यह उदीरणाद्रव्य असंख्यातवां भागमात्र ही है, क्योंकि सर्वद्रव्यमें अपकर्षण भागहारका भाग देकर उसमें से एकभागको पर्यके असंख्यातवैभागका भाग देने पर उसमें से एक भागप्रमाण यह उदीरणाद्रव्य है और जो गुणश्रेणि का निषेक उदयरूप है, उसका द्रव्य, सर्वद्रव्यमें असंख्यात पर्य के प्रथम वर्गमूलका भाग देने पर एक भागमात्र इसलिये कृतकृत्यवेदकके प्रथमादि समयोंमें उदीरणाद्रव्य जो कि उस-उस समयमें उदयावलिके निषेकोंमें दिया जा रहा है वह उस-उस उदयावलिके निषेकों के सत्त्वद्रव्यसे असंख्यातगुणा हीन है । पुनः कृतकृत्यवेदक कालमें एकसमय अधिक आवलिप्रमाणकाल अवशेष रहनेपर पूर्वमें अपकर्षित किये गए द्रव्यसे असंख्यातगुणे द्रव्यको स्थिति के अन्तिम निषेक अर्थात् उदयावलिसे उपरितनवर्ती एक निषेक से अपकर्षित करके उसके नीचे एक समयकम आवलिके ३ भागप्रमाण निषेकोंको अतिस्थापनारूप रखकर उसके नीचे एक समयअधिक आवलीके त्रिभागमात्र निषेकोंमें द्रव्य देता है । वहां उस अपकर्षण किये हुए द्रव्यको पर्यके असंख्यातवै भाग से भाजितकर उसमें से एक भागप्रमाण द्रव्य तो उदय समयसे लेकर यथायोग्य असंख्यातसमय सम्बन्धी निषेकोंमें असंख्यातगुणे क्रमसे देता है और अवशिष्ट बहुभागप्रमाण द्रव्यको अतिस्थापनाके अधस्तन समयको छोड़कर उसके नीचे शेष बचे आवलीके त्रिभागप्रमाण निषेकोंमें विशेष हीन क्रमसे निक्षिप्त करता है । यही उत्कृष्ट उदीरणा है, इससे अधिक उदीरणाका द्रव्य नहीं है । इसप्रकार अनुभागका प्रतिसमय अपवर्तन करके और कर्म परमाणुओंकी उदीरणा करके यह कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वमोहनीयकी शेष रही अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिमें उच्छिष्टावलिको छोड़कर सर्व प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेशों के सर्वथा विनाश पूर्वक (एक-एक निषेक

का एक-एक समयमें उदयरूप होकर) नष्ट होता है । तदनन्तर समयमें उच्छिष्टावलि-प्रमाण स्थिति अवशिष्ट रहनेपर उदीरणाका भी अभाव हुआ, केवल अनुभागका अपवर्तन (पूर्वमें कहे गए अपवर्तनसे यहां अपवर्तनका भिन्न लक्षण है) अनुभागका अपवर्तन उदयरूप प्रथम समयसे लेकर प्रतिसमय अनन्तगुणो क्रमसे प्रवर्तता है उससे (अपवर्तन से) प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेशोंके सर्वथा नाशपूर्वक प्रतिसमय उच्छिष्टावलि के एक-एक निषेकको गलाकर निर्जीण करता है और अनन्तरसमयमें ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है ।

आगे कहे जाने वाली अल्पबहुत्वके कथनकी प्रतिज्ञारूप गाथा कहते हैं—

विदियकरणादिमादो कदकरणिज्जस्स पढमसमओत्ति ।

वोच्छं रसखंडुक्कीरणकालादीणमप्यवहु ॥१५२॥

अर्थ—द्वितीय करण (अपूर्वकरण) के प्रथमसमय से लेकर कृतकृत्यवेदक के प्रथम समयपर्यन्त अनुभागकाण्डकोत्कीरण कालादिक के अल्पबहुत्वसम्बन्धी ३३ स्थानों का कथन आगे करेंगे ।

विशेषार्थ—दर्शनमोहनीयकी क्षपणा करनेवाले जीवके अपूर्वकरणके प्रथम-समय से लेकर कृतकृत्यवेदक होनेके प्रथम समयतक इस अन्तरालमें जघन्य और उत्कृष्ट अनुभागकाण्डकोत्कीरणकाल तथा स्थितिकाण्डकोत्कीरण कालों के जघन्य व उत्कृष्ट स्थितिकाण्डक, स्थितिबन्ध, स्थिति सत्कर्मोंके जघन्य व उत्कृष्ट आबाधाओं का तथा अन्य पदोंके अल्पबहुत्वका कथन किया जावेगा ।

अब ११ गाथाओं के द्वारा अल्पबहुत्वके ३३ स्थानोंका कथन करते हैं—

रसठिदिखंडुक्कीरणअद्धा अवरं वरं च अवरवरं ।

सठवत्थोवं अहियं संखेज्जगुणं विसेसहियं ॥१५३॥

कदकरणसम्मखवणाणियट्ठिअपुठ्वद्ध संखगुणिदकमं ।

तत्तो गुणसेठिस्स य णिक्खेओ साहियो होदि ॥१५४॥

सम्मदुचरिमे चरिमे अडवस्सस्सादिमे य ठिदिखंडा ।

अवरवराबाहावि य अडवस्सं संखगुणिदकमा ॥१५५॥

सम्मे असंखवस्सिय चरिमट्ठिदिखंडओ असंखगुणो ।
 मिस्से चरिमे खंडियमहियं अडवस्समेत्तेण ॥१५६॥
 मिच्छे खवदे सम्मदुगाणं ताणं च मिच्छसत्तं हि ।
 पढमंतिमठिदिखंडा असंखगुणिदा हु दुट्ठाणे ॥१५७॥
 मिच्छंतिमठिदिखंडो पल्लासंखेज्जभागमेत्तेण ।
 हेट्ठिमठिदिप्पमाणेणभिहियो होदि शियमेण ॥१५८॥
 दूरावकिट्ठपढमं ठिदिखंडं संखसंगुणं तिरणं ।
 दूरावकिट्ठहेदूठिदिखंडं संखसंगुणियं ॥१५९॥
 पलिदोवमसंतादो विदियो पल्लस्स हेदुगो जादु ।
 अवरो अपुव्वपढमे ठिदिखंडो संखगुणिदकमा ॥१६०॥
 पलिदोवमसंतादो पढमो ठिदिखंडओ दु संखगुणो ।
 पलिदोवमठिदिसंतं होदि विसेसाहियं तत्तो ॥१६१॥
 विदियकरणस्स पढमे ठिदिखंडविसेसयं तु तदियस्स ।
 करणस्स पढमसमये दंसणमोहस्स ठिदिसंतं ॥१६२॥
 दंसणमोहूणाणं बंधो संतो य अवर वरगो य ।
 संखेये गुणिदकमा तेत्तीसा एत्थ पदसंखा ॥१६३॥

गाथार्थ व विशेषार्थ—सर्वप्रथम दर्शनमोहनीयका आठवर्ष प्रमाण स्थिति सत्कर्म रहने पर जो पहले का अनुभागकाण्डक है उसका उत्कीरण काल सबसे स्तोक है । ऊपर कहे जाने वाले सभी पदों से स्तोकतर है, किन्तु कृतकृत्यवेदक होनेके प्रथम में ज्ञानावरणादि शेष कर्मोंका जो पहलेका अनुभागकाण्डक, अनिवृत्तिकरणकी अन्तिम अवस्थामें उसका उत्कीरणकाल सबसे जघन्य (स्तोक) है, क्योंकि उससे आगे कृतकृत्य-वेदककालके भीतर स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात आदि क्रियाओंकी प्रवृत्ति नहीं होती । अतः सबसे उत्कृष्ट विशुद्धि निमित्तक यह सबसे जघन्य है, यह सिद्ध हुआ । (१)

उससे उत्कृष्ट अनुभागकाण्डकका उत्कीरणकाल विशेष अधिक है, क्योंकि सभी कर्मोंके अपूर्वकरणके प्रथमसमय में प्राप्त अनुभागकाण्डक सम्बन्धी उत्कीरणकाल यहां ग्रहण किया गया है । (२) उससे स्थितिकाण्डकका जघन्य उत्कीरणकाल और जघन्य स्थितिबन्धकाल ये दोनों तुल्य होकर भी संख्यातगुणे हैं, क्योंकि एक स्थितिकाण्डक उत्कीरणकाल व स्थितिबन्धकाल के भीतर आगमोक्त संख्यातहजार अनुभागकाण्डक उत्कीरणकाल होते हैं । यहां सम्यक्त्वप्रकृतिका अन्तिम स्थितिकाण्डक उत्कीरणकाल तथा वहीं पर शेष कर्मोंके भी स्थितिकाण्डक-उत्कीरणकाल और स्थितिबन्धकाल ग्रहण करने चाहिये । (३)

उनसे, उत्कृष्ट ये दोनों परस्पर तुल्य होकर भी, विशेष अधिक हैं, क्योंकि अपूर्वकरणके प्रथम समय सम्बन्धी स्थितिकाण्डक उत्कीरण व स्थितिबन्धकाल ये दोनों उत्कृष्टरूप से ग्रहण किये गये हैं ॥४॥ (गाथा १५३)

उनसे कृतकृत्यसम्यग्दृष्टिका काल संख्यातगुणा है, क्योंकि कृतकृत्य सम्यग्दृष्टि के कालमें संख्यातहजार स्थितिबन्ध होते हैं ॥५॥ उससे सम्यक्त्वप्रकृतिका क्षपणकाल संख्यातगुणा है, क्योंकि मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियोंका क्षयकर पुनः आठवर्ष प्रमाण स्थितिसत्कर्मका क्षय करनेवाले जीवका काल ग्रहण किया गया है ॥६॥ उससे अनिवृत्तिकरणका काल संख्यातगुणा है, क्योंकि करणके संख्यात बहुभाग जाकर संख्यातत्रे भाग शेष रहने पर सम्यक्त्वप्रकृतिकी क्षपणके कालका प्रारम्भ होता है ॥७॥ उससे अपूर्वकरणकाल संख्यातगुणा है, क्योंकि अनिवृत्तिकरणके कालसे अपूर्वकरणके कालका सर्वत्र संख्यातगुणे रूपसे अवस्थान होनेका नियम है ॥८॥ उससे गुणश्रेणि निक्षेप विशेष अधिक है, क्योंकि अपूर्वकरणके प्रथम समयसे लेकर अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के कालसे विशेष अधिक प्रमाण गुणश्रेणिआयामका निक्षेप विवक्षित है ॥९॥ (गाथा १५४)

उससे सम्यक्त्वप्रकृतिका द्विचरम स्थितिकाण्डक संख्यातगुणा है । यह भी मात्र अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होकर पिछले पदसे संख्यातगुणा है ॥१०॥ उससे उसका अन्तिम स्थितिकाण्डक संख्यातगुणा है ॥११॥ उससे आठवर्ष प्रमाण स्थितिसत्कर्म शेष रहने पर जो प्रथमस्थितिकाण्डक होता है वह संख्यातगुणा है । यहां संख्यात समय गुणकार है ॥१२॥ उससे जघन्य आबाधा संख्यातगुणी है । यहां पर कृतकृत्य सम्यग्दृष्टिके प्रथमसमयमें जानावरणादि कर्मसम्बन्धी जघन्य आबाधाका ग्रहण है ॥१३॥ उससे

उत्कृष्ट अन्वाधा संख्यातगुणी है, क्योंकि अपूर्वकरणके प्रथम समयमें होनेवाले संख्यात-
गुणे स्थितिवन्धकी आवाधाका ग्रहण है । ये सब अन्तर्मुहूर्त प्रमाण हैं ॥१४॥ उससे
सम्यक्त्वप्रकृतिकी आठवर्षप्रमाण स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणा है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्तकालसे
आठवर्षप्रमाण स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणा सिद्ध है ॥१५॥ (गाथा १५५)

उससे सम्यक्त्वप्रकृतिका असंख्यातवर्षप्रमाण अन्तिम स्थितिकाण्डक असंख्यात-
गुणा है, क्योंकि वह पत्यके असंख्यातवर्षभागप्रमाण है ॥१६॥ इससे सम्यग्मिथ्यात्व-
प्रकृतिका असंख्यातवर्षप्रमाण अन्तिम स्थितिकाण्डक विशेष अधिक है । एक आवलिकम
आठवर्ष विशेषका प्रमाण है, इसका कारण सुगम है ॥११७॥ (गाथा १५६)

उससे मिथ्यात्वका क्षय होनेपर सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वका प्रथम
स्थितिकाण्डक असंख्यातगुणा है, क्योंकि सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वके अन्तिम स्थिति-
काण्डकसे द्विचरम स्थितिकाण्डक असंख्यातगुणा है । इसप्रकार त्रिचरम और चतुश्चरम
आदि क्रमसे संख्यातहजार स्थितिकाण्डक नीचे जाकर मिथ्यात्व का क्षय होने पर सम्य-
क्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वका तत्सम्बन्धी यह प्रथम स्थितिकाण्डक है । इसलिये यह स्थिति-
काण्डक असंख्यातगुणा है ॥१८॥ उससे मिथ्यात्व सत्कर्मवालेके सम्यक्त्व और सम्य-
ग्मिथ्यात्वका अन्तिम स्थितिकाण्डक असंख्यातगुणा है, क्योंकि मिथ्यात्व सत्कर्मवालेके
सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वका जो अन्तिम स्थितिकाण्डक है, वह पूर्वके स्थितिकाण्डकसे
अनन्तर अधस्तनवर्ती होनेसे पूर्वके स्थितिकाण्डकसे असंख्यातगुणा है ॥ १९ ॥
(गाथा १५७)

उससे मिथ्यात्वका अन्तिम स्थितिकाण्डक विशेष अधिक है, क्योंकि मिथ्यात्वके
उदयावलि बाह्य समस्त स्थितिसत्कर्मका ग्रहण होता है, परन्तु सम्यक्त्व और सम्य-
ग्मिथ्यात्वकी उस समय अधस्तन पत्योपमके असंख्यातवर्षभागप्रमाण स्थितियोंको छोड़-
कर उपरिम बहुभागप्रमाण स्थितियोंका ग्रहण होता है । इस कारण अधस्तन असंख्या-
तवर्षभाग मात्रका प्रवेश होकर मिथ्यात्वका अन्तिम स्थितिकाण्डक विशेष अधिक हो
गया है ॥२०॥ (गाथा १५८)

उससे मिथ्यात्व सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वके असंख्यातगुण हानिवाले
स्थितिकाण्डकोंमें से प्रथम स्थितिकाण्डक असंख्यातगुणा है, क्योंकि पूर्वके स्थितिकाण्डकसे
संख्यातहजार स्थितिकाण्डक असंख्यातगुणे क्रमसे नीचे उतरकर दूरापकृष्ट संज्ञक
स्थितिके असंख्यात बहुभागके द्वारा इस स्थितिकाण्डककी प्रवृत्ति होती है ॥२१॥ उससे

संख्यातगुणहानिवाले स्थितिकाण्डकों में से जो अन्तिम स्थितिकाण्डक है वह संख्यात-गुणा है, क्योंकि दूरापकृष्टिप्रमाण स्थितिसत्कर्मों को छोड़कर पुनः उपरिम संख्यात बहुभागके द्वारा इस स्थितिकाण्डककी प्रवृत्ति होती है ॥२२॥ (गाथा १५६)

उससे पल्योपमप्रमाण स्थितिसत्कर्मके रहते हुए दूसरा स्थितिकाण्डक संख्यात-गुणा है, क्योंकि पूर्वके स्थितिकाण्डकसे पश्चादनुपूर्वीके अनुसार संख्यातगुणवृद्धि रूप संख्यातहजार स्थितिकाण्डक पीछे उतरकर यह काण्डक होता है ॥२३॥ उससे जिस स्थितिकाण्डकके नष्ट होने पर दर्शनमोहनीयका पल्योपमप्रमाण स्थितिसत्कर्म शेष रहता है वह स्थितिकाण्डक संख्यातगुणा है । यद्यपि यह भी पल्योपमके संख्यातवैभागप्रमाण है, किन्तु पूर्वके स्थितिकाण्डकसे संख्यातगुणा है । गुणकार तत्प्रायोग्य संख्यात अङ्क है ॥२४॥ उससे अपूर्वकरणमें प्रथम स्थितिकाण्डक संख्यातगुणा है, क्योंकि अपूर्वकरणके प्रथम समयमें ग्रहण किये गये स्थितिकाण्डकसे विशेष हीन क्रमसे तत्प्रायोग्य संख्यात अङ्कप्रमाण स्थितिकाण्डक-गुणहानिगर्भ संख्यातहजार स्थितिकाण्डकोंके व्यतीत होनेपर पूर्वका स्थितिकाण्डक उत्पन्न हुआ है और वहां पर स्थितिकाण्डक गुणहानियोंका अस्तित्व असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि अपूर्वकरणके भीतर प्रथम स्थितिकाण्डकसे संख्यातगुणा हीन भी स्थितिकाण्डक होता है इसलिए यह संख्यातगुणा है ऐसा सिद्ध हुआ ॥२५॥ (गाथा १६०)

उससे पल्योपमप्रमाण स्थितिसत्कर्मके होनेपर उसके बाद होनेवाला प्रथम स्थितिकाण्डक संख्यातगुणा है, क्योंकि जब तक पल्योपमप्रमाण स्थितिसत्कर्म प्राप्त नहीं होता तब तक अपूर्वकरणके कालमें और अनिवृत्तिकरणके कालमें प्राप्त होनेवाले सभी स्थितिकाण्डक पल्योपमके संख्यातवैभाग प्रमाण वाले होते हैं, परन्तु इस स्थितिकाण्डकमें पल्योपमके संख्यात बहु भागका घात होता है अतः पूर्वके स्थितिकाण्डकसे यह संख्यात-गुणा है ॥२६॥ उससे पल्योपम स्थितिसत्कर्म विशेषाधिक है । अधस्तन शेष संख्यातवां-भाग अधिक है ॥२७॥ (गाथा १६१)

उससे अपूर्वकरणमें प्राप्त प्रथम उत्कृष्ट स्थितिकाण्डक विशेष संख्यातगुणा है । जघन्य स्थितिकाण्डक और उत्कृष्ट स्थितिकाण्डकके बीच विशेषका प्रमाण पल्यो-पमका संख्यातवांभाग हीन पृथक्त्वसागर है जो पल्यसे संख्यातगुणा है ॥२८॥ उससे अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमें प्रविष्ट जीवके दर्शनमोहनीयका स्थितिसत्कर्म संख्यात-गुणा है, क्योंकि वह सागरोपम शतसहस्रपृथक्त्व प्रमाण है ॥२९॥ (गाथा १६२)

उससे संख्यातगुणा कृतकृत्यवेदकका प्रथम समयमें दर्शनमोहनीयके बिना शेष कर्मोंका जघन्य स्थितिबन्ध है, क्योंकि कृतकृत्यवेदकके प्रथम समयमें होनेवाला स्थितिबन्ध अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है ॥३०॥ उससे उन्हींका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है, क्योंकि अपूर्वकरणके प्रथम समयमें होनेवाला उत्कृष्ट स्थितिबन्ध यहां विवक्षित है ॥३१॥ उससे दर्शनमोहनीयके बिना शेष कर्मोंका जघन्य स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणा है, क्योंकि चारित्रमोहनीयकी क्षपणाके अतिरिक्त अन्यत्र सम्यग्दृष्टियोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे भी जघन्य स्थितिसत्कर्म नियमसे संख्यातगुणा होता है ॥३२॥ उससे उन्हींका उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणा है, क्योंकि अपूर्वकरणके प्रथम समयमें सभी कर्मोंका अन्तःकोड़ाकोड़ीप्रमाण उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म होता है । उसका अभी घात नहीं हुआ है अतः घात होकर शेष बचे हुए पूर्वके जघन्य स्थितिसत्कर्मसे इसके उत्त-प्रकारसे सिद्ध होनेमें कोई बाधा नहीं आती है ॥३३॥ (गाथा १६३)¹

अब तीन गाथाओंमें क्षायिकसम्यक्त्वके कारण-गुण-भवसोमा-क्षायिकलब्धित्व आदिका कथन करते हैं—

सत्तण्हं पयडीणं खयादु खइयं तु होदि सम्मत्तं ।

मेरु व णिप्पकंपं सुणिम्मलं अक्खयमणंतं ॥१६४॥

दंसणमोहे खविदे सिज्झदि तत्थेव तदियतुरियभवे ।

णादिवकति तुरियभवे ण विणस्सति सेससम्मे व ॥१६५॥

सत्तण्हं पयडीणं खयादु अवरं तु खइयलद्धी दु ।

उक्कस्सखइयलद्धी घाइच्चउक्कखण्ण हवे ॥१६६॥

अर्थ—अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शनमोहनीय त्रिक इन सात प्रकृतियों के क्षयसे क्षायिकसम्यक्त्व होता है सो मेरुके समान निष्कम्प अर्थात् निश्चल है, सुनिर्मल अर्थात् शंकादि मलसे रहित है, अक्षय अर्थात् नाश से रहित है तथा अनन्त अर्थात् अन्तसे रहित है² ।

१. क. पा. सुत्त. पृ. ६५५ से ६५७; धवलं पु. ६ पृ. २६३ से २६६; ज. ध. पु. १३ पृ. ६१ से १०० ।

२. गो. जी. ६४७; ध. पु. १ पृ. १७२ प्रा. पं. सं. पृ. ३५ ।

दर्शनमोहका क्षय होनेपर उसी भवमें अथवा तृतीय भवमें अथवा मनुष्य या तिर्यचायु का पूर्वमें (दर्शनमोहका क्षय होने से पहले) बन्ध हो जानेके कारण भोगभूमि की अपेक्षा चौथे भवमें सिद्ध पद प्राप्त करता है । अतुर्थभवका उत्लंघन नहीं करता । औपशमिक—क्षायोपशमिक सम्यक्त्वके समान यह नाशको प्राप्त नहीं होता है ।

उक्त सात प्रकृतियोंके क्षयसे असंयतसम्यग्दृष्टिके क्षायिकसम्यक्त्वरूप जघन्य क्षायिकलब्धि होती है तथा चार धातिया कर्मोंके क्षयसे परमात्माके केवलज्ञानादिरूप उत्कृष्ट क्षायिकलब्धि होती है ।

उवणेउ मंगलं वो भवियजणा जिणवरस्स कमकमलजुयं ।

जसकुलिसकलससत्थियससंकसंखकुसादिलक्खणभरियं ॥१६७॥

अर्थ—मत्स्य, वज्र, कलश, शक्तिचक्र चन्द्रमा, अंकुश^१ शंख आदि नाना शुभ-लक्षणोंसे सुशोभित जिनेन्द्र भगवानके चरण कमल भव्य लोगोंको मंगल प्रदान करें ।

॥ इति क्षायिकसम्यक्त्वप्ररूपणा समाप्त ॥

१. भगवानके शरीरमें शंख आदि १०८ एवं मसूरिका आदि ६०० व्यंजन; इसप्रकार कुल १००८ लक्षण विद्यमान थे (महापुराण अ. १५।३७)

“अथ चारित्रलब्धि अधिकार”

वर्शनमोहकी क्षयणाविधान की प्ररूपणाके अनन्तर देशसंयम और सकलसंयम-लब्धि प्ररूपणाके लिये आगे का गाथा सूत्र कहते हैं—

दुविहा चरित्तलब्धौ देसे सयले य देसचारित्तं ।

मिच्छो अयदो सयलं तेवि व देसो य लब्धेई ॥१६८॥

अर्थ—चारित्र की लब्धि अर्थात् प्राप्ति, सो चारित्र देश और सकल के भेदसे दो प्रकार है । इसमें से देशचारित्रको मिथ्यादृष्टि या असंयतसम्यग्दृष्टि प्राप्त करता है और सकलचारित्रको मिथ्यादृष्टि या असंयतसम्यग्दृष्टि अथवा देशचारित्री प्राप्त होता है ।

विशेषार्थ—देशचारित्रका धात करनेवाली अप्रत्याख्यानावरणकषायोंके उदयाभावसे हिंसादिक दोषोंके एकदेश विरतिलक्षण अणुव्रतको प्राप्त होनेवाले जीवके विशुद्ध परिणाम होता है उसे देश चारित्र या संयमासंयमलब्धि कहते हैं । सकल सावद्यकी विरतिलक्षण पांच महाव्रत, पांचसमिति और तीनगुप्तियों को प्राप्त होने वाले जीवका जो विशुद्धिरूप परिणाम होता है उसे संयमलब्धि जानना चाहिए, क्योंकि क्षायोपशमिकचारित्रलब्धिको संयमलब्धि कहा गया है ।

अब मिथ्यादृष्टिके देशसंयमकी प्राप्तिके पूर्व पाई जानेवाली सामग्रोका कथन करते हैं—

अंतोमुहुत्तकाले देसवदी होहिदित्ति मिच्छो हु ।

सोसरणो सुज्झंतो करणंपि करेदि सगजोग्गं ॥१६९॥

अर्थ—अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् जो देशव्रती होगा ऐसे मिथ्यादृष्टिजीव प्रतिसमय अनन्तगुणीविशुद्धिसे वर्धमान होता हुआ आयु बिना सात कर्मोंका बन्ध या सत्त्व अन्त-कोड़ाकोड़ी मात्र अवशेष करनेके द्वारा स्थितिबंधापसरणको तथा अशुभकर्मोंके अनु-भागको अनन्तवांभाग मात्र करने के द्वारा अनुभागबंधापसरणको करता हुआ अपने करणयोग्य परिणामको करता है ।

१. ज. घ. पु. १३ पृ. १०७ । इतना विशेष है कि यह संयमलब्धि १२ कषायों के अनुदयरूप उपशम से तथा चारसंज्वलन और ६ नोकषायों के देशोपशम से उत्पन्न होती है । ज. घ. १३।१०६

विशेषार्थ—मिथ्यादृष्टिजीव पहले ही अन्तर्मुहूर्त काल रहने पर स्वस्थानके योग्य प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिके द्वारा विशुद्धिको प्राप्त हुआ आयुकर्मको छोड़कर सभी कर्मोंके स्थितिबन्ध और स्थितिसत्कर्मको अन्तःकोड़ाकोड़ीके भीतर करता है, क्योंकि उस कालमें होनेवाले विशुद्धिरूप परिणाम उससे उपरिम स्थितिबन्ध और स्थितिसत्कर्मके विरुद्ध स्वभाववाले होते हैं और उनके उसप्रकारके हुए बिना संयमा-संयमगुणकी प्राप्ति नहीं बन सकती । प्रकृत विशुद्धिके निमित्तसे होनेवाला यह एक फल है । दूसरा फल यह है कि साता आदि शुभ कर्मोंके अनुभागबन्ध और अनुभागसत्कर्मको चतुःस्थानीय करता है, क्योंकि उनका अनुभाग शुभपरिणामनिमित्तक होता है; परन्तु पांच ज्ञानावरणादि अशुभकर्मोंके अनुभागबन्ध और अनुभागसत्कर्मको नियमसे द्विस्थानीय करता है, क्योंकि विशुद्धिरूप परिणामोंके निमित्तसे उन कर्मोंके उससे ऊपरके अनुभाग का घात हो जाता है ।

अब उपशमसम्यक्त्वके साथ देशसंयमको ग्रहण करनेवाले जीवका कार्य बतलाते हैं—

मिच्छो देसचरितं उत्तमसम्यगेण गेहमाणो हु ।

सम्मत्तुप्पत्तिं वा तिकरण चरिमहि गेहदि हु ॥१७०॥

अर्थ—अनादि या सादि मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्वसहित देशचारित्र ग्रहण करता है । सो वह दर्शनमोहके उपशम में जो विधान कहा है उसी विधान द्वारा तीन करणोंके अन्तिमसमयमें देशचारित्रको ग्रहण करता है । दर्शनमोहके उपशमकालमें जो प्रकृति-स्थितिबन्धापसरण, स्थितिकाण्डकघात आदि कार्य कहे गये हैं वे सभी कार्य यहां भी करता है कुछ भी विशेषता नहीं है ।

अथानन्तर दो गाथाओं से मिथ्यादृष्टि जीवके वेदसम्यक्त्वके साथ देशचारित्रके ग्रहणके समय होनेवाली विशेषता बतलाते हैं—

मिच्छो देसचरितं वेदगसम्मेण गेहमाणो हु ।

दुकरणचरिमे गेहदि गुणसेढी एत्थि तवकरणे ॥१७१॥

सम्मत्तुप्पत्तिं वा थोववहूतां च होदि करणाणं ।

ठिदिखंडसहस्सगदे अपुव्वकरणं समप्पदि हु ॥१७२॥

अर्थ—सादि मिथ्यादृष्टि जीव वेदकसम्यक्त्व सहित देशचारित्र को ग्रहण करता है उसके अधःकरण और अपूर्वकरण ये दो ही करण होते हैं, उनमें गुणश्रेणि निर्जरा नहीं होती है, अन्य स्थितिखंडादि सभी कार्य होते हैं । वह अपूर्वकरणके अंतिम समयमें वेदकसम्यक्त्व और देशचारित्रको युगपत् ग्रहण करता है, क्योंकि अनिवृत्तिकरण बिना ही इनकी प्राप्ति सम्भव है । वहां प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्तिवत् ही करणों का अल्पबहुत्व है, इसलिए यहां अधःकरणकालसे अपूर्वकरणका काल संख्यातवैभाग-प्रमाण है तथा अपूर्वकरणके कालमें सख्यातहजार-स्थितिखण्ड होने पर अपूर्वकरणका काल समाप्त होता है ।

विशेषार्थ—इसीप्रकार असंयतवेदकसम्यग्दृष्टि भी दो करणों के अन्तसमयमें देशचारित्रको प्राप्त होता है । मिथ्यादृष्टिके कथन से ही सिद्धान्तके अनुसार असंयत-सम्यग्दृष्टिका भी ग्रहण करना । यहां उपशम सम्यक्त्वका अभाव होने से उस सम्बन्धी गुणश्रेणि नहीं है और देशचारित्रको अभी तक प्राप्त नहीं किया इसकारण उस सम्बन्धी गुणश्रेणि भी नहीं है तथा वेदकसम्यक्त्व गुणश्रेणिका कारण नहीं है इसलिये यहां अपूर्वकरणमें गुणश्रेणिका अभाव कहा है । अनिवृत्तिकरण, कर्मों के सर्व उपशम या निर्मूल क्षय होने के समय होता है, क्षयोपशममें नहीं होता अतः यहां अनिवृत्तिकरणका कथन नहीं किया ।

अधः प्रवृत्तिकरणका कथन जिसप्रकार दर्शनमोहकी उपशामनामें किया गया है उसी प्रकार यहां भी जानना चाहिए, क्योंकि उससे इसमें कोई भेद नहीं है । अधःकरणके समाप्त होने पर अपूर्वकरणका प्रारम्भ होता है । दर्शनमोहकी उपशामना प्रकरणमें इसका कथन हो चुका है । यहां इतनी विशेषता है कि देशचारित्रलब्धिकी प्रधानतासे वहांके परिणामोंसे यहांके परिणाम अनन्तगुणे होते हैं^१ । पूर्ववत् जघन्य स्थितिकाण्डक पल्योपमके संख्यातवैभागप्रमाण और उत्कृष्ट स्थितिकाण्डक सागरोपम पृथक्त्वप्रमाण प्रथम समयमें होता है । मध्यमें वह अनेकप्रकारका होता है । अशुभकर्मों के अनन्त बहुभागरूप अनुभागकाण्डकघात होता है, किन्तु शुभकर्मोंका अनुभागघात नहीं

१. जब यह जीव दर्शनमोहनीय की उपशामना, चारित्रमोहनीय की सर्वोपशामना दर्शनमोह की क्षपणा, चारित्रमोहकीक्षपणा, अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना (ज. ध. पु. १३ । पृ. १६७-६८) करता है तब अनिवृत्तिकरण होता है । (ज. ध. पु. १३ पृ. ११४ व ज. ध. पु. १३ प. २१४)

२. ध. पु. ६ , ज. ध. पु. १३ प. १२० ।

होता । पिछले समयकी अपेक्षा स्थितिवन्ध पत्योपमका संख्यातवांभाग हीन होता है । सहस्रों अनुभागकाण्डकोंके व्यतीत होनेपर स्थितिकाण्डकोत्कीरणकाल स्थितिवन्धकाल व अनुभागकाण्डक-उत्कीरणकाल ये तीनों एक साथ समाप्त होते हैं । इसप्रकार हजारों स्थितिकाण्डकोंके व्यतीत होने पर अपूर्वकरणका काल समाप्त होता है ।

आगे देशसंयमकी प्राप्तिके प्रथमसमयसे गुणश्रेणिरूप कार्यविशेषका निर्देश करते हैं—

से काले देसवदी असंखसमयप्रबद्धमाहरियं ।

उदयावलिस्स बाहिं गुणसेढीमवट्ठिदं कुणदि ॥१७३॥

अर्थ—देशव्रती होनेके कालमें अर्थात् प्रथमसमयमें असंख्यात समयप्रबद्धोंको अपकर्षणकर उदयावलिबाह्य अवस्थित गुणश्रेणिकी रचना होती है ।

विशेषार्थ—संयमासंयमगुणको प्राप्त होनेके प्रथमसमयमें ही उपरिम स्थितियों के द्रव्यका अपकर्षणकर गुणश्रेणिनिक्षेप करता हुआ उदयावलिके भीतर (निक्षेपार्थ अपकृष्टद्रव्यको) असंख्यातलोकका भाग देने पर जो भाग लब्ध आवे उतने द्रव्यको गोपुच्छाकारसे निक्षिप्तकर उसके बाद उदयावलिके बाहर अनन्तर स्थितिमें असंख्यात-समयप्रबद्धोंका सिचन करता है । पुनः उससे उपरिम अनन्तर स्थितिमें असंख्यातगुणे द्रव्यका सिचन करता है । इसप्रकार अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर गुणश्रेणिशीर्षके प्राप्त होनेतक असंख्यातगुणित श्रेणिरूपसे सिचन करता हुआ जाता है । तदनन्तर उपरिम-स्थितिमें असंख्यातगुणे हीन द्रव्यका सिचन करता है । इसके पश्चात् अतिस्थापनावलिसे पूर्व अन्तिम स्थितिके प्राप्त होनेतक उत्तरोत्तर विशेषहीन द्रव्यका सिचन करता है, इसप्रकारका गुणश्रेणिनिक्षेप यहांपर प्रारम्भ किया ।

अब देशसंयतके कार्य विशेषका (एकान्तानुबुद्धि संयत व अथाप्रवृत्त देश-संयतका) कथन करते हैं—

दठवं असंखगुणिदक्कमेण एयंतवड्ढिकालोत्ति ।

बहुट्ठिदिखंडे तीदे अथाप्रवत्तो हवे देसो ॥१७४॥

अर्थ—एकान्तवृद्धिकालमें असंख्यातगुणों कमसे द्रव्यका अपकर्षण होता है । बहुत स्थितिकाण्डक व्यतीत होनेपर स्वस्थान संयतासंयत अर्थात् अधःप्रवृत्त देशसंयत हो जाता है ।

विशेषार्थ—देशसंयतके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धियुक्त बढ़ता है सो इसे एकान्तवृद्धि कहते हैं । इसके कालमें प्रतिसमय असंख्यातगुणों कमसे द्रव्यको अपकर्षित करके अवस्थित गुणश्रेणिआयाममें निक्षिप्त करता है । वहाँ एकान्तवृद्धिकालमें स्थितिकाण्डकादि कार्य होता है तथा बहुत स्थिति-खण्ड होने पर एकान्तवृद्धिका काल समाप्त होने के अनन्तर विशुद्धताकी वृद्धिसे रहित होकर स्वस्थान देशसंयत होता है इसको अधःप्रवृत्त देशसंयत भी कहते हैं । इसका काल जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोंन कोटिपूर्वप्रमाण है ।

अब अधःप्रवृत्तसंयतके कालमें होने वाले कार्य विशेषका स्पष्टीकरण करते हैं—

ठिदिरसघादो एस्थि हु अधापवत्ताभिधाणदेसस्स ।

पडिउट्टदे मुहुत्तं संते ए हि तस्स करणदुगा ॥१७५॥

अर्थ—अधःप्रवृत्त देशसंयतके स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात नहीं होता । यदि देशसंयतसे गिर गया और फिर भी अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा वापस देशसंयत हो गया उसके भी स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात नहीं होते तथा दो करण भी नहीं होते ।

विशेषार्थ—करण परिणामोंका अभाव होने पर भी एकान्तानुवृद्धिसे वृद्धिको प्राप्त हुए संयमासंयमके परिणामोंकी प्रधानतावश स्थितिकाण्डकघात व अनुभागकाण्डकघात होते हैं, परन्तु एकान्तानुवृद्धिकालकी समाप्ति होनेपर अधःप्रवृत्त देशसंयतके स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात नहीं होते, क्योंकि करणसम्बन्धी विशुद्धिके निमित्तसे हुआ प्रयत्न-विशेष एकान्तानुवृद्धिके अन्तिम समयमें नष्ट हो जाता है । यदि परिणाम-निमित्तके वश संयतासंयतसे च्युत होकर, किन्तु स्थिति और अनुभागमें वृद्धि न कर फिर भी अतिशीघ्र अन्तर्मुहूर्तकालके भीतर ही परिणाम प्रयत्नवश संयमासंयम को प्राप्त होता है, उसके भी अधःप्रवृत्त संयतासंयतके समान स्थितिघात और अनुभागघात नहीं होता, क्योंकि स्थितिवृद्धि और अनुभागवृद्धिके बिना देशसंयमको प्राप्त होने

वाले के तत्प्रायोग्य विशुद्धिके सम्बन्धविना करण परिणामोंका होना असम्भव है । तीव्र विराधनाके कारणभूत बाह्यपदार्थोंका सम्पर्क हुए बिना तत्प्रायोग्य संक्लेश परिणामोंसे युक्त अन्तरङ्ग कारणके द्वारा जीवादि पदार्थोंको दूषित न कर अधस्तन गुणस्थानमें जाकर फिर भी बाह्यकारण निरपेक्ष तत्प्रायोग्य विशुद्धिके साथ मन्द संवेगरूप परिणामोंके द्वारा देशसंयम को ग्रहण करनेवालेके अनुभागकाण्डक घात, स्थितिकाण्डकघात व करण नहीं होते ।

यदि कोई जीव संक्लेशकी बहुलता से संयतासंयतसे मिथ्यात्वरूपी पातालमें गिरकर फिर भी अन्तर्मुहूर्तकाल से या 'वेदक प्रायोग्यभाव नष्ट नहीं हुआ है' ऐसे विप्रकृष्टकालसे विशुद्धिको पूरकर संयमासंयम को प्राप्त होता है तो उसके दो करण होते हैं, अन्यथा बढ़ाई गई स्थिति और अनुभागका घात नहीं बन सकता ।

आगेकी गाथामें अथाप्रवृत्तसंयतके गुणश्रेणि द्रव्यकी प्ररूपणा करते हैं—

देसो समये समये सुज्झंतो संकिलिस्समाणो य ।

चउवड्ढिहाणिदव्वादवट्ठिदं कुणदि गुणसेहिं ॥१७६॥

अर्थ—अथःप्रवृत्त देशसंयतके सर्वकालमें विशुद्धि या संक्लेशको प्राप्त होने पर भी प्रति समय यथा सम्भव चतुःस्थानपतित वृद्धि-हानि को लिये गुणश्रेणि विधान होता है ।

विशेषार्थ—जबतक देशसंयत रहता है तबतक प्रतिसमय असंख्यात समय-प्रबद्धोंका अपकर्षणकर गुणश्रेणि निर्जरा करता है,^१ क्योंकि जबतक संयमासंयम गुण नष्ट नहीं होता तबतक संयमासंयम निमित्तक गुणश्रेणि निर्जराकी प्रवृत्तिमें कोई बाधा नहीं है । इसलिये संयतासंयत गुणश्रेणि निर्जराका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल कुछ कम एक पूर्वकोटिप्रमाण है, किन्तु विशुद्धिको प्राप्त होता हुआ उक्त जीव प्रतिसमय असंख्यातगुणो संख्यातगुणे, संख्यातभागअधिक या असंख्यातभाग अधिक प्रदेश-पुञ्जका गुणश्रेणिमें निक्षेप करता है तथा संक्लेशको प्राप्त हुआ उक्त जीव इसीप्रकार असंख्यातगुणो हीन, संख्यातगुणे हीन, संख्यातभाग हीन या असंख्यातभागहीन प्रदेशपुञ्ज

१. ज. ध. पु. १३ पृ. १२४, १२७, १२९, १३१ व १३२ ।

२. व. पु. ८ पृ. ८३, ज. ध. पु. १३ पृ. १२९, गो. जी. गा. ४७६, ध. पु. १ पृ. ३७३, प्रा. पं. सं. अ.

१ गा. १३८ ।

का गुणश्रेणिमें निक्षेप करता है^१ । परिणामोंके अनुसार ही गुणश्रेणि निक्षेपको आरम्भ करता है^२ । गुणश्रेणि आयाम सर्वत्र अवस्थित ही होता है^३ ।

अथानन्तर सात गाथाओं में आचार्यदेव अल्पबहुत्वकथनकी प्रतिज्ञा पूर्वक अल्पबहुत्वका कथन करते हैं—

विदियकरणादु जावय देसस्मेयंतवद्धि चरिमेत्ति ।
 अप्पाबहुगं वोच्छं रसखंडद्धाण पडुदीणं ॥१७७॥
 अंतिमरसखंडुक्कीरणकालादो दु पडमओ अहिओ ।
 चरिमट्ठिदिखंडुक्कीरणकालो खंखगुणिदो दु ॥१७८॥
 पडमट्ठिदिखंडुक्कीरणकालो साहियो हवे तत्तो ।
 एयंतवद्धिकालो अपुडवकालो य संखगुणिदकमा ॥१७९॥
 अवरा मिच्छतियद्धा अविरद तह देससंजमद्धा य ।
 छप्पि समा खंखगुणा तत्तो देसस्स गुणसेढी ॥१८०॥
 चरिमावाहा तत्तो पडमावाहा य संखगुणिदकमा ।
 तत्तो असंखगुणिदो चरिमट्ठिदिखंडओ णियमा ॥१८१॥
 पल्लस्स संखभागं चरिमट्ठिदिखंडयं हवे जम्हा ।
 तम्हा असंखगुणिदं चरिमट्ठिदिखंडयं होई ॥१८२॥
 पडमे अवरो पल्लो पडमुक्कस्सं य चरिमठिदिबंधो ।
 पडमो चरिमं पडमट्ठिदिसंतं संखगुणिदकमा ॥१८३॥

अर्थ व विशेषार्थ—अपूर्वकरण से लगाकर एकान्तवृद्धिके अन्तसमय पर्यन्त सम्भव अनुभागकाण्डकोत्कीरणकाल आदिका अल्पबहुत्व कहेंगा । एकान्तानुवृद्धिकालके भीतर जो अन्तिम अनुभागका उत्कीरणकाल है वह सबसे स्तोक है ॥१॥ उससे अपूर्व-

१. क. पा. सुत्त पृ. ६६३ सूत्र ३१ ।

२. ध. पु. १२ पृ. ७६ ।

३. ज. ध. पु. १३ पृ. १२६-३० ।

करणमें प्रथम अनुभागकाण्डकका उत्कीरणकाल विशेष अधिक है ॥२॥ उससे एकान्तानुवृद्धिकालका अन्तिम स्थितिकाण्डक उत्कीरणकाल व जघन्य स्थितिबन्धकाल दोनों तुल्य होकर संख्यातगुणे हैं, क्योंकि एक स्थितिकाण्डकमें हजारों अनुभागकाण्डक होते हैं ॥ ३ ॥ (गा. १७८)

उससे अपूर्वकरणके प्रथम स्थितिकाण्डक व स्थितिबन्धकाल विशेष अधिक है ॥४॥ उससे संख्यातगुणा एकान्तानुवृद्धिकाल है । यद्यपि यह काल भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है, तथापि इस एकान्तानुवृद्धिकालमें संख्यातहजार स्थितिकाण्डक उत्कीरणकाल व स्थितिबन्धकाल होते हैं इसलिये यह संख्यातगुणा हो जाता है ॥५॥ उससे अपूर्वकरणका काल संख्यातगुणा है । यहां तत्प्रायेभ्य संख्यात अंक गुणाकार है । यहां पर अनिवृत्तिकरण नहीं है इसलिये तद्विषयक अल्पबहुत्वका विचार भी नहीं किया गया है ॥ ६ ॥ (गा. १७९)

उस अपूर्वकरणकालसे जघन्य सम्यक्त्वकाल, मिथ्यात्वकाल, सम्यग्मिथ्यात्वकाल तथा जघन्य असंयत-देशसंयतकाल व सकल संयमकाल ये छहों काल परस्पर सदृश होकर भी संख्यातगुणे हैं ॥७॥ उससे संयमासंयम (देशसंयम) गुणश्रेणिकाल संख्यातगुणा है ॥ ८ ॥ (गा. १८०)

उससे एकान्तानुवृद्धिकालके अन्तिम बन्धकी जघन्य आबाधा संख्यातगुणी है ॥९॥ उससे अपूर्वकरण के प्रथम समयमें होने वाले बन्धकी आबाधा संख्यातगुणी है । यह भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होकर भी पूर्व की आबाधासे संख्यातगुणी है ॥१०॥ उससे एकान्तानुवृद्धिके अन्तिम समयमें होनेवाला पल्योपमके संख्यातवैभाग प्रमाण जघन्य स्थितिकाण्डक असंख्यातगुणा है, क्योंकि चरम स्थितिकाण्डक पल्यके संख्यातवैभाग प्रमाण है इसलिये पूर्वके अन्तर्मुहूर्तकालसे यह चरम स्थितिकाण्डक असंख्यातगुणा है ॥ ११ ॥ (गा. १८१-८२)

उससे अपूर्वकरणका प्रथम जघन्य स्थितिकाण्डक, पल्योपमके संख्यातवैभाग होते हुए भी संख्यातगुणा है, क्योंकि पूर्वोक्त चरम स्थितिकाण्डकसे संख्यात हजार स्थितिकाण्डक गुणहानियां नीचे उतरकर यह अपूर्वकरणके प्रथम समयमें प्राप्त हुआ है ॥१२॥ उससे संख्यातगुणा पल्य है ॥१३॥ उससे अपूर्वकरणके प्रथम समयमें होनेवाला सागरोपमपृथक्त्वप्रमाण स्वरूप उत्कृष्ट स्थितिकाण्डक है ॥१४॥ उससे संख्यातगुणा जघन्य स्थितिबन्ध है, क्योंकि यहां एकान्तानुवृद्धिके अन्तिम समयमें होनेवाले अन्तः-

कोड़ाकोड़ीप्रमाण जघन्य स्थितिबन्धका ग्रहण है ॥१५॥ उससे अपूर्वकरणके प्रथम समयमें होनेवाला स्थितिबन्ध संख्यातगुणा ॥१६॥ उससे एकान्तानुवृद्धिकालके अन्तिम समयमें होनेवाला जघन्य स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणा है ॥१७॥ उससे अपूर्वकरणके प्रथम समयमें घातके बिना प्राप्त अन्तःकोड़ाकोड़ीप्रमाण उत्कृष्ट सत्कर्म संख्यातगुणा है^१ ॥ १८ ॥ (गा. १८३)

देशसंयमकी जघन्य व उत्कृष्टलब्धि के साथ उसके अल्पबहुत्वका कथन करते हैं—

अवरवरदेसलब्धी सेकाले मिच्छसंजमुववरणे ।

अवरादु अणंतगुणा उक्कस्सा देसलब्धी दु ॥१८४॥

अर्थ—मिथ्यात्वके सम्मुख जीवके देशसंयमकी जघन्यलब्धि होती है और संयमके अभिमुख जीवके देशसंयमकी उत्कृष्टलब्धि होती है, जघन्यसे उत्कृष्ट देशसंयमलब्धि अनन्तगुणी है ।

विशेषार्थ—संयतासंयतजीव कषायोंके तीव्र अनुभागके उदयसे संविलष्ट होकर अनन्तर समयमें मिथ्यात्वको प्राप्त होगा, उस अन्तिम समयवर्ती देशसंयतके जघन्य देशसंयमलब्धि होती है,^२ क्योंकि कषायोंके तीव्र अनुभागोदयसे उत्पन्न हुए संविलेशसे ओतप्रोत देशसंयम लब्धि के सबसे जघन्यपनेके प्रति विरोध नहीं पाया जाता । जो देशसंयत संविलिष्ट होकर संयमके अभिमुख हुआ है, अन्तिम समयवर्ती उस देशसंयतके उत्कृष्ट देशसंयमलब्धि होती है, क्योंकि प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिसे विशुद्ध होनेवाले संयमके अभिमुख हुए जीवके द्विचरम समयमें उदीर्ण हुए कषायों सम्बन्धी अनुभाग-स्पर्धकों से अनन्तगुणे हीन अन्तिम समयसम्बन्धी उदीर्ण हुए स्पर्धकों के द्वारा उत्पन्न हुई अन्तिम विशुद्धि अर्थात् चरमसमयकी देशसंयमलब्धि के सर्वोत्कृष्टपनेके प्रति विरोध का अभाव है । जघन्य देशसंयमलब्धि से उत्कृष्ट देशसंयमलब्धि अनन्तगुणी है, क्योंकि पूर्व के जघन्य लब्धिस्थानसे असंख्यात लोकप्रमाण छह स्थानों को उत्लंघ्यकर उत्कृष्ट देशसंयम लब्धिस्थानकी उत्पत्ति होती है^३ ।

१. ज. घ. पु. १३ पृ. १३३ से १३७ तक, घ. पु. ६ पृ. २७४-२७५, क. पा. सु. ६३४-३५ ।

२. क. पा. सु. पृ. ६६६ सूत्र ५८-५९ ।

३. ज. घ. पु. १३ पृ. १४०-१४१ ।

जघन्य देशसंयमके अविभागी प्रतिच्छेदों के प्रमाणका कथन करते हुए देश-संयमके भेदों व उसमें अन्तरका कथन करते हैं—

अवरे देसट्ठाणे होंति अणंताणि फट्ठयाणि तदो ।

छट्ठाणगदा सव्वे लोयाणमसंखछट्ठाणा ॥१८५॥

तत्थ य पडिवायगदा पडिवच्चगदात्ति अणुभयगदात्ति ।

उवहरिलद्धिठाणा लोयाणमसंखछट्ठाणा ॥१८६॥

अर्थ—सर्व जघन्य देशसंयमलब्धिस्थानमें अनन्त स्पर्धक होते हैं । षट्स्थानपतित वृद्धियोंके द्वारा असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानपतित सर्व लब्धिस्थान होते हैं ॥१८५॥

देशसंयमलब्धिस्थान तीन प्रकारके हैं—१. प्रतिपातगत २. प्रतिपाद्यमानगत ३. अनुभयगत । ये लब्धिस्थान उपर्युक्त परि होते हुए असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानपतित हैं ॥ १८६ ॥

विशेषार्थ—यह जघन्य देशसंयमलब्धिस्थान सब जीवोंसे अनन्तगुणे अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदोंसे निष्पन्न हुआ है । ये ही अनन्त अविभागीप्रतिच्छेद अनन्तस्पर्धक कहे जाते हैं, क्योंकि यहां पर स्पर्धक शब्द अविभागप्रतिच्छेदोंका वाची स्वीकार किया गया है । अथवा यह जघन्य लब्धिस्थान मिथ्यात्वमें गिरनेके सम्मुख हुए संयतासंयतके अन्तिम समयमें कषायोंके अनन्त अनुभाग स्पर्धकोंके उदयसे उत्पन्न हुआ है, इसप्रकार कार्यमें कारणके उपचारसे “अनन्तस्पर्धक” कहे गये हैं ।

जघन्य लब्धिस्थानको सर्व जीवराशिप्रमाण भागहारसे भाजितकर वहां प्राप्त एक भागको मिलानेपर जघन्य देशसंयमलब्धिस्थानसे अनन्तवांभाग अधिक होकर दूसरा लब्धिस्थान उत्पन्न होता है । जघन्य लब्धिस्थानसे अंगुलके संख्यातवेंभागप्रमाण अनन्त-भागवृद्धि-कांडक जाकर असंख्यातभागवृद्धिस्थान होता है । तत्पश्चात् असंख्यातभाग-वृद्धिकाण्डक जाकर संख्यातभागवृद्धिस्थान होता है । तत्पश्चात् संख्यातभागवृद्धिकांडक जाकर संख्यातगुणवृद्धिस्थान उत्पन्न होता है । तत्पश्चात् संख्यातगुणवृद्धिकांडक जाकर असंख्यातगुणवृद्धिस्थान होता है । तत्पश्चात् असंख्यातगुणवृद्धि जाकर अनन्तगुणवृद्धि-स्थान होता है तब कषायोदयस्थान अनन्तगुणा हीन होता है, क्योंकि अनन्तगुणेहीन

कषायोदय स्थानोंके बिना अनन्तगुणस्वरूप देशसंयमलब्धिस्थानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । यह एक षट्स्थान है । इसप्रकार असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थान प्रतिपातस्थान हैं । इन प्रतिपात लब्धिस्थानोंका उत्लंघनकर असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानपतित प्रतिपद्यमान स्थान हैं । ये पिछले स्थानोंसे असंख्यातगुण स्थानस्वरूप हैं । उससे भी असंख्यातगुण अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान स्थानोंके योग्य असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थान-पतितस्थान होते हैं जो तदनन्तर समयमें संयमको ग्रहण करनेवाले जीवके लब्धिस्थानोंके समाप्त होने तक पाये जाते हैं । प्रतिपात आदि तीनप्रकारके ये सब षट्स्थानपतित देशसंयमलब्धिस्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं^१ ।

जिस स्थानके होने पर यह जीव मिथ्यात्वको या असंयमको प्राप्त होता है वह प्रतिपातस्थान कहा जाता है । जिस स्थानके होनेपर यह जीव संयमासंयमको प्राप्त होता है वह प्रतिपद्यमान स्थान कहलाता है । स्वस्थानमें अवस्थानके योग्य और उपरिम गुणस्थानके अभिमुख हुए जीवके स्थान ये सब शेष लब्धिस्थान अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान-स्वरूप अनुभय स्थान हैं^२ ।

अथानन्तर देशसंयमके जघन्य व उत्कृष्टरूप से उक्त भेद कौन किसमें हैं इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

एरतिरिये तिरियणरे अवरं अवरं वरं वरं तिसुवि ।

लोयाणमसंखेज्जा छट्ठाणा होंति तम्मज्जे ॥१८७॥

अर्थ—उन प्रतिपात, प्रतिपद्यमान व अनुभय इन तीनों देशसंयम लब्धिस्थानों में प्रथम मनुष्य योग्य जघन्यस्थान होता है । पुनः तिर्यच योग्य जघन्य स्थान होता है । तत्पश्चात् तिर्यचयोग्य उत्कृष्टस्थान होता है उसके पश्चात् मनुष्ययोग्य उत्कृष्ट स्थान होता है । उनके मध्यमें असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानपतित स्थान होते हैं ।

१. ज. ध. पु. १३ पृ. १४३-१४६ ।

२. ज. ध. पु. १३ पृ. १४२ । संयमासंयम से गिरने के अन्तिम समयमें होने वाले स्थानोंको प्रतिपात-स्थान कहते हैं । संयमासंयमको धारण करनेके प्रथम समयमें होने वाले स्थानों को प्रतिपद्यमान स्थान कहते हैं । इन दोनों स्थानों को छोड़कर मध्यवर्ती समयोंमें सम्भव समस्त स्थानोंको अप्रतिपात अप्रतिपद्यमान या अनुभयस्थान कहते हैं । यह उक्त कथन का सरल शब्दोंमें तात्पर्य है । (ध. पु. ६ पृ. २७७, ज. ध. पु. १३ पृ. १४८ आदि)

प्रतिपातस्थानोंका अध्वान (आयाम) स्तोक है, उससे प्रतिपद्यमानस्थानोंका अध्वान असंख्यातगुणा है । उससे अनुभयस्थानोंका अध्वान असंख्यातगुणा है । गुणकार सवंत्र असंख्यातलोकप्रमाण है ।

अब देशसंयमके उक्त भेदों में से किसका कौन स्वामी है इसका निर्देश करते हैं—

पडिवाददुगंवरवरं मिच्छे अयदे अणुभयगजहरणं ।

मिच्छचरविदियसमये तत्तिरियवरं तु सट्ठाणे ॥१८८॥

अर्थ—देशसंयतसे मिथ्यात्वको जानेवाले के जघन्य प्रतिपातस्थान और असंयत-सम्यग्दृष्टिगुणस्थानको जाने वाले के उत्कृष्ट प्रतिपातस्थान होते हैं । इसीप्रकार मिथ्यात्वसे देशसंयम प्राप्त करनेवालेके जघन्य प्रतिपद्यमानस्थान होता है और असंयत चतुर्थगुणस्थानसे देशसंयमको प्राप्त करनेवालेके उत्कृष्ट प्रतिपद्यमानस्थान होता है । “पडिवाद दुग” से प्रतिपातस्थान व प्रतिपद्यमानस्थान इन दोनों स्थानोंका ग्रहण होता है । मिथ्यात्वसे देशसंयमको प्राप्त करनेके दूसरे समयमें जघन्य अनुभयस्थान होता है । तिर्यचोंका उत्कृष्ट अनुभयस्थान स्वस्थानमें ही होता है ।

विशेषार्थ—मिथ्यात्वको प्राप्त होनेवाले सबसे अधिक संक्लेश परिणामसे युक्त देशसंयतमनुष्यके सबसे जघन्य प्रतिपात लब्धिस्थान होता है । उससे, मिथ्यात्वमें गिरनेवाले तिर्यचका जघन्य प्रतिपात लब्धिस्थान अनन्तगुणा है, क्योंकि पूर्वके लब्धिस्थानसे असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थान ऊपर जाकर यह स्थान प्राप्त होता है । उससे तत्प्रायोग्य संक्लेश द्वारा असंयमको गिरनेवाले देशसंयत तिर्यचके अन्त समयमें होनेवाला तिर्यच योग्य उत्कृष्ट प्रतिपातस्थान अनन्तगुणा है । यह वेदक-सम्यक्त्वसे युक्त असंयमको प्राप्त होनेवाले तिर्यचके होता है । इसका अनन्तगुणा होना असिद्ध नहीं है, असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानोंको उल्लंघनकर यह स्थान प्राप्त होता है । उससे तत्प्रायोग्य जघन्य संक्लेशसे सम्यक्त्वके साथ असंयमको प्राप्त होनेवाले देशसंयत मनुष्यके अन्तिम समयमें उत्कृष्ट प्रतिपातस्थान अनन्तगुणा है, क्योंकि असंख्यातलोक-प्रमाण षट्स्थान ऊपर जाकर यह स्थान प्राप्त होता है । तत्प्रायोग्य विशुद्धि से मनुष्य मिथ्यात्वीके संयमासंयमको ग्रहण करनेके प्रथम समयमें प्रतिपद्यमान जघन्य लब्धिस्थान अनन्त गुणा है । तत्प्रायोग्य विशुद्धिके द्वारा मिथ्यात्वसे देशसंयमको ग्रहण करनेवाले तिर्यचके प्रथम समयमें यह तिर्यच योग्य जघन्य प्रतिपद्यमानस्थान पूर्वके स्थानसे अनन्त-

गुणा है, क्योंकि जाति विशेष कारण है । असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यचके सर्वविशुद्धिसे देशसंयमको ग्रहण करनेके प्रथमसमयमें उत्कृष्ट प्रतिपद्यमानस्थान होता है जो पूर्वस्थान से अनन्तगुणा है । सर्वविशुद्ध असंयतसम्यग्दृष्टि मनुष्यके देशसंयमको ग्रहण करनेके प्रथम समयमें पूर्वस्थानसे अनन्तगुणा उत्कृष्ट प्रतिपद्यमान लब्धिस्थान होता है । जघन्य प्रतिपद्यमान स्थानवाले मनुष्यके दूसरे समयमें जघन्य अनुभयस्थान होता है । इसी प्रकार तिर्यचके जघन्य अनुभयस्थान होता है । ये दोनों स्थान अपनेसे पूर्व-पूर्व स्थानकी अपेक्षा अनन्तगुणे हैं । सर्वविशुद्धि तिर्यचके पूर्वस्थानसे अनन्तगुणा उत्कृष्ट अनुभयस्थान स्वस्थानमें ही होता है । संयमके अभिमुख हुए सर्वविशुद्ध देशसंयत मनुष्यके अन्तिम समयमें उत्कृष्ट अनुभयस्थान अनन्तगुणा होता है' ।

देशसंयतजीव अप्रत्याख्यानावरणकषायको नहीं वेदता, क्योंकि वहां उसकी उदयशक्तिका अत्यन्तक्षय पाया जाता है । प्रत्याख्यानावरणीय कषाय भी देशसंयमका आवरण नहीं करती, क्योंकि सकलसंयमका प्रतिबन्ध करनेवाले कषायका देशसंयममें व्यापार नहीं होता^१ शेष चार संज्वलनकषाय और नौ नोकषाय उदीर्ण होकर देशसंयमको देशघाति करते हैं । अनन्तानुबन्धनकषायके उदयका विनाश पहले ही हो गया है । ये तेरह कषायें देशघातिरूपसे उदीर्ण होकर देशसंयमको क्षायोपशमिक करते हैं^२ । यदि चार संज्वलनकषाय और नौ नोकषायका देशघाति उदय न हो तो देशसंयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि प्रत्याख्यानका वेदन करता हुआ शेष चारित्रमोहनीयका वेदन नहीं करे तो देशसंयमलब्धि क्षायिक हो जावे । चार संज्वलन और नौ नोकषायका देशघातिरूपसे उदय अवश्यभावी है^३ ।

॥ इति देशचारित्र विधानं ॥

१. ज. घ. पु. १३ पृ. १४६-१५३, घ. पु. ६ पृ. २७८-२८०, क. पा. सु. पृ. ६६६-६७ ।
२. घ. पु. ५ पृ. २०२, ज. घ. पु. १३ पृ. १५४ ।
३. तात्पर्य यह है कि ४ संज्वलन और ९ नोकषायों के सर्वघातिस्पर्धकों के उदयक्षय से; और उन्हीं के देशघातिस्पर्धकों के उदय से संयमासंयम लब्धि अपने स्वरूप को प्राप्त करती है । इसलिये यह क्षायोपशमिक है । (जयधवलामूल तात्पर्यवाली प्रति पृ. १७६४; ज. घ. १३।१५५) अथवा क्षायोपशम नामक चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने पर संयतासंयतपना उत्पन्न होता है इसलिये यह (देशसंयम) भाव क्षायोपशमिक है । प्रत्याख्यानावरण चतुष्क, संज्वलन चतुष्क और नवनोकषायों के उदय के सर्वात्मना चारित्रविनाशशक्ति का अभाव होने से; उदय की ही संज्ञा है । उन्हीं प्रकृतियों की उत्पन्न हुए चारित्र का आवरण नहीं करने के कारण उपशम घ. ७।.....)
४. ज. घ. पु. १३ पृ. १४६-१५६, क. पा. सु. पृ. ६६७-६८ ।

अथानन्तर सकलचारित्र्यकी प्ररूपणा करने हेतु अगला सूत्र कहते हैं—

सयलचरित्तं त्रिविहं खयउवसमि उवसमं च खइयं च ।

सम्मत्तुप्पत्तिं वा उवसमसम्मेण गिरहदो पढमं ॥१८६॥

अर्थ—क्षयोपशम, उपशम और क्षायिकके भेदसे सकलचारित्र्य तीनप्रकारका है । उपशमसम्यक्त्व सहित जो क्षयोपशमचारित्र्यका ग्रहण होता है, उसका विधान प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्तिके समान है ।

विशेषार्थ—प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति मिथ्यात्व पूर्वक होती है^१ । अतः मिथ्यादृष्टिजीव प्रथमोपशमसम्यक्त्व सहित सकलचारित्र्यको ग्रहण करता है तो वह क्षयोपशमचारित्र्यको ही अप्रमत्तगुणस्थानसहित ग्रहण करता है । क्षयोपशमिकचारित्र्य प्रमत्त व अप्रमत्तसंयत इन दो गुणस्थानोंमें ही होता है, क्योंकि ऊपरके गुणस्थान उपशम या क्षपकश्रेणिमें ही होते हैं और उनमें उपशम या क्षायिकचारित्र्य होता है । प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि उपशम या क्षपकश्रेणि पर आरोहण नहीं कर सकता अतः उसके अप्रमत्त-गुणस्थानसे ऊपरके गुणस्थान सम्भव नहीं है । सकलचारित्र्य सहित प्रथमोपशमसम्यक्त्व को ग्रहण करनेवाले मनुष्यके करणलब्धिमें इतने अधिक विशुद्ध परिणाम ही जाते हैं कि वह अप्रमत्तगुणस्थानमें ही जाता है, पुनः गिरकर प्रमत्तगुणस्थानको प्राप्त होता है ।

आगे वेदकसम्यक्त्वके योग्य मिथ्यात्वो आदि जीवके सकलसंयम ग्रहण करते समय होने वाली प्रक्रिया विशेष को बताते हैं—

वेदगजोगो मिच्छो अविरददेसो य दोणिण करणेण ।

देसवदं वा गिरहदि गुणसेढी एत्थि तक्करणे ॥१८७॥

अर्थ—वेदकसम्यक्त्वसहित क्षयोपशमचारित्र्यको मिथ्यादृष्टि या असंयत अथवा देशसंयतजीव देशचारित्र्य ग्रहण करनेके सदृश ही अधःप्रवृत्तकरण व अपूर्वकरण, इन दो करणोंके द्वारा ग्रहण करता है । उन करणोंमें गुणश्रेणि नहीं होती है, किन्तु सकल-संयमके ग्रहण समयसे गुणश्रेणि होती है ।

इससे आगे देशसंयमके समान सकलसंयम में होने वाली प्रक्रिया विशेष का निर्देश करते हैं—

एत्तो उवरिं विरदे देसो वा होदि अप्पबहुगोत्ति ।

देसोत्ति य तट्टाणे विरदो ति य होदि वत्तव्वं ॥१६१॥

अर्थ—यहां से ऊपर (आगे) अल्पबहुत्वं पर्यन्त, पहले देशचारित्र्यमें जैसा कथन किया है वैसा ही सर्वकथन यहां (सकल चारित्र्यके सम्बन्ध में) भी जानना, किन्तु इतनी विशेषता है कि उस कथनमें जहां देशचारित्र्य कहा है उसके स्थान पर सकलचारित्र्य कहना चाहिए ।

विशेषार्थ—संयम ग्रहणके प्रथम समयसे अन्तमुं हूतकालतक चारित्र्यलब्धिसे एकान्तानुवृद्धिको प्राप्त होता है, क्योंकि अलब्धपूर्व संयमको प्राप्त होनेसे सवेगसम्पन्न मनुष्यके एकान्तानुवृद्धि पाई जाती है । प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धिसे प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणिरूपसे कर्मस्कन्धोंकी निर्जरा होती है । जबतक एकान्तानुवृद्धिसे वृद्धिको प्राप्त होता है तबतक आयुर्कर्मको छोड़कर शेष सर्व कर्मोंके सहस्रों स्थितिकांडकों और सहस्रों अनुभागकांडकोंका घात होता है । एकान्तानुवृद्धि कालतक इस जीवकी संज्ञा 'अपूर्वकरण' होती है, क्योंकि अपूर्व-अपूर्व परिणामोंके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होनेवाले जीवके 'अपूर्वकरण' संज्ञाकी सिद्धिमें कोई बाधा नहीं है अथवा अपूर्व-करणकालके समाप्त हो जानेपर भी अपूर्वकरणके समान प्रतिसमय अपूर्व-अपूर्व परिणामोंके द्वारा स्थितिघात आदि कार्य होते हैं^१ ।

एकान्तानुवृद्धिकाल समाप्त होनेपर तत्पश्चात् अधःप्रवृत्तसंयत होता है । यहां स्थितिघात और अनुभागघात नहीं है, परन्तु जबतक संयत है तबतक अवस्थित आयाम-वाली गुणश्रेणि होती है । इतनी विशेषता है कि विशुद्धिको प्राप्त हुआ असंख्यातगुणी, संख्यातगुणी, संख्यातवैभाग अधिक या असंख्यातवैभाग अधिक द्रव्यका अपकर्षणकर गुणश्रेणि करता है । संक्लेशको प्राप्त हुआ इसीप्रकार गुणहीन या विशेषहीन द्रव्यका अपकर्षणकर गुणश्रेणि करता है तथा अवस्थित परिणामवाला अवस्थित द्रव्यका अपकर्षणकर गुणश्रेणि करता है । परिणामोंके अनुसार^२ होनेवाली गुणश्रेणिनिर्जराके परिणामोंकी वृद्धि व हानि वश ही प्रवृत्ति होती है ।

१. ज. घ. पु. १३ पृ. १६६ ।

२. ज. घ. पु. १३ पृ. १३०, ज. घ. पु. १३ पृ. १६७, घ. पु. १२ पृ. ७६ ।

अब जघन्य संयतके विशुद्धि सम्बन्धी अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्या बताते हैं—
अवरे विरदट्टाणे होति अणंताणि फड्डयाणि तदो ।

छट्टाणगया सव्वे लोयाणमसंख छट्टाणा ॥१६२॥

अर्थ—सर्व जघन्य संयमलब्धिस्थानमें अनन्तस्पर्धक होते हैं । इसके पश्चात् सर्वोत्कृष्ट स्थान पर्यन्त षट्स्थान पतित वृद्धियोंके द्वारा असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थान-पतित सर्वस्थान होते हैं ।

विशेषार्थ—यह जघन्य सकलसंयमलब्धि सर्व जीवोंसे अनन्तगुणे अनन्त अवि-
भागीप्रतिच्छेदोंसे निष्पन्न हुआ है । ये ही अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद अनन्त स्पर्धक कहे
जाते हैं, क्योंकि यहां पर स्पर्धक शब्द अविभागप्रतिच्छेदोंका वाची स्वीकार किया गया
है । अथवा यह जघन्य लब्धिस्थान मिथ्यात्वमें गिरनेके सम्मुख हुए संयतके अन्तिम
समयमें कषायोंके अनन्त अनुभागस्पर्धकों के उदयसे उत्पन्न हुआ है । इसप्रकार कार्यमें
कारणके उपचारसे अनन्त स्पर्धक कहे गये हैं ।

जघन्य लब्धिस्थानकी सर्व जीवरशि प्रमाण भागहारसे भाजितकर एक
भागको मिलानेपर जघन्य सकलसंयम लब्धिस्थानसे अनन्तवांभाग अधिक होकर द्वितीय
लब्धिस्थान होता है । जघन्य लब्धिस्थानसे अंगुलके असंख्यातवैभागप्रमाण अर्गन्तभाग-
वृद्धिकांडक जाकर असंख्यातभागवृद्धिस्थान होता है । तत्पश्चात् असंख्यातभागवृद्धि-
काण्डक जाकर संख्यातभाग वृद्धिस्थान उत्पन्न होता है । तत्पश्चात् संख्यातभागवृद्धि-
काण्डक जाकर संख्यातगुण वृद्धिस्थान उत्पन्न होता है । उसके बाद संख्यातगुणवृद्धि
काण्डक जाकर असंख्यातगुण वृद्धिस्थान होता है । तत्पश्चात् असंख्यातगुणवृद्धि कांडक
जाकर अनन्तगुणवृद्धिस्थान होता है, तब उस स्थान की कषाय उदयस्थान अनन्तगुण-
हीन होता है, क्योंकि अनन्तगुणेहीन कषायउदयस्थानोंके बिना अनन्तगुणस्वरूप सकल-
संयम लब्धिस्थान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । यह एक षट्स्थान है । इसप्रकार
असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थान प्रतिपातस्थान हैं । प्रतिपात लब्धिस्थानोंका उल्लंघनकर
असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानपतित प्रतिपद्यमान स्थान हैं । ये पिछले स्थानोंसे
असंख्यातगुणे हैं, उससे भी असंख्यातगुणे अप्रतिपात व अप्रतिपद्यमानस्थानोंके योग्य
असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानपतित स्थान होते हैं^१ । प्रतिपात आदि तीन प्रकार के ये

सर्वस्थान षट्स्थानपतित सकलसंयमलब्धिस्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं^१ ।

सकलसंयमसम्बन्धी प्रतिपातादि भेदोंको बताते हुए प्रतिपाद भेदस्थानोंका कथन करते हैं—

तत्थ य पडिवादगया पडिवज्जगयात्ति अणुभयगयात्ति ।

उवरुवरि लद्धिठाणा लोयाणमसंखद्धाणा ॥१६३॥

पडिवादगया मिच्छे अयदे देसे य होति उवरुवरि ।

पत्तेयमसंखमिदा लोयाणमसंखद्धाणा ॥१६४॥

अर्थ—(१) प्रतिपातगत (२) प्रतिपद्यमानगत (३) अनुभयगत । ये तीनों^२ लब्धिस्थान उपर्युपरि हैं तथा असंख्यातलोक षट्स्थानपतित प्रमाण हैं ।

संयमसे मिथ्यात्व, असंयम व देशसंयमको गिरने वाले संयतके ये तीनों प्रतिपातस्थान उपर्युपरि प्रत्येक असंख्यातप्रमाण हैं तथा प्रत्येकमें असंख्यातलोक षट्स्थानपतित वृद्धि होती है ।

विशेषार्थ—जिस स्थानसे नीचेके गुणस्थानों में गिरता है, इसप्रकार प्रतिपात शब्दकी व्युत्पत्तिके कारण प्रतिपातस्थान कहा गया है । वे मिथ्यात्व प्रतिपात, असंयम सम्यक्त्वप्रतिपात और संयमासंयम (देशसंयम) प्रतिपातको विषय करनेवाले होनेसे प्रतिपातगत स्थान तीनप्रकारके होकर प्रत्येक जघन्य लब्धिस्थानसे लेकर उत्कृष्ट लब्धिस्थानतक षट्स्थानपतित वृद्धि क्रमसे अवस्थित असंख्यातलोकप्रमाण हैं । उनमें से मिथ्यात्वादिमें गिरनेवाले सर्वोत्कृष्ट संक्लेशयुक्त संयतके जघन्य प्रतिपात लब्धिस्थान होते हैं तथा तत्प्रायोग्य जघन्य संक्लेश परिणामवालेके उत्कृष्ट प्रतिपात लब्धिस्थान होते हैं । संयमको उत्पन्न करता है इसलिए उत्पादक अर्थात् प्रतिपद्यमान यह संज्ञा है । मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि व देशसंयत (मनुष्य) तत्प्रायोग्य विशुद्धिके साथ संयमको ग्रहण करनेके प्रथम समयमें जघन्यस्थान होता है । तथा सर्वविशुद्ध संयतके उत्कृष्ट होता है । मध्यम भेदरूप प्रतिपद्यमान स्थान तो षट्स्थानपतित वृद्धिरूपसे अवस्थित असंख्यातलोकप्रमाण हैं । प्रतिपात और प्रतिपद्यमान स्थानोंके अतिरिक्त शेष चारित्र्य-लब्धिस्थान अनुभयस्थान हैं^३ ।

१. ज. घ. पु. १३ पृ. १७६ ।

२. घ. पु. ६ पृ. २८३ ।

३. ज. घ. पु. १३ पृ. १७६-७७ ।

प्रतिपातस्थान सबसे अल्प हैं उनसे प्रतिपद्यमानस्थान असंख्यातगुणे हैं । उनसे अनुभयस्थान असंख्यातगुणे हैं । उनसे सभी चारित्रलब्धिस्थान विशेषाधिक हैं । विशेषाधिक होते हुए भी वे प्रतिपातस्थान और प्रतिपद्यमानस्थानोंका जितना प्रमाण है उतने अधिक हैं । जहाँ असंख्यातगुणा कहा वहाँ गुणाकार असंख्यातलोकप्रमाण है^१ । तीन प्रकारके प्रतिपातस्थानोंके जघन्य व उत्कृष्ट परिणामोंका तीव्रता-मन्दताकी अपेक्षा संदृष्टि द्वारा अल्पबहुत्व गाथा २०४ के अन्तमें बतलाया जावेगा ।

अथानन्तर प्रतिपद्यमान स्थानों का कथन करते हैं—

तत्तो पडिवज्जगया अज्जमिलिच्छे मलेच्छअज्जे य ।

कमसो अवरं अवरं वरं वरं होदि संखं वा ॥१६५॥

अर्थ—प्रतिपातस्थानोंके ऊपर असंख्यातलोकप्रमाण प्रतिपद्यमान स्थान हैं । वे आर्य मनुष्यका जघन्य, म्लेच्छ मनुष्य का जघन्य, म्लेच्छ मनुष्यका उत्कृष्ट, आर्य मनुष्यका उत्कृष्ट इस क्रमसे हैं ।

विशेषार्थ—भरत, ऐरावत और विदेहमें मध्यम खण्ड आर्यखण्ड है; वहाँके निवासी मनुष्य आर्य हैं । मध्यम खण्डके अतिरिक्त शेष पांचखण्ड मलेच्छखंड हैं और वहाँके निवासी मनुष्य मलेच्छ कहलाते हैं । उनमें धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति असम्भव होनेसे म्लेच्छपनेकी उत्पत्ति बन जाती है ।

दिग्विजयमें प्रवृत्त हुए चक्रवर्तीकी सेनाके साथ जो म्लेच्छ मध्यम अर्थात् आर्यखण्डमें आये हैं तथा चक्रवर्ती आदिके साथ जिन्होंने वैवाहिक सम्बन्ध किया है ऐसे म्लेच्छ राजाओंके संयमकी प्राप्तिमें विरोधका अभाव है । अथवा उनको जो कन्याएँ चक्रवर्ती आदिके साथ विवाही गईं उनके गर्भसे उत्पन्न हुई सन्तान मातृपक्षकी अपेक्षा स्वयं म्लेच्छ है । इनके दीक्षाग्रहण सम्भव है । इसलिये कुछ निषिद्ध नहीं है, क्योंकि इसप्रकारकी जातिवालोंके दीक्षाके योग्य होनेमें प्रतिषेध नहीं है । तीव्रमन्दताकी अपेक्षा अल्पबहुत्वका कथन गाथा २०४ के अन्तमें किया जावेगा ।

अथानन्तर अनुभयस्थानोंका कथन करनेके लिये अगला गाथासूत्र कहते हैं—

तत्तोणुभयट्ठाणे सामाइयछेदजुगलपरिहारे ।

पडिक्खन्ना परिणामा असंखलोगप्पमा होत्ति ॥१६६॥

अर्थ—प्रतिपद्यमान स्थानोंके ऊपर सामायिक-छेदोपस्थापना सम्बन्धी तथा परिहारविशुद्धिसंयमसम्बन्धी असंख्यातलोकप्रमाण अनुभयस्थान हैं^१ ।

विशेषार्थ—तत्प्रायोग्य संक्लेशवश सामायिक-छेदोपस्थापनाके अभिमुख हुए परिहारविशुद्धिसंयमके अन्तिमसमयमें परिहारविशुद्धिसंयतका जघन्य अनुभयस्थान है । परिहारविशुद्धिसे छूटकर सकलसंयमी रहा इसलिये सकलसंयमकी अपेक्षा अनुभयस्थान कहा गया है, प्रतिपातस्थान नहीं कहा गया । तीव्र-मन्दताकी अपेक्षा अल्पबहुत्वका कथन गा. २०४ के अन्तमें किया गया है ।

आगे सूक्ष्मसाम्पराय व यथाख्यातसंयम स्थानोंका कथन करते हैं—

तत्तो य सुहुमसंजम पडिवज्जय संखसमयमेत्ता हु ।

तत्तो हु जहाखादं एयविहं संजमे होदि ॥१६७॥

अर्थ—उस सामायिक-छेदोपस्थापनाके उत्कृष्टस्थान से ऊपर असंख्यातलोक-प्रमाण स्थानोंका अन्तराल करके उपशमधेरिणसे उतरते हुए अनिवृत्तिकरणके सम्मुख जीवके अपने अन्तिम समयमें होनेवाले सूक्ष्मसाम्परायका जघन्यस्थान होता है । उसके ऊपर असंख्यातसमयप्रमाण स्थान जाकर क्षपकसूक्ष्मसाम्परायके अन्त समयमें होनेवाले सूक्ष्मसाम्परायका उत्कृष्टस्थान होता है । उससे आगे असंख्यातलोकप्रमाण स्थानोंका अन्तराल करके यथाख्यातचारित्रका एक स्थान होता है । यथाख्यातचारित्ररूप यह स्थान सभी संयमोंसे अनन्तगुणी विशुद्धता युक्त उपजान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोग-केवली व अयोगकेवलीके होता है । इसमें सभी कषायोंका सर्वथा उपशम अथवा क्षय है अतः जघन्य, मध्यम व उत्कृष्टरूप भेद नहीं है^२ ।

१. क्रम संक्षिप्ततः इसप्रकार है—सर्वप्रथम सामायिक-छेदोपस्थापना का जघन्यस्थान फिर असंख्यात-लोक प्रमित स्थानों के पश्चात् परिहारविशुद्धि का जघन्यस्थान । तत्पश्चात् आगे उतने ही स्थान जाकर परिहारविशुद्धिसंयमका उत्कृष्टस्थान, फिर इतने ही स्थान ऊपर जाकर सामायिक-छेदोप-स्थापना का उत्कृष्ट स्थान है ।

२. ध. पु. ७ पृ. ५६७; ध. पु. ६ पृ. २८६ । ज. ब. पु. १३ पृ. १८७, क. पा. सुत्त प. ६७५, ल सा. गा. २०४ आदि ।

अब सात गाथाओं में उन प्रतिपातादि स्थानोंका विशेष कथन करते हैं—

पडचरिमे गहणादीसमये पडिवाददुगमणुभयं तु ।
 तम्मज्जे उवरिमगुणगहणाहिमुहे य देसं वा ॥१६८॥
 पडिवादादीतिदयं उवस्वरिमसंखलोगगुणिदकमा ।
 अंतरल्लक्कपमाणं असंखलोगा हु देसं वा ॥१६९॥
 मिच्छयद्देसभिरणे पडिवादट्ठाणगे वरं अवरं ।
 तप्पाउग्गकिलिट्ठे तिब्बकिलिट्ठे कमे चरिमे ॥२००॥
 पडिबज्जजहणणदुगं मिच्छे उक्कस्सजुगलमविदेसे ।
 उवरिं सामाइयदुगं तम्मज्जे होति परिहारा ॥२०१॥
 परिहारस्स जहणणं सामायियदुगे पडंत चरिमम्हि ।
 तज्जेट्ठं सट्ठाणे सव्वविमुद्धस्स तस्सेव ॥२०२॥
 सामयियदुगजहणणं ओघं अणियट्ठिखवगचरिमम्हि ।
 चरिमणियट्ठिस्सुवरिं पडंत सुहुमस्स सुहुमवरं ॥ २०३॥
 खवगसुहुमस्स चरिमे वरं जहाखादमोघजेट्ठं तं ।
 पडिवाददुगा सव्वे सामाइयल्लेदपडिबद्धा ॥२०४॥

अर्थ—संयमसे गिरते हुए चरम समयमें और संयम को ग्रहण करते समय प्रथम समयमें क्रमसे प्रतिपात और प्रतिपद्यमान ये दो स्थान होते हैं तथा इनके मध्यमें अथवा ऊपरके गुणस्थानके सम्मुख होनेवाले जीव के जो अनुभय स्थान होता है वह देशसंयतके समान ही यहां भी जानना चाहिये ॥१६८॥

प्रतिपात आदि तीन प्रकारके स्थान अपने-अपने जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त ऊपर-ऊपर असंख्यातलोकगुणे क्रम से युक्त हैं । उन ल्लहों में प्रत्येकके असंख्यातलोकप्रमाण बार षट्स्थानवृद्धि देशसंयतके समान जानना ॥१६९॥

प्रतिपातस्थान तो मिथ्यात्व, असंयम और देशसंयमके सम्मुख होनेकी अपेक्षा तीन भेद वाला है । उसमें भी जघन्यस्थान संयमके चरम समयमें तीव्रसंक्लेशवाले के

०००००००००००००००००००००० । अन्तर । सूक्ष्मसाम्परायसंयमीके ये संयमस्थान हैं । उससे सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयतका जघन्य प्रतिपातस्थान अनन्तगुणा है । वह किसके होता है ? अनिवृत्तिकरणके अभिमुख हुए तत्प्रायोग्य विशुद्ध सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयतके होता है । उससे उसीका उत्कृष्ट अनन्तगुणा है । वह किसके होता है ? सर्वविशुद्ध सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयत क्षपकके अन्तिम समयमें होता है । उससे वीतरागका अजघन्य-अनुत्कृष्टस्थान अनन्तगुणा है । वह कषायके अभावके कारण एक ही प्रकारका है । परन्तु वह उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगी जिन और अयोगी जिनका ग्रहण करना चाहिए । इसप्रकार इस संदृष्टि द्वारा जिनको प्रतिबोध हुआ है ऐसे शिष्योंका इस समय तीव्र-मन्दताविषयक अल्पबहुत्वको सूत्रके अनुसार बतावेंगे । यथा—

तीव्र-मन्दताकी अपेक्षा मिथ्यात्वको प्राप्त करनेवाले संयतके जघन्य संयम-स्थान सबसे मन्द अनुभागवाला होता है, क्योंकि सबसे उत्कृष्ट संक्लेशके साथ मिथ्यात्व को प्राप्त होनेवाले संयतके अन्तिमसमयमें इसका ग्रहण किया है । उससे उसीके उत्कृष्ट संयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योंकि तत्प्रायोग्य संक्लेशसे मिथ्यात्वमें गिरनेके सम्मुख हुए संयतके अन्तिम समयमें पूर्वके संयमस्थानसे असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानों को उल्लंघनकर इसकी उत्पत्ति देखी जाती है । उससे असंयत सम्यक्त्वको प्राप्त होने वाले संयतके जघन्य संयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योंकि पूर्वके संयमस्थानसे असंख्यात-लोकप्रमाण षट्स्थानोंको उल्लंघनकर यह स्थान उत्पन्न हुआ है । इसका भी कारण यह है कि मिथ्यात्वमें प्रतिपातविषयक जघन्य संक्लेश से भी सम्यक्त्वमें प्रतिपातविषयक उत्कृष्ट संक्लेशके अनन्तगुण हीनपनेको देखते हुए उसके उसप्रकार सिद्ध होनेमें विरोध का अभाव है । उससे उसीके उत्कृष्ट संयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योंकि पूर्वके जघन्य स्थानसे असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानोंको उल्लंघनकर इस स्थानकी उत्पत्ति देखी जाती है । उससे संयमासंयमको प्राप्त होनेवाले संयतके जघन्य संयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योंकि पूर्वके उत्कृष्ट स्थानसे असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानोंको उल्लंघनकर इस स्थान की उत्पत्ति देखी जाती है । उससे उसीके उत्कृष्ट संयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योंकि पूर्वके जघन्य स्थानसे असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानोंको उल्लंघनकर इस स्थानकी उत्पत्ति देखी जाती है । उससे संयमको प्राप्त करनेवाले कर्मभूमिज मनुष्यका जघन्य संयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योंकि संक्लेशनिमित्तक पूर्वके प्रतिपातस्थानसे उससे विपरीत स्वरूपवाले इसके जघन्य होनेपर भी अनन्तगुणोपन की सिद्धि न्याययुक्त है । यहांपर 'कर्मभूमिजके' ऐसा

कहनेपर पन्द्रह कर्मभूमियोंमें से मध्यम खण्डमें उत्पन्न हुए मनुष्यका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुआ कर्मभूमिज है इसप्रकार वह इस संज्ञाके योग्य है । उससे संयमको प्राप्त करनेवाले अकर्मभूमिज मनुष्यका जघन्य संयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योंकि पूर्वके संयमस्थानसे असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थान आगे जाकर इस स्थानकी उत्पत्ति हुई है । उससे संयमको प्राप्त होनेवाले उसीके उत्कृष्ट संयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योंकि पूर्वके जघन्य स्थानसे असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थान ऊपर जाकर इस स्थानकी उत्पत्ति देखी जाती है । उससे संयमको प्राप्त होने वाले कर्मभूमिज (आर्य) मनुष्यका उत्कृष्ट संयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योंकि क्षेत्रके माहात्म्यवश पूर्वके संयमस्थानसे इसके अनन्तगुणे सिद्ध होनेमें कोई बाधा नहीं उपलब्ध होती । उससे परिहारविशुद्धिसंयतका जघन्य संयमस्थान अनन्तगुणा है । यह स्थान तत्प्रायोग्य संक्लेशवश सामायिक-छेदोपस्थापनासंयमोंके अभिमुख हुए परिहारविशुद्धि संयतके अन्तिम समयमें होता है, परन्तु यह अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान सामायिक-छेदोपस्थापनासम्बन्धी जघन्य संयमलब्धिसे लेकर असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थान ऊपर जाकर वहां प्राप्त संयमलब्धि स्थानके सदृश होकर उत्पन्न हुआ है । इसलिये इसके प्रतिपातके अभिमुख होकर स्वस्थानमें सबसे जघन्य होनेपर परिहारविशुद्धिसंयमके माहात्म्यवश पूर्वके स्थानसे अनन्तगुणापना सिद्ध होता है । उससे उसीका उत्कृष्ट संयमस्थान अनन्तगुणा होता है, क्योंकि पहले जघन्य स्थानसे असंख्यात लोकप्रमाण स्थान ऊपर जाकर सामायिक छेदोपस्थापनासम्बन्धी अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान स्थानोंके भीतर यथागम इस स्थानकी उत्पत्ति देखी जाती है ।

उसमे सामायिक-छेदोपस्थापना संयतोंका उत्कृष्ट संयमस्थान अनन्तगुणा है, क्योंकि सामायिक-छेदोपस्थापनाके अजघन्य-अनुत्कृष्ट अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमानस्थानके समान पूर्वके उत्कृष्टस्थानका निर्देश करनेपर तत्पश्चात् निरन्तर क्रमसे फिर भी उससे ऊपर असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थान जाकर इस स्थानकी उत्पत्ति अनिवृत्तिकरण अपकके अन्तिम समयमें देखी जाती है । उससे सूक्ष्मसाम्परायिक संयमका जघन्य संयमस्थान अनन्तगुणा है । बादर कषायके रहते हुए होनेवाली उत्कृष्ट संयमलब्धिसे सूक्ष्मकषायमें होने वाली जघन्य संयमलब्धि भी अनन्तगुणी होती है, इसके सिवाय वहां अन्यप्रकार सम्भव नहीं है, परन्तु यह जो उपशामक गिरकर सूक्ष्मसाम्परायमें आया है उसके अन्तिम समयकी लेनी चाहिये । उससे उसीका उत्कृष्ट संयमस्थान अनन्तगुणा है । सूक्ष्मसाम्परायिक अपकके अन्तिम समयमें सर्वोत्कृष्ट विशुद्धिका इसके पहले के जघन्य

ररिणामसे अनन्तगुणे सिद्ध होनेमें विरोधका अभाव है ।

उससे वीतरागका अजघन्य-अनुत्कृष्ट चारित्र्यलब्धिस्थान अनन्तगुणा है, क्योंकि उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और केवलियोंमें जघन्य एवं उत्कृष्ट विशेषणसे रहित यथाख्यात-विहारशुद्धि संयमलब्धिकी यहां पर विवक्षा है^१ ।

॥ इति क्षायोपशमिक सकल चारित्र्य प्ररूपणं ॥

१. यथाख्यातचारित्र्यमें जघन्यादि भेद नहीं होते हैं । ध पु. ६ पृ. २८८, घ पु. ७ पृ. ५६७, ज. घ. पु. १३ पृ. १८७. घ. पु. ६ प. २८६ क. पा. सुत्त पृ. ६७५ । ल. सर. गाथा १६७ ।

“अथ चारित्रिमोहनीय उपशमनाधिकार”

सम्पूर्ण दोषों को उपशान्त किया है जिन्होंने ऐसे उपशान्तकषाय बीतरागियों को नमन करके उमशमन्तारिका लिखाने काहते हैं---

उवसमचरियाहिमुहो वेदगसम्मो अणं विजोयित्ता ।

अंतोमुहुत्तकालं अधापवत्तोऽप्रमत्तो य ॥२०५॥

अर्थ—उपशमचारित्रके सम्मुख हुआ वेदकसम्यग्दृष्टिजीव सर्वप्रथम पूर्वोक्त विधानसे अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करके अन्तर्मुहूर्तकाल तक अधःप्रवृत्त-अप्रमत्त अर्थात् स्वस्थान-अप्रमत्त होता है ।

विशेषार्थ—वेदकसम्यग्दृष्टिजीव अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना किये बिना कषायोंकी उपशामनाके लिये प्रवृत्त नहीं होता इसीलिये गाथामें “उवसमचरिया-हिमुहो वेदगसम्मो अणं विजोयित्ता” यह पूर्वाधि कहा है । मोहनीयकर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंका सत्कर्मवाला वेदकसम्यग्दृष्टिसंयत जबतक अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना नहीं करता तबतक कषायोंकी उपशामनाके लिए प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना न होनेपर उसके उपशम श्रेणि पर चढ़ने के योग्य परिणाम नहीं हो सकते । इसलिये अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजनामें यह सर्वप्रथम प्रवृत्त होता है ।

तीन करणों से अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकाल तक अधःप्रवृत्त संयत (अप्रमत्तसंयत) होता हुआ असातावेदनीय, अरति, शोक और अयशःकीर्ति आदि प्रकृतियोंका बन्ध करता है । अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजनारूप क्रिया शक्ति समाप्त होनेके बाद ही दूसरी क्रिया प्रारम्भ नहीं होती, किन्तु अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करके अन्तर्मुहूर्तकालतक स्वस्थान अप्रमत्तसंयत होकर वहां संक्लेश और विशुद्धिवश प्रमत्त और अप्रमत्तगुणस्थानों में परिवर्तन करता हुआ असातावेदनीय, अरति, शोक और अयशःकीर्ति आदि जिन प्रकृतियोंका पूर्वमें करणरूप विशुद्धिके

माहात्म्यवश नहीं बांधता था, उनका अब कितने ही कालतक बन्ध करता हुआ विश्राम करता है^१ ।

तत्पश्चात् कोई जीव दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका क्षय करके क्षायिक-सम्यग्दृष्टि होकर चारित्र्यमोहका उपशम प्रारम्भ करता है तथा कोई जीव द्वितीयोपशम सम्यक्त्व सहित उपशमश्रेणि चढ़ता है उसके दर्शनमोहका उपशम विधान कहेंगे ।

अब दो गाथाओंमें दर्शनमोहके उपशमका निर्देश तथा उपशमश्रेणिपर चढ़ने की योग्यताके निर्देश पूर्वक वहाँ (दर्शनमोहोपशममें) गुणसंक्रमणके अभाव का प्रति-पादन करते हैं—

तत्तो नियरणाविहिणा दंसणमोहं समं खु उवसमदि ।

सम्मत्तुप्पत्तिं वा अरणां च गुणसेहिकरणाविही ॥२०६॥

दंसणमोहुवसमणं तक्खवणं वा ह् इदि एवरिं तु ।

गुणसंकमो ए विज्जदि विज्झद वाधापवत्तं च ॥२०७॥

अर्थ—अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजनाके अन्तर्मुहूर्त पश्चात् तीनकरणा विधिके द्वारा तीनों दर्शनमोहनीय कर्म प्रकृतियोंको एकसाथ उपशमाता है । गुणश्रेणि, करण व अन्य अर्थात् स्थितिकाण्डक, अनुभागकाण्डक आदि विधि प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्तिके सदृश करता है । इस विधिके द्वारा दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम या क्षय होता है, किंतु उपशम होनेमें गुणसंक्रमण नहीं होता । विध्यातसंक्रमण अथवा अधःप्रवृत्तसंक्रमण होता है^२ ।

विशेषार्थ—विश्राम करने पश्चात् दर्शनमोहनीयका उपशम अर्थात् द्वितीयोपशम करने वालेके अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण जो पहले प्रथमोपशम-सम्यक्त्वोत्पत्तिके विधानमें कहे गये हैं, यहाँ भी जानना चाहिए, क्योंकि उनसे इनमें कोई विशेषता नहीं है । उसीप्रकार स्थितिघात, अनुभागघात व गुणश्रेणी होती है । अधःप्रवृत्तकरणकालमें स्थितिघात, अनुभागघात और गुणसंक्रमण नहीं है, केवल अनन्त-गुणी विशुद्धिसे विशुद्ध होता हुआ संख्यातहजार स्थितिबंधापसरण होते हैं, अप्रशस्त

१. ज. घ. पु. १३ पृ. २०१ ।

२. एवरि एत्थ गुणसंकमो एत्थि विज्झदो चेव, अप्पसत्थकम्माणं अधापवत्तो वा (धवला पु. ६ पृ. २८६)

कर्मोंका प्रतिसमय अनन्तगुणाहीन द्विस्थानिक अनुभागका बन्ध होता है तथा प्रशस्त-कर्मोंका अनन्तगुणी वृद्धिरूपसे चतुःस्थानीय अनुभागका बन्ध होता है । अधःप्रवृत्तकरण काल समाप्त होनेके पश्चात् अनन्तर समयमें प्रथम समयवर्ती अपूर्वकरण होता है और तभी स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात व गुणश्रेणिका एकसाथ प्रारम्भ हो जाता है । वहां गुणसंक्रमण नहीं है । स्थितिकाण्डकका प्रमाण पत्योपमके संख्यातवैभागप्रमाण है । अनुभागकाण्डकका प्रमाण अप्रशस्तकर्मोंके अनुभागसत्कर्मके अनन्त बहुभाग प्रमाण है । गुणश्रेणिनिक्षेप, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन दोनोंके कालसे विशेष अधिक गलितशेष आयामवाला है । स्थिति भी पत्योपमके संख्यातवैभाग हीन बंधती है । एक स्थितिकाण्डककालके भीतर संख्यात हजार अनुभागकाण्डक होते हैं^१ । अपूर्वकरणके पश्चात् अनिवृत्तिकरण होता है । इन करणोंके द्वारा दर्शनमोहनीयकी उपशामना या क्षय होता है । ऐसा नियम है कि क्षायिकसम्यग्दृष्टि या द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि होकर चारित्रमोहनीयकी उपशामनाप्रवृत्ति होती है, अन्यप्रकारसे नहीं^२ । अनादि मिथ्यादृष्टिसे प्रतिबद्ध दर्शनमोहनीयकी प्रथमोपशामनाका पूर्वमें कथन हो चुका है, किन्तु वह यहां उपयोगी नहीं है, क्योंकि वह उपशमश्रेणिके योग्य नहीं है । वेदकसम्यग्दृष्टि भी उपशम-श्रेणिके योग्य नहीं है^३ ।

मिथ्यात्वसे उत्पन्न होने वाला उपशमसम्यक्त्व प्रथमोपशमसम्यक्त्व है यह चतुर्थगुणस्थानसे सप्तमगुणस्थानतक होता है । क्षयोपशमसम्यक्त्व अर्थात् वेदकसम्यक्त्व-पूर्वक होनेवाला द्वितीयोपशमसम्यक्त्व है । इन दोनोंमें द्वितीयोपशमसम्यक्त्व वाला उपशमश्रेणि चढ़कर चारित्रमोहनीयकी उपशामना करता है । यद्यपि द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व चतुर्थगुणस्थानसे सप्तमगुणस्थानतक किसी भी गुणस्थानमें क्षायोपशमिक-सम्यग्दृष्टि मनुष्यके हो सकता है,^४ किन्तु विवक्षावश यहांपर द्वितीयोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्तिका अप्रमत्तसंयत सातवें गुणस्थानकी अपेक्षासे कथन किया है ।

१. ज. ध. पु. १३ पृ. २०३-४ ।

२. ज. ध. मूल पृ. १६१५, दोण्हं पि उवसमसेडिसमारोहणे विप्पडिसेहाभावादो ।

३. ज. ध. पु. १३ पृ. २०२, ध. पु. १.... ।

४. ध. पु. १ पृ. ११, स्वाभिं क्खिंसेयानुपेक्षा गा. ४८४ की टीका, मूलाचार पर्याप्ति अधिकार १२, गा. २०५ की टीका एवं धवल पु. १ पृ. २१४-१५ ।

विशेष यह है कि वे ही तीनकरण (अनन्त वियोजना सम्बन्धी) पृथक्-पृथक् कार्यों के उत्पादक कैसे हो सकते हैं, (यहां उपशामना में भी कार्यकारी) ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि लक्षणकी समानतासे एकत्वको प्राप्त, परन्तु भिन्न-भिन्न कर्मोंके विरोधी होनेसे भेदको भी प्राप्त हुए जीवपरिणामोंके पृथक्-पृथक् कार्यके उत्पादनमें कोई विरोध नहीं है* ।

उस समय का स्थितितत्त्व विशेष, अपूर्वकरणादिमें होने वाले कार्य विशेष, अन्तरकरणविधि आदि का कथन आठगाथाओंमें करते हैं—

ठिदिसत्तमपुव्वदुगे संखगुणूणं तु पढमदो चरिमं ।
 उवसामण अणियट्ठीसंखाभागासु तीदासु ॥२०८॥
 सम्मस्स असंखेज्जा समयपव्वच्चाणुदीरणा होदि ।
 तत्तो मुहुत्तअंते दंसणमोहंतरं कुणई ॥२०९॥
 अंतोमुहुत्तमेत्तं आवलिमेत्तं य सम्मतियठाणं ।
 मोत्तूण य पढमट्ठिदि दंसणमोहंतरं कुणदि ॥२१०॥
 सम्मतपयडिपढमट्ठिदिम्मि संखुहदि दंसणतियाणं ।
 उक्कीरयं तु दव्वं बंधाभावादु मिच्छस्स ॥२११॥
 विदियट्ठिदिस्स दव्वं उक्कहिय देदि सम्मपढमम्हि ।
 विदियट्ठिदिम्हि तस्स अणुक्कीरिज्जंतमाणम्हि ॥२१२॥
 सम्मतपयडिपढमट्ठिदीसु सरिसाण मिच्छमिस्साणं ।
 ठिदिदव्वं सम्मस्स य सरिसणिसेयम्हि संकमदि ॥२१३॥
 जावंतरस्स दुचरिमफालिं पावे इमो कमो ताव ।
 चरिमतिदंसणदव्वं लुहेदि सम्मस्स पढमम्हि ॥२१४॥
 विदियट्ठिदिस्स दव्वं पढमट्ठिदिमेदि जाव आवलिया ।
 पडि आवलिया चिट्ठदि सम्मत्तादिमठिदी ताव ॥२१५॥

अर्थ—अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयोंके स्थितिसत्कर्मसे उन्हींके अपने-अपने अन्तिम समयमें स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणाहीन होता है । अनिवृत्तिकरणके बहुकाल बीत जाने पर दर्शनमोहनीयका उपशम-कार्य प्रारम्भ होता है ॥२०८॥

उस समय^१ सम्यक्त्वके असंख्यात समय प्रबद्धोंकी उदीरणा होती है । इसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकाल जाकर दर्शनमोहनीयका अन्तर होता है^२ ॥२०९॥

सम्यक्त्वमोहनीयकी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण और मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व उदयावलिमात्र प्रथमस्थितिको छोड़कर दर्शनमोहनीयका अन्तर करता है ॥२१०॥

दर्शनमोहनीयकी तीनों प्रकृतियोंके उत्कीरणा द्रव्यको सम्यक्त्वमोहनीयकी प्रथम स्थितिमें ही निक्षिप्त करता है, क्योंकि मिथ्यात्वके बन्धका अभाव है ॥२११॥

द्वितीय स्थितिके द्रव्यमें से अपकर्षणकर अपकर्षितद्रव्यको सम्यक्त्वकी प्रथम स्थितिमें देता है तथा अन्तरसम्बन्धी निषेधोंको छोड़कर शेष अनुकीर्यमाण द्वितीय-स्थितिमें भी देता है ॥२१२॥

उदयावलिके बाहर सम्यक्त्वकी प्रथमस्थितिके समान होकर मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्वके प्रदेशपुंजको सम्यक्त्वमोहनीयकी समान स्थितियोंमें संक्रमित करता है । अन्तर की द्विचरमफालितक यही क्रम चलता रहता है । तीनों दर्शनमोहनीयके चरमफालिसम्बन्धी द्रव्यको सम्यक्त्वमोहनीयकी प्रथमस्थितिमें देता है ॥२१३-२१४॥

द्वितीयस्थितिका द्रव्य भी प्रथमस्थितिमें तभीतक आता है जबतक सम्यक्त्व-प्रकृतिकी प्रथमस्थितिमें आवलि-प्रत्यावलि शेष रह जाती हैं उसके बाद द्वितीय स्थिति का द्रव्य प्रथमस्थितिमें नहीं आता है ॥२१५॥

विशेषार्थ—अपूर्वकरणके प्रथमसमय सम्बन्धी स्थितिसत्त्वसे उसका ही अन्तिम समयसम्बन्धी स्थितिसत्त्व संख्यातगुणाहीन है । प्रथमसमयसम्बन्धी अनिवृत्तिकरणके स्थितिसत्त्वसे अन्तिम समयसम्बन्धी स्थितिसत्त्व संख्यातगुणाहीन है । दर्शनमोहनीयके उपशमानेमें अनिवृत्तिकरणकालके संख्यात भागोंके व्यतीत होनेपर सम्यक्त्वप्रकृतिके असंख्यात समयप्रबद्धोंकी उदीरणा होती है ।

१. अर्थात् दर्शनमोहकी उपशामना सम्बन्धी अनिवृत्तिकरणकालके संख्यात बहुभाग जाने पर । ज.ध.

२. ध. पु. ६ पृ. २६०

इसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकाल जाकर दर्शनमोहनीयका अन्तर करता है । वह इस प्रकार है—सम्यक्त्वप्रकृतिकी अन्तर्मुहूर्तमात्र प्रथमस्थितिको छोड़कर अन्तर करता है तथा मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतियोंकी उदयावलिमात्र प्रथमस्थितिको छोड़कर अन्तर करता है । इस अन्तरकरणमें उत्कीर्ण किये जानेवाले प्रदेशाग्रको द्वितीयस्थितिमें नहीं स्थापित करता है, किन्तु बन्धका अभाव होनेसे सबको लाकर सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथमस्थितिमें स्थापित करता है । सम्यक्त्वप्रकृतिके प्रदेशाग्रको अपनी प्रथमस्थितिमें ही स्थापित करता है । मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिके द्वितीयस्थिति-सम्बन्धी प्रदेशाग्रका अपकर्षण करके सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथमस्थितिमें देता है और अनुत्कीर्यमाण (द्वितीय स्थितिकी) स्थितियोंमें भी देता है । सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथमस्थितिके समान स्थितियोंमें स्थित होकर मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियोंके जो प्रदेशाग्र हैं उन प्रदेशाग्रोंको सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथम स्थितियोंमें संक्रमण कराता है । जबतक अन्तरकरणकालकी द्विचरमफालि प्राप्त होती है तबतक यही क्रम रहता है । पुनः अन्तिमफालिके प्राप्त होनेपर^१ मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियोंके सब अन्तरस्थितिसम्बन्धी प्रदेशाग्रको सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथमस्थितिमें ही स्थापित करता है । इसीप्रकार सम्यक्त्वप्रकृतिके अन्तरस्थितिसम्बन्धी प्रदेशको भी अपनी प्रथमस्थितिमें ही देता है । द्वितीयस्थितिके प्रदेशाग्र भी तबतक प्रथमस्थितिको प्राप्त होता है जबतक कि प्रथमस्थितिमें आवली और प्रत्यावलि शेष रहती हैं^२ ।

अब प्रकरण प्राप्त दर्शनमोहके संक्रमसम्बन्धी ऊहापोह विशेष का कथन करते हैं—

सम्मादिठिदिज्झीणे मिच्छद्ववादु सम्मसम्मिस्से ।

गुणसंकमो ण णियमा विज्झादो संकमो द्दोदि ॥२१६॥

१. तात्पर्य यह है कि “चरमफालीका पतन होते समय मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व के अन्तरस्थिति सम्बन्धी द्रव्यको अपकर्षण-संक्रमणके द्वारा अतिस्थापनावली को छोड़कर जिसप्रकार पहले स्वस्थानमें भी देता रहा उसप्रकार इससमय नहीं देता है, किन्तु उनके अन्तर सम्बन्धी अन्तिम-फालि के द्रव्यको सम्यक्त्वकी प्रथमस्थिति में ही गुणश्रेणीरूप से निक्षिप्त करता है ।” इसीप्रकार सम्यक्त्व प्रकृतिके चरमफालि सम्बन्धी द्रव्यको अन्यत्र निक्षिप्त नहीं करता, परन्तु अपनी प्रथम-स्थिति में ही निक्षिप्त करता है । (ज. घ मूल पृ. १८१३-१४)

२. घ. पु. ६ पृ. २८६-२६१ ।

अर्थ—सम्यक्त्वमोहनीयकी आदि (प्रथम) स्थितिक्षय होने पर मिथ्यात्वके द्रव्यमेंसे सम्यक्त्वप्रकृति व मिश्रप्रकृतिमें गुणसंक्रमण द्वारा नहीं, किन्तु विध्यातसंक्रमण द्वारा दिया जाता है ।

विशेषार्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वमें गुणसंक्रमण द्वारा मिथ्यात्वका द्रव्य सम्यक्त्वप्रकृति व मिश्रप्रकृतिमें दिया जाता है, किन्तु द्वितीयोपशमसम्यक्त्वमें विध्यात-संक्रमणके द्वारा मिथ्यात्वका द्रव्य सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिमें दिया जाता है,^१ क्योंकि गुणसंक्रमके कारणभूत जीवपरिणामोंकी विचित्रतावश यहां गुणसंक्रम नहीं होता, प्रतिसमय विशेषहीन क्रमसे विध्यातसंक्रम ही प्रवृत्त होता है तथा यहांसे लेकर ज्ञाना-वरणादि कर्मोंका स्थितिकांडकघात व अनुभागकाण्डकघात नहीं होता, परन्तु संयमरूप परिणामोंके निमित्तसे अवस्थित आयामवाली गुणश्रेणि प्रवृत्त रहती है, क्योंकि करण-परिणाम-निमित्तक गलितशेष गुणश्रेणिका यहां पर अन्त हो जाता है^२ ।

अब द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टिके विशुद्धिका एकान्तानुवृद्धिकालका प्रमाण कहते हैं—

सम्पत्तुप्पत्तीए गुणसंकमपूरणस्स कालादो ।

संखेज्जगुणं कालं विसोहिवद्धीहिं वड्ढदि हु ॥२१७॥

अर्थ—प्रथमसम्यक्त्वको उत्पन्न करनेवाले जीवका गुणसंक्रमद्वारा जो पूरण-काल प्राप्त होता है उससे संख्यातगुणे कालतक यह उपशान्तदर्शनमोहनीय जीव विशुद्धि के द्वारा बढ़ता रहता है ।

विशेषार्थ—प्रथमसम्यक्त्वको उत्पन्न करनेवाले जीवका जो गुणसंक्रमकाल प्राप्त होता है उससे संख्यातगुणे कालतक यह जीव गुणसंक्रमके बिना भी प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिकी^३ वृद्धि होनेसे बढ़ता रहता है^४ ।

१. तात्पर्य यह है कि द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टिके प्रथमसमयसे लेकर गुणसंक्रम न होकर विध्यात-संक्रम होता है । इसलिये उत्तरोत्तर विशेष हीन क्रमसे मिथ्यात्व के द्रव्यका सम्यक्त्व और मिश्र-प्रकृति में संक्रम होता रहता है, ऐसा ज्ञातव्य है । (ज. ध. पु. १३ पृ. २०८)

२. ज. ध. पु. १३ पृ. २०७-२०८ ।

३. और इसका काल भी अन्तमुहूर्त है ।

४. क. पा. सु. पृ. ६८०, ज. ध. पु. १३ पृ. २०८ ।

तदनन्तर द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टिके विशुद्धिमें हानिवृद्धिका कथन करते हैं—

तेण परं हायदि वा वड्ढदि तव्वद्विदो विसुद्धीहि ।

उवसंतदंसणतियो होदि पमत्तापमत्तेसु ॥२१८॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयकी तीनों प्रकृतियोंका उपशम करनेवाला द्वितीयोपशम-सम्यग्दृष्टि उसके बाद (अन्तर्मुहूर्त तक विशुद्धि से बढ़ने के बाद) विशुद्धिके द्वारा कभी घटता है, कभी बढ़ता है और कभी अवस्थित रहता है । विशुद्धिकी हानि-वृद्धिके प्रमत्त और अप्रमत्तगुणस्थान होते रहते हैं ।

विशेषार्थ—स्वस्थानको (अप्रमत्तगुणस्थानके) प्राप्त हुए जीवके संक्लेश और विशुद्धिवश परिणामोंके वृद्धि हानि और अक्षयस्थानमें संचरणके प्रति विरोधका अभाव है ।

अथानन्तर उपशमश्रेणिमें होने वाले प्रमुखकार्यों का कथन करते हैं—

एवंपमत्तमियर परावत्तिसहस्सयं तु काट्ठण ।

इगवीसमोहणीयं उवसमदि ण अणणपयडीसु ॥२१९॥

अर्थ—इसप्रकार प्रमत्त व अप्रमत्तमें सहस्रोंबार परावर्तन करके मोहनीयकी इक्कीस प्रकृतियोंको उपशमाता है, अन्य कर्मोंको नहीं उपशमाता ।

विशेषार्थ—जिसप्रकार अनन्तानुबन्धियोंकी विसंयोजना करके स्वस्थानको प्राप्त हुआ उक्त जीव असातावेदनीय आदिके बन्धके योग्य होता है उसीप्रकार यह भी उपशान्तदर्शनमोहनीय हो विशुद्धिकालको बिताकर प्रमत्त और अप्रमत्तगुणस्थानोंमें परावर्तन करता हुआ असातावेदनीय, अरति, शोक और अयशःकीर्ति आदि अशुभ प्रकृतियोंका बन्धक होकर उनके सहस्रों बन्धपरावर्तन करता हुआ अन्तर्मुहूर्त काल तक विश्राम करके पश्चात् उपशमश्रेणिके योग्य विशुद्धिके अभिमुख होता है ।

अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना पहले हो चुकी और दर्शनमोहका उपशम करके द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि हुआ अतः चारित्रमोहकी २१ प्रकृतियां शेष रहीं; जिनके उपशम करनेको उद्यमी हुआ है । मोहनीयकर्मके अतिरिक्त अन्य कर्मोंका उपशम नहीं होता; अतः उनके उपशमका निषेध किया गया है ।

चारित्रमोहोपशम विधान में पाये जाने वाले आठ कार्योंका निर्देश करते हैं—
तिकरणाबंधोसरणं कमकरणां देशघादिकरणां च ।

अंतरकरणां उपशमकरणां उपसामरणे ह्येति ॥२२०॥

अर्थ—चारित्रमोहनीयका उपशम करनेमें आठ करण होते हैं । 'तिकरण' अर्थात् अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण ये तीनकरण तथा बंधापसरण, क्रमकरण, देशघातिकरण, अन्तरकरण और उपशमकरण । इसप्रकार आठकरण होते हैं ।

विशेषार्थ—अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, बंधापसरण, अन्तरकरण और उपशमकरणका स्वरूप प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें कहा जा चुका है । अनिवृत्तिकरणकालमें मोहनीयका स्थितिबन्ध स्तोक, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनका स्थितिबन्ध तुल्य, किन्तु मोहनीयके स्थितिबन्धसे असंख्यातगुणा नाम व गोत्रका स्थितिबन्ध तुल्य, परन्तु पूर्वसे असंख्यातगुणा और वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक होता है जब इस क्रमसे स्थितिबन्ध होता है इसको पांचवां क्रमकरण कहते हैं । ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका बन्ध जब देशघातिरूपसे होने लगता है, सर्वघातिरूपसे बन्ध नहीं होता उसको छठा देशघातिकरण कहते हैं ।

आगे अपूर्वकरणमें स्थितिकांडकका कथन करते हैं—

विदियकरणादिसमये उपसंततिदंसणे जहणणे ।

पल्लस्स संखभागं उक्कस्सं सायरपुधत्तं ॥२२१॥

ठिदिखंडयं तु खड्डये वरावरं पल्लसंखभागो दु ।

ठिदिबंधोसरणां पुण वरावरं तत्तियं होदि ॥२२२॥

अर्थ—द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टिके द्वितीय (अपूर्व) करणके आदि (प्रथम) समयमें स्थितिकांडक जघन्यसे पल्यका संख्यातवांभाग आयामवाला और उत्कृष्टसे पृथक्त्वसागरप्रमाणवाला होता है, किन्तु आयिकसम्यग्दृष्टिके जघन्य व उत्कृष्ट स्थितिकांडकआयाम पल्यके असंख्यातवैभाग मात्र है । जघन्य व उत्कृष्ट स्थितिबंधापसरण उतना ही अर्थात् पल्यके संख्यातवैभागप्रमाण है ।

विशेषार्थ—अधःप्रवृत्तकरण नामका गुणस्थान न होनेके कारण गाथामें अधःकरणके कार्योंका उल्लेख नहीं किया, किन्तु गाथा २२० के अनुसार अधःप्रवृत्तकरण

अवश्य होता है और वह सातिशय अप्रमत्तगुणस्थानमें होता है । सहस्रोंबार प्रमत्त-अप्रमत्तगुणस्थानमें परावर्तनके पश्चात् उपशमश्रेणिके योग्य विशुद्धिसे विशुद्ध होता हुआ कषायोंको उपशमानेके लिये अधःप्रवृत्तकरण परिणामरूप परिणामता है^१ ।

कषायोंका उपशम करनेवाले जीवके अधःप्रवृत्तकरण होता है उसमें प्रवृत्ति करने वाले जीवके स्थितिघात अनुभागघात आदि सम्भव नहीं है^२ । केवल उसके अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कालके भीतर प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिसे विशुद्ध होता हुआ सहस्रों स्थितिबन्धापसरण करके अपने प्रथम समयके स्थितिबन्धसे उसके अन्तिम समयमें संख्यातगुणे हीन स्थितिबन्धको स्थापित करता है । अप्रशस्तकर्मोंका प्रतिसमय अनन्त-गुणी हानिको लिये हुए अनुभागबन्धापसरण भी करता है^३ । यद्यपि इन करणोंके लक्षणोंके कथनमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है तथापि पूर्वके करणोंमें विशुद्धि अनन्तगुणी-हीन होती है और आगेके करणोंमें विशुद्धि अनन्तगुणी अधिक होती है । इसप्रकार इन करणोंमें जो भेद उपलब्ध होता है^४ उसका आश्रयकर पृथक्-पृथक् कार्योंकी सिद्धि हो जाती है इसमें कोई विरोध नहीं उपलब्ध होता है^५ ।

कषायोंका उपशामक यह जीव क्षीणदर्शनमोहनीय होवे अथवा उपशान्त-दर्शनमोहनीय होवे, दोनोंके उपशम श्रेणिपर आरोहण करनेमें निषेधका अभाव है^६ ।

१ ज. ध. पु. १३ पृ. २१० । ध. पु. ६ पृ. २६२ । क. पा. सु. पृ. ६८० ।

२. संयमगुणश्रेणी को छोड़कर अधःप्रवृत्त परिणाम निबन्धन गुणश्रेणि भी नहीं है ।
(ध. पु. ६ पृ. २६२)

३. ज. ध. पु. १३ पृ. २१३, ध. पु. ६ पृ. २६२, क. पा. सु. पृ. ६८० ।

४. प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति, अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना, द्वितीयोपशमकी उत्पत्ति, क्षायिक सम्यक्त्वकी उत्पत्ति, चारित्रमोहकी उपशामना, चारित्रमोहकी क्षपणा इन कार्यों में तीन करण होते हैं, उनमें लक्षण भी सर्वत्र समान है, परन्तु विशेष यह है कि प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्ति के समय इन तीन करणों में सबसे कम विशुद्धि होती है तथा चारित्रमोहकी क्षपणा के समय इन तीन करणोंमें सबसे अधिक विशुद्धि होती है । मध्यस्थानों में अधिकारी भेद से पथायोग्य विशुद्धि जान लेना चाहिये [ज. ध. पु. १३ प. २१४, ध. पु. ६ पृ. २८६]

५. ज. ध. पु. १३ पृ. २१३-१४, ध. पु. ६ पृ. २८६ ।

६. दोहृपि उवसेदिसमारोहणे विप्पडिसेहाभावादो [ज. ध. मूल पृ. १६१५]

उनमें से जो क्षीणदर्शनमोहनीय कषायोंका उपशामक होता है, कषायोंका उपशम करने के लिए उद्यत हो अपूर्वकरणमें विद्यमान हुए उसके प्रथम स्थितिकाण्डकका क्या प्रमाण है ? ऐसा पूछने पर 'नियमसे पत्योपमका संख्यातवांभाग होता है' इस वचनके द्वारा उसके प्रमाणका निर्देश किया गया है । दर्शनमोहनीयकी क्षपणा करनेवाले परिणामोंके द्वारा पहले ही अच्छी तरह से घातको प्राप्त हुई स्थितिमें अधिक स्थितिकाण्डककी योग्यता सम्भव नहीं है,^१ परन्तु जो दर्शनमोहनीयके उपशम द्वारा द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि होकर कषायोंका उपशम करता है उसके लिए ऐसा कोई नियम नहीं है । उसके जघन्य स्थितिकाण्डक तो पत्योपमके संख्यातवें भाग प्रमाण ही होता है, किन्तु उत्कृष्ट स्थितिकाण्डक सागरोपम पृथक्त्व प्रमाण होता है, ऐसा जानना चाहिए ।

उपशान्तदर्शनमोहनीय या क्षीणदर्शनमोहनीय कषायोंका उपशामक जो जीव अपूर्वकरणके प्रथम समयमें स्थितिबन्धरूपसे जिस स्थिति समूहका अपसरण करता है जघन्य और उत्कृष्ट वह समूह भी पत्योपमके संख्यातवें भागप्रमाण होता है, वहां अन्य विकल्प नहीं है^२ ।

आगे अनुभागकाण्डक आदिके प्रमाणका निर्देश करते हैं—

असुहाणं रसखंडमयांतभागा ए खंडमियराणं ।

अंतोकोडाकोडी सत्तं बंधं च तट्ठाणे ॥२२३॥

अर्थ—अपूर्वकरणके प्रथम समयमें अशुभकर्मोंके अनन्तबहुभाग अनुभागका घात करनेके लिए अनुभागकाण्डक होता है तथा इतर अर्थात् शुभ प्रकृतियोंका अनुभागकाण्डक नहीं होता और उसी प्रथम समयमें सर्वकर्मोंका स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्व अंतः-कोडाकोड़ीसागर होता है ।

विशेषार्थ—अपूर्वकरणके प्रथम समयमें स्थितिबन्ध व स्थिति सत्कर्म अन्तः-कोडाकोड़ीसागरसे अधिक सम्भव नहीं है । तथा शुभ प्रकृतियोंका अनुभागकाण्डकघात

१. ज. ध. पु. १३ पृ. २२२-२३ ।

२. ज. ध. पु. १३ पृ. २२३-२४ । इस विशेषार्थ में स्थितिबन्धापसरणका प्रमाण बताया गया है ऐसा जानना चाहिये ।

नहीं होता, क्योंकि विशुद्धि के द्वारा शुभ प्रकृतियोंके अनुभागका खण्डन नहीं होता^१ ।

अब अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें गुणश्रेणि निर्जराका प्ररूपण करते हैं—

उदयावलिस्स बाहिं गलिदवसेसा अपुव्वअणियट्ठी ।

सुहुमसादो अदिया गुणसेढी होदि तट्ठाणे ॥२२४॥

अर्थ—अपूर्वकरणके प्रथम समयमें उदयावलिसे बाह्य गलितावशेष गुणश्रेणि होती है । गुणश्रेणिनिक्षेप अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण-सूक्ष्मसाम्परायके कालसे अधिक है ।

विशेषार्थ—अधिकका प्रमाण उपशान्तकषायके कालका संख्यातवांभाग है^२ तथा यहीं पर नपुंसकवेद आदि अबंध अप्रशस्त प्रकृतियों सम्बन्धी गुणसंक्रमणका भी प्रारम्भ होता है^३ ।

अपूर्वकरणमें बन्ध-उदय व्युच्छिन्नको प्राप्त प्रकृतियों को बताने के लिए आगे गाथा सूत्र कहते हैं—

पढमे छट्ठे चरिमे बंधे दुग तीस चदुर वोच्छिणणा ।

छरणोकसायउदयो अपुव्वचरिमस्सिह वोच्छिणणा ॥२२५॥

अर्थ—अपूर्वकरणकालसम्बन्धी सातभागों में से प्रथमभागमें निद्रा व प्रचला ये दो, छठे भागमें तीर्थकर आदि तीस^४ और सातवें भागमें हास्यादि चार; इसप्रकार ३६ प्रकृतियां बन्धसे व्युच्छिन्न हुई तथा अपूर्वकरणके चरमसमयमें हास्यादि छह नोकषाय उदयसे व्युच्छिन्न हुई हैं ।

१. ज. ध. पु. १२ पृ. २६१ । ज. ध. पु. १३ पृ. २२४ व २६१ । ज. ध. मूल पृ. १६४० । ध. पु. ६ पृ. २०६, ध. पु. १२ पृ. १८ ।

२. परन्तु जयधवलामें गुणश्रेणिका प्रमाण अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरणसे अधिक बताया है । ज. ध. पु. १३ पृ. २२४ । परन्तु अल्पबहुत्व के प्रकरण के प्रथम समयमें गुणश्रेणी निक्षेप अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण व सूक्ष्मसाम्परायके कालसे अन्तर्मुहूर्त से अधिक है ।

३. ज. ध. पु. १३ पृ. २२४ ।

४. बन्धसे व्युच्छिन्न ३० प्रकृतियां—देवगति, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियिक-आहारक-तैजस-कामेण शरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रियिक-आहारक शरीरांगोपांग, देवगत्यानुपूर्वी, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण श्रीर तीर्थकर ।

विशेषार्थ—अपूर्वकरणगुणस्थानमें प्रविष्ट हुए संयतजीवके जिस कालमें निद्रा और प्रचलाका बन्धविच्छेद होता है वह काल सबसे थोड़ा है, क्योंकि वह अपूर्वकरणके कालका सातवां भाग प्रमाण है^१ । उससे परभव सम्बन्धो नामकर्म की प्रकृतियों का बन्धविच्छेदकाल संख्यातगुणा है, क्योंकि वह अपूर्वकरणकालके छह बटे सात भागप्रमाण है । इससे अपूर्वकरणका सम्पूर्णकाल विशेषाधिक है । इस विशेषाधिकताका प्रमाण अपूर्वकरणके कालके सातवें भागरूप है । यह अपूर्वकरण प्रविष्ट जीव पहलेके समान स्थितिघात व अनुभागघात को करता हुआ अपूर्वकरणके अन्तिम समय के प्राप्त होने तक जाता है । तत्पश्चात् इस कालके चरम समयमें स्थितिकांडक, अनुभागकांडक और स्थितिबन्ध एक साथ समाप्त होते हैं । इसी समय ही हास्य, रति, भय और जुगुप्सा का बन्धविच्छेद होता है; क्योंकि इससे उपरिम विशुद्धियां उनके बन्धके विरुद्ध स्वभाव-वाली हैं । इसी समय हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा इन छह कर्मोंका उदयविच्छेद होता है, क्योंकि इससे ऊपर इनकी उदयरूप शक्तिका अत्यन्त अभाव होनेसे इनका उदयरूपसे प्रवेश रुक जाता है । यहां पर स्थितिसत्कर्मका प्रमाण अपूर्वकरणके प्रथम समयमें प्राप्त स्थितिसत्कर्मसे संख्यातगुणा हीन अन्तःकोड़ाकोड़ीके भीतर है । इसीप्रकार स्थितिबन्धका प्रमाण भी जानना चाहिए । इतनी विशेषता है कि अंतः-कोड़ाकोड़ीके भीतर लक्षपृथक्त्वप्रमाण है ऐसा कहना चाहिये । इसप्रकार अपूर्वकरणके कालका पालनकर उसके अनन्तर समयमें अनिवृत्तिकरणमें प्रविष्ट होता है^२ ।

अब आगे अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमें होने वाले कार्योंका निर्देश करते हैं—

अणियट्टिस्स य पढमे अणणट्टिदिखंडपहुदिमारवई ।

उवसामणा णिधत्ती णिकाचणा तत्थ वोच्चिरणा ॥२२६॥

अर्थ—अनिवृत्तिकरण के प्रथम समयमें अपूर्वकरणके चरमसमय सम्बन्धी स्थितिखण्ड, स्थितिबन्धापसरण, अनुभागखण्डसे अन्य ही (विलक्षण ही) स्थितिखण्ड, स्थितिबन्धापसरण, अनुभागखण्ड आरम्भ करता है । वहीं (अनिवृत्तिकरणके प्रथम-समयमें) सभी कर्मों के उपशम, निधत्ति और निकाचना इन तीन करणोंकी व्युच्छिन्ति होती है ।

१. ज. ध. पु. १३ पृ. २२७ ।

२. ज. ध. पु. १३ पृ. २२६-२६ ।

विशेषार्थ—जिसप्रकार अपूर्वकरणमें स्थित संयत पत्योपमके संख्यातवें भाग-प्रमाण आयामवाले स्थितिकांडकको ग्रहणकर आया है उसीप्रकार यह भी अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमें स्थितिकांडकको ग्रहण करता है, वहां नानापन नहीं है । इतनी विशेषता है कि अपूर्वकरणके प्रथम स्थितिकांडकसे लेकर विशेषहीन क्रमसे स्थितिकांडकोंके अपवर्तित होनेपर संख्यातहजार स्थितिकांडक गुणहानियोंका उल्लंघनकर उससे (प्रथम समयके स्थितिकांडकसे) अपूर्वकरणके अन्तिम समयमें संख्यातगुणा हीन स्थितिकांडक होता है । तथा अनिवृत्तिकरणमें प्रविष्ट हुए संयतजीवका प्रथम स्थितिकांडक उससे विशेष हीन होता है, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए ।

अपूर्व स्थितिवन्ध पत्योपमका संख्यातवांभाग हीन होता है । अनुभागकाण्डक शेषका अनन्त बहुभागप्रमाण होता है, क्योंकि संयतजीव अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमें अनुभागकांडकके संक्रमको इससे पूर्व धाते गये अनुभागसत्कर्मके अनन्त बहुभागप्रमाण ग्रहण करता है उसमें अन्य प्रकार सम्भव नहीं है ।

गुणश्रेणि प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणिक्रमसे होती है जिसका उत्तरोत्तर गलितशेष आयाममें निक्षेप होता है । जिसप्रकार अपूर्वकरणमें प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणिक्रमसे उदयावलिके बाहर गलित-शेष-आयाममें गुणश्रेणिका विन्यास होता है उसीप्रकार यहां भी जानना चाहिए । वहां कोई प्ररूपणा भेद नहीं है । गुणसंक्रम भी पूर्वोक्त अप्रशस्त प्रकृतियोंका यहां पर बिना रुकावटके प्रवृत्त होता है ऐसा यहां ग्रहण करना चाहिए । इतनी विशेषता है कि हास्य, रति, भय और जुगुप्साका गुणसंक्रम भी यहांसे प्रारम्भ होता है, क्योंकि अपूर्वकरणके अन्तिम समयमें उनका बन्ध विच्छेद हो जाता है इसलिए उनका उसप्रकार परिणामन होनेमें विरोधका अभाव है । इसप्रकार इन क्रियाकलापोंमें नानापनका कथन किया गया है ।

उसी अनिवृत्तिकरणकालके प्रथम समयमें अप्रशस्त उपशामनाकरण, निधत्तीकरण और निकाचनाकरण व्युच्छिन्न होते हैं । सभी कर्मोंके अनिवृत्तिकरण-गुणस्थानमें प्रवेश करनेके प्रथम समयमें ही ये तीनों ही करण युगपत् व्युच्छिन्न हो जाते हैं । उसमें जो कर्म अपकर्षण, उत्कर्षण और परप्रकृतिसंक्रमके योग्य होकर पुनः उदीरणाके विरुद्ध स्वभावरूपसे परिणत होनेके कारण उदयस्थितिमें अपकर्षित होनेके अयोग्य है वह उसप्रकारसे स्वीकार की गई अप्रशस्तउपशामनाकी अपेक्षा उपशान्त ऐसा कहलाता है । उसकी उस पर्यायका नाम अप्रशस्तउपशामनाकरण है । इसीप्रकार

जो कर्म अपकर्षण और उत्कर्षणके अविरोध पर्यायके योग्य होकर पुनः उदय और परप्रकृतिसंक्रमरूप न हो सकनेकी प्रतिज्ञारूपसे स्वीकृत है उस अवस्था विशेषको निधत्तीकरण कहते हैं, परन्तु जो कर्म उदयादि इन चारोंके अयोग्य होकर अवस्थानकी प्रतिज्ञामें प्रतिबद्ध है उसकी उस अवस्थानलक्षण पर्यायविशेषको निकाचनाकरण कहते हैं^१ । इसप्रकार ये तीनों ही करण इससे पूर्व सर्वत्र प्रवर्तमान थे, यहां अनिवृत्तिकरण के प्रथम समयमें उनकी व्युच्छिन्नता हो जाती है । इनके व्युच्छिन्न होने पर भी सभी कर्म अपकर्षण, उत्कर्षण, उदीरणा और परप्रकृतिसंक्रम इन चारोंके योग्य हो जाते हैं ।

आगे अविच्छिन्नकरणपुणरुत्पत्ति के प्रथम समयमें कर्मोंके स्थितिबन्ध व स्थिति-सत्त्वके प्रमाणका कथन करते हैं—

अन्तोकोडाकोडी अन्तोकोडी य सत्त बंधं च ।

सत्तगहं पयडीणं अणियट्ठीकरणपडमम्हि ॥२२७॥

अर्थ—अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमें आयु बिना सात प्रकृतियोंका स्थिति-सत्त्व यथायोग्य अन्तःकोटाकोटीसागर मात्र है और स्थितिबन्ध अन्तःकोडाकोडी मात्र है ।

विशेषार्थ—आयुकर्मको छोड़कर शेष कर्मोंका स्थितिसत्कर्म अन्तःकोडाकोडी सागरोपमके भीतर होता है, क्योंकि अत्यन्तरूपसे भी घातको प्राप्त हुए शेष कर्मोंका उपशमश्रेणिमें सूत्रोक्त प्रमाण का त्याग किये बिना अवस्थानका नियम देखा जाता है । स्थितिबन्ध अन्तःकोडाकोडीके भीतर लक्षपृथक्त्व सागरोपमप्रमाण होता है, क्योंकि उसका स्थितिबन्धापसरणके साहाय्यवश पहले बहुत ह्रास हो गया है, इसलिये उसके सूत्रोक्त सिद्ध होने में विरोधका अभाव हो गया है ।

अब तीन गाथाओं में उसी अनिवृत्तिकरणकालमें स्थितिबन्धापसरणके क्रमसे स्थितिबन्धोंके क्रमशः क्षय होनेका कथन करते हैं—

ठिदिबंधसहस्सगदे संखेज्जा वादरे गदा भागा ।

तत्थ असण्णस्स ठिदीसरिस ठिदिबंधणं होदि ॥२२८॥

१. ज. ध. पु. १३ पृ. २३१ । घ. पु. ६ पृ. २६६; घ. पु. ६ पृ. २३६, ध. पु. १५ पृ. २७६, गो. क. गा. ४४०-४४४ एवं ४५० ।

अर्थ—सहस्रों स्थितिकांडक व्यतीत हो जाने पर तथा अनिवृत्तिकरणकालका बहुभाग बीत जानेपर असंज्ञीके स्थितिबन्धके समान स्थितिबन्ध होता है^१ ।

विशेषार्थ—तत्पश्चात् अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयसे लेकर प्रत्येक हजारों अनुभागकांडकोंके अविनाभावी ऐसे बहुत हजार स्थितिकांडकोंके स्थितिबन्धापसरणोंके साथ व्यतीत होने पर सातों ही कर्मोंका स्थितिबन्ध लक्षपृथक्त्व सागरोपमसे बहुत अधिक घटकर हजारपृथक्त्व सागरोपमप्रमाण हो जाता है । तत्पश्चात् अनिवृत्तिकरणके संख्यात बहुभाग के व्यतीत होनेपर असंज्ञीके समान स्थितिबन्ध होता है । इतनी विशेषता है कि मोहनीयकर्मका हजार सागरोपमके चार बटे सात भागप्रमाण असंज्ञीके योग्य स्थितिबन्धके हो जानेपर शेष कर्मोंका अपने-अपने प्रतिभागके अनुसार हजार सागरोपमका तीन बटे सात भागप्रमाण^२ और दो बटे सात भागप्रमाण^३ यहां पर स्थितिबन्धका प्रमाण होता है^४ ।

ठिदिबंधपुधत्तगदे पत्तेयं चदुर तिय वि एएदि ।

ठिदिबंधसमं होदि हु ठिदिबंधमणुक्कमेणेव ॥२२६॥

अर्थ—उसके पश्चात् प्रत्येक स्थानके लिये पृथक्त्व स्थितिबन्धापसरण बीत जानेपर क्रमसे चतुरिन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय व एकेन्द्रिय जीवोंके स्थितिबन्धके समान स्थितिबन्ध होता है ।

विशेषार्थ—इतनी विशेषता है कि अपने-अपने प्रतिभागके अनुसार चतुरिन्द्रिय आदि जीवोंमें क्रमसे सौ सागरोपम, पचास सागरोपम, पच्चीस सागरोपम और पूरे एक सागरोपमके चार बटे सात भाग,^५ तीन बटे सात भाग^६ और दो बटे सात^७ भाग-प्रमाण जो स्थितिबन्ध होता है उसके समान स्थितिबन्ध होता है^८ । यहां पर पृथक्त्वका निर्देश विपुलतावाची है अतः हजार पृथक्त्व ग्रहण करना चाहिए^९ ।

१. ध. पु. ६ पृ. २६५ ।

२. ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मका

३. नाम-गोत्रका ४. ज. ध. पु. १३ पृ. २३३ ।

५. चारित्रमोहका स्थितिबन्ध ।

६. ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय व अन्तरायका ।

७. नाम व गोत्रका । ८. ज. ध. पु. १३ पृ. २३३ ।

९. ज. ध. पु. १३ पृ. २२५ ।

एइंदियट्टिदीदो संखसहस्से गदे दु ठिदिबंधो ।

पल्लेकदिवड्डुदुगे ठिदिबंधो वीसियतियाणं ॥२३०॥

अर्थ—एकेन्द्रियसदृश स्थितिबन्धसे संख्यातहजार स्थितिबन्ध बोल जानेपर क्रमसे वीसिया (नाम-गोत्र) का एक-एक पल्ल, तीसीया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मों) का डेढपल्ल, चालीसिया (चारित्रमोहनीय) का दो पल्ल प्रमाण स्थितिबन्ध होता है ।

विशेषार्थ—नामकर्म और गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक है । उससे चार कर्मोंका स्थितिबन्ध विशेष अधिक है । विशेषका प्रमाण कितना है ? द्वितीयभाग-प्रमाण है । उससे मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक है । विशेषका प्रमाण कितना है ? तृतीय भागप्रमाण है ।

अब बन्धापसरण के विषयमें विशेष स्पष्टीकरण करते हैं—

पल्लस्स संखभागं संखगुणूणं असंखगुणहीणं ।

बंधोसरणं पल्लं पल्लासंखंति संखवस्संति ॥२३१॥

अर्थ—पल्लप्रमाण स्थितिबन्ध प्राप्त होने तक पल्लके संख्यातवैभाग प्रमाण-वाला स्थितिबंधापसरण होता है । उसके पश्चात् पल्लके असंख्यातवैभाग स्थितिबन्ध प्राप्त होने तक पल्लके संख्यात बहुभाग प्रमाणवाला स्थितिबंधापसरण होता है । उसके पश्चात् संख्यातहजारवर्ष स्थितिबन्ध प्राप्त होने तक पल्लका असंख्यात बहुभाग प्रमाण-वाला स्थितिबन्धापसरण होता है ।

विशेषार्थ—पल्लोपमका संख्यातवै भागप्रमाण स्थितिबन्धापसरण तबतक होता है जबतक पल्लोपमप्रमाण स्थितिबन्धको नहीं प्राप्त होता । पल्लोपमप्रमाण स्थितिबन्धके हो जानेपर वहांसे लेकर संख्यात बहुभागका स्थितिबन्धापसरण होता है यह नियम है । पल्लोपमका संख्यातवांभाग दूरापकृष्ट संज्ञावाला स्थितिबन्धसे लेकर पल्लोपमके असंख्यात बहुभागोंका स्थितिबन्धापसरणका नियम है^१ । इस गाथामें इन नियमोंका उपसंहार किया गया है ।

१. ज. ध. पु. १३ पृ. २३४ पं. ३३ से पृ. २३५ पं. १६ ।

२. ज. ध. पु. १३ पृ. २३५ व २४० ।

आगे स्थितिबन्धके क्रमकरणकालमें स्थितिबन्धोंका प्रमाण बताने के लिए कहते हैं—

एवं पल्ले जादे बीसीया तीसिया य मोहो य ।

पल्लासंखं च कमे बंधेण य बीसियतियाओ ॥२३२॥

अर्थ—बीसिया (नाम व गोत्र कर्म), तीसिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, वेदनीय) और मोहनीय कर्मके स्थितिबन्धका जो क्रम पल्योपमप्रमाण स्थितिबन्धके समय है वही क्रम पल्यके असंख्यातवैभाग स्थितिबन्धमें भी रहता है ।

विशेषार्थ—नाम व गोत्रकर्मके पल्योपमप्रमाण स्थितिवाले बन्धसे आगे अन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा हीन होता है, क्योंकि पल्योपमप्रमाण स्थितिवालेबन्धके हो जानेपर वहांसे लेकर संख्यात बहुभागोंका स्थितिबन्धापसरण होता है, यह नियम है । यहां से लेकर नाम और गोत्रकर्मके स्थितिबन्धके पूर्ण होनेपर संख्यातगुणाहीन अन्य स्थितिबन्ध होता है तथा शेष कर्मोंका जबतक पल्योपम स्थितिवाला बन्ध नहीं प्राप्त होता, तब तक प्रत्येक स्थितिबन्धके पूर्ण होने पर पल्योपमका संख्यातवांभाग हीन अन्य स्थितिबन्ध होता है । इसप्रकार हजारों स्थितिबन्धोंके बीत जाने पर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय कर्मोंका पल्योपमवाला बन्ध होता है, क्योंकि डेढ़ पल्योपमप्रमाण विवक्षितपूर्व स्थितिबन्ध में से पल्योपमप्रमाण स्थितिबन्ध के घटाने पर शेष बचे अर्धपल्योपममें एक स्थितिबन्धापसरणके आयामका भाग देनेपर संख्यातहजार संख्या (स्थितिबन्धापसरणोंकी) प्राप्त होती है । उस समय मोहनीयकर्मका तीसरा भाग अधिक पल्योपम स्थितिवाला बन्ध होता है, क्योंकि जहां तीसिय प्रकृतियोंका पल्योपमप्रमाण स्थितिबन्ध होता है वहां चालीसिय प्रकृतिका कितना स्थितिबन्ध होगा इसप्रकार श्रैराशिक करके मोहनीयका तीसरा भाग अधिक पल्योपमप्रमाण स्थितिबन्ध प्राप्त होता है ।

तत्पश्चात् ज्ञानावरणादि चार कर्मोंका भी जो अन्य स्थितिबन्ध होता है वह संख्यातगुणा हीन होता है और मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष हीन होता है, क्योंकि चार कर्मोंके पल्योपम स्थितिवाले बन्धके बाद तब पल्योपमके संख्यात बहुभागवाला स्थितिबन्धापसरण प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु मोहनीयकर्म पल्योपमप्रमाण स्थितिबन्ध नहीं प्राप्त हुआ है । इसलिये उस समय मोहनीयका स्थितिबन्धापसरण पल्योपमके

संख्यातवैभागप्रमाण होता है । तब स्थितिबन्ध सम्बन्धी अल्पबहुत्व इसप्रकार है— नाम और गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक होता है, उससे चार कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातगुणा होता है । तथा उससे मोहका स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है ।

तत्पश्चात् स्थितिबन्ध पृथक्त्वके व्यतीत होनेपर मोहनीयकर्मका भी स्थितिबन्ध पत्योपमप्रमाण होता है । उसके पश्चात् जो अन्य स्थितिबन्ध होता है वह स्थितिबन्ध आयुर्कर्मके अतिरिक्त शेष कर्मोंका पत्योपमके संख्यातवैभागप्रमाण होता है, क्योंकि मोहनीयकर्मका भी संख्यात बहुभागोंसे हीन तत्काल होनेवाला स्थितिबन्ध पत्योपमके संख्यातवै भागमात्र होता है । उस समय स्थितिबन्ध सम्बन्धी अल्पबहुत्व इसप्रकार है— नाम और गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक है, उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मोंका स्थितिबन्ध परस्पर तुल्य होकर संख्यातगुणा है, उससे मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है । जब तक नाम और गोत्रकर्मका दूरापकृष्टि संज्ञावाला अन्तिम पत्योपमका संख्यातवैभागप्रमाण स्थितिबन्ध प्राप्त होता है, तबतक अल्पबहुत्वका यह क्रम विच्छिन्न नहीं होता । तत्पश्चात् नाम व गोत्र कर्मका अन्य स्थितिबन्ध पत्योपमके असंख्यातवै भागप्रमाण है, क्योंकि दूरापकृष्टि स्थितिबन्धसे लेकर असंख्यात बहुभागोंका स्थितिबन्धापसरणका नियम है । इससे ज्ञानावरणादिकर्मोंका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा है, क्योंकि अभी दूरापकृष्टिसंज्ञक बन्ध प्राप्त नहीं हुआ है । उससे मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है ।

इस अल्पबहुत्वविधिसे बहुत हजार स्थितिबन्ध व्यतीत होने पर ज्ञानावरण आदि चार कर्मोंका दूरापकृष्टिविषयक स्थितिबन्ध प्राप्त होता है । उसके बाद इन कर्मोंका असंख्यात बहुभागवाला स्थितिबन्धापसरण होता है । उस समय नाम व गोत्र कर्मका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक है । उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मोंका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा है । उससे मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा है, क्योंकि अभी भी पत्योपमके संख्यातवै भागप्रमाण स्थितिबन्ध है, दूरापकृष्टिको नहीं प्राप्त हुआ है ।

इसी क्रमसे बहुत हजार स्थितिबन्ध बीत जाने पर मोहनीयकर्मका दूरापकृष्टि-संज्ञक स्थितिबन्ध होता है । आगे भी संख्यातहजार स्थितिबन्धापसरण इसी अल्पबहुत्व क्रमसे व्यतीत होते हैं, किन्तु इन बन्धापसरणोंमें सभी कर्मोंके पत्योपमके असंख्यातवै भागप्रमाण स्थितिबन्धोंमें असंख्यातगुणा हानिरूपसे अपसरण करता है^१ ।

इस स्थल पर अल्पबहुत्वकी प्ररूपणामें पाई जाने वाली विशेषता का कथन अगली गाथामें करते हैं—

मोहगपल्लासंखट्टिदिवंधसहस्सगेषु नीदेसु ।

मोहो तीसिय हेट्ठा, असंखगुणहीणयं होदि ॥२३३॥

अर्थ—मोहनीयकर्म सम्बन्धी पल्पके असंख्यातवर्णभाग प्रमाणवाले हजारों स्थितिवन्धोंके व्यतीत हो जानेपर मोहनीयकर्मका स्थितिवन्ध ज्ञानावरणादि कर्मोंके स्थितिवन्धसे असंख्यातगुणा हीन होता है ।

विशेषार्थ—विशुद्धिरूप परिणामोंमें वृद्धि होने पर अतिशय अप्रशस्त मोहनीय-कर्मके स्थितिवन्धका एकवार में ही विशेष धात होकर ज्ञानावरणादि चार कर्मोंके स्थितिवन्धकी अपेक्षा कम स्थितिवाला होता हुआ नियमसे असंख्यातगुणा हीन हो जाता है इसलिये यहां पर संख्यातगुणा हीन आदि अन्य विकल्प सम्भव नहीं है । जबतक मोहनीयकर्मका स्थितिवन्ध ज्ञानावरणादि चार कर्मोंके स्थितिवन्धसे अधिक था तबतक वह असंख्यातगुणा था । अब असंख्यातगुणे स्थानमें असंख्यातगुणा हीन हो गया । इसकी अपेक्षा नाम और गोत्रकर्मका स्थितिवन्ध सबसे अल्प है, उससे मोहनीयकर्मका स्थितिवन्ध असंख्यातगुणा तथा उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मोंका स्थितिवन्ध असंख्यात-गुणा है^१ ।

तदनन्तर दूसरे क्रमका निर्देश करते हैं—

तेत्तियमेत्ते बंधे समतीदे वीसियाण हेट्ठावि ।

^२एकसराहो मोहो असंखगुणहीणयं होदि ॥२३४॥

अर्थ—उतने ही अर्थात् संख्यातहजार स्थितिवन्धोंके व्यतीत हो जाने पर वीसिया अर्थात् नाम व गोत्रकर्मके स्थितिवन्धसे मोहनीयकर्मका स्थितिवन्ध असंख्यात-गुणा हीन हो जाता है । यह एक सदृश है अर्थात् असंख्यातगुणा हीन ही है, अन्य प्रकार नहीं है ।

१. ज. घ. पु. १३ पृ. २४२-२४४ ।

२. एकसदृश एकशराघात इत्यर्थः ।

विशेषार्थ—अनन्तर पूर्व प्ररूपित अल्पबहुत्व विधिसे बहुत हजार स्थिति-बन्धापसरण व्यतीत होनेपर मोहनीयकर्मकी स्थितिका विशेष घात होनेके कारण बहुत अधिक घटनेवाले मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध एक बारमें सबसे अल्प हो जाता है । उससे नाम व गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा होता है, उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मोंका स्थितिबन्ध परस्पर तुल्य होकर असंख्यातगुणा होता है ।

अथ अन्य क्रमका निर्देश करते हैं—

तत्तियमेत्ते बंधे समतीदे वेयणीयहेट्ठादु ।

तीसिय धादितियाओ असंखगुणहीणया होंति ॥२३५॥

अर्थ—उत्तने ही अर्थात् संख्यातहजार स्थितिबन्ध व्यतीत होनेपर ज्ञाना-वरणादि तीन धातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध, वेदनीयकर्मके स्थितिबन्धसे असंख्यातगुणा हीन हो जाता है ।

विशेषार्थ—पहले वेदनीयकर्मके स्थितिबन्ध सदृश ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय इन तीन धातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध था जो विशेष घात होनेके कारण एक बारमें उससे असंख्यातगुणा हीन होकर नीचे निपतित हो जाता है । यहां पर अल्प-बहुत्व इसप्रकार है—मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध अल्प है । उससे नाम और गोत्रकर्मोंका स्थितिबन्ध परस्पर तुल्य होकर असंख्यातगुणा है उससे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीनों ही कर्मोंका स्थितिबन्ध परस्पर तुल्य होकर असंख्यातगुणा होता है । उससे वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा है, क्योंकि जिसप्रकार धातिकर्मों का विशुद्धिके वश विशेषघात होता है उस प्रकार इस अधातिकर्मका विशुद्धिके वश बहुत स्थितिबन्धापसरण सम्भव नहीं है, वेदनीयकर्मके स्थितिबन्धसे तीनों ही कर्मोंका घटता हुआ स्थितिबन्ध संख्यातगुणाहीन होता है या विशेष हीन होता है ऐसा कोई विकल्प नहीं है, किन्तु एकबार में वह असंख्यातगुणा हीन हो जाता है ।

पुनरपि क्रममेव को दिखाते हैं—

तत्तियमेत्ते बंधे समतीदे वीसियाण हेट्ठादु ।

तीसिय धादितियाओ असंखगुणहीणया होंति ॥२३६॥

अब क्रमकरणका उपसंहार करते हैं—

तत्रकाले वेयणियं णामागोदादु साहियं होदि ।

इदि मोहतीसवीसियवेयणियाणं कमो जादो ॥२३७॥

अर्थ—उतने ही अर्थात् संख्यातहजार स्थितिबन्ध हो जाने पर तीन घातिया तीसिय अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय कर्मोंका स्थितिबन्ध वीसिय अर्थात् नाम व गोत्र कर्मोंके स्थितिबन्धसे असंख्यातगुणा हीन होता है । उसी समय नाम व गोत्रसे वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक हो जाता है । इसप्रकार मोहनीय, तीसिय, वीसिय और वेदनोयकर्मोंका क्रम होता है ।

विशेषार्थ—इस अल्पबहुत्व विधिसे संख्यातहजार स्थितिबन्ध व्यतीत होनेपर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीनों ही कर्मोंका स्थितिबन्ध एकबार में ही विशेष घातको प्राप्तकर नाम व गोत्र कर्मोंके स्थितिबन्धसे असंख्यातगुणा हीन हो गया, क्योंकि नाम व गोत्र इन दोनों अघातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध विशेष घातको प्राप्त नहीं होता । यद्यपि पहले इन तीनों घातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध नाम व गोत्र कर्मोंके स्थितिबन्धसे असंख्यातगुणा होता था । उस समय स्थितिबन्धका क्रम इसप्रकार हो जाता है—

मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक है, उससे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीनों कर्मोंका स्थितिबन्ध परस्पर तुल्य होकर असंख्यातगुणा, उससे नामकर्म और गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा, उससे वेदनीय कर्मका स्थितिबन्ध द्वितीयभागमात्र विशेष अधिक है, क्योंकि नाम व गोत्रकर्म वीसिया हैं और वेदनीयकर्म तीसिया हैं^१ ।

आगे क्रम करणके अन्तमें असंख्यात समयप्रबद्धोंकी उदीरणा और उसका कारण बताते हैं—

तीदे बंधसहस्से पत्तासंखेज्जयं तु ठिदिबंधो ।

तत्थ असंखेज्जाणं उदीरणा समयपवद्धाणं ॥२३८॥

अर्थ—पल्यके असंख्यातवैभाग प्रमाणवाले संख्यातहजार स्थितिबन्ध व्यतीत हो जानेपर असंख्यात समयप्रबद्धोंकी उदीरणा होती है^१ ।

विशेषार्थ—अनन्तर पूर्व कही गई इस अल्पबहुत्व विधिसे हजारों स्थिति-बन्धापसरण क्रियाको करते हुए जीवका जब कितना ही काल निकल जाता है तब पुनः जो कर्म बंधते हैं उन सभी कर्मोंका स्थितिबन्ध पल्योपमके असंख्यातवैभागप्रमाण ही होता है, अभी तक किसी भी कर्मका संख्यातवर्षकी स्थितिवाला बन्ध प्रारम्भ नहीं हुआ है, क्योंकि इससे बहुत दूर ऊपर जाकर अन्तरकरणके पश्चात् संख्यातवर्षकी स्थितिवाले बन्धका प्रारम्भ देखा जाता है, किन्तु इस स्थल पर सभी कर्मोंका स्थितिसत्कर्म अन्तः-कोड़ाकोड़ीके भीतर जानना चाहिए, क्योंकि उपशमश्रेणिमें अन्य प्रकार सम्भव नहीं है । यहां ये जितने स्थितिबन्धापसरण हुए हैं वहां सर्वत्र ही पूर्वोक्त विधिसे स्थिति-काण्डकवात, अनुभागकाण्डकधात और गुणश्रेणि आदिका अनुगम करना चाहिए, क्योंकि इस विषयमें नानात्व नहीं पाया जाता ।

पूर्वमें सर्वत्र ही जो उदीरणा असंख्यातलोकप्रमाण प्रतिभागके अनुसार प्रवृत्त होती आ रही थी इससमय वह उदीरणा परिणामोंके माहात्म्यवश पूर्वोक्त क्रियाकलापके ऊपर असंख्यात समयप्रबद्धोंकी प्रवृत्त होती है, क्योंकि अपकर्षण भागहारसे असंख्यात-गुणो भागहारके द्वारा डेढ़ गुणहानिप्रमाण समयप्रबद्धोंको भाजितकर जो असंख्यातसमय-प्रबद्धप्रमाण एक भाग लब्धरूपसे प्राप्त होता है उसका यहां उदीरणारूपसे उदयमें प्रवेश देखा जाता है, परन्तु यहां सर्वत्र उदीरणाको उदयके असंख्यातवै भागप्रमाण ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि उत्कृष्ट उदीरणाद्रव्यका भी ऐसा नियम है कि वह उदयगत गुणश्रेणिकी गोपुच्छाको देखते हुए असंख्यातगुणा हीन देखा जाता है^२ ।

अथानन्तर दो गाथाओं में देशघातिकरणका कथन करते हैं—

ठिदिबंधसहस्सगदे मणदाणा तत्तिथेवि ओहिदुगं ।

लाहं व पुणो वि सुदं अचक्खु भोगं पुणोचक्खु ॥२३६॥

पुणरवि मदिपरिभोगं पुणरवि विरयं कमेण अणुभागो ।

बंधेण देसघादी पल्लासंखं तु ठिदिबंधे ॥२४०॥

१. क. पा. सु. पृ. ६८८ सूत्र ११५ ।

२. ज. घ. पु. १३ पृ. २४८-४९ ।

अर्थ—संख्यातहजार स्थितिबन्ध बीत जानेपर मनःपर्ययज्ञानावरणीय और दानान्तरायका अनुभागबन्ध देशघाति होता है । पश्चात् संख्यातहजार स्थितिबन्ध व्यतीत होने पर अवधिज्ञानावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और लाभान्तराय कर्मोंका अनुभागबन्ध देशघाति हो जाता है । पुनः इसीप्रकार श्रुतज्ञानावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय और भोगान्तराय कर्मोंका अनुभागबन्ध देशघाति हो जाता है । पुनः चक्षुदर्शनावरणीयकर्मका अनुभागबन्ध देशघाति हो जाता है । पुनरपि मतिज्ञानावरणीय और परिभोगान्तरायकर्मोंका अनुभाग देशघाति हो जाता है पुनरपि वीर्यान्तराय कर्मोंका अनुभागबन्ध देशघाति हो जाता है, किन्तु स्थितिबन्ध पल्यके असंख्यातवैभागप्रमाण होता है ।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त सन्धिके बाद जिस प्रत्येक स्थितिकाण्डकमें हजारों अनुभागकाण्डक गर्भित हैं ऐसे संख्यात स्थितिकाण्डकोंके व्यतीत होनेपर मनःपर्ययज्ञानावरणीय और दानान्तरायकर्मका अनुभाग बन्धकी अपेक्षा देशघाति हो जाता है, क्योंकि उन कर्मोंके सबसे मन्द परिणामरूप अनुभागबन्धका उसप्रकारसे परिणामन होनेमें विरोधका अभाव है । इन कर्मोंका पहले जो अनुभागबन्ध सर्वघाति द्विस्थानरूपसे होता रहा है यहां वह एक बारमें सहकारी कारणरूप परिणाम विशेषको प्राप्तकर देशघाति द्विस्थानरूपसे परिणत हो गया है, परन्तु वहां सत्कर्मका अनुभाग तो सर्वघाति द्विस्थानरूप ही होता है, क्योंकि उसका देशघातिकरण नहीं होता ।

तत्पश्चात् संख्यात स्थितिबन्धोंके व्यतीत होने पर अवधिज्ञानावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और लाभान्तरायकर्मोंको बन्धकी अपेक्षा देशघाति करता है । उसके बाद संख्यात स्थितिबन्धोंके व्यतीत होनेपर श्रुतज्ञानावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय और भोगान्तरायकर्मोंको बन्धकी अपेक्षा देशघाति करता है । पश्चात् संख्यात स्थितिबन्धोंके व्यतीत होनेपर चक्षुदर्शनावरणीयको बन्धकी अपेक्षा देशघाति करता है । तत्पश्चात् संख्यात स्थितिबन्धोंके व्यतीत होने पर आभिनिबोधकज्ञानावरणीय और परिभोगान्तरायको बन्धकी अपेक्षा देशघाति करता है । उसके बाद संख्यात स्थितिबन्धोंके व्यतीत होनेपर वीर्यान्तरायकर्मोंको बन्धकी अपेक्षा देशघाति करता है ।

शङ्का—इनके इस प्रकार देशघातिकरणका क्रमनियम किस कारणसे है ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जो कर्म अनन्तगुणी हीन शक्तिवाले हैं और जो कर्म अनन्तगुणी अधिक शक्तिवाले हैं उनका युगपत् देश-

घातिकरण नहीं बन सकता ।

शङ्का—चार संज्वलन और पुरुषवेदके अनुभागबन्धका यहां पर देशघातिकरण क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि उनका अनुभागबन्ध पहले ही संयतासंयत गुणस्थानसे लेकर देशघाति द्विस्थानरूपसे प्रवर्तमान है अतः इस स्थलपर उनके देशघातिपनेके प्रति विसंवाद उपलब्ध नहीं होता ।

संसार अवस्थामें सर्वत्र अपकश्चेणि और उपशमश्चेणिमें देशघातीकरणके पूर्व सर्व जीव विवक्षित कर्मोंके सर्वघाति अनुभागको ही बांधते हैं । इन कर्मोंके देशघाति हो जाने पर भी मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध सबसे अल्प होता है । उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा होता है । उससे नाम व गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा होता है । उससे वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक होता है ।

अब चार गाथाओंमें अन्तरकरण का निरूपण करते हैं—

तो देसघादिकरणादुवरिं तु गदेसु तत्तियपदेसु ।

इगिवीसमोहणीयाणंतरकरणं करेदीदि ॥२४१॥

अर्थ—उपर्युक्त देशघातिकरणसे ऊपर उतने ही अर्थात् संख्यातहजार स्थितिबन्धोंके व्यतीत होनेपर मोहनीयकर्मकी इक्कीस प्रकृतियोंका अन्तरकरण करता है ।

विशेषार्थ—इस देशघातिकरणके पश्चात् इस अल्पबहुत्व विधिसे संख्यातहजार स्थितिबन्धोंके व्यतीत होनेपर अन्तरकरण करनेके लिये आरम्भ करता है । अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ इन बारह कषायोंका तथा हास्य-रति, अरति-शोक, भय-जुगुप्सा, स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेद इन नव नोकषायोंका अन्तरकरण करता है, अन्य कर्मोंका अन्तरकरण नहीं करता ।

संजलणाणं एककं वेदाणोकं उदेदि तं दोणहं ।

सेसाणं पढमट्टिदि ठवेदि अंतोमुहुत्त आवलियं ॥२४२॥

अर्थ—संज्वलन कषायोंमें से जिस एक संज्वलनकषायके उदयसे तथा तीनों वेदोंमें से जिस वेदके उदयसे श्रेणि बढ़ता है उनकी प्रथमस्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है; शेष प्रकृतियोंकी आवलिमात्र प्रथमस्थिति होती है ।

विशेषार्थ—उदयरूप दोनों प्रकृतियों की अन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्रथमस्थितिको छोड़कर ऊपरकी कितनी ही स्थितियोंको ग्रहणकर अन्तर करता है । अनुदयरूप दो वेदका उपशामनकाल तथा सात नोकषायोंका उपशामनकाल, इन कालोंका जितना योग होता है उतनी उदयरूप पुरुषवेदकी प्रथमस्थितिका काल है, किन्तु उदयरूप कषायकी प्रथमस्थितिका काल इससे अधिक है । जिन प्रकृतियोंका उदय नहीं है उन प्रकृतियोंकी उदयावलिप्रमाण स्थितियोंको छोड़कर आवलि बाह्य स्थितियोंको अन्तरके लिए ग्रहण करता है^१ ।

उवरिं समं उक्कीरइ हेट्ठा विसमं तु मज्झिमपमाणं ।

तदुपरि पढमठिदीदो संखेज्जगुणं हवे णियमा ॥२४३॥

अर्थ—अन्तरसे ऊपरकी सर्व प्रकृतियोंके निषेक सदृश हैं, किन्तु अन्तरके नीचे उदय व अनुदयरूप प्रकृतियोंकी प्रथमस्थितिके निषेक विषम हैं । प्रथमस्थिति और उपरिम स्थितिके मध्यका प्रमाण अर्थात् अन्तरायाम प्रथम स्थितिसे संख्यातगुणा है ऐसा नियम है ।

विशेषार्थ—उदयरूप और अनुदयरूप सभी कषायों तथा नोकषायोंके अन्तरकी अन्तिम स्थिति सदृश ही होती है, क्योंकि द्वितीय स्थितिके प्रथम निषेकका सर्वत्र सदृश-रूपसे अवस्थान देखा जाता है, इसलिए ऊपर अन्तर समस्थितिवाला है, किन्तु नीचे अन्तर विसदृश होता है, क्योंकि अनुदयस्वरूप सभी प्रकृतियोंके अन्तरके सदृश होने पर भी उदयस्वरूप अन्यतरवेद और अन्यतर संज्वलनकषायकी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्रथम स्थितिसे परे अन्तर और प्रथमस्थितिका अवस्थान देखा जाता है । इसलिये प्रथम स्थितिके विसदृशपनेका आश्रयकर नीचे विषमस्थिति अन्तर होता है यह कहा है^२ ।

अंतरपढमे अरणो ठिदिखंधो ठिदिरसाण खंडो य ।

एयट्ठिदिखंडुक्कीरणकाले अंतरसमत्ती ॥२४४॥

१. ज. ध. पु. १३ पृ. २५३-५४; क. पा. सु. पृ. ६८६ ।

२. अभिप्राय यह है कि उदीयमान की प्रथमस्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है, परन्तु अनुदयस्वरूप दो वेद व ग्यारहकषायों की एक आवली प्रमाण प्रथम स्थिति होती है इसलिये इस प्रथम स्थितिके विषम होनेसे अधोभाग में अन्तरमें विषमता आ जाती है ।

अर्थ—अन्तरकरण करनेके प्रथम समयमें अन्य स्थितिवन्ध, अन्य स्थितिकाण्डक, अन्य अनुभागकाण्डक होता है । एक काण्डकोत्कीरणकालमें अन्तर कार्यकी समाप्ति हो जाती है ।

विशेषार्थ—जिस समय अन्तरकरण करनेका आरम्भ किया उसी समय पूर्वके स्थितिवन्ध, स्थितिकाण्डक और अनुभागकाण्डक समाप्त हो जानेके कारण अन्य स्थिति-बन्धको असंख्यातगुणा हीनरूपसे बांधनेके लिए आरम्भ किया, अन्य स्थितिकाण्डक पल्योपमके संख्यातवै भागप्रमाणवाला ग्रहण किया और शेष अनुभागके अनन्त बहुभाग को ग्रहण किया । हजारों अनुभागकाण्डकोंको भीतरकर होनेवाले स्थितिकाण्डककालके समान अंतरकरणका काल होता है । अतः एक स्थितिकाण्डकोत्कीरणकालके द्वारा अंतरको सम्पन्न करता है^१ ।

अब तीन गाथाओं के द्वारा अन्तरकरण करने की विधि बतलाते हैं—

अंतरहेदुक्कीरिददव्वं तं अंतरम्हि ए य देदि ।

बंधं ताणंतरजं बंधाणं विदियगे देदि ॥२४५॥

उदयिल्लाणंतरजं सगपढमे देदि बंधविदिये च ।

उभयाणंतरदव्वं पढमे विदिये च संकुहदि ॥२४६॥

अणुभयगाणंतरजं बंधं ताणं च विदियगे देदि ।

एवं अंतरकरणं सिज्झदि अंतोमुहुत्तेण ॥२४७॥

अर्थ—अन्तरकरण करनेके लिए उत्कीरित द्रव्यको अन्तरायाममें नहीं देता है, किन्तु जो कर्मप्रकृति मात्र बंधती ही हैं उनके उत्कीरित द्रव्यको द्वितीय स्थितिमें देता है । जो कर्मप्रकृतियां उदय प्राप्त हैं उनको प्रथमस्थितिमें देता है और द्वितीय स्थितिमें भी देता है । जिन कर्मप्रकृतियोंका बंध और उदय दोनों हैं उनके उत्कीरित द्रव्यको प्रथम और द्वितीय दोनों स्थितियोंमें देता है । जिन कर्मप्रकृतियोंका न तो बंध होता है और न उदय है उन प्रकृतियोंके उत्कीरित द्रव्यको द्वितीय स्थितिमें देता है । इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा अन्तरकरणकी सिद्धि (समाप्ति) होती है ।

विशेषार्थ—चारित्रमोहनीयकर्मकी २१ प्रकृतियोंका अन्तरकरण करनेके लिए अन्तरायामसे उत्कीर्णित द्रव्यको अन्तरायाममें नहीं देता है, किन्तु जो प्रकृतियां बन्ध-उदय की अपेक्षा उभयरूप हैं ऐसी पुरुषवेद व अन्यतर संज्वलनकषायकी अन्तर सम्बन्धी स्थितियोंमें से उत्कीर्ण होने वाले प्रदेशपुञ्जको आगमके अनुसार अपनी प्रथम स्थिति में निक्षिप्त करता है और आवाधाको छोड़कर द्वितीयस्थितिमें भी निक्षिप्त करता है, किन्तु अन्तर सम्बन्धी स्थितियोंमें निक्षिप्त नहीं करता, क्योंकि उनके कर्मपुञ्जसे वे स्थितियां रिक्त होनेवाली हैं। जबतक अन्तर सम्बन्धी द्विचरमफाली है तबतक स्वस्थान में भी अपकर्षण सम्बन्धी अतिस्थापनावलिको छोड़कर अन्तर सम्बन्धी स्थितियोंमें प्रवृत्त रहता है ऐसा कितने ही आचार्य व्याख्यान करते हैं। यह अर्थ सर्व विकल्पोंमें जानकर बतलाना चाहिए। जो कर्म न बंधते हैं और न वेदे जाते हैं ऐसी अप्रत्याख्याना-वरणादि आठकषाय और हास्यादि छह नोकषायके उत्कीर्ण होनेवाले प्रदेश पुञ्जको अपनी स्थितियोंमें नहीं देता है, किन्तु बंधनेवाली प्रकृतियोंकी द्वितीय स्थितिमें बन्धके प्रथम निषेकसे लेकर उत्कर्षण द्वारा सींचता है। बंधनेवाली और नहीं बंधनेवाली जिन प्रकृतियोंकी प्रथमस्थिति है उनमें यथामम्भव अपकर्षण परप्रकृति संक्रमणद्वारा सींचता है, परन्तु स्वस्थान (अन्तरायाम) निक्षिप्त नहीं करता। जो कर्मप्रकृतियां बंधती नहीं, किन्तु वेदी जातो हैं ऐसी स्त्रीवेद व नपुंसकवेदरूप प्रकृतिकी अन्तर सम्बन्धी स्थितियोंके प्रदेश पुञ्जको ग्रहणकर अपनी-अपनी प्रथम स्थितिमें अपकर्षण-संक्रमणद्वारा देता है। उदयको प्राप्त संज्वलनकषायोंकी प्रथमस्थितिमें अपकर्षण-परप्रकृति संक्रमण द्वारा आगमानुसार निक्षिप्त करता है तथा बन्ध की द्वितीयस्थितिमें उत्कर्षणकर सिंचित करता है। जो कर्म केवल बंधते ही हैं, वेदे नहीं जाते, ऐसे परोदयविवक्षामें पुरुषवेद और अन्यतरसंज्वलनकी अन्तर सम्बन्धी स्थितियोंमें से उत्कीर्ण होने वाले प्रदेशपुञ्जका उत्कर्षणवश अपनी द्वितीयस्थितिमें सञ्चार विरुद्ध नहीं है। उदय सहित बंधनेवाली प्रकृतियोंकी प्रथम और द्वितीय स्थितियोंमें तथा अनुदयरूप बंधनेवाली प्रकृतियोंकी द्वितीयस्थितिमें सञ्चार विरुद्ध नहीं है^१।

इस क्रमसे अन्तर्मुहूर्तप्रमाण फालिरूपसे प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणिद्वारा उत्कीर्ण होने वाला अन्तर अन्तिमफालिके उत्कीर्ण होनेपर अन्तरकरण करनेका कार्य समाप्त हो जाता है, क्योंकि अन्तर सम्बन्धी अन्तिमफालिका पतन हो जानेपर अन्तर

स्थितिसम्बन्धी सर्व द्रव्य प्रथम और द्वितीय स्थितियोंमें संक्रमित हो जाता है । इस विधिसे किये जाने वाले अन्तरको अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा निर्लेप कर दिया जाता है, यह सिद्ध हुआ^१ ।

अन्तरकरण की निवृत्ति के अनन्तर समयमें होने वाली क्रिया विशेष को बताते हैं—

सत्तकरणाणि यन्तरकदपढमे ह्येति मोहणीयस्स ।

इगिठाणिय बंधुदग्धो ठिदिबंधो संखवस्सं च ॥२४८॥

अणुपुब्बीसंकमणं लोहस्स असंकमं च संढस्स ।

पढमोवसामकरणं आवलित्तीदेसुदीरणदा ॥२४९॥

अर्थ — अन्तर कर चुकनेके प्रथम समयमें मोहनीयकर्म सम्बन्धी सातप्रकारके करण प्रारम्भ होते हैं—मोहनीयकर्मका एक स्थानीय बंध, एक स्थानीय उदय, मोहनीयकर्मका संख्यातवर्षका स्थितिबंध, मोहनीयकर्मका आनुपूर्वीसंकम, संज्वलनलोभका असंकम, नपुंसकवेदकी उपशमक्रियाका प्रारम्भ, छह आवलियोंके बीत जाने पर मोहनीयकर्मकी उदीरणा ।

विशेषार्थ — अन्तर समाप्तिका जो काल है उसी समयसे ही ये सात करण प्रारम्भ हुए हैं^२ । उनमेंसे मोहनीयकर्मका आनुपूर्वीसंकम यह प्रथम करण है । यथा— स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके प्रदेशपुंजको यहांसे लेकर पुरुषवेदमें नियमसे संक्रान्त करता है । पुरुषवेद, छह नोकषाय तथा प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यानके प्रदेशपुंजको क्रोध-संज्वलनमें संक्रमित करता है अन्य किसीमें नहीं । क्रोध संज्वलन और दोनों प्रकारके मान सम्बन्धी प्रदेशपुंज को भी मान संज्वलन में नियमसे संक्रमित करता है, अन्य किसीमें नहीं । मानसंज्वलन और दोनों प्रकारकी मायाके प्रदेशपुंजको नियमसे माया-संज्वलनमें निक्षिप्त करता है तथा मायासंज्वलन और दोनों प्रकारके लोभ सम्बन्धी प्रदेशपुंजको नियमसे लोभसंज्वलनमें निक्षिप्त करता है, यह आनुपूर्वीसंकम है । पहले चारित्रमोहनीय प्रकृतियोंका आनुपूर्वीके बिना प्रवृत्त होता हुआ संक्रम इस समय इस प्रतिनियत आनुपूर्वसि प्रवृत्त होता है ।

१. ज. घ. पु. १३ पृ. २५६-२६३ ।

२. ज. घ. पु. १३ पृ. २६३ । क. पा. सु. पृ. ६६०; घ. पु. ६ पृ. ३०२ ।

लोभका असंक्रम यह दूसरा करण है । यहां गाथामें 'लोहस्स' ऐसा सामान्य निर्देश करने पर भी लोभसंज्वलनका ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि व्याख्यानसे विशेषकी प्रतिपत्ति होती है ऐसा न्याय है । इसलिये पहले आनुपूर्विके बिना लोभसंज्वलनका भी शेष संज्वलन और पुरुषवेदमें प्रवृत्त होनेवाला संक्रम यहां आनुपूर्विक संक्रमका प्रारम्भ होने पर प्रतिलोमसंक्रमका अभाव होनेसे रुक गया । यहां से लेकर लोभसंज्वलनका संक्रम नहीं ही होता, ऐसा ग्रहण करना चाहिए । यद्यपि आनुपूर्विकसंक्रमसे ही यह अर्थ उपलब्ध हो जाता है तथापि मन्दबुद्धिजनोंका अनुग्रह करनेके लिए पृथक् निर्देश किया, इसलिए पुनरुक्त दोष प्राप्त नहीं होता ।

मोहनीयका एकस्थानीय बन्ध यह तीसरा करण है । इसका तात्पर्य—इससे पूर्व देशघाति द्विस्थानीयरूपसे मोहनीयका अनुभागबंध होता रहा, अब परिणामोंके माहात्म्यवश घटकर वह एक स्थानीय हो गया ऐसा यहां ग्रहण करना चाहिए । नपुंसकवेदका प्रथम समय उपशामक यह चौथा करण यहांपर आरम्भ हुआ है, क्योंकि प्रथम आयुक्तकरण (उद्यतकरण) के द्वारा नपुंसकवेदकी ही उपशामनक्रियामें यहांसे प्रवृत्ति देखी जाती है । छह आवलियोंके जाने पर उदीरणा इस पांचवें करण को यहां आरम्भ करता है । मोहनीयका एक स्थानीय उदय यह छठा करण है । इसका अर्थ—पहले द्विस्थानीय देशघातिरूपसे प्रवृत्त हुआ मोहनीयकर्मका अनुभागउदय अन्तरकरणके अनन्तर ही एकस्थानीयरूपसे परिणत हो गया यह उक्त कथनका तात्पर्य है । 'मोहनीयकर्मका संख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध' यह सातवां करण है । इसका अर्थ—पहले मोहनीयकर्मका जो स्थितिबन्ध असंख्यातवर्षप्रमाण होता रहा उसका इस समय काफी घटकर संख्यातहजार वर्षप्रमाणरूपसे अवस्थान होता है, परन्तु शेष कर्मोंका असंख्यात वर्षप्रमाण ही स्थितिबन्ध होता है, क्योंकि उनका अभी भी संख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबंध प्रारम्भ नहीं हुआ है । इसप्रकार इन सातों करणोंका अन्तरकर चुकनेके प्रथम समयसे ही युगपत् प्रारम्भ होता है ।

छह आवलियोंके व्यतीत होनेपर उदीरणा होती है, इस करणका विशेष कथन इसप्रकार है—जैसे पहले सर्वत्र ही समयप्रबद्ध बन्धावलिके व्यतीत होनेके बाद ही नियमसे उदीरणाके लिए शक्य रहता आया है उसप्रकार यहां शक्य नहीं है, किन्तु अन्तर किये जानेके प्रथम समयसे लेकर जो कर्मबंधते हैं मोहनीय या मोहनीयके अतिरिक्त अन्य ज्ञानावरणादिक वे कर्म छह आवलियोंके व्यतीत होनेके बाद उदीरणाके

लिए शक्य होते हैं । बन्ध समयसे लेकर जबतक पूरी छह आवलियां व्यतीत नहीं होती हैं तबतक उनकी उदीरणा होना शक्य नहीं है । जिस प्रकार अन्तरकरणके पूर्व सर्वत्र बन्धावलिके व्यतीत होनेके बाद बद्धकर्म उदीरणाके योग्य होता है यह नियम स्वभावसे प्रतिबद्ध है उसीप्रकार इस स्थल पर भी बन्धसमयसे लेकर छह आवलि व्यतीत होनेके बाद बद्धकर्म उदीरणाके योग्य होता है यह नियम स्वभावसे प्रतिबद्ध है^१ ।

अन्तर किये जानेके पश्चात् प्रथम समयसे लेकर नपुंसकवेदका आयुक्त (प्रारम्भ)^२ करणद्वारा उपशामक होता है । इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—यहां से लेकर अन्तर्मुहूर्तकालतक नपुंसकवेदका आयुक्त (उद्यत अथवा प्रारम्भ) क्रियाके द्वारा उपशामक होता है, शेष कर्मों को तो किञ्चित्मात्र भी नहीं उपशमाता है, क्योंकि उनकी उपशामनक्रियाका अर्थ भी प्रारम्भ नहीं हुआ है । इसप्रकार आयुक्त (उद्यत) क्रियाके द्वारा नपुंसकवेदके उपशमानेका आरम्भकर उपशमाता है^३ ।

अब चारित्रमोहोपशमन का क्रम कहते हैं—

अंतरपटमादु कमे एक्केषकं सत्त चट्सु तिय पयडिं ।

सममुच्च सामदि णवकं समऊणावलिदुगं वडजं ॥२५०॥

एय णउंसयवेदं इत्थीवेदं तहेव एयं च ।

सत्तेव णोकसाया कोहादितियं तु पयडीओ ॥२५१॥

अर्थ—अन्तर हो जानेके पश्चात् प्रथम समयसे एक अन्तर्मुहूर्तमें नपुंसकवेदको उपशमाते हैं । तत्पश्चात् पुनः एक अन्तर्मुहूर्तमें स्त्रीवेदको उपशमाता है । पुनः एक अन्तर्मुहूर्तमें सात नोकषाय को, पुनः एक अन्तर्मुहूर्तमें तीन क्रोध को, पुनः एक अन्तर्मुहूर्तमें तीन मान को, पुनः एक अन्तर्मुहूर्तमें तीन माया को, तत्पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तद्वारा तीन लोभका उपशम करता है । वहां एक समय कम दो आवली प्रमाण नवक प्रबद्धों को नहीं उपशमाता है ।

१. ज. घ. पु. १३ पृ. २६५-२६७ ।

२. आयुक्त करण किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—आयुक्तकरण, उद्यतकरण और प्रारम्भकरण ये तीनों एकार्थक हैं । तात्पर्यरूप से यहां से लेकर नपुंसकवेदको उपशमाता है, यह इसका अर्थ है । (ज. घ. पु. १३ पृ. २७२)

३. ज. घ. पु. १३ पृ. २७२ ।

विशेषार्थ—अन्तरकरण कर चुकनेके पश्चात् अनन्तर प्रथम समयमें नपुंसक-वेदको उपशमानेकी क्रिया प्रारम्भ कर एक अन्तर्मुहूर्तकालमें नपुंसकवेदको उपशमा देता है । तत्पश्चात् दूसरे अन्तर्मुहूर्तमें स्त्रीवेद को उपशमाता है । पुनः तीसरे अन्तर्मुहूर्तमें हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और पुरुषवेद इन सात नोकषायका उपशम करता है । तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानक्रोध, प्रत्याख्यानक्रोध और संज्वलनक्रोधको अन्तर्मुहूर्तकालद्वारा उपशान्त करता है । उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तकालमें अप्रत्याख्यानमान, प्रत्याख्यानमान व संज्वलनमानका उपशम करता है । तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकालद्वारा अप्रत्याख्यानमाया, प्रत्याख्यानमाया व संज्वलनमायाका उपशम करता है । उसके बाद अन्तर्मुहूर्तकालमें अप्रत्याख्यानलोभ, प्रत्याख्यानलोभ और संज्वलनलोभको उपशान्त करता है । इसप्रकार क्रमशः सात अन्तर्मुहूर्तकालमें चारित्र्य मोहनीयकर्मकी २१ प्रकृतियोंका प्रशस्त उपशम करता है ।

आगे सबप्रथम नपुंसकवेदके उपशमका विधान करते हैं—

अंतरकदपडमादो पडिसमयमसंखगुणविद्वाणकमे ।

एवसामेदि हु संडं उवसंतं जाण ण च अणं ॥२५२॥

अर्थ—अन्तर किये जानेके प्रथम समयसे लेकर प्रतिसमय असंख्यातगुणे क्रम विधानसे नपुंसकवेदके प्रदेशपुंजको उपशमाता है, अन्य कर्मोंको नहीं उपशमाता ।

विशेषार्थ—अन्तरकरण करनेके पश्चात् अनन्तर समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तकालतक आयुक्त (उद्यत) करणद्वारा नपुंसकवेदका उपशामक होता है, शेष कर्मोंको तो किंचिन्मात्र भी नहीं उपशमाता, क्योंकि उनकी उपशामनक्रियाका अभी भी प्रारम्भ नहीं हुआ है । इसप्रकार आयुक्तक्रियाके द्वारा नपुंसकवेदके उपशमको प्रारम्भकर उपशमित करता हुआ प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणिरूपसे नपुंसकवेदके प्रदेशपुंजको उपशान्त करता है । प्रथमसमयमें जिस प्रदेशपुंजको उपशमाता है वह स्तोक है । दूसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे प्रदेशपुंजको उपशमाता है । इसप्रकार नपुंसकवेदके उपशान्त होनेके अन्तर्मुहूर्त काल तक असंख्यातगुणी श्रेणिरूपसे उपशमाता है, क्योंकि प्रतिसमय कारणभूत परिणामोंकी वृद्धिके माहात्म्यवश प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणिरूपसे नपुंसकवेदके प्रदेशपुंजको उपशमाता है' ।

उदीरणा और उदयादिरूप द्रव्यके अल्पबहुत्वका निदर्श करनेके लिए अगली गाथा कहते हैं—

संढादिम उदयसम्बन्धे इदृश उदीरणा य उदयो य ।

संढादो संक्रमिदं उवसमियमसंख्यगुणियकमा ॥२५३॥

अर्थ—नपुंसकवेदके उपशम सम्बन्धी प्रथम समयमें उदय प्राप्त अन्य प्रकृतियों का उदीरणा द्रव्य, उन्हींका उदयरूप द्रव्य, नपुंसकवेदका अन्य प्रकृतियोंमें संक्रमित होनेवाला द्रव्य और नपुंसकवेदका उपशमित होनेवाला द्रव्य क्रमशः असंख्यातगुण हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में 'इदृश' शब्दके द्वारा नपुंसकवेदके अतिरिक्त अन्य सब उदयरूप प्रकृतियोंका ग्रहण होता है । प्रथम समयमें नपुंसकवेदके उपशमक जीवके द्वारा वेदी जाने वाली प्रकृतियोंका उदीरणा द्रव्य असंख्यात समयप्रबद्धप्रमाण होनेपर भी आगे कहे जानेवाले पदोंकी अपेक्षा स्तोक है । वेदी जानेवाली सभी प्रकृतियोंके उदीरणा सम्बन्धी द्रव्यसे उदय सम्बन्धी द्रव्य असंख्यातगुणा है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्तकाल-प्रमाण सञ्चित गुणश्रेणिके गोपुच्छके माहात्म्यसे इसका निर्णय होता है कि प्रकृतमें उदीरणाके द्रव्यसे उदयका द्रव्य असंख्यातगुणा है । उदय द्रव्यसे नपुंसकवेदका अन्य प्रकृतियोंमें संक्रमित होनेवाला प्रदेशपुंज (द्रव्य) असंख्यातगुणा है, क्योंकि अपकर्षण सम्बन्धी द्रव्यके असंख्यातवैभागसे प्रतिबद्ध उदय सम्बन्धी द्रव्य है, किन्तु यह पर प्रकृतियोंमें संक्रमित होनेवाला द्रव्य गुणसंक्रमणरूप है । इसलिए असंख्यातगुणा है । इसका भी कारण यह है कि गुणसंक्रम सम्बन्धी भागहारसे अपकर्षण सम्बन्धी भागहार असंख्यातगुणा होता है । संक्रमित होनेवाले प्रदेशपुंजसे नपुंसकवेदका उपशमित होने वाला प्रदेशपुंज (द्रव्य) असंख्यातगुणा है, क्योंकि उस समय शेष प्रकृतियोंके उपशमित होने वाले प्रदेशपुंजका अभाव है । गुणसंक्रमण सम्बन्धी भागहारसे असंख्यातगुण हीन भागहारके द्वारा भाजित करने पर जो एक भाग लब्ध प्राप्त हो उतना उपशमित होने वाला प्रदेशपुंज है इसलिए संक्रमित होने वाले द्रव्यसे असंख्यातगुणा सिद्ध होगा । जिसप्रकार नपुंसकवेदके उपशमकके प्रथम समयमें यह अल्पबहुत्व है, उसीप्रकार द्वितीयादि समयोंमें भी जानना चाहिए ।

यहाँ स्थितिकाण्डकधातुके अभावका निर्वेश करते हैं—

अन्तरकरणादुपरि ठिदिरसखंडा ए मोहणीयस्स ।

ठिदिबंधोसरणं पुण संखेज्जगुणेण हीणकमं ॥२५४॥

जत्तोपाये होदि हु ठिदिबंधो संखवस्समेत्तं तु ।

तत्तो संखगुणं बंधोसरणं तु पयडीणं ॥२५५॥

अर्थ—अन्तरकरण करनेके पश्चात् मोहनीयकर्मका स्थितिकाण्डकघात व अनुभागकाण्डकघात नहीं होते, किन्तु स्थितिबन्धापसरण क्रमशः संख्यातगुणे हीन होते हैं । जब से मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध संख्यातवर्ष मात्र होता है तबसे सब प्रकृतियोंका स्थितिबन्धापसरण संख्यातगुणा हीन होता है ।

विशेषार्थ—अन्तरकरण करके नपुंसकवेदकी उपशामना प्रारम्भ होनेपर मोहनीयकर्मके स्थितिघात व अनुभागघात नहीं होते । नपुंसकवेदको उपशमानेवाला प्रथमसमयमें सर्व स्थितियोंमें स्थित प्रदेशपुंजके असंख्यातवैभागप्रमाण द्रव्यको उपशमाता है । इसप्रकार उपशमाकर यदि स्थिति और अनुभागका घात करता है तो उपशमित किये गए प्रदेशपुंजका भी स्थितिघात और अनुभागघात प्राप्त होता है, क्योंकि उपशमित किये गये प्रदेशपुंजको छोड़कर शेषके भी घातका कोई उपाय नहीं पाया जाता । उपशमाए गये प्रदेशपुंजका घात सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रशस्त उपशामना द्वारा उपशमित किये गये प्रदेशपुंजका अपनी स्थिति और अनुभागमें परिवर्तन नहीं होता । इसप्रकार प्रथम स्थितिकाण्डकके कालके भीतर प्रतिसमय उपशमित किये गये प्रदेशपुंज के स्थितिघात और अनुभागघातका अतिप्रसंग प्राप्त होता है । इसीप्रकार दूसरे स्थितिकाण्डककालमें उपशमित किये गये द्रव्यके घातका प्रसंग प्राप्त होता है । नपुंसकवेदको उपशमाकर स्त्रीवेदको उपशमानेवाला यदि नपुंसकवेदका स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात करता है तो उपशामना निरर्थक प्रसक्त होती है ।

यदि उपशमाई जाने वाली या उपशान्त हुई प्रकृतियोंका काण्डकघात नहीं होता, शेष नहीं उपशमित की गई मोहनीयकर्मप्रकृतियोंका काण्डकघात होता है ऐसा माना जावे तो नपुंसकवेदकी स्थितिसे स्त्रीवेदकी स्थिति संख्यातगुणी हीन प्राप्त होती है, क्योंकि नपुंसकवेदके उपशमाने सम्बन्धी कालके भीतर उपशमित किये जानेवाले नपुंसकवेदका तो स्थितिघात होता नहीं, किन्तु स्त्रीवेद बादमें उपशमाया जाता है,

इसलिए तब उसका स्थितिघात प्राप्त होता है । इसी मान्यतामें नपुंसकवेदकी स्थितिसे स्त्रीवेदकी स्थितिका अधिक घात होनेके कारण स्त्रीवेदकी स्थितिसे नपुंसकवेदकी स्थिति संख्यातगुणी हीन होनेका प्रसंग आता है । इसी प्रकार स्त्रीवेदके (उपशमनके समय उससे) पश्चात् क्रमशः उपशमाई जानेवाली सात नोकषाय वृक्ष बारहकषायोंकी स्थिति भी स्त्रीवेदकी स्थितिसे संख्यातगुणी-संख्यातगुणी हीन होनेका प्रसंग प्राप्त होगा, किन्तु यह इष्ट नहीं है, क्योंकि उपशान्त अवस्थामें बारहकषाय और नौ नोकषायकी स्थिति सदृश ही होती है, ऐसा परमगुरुके उपदेशसे सिद्ध है । इसलिए अन्तरकरण सम्पन्न होने पर मोहनीयकर्मका स्थितिघात और अनुभागघात नहीं होता^१ ।

पहले जो स्थितिबन्धका प्रमाण असंख्यातगुणा हीनरूपसे प्रारम्भ था, अन्तर-करणकी समाप्तिके कालमें ही उस स्थितिबन्धके संख्यातवर्षप्रमाण हो जाने पर अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा एक स्थितिबन्धको निवृत्तकर अन्य स्थितिबन्धको संख्यातगुणा हीन करके आरम्भ करता है । यह मोहनीयकर्म सम्बन्धी बन्धापसरणोंकी विधि है । मोहनीयकर्मके अतिरिक्त शेषकर्मोंके प्रत्येक स्थितिबन्धके पूर्ण होने पर अन्य स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा हीन होता है^२ ।

अब स्थितिबन्धापसरणके प्रमाणका निर्देश करते हैं—

वस्साणं वत्तीसादुवरि अंतोमुहुत्तपरिमाणं ।

ठिदिबन्धाणोसरणं अवरट्ठिदिबन्धणं जाव ॥२५६॥

अर्थ—संज्वलनकषायका स्थितिबन्ध वत्तीस वर्षप्रमाण हो जानेपर प्रत्येक स्थितिबन्धापसरण अन्तर्मुहूर्तप्रमाणवाला होने लगता है । जबतक जघन्य स्थितिबन्ध हो तबतक स्थितिबन्धापसरण अन्तर्मुहूर्त प्रमाणवाला होता है ।

विशेषार्थ—सवेदी जीवके अन्तिम समयमें संज्वलनकषायोंका स्थितिबन्ध सम्पूर्ण वत्तीस वर्षप्रमाण होता है । उस स्थितिबन्धका वहीं पर्यवसान होता है । इसलिए उस स्थितिबन्धके समाप्त होनेपर अपगतवेदी जीव अवेदभागके प्रथम समयमें अन्तर्मुहूर्तकर्म वत्तीसवर्षका स्थितिबन्ध आरम्भ करता है, क्योंकि यहांसे लेकर संज्वलन कषायोंके स्थितिबन्धका उत्तरोत्तर अपसरण अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होता है, परन्तु शेष

१. ज. घ. पु. १३ पृ. २७५-२७७ ।

२. ज. घ. पु. १३ पृ. २७५ ।

कर्मोंका स्थितिवन्ध संख्यातगुणो हीन कमसे बन्धको प्राप्त होता हुआ संख्यातहजार वर्षप्रमाण जानना चाहिए^१ ।

अब स्थितिवन्धापसरण सम्बन्धी विशेष कथन करते हैं—

टिदिबन्धाणोसरणं एयं समयप्पवद्धमहिकिच्चा ।

उत्तं णाणादी पुण ण च उत्तं अणुववत्तीदो ॥२५७॥

अर्थ—एक समयमें जितना स्थितिवन्ध कम होता है उतना स्थितिवन्धापसरण का प्रमाण कहा गया है । एक स्थितिवन्धापसरण कालतक वही प्रमाण रहता है, क्योंकि प्रत्येक समयमें नाना स्थितिवन्धापसरणकी अप्राप्ति कही गई है ।

विशेषार्थ—एक स्थितिकाण्डकोत्तीरणकाल व एक स्थितिवन्धापसरणकाल ये दोनों तुल्य होते हुए अन्तर्मुहूर्तप्रमाण हैं । स्थितिवन्धापसरणके प्रथम समयमें जितनी स्थिति कम होकर स्थितिवन्ध होता है, अन्तर्मुहूर्तकालतक प्रत्येक समयमें उतना ही स्थितिवन्ध होता रहता है । इसीलिए एक स्थितिवन्धापसरण कालमें नानापनेकी अनुपपत्ति कही गई है ।

नपुंसकवेदकी उपशामना के पश्चात् स्त्रीवेदको उपशम क्रिया का कथन आगे की गाथामें करते हैं—

एवं संखेज्जेसु टिदिबन्धसहस्सगेषु तीदेसु ।

संदुव समदेतत्तो इत्थि च तद्देव उवसमदि ॥२५८॥

अर्थ—इसप्रकार संख्यातहजार स्थितिवन्ध व्यतीत होने पर अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा नपुंसकवेदका उपशम होता है । तत्पश्चात् उसीप्रकार नपुंसकवेदके उपशम सदृश अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा स्त्रीवेदका उपशम करता है ।

विशेषार्थ—नपुंसकवेद प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणिरूपसे उपशमाया जाता हुआ क्रमसे उपशान्त होता है । इसप्रकार संख्यातहजार स्थितिवन्धोंके व्यतीत होनेपर नपुंसकवेदको उपशमितकर तदनन्तर समयसे लेकर स्त्रीवेदका उपशम आरम्भ करता है । उसीसमय मोहनीयकर्मके अतिरिक्त शेष कर्मोंके पहले आरम्भ किये गये स्थितिकाण्डक और अनुभागकाण्डकोंकी समाप्ति हो जानेके कारण अपूर्व स्थितिकाण्डक और

अपूर्व अनुभागकांडका प्रारम्भ करता है, परन्तु मोहनीयकर्मका यहां स्थितिघात और अनुभागघात नहीं है । ज्ञानावरणादिकर्मोंके असंख्यातगुण हानिरूपसे और बंधनेवाली मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंका संख्यातगुण हानिरूपसे अन्य स्थितिबन्ध प्रारम्भ होता है । जिसप्रकार असंख्यातगुणी श्रेणिरूपसे नपुंसकवेदको उपशमाया है उसीप्रकार प्रतिसमय असंख्यातगुणश्रेणिरूपसे स्त्रीवेदको उपशमित करता है' ।

अथानन्तर स्त्रीवेदके उपशमन कालमें होने वाले कार्य विशेष को बताते हैं—

थीयद्धा संखेज्जदिभागेपगदे तिघादिठिदिबंधो ।

संखतुवं रसबंधो केवलणाणेगठाणं तु ॥२५६॥

अर्थ—स्त्रीवेदके उपशानेके कालके संख्यातवें भाग व्यतीत हो जाने पर तीन घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय) कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातवर्ष प्रमाण होता है और केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरणके अतिरिक्त तीन घातिया कर्मोंकी शेष प्रकृतियोंका अनुभागबन्ध एक स्थानीय (लता रूप) होता है ।

विशेषार्थ—स्त्रीवेदके उपशमानेके अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कालका संख्यातवां भाग व्यतीत हो जानेपर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध असंख्यातवर्षसे घटकर संख्यात हजार वर्षप्रमाण हो जाता है, परन्तु तीन अघातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातवर्षप्रमाण नहीं होता, क्योंकि घातिया कर्मोंके बहुत अधिक स्थितिबन्धापसरणके समान अघातिया कर्मोंका बहुत अधिक स्थितिबंधापसरण सम्भव नहीं है ।

जिस समय इन तीन घातियाकर्मोंका संख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध प्रारम्भ हुआ उसी समय केवलज्ञानावरणको छोड़कर ज्ञानावरणकी शेष चार प्रकृतियोंका, केवलदर्शनावरणके बिना दर्शनावरण की चक्षु-अचक्षु और अवधिदर्शनावरण तथा अन्तरायकर्मकी सभी पांचों प्रकृतियोंका अनुभागबन्ध देशघातिरूप द्विस्थानीयसे घटकर लतारूप एक स्थानीय होने लगता है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका संख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध प्रारम्भ होने पर असंख्यातगुणी हानि होना असम्भव है । अतः जो अन्य स्थितिबन्ध होता है वह अपने से पूर्व स्थितिबन्धसे संख्यातगुणा हीन

होता है, परन्तु नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मोंका अभी भी संख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध प्रारम्भ नहीं हुआ, इसलिए उनका असंख्यातगुणा हीन ही स्थितिबन्ध प्रवृत्त रहता है। इन स्थितिबन्धोंका अल्पबहुत्व इसप्रकार है—

मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक है, उससे ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तरायका स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। उससे नामकर्म और गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा है, उससे वेदनीयका स्थितिबन्ध विशेषाधिक है। इसक्रम से संख्यात हजार स्थितिबन्धोंके व्यतीत होनेपर स्त्रीवेद उपशमित हो जाता है^१ :

अब सात नो कषायोंकी उपशामना एवं क्रियाविशेष सम्बन्धो कथन तीन गाथाओं के द्वारा करते हैं—

धीउवसमिदाणंतरसमयादो सत्त णोकसायाणं ।

उवसमगो तस्सद्धा संखेज्जदिमे गदे तत्तो ॥२६०॥

णामदुग वेयणियट्ठिदिबंधो संखवस्सयं होदि ।

एवं सत्तकसाया उवसंता सेसभागंते ॥२६१॥

एवरि य पुंवेदस्स य एवकं समऊणदोरिणभावलिर्यं ।

मुच्चा सेसं सठ्वं उवसंतं होदि तच्चरिमे ॥२६२॥

अर्थ—स्त्रीवेदके उपशान्त होनेपर सात नोकषाय का उपशामक होता है। सात नोकषायसम्बन्धी उपशामना कालके संख्यातवर्षे भाग बीत जानेपर नाम, गोत्र और वेदनीयकर्मोंका संख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है। इसप्रकार शेषभागके अन्त समयमें सात नोकषाय उपशान्त हो जाती हैं, किन्तु पुरुषवेदके एक समयकम दो आवलि-मात्र नवकसमयप्रवद्धको छोड़ अवशेष सबको उपशमाता है।

विशेषार्थ—स्त्रीवेदके उपशान्त होनेपर अन्य स्थितिकाण्डक और अन्य अनुभाग-काण्डक तथा अन्य स्थितिबन्ध होता है। विशेष यह है कि स्थितिकाण्डक व अनुभाग-काण्डक तो मोहनीयकर्मको छोड़कर शेष कर्मोंका होता है, क्योंकि इस स्थल पर मोहनीयकर्मका स्थितिघात व अनुभागघात युक्ति व सूत्र दोनोंसे निषिद्ध है, किन्तु

स्थितिवन्ध तो सातों ही कर्मोंका होता है । संख्यात हजार स्थितिवन्धोंके होने पर सात नोकषायोंके उपशमना कालका संख्यातवांभाग व्यतीत होता है । तत्पश्चात् नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन अघातिया कर्मोंका स्थितिवन्ध असंख्यातवर्षसे घटकर एकवारमें संख्यातवर्ष प्रमाण हो जाता है । अब सभी कर्मोंका स्थितिवन्ध संख्यातवर्ष प्रमाण होता है । इस स्थितिवन्ध सम्बन्धी अल्पबहुत्व इसप्रकार है—

मोहनीयकर्मका स्थितिवन्ध सबसे अल्प है । उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मोंका स्थितिवन्ध संख्यातगुणा है । उससे नाम व गोत्रकर्मका स्थितिवन्ध संख्यातगुणा है, उससे वेदनीयकर्मका स्थितिवन्ध विशेष अधिक है । इससे आगे प्रत्येक स्थितिवन्धके पूर्ण होने पर संख्यातगुणा हीन अन्य स्थितिवन्धका आरम्भ करता है । इस क्रमसे हजारों स्थितिवन्धों के व्यतीत होने पर पुरुषवेदकी प्रथम स्थितिके अन्तिम समयमें सात नोकषाय सर्वात्मना उपशान्त हो जाते हैं । इतनी विशेषता है कि पुरुष-वेदके एकसमय कम दो आवलिप्रमाण समयप्रबद्ध अनुपशान्त रहते हैं, क्योंकि जो अन्तिम आवलिमें बंधे हैं उनका बन्धावलिकाल अभी व्यतीत नहीं हुआ और जो एक समयकम द्विचरमावलिके बंधे हैं उनका उपशमनावलिकाल अभी पूर्ण नहीं हुआ^१ ।

द्विचरमावलिके प्रथमसमयमें जो समयप्रबद्ध बंधा था सो बन्धावलि बीत जाने पर चरमावलिके प्रथम समयसे लगाकर प्रत्येक समयमें एक-एक फालिके उपशमन द्वारा चरमावलिके अन्तिमसमय तक सर्वद्रव्य उपशमन हो जाता है । द्विचरमावलिके द्वितीय समयमें जो कर्मबन्ध हुआ था उसकी बन्धावलि, चरमावलिके प्रथम समयतक रहती है । अतः चरमावलिके द्वितीय समयसे लगाकर प्रतिसमय एक-एक फालिके उपशमन द्वारा चरमावलिके अन्त समय पर्यन्त अन्य फालि तो उपशान्त हो जाती है, किन्तु एक फालि शेष रह जाती है । इसीप्रकार द्विचरमावलिके तृतीयादि समयोंमें बंधे कर्मोंकी बन्धावलि बीत जाने पर चरमावलिके तृतीय आदि समयोंसे लगाकर अन्तिम समय पर्यन्त अन्य फालियां तो उपशमित होती हैं, किन्तु क्रमशः दो-तीन-चार आदि फालियां नहीं उपशमित होती हैं । द्विचरमावलिके अन्तिम समयमें बंधे समयप्रबद्धकी एक फालि उपशमित होती है, शेष फालियां नहीं उपशमतीं । इसप्रकार द्विचरमावलि का एकसमयकम आवलिप्रमाण और चरमावलिका सम्पूर्ण आवलिप्रमाण द्रव्य पुरुष-वेदकी प्रथमस्थितिके अन्तिम समयमें अनुपशान्त रहता है ।

आगे पुरुषवेदके उपशमनकालके अन्तिम समयमें स्थितिबन्धके प्रमाणकी प्रवृत्ति करते हैं—

तच्चरिमे पुंबंधो सोलसवस्साणि संजलणमाण ।

तदुगाणं सेसाणं संखेज्जसहस्सवस्साणि ॥२६३॥

अर्थ—सवेद भागके अन्तिम समयमें पुरुषवेदका स्थितिबन्ध सोलह वर्षप्रमाण होता है और उससे दुगुणा अर्थात् (१६×२) ३२ वर्षप्रमाण संज्वलन कषायोंका स्थितिबन्ध होता है । शेष कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजार वर्षप्रमाण होता है ।

विशेषार्थ—पहले इन कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजार वर्षप्रमाण होता था । उससे संख्यातगुणी हानिरूपसे घटकर सवेदभागके चरम समयमें पुरुषवेद और चार संज्वलन कषायोंका स्थितिबन्ध कमजोर १६ वर्ष व ३२ वर्ष हो गया, शेष कर्मोंका तो अभी भी संख्यातहजार वर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है^१ ।

अब पुरुषवेदकी प्रथमस्थितिमें दो आवलि शेष रहनेपर होनेवाली क्रियान्तर का प्रतिपादन करते हैं—

पुरिसस्स य पढमठिदी आवलिदोसुवरिदासु आगाला ।

पडिआगाला छिण्णा पडियावलियादुदीरणदा ॥२६४॥

अर्थ—पुरुषवेदकी प्रथमस्थितिमें दो आवलि शेष रहने पर आगाल और प्रत्यागालकी व्युच्छिन्नि हो जाती है । प्रत्यावलिमें से ही उदीरणा होती है ।

विशेषार्थ—प्रथम और द्वितीय स्थितिके प्रदेशपुंजोंके उत्कर्षण-अपकर्षणवश परस्पर विषयसंक्रमणको आगाल-प्रत्यागाल कहते हैं । द्वितीय स्थितिके प्रदेशपुंजका प्रथम स्थितिमें आना आगाल है तथा प्रथमस्थितिके प्रदेशपुंजका प्रतिलोमरूपसे द्वितीय स्थितिमें जाना प्रत्यागाल है । पुरुषवेदकी प्रथम स्थितिमें एकसमय अधिक दो-आवलि शेष रहने तक आगाल-प्रत्यागाल होता है । आवलि और प्रत्यावलि शेष रहने पर आगाल-प्रत्यागाल व्युच्छिन्न हो जाते हैं अथवा परिपूर्ण आवलि और प्रत्यावलि शेष रहनेपर आगाल-प्रत्यागाल होकर पुनः तदनन्तर समयमें एक समयकम दो आवलि शेष रहनेपर आगाल और प्रत्यागाल व्युच्छिन्न हो जाते हैं, क्योंकि उत्पादानुच्छेदका आश्रय

लेकर सद्भावके अन्तिम समयमें उसके अभावका विधान गाथामें किया गया है । उत्पादानुच्छेदके अनुसार विवक्षित वस्तुके सद्भावका जो अन्तिम समय है उस समयमें ही उसके अभावका प्रतिपादन किया जाता है । वहांसे लेकर पुरुषवेदकी गुणश्रेणी भी नहीं होती । प्रत्यावलिमें से ही असंख्यात समयप्रबद्धोंकी उदीरणा होती है^१ ।

हास्यादि छह नो कषायोंका द्रव्य पुरुषवेदमें संक्रान्त नहीं होता इसका कथन आगे की गाथामें करते हैं—

अंतरकदादु अणोकसायदब्धं ए पुरिसगे देदि ।

एदि हु संजलणस्स य कोधे अणुपुव्विसंकमदो ॥२६५॥

अर्थ—अन्तर करनेके पश्चात् हास्यादि छह नोकषायोंका द्रव्य पुरुषवेदमें संक्रमित नहीं होता, संज्वलनक्रोधमें ही संक्रमित होता है, क्योंकि वहां अ.तुपूर्वी संक्रमण पाया जाता है ।

पुरुषवेदके नवक बन्ध सम्बन्धो उपशमका विधान कहते हैं—

पुरिसस्स उत्तणवकं असंखगुणियक्कमेण उवसमदि ।

संकमदि हु हीणकमेणधापवत्तेण हारेण ॥२६६॥

अर्थ—पुरुषवेदके उक्त (गाथा २६२) नवक समयप्रबद्ध द्रव्यको असंख्यात-गुणी श्रेणिके क्रमसे उपशमाता है, परन्तु पर प्रकृतिमें अधःप्रवृत्त संक्रम द्वारा हीन क्रमसे संक्रमाता है ।

विशेषार्थ—अन्तिम समयवर्ती सवेदी जीवके एक समयकम दो आवलिप्रमाण नवक समयप्रबद्ध अनुपशान्त रहता है (गा. २६२) । अवेदभागके प्रथम समयमें दो समयकम दो आवलिप्रमाण नवक समयप्रबद्ध अनुपशान्त रहता है, क्योंकि अन्तिम आवलिका संपूर्ण नवकबन्ध तथा द्विचरमावलिका दो समयकम आवलिप्रमाण नवकबन्ध अनुपशान्त रहता है कारणकि नवक समयप्रबद्धका बन्धावलिके पश्चात् उपशमनकाल एक आवलिप्रमाण होता है । यहां पर प्रत्येक समयमें उनके प्रदेशपुञ्जको असंख्यातगुणी श्रेणिसे क्रमसे उपशमाता है । उनके प्रदेशपुञ्जको केवल स्वस्थानमें नहीं उपशमाता, किन्तु पर प्रकृतिमें अधःप्रवृत्त संक्रमके द्वारा हीन क्रमसे संक्रमाता है । बन्ध रुक जाने पर गुण-

संक्रमको छोड़कर अधःप्रवृत्तसंक्रम कैसे सम्भव है, ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि बन्धके उपरत हो जाने पर भी तीन संज्वलनकषाय और पुरुषवेदके नवकबंधका अधःप्रवृत्तसंक्रम होता है ।

अवेद भागके प्रथम समयमें बहुत प्रदेशपुंजको संक्रमाता है, तदनन्तर समयमें विशेष हीन प्रदेशपुंजको संक्रमाता है, क्योंकि बन्धावलि व्यतीत होनेके बाद विवक्षित समयप्रबद्धको अधःप्रवृत्त भागहारसे भाजितकर जो एकभाग प्राप्त हो उसे प्रथम समयमें संक्रमित करता है । पुनः दूसरे समयमें जो कि प्रथम समयमें अपने द्रव्यका असंख्यातवां-भाग उपशान्त और संक्रमित हो गया है, उससे हीन शेष उसी समयप्रबद्धको अधःप्रवृत्त भागहारके द्वारा भाजितकर जो एक भाग प्राप्त हो उसे संक्रमित करता है । इसकारण से प्रत्येक समयमें विशेषहीन ही प्रदेशपुंज संक्रमित होता हुआ जानना चाहिए । यह क्रम एक समयप्रबद्धका ही है ।

चार प्रकारकी वृद्धि और हानिरूपसे परिणत हुए योगोंके द्वारा बन्धको प्राप्त हुए नाना समयप्रबद्ध बन्धावलिके व्यतीत हो जाने पर संक्रमभावके योग्य होकर पूर्वके योगके अनुसार ही संक्रमित होते हैं । इसलिए वहां विशेष हानिरूपसे संक्रमका नियम नहीं है, किन्तु संख्यातवै और असंख्यातवै भागरूपसे कदाचित् विशेषहीन और कदाचित् विशेष अधिक तथा कदाचित् संख्यातगुणा हीन एवं कदाचित् संख्यातगुणा, कदाचित् असंख्यातगुणा हीन, कदाचित् असंख्यातगुणा नाना समयप्रबद्ध सम्बन्धी संक्रमद्रव्य होता है । अतः एक समयप्रबद्धसे सम्बन्धित प्रदेशपुंज ही विशेषहीन होकर संक्रमित किया जाता है ।

आगे अपगतवेदके प्रथम समयमें स्थिति बन्ध सम्बन्धी कथन करते हैं—

पठमावेदे संजलगाणं अंतोमुहुत्तपरिहीणं ।

वत्साणं वत्तीसं संखसहस्रियरगाण्टिदिबन्धो ॥२६७॥

अर्थ—अपगतवेदके प्रथम समयमें चार संज्वलन कषायोंका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम वत्तीस वर्षप्रमाण और शेष कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यात हजारवर्ष है ।

विशेषार्थ—सवेदी जीवके अन्तिम समयमें संज्वलनोंका स्थितिबन्ध सम्पूर्ण ३२ वर्षप्रमाण होता है, क्योंकि उस स्थितिबन्धका वहीं पर्यवसान हो जाता है । इस-

लिए उस स्थितिवन्धके समाप्त होने पर अपगतवेदी जीव अवेदभागके प्रथम समयमें अन्य स्थितिवन्धको प्रारम्भ करता हुआ संज्वलनोंके पूर्वके स्थितिवन्धसे अन्तर्मुहूर्तकम स्थितिवन्धको आरम्भ करता है, क्योंकि यहांसे लेकर संज्वलनोंके स्थितिवन्धका उत्तरोत्तर अपसरण अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होता है, परन्तु शेष कर्मोंका स्थितिवन्ध संख्यातगुणी हानिके क्रमसे बन्धको प्राप्त होता हुआ संख्यातहजार वर्षप्रमाण जानना चाहिए^१ ।

अपगतवेदीके अन्य भी कार्य दो गाथाओंमें कहते हैं—

पढमावेदो तिविहं कोहे उवसमदि पुण्वपढमठिदी ।

समयाहिय आवलियं जाव य तक्कालठिदिबंधो ॥२६८॥

संजलणचउक्काणं मासचउक्कं तु सेसपयडीणं ।

वस्साणं संखेज्जसहस्साणि हवन्ति णियमेण ॥२६९॥

अर्थ—प्रथम समयवर्ती अपगतवेदी जीव तीनप्रकारके क्रोधको उपशमाता है । इनकी वही पुरानी प्रथमस्थिति होती है । (पूर्वस्थितिमें) जब समय अधिक आवलीकाल शेष रह जाता है, उस समय स्थितिवन्ध नियमसे संज्वलन चतुष्कका चार मास और शेष कर्मोंका संख्यातहजार वर्षप्रमाण होता है ।

विशेषार्थ—पुरुषवेदके पुरातन सत्कर्म उपशान्त होने पर उसके नवकबन्धको यथोक्त क्रमसे उपशमाता हुआ उस अवस्थामें ही तीनप्रकारके क्रोधको यहांसे उपशमाना आरम्भ करता है ।

पूर्वमें अन्तर करते समय पुरुषवेदकी प्रथमस्थितिसे विशेष अधिक संज्वलन-क्रोधकी प्रथम स्थिति स्थापित की थी, गलित होने से जितनी शेष बची वही यहां पर प्रवृत्त रहती है । जिस प्रकार आगे मानादिककी उपशामना करते समय सवेदकके कालसे एक आवलि अधिक अपूर्व प्रथम स्थिति की जाती है उसप्रकार यहां पर तीन प्रकारके क्रोधको उपशमानेके लिए अपूर्व प्रथमस्थिति नहीं की जाती, किन्तु रची गई वही पुरातन प्रथमस्थिति तीनप्रकारके क्रोधको उपशमाने तक बिना प्रतिबन्धके प्रवृत्त रहती है । प्रत्येक स्थितिवन्धके पूर्ण होने पर अन्य स्थितिवन्ध अन्तर्मुहूर्त हीन होता है । शेष कर्मोंका स्थितिवन्ध संख्यातगुणा हीन होता है ।

इस क्रमसे जब क्रोध संज्वलनकी आवलि-प्रत्यावलि शेष रहती है तब द्वितीय स्थितिमें से आगाल और प्रथमस्थितिमें से प्रत्यागाल व्युच्छिन्न हो जाते हैं । यहां पर आवलि ऐसा कहनेपर उदयावलिका ग्रहण होता है तथा प्रत्यावलिसे उदयावलिके बाहरकी आवलिका ग्रहण होता है । “संज्वलन क्रोधकी प्रथमस्थितिमें आवलि-प्रत्यावलि शेष रहनेपर आगाल-प्रत्यागालकी व्युच्छित्ति हो जाती है,” यह उत्पादानुच्छेदका आश्रय लेकर कहा गया है, क्योंकि प्रथम स्थितिमें दो आवलियोंके शेष रहने तक आगालप्रत्यागाल होकर एक समयकम दो आवलियोंके शेष रहनेपर आगाल-प्रत्यागाल की व्युच्छित्ति विवक्षित है । आगाल-प्रत्यागालकी व्युच्छित्ति हो जाने पर संज्वलनक्रोधका गुणश्रेणि निक्षेप नहीं होता, क्योंकि सबसे जघन्य भी गुणश्रेणि आयाम एक आवलिप्रमाण है, उससे कम सम्भव नहीं है । इसलिए प्रत्यावलिमें से ही प्रदेशपुंजका अपकर्षण करके असंख्यात समयप्रवर्द्धोंकी उदीरणा करता है । प्रत्यावलिमें एक समय शेष रहनेपर क्रोध संज्वलनकी जघन्य स्थिति उदीरणा होती है, क्योंकि उदयावलिके बाहर जो एक स्थिति शेष है उसमेंसे अपकर्षणकर उदयावलिमें प्रवेश कराने पर जघन्यस्थिति उदीरणा होती है । उसी समय अर्थात् संज्वलनक्रोधकी प्रथम स्थितिमें एक समय अधिक आवलि-प्रमाण काल शेष रहनेपर चार संज्वलन कषायोंका स्थितिवन्ध क्रमसे ३२ वर्षसे घटकर चार मास प्रमाण हो जाता है । शेष कर्मोंका स्थितिवन्ध संख्यात हजार वर्षप्रमाण होता है, क्योंकि जानावरणादि कर्मोंके संख्यातवर्षप्रमाण पूर्व स्थितिवन्धसे संख्यातगुणा हीन-संख्यातगुणा हीन ऐसे संख्यातहजार स्थितिवन्धोंके व्यतीत हो जानेपर भी यहां पर उनका स्थितिवन्ध संख्यातहजार वर्षप्रमाण होता है । यहां पर स्थितिवन्धका अल्प-बहुत्व पूर्ववत् है^१ ।

अथानन्तर क्रोधद्रव्यके संक्रम विशेषका कथन करते हैं—

कोहदुगं संजलणगकोहे संछुहदि जाव पढमठिदी ।

आवलितियं तु उवरिं संछुहदि हु माणसंजलणे ॥२७०॥

अर्थ—संज्वलनक्रोधमें दो प्रकार (अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण)

क्रोधका तब तक संक्रमण करता है जब तक क्रोधसंज्वलनकी प्रथमस्थितिमें तीन आवलियां (संक्रमावलि, उपशामनावलि, उच्छिष्टावलि) शेष रहती हैं । उसके बाद मान

संज्वलनमें संक्रमण करता है ।

विशेषार्थ—गाथामें जो दो प्रकारका क्रोध कहा है उससे अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणक्रोधका ग्रहण होता है, क्योंकि अन्यप्रकार सम्भव नहीं है । ये दोनों क्रोध संज्वलनक्रोधमें गुणसंक्रमणके द्वारा तबतक संक्रमित होते हैं, जब तक संज्वलनक्रोधकी प्रथमस्थिति तीन आवलिप्रमाण शेष रहती है, क्योंकि इस अवस्थाके भीतर उसमें उन दोनोंके संक्रमित होनेमें विरोधका अभाव है । संक्रमणावलिरूपसे प्रथमावलिको व्यतीतकर पुनः दूसरी आवलिके प्रथम समयसे उपशमनावलि कालके द्वारा उस द्रव्यको उपशमाता है । अतः तीसरी आवलिको उच्छिष्टावलिरूप से छोड़ देता है इस कारणसे तीन आवलियां शेष रहने तक संज्वलनक्रोधमें दो प्रकारके क्रोधका संक्रम विरोधको नहीं प्राप्त होता ।

क्रोधसंज्वलनकी प्रथमस्थितिमें परिपूर्ण तीन आवलियोंका अभाव होनेपर अर्थात् एक समयकम तीन आवलियोंके शेष रहनेपर दो प्रकारके क्रोधका संज्वलनक्रोध में संक्रम नहीं होता, किन्तु मानसंज्वलनमें संक्रम होता है, क्योंकि दूसराप्रकार सम्भव नहीं है ।

उपशमनावलीके अन्तिम समयमें होने वाले क्रिया विशेषका कथन करते हैं—
कोहस्स पढमठिदी आवलिसेसे तिकोहमुवसंतं ।

ए य एवकं तत्थंतिमबंधुदया होति कोहस्स ॥२७१॥

अर्थ—संज्वलनक्रोधकी प्रथमस्थितिमें एक आवलि शेष रहनेपर तीनों प्रकार का क्रोध उपशान्त हो जाता है, किन्तु नवक समयप्रबद्ध उपशान्त नहीं हुआ उस समय संज्वलनक्रोधका अन्तिम बन्ध व उदय होता है ।

विशेषार्थ—प्रत्यावलिके उदयावलिके प्रदिष्ट हो जाने पर संज्वलनक्रोधकी प्रथमस्थिति आवलिमात्र शेष रह जाती है । इसका नाम उच्छिष्टावलि है । उपशमनावलि बीत जाने पर उच्छिष्टावलिके प्रथम समयमें दो समयकम दो आवलि नवक समयप्रबद्धोंको छोड़कर संज्वलनक्रोधके शेष सभी प्रदेशपुंज प्रशस्त उपशमनारूपसे उपशान्त हो जाते हैं । प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणीरूपसे उपशमित किये जाते

हुए क्रमसे उपशान्त होते हैं । क्रोधसंज्वलनके दो समयकम दो आवलिप्रमाण नवक समयप्रबद्धों को उपशमाने की विधि पुरुषवेदके समान है ।

जब क्रोध संज्वलनकी प्रथमस्थितिमें एक समयकम एक आवलि शेष रहती है तभी क्रोध संज्वलनके बन्ध और उदय व्युच्छिन्न हो जाते हैं, क्योंकि इस पूर्वके समय में जब पूर्ण एक आवलि प्रथमस्थितिमें शेष रह जाती है तब संज्वलनक्रोधका अन्तिम बन्ध व उदय होकर बन्ध व उदयकी व्युच्छिन्ति हो जाती है । अतः अगले समयमें संज्वलन क्रोधका प्रथम निषेक संज्वलनमानमें स्तिवुकसंक्रम द्वारा संक्रामित हुए रहनेसे उसमेंसे एक-एक निषेकके कम हो जानेके कारण उच्छिष्टावलिमें से एक समयकम किया है ।

अथानन्तर पांच गाथाओं में मान त्रयका उपशम विधान निरूपित करते हैं—

से काले माक्षरस्य य पठमट्टिदिकारप्रेक्षगो होदि ।

पठमट्टिदिमिम दब्बं असंखगुणियक्कमे देदि ॥२७२॥

पठमट्ठदिसीसादो विदियादिमिह य असंखगुणहीणं ।

तत्तो विसेसहीणं जाव अइच्छावणमपत्तं ॥२७३॥

अर्थ—उसी कालमें संज्वलमानकी प्रथमस्थितिका कर्त्ता व भोक्ता होता है । प्रथमस्थितिमें द्रव्य असंख्यातगुणों क्रमसे दिया जाता है । द्वितीय स्थितिके आदिमें अर्थात् प्रथम निषेकमें द्रव्य प्रथमस्थितिके शीर्षके द्रव्यसे असंख्यातगुणा हीन दिया जाता है । उसके पश्चात् अतिस्थापनावलि प्राप्त होने तक विशेषहीन क्रमसे दिया जाता है ।

विशेषार्थ — एक समयकम उच्छिष्टावलिके अतिरिक्त संज्वलनक्रोधकी प्रथम स्थितिको गलाकर तथा उसके बन्ध व उदयकी व्युच्छिन्ति करके उसी समय संज्वलनमानका वेदक व प्रथमस्थितिका कारक (करनेवाला) होता है । द्वितीयस्थितिमें स्थित संज्वलनमानके प्रदेशपुञ्जको अपकर्षितकर उदयादि गुणश्रेणिरूपसे निक्षिप्त करता हुआ उसी समय प्रथम स्थितिका करने वाला होकर मानका वेदक होता है । द्वितीय स्थितिके प्रदेशपुंजको अपकर्षणभागहारका भागदेकर एक भागको अपकर्षितकर मानसंज्वलनकी प्रथमस्थितिको करता हुआ उदयमें अल्प प्रदेशपुंजको देता है । तदनन्तर समयमें असंख्यातगुणों प्रदेशपुंजको देता है । इसप्रकार असंख्यातगुणों श्रेणिक्रमसे प्रथमस्थितिके अन्तिम समयके प्राप्त होने तक देता है । यहांपर प्रथम स्थितिकी लम्बाई अन्तर्मुहूर्त-

प्रमाण होकर मानसंज्वलनके वेदककालसे एकआवलिप्रमाण अधिक होती है । अपकर्षित द्रव्यका असंख्यातवाभाग प्रथमस्थितिमें दिया जाता है, शेष बहुभागको द्वितीय स्थितिमें देता हुआ द्वितीयस्थितिके प्रथम निषेकमें असंख्यातगुणो हीन प्रदेशपुंजका सिंचन करता है, क्योंकि प्रथमस्थितिके गुणश्रेणिशीर्षरूपसे अवस्थित अन्तिम निषेकमें असंख्यात समयप्रवद्ध निक्षिप्त करता है । परन्तु द्वितीयस्थितिके प्रथमनिषेकमें निक्षिप्त किये जाने वाले द्रव्यका प्रमाण एक समयप्रवद्धके असंख्यातवें भागप्रमाण होता है, क्योंकि वह अपकर्षितद्रव्यको डेढ़गुणहानिसे भाजित करने पर प्राप्त हुआ है । इससे ऊपर सर्वत्र अतिस्थापनावलिप्रमाण स्थितिको छोड़कर अन्तिम स्थितिक विशेष (चय) हीन द्रव्यको निक्षिप्त करता है । इसीप्रकार मानवेदकके द्वितीयादि समयोंमें प्रथम और द्वितीयस्थितिमें प्रदेशोंका विन्यास क्रम होता है । इतनी विशेषता है कि प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणिरूपसे प्रदेशपुंजका अपकर्षणकर उदयादि गुणश्रेणिका जितना आयाम गलित हो जावे उससे शेष रहनेवाले आयाममें निक्षेप होता है ।

जिस समय क्रोधसंज्वलनके बन्ध-उदय व्युच्छिन्न होते हैं उस समय तीनप्रकार (अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन) मानका आयुक्त (उद्यत) क्रिया द्वारा उपशामक होता है । उस समय तीन संज्वलन (संज्वलन मान-माया-लोभ) का स्थिति-बन्ध अन्तर्मुहूर्तकम चार मास होता है और शेष कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजार वर्ष होता है,^१ क्योंकि अनन्तर पूर्व संज्वलनोंका स्थितिबन्ध पूर्ण चार माह कहा गया है और बंधापसरणका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त मात्र है । शेष कर्मोंका स्थितिबन्ध यद्यपि संख्यातहजार वर्षप्रमाण होता है तथापि अनन्तरपूर्वके स्थितिबन्धसे संख्यातगुणा हीन है । इसप्रकार तीन मानके उपशमको प्रारम्भ करके प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणिरूप से उपशमाने वालेके संख्यातहजार स्थितिबन्धोंके द्वारा संज्वलनमानकी प्रथमस्थिति क्षीण होती जाती है^२ ।

माणदुर्गं संजलणगमाणे संछुहदि जाव पढमठिदी ।

आवलितियं तु उवरि माया संजलणगे य संछुहदि ॥२७४॥

१. क. पा. सु. पृ. ६६६ सूत्र २१६-२०; ज. घ. पु. १३ पृ. २६७-६८; ज. घ. मूल पृ. १८५४ ।

२. ज. घ. पु. १३ पृ. २६५-२६८ ।

अर्थ—मानसंज्वलनकी प्रथमस्थितिमें एक समय अधिक एक आवलि शेष रहने पर तीन (मान, माया, लोभ) संज्वलनका स्थितिबन्ध दो मास प्रमाण होता है। शेषकर्मोंका स्थितिबन्ध क्रोधके आलाप सदृश (संख्यातहजार वर्षप्रमाण) है।

विशेषार्थ—प्रत्यावलिमें एकसमय शेष रहनेपर संज्वलनमान-माया-लोभका स्थितिबन्ध दो-माहप्रमाण होता है। शेष कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजार वर्षप्रमाण होता है जो पूर्व स्थितिबन्धसे संख्यातगुणाहीन है।

माणस्स य पढमठिदी सेसे समयाहिया तु आवलियं।

तियसंजलणगबंधो दुमास सेसाण कोह आलावो ॥२७५॥

अर्थ—जब तक प्रथमस्थितिमें तीन आवलि शेष रहती हैं तब तक दो (अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण) प्रकार मानको संज्वलनमानमें संक्रमित करता है, उसके बाद संज्वलन माया में।

विशेषार्थ—मान संज्वलनकी प्रथमस्थितिके तीन आवलि शेष रहने तक अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणरूप दो प्रकारके मानको संज्वलनमानमें संक्रमित करता है। मान संज्वलनकी प्रथमस्थितिके एक समयकम तीन आवलिप्रमाण शेष रहनेपर इन दो प्रकारके मानको संज्वलनमानमें संक्रांत नहीं करता है, किन्तु माया-संज्वलनमें संक्रान्त करता है। संज्वलनमानको भी संज्वलनमायामें संक्रान्त करता है। विस्तार पूर्वक कथन संज्वलनक्रोधके समान है।

इससे आगे फिरभी एक समयकम एक आवलिप्रमाण प्रथमस्थितिको गलाकर दो आवलि (प्रत्यावलि और उदयावलि) के शेष रहनेपर आगाल और प्रत्यागाल व्युच्छिन्न हो जाते हैं। उदयावलिके ऊपरकी जो दूसरी आवलि है वह प्रत्यावलि कही जाती है^१।

तदनन्तर पुनः एक समयकम एक आवलि अर्थात् प्रत्यावलिमें एक समय शेष रहने पर जो कार्य होता है उसको बतलाते हैं—

माणस्स य पढमठिदी आवलिसेसे तिमाणमुवसंतं।

ए य एवकं तत्थंतिमबंधुदया होति माणस्स ॥२७६॥

१. ज. घ. पु. १३ पृ. २६६।

२. ज. घ. पु. १३ पृ. २६५-२६६।

अर्थ—संज्वलनमानकी प्रथमस्थितिमें आवलिकाल शेष रहनेपर नवीन समय-प्रबद्धके बिना अन्य तीन मानका सर्व द्रव्य उपशान्त हो चुकता है । उसी समय संज्वलन-मानकी बन्ध व उदयव्युच्छिति हो चुकती है ।

विशेषार्थ—मानसंज्वलनकी प्रथमस्थितिकी प्रत्यावलिके अन्तिम समयमें एक समयकम दो आवलिप्रमाण समयप्रबद्धोंको छोड़कर तीनप्रकार (अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलन) मानका सभी स्थिति-अनुभाग और प्रदेश सत्कर्म सर्वोप-शमनारूपसे उपशान्त हो जाता है, क्योंकि यथाक्रम उपशमाए जाने वाले मानका उस समय निरवशेष उपशान्तरूपसे परिणामन देखा जाता है । उच्छिष्टावलिको गौण करके मानसंज्वलनके एक समयकम दो आवलिप्रमाण नवकबन्धको छोड़कर ऐसा कहा गया है तथा इसी समय मानसंज्वलनकी जघन्यस्थिति उदीरणा होती है । इसी समय संज्वलनमानके बन्ध व उदय व्युच्छिन्न होते हैं, क्योंकि उत्पादानुच्छेदका आलम्बनकर ऐसा बन जाता है^१ ।

माया की प्रथम स्थिति करनेका निर्देश करते हैं—

से काले मायाए पडमद्विदिकारवेदगो होदि ।

मायास्स य आलावो दब्बस्स विभंजणं तत्थ ॥२७७॥

अर्थ—उसी समय (संज्वलनमानकी प्रथमस्थिति एक आवलिमात्र शेष रह जाने पर) संज्वलनमायाकी प्रथमस्थितिका कारक व वेदक होता है । संज्वलनमायाके द्रव्यका विभाजन आदि मानके आलापके समान है ।

विशेषार्थ—मानवेदकके अन्तिम समयके बाद तदनन्तर समयमें अथवा प्रत्यावलिके अन्तिम समयके अनन्तर पश्चात् संज्वलनमानकी प्रथमस्थिति एकआवलि (उच्छिष्टावलि) मात्र शेष रह जानेपर माया संज्वलनके प्रदेशपुंजका अपकर्षणकर तथा उदयादि गुणश्रेणिरूपसे उसका निक्षेप करता हुआ मायासंज्वलनकी अन्तर्मुहूर्तवाली प्रथमस्थितिको उत्पन्न करके माया संज्वलनका वेदक होता है । मायासंज्वलनकी प्रथम स्थिति सम्बन्धी लम्बाई एक आवलि अधिक अपने वेदककाल प्रमाण होती है । माया वेदकसे लेकर यह तीनप्रकार (अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन) मायाका

उपशामक होता है । माया और लोभ संज्वलनका स्थितिबन्ध^१ अन्तर्मुहूर्तकम दो माह प्रमाण होता है । अनन्तरपूर्व व्यतीत हुए दो माह प्रमाण स्थितिबन्धसे अन्तर्मुहूर्त घट कर इससमय दो संज्वलनोंका स्थितिबन्ध होता है । शेषकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यात-हजार वर्षप्रमाण है जो पूर्व स्थितिबन्धसे संख्यातगुणा हीन है । इन्हीं कर्मोंका स्थितिकाण्डक पत्योपमके संख्यातवर्षभागप्रमाण है और अनुभागकाण्डक अनन्तगुणो हानिरूप है । उससमय मान संज्वलनका जो एक समयकम उदयावलिप्रमाण सत्कर्म शेष रहा वह स्तिवुकसंक्रमण द्वारा मायाके उदयमें विपाकको प्राप्त होता है ।

उदयरूपसे समान स्थितिमें जो संक्रम होता है वह स्तिवुकसंक्रमण है^२ ।

मायावेदकके प्रथम समयमें पूर्वमें कहे गये मानसंज्वलनके एक समयकम दो आवलिप्रमाण नवकबन्धके समयप्रबद्धोंके आद्य (प्रथम) समयप्रबद्ध का निर्लेप होता है, इसलिये उसे छोड़कर दो समयकम दो आवलिप्रमाण नवक समयप्रबद्ध प्रत्येक समयमें असंख्यातगुणी श्रेणिरूपसे उपशमाए जाते हुए मायावेदक कालके भीतर एक समयकम दो आवलि कालके द्वारा पूर्णरूपसे उपशमाए जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक समयमें एक-एक समयप्रबद्धके उपशामन क्रियाकी समाप्ति हो जाती है । मानसंज्वलनके द्रव्यको विशेष हीन श्रेणिक्रमसे संज्वलन मायामें संक्रमण करता है । ये सर्व क्रिया मायावेदकके प्रथम समयमें होती हैं^३ ।

अब मायात्रयके उपशमविधान के लिए ३ गाथाएं कहते हैं—

मायाए पडमठिदी सेसे समयाहियं तु आवलियं ।

मायालोहगबंधो मासं सेसाण कोह आलावो ॥२७८॥

१. माया वेदकके प्रथम समय का स्थितिबन्ध है ।

२. ज. ध. पु. १३ पृ. ३०१ । उदयरूपसे अर्थात् उदीयमान प्रकृतिके रूपमें अनुदय प्रकृतिका स्तुविक संक्रमण होता है ।

समान स्थिति में अर्थात् जिस उदीयमान निषेकसे ऊपर वाले अनुदय निषेकका भविष्यमें उदय आने वाले निषेकमें संक्रमण होता है वह उस उदयसे ऊपर वाले निषेकमें ही होगा । अर्थात् असमान निषेक स्थितिमें संक्रमण नहीं होगा यह तात्पर्य है ।

३. ज. ध. पु. १३ पृ. ३०० से ३०२; क. पा. सु. पृ. ७०० ।

अर्थ—मायाकी प्रथमस्थितिमें एकसमय अधिक आवलिकाल शेष रहनेपर संज्वलनमाया और लोभका तो मासप्रमाण स्थितिबन्ध होता है तथा शेष कर्मोंका क्रोधवत् कथन जानना ।

मायदुगं संजलणमायाप लुहदि जाव पढमठिदी ।

आवलितियं तु उवरिं संलुहदि हु लोहसंजलणे ॥२७६॥

अर्थ—संज्वलनमायाका प्रथमस्थितिमें जबतक तीन आवलियां शेष रहती हैं तबतक मायाद्विक (अप्रत्याख्याना-प्रत्याख्यानरूप माया) के द्रव्यको संज्वलन मायामें ही संक्रमित करता है तथा उससे आगे संक्रमणावलीमें उनके द्रव्यका संज्वलनलोभमें संक्रमण करता है ।

विशेषार्थ—मायासंज्वलनकी प्रथमस्थितिमें एक समयकम तीन आवलियोंके शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरणरूप दो प्रकारकी मायाके द्रव्यको माया संज्वलनमें संक्रान्त नहीं करता, किन्तु संज्वलन लोभमें संक्रान्त करता है^१ ।

मायाप पढमठिदी आवलिसेसेत्ति मायमुवसंतं ।

ण य एवकं तत्थंतिमबंधुदया होति मायाप ॥२८०॥

अर्थ—मायाकी प्रथमस्थितिमें आवलिप्रमाण काल अवशिष्ट रहनेपर उपशमनावलिके अन्तिम समयमें तबक समयप्रबद्ध बिना अन्य सर्व मायाका द्रव्य उपशमित होता है । उसी समयमें संज्वलनमायाका बन्ध व उदय व्युच्छिन्न होता है ।

विशेषार्थ—द्वितीय उपशमनावलिके अन्तिम समयमें एक समयकम दो आवलि-प्रमाण नवकबन्धको छोड़कर तीनप्रकार (अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, और संज्वलन) मायाका अन्तिम उपशामक होता है । उस समय संज्वलनमायाके बन्ध व उदय व्युच्छिन्न होते हैं, क्योंकि उत्पादानुच्छेदमें यह कथन बन जाता है । माया संज्वलन की प्रथम स्थितिका एक समयकम एक आवलिप्रमाण द्रव्य शेष है, वह स्तिवुक संक्रम के द्वारा लोभसंज्वलनमें विपाकको प्राप्त होता है^२ ।

१. ज. ध. पु. १३ पृ. ३०३ ।

२. ज. ध. पु. १३ पृ. ३०३-३०४ ।

अब लोभजन्मे उपशमविधातका कथन दो गाथाओं में करते हैं—

से काले लोहस्स य पढमट्टिदिकारवेदगो होदि ।

ते पुण बादरलोहो माणं वा होदि शिक्खेओ ॥२८१॥

अर्थ—उसी समय संज्वलनलोभकी प्रथमस्थितिका वेदक व कारक होता है । मानकी विधिके अनुसार बादरलोभका निक्षेप होता है ।

विशेषार्थ—उसी समय अर्थात् माया संज्वलनकी प्रथम स्थिति उच्छिष्टावलि शेष रह जाने पर द्वितीय स्थितिसे लोभसंज्वलनके प्रदेशपुंजका अपकर्षणकर उदयादि गुणश्रेणिरूपसे निक्षेप करता हुआ लोभसंज्वलनकी प्रथम स्थितिको अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थापितकर वेदन करता है । यहां से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तिम समय पर्यन्त जो लोभवेदक काल है, उस कालके तीन भाग करके उनमेंसे साधिक दो त्रिभाग-प्रमाण बादर लोभसंज्वलनकी प्रथमस्थिति इस समय की है, क्योंकि यहां से उपरिम समस्त लोभवेदककालके कुछकम तीसरे भागप्रमाण सूक्ष्मलोभ वेदक काल होता है । सूक्ष्मलोभ वेदककालसे साधिक होने बादरलोभवेदककालको एक आवलिप्रमाण अधिक करके बादरसाम्परायिक जीव प्रथमस्थिति करता है । इसप्रकार इतनी प्रथम स्थितिको करके तीनप्रकारके लोभको उपशमाने वाले जीवके लोभ संज्वलनका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम एकमास होता है, क्योंकि अन्तिम समयवर्ती माया वेदकके स्थितिबन्ध पूरा एक मास होता है उससे एक अन्तर्मुहूर्त घटाकर इस समय लोभसंज्वलनके स्थितिबन्धको प्रारम्भ करता है । शेषकर्मोंका स्थितिबन्ध पूर्वके स्थितिबन्धसे संख्यातगुणा हीनरूपसे प्रवृत्त होता हुआ अभी भी संख्यातहजार वर्षप्रमाण ही होता है क्योंकि संख्यात हजारवर्षोंके अनेक भेद होते हैं । ज्ञानावरणादि कर्मोंके स्थितिकाण्डक और अनुभागकाण्डकोंका प्रमाण पूर्वोक्त पल्योपमका असंख्यातवांभाग व अतन्तगुणी हानिरूप होता है^१ ।

पढमट्टिदि अद्धंते लोहस्स य होदि दिणुपुधत्तं तु ।

वस्ससहस्सपुधत्तं सेसाणं होदि ठिदिबंधो ॥२८२॥

अर्थ—बादरलोभकी प्रथमस्थिति-अर्थ के अन्तमें संज्वलनलोभका स्थितिबन्ध पृथक्त्व दिवस और शेष कर्मोंका पृथक्त्व हजार वर्षप्रमाण होता है ।

विशेषार्थ—तत्पश्चात् संख्यातहजार स्थितिवन्धोंके हो जानेपर बादरलोभकी प्रथम स्थितिका अर्धभाग व्यतीत हो जाता है। अर्धभागसे कुछ अधिक अर्धभागका चरण होता है। उक्त अर्धभागके अन्तिम सप्तममें लोभसंज्वलनका स्थितिवन्ध घटकर दिवसपृथक्त्व प्रमाण हो जाता है। शेष कर्मोंका स्थितिवन्ध संख्यातहजार वर्षप्रमाणसे घटकर हजारवर्ष पृथक्त्वप्रमाण होता है, परन्तु उस समय अनुभाग सत्कर्म स्पर्धकगत ही होता है^१।

अब संज्वलनलोभके अनुभागसत्त्वकी कृष्टिकरण विधि कहते हैं—

विदियद्धे लोभावरफड्ढयद्देट्ठा करेदि रसकिट्ठि ।

इगिफड्ढयवग्गणगद संखाणमणंतभागमिदं ॥२८३॥^२

अर्थ—(बादरलोभसंज्वलनकी प्रथमस्थितिके) दूसरे अर्धभागमें लोभके जघन्य-स्पर्धक के नीचे अनुभागकृष्टियोंको करता है। उनका प्रमाण एक स्पर्धककी वर्गणाओंके अनन्तवें भागप्रमाण है।

विशेषार्थ—बादरलोभसंज्वलनकी प्रथमस्थितिके प्रथम अर्धभागके व्यतीत हो जाने पर द्वितीय अर्धभागमें लोभसंज्वलनके अनुभाग सत्कर्म सम्बन्धी जघन्य स्पर्धकके नीचे अनन्तगुणी हानिरूपसे अपवर्तितकर अनुभागकृष्टियोंको करता है। सबसे जघन्य लतासमान स्पर्धककी प्रथमवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेदोंसे अनन्तगुणे हीम अनुभाग युक्त सूक्ष्मकृष्टियोंको करता है। एक स्पर्धककी वर्गणाओंके आयाममें तत्प्रायोग्य अनन्तसे भाजितकर वहां एक खण्डमें जितनी वर्गणाएं प्राप्त हों तत्प्रमाण कृष्टियां बनती हैं^३। इतना विशेष है कि उपशमश्रेणिमें स्पर्धकगत लोभका बादरकृष्टिकरण न होकर सीधा सूक्ष्मकृष्टिकरण होता है^४। यह ज्ञातव्य है कि बादरलोभ स्पर्धकगत होता है तथा उसके सूक्ष्मकरणकी प्रक्रिया ही सूक्ष्मकृष्टिकरण कहलाती है।

१. क. पा. सु. पृ. ७०१-७०२; ज. घ. पु. १३ पृ. ३०६।

२. से काले विदियतिभागस्स पढमसमये लोभसंजलणानुभागसंतकम्मस्स जं जहण्णफड्ढय तस्स हेट्ठादो अनुभागकिट्ठीओ करेदि । तासि पमाणमेवफड्ढय वग्गणणमणंतभागो । (ज. घ. मू. पृ. १८५६)

३. ज. घ. पु. १३ पृ. ३०७-८।

४. क. पा. सु. पृ. ७०२।

आगे संज्वलनलोभ सम्बन्धी कृष्टियोंकी निक्षेपणविधि बताते हैं—

ओक्कड्ढिदइगिभागं पल्लासंखेज्जखंडदिगिभागं ।

देदि सुहुमासु किट्ठिदसु फहुमणे सेल बहुभागं ॥२८४॥

अर्थ—(संज्वलनलोभके द्रव्यको अपकर्षण भागहारद्वारा भाजितकर उसमें से) एक भाग अपकर्षित द्रव्य है । इसको पल्यके असंख्यातवेंभागसे खण्डितकर उसमें से एक भागको सूक्ष्मकृष्टियोंमें देता है, शेष बहुभागको स्पर्धकोंमें देता है ।

विशेषार्थ—संज्वलनलोभके सर्व सत्त्वरूप द्रव्यको अपकर्षण भागहारका भाग देकर उसमें से एक भागप्रमाण द्रव्यको पुनः पल्यके असंख्यातवेंभागका भाग दिया । उसमेंसे बहुभागप्रमाण द्रव्यको पृथक् रखकर एक भागप्रमाण द्रव्यको सूक्ष्मकृष्टिरूप परिणामाता है । “अद्धाणेण सर्वधने खंडिदे”^१ इत्यादि करणसूत्र विधान द्वारा उस एक भागप्रमाण द्रव्यमें कृष्टियोंके प्रमाणरूप कृष्टिआयामका भाग देने से मध्यधनका प्रमाण आता है । इस मध्यधनको एक कम कृष्टिआयामके आधेसे हीन दो गुणहानिका भाग देने पर चयका प्रमाण प्राप्त होता है^२ । उस चयप्रमाणको दोगुणहानिसे गुणा करने पर आदिवर्गणाके द्रव्यका प्रमाण आता है । इतने द्रव्यको तो प्रथमकृष्टिमें निक्षिप्त करता है जिससे प्रथमकृष्टि उत्पन्न होती है । यह प्रथमकृष्टि प्रथमसमयमें की गई कृष्टियोंमें जघन्यकृष्टि है । तथा इससे द्वितीयादि कृष्टियोंमें एक-एक चयप्रमाण हीन द्रव्य निक्षिप्त करता है । इसप्रकार एककम कृष्टिआयामप्रमाण चयोंसे हीन प्रथमकृष्टिप्रमाण द्रव्यको अन्तिम कृष्टिमें निक्षिप्त करता है । अब इन कृष्टियोंमें शक्तिका प्रमाण कहते हैं—

पूर्व स्पर्धकोंके जघन्यवर्गमें अनुभागके अविभागप्रतिच्छेदोंके प्रमाण को कृष्टिआयामका जो प्रमाण है उतनीबार अनन्तका भाग देने पर प्राप्त लब्धके बराबर प्रथमकृष्टिमें अनुभागके अविभागप्रतिच्छेद हैं तथा द्वितीयादि कृष्टिमें क्रमसे अनन्तगुणो

१. “अद्धाणेण सर्वधने खंडिदे मज्झिमवणमागच्छदि” यह पूरा करणसूत्र है इसका अभिप्राय यह है कि सर्वधनको अध्वानसे खण्डित करने पर मध्यमधन आता है । अतः विवक्षित गुणहानिका सर्वद्रव्य ÷ गुणहानि आयाम = मध्यमधन (गो. क. गा. १५६ की टीका) या (अध्वान) या (अध्वान)

२. “तं रुक्काद्वारद्वेगुणेण शिसेयभागहारेण मज्झिमवणमवहरिदे पचयं” (ल. सा. गा. ७१-७२) —अर्थात् मध्यधनमें एक कम गच्छका आधा दो गुणहानि (निषेक भागहार) में से घटाने पर जो आवे उसका भाग देने पर चय आता है । अर्थात् चय = मध्यधन ÷ [दो गुणहानि—(गच्छ-१)] २]

अनुभाग सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद हैं। इसलिये एककम कृष्टिआयाममात्र बार अनन्तसे गुणा करने पर अन्तिमकृष्टिमें पाये जाने वाले वे अनुभाग सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद पूर्वस्पर्धकसम्बन्धी जघन्यवर्गके अनन्तवैभागप्रमाण है। इसप्रकार प्रथम समयमें की गई सूक्ष्मकृष्टि होती है।

अपकर्षित किये गये द्रव्यमें बहुभागरूप जो द्रव्य पृथक् स्थापित किया था उनके द्रव्यको पूर्वमें सत्तारूप पाये जाने वाले पूर्वस्पर्धक सम्बन्धी नानागुणहानिमें निक्षिप्त करता है। “दिवङ्मगुणहारिभाजिदे पदमा” इत्यादि करणसूत्र विधानसे उस बहुभागप्रमाण द्रव्यको अनुभाग सम्बन्धी साधिक डेढगुणहानिका भाग देने पर जो लब्धरूप द्रव्य प्राप्त हो उसको प्रथमगुणहानिकी प्रथमवर्गणामें निक्षिप्त करता है। तथा द्वितीयादि वर्गणाओंमें एक चयहीन क्रम सहित द्रव्य निक्षिप्त करता है। द्वितीयादि गुणहानियोंकी वर्गणाओंके क्रमसे पूर्वगुणहानिसे आधा-आधा द्रव्य निक्षिप्त करता है। इसप्रकार सूक्ष्मकृष्टिकरण कालके प्रथमसमयमें अपकर्षितद्रव्यको निक्षिप्त करता है। यहां अन्तिमकृष्टिमें निक्षिप्त द्रव्यसे पूर्वस्पर्धककी जघन्य वर्गणामें निक्षिप्तद्रव्य अनन्त-गुणा हीन जानता।

‘कृश’ तनुकरण धातुके आश्रयसे ‘कर्षणं कृष्टिः’ अर्थात् कर्मपरमाणुओंकी अनुभागशक्तिका कृश करना—घटाना कृष्टि है। अथवा ‘कृश्यत इति कृष्टिः’ के अनुसार प्रतिसमय पूर्व स्पर्धककी जघन्य वर्गणासे भी अनन्तगुणी हीन अनुभागरूप वर्गणाको कृष्टि कहते हैं।

अब द्वितीयादि समयोंमें निक्षेपणका कथन करते हैं—

पडिसमयमसंखगुणा दब्बादु असंखगुणविहीणक्रमे ।

पुव्वगहेट्ठा हेट्ठा करेदि किट्ठि स चरिमोत्ति ॥२८५॥

अर्थ—असंख्यातगुणो-असंख्यातगुणो अपकर्षित द्रव्यमें से प्रतिसमय की गई कृष्टिका प्रमाण पूर्व-पूर्व कृष्टियोंके प्रमाणसे असंख्यातगुणा घटता होता है। यह क्रम अन्तिम समय तक जाता है।

विशेषार्थ—कृष्टिकरण कालके प्रथम समयमें जो कृष्टियां की गईं वे अभव्यों से अनन्तगुणी और सिद्धोंके अनन्तवै भागप्रमाण होकर एक स्पर्धककी वर्गणाओंके अनन्तवै भागप्रमाण है तथा वे बहुत हैं। पुनः तदनन्तर समयमें प्रथम समयवर्ती

कृष्टियोंके नीचे जो अपूर्वकृष्टियां उत्पन्न की जाती हैं वे उनसे असंख्यातगुणी हीन जानना चाहिए । इसप्रकार कृष्टिकरण कालका अन्तिमसमय प्राप्त होने तक प्रतिसमय जो अपूर्वकृष्टियां रची जाती हैं वे अनन्तरपूर्ववर्ती कृष्टियोंसे असंख्यातगुणो हीन होती हैं, क्योंकि अपकर्षित समस्त द्रव्यके असंख्यातवैभागप्रमाण द्रव्यको ही अपूर्वकृष्टियोंमें आगमानुसार सिंचित कर शेष बहुभागप्रमाण द्रव्यको उपरिम पूर्वकी कृष्टियोंमें और स्पर्धकोंमें अपने-अपने विभागानुसार विभाजितकर निषेकोंकी रचना करता है ।

प्रथम समयमें कृष्टियोंमें सबके जोड़रूपसे निक्षिप्त हुआ द्रव्य अपकर्षित किये गए समस्त द्रव्यके असंख्यातवैभागप्रमाण होकर सबसे अल्प हो जाता है । तदनन्तर दूसरे समयमें विशुद्धिके माहात्म्यवश असंख्यातगुणो द्रव्यका अपकर्षणकर उसमेंसे असंख्यातवैभागप्रमाण द्रव्यको ग्रहणकर पूर्वानुपूर्वीरूपसे स्थित कृष्टियोंमें सिंचित किया जाने वाला द्रव्य पूर्वके द्रव्यसे असंख्यातगुणा होता है, क्योंकि तत्काल अपकर्षित किये जाने वाले द्रव्यमें से कृष्टियोंमें दिये जाने वाले द्रव्यकी उसीके प्रतिभाके अनुसार प्रवृत्ति देखी जाती है । इसीप्रकार अन्तिमसमयके प्राप्त होने तक तृतीयादि समयोंमें भी प्ररूपणा करना चाहिए^१ ।

अथानन्तर कृष्टिगत द्रव्योंके विभागका निर्देश करते हैं—

हेट्टासीसे उभयगदव्वविसेसे य हेट्टकिट्ठम्मि ।

मडिम्मखंडे दव्वं विभज्ज विदियादि समयेसु ॥२८६॥

अर्थ—कृष्टिकरणकालके द्वितीय समयमें अपकर्षित द्रव्यको १. अधस्तन शीर्ष विशेषोंमें २. उभयद्रव्य विशेषोंमें ३. अधस्तनकृष्टियोंमें ४. मध्यम खण्डोंमें । इसप्रकार चारप्रकारके विभागसे निक्षिप्त करता है ।

विशेषार्थ—पूर्वसमयमें की गई कृष्टियोंमें से प्रथमकृष्टिमें बहुत परमाणु हैं । द्वितीयादि कृष्टियोंमें एक-एक चयसे हीन क्रम लिये परमाणु हैं । यहां पूर्वकृष्टियों में सम्भावित चयका प्रमाण लाकर द्वितीयकृष्टिमें एक चय, तृतीयकृष्टिमें दो चय, चतुर्थकृष्टिमें तीन चय ऐसे क्रमसे एक-एक बढ़ते हुए चयप्रमाण परमाणु उन द्वितीयादि कृष्टियोंमें मिलाने पर सर्वकृष्टियां प्रथमकृष्टिके समान हो जाती है इसप्रकार जितना

द्रव्य (पूर्वकृत कृष्टियोंको समद्रव्यवाली बनानेके लिए) दिया गया उसका नाम अध-स्तनशीर्ष विशेष द्रव्य है । जिस देय द्रव्य के देने से समस्त पूर्वकृष्टियां प्रथमकृष्टिके समान हो जाती हैं, उस देय द्रव्य को प्राप्त करनेका विधान बताते हैं—

पूर्व समयमें जो कृष्टिमें द्रव्य दिया उनको पूर्वसमयमें कृतकृष्टिके प्रमाणमात्र गच्छका का, भाग देने पर मध्यमधन आता है । उसे एक कम गच्छके आधे से हीन दोगुणहानिसे भाजित करने पर एक चय (विशेष) का प्रमाण आता है । वहां एक

१. विशेषार्थगत उक्त कथनका स्पष्टीकरण अंकगणितीय दृष्टिसे संदृष्टि बनाकर निम्न प्रकार किया जा सकता है—

मानाकि प्रथमसमयकी पूर्वकृष्टियां ८ हैं । तथा असंख्यात=२ मानने पर द्वितीय समयमें की गई कृष्टियां $8 \div 2 = 4$ हुई । मानाकि प्रथम समयमें की गई कृष्टियोंके लिए अपकृष्टद्रव्य १६०० परमाणु हैं तथा द्वितीय समयमें कृष्टियों के लिए अपकृष्टद्रव्य ३६२० परमाणु हैं । ऐसी स्थितिमें प्रथमसमयकृत कृष्टियां इसप्रकार बनेंगी—

प्रथमसमयमें की गई कृष्टियां	१४४	चरमकृष्टि
	१६०	
	१७६	
	१९२	
	२०८	
	२२४	
	२४०	द्वितीयकृष्टि
	२५६	प्रथमकृष्टि

यहां चयका प्रमाण १६ है अतः यहाँ द्वितीय-कृष्टिमें ३२ अर्थात् दो चय, तृतीयकृष्टिमें ४८ अर्थात् तीन चय इत्यादि । इसप्रकार मिलाने पर प्रथम समयकी आठों कृष्टियों में द्रव्य क्रमशः २५६-२५६ अर्थात् प्रत्येक कृष्टिमें समान हो जाता है । इसी को निम्न संदृष्टिमें दिखाया है—

पूर्वकृष्टि	अधस्तन शीर्ष वि. द्रव्य	परिणामतः सर्वत्र समद्रव्य
१४४ +	सातचय =	२५६
१६० +	छः चय =	२५६
१७६ +	पाँच चय =	२५६
१९२ +	चार चय =	२५६
२०८ +	तीन चय =	२५६
२२४ +	दो चय =	२५६
२४० +	एक चय =	२५६
२५६ +	—	२५६

पूर्वकृष्टिद्रव्य + अधस्तन विशेषद्रव्य (चयधन)
= १६०० + २८, चयधन अर्थात् ४४८
= २०४८ [२५६ × ८ = २०४८
सर्वत्र समद्रव्य]

यहाँ चय का प्रमाण १६

चयको आदिरूप स्थापित करना, क्योंकि द्वितीयकृष्टिमें एक चय देना है। एक चय उत्तर (आगे) स्थापित करना; क्योंकि, तृतीयादि कृष्टियोंमें क्रमशः एक-एक चय अधिक देना है। तथा एककम पूर्वकृष्टि प्रमाण गच्छ स्थापित करना चाहिए, क्योंकि प्रथमकृष्टि में चय नहीं मिलाना है। ऐसे स्थापित करके "पदमेगेणविहीणं" इत्यादि श्रेणिव्यवहाररूप गणितसूत्र से एक कम गच्छको दो का भाग देकर, उसको (लब्धको) उत्तरसे (जो कि एक चयरूप है, उससे) गुणा करके उसमें प्रभव अर्थात् आदिके एक चयको मिलानेपर तथा फिर गच्छसे गुणा करने पर चयधन प्राप्त होता है। अंकसंदृष्टि की अपेक्षा—जैसे एक कम कृष्टिप्रमाण गच्छ ७, इसमें से एक घटाने पर छः आये। ६ में २ का भाग देनेपर ३ आये। इसे चय (१६) से गुणा करनेपर ४८ आये। इसमें प्रभव (एक चय यानी १६) को मिलाने पर ६४; पुनः इसको गच्छ (७) से गुणा करने पर ४४८ चयधन होता है। इस विधानसे जो प्रमाण आवे उतना अधस्तन शीर्ष विशेषद्रव्य जानना^१। अब जो पूर्वकृष्टिमें से प्रथमकृष्टिका प्रमाण था उसीके समान

१. अब इसके (पूर्वकृष्टिके) नीचे अपूर्वकृष्टिकी रचना करता है वे ४ हैं तथा वे प्रथमपूर्वकृष्टिके तुल्य-तुल्य ही हैं अर्थात् २५६-२५६ परमाणु प्रमाण हैं अतः द्वितीय समयमें अधस्तन कृष्टिद्रव्य $२५६ \times ४ = १०२४$ हुआ; तब संदृष्टि इसप्रकार होगी—

प्रथमसमयकृत पूर्व कृष्टियां जो अधस्तनशीर्ष विशेष द्रव्यसे युक्त हैं।	२५६	— चरमपूर्वकृष्टि ;
	२५६	
	२५६	
	२५६	
	२५६	
	२५६	
	२५६	
— द्वितीय — समयकृत अपूर्व कृष्टियां	२५६	— प्रथमपूर्वकृष्टि
	२५६	— चरम अपूर्वकृष्टि
	२५६	
	२५६	— प्रथम अपूर्वकृष्टि
		अपूर्वसमपट्टिका द्रव्य

प्रमाण लिये जो विवक्षित समयमें अपूर्वकृष्टिकी उनमें समान प्रमाण लिये समपट्टिका-रूप द्रव्य देना चाहिए, इसका ही नाम अधस्तनकृष्टिद्रव्य है। इस द्रव्यको देनेपर अपूर्वकृष्टियां प्रथमपूर्वकृष्टिके समान हो जाती हैं। इसका प्रमाण इसप्रकार प्राप्त किया जाता है—

पूर्वोक्त पूर्वकृष्टि सम्बन्धी चयको दो गुणहानि से गुणा करने पर पूर्वकृष्टियों में से प्रथमकृष्टिके द्रव्यका प्रमाण आता है सो एक कृष्टिका द्रव्य इतना है तो समस्त अपूर्वकृष्टियोंका कितना होगा ? ऐसे त्रैराशिकसे उस प्रथमपूर्वकृष्टिके द्रव्यको समस्त अपूर्वकृष्टिके प्रमाण से गुणा करनेपर अधस्तनकृष्टिका द्रव्यप्रमाण होता है। यहां, प्रथम समयमें की गई कृष्टियोंके प्रमाणको असंख्यातगुणो अपकर्षणभागहारका भाग देने पर द्वितीय समयमें की गई कृष्टियोंका प्रमाण होता है ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार पूर्वोक्त अधस्तनशोर्षविशेषद्रव्य और अधस्तनकृष्टि द्रव्य देने पर समस्त पूर्व-अपूर्वकृष्टि समान प्रमाण लिये हो गई।

वहां अपूर्वकृष्टिकी प्रथमकृष्टिसे लगाकर ऊपर-ऊपर अपूर्वकृष्टि स्थापित करके फिर उनके ऊपर प्रथमादि पूर्वकृष्टि स्थापित करनी चाहिए। इसप्रकार स्थापित करके चय घटते क्रमरूप एक गोपुच्छ करने के लिये^१ सर्वकृष्टि सम्बन्धी सम्भवचयका प्रमाण लाकर अन्तकी पूर्वकृष्टिमें एक चय, उसके नीचे उपान्त्य-पूर्वकृष्टि में दो चय; ऐसे क्रमसे एक-एक चय अधिकाधिक करते हुए प्रथम अपूर्वकृष्टि पर्यन्त देना। इसीका नाम उभयद्रव्यविशेषद्रव्य है। इसे देने पर समस्त पूर्व-अपूर्वकृष्टि के चय घटते क्रमरूप एक गोपुच्छ होता है। इसका प्रमाण इसप्रकार प्राप्त किया जाता है—

पूर्व समयमें कृष्टिमें जो द्रव्य दिया था और इस विवक्षित समयमें जो कृष्टिमें देने योग्य द्रव्य है, इन दोनोंको मिलानेपर जो द्रव्यप्रमाण हुआ उसको पूर्वापूर्व (पूर्व-अपूर्व) कृष्टियोंके योगरूप गच्छसे विभक्त करनेपर मध्यमधन प्राप्त होता है। इसको एककम गच्छके आधेसे हीन दोगुण हानिसे विभक्त करनेपर यहांके चयका (विशेषका)

१. अब इनकी समान द्रव्यरूप स्थितिको मिटाकर चय घटता क्रमरूप गोपुच्छ को करने के लिए निम्नानुसार द्रव्य मिलाते हैं—

प्रमाण आता है। अब एकचय को स्थापितकर और एक चय उत्तर (आगे) स्थापित कर तथा पूर्व-अपूर्वकृष्टिप्रमाण गच्छ स्थापितकर "पदमेगेणविहीणं" इत्यादि सूत्रके अनुसार एककम गच्छके आधेको चयसे गुणित करके उसमें चय मिलाकर उसको चयसे गुणित करने पर सर्व उभय द्रव्य विशेष द्रव्य होता है तथा जो विवक्षित समयमें कृष्टि-रूप परिणामावने योग्य द्रव्य अपकृष्ट किया उसमें से अधस्तनशीर्ष विशेषद्रव्य, अधस्तन-कृष्टिद्रव्य और उभयद्रव्यविशेषद्रव्य घटाने पर; अवशिष्ट रहे द्रव्यको समस्त पूर्व-अपूर्व कृष्टियोंमें समान भाग करके देना? इसीका नाम मध्यमखण्डद्रव्य है। इसको देने पर उस अपकृष्टद्रव्यकी समाप्ति होती है तथा समस्त पूर्वापूर्वकृष्टियोंमें चय घटते क्रमरूप

पूर्वद्रव्य + मिलाया जानेवाला द्रव्य = गोपुच्छाकारता				उभयद्रव्यविशेषद्रव्य = १ चय + २ चय + ३ चय + ४ चय + ५ चय + ६ चय + ७ चय + ८ चय + ९ चय + १० चय + ११ चय + १२ चय = ७८ चय = ७८ × १६ = १२४८ अतः उभयद्रव्यविशेषद्रव्य = १२४८ इसे मिलाने पर सर्वत्र प्रथम अपूर्वकृष्टि से लगाकर चरम पूर्वकृष्टि पर्यन्त गोपुच्छाकार द्रव्य हो जाता है वह नीचे लगी संहितके अनुसार है →	
सर्वत्रसम द्रव्य +	उभयद्रव्य विशेषद्रव्य =	गोपुच्छाकारता			
चरमपूर्वकृष्टि	२५६ +	एक चय	२७२	२७२	चरमपूर्वकृष्टि
द्विचरम पूर्वकृष्टि	२५६ +	दो चय	२८८	२८८	
	२५६ +	तीन चय	३०४	३०४	
	२५६ +	चार चय	३२०	३२०	
	२५६ +	पांच चय	३३६	३३६	
	२५६ +	छह चय	३५२	३५२	
	२५६ +	सात चय	३६८	३६८	
प्रथमपूर्वकृष्टि	२५६ +	आठ चय	३८४	३८४	
	२५६ +	नौ चय	४००	४००	चरमअपूर्वकृष्टि
	२५६ +	दस चय	४१६	४१६	
	२५६ +	ग्यारह चय	४३२	४३२	
प्रथम अपूर्वकृष्टि	२५६ +	बारह चय	४४८	४४८	प्रथमअपूर्वकृष्टि

ज्यों का त्यों द्रव्य रहता है । इसका प्रमाण बतलाते हैं—विवक्षित समयमें अपकृष्टद्रव्यको पत्यके असंख्यातवेंभागका भाग देने पर एक भागमात्र द्रव्य कृष्टिमें देने योग्य है । इसमें से पूर्वोक्त तीन प्रकारका द्रव्य घटाने पर किंचिदून हुआ । (यही किंचिदून द्रव्य मध्यमखंड द्रव्य है ।) इतना द्रव्य सकलकृष्टियोंमें देना है तो एककृष्टिमें कितना देना होगा ? ऐसी त्रैराशिकविधि करके उस द्रव्यमें पूर्व-अपूर्वकृष्टियोंके प्रमाणका भाग देने पर एककृष्टिमें

१ अब द्वितीय समयमें अपकृष्ट द्रव्य ३६२० में से अधस्तनशीर्षविशेषद्रव्य ४४८, अधस्तनकृष्टिद्रव्य १०२४, उभयद्रव्यविशेषद्रव्य १२४८, इन तीनोंको घटानेपर ३६२०—(४४८+१०२४+१२४८) = १२०० शेष रहे । ये शेष बचे १२०० परमाणुप्रमाण द्रव्य ही मध्यमखण्डद्रव्य है : इसे समस्त पूर्व-अपूर्व कृष्टियों में (८+४=१२ कृष्टियोंमें) समान खण्ड करके देने पर सभी को अर्थात् प्रत्येककृष्टिको १००-१०० द्रव्य प्राप्त होता है । उसे मिलाने पर रचना ऐसी है—

२७२+१०० = ३७२	— चरमपूर्वकृष्टि
२८८+१०० = ३८८	
३०४+१०० = ४०४	
३२०+१०० = ४२०	
३३६+१०० = ४३६	
३५२+१०० = ४५२	
३६८+१०० = ४६८	
३८४+१०० = ४८४	— प्रथमपूर्वकृष्टि
४००+१०० = ५००	
४१६+१०० = ५१६	— चरमअपूर्वकृष्टि
४३२+१०० = ५३२	
४४८+१०० = ५४८	— प्रथमअपूर्वकृष्टि
४६४+१०० = ५६४	

— चरमपूर्वकृष्टि

— प्रथमपूर्वकृष्टि

— चरमअपूर्वकृष्टि

— प्रथमअपूर्वकृष्टि

नोट—यहां इतना स्मरण रखना चाहिये कि उभयद्रव्यविशेषद्रव्य निकालनेके लिए यहां निम्नविधि है—

सकल अपकृष्टद्रव्य = १६०० + ३६२० = ५२२० । सकल अपकृष्टद्रव्य ÷ सकलकृष्टियां ५२२० ÷ १२ = ४३५ मध्यमघन

यहां एक गुणहानि = १७१ (गुणहानि वस्तुस्थित्या खण्डरूप नहीं होती पर संदृष्टि या दृष्टान्त तो संदृष्टि या दृष्टान्त ही ठहरा; वह दार्ष्टान्तसे सर्वदेश साम्य नहीं रखता, ऐसा जानना चाहिये) क्योंकि ५४८ रूप प्रथमकृष्टि १७१ स्थानों को पार करनेके बाद उसके आगे एकस्थान जाने पर आधी रह जाती है; अतः १७१ स्थान, गुणहानिका प्रमाण होगा । यथा ५१२ कर्मपरमाणुरूप प्रथम निषेकसे ८ स्थान के बाद नवमस्थानमें जाकर २५६ रह जाते हैं तो वहां गुणहानिका प्रमाण ८ होता है । वैसे ही यहां पर ५४८ रूप प्रथमकृष्टि चयहीन होती हुई ऐसे जाती है—५४८, ५३२, ५१६, ५००, ४८४, ४६८, ४५२, ४३६, ४२०, ४०४, ३८८, ३७२, ३५६, ३४०, ३२४, ३०८, २९२, २७६..... ।

देने योग्य एकखण्डका प्रमाण प्राप्त होता है । इसको सर्वकृष्टिके प्रमाणसे गुणित कर देनेपर सर्व मध्यमखण्ड द्रव्यका प्रमाण प्राप्त हो जाता है । इसप्रकार यहां विवक्षित द्वितीय समयमें कृष्टिरूप होने योग्य द्रव्यमें बुद्धिकल्पनासे अधस्तनशीर्षविशेष आदि चार प्रकारके द्रव्य भिन्न-भिन्न स्थापित किये । ऐसे ही यहां पर तृतीयादि समयोंमें कृष्टिरूप होने योग्य द्रव्यमें विधान जानना । अथवा आगे क्षपकश्रेणिके वर्णनमें अपूर्वस्पर्धकका, बादरकृष्टिका या सूक्ष्मकृष्टिका वर्णन करते हुए ऐसे विधान कहेंगे ; वहां ऐसा ही अर्थ

अब यहां द्रव्य चयहीन होकर जाता हुआ अठारहवें स्थानमें २७६ होता है । हमें ५४८ का आधा २७४ अभीष्ट है । चूंकि एकस्थान आगे पीछे जाने पर (अर्थात् १८ वें से १७ वें या १७ वें से १८ वें को जाने पर) १६ (एक चय) की कमी या वृद्धि होती है, तो २ मात्र परमाणुकी हीनता के लिए कितना स्थान आगे जाना पड़ेगा ? उत्तर होगा $\frac{1}{2} \times 2 = 1$ स्थान । अर्थात् २७६ से १ स्थान आगे जाने पर वहीं कृष्टिका परमाणु परिमाण २७४ हो जाता है जो कि ५४८ से ठीक आधा है तो २७४ परमाणुवाला स्थान १८ $\frac{1}{2}$ वां हुआ, इसलिये इससे एक स्थान पूर्व अर्थात् १७ $\frac{1}{2}$ वें स्थान में ही एक गुणहानि पूरी हो गई ऐसा जानना चाहिए ; (क्योंकि जहां द्रव्य आधा रह जाय उससे एक स्थान (पूरा-पूरा) पहले जाने पर जो निषेक स्थित हो वहीं प्रथम गुणहानिका चरमस्थान होता है) अतएव दो गुणहानि = $१७\frac{1}{2} \times २ = ३४\frac{1}{2}$

अब मध्यधन :- एककम गच्छका आधासे न्यून दो गुणहानि = चय

$$\text{अर्थात् } ४६० \div ३४\frac{1}{2} - १\frac{1}{2} = \text{चय}$$

$$,, ४६० \div ३४\frac{1}{2} - ५\frac{1}{2} = \text{चय}$$

$$,, ४६० \div २८\frac{3}{4} = \text{चय}$$

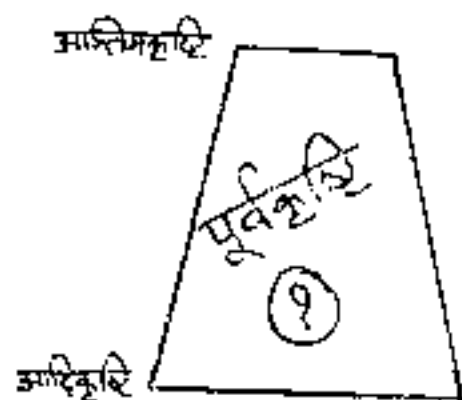
$$,, ४६० \times \frac{४}{५५\frac{1}{2}} = \text{चय}$$

$$,, ४६० \times \frac{४}{५५\frac{1}{2}} = १६ (\text{चय})$$

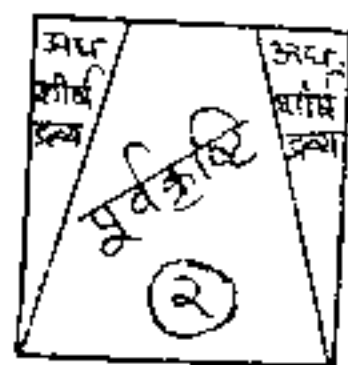
अब सूत्रानुसार एककम गच्छ ११ का आधा ५ $\frac{1}{2}$ से चय १६ को गुणा करने पर ८८ आये । चय मिलाने पर ८८ + १६ = १०४ आये । १०४ × गच्छ (१२) = १२४८ आये । यही उभयद्रव्यविशेष-द्रव्य है । शेष सुगम है ।

जानना चाहिए । जहां विशेष हो वहां विशेष जानना चाहिए । यहां संदृष्टिकी अपेक्षा चयहीन क्रम लिये पूर्वकृष्टि आदि की रचना निम्न प्रकार होती है—

पूर्वकृष्टिरचना

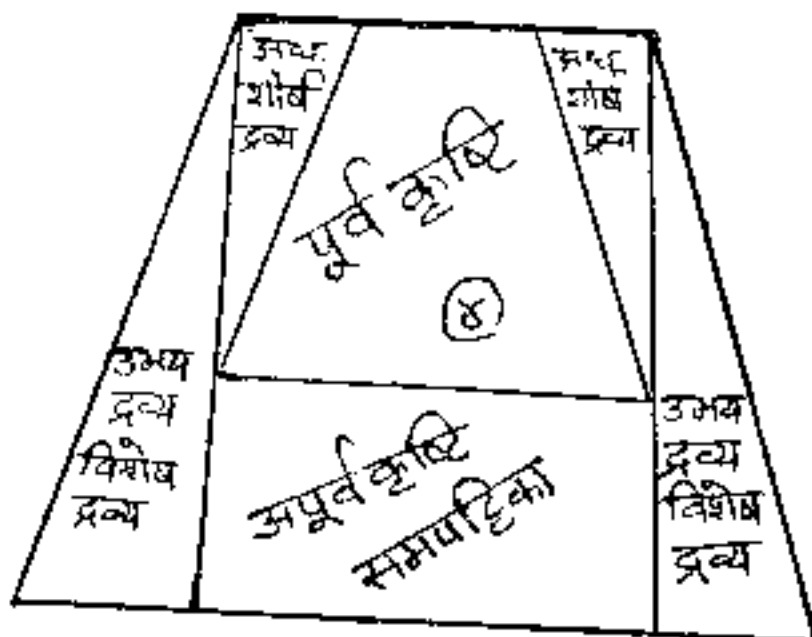
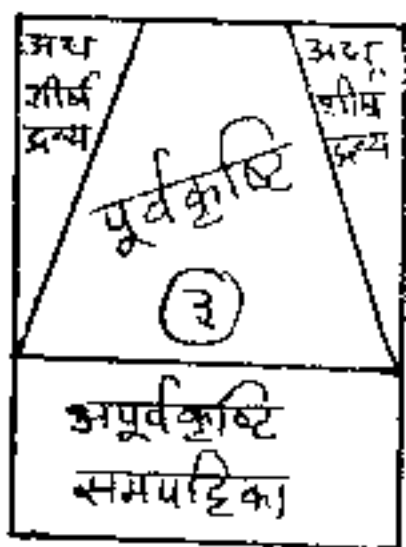


पूर्वकृष्टियोंमें अधस्तनशोषद्रव्य मिलानेपर समानरूप पूर्वकृष्टि की रचना इसप्रकार होती है

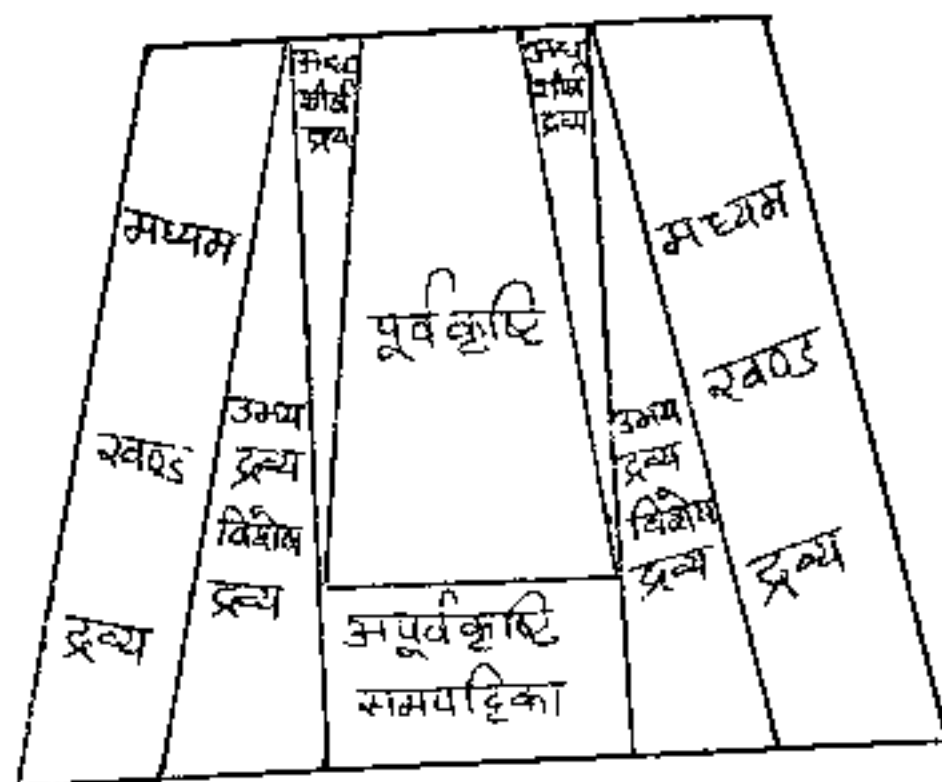


अधस्तनशोषद्रव्य मिलानेपर समानरूप पूर्वकृष्टि रचना के नीचे ही अधस्तन-कृष्टिद्रव्यद्वारा अपूर्वकृष्टिकी सम-पट्टिकारचना निम्नप्रकार होती है—

संदृष्टि नं० ३ में उभयद्रव्यविशेषद्रव्य मिलाने पर संदृष्टिकी आकृति निम्न प्रकार होती है । इसे गुपुच्छाकृति कहते हैं —



संदृष्टि नं. ४ में मध्यमखण्डद्रव्य मिलाने पर संदृष्टिकी आकृति निम्न प्रकार हो जाती है —



इसप्रकार द्रव्य देनेका विधान जानना चाहिए । यद्यपि द्रव्य तो युगपत् जितना देने योग्य है उतना दिया जाता है; तथापि समझने के लिये पृथक्-पृथक् विभाग करके वर्णन किया है ।

हेट्ठासीसं थोवं उभयविसेसे तदो असंखगुणं ।

हेट्ठा अणंतगुणिदं मडिभमखंडं असंखगुणं ॥२८७॥

अर्थ—(पूर्वोक्त गाथा २८६ में) कहे गये चारप्रकारके द्रव्योंमें अधस्तनशीर्ष विशेष द्रव्य सबसे स्तोक है । इससे उभयद्रव्य विशेष असंख्यातगुणा है । इससे अधस्तन-कृष्टि द्रव्य अनन्तगुणा है और इससे मध्यमखण्ड द्रव्य असंख्यातगुणा है ऐसा जानना ।

तृतीयादि समयोंमें कृष्टियों सम्बन्धो विशेष करते हुए निक्षेपद्रव्यके पूर्व और अपूर्वगत संधि विशेष का कथन करते हैं—

अवरे बहुगं देदि हु विसेसहीणकमेण चरिमोत्ति ।

तत्तो णंतगुणं विसेसहीणं तु फट्टयगे ॥२८८॥

एवरि असंखाणंतिमभागुणं पुव्वकिट्ठसंधीसु ।

हेट्ठमखंडपमाणेण विसेसेण हीणादो ॥२८९॥

अर्थ—जघन्यकृष्टिमें बहुत द्रव्य दिया जाता है, उससे आगे अन्तिमकृष्टि पर्यन्त विशेष हीनरूपसे द्रव्य दिया जाता है । पूर्वस्पर्धककी प्रथमवर्गणामें अनन्तगुणा-हीन द्रव्य दिया जाता है उससे ऊपर विशेषहीन क्रमसे द्रव्य दिया जाता है, किन्तु पूर्व-कृष्टिकी प्रथमकृष्टिमें जो द्रव्य दिया जाता है वह अपूर्व अन्तिमकृष्टिमें दिये गये द्रव्यसे असंख्यातवें भाग और अनन्तवें भागहीन है, क्योंकि एक अधस्तनकृष्टिका द्रव्य व उभयद्रव्य विशेषसे हीन है ।

विशेषार्थ—प्रथम समयमें अपकर्षित किये गये समस्त प्रदेशपुञ्जके असंख्यातवें भागको ग्रहणकर कृष्टियोंमें निक्षिप्त करता हुआ जघन्यकृष्टिमें बहुत प्रदेशपुंज देता है । उससे अनन्तर उपरिम दूसरी कृष्टिमें प्रदेशपुंज विशेषहीन देता है । दो गुणहानिके प्रतिभागके अनुसार अनन्तवें भागप्रमाण विशेषहीन देता है । इसप्रकार इस प्रतिभागके अनुसार उत्तरोत्तर अनन्तर पूर्वकृष्टिके प्रदेशपुञ्जसे विशेष हीन करके अन्तिमकृष्टिके प्राप्त होने तक विशेष हीन प्रदेशपुंजको देता है । इतनी विशेषता है कि परम्परोप-निधाकी अपेक्षासे भी गणना करनेपर प्रथमकृष्टिमें निक्षिप्त हुए प्रदेशपुञ्जसे अन्तिम कृष्टिमें निक्षिप्त प्रदेशपुञ्ज अनन्तवां भाग हीन ही होता है, क्योंकि कृष्टियोंका आयाम एक स्पर्धककी वर्गणाओंके अनन्तवें भागप्रमाण है । पुनः अन्तिम कृष्टिमें निक्षिप्त हुए प्रदेशपुञ्जसे ऊपर जघन्य स्पर्धक की आदि वर्गणामें अनन्तगुणे हीन प्रदेशपुञ्ज को देता है । (विशेष कथनके लिये ज. ध. पु. १३ पृ. ३११ देखना चाहिए ।)

प्रथम समयमें अपकर्षित द्रव्यसे असंख्यातगुणे द्रव्यको अपकर्षित कर द्वितीय समयमें पूर्व-अपूर्व कृष्टियोंमें सिंचन करता हुआ द्वितीय समयमें तत्काल रची जानेवाली अपूर्व कृष्टियोंकी जो आदि जघन्यकृष्टि है उसमें प्रथम समयकी अन्तिम कृष्टिमें निक्षिप्त हुए प्रदेशपुंजसे असंख्यातगुणे पुंजको देता है । इस आदि जघन्यकृष्टिकी अपेक्षा दूसरी अपूर्वकृष्टि में अनन्तवेंभाग हीन देता है । इसप्रकार अपूर्वकृष्टियोंमें जो अन्तिमकृष्टि है वहां तक इसी क्रमसे द्रव्य देते हुए ले जाना चाहिए । उसके बाद प्रथम समयमें रची गई पूर्वकृष्टियों में जो जघन्यकृष्टि है उसमें विशेष हीन अर्थात् असंख्यातवेंभाग और अनन्तवेंभागप्रमाण कम देता है, क्योंकि प्रथम समयमें पूर्व कृष्टियोंमें निक्षिप्त द्रव्यसे दूसरे समयमें निक्षिप्त किया जानेवाला द्रव्य अपकर्षित किये गये द्रव्यके माहात्म्यवश असंख्यातगुणा होता है । इसलिये पूर्वकृष्टियोंकी जघन्यकृष्टिमें पहलेका अवस्थित द्रव्य इस समय सिंचित किये जाने वाले द्रव्यके असंख्यातवेंभागप्रमाण होता है । अतः

उतना^१ (पूर्व अवस्थित द्रव्य) कम करके पुनः एक गोपुच्छ विशेष^२ और कम करके प्रदेश विन्यास होता है, अन्यथा कृष्टियोंमें एक गोपुच्छश्रेणिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इससे आगे ओध उत्कृष्ट कृष्टिकी अपेक्षा प्रथम समयमें रची गई कृष्टियोंमें अन्तिम-कृष्टिके प्राप्त होने तक सर्वत्र अनन्तवांभागप्रमाण विशेषहीन विन्यास होता है। पुनः उससे जघन्य स्पर्धककी आदिकी वर्गणामें अनन्तगुणा हीन प्रदेशपुञ्ज दिया जाता है। उससे उत्कृष्ट स्पर्धकसे जघन्य अतिस्थापना प्रमाण स्पर्धक नीचे सरककर स्थित हुए वहाँके स्पर्धककी उत्कृष्ट वर्णनाके ज्ञान हेतु तक अनन्तवांभाग प्रमाण विशेष हीन प्रदेश विन्यास होता है।

प्रदेश विन्यासका जैसा क्रम दूसरे समयमें कहा गया है वैसा शेष समयोंमें जानना चाहिए, क्योंकि दीयमान द्रव्य अर्थात् दिये जाने वाले द्रव्यकी यह श्रेणिप्ररूपणा है। दृश्यमान द्रव्यकी श्रेणीकी अपेक्षा-प्रथमकृष्टिमें दृश्यमान प्रदेशपुञ्ज बहुत है, उससे दूसरीमें अनन्तवां भागप्रमाण विशेष हीन है। इसप्रकार अन्तिमकृष्टि तक उत्तरोत्तर विशेष हीन है। स्पर्धककी वर्गणाओंमें भी दृश्यमान द्रव्य विशेष हीन ही होता है^३।

अब कृष्टियोंका शक्ति सम्बन्धी अल्पबहुत्व कहते हैं—

अवरादो चरिमेत्ति य अणंतगुणिदक्कमादु सत्तीदो ।

इदि किट्ठीकरणद्धा बादरलोहस्स विदियद्धं ॥२६०॥

अर्थ—अनुभागकी अपेक्षा जघन्य अपूर्वकृष्टिके अविभाग प्रतिच्छेदोंसे द्वितीय-कृष्टिके अविभाग प्रतिच्छेद अनन्तगुणों हैं। इसी प्रकार अनन्तगुणित क्रम पूर्वकृष्टिकी अन्तिम कृष्टितक ले जाना चाहिए। इसप्रकार बादरलोभ वेदक कालका द्वितीयार्ध कृष्टिकरणकाल व्यतीत होता है।

विशेषार्थ—जघन्यकृष्टि सदृश घनवाले परमाणुओंमें से एक परमाणुके अविभाग प्रतिच्छेदों को ग्रहणकर एक कृष्टि होती है, यह स्तोक है। दूसरी कृष्टिके अर्थात् दूसरी कृष्टिके एक परमाणु सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद अनन्तगुणों हैं। इसप्रकार एक-एक परमाणु को ग्रहणकर अनन्तगुणित क्रमसे अन्तिमकृष्टिके प्राप्त होने तक ले जाना

१. अर्थात् अधस्तन कृष्टिद्रव्य।

२. अर्थात् उभय द्रव्यविशेष।

३. ज. घ. पु. १३ पृ. २१०-२१४।

चाहिए । अथवा सदृश घनवाले अनन्त परमाणुओंको कृष्टिरूपसे ग्रहणकर यह कथन करना चाहिए, क्योंकि उत्तरोत्तर एक-एक अविभाग प्रतिच्छेदोंकी क्रम वृद्धि यहां पर नहीं पाई जाती इसलिये इसकी कृष्टि संज्ञा है । पुनः अन्तिम कृष्टिसे ऊपर जघन्य स्पर्धककी प्रथमवर्गणा अनन्तगुणी है^१ ।

लोभवेदककालके द्वितीय त्रिभागकी कृष्टिकरण कालसंज्ञा है, क्योंकि यहां पर स्पर्धकगत अनुभागका अपवर्तनकर कृष्टियोंको करता है । जिसप्रकार क्षपकश्रेणिमें कृष्टियोंको करता हुआ सभी पूर्व और अपूर्व स्पर्धकोंका पूर्णरूपेण अपवर्तनकर कृष्टियों को ही स्थापित करता है, उस प्रकार उपशमश्रेणिमें सम्भव नहीं है, क्योंकि सभी पूर्व-स्पर्धकोंके अपने-अपने स्वरूपको न छोड़कर उसीप्रकार अवस्थित रहते हुए सर्व स्पर्धकों में से असंख्यातवैभागप्रमाण द्रव्यका अपकर्षणकर एक स्पर्धककी वर्गणाओंके अनन्तवैभागप्रमाण सूक्ष्मकृष्टियोंकी रचना होती है^१ ।

अब कृष्टिकरणकालमें स्थितिवन्धके प्रमाणकी प्ररूपणा के लिए तीन गाथाओं द्वारा कथन करते हैं—

विदियद्वा संखेज्जाभागेसु गदेसु लोभठिदिबधो ।

अंतोमुहुत्तमेत्तं दिवसपुधत्तं तिघादीणं ॥२६१॥

अर्थ—लोभसंज्वलन कालके तीनभागोंमें से दूसरे कालके (भागके) संख्यात बहुभाग बीत जानेपर संज्वलनलोभका स्थितिवन्ध अन्तर्मुहूर्तमात्र होता है शेष तीन (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय) घातिया कर्मोंका स्थितिवन्ध पृथक्त्वदिनप्रमाण होता है^२ ।

विशेषार्थ—कृष्टिकरणकाल अर्थात् द्वितीयकालके अन्तिम समयको प्राप्त किधे बिना वहांसे नीचे सरककर उस कालके संख्यात भागोंके अन्तिम समयमें संज्वलनका तात्कालिक स्थितिवन्ध पूर्वमें होनेवाले दिवस पृथक्त्वप्रमाणसे यथाक्रम घटकर अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण हो जाता है । इससे पहले ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया

१. ज. घ. पु. १३ पृ. ३१४-१५; घ. पु. ६ पृ. ३१३ ।

२. क. पा. सुत्त पृ. ७०३ चूणिसूत्र २६०-६१; घ. पु. ६ पृ. ३१४ ।

कर्मोंका स्थितिबन्ध सहस्रवर्ष पृथक्त्वप्रमाण होता रहा जो यथाक्रम संख्यात गुणहानियों के द्वारा घटकर दिवस पृथक्त्वप्रमाण हो जाता है^१ ।

किट्टीकरणद्धाप जाव नुद्धरिमं तु होदि द्विदिजंजो ।

वस्साणं संखेज्जसहस्साणि अघादिठिदिवंधो ॥२६२॥

अर्थ—कृष्टिकरणकालके द्विचरम स्थितिबन्धतक नाम, गोत्र व वेदनीय इन तीन अघातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजार वर्षप्रमाण होता है^२

विशेषार्थ—लोभ संज्वलनकालके तीन भागोंमें से दूसराभाग कृष्टिकरणकाल के द्विचरम स्थितिबन्ध समाप्त होनेतक नाम, गोत्र व वेदनीय इन तीन अघातियाकर्मों का स्थितिबन्ध संख्यातहजार वर्षप्रमाण ही होता है, क्योंकि घातिया कर्मोंके स्थिति-बन्धापसरण होनेके समान अघातियाकर्मोंके स्थितिबन्धका बहुत अधिक अपसरण होना असम्भव है । इसलिए द्विचरम स्थितिबन्धतक इनका स्थितिबन्ध नियमसे संख्यातहजार वर्षप्रमाण होता है^३ ।

किट्ठीयद्धाचरिमे लोहस्संतो मुहुत्तियं बंधो ।

दिवसंतो घादीणं वेवस्संतो अघादीणं ॥२६३॥

अर्थ—कृष्टिकरणकालमें अन्तिम स्थितिबन्ध लोभ संज्वलनका अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण, घातियाकर्मोंका कुछ कम एकदिनप्रमाण तथा अघातियाकर्मोंका कुछकम दो वर्षप्रमाण होता है^४ ।

विशेषार्थ—कृष्टिकरण कालमें जो अन्तिम स्थितिबन्ध होता है, वह बादर-साम्परायिकका अन्तिम स्थितिबन्ध है । वह स्थितिबन्ध लोभ संज्वलनका अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण होता है जो क्षपकश्रेणिमें होनेवाले स्थितिबन्धसे दूना है; ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंका कुछकम एकदिन रात्रिप्रमाण है जो क्षपकके बादर-साम्परायिकगुणस्थानमें होनेवाले अन्तिम स्थितिबन्धसे दूना है तथा नाम-गोत्र और

१. ज. घ. पु. १३ पृ. ३१६ ।

२. घ. पु. ६ पृ. ३१४ । क. पा. सुत्त पृ. ७०३ चूर्णिसूत्र २६२ ।

३. ज. घ. पु. १३ पृ. ३१६ ।

४. घ. पु. ६ पृ. ३१४ । क. पा. सु. पृ. ७०३ सूत्र २६३-२६५ ।

वेदनीय इन तीन अघातिया कर्मोंके भी संख्यातहजार वर्षप्रमाण स्थितिवन्धसे घटकर कुछकम दो वर्षप्रमाण स्थितिवन्ध होता है जो बादरसाम्परायिक क्षपकके अन्तिम स्थितिवन्धसे दूना है, क्योंकि क्षपकश्रेणिमें इस स्थलपर होनेवाला स्थितिवन्ध एक वर्षसे कुछकम होता है^१ ।

अब संक्रमणकाल सम्बन्धी जघन्य का विस्तार करते हैं—

विदियद्धा परिसेसे समऊणावलितियेसु लोहदुगं ।

सट्टाणे उवसमदि हु ण देदि संजलणलोहम्मि ॥२६४॥

अर्थ—दूसरे कृष्टिकरणकालमें एक समयकम तीन आवलियां शेष रहने पर दो प्रकारका लोभ (अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण लोभ) संज्वलनलोभमें संक्रांत नहीं होता, स्वस्थानमें ही उपशमाया जाता है^२ ।

विशेषार्थ—एक समयकम तीन आवलि शेष रहनेपर संक्रमणावलि और उपशमनावलिका परिपूर्ण होता असम्भव है, इसलिये उस अवस्थामें अप्रत्याख्यानावरण लोभ, प्रत्याख्यानावरण लोभ संज्वलनलोभमें संक्रमित नहीं होता, किन्तु स्वस्थानमें ही उपशमित होता है (अपने रूपसे ही उपशमता है) । आवलि और प्रत्यावलिके शेष रहनेपर आगाल और प्रत्यागाल व्युच्छिन्न हो जाते हैं । प्रत्यावलिमें एक समय शेष रहनेपर संज्वलन लोभकी जघन्यस्थिति उदीरणा होती है^३ ।

अब लोभत्रय की उपशमनविधि का कथन करते हैं—

बादरलोहादिठिदी आवलिसेसे तिलोदमुवसंतं ।

णवकं किट्ठिट सुच्चा सो चरिमो थूलसंपराओ य ॥२६५॥

अर्थ—बादरलोभकी प्रथमस्थितिमें आवलि शेष रहनेपर नवक समयप्रबद्ध और कृष्टियोंको छोड़कर तीन प्रकारके लोभका द्रव्य उपशान्त हो चुकता है । वह अन्तिम समयवर्ती बादरसाम्पराय होता है ।

१. ज. घ. पु. १३ पृ. ३१७ ।

२. क. पा. सु. पृ. ७०३ सूत्र २६६ ।

३. ज. घ. पु. १३ पृ. ३१७-१८ । क. पा. सु. पृ. ७०३ सूत्र २६७; ध. पु. ६ पृ. ३१४ ।

विशेषार्थ—बादर लोभको प्रथम स्थितिमें उच्छिष्टावलि शेष रहने पर उपशमनावलिके चरमसमयमें संज्वलनलोभका एक समयकम दो आवलिप्रमाण तबक समयप्रबद्ध अनुपशान्त रहता है, कृष्टियां सभी अनुपशान्त रहती हैं । तथा तबकबन्ध और उच्छिष्टावलिको छोड़कर बादर संज्वलनलोभका शेष सर्वद्रव्य व अप्रत्याख्यान-वरण-प्रत्याख्यानवरणका सर्व द्रव्य उपशान्त रहता है । अर्थात् स्पर्धकगत लोभसंज्वलन सम्बन्धी सर्व प्रदेशपुंज इस समय उपशान्त हो चुकता है, किन्तु कृष्टिगत प्रदेशपुंज अभी भी अनुपशान्त रहता है, क्योंकि सूक्ष्मसाम्परायकालमें कृष्टियोंकी उपशामना होती है । परन्तु दोनों प्रकारका लोभ पूरा ही उपशान्त हो चुकता है । तबक बन्धादिकका अनुपशम रहता है । यही अन्तिम समयवर्ती बादरसाम्परायिक संयत है, क्योंकि अनिवृत्तिकरणकालका अन्त देखा जाता है^१ । सार यह है कि जब प्रत्यावलीमें एक समय शेष रहता है उसी समय लोभसंज्वलनका सर्व स्पर्धकरूप द्रव्य तथा सकल ही प्रत्याख्यान-अप्रत्याख्यान लोभ द्रव्य उपशान्त हो जाता है मात्र (१) तबक समय प्रबद्ध (२) उच्छिष्टावलिमात्र निषेक (३) सूक्ष्मकृष्टि ये उपशान्त नहीं होते ।

अथानन्तर सूक्ष्मसाम्परायमें किये जाने वाले कार्य विशेष का कथन करते हैं—
से काले किट्टिस्स य पढमट्टिदिकारवेदगो होदि ।

लोहगपढमठिदीदो अद्धं किंचूणयं गत्थ ॥२६६॥

अर्थ—अनिवृत्तिकरणकालके क्षीण होने पर अनन्तर समयमें कृष्टियोंकी प्रथम स्थितिका कारक व वेदक होता है । बादर लोभकी प्रथम स्थितिके कुछकम आधेभाग-प्रमाण कृष्टियोंकी प्रथम स्थिति है ।

विशेषार्थ—अनिवृत्तिकरण कालके क्षीण होनेपर अनन्तर समयमें ही वह सूक्ष्मकृष्टि वेदकरूपसे परिणमकर सूक्ष्मसाम्परायिकगुणस्थानको प्राप्त हो जाता है । प्रथम समयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिक संयतजीव उसी समय दूसरी स्थितिमेंसे कृष्टिगत प्रदेशपुंजका अपकर्षण भागहारके द्वारा अपकर्षणकर उदयादि श्रेणिरूपसे अन्तर्मुहूर्त आयामको लिये हुए प्रथमस्थितिका विन्यास करता है । बादर लोभकी प्रथमस्थिति, समस्त लोभ वेदककालके साधिक दो बटा तीन (३) भागप्रमाण होती है । कुछकम उसका अर्धभागप्रमाण सूक्ष्मसाम्परायकी प्रथमस्थितिका विन्यास होता है । यहां की

प्रथमस्थितिकी रचना सूक्ष्मसाम्परायिकके काल बराबर होती है, परन्तु जानावरणादिका उस कालमें होने वाला गुणश्रेणिनिक्षेप सूक्ष्मसाम्परायिकके कालसे विशेष अधिक होकर उदयावलिके बाहर निक्षिप्त हुआ है, क्योंकि अपूर्वकरणके प्रथम समयमें निक्षिप्त हुआ गुणश्रेणिनिक्षेप गलित शेष होकर इस समय तत्प्रमाण अवशिष्ट रहता है^१ ।

आगे सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके प्रथम समयमें उदीयमान कृष्टियोंका निर्देश करते हैं—

पदमे चरिमे समये कदकिट्टीणगदो दु आदीदो ।

मुच्चा असंखभासं जदेदि सुहुणादिमे सज्जे ॥२६७॥

अर्थ—प्रथम समयमें जो कृष्टियों की गई उनके अग्राग्र में से असंख्यातवैभाग को छोड़कर और अन्तिम समयमें की गई कृष्टियों की जघन्य (आदि) कृष्टिसे लेकर असंख्यातवै भागको छोड़कर अन्य सकल कृष्टियां सूक्ष्मसाम्परायिकके प्रथम समयमें उदीर्ण होती हैं । [संक्षेपमें १० वें गुणस्थानके प्रथम समयमें कृष्टियों के अधस्तन व उपरिम असंख्यातवैभाग को छोड़कर शेष असंख्यात बहुभाग का वेदन करता है^२ ।

विशेषार्थ—कृष्टिकरण कालमें से प्रथम और अन्तिम समयमें की गई कृष्टियोंको छोड़कर शेष समयोंमें जो अपूर्वकृष्टियां की गई हैं वे सभी सूक्ष्मसाम्परायिकके प्रथम समयमें उदीर्ण हो जाती हैं, किन्तु यह सदृश धनकी विवक्षासे है, अन्यथा उन सभीका प्रथम समयमें पूर्ण रूपेण उदीर्ण होनेका प्रसङ्ग आ जावेगा, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि उनमें से असंख्यातवै भागप्रमाण सदृश धनवाले परमाणु प्रदेशपुंजका ही अपकर्ष-प्रतिभागके अनुसार उदय होता है ।

प्रथम समयमें जो कृष्टियां रची गई हैं उनके उपरिम असंख्यातवैभागको छोड़कर शेष सर्व कृष्टियां प्रथम समयमें उदीर्ण हो जाती हैं । यह भी सदृश धनकी विवक्षामें कहा गया है, क्योंकि उन सबका एक समयमें पूर्णरूपेण उदयरूप परिणाम नहीं पाया जाता अतः पल्योपमके असंख्यातवैभागसे खण्डित एकभागप्रमाण उपरिम असंख्यातवै भागको छोड़कर प्रथम समयमें की गई कृष्टियोंका शेष जो असंख्यात बहुभाग बचता है वह सूक्ष्मसाम्परायिकके प्रथम समयमें उदीर्ण हो जाता है । कृष्टि-

१. ज. ध. पु. १३ पृ. २१६-२०; ध. पु. ६ पृ. ३१५ ।

ध. पु. ६ पृ. ३१५; क. पा. सुत्त पृ. ७०४ सूत्र २७४-२७७ । ज. ध. पु. १३ पृ. ३२०-२१ ।

करणकालके अन्तिम समयमें रची गई कृष्टियोंके पत्योपमके असंख्यातवें भागरूप प्रति-
भाग द्वारा प्राप्त जघन्यकृष्टिसे लेकर अधस्तन असंख्यातवें भागको छोड़कर शेष बहु-
भाग प्रमाण सभी कृष्टियोंको उस (प्रथम) समयमें उदयमें प्रविष्ट कराया जाता है,
इसलिये सिद्ध हुआ कि सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम समयमें असंख्यात बहुभाग कृष्टियोंका
वेदन होता है । प्रथम और अन्तिम समयमें रचित कृष्टियों में से उपरिम और अधस्तन
असंख्यातवें भागप्रमाण कृष्टियोंका सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम समयमें उदयाभाव है । इतनी
विशेषता है कि प्रथम समयमें की गई कृष्टियोंमें से नहीं वेदे जानेवाली उपरिम
असंख्यातवें भागके भीतरकी कृष्टियां अपकर्षण द्वारा अनन्तगुणी हीन होकर मध्यम-
कृष्टिरूपसे वेदी जाती हैं तथा अन्तिम समयमें रची गई कृष्टियोंमें से जघन्य कृष्टिसे
लेकर नहीं वेदी जानेवाली अधस्तन असंख्यातवें भागके भीतरकी कृष्टियां अनन्तगुणी
हीन होकर मध्यमकृष्टिरूपसे वेदी जाती हैं, क्योंकि अपने रूपसे ही उनका उदयाभाव
है, मध्यमरूपसे उनके उदयाभावका प्रतिषेध नहीं है । जिसप्रकार मिथ्यात्वके स्पर्धक
अपने स्वरूपको छोड़कर अनन्तगुणे हीन होकर सम्यक्त्वप्रकृतिरूपसे उदयको प्राप्त होते
हैं तथा सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्वके स्पर्धक अपने स्वरूपको छोड़कर मिथ्यात्वरूपसे
उदयको प्राप्त होते हैं; इसमें कोई विरोध नहीं है । इसीप्रकार यहां भी उपरिम और
अधस्तन असंख्यातवें भागप्रमाण कृष्टियां मध्यमरूपसे वेदी जाती हैं इसमें कुछ निषिद्ध
नहीं है^१ ।

द्वितीयादि समयोंमें उदयानुदयकृष्टि सम्बन्धो निर्देश करते हैं—

विद्यादिसु समयेसु हि छंडदि पल्ला असंखभागं तु ।

‘आफु’ददि हु अपुवा हेट्ठा तु असंखभागं तु ॥२६८॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायके द्वितीयादि समयोंमें उदीर्ण हुई कृष्टियोंके अग्राग्रसे
पत्यके असंख्यातवें भागप्रमाणको छोड़ता है तथा नीचे से अपूर्व असंख्यातवें भागका
स्पर्श करता है^२ ।

१. ज. घ. पु. १३ पृ. ३२०-३२३ ।

२. आफु’ददि आस्पृशति वेदयति अवष्टभ्य गृह्णातीत्यर्थः । ज. घ. मूल. पृ. १८६६ । ज. घ. अ. प.
१०३१ ।

३. क. पा. सु. पृ. ७०५ सुत्र २८१ ।

विशेषार्थ—दूसरे समयमें तो प्रथम समयमें उदीर्ण हुई कृष्टियोंके अग्रगण्यसे अर्थात् सबसे उपरिम कृष्टिसे लेकर नीचे पत्यके असंख्यातवें भागप्रमाण कृष्टियोंको छोड़ता है, क्योंकि ऐसा न हो तो प्रथम समयके उदयसे दूसरे समयका उदय अनन्त-गुणा हीन नहीं बन सकता है । इसलिये पूर्व समयमें उदीर्ण हुई कृष्टियों में से सबसे उपरिम कृष्टिसे लेकर असंख्यातवें भागप्रमाण उपरिम भागको छोड़कर अधस्तन बहु-भागप्रमाण कृष्टियोंका दूसरे समयमें वेदन करता है, परन्तु नीचेले प्रथमसमयमें अनुदीर्ण हुई कृष्टियोंके अपूर्व असंख्यातवें भागको वेदता है अर्थात् आलम्बनकर ग्रहण करता है । प्रथम समयमें उदीर्ण कृष्टियोंसे दूसरे समयमें उदीर्ण हुई कृष्टियां असंख्यातवें भाग प्रमाण विशेषहीन हैं, क्योंकि अधस्तन अपूर्व लाभसे उपरिम परित्यक्त भाग बहुत स्वीकार किया गया है । इसीप्रकार सूक्ष्मसाम्परायके अन्तिम समयके प्राप्त होने तक तृतीयादि समयों में भी कथन करना चाहिए ।

इसप्रकार सूक्ष्मसाम्परायिकगुणस्थानके कालका पालन करता हुआ आवलि प्रत्यावलिके शेष रहने पर आगाल-प्रत्यागालका विच्छेद करके पश्चात् एक समयाधिक आवलिकालके शेष रहनेपर जघन्य स्थिति उदीरणा करके पुनः क्रमसे सूक्ष्मसाम्परायका अन्तिम समय प्राप्त हो जाता है^१ ।

अथानन्तर सूक्ष्मकृष्टिद्वयके उपशम सम्बन्धी विधि एवं सूक्ष्मसाम्परायके अन्तमें कर्मोंके स्थितिबन्धका निर्देश करते हैं—

किट्ठिट सुहुमादीदो चरिमोत्ति असंखगुणिदसेढीय ।

उवसमदि हु तच्चरिमे अवरट्ठिदिबन्धणं छण्हं ॥२६६॥

अंतोमुहुत्तमेत्तं घादितियाणं जहण्णठिदिबन्धो ।

णामदुग वेयणीये सोलस चउवीस य मुहुत्ता ॥३००॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम समयसे अन्तिम समयतक कृष्टियोंको असंख्यात-गुणी श्रेणिक्रमसे उपशमाता है । अन्तिम समयमें छहकर्मोंका जघन्य स्थितिबन्ध होता है । तीन घातिया कर्मोंका अन्तर्मुहूर्तप्रमाण, नाम व गोत्रका १६ मुहूर्त और वेदनीयका चौबीस मुहूर्तप्रमाण जघन्य स्थितिबन्ध होता है ।

विशेषार्थ—सूक्ष्मसाम्परायिके प्रथम समयसे लेकर सभी कृष्टियोंके प्रदेशपुंज को गुणश्रेणिरूपसे उपशमाता है अर्थात् प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणिरूपसे कृष्टियोंके प्रदेशपुंजको उपशमाता है । सर्वप्रथम समयमें सर्वकृष्टियोंमें पत्योपमके असंख्यातवै-
भागका भाग देनेपर जो एक भाग प्राप्त होता है उतने प्रदेशपुंजको उपशमाता है । पुनः दूसरे समयमें सर्वकृष्टियोंमें पत्यके असंख्यातवैभागका भाग देनेपर जो एक भाग लब्ध आवे उतने प्रदेशपुंजको उपशमाता है, किन्तु परिणामोंके माहात्म्यसे प्रथम समयमें उपशमाए गये प्रदेशपुंजसे असंख्यातगुणो प्रदेशपुंजको दूसरे समयमें उपशमाता है । इसप्रकार सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थानके अन्तिम समय होने तक सर्वत्र गुणश्रेणिके क्रमसे उपशमाता है ।

केवल कृष्टियों को ही असंख्यातगुणित श्रेणिरूपसे नहीं उपशमाता है, किन्तु जो दो समयकम दो आवलिप्रमाण स्पर्धकगत त्वकसमयप्रबद्ध है उन्हें भी असंख्यातगुणित श्रेणिरूपसे उपशमाता है । बादरसाम्परायिके अन्त समयमें स्पर्धकगत उच्छिष्टावलि शेष रह गई थी वह यहांपर कृष्टिरूपसे परिणमकर स्तिवुकसंक्रमके द्वारा विपाकको प्राप्त होती है । अन्तिम समयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिकके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंका जघन्य स्थितिवन्ध होता है जो अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है । नाम व गोत्रका जघन्य स्थितिवन्ध सोलहमुहूर्तप्रमाण है, वेदनीयकर्मका जघन्य स्थितिवन्ध चौबीस मुहूर्तप्रमाण होता है, क्योंकि क्षपकके होनेवाले बारह मुहूर्तप्रमाण अन्तिम स्थिति-
बन्धसे यह दूने प्रमाण को लिये हुए होता है । यहां सभी कर्मोंके प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धकी व्युच्छित्ति हो जाती है । इतनी विशेषता है कि वेदनीय-
कर्मका प्रकृतिबन्ध उपशान्तकषाय गुणस्थानमें भी होता है, क्योंकि प्रकृतिबन्ध योगके निमित्तसे होता है इसलिये सयोगकेवलीके अन्तिम समयतक उक्त बन्ध सम्भव है^१ ।

आगे २ गाथाओं में पूर्वोक्त कथनका उपसंहार करते हैं—

पुरिसादीणुच्छिद्रं समऊणावलिगदं तु पचिचहिदि ।

सोदयपढमट्ठदिणा कोहादीकिट्ठयंताणं ॥३०१॥

अर्थ—पुरुषवेदादिका एकसमयकम आवलिप्रमाण निषेकोंका द्रव्य उच्छिष्टा-
वलिरूप है वह द्रव्य क्रोधादि सूक्ष्मकृष्टि पर्यन्तके उदयरूप निषेकसे लेकर प्रथमस्थिति

सम्बन्धी निषेकोंके साथ तद्रूप परिणमनकर उदयरूप होगा ।

विशेषार्थ—पुरुषवेदके उच्छिष्टमात्र शेष निषेक तो संज्वलनक्रोधकी प्रथम-स्थितिमें तद्रूप परिणमनकर उदय होते हैं । इसीप्रकार संज्वलनक्रोधका संज्वलनमानमें इत्यादि क्रमसे बादरलोभके उच्छिष्टावशिराम्जन्यो निषेक सूक्ष्मकूटिमें तद्रूप परिणमित होकर उदयरूप होते हैं । इसका कथन पूर्वमें किया ही है ।

पुरिसादो लोहगयं एवकं समऊण दोरिण आवलियं ।

उवसमदि हू कोहादीकिट्टिअंतेसु ठाणेषु ॥३०२॥

अर्थ—पुरुषवेदसे लोभपर्यन्तके एक समयकम दो आवलिमात्र नवक समय-प्रबद्धोंका द्रव्य क्रोधादि कूटिपर्यन्तकी प्रथमस्थितिके कालोंमें उपशमता है ।

विशेषार्थ—पुरुषवेदका नवक समयप्रबद्ध संज्वलनक्रोधकी प्रथम स्थितिके कालमें उपशमित होता है इत्यादि कथन पूर्वमें किया ही है ।

इसप्रकार सूक्ष्मसाम्परायके चरमसमयमें सर्वकूटि द्रव्यको उपशान्त करके तदनन्तर समयमें उपशान्तकषाय हो जाता है, इस बात को बताते हैं—

उवसंतपढमसमये उवसंतं सयलमोहणीयं तु ।

मोहस्सुदयाभावा सव्वत्थ समाणपरिणामो ॥३०३॥

अर्थ—उपशान्तकषायके प्रथम समयमें समस्त मोहनीयकर्म उपशमरूप रहता है । मोहनीयकर्मके उदयका अभाव हो जानेसे उपशान्तकषाय गुणस्थानके सम्पूर्ण कालमें समानरूप परिणाम रहते हैं ।

विशेषार्थ—सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थानके कालको व्यतीतकर तदनन्तर समय में मोहनीयकर्मके बन्ध, उदय, संक्रम, उदीरणा, अपकर्षण और उत्कर्षण आदि सभी करणोंका पूर्णरूपेण उपशम रहता है । यहांसे लेकर अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यन्त उपशान्तकषाय वीतरागव्यवस्थ रहता है । जिसकी सभी कषायें उपशान्त हो गई हैं वह उपशान्तकषाय कहलाता है तथा कषाय उपशान्त हो जानेपर वीतराग हो जाता है अतः उपशान्तकषाय वीतराग कहलाता है । समस्त कषायोंके उपशान्त हो जानेसे उपशान्तकषाय और समस्त राग परिणामोंके नष्ट हो जानेसे वीतराग होकर वह अन्तर्मुहूर्तकाल तक अत्यन्त

स्वच्छ परिणामवाला होकर अवस्थित रहता है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्तसे और अधिककाल-तक उपशम पर्यायका अवस्थान असम्भव है^१ ।

समस्त उपशान्तकालमें वह अवस्थित परिणामवाला होता है, क्योंकि परिणामों की हानि-वृद्धि की कारणभूत कषायोंके उदयका अभाव होनेसे अवस्थित यथाख्यात-विहारशुद्धिसंयमसे युक्त सुविशुद्ध वीतरागपरिणामके साथ प्रतिसमय अभिन्नरूपसे उपशान्तकषायवीतरागके कालका पालन करता है^२ ।

अथानन्तर उपशान्तकषाय गुणस्थानका काल कहते हैं—

अंतोमुहुत्तमेतं उवसंतकसायवीयरायञ्चा ।

गुणसेढीदीहत्तं तस्सञ्चा संखभागी दु ॥३०४॥

अर्थ—उपशान्तकषायवीतरागका काल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है और उसके संख्यातवैभागप्रमाण गुणश्रेणि आयाम है ।

विशेषार्थ — उपशान्तकषायका काल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है । इस उपशान्तकषाय-कालके संख्यातवैभागप्रमाण आयामवाला^३ इस जीवके ज्ञानावरणादि कर्मोंका गुणश्रेणि निक्षेप होता है । ऐसा होता हुआ भी अपूर्वकरणके प्रथम समयमें किये गये गलितशेष गुणश्रेणि निक्षेपके इससमय प्राप्त होने वाले शीर्षसे संख्यातगुणा होता है^४ ।

उक्त कथनका विशेष स्पष्टीकरण आगे करते हैं—

उदयादिअवट्ठिदगा गुणसेढी दव्वमवि अवट्ठिदगं ।

पडमगुणसेढिसीसे उदये जेट्ठं पदेसुदयं ॥३०५॥

अर्थ—उपशान्तमोह कालमें उदयादि गुणश्रेणिका आयाम अवस्थित है और द्रव्यनिक्षेप भी अवस्थित है । प्रथम गुणश्रेणि (उपशान्तमोहके प्रथम समयमें की गई गुणश्रेणि) के शीर्षका उदय होनेपर ज्येष्ठ अर्थात् उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है ।

१. यद्यपि यह उपशान्त कषाय जीव अवस्थित परिणामवाला होता है तो भी उपशान्तकषायभावसे अवस्थानका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है, क्योंकि उसके बाद उपशमपर्यायका अवस्थान (टिकाव) असम्भव है । (ज. ध. मूल पृ. १८६२ एवं ध. पु. ६ पृ. ३१७) ज. ध. पु. १३ पृ. ३२५-२७ ।

३. क. पा. सु. पृ. १०५, सूत्र २८८; ज. ध. मूल पृ. १८६६-६७; ध. पु. ६ पृ. ३१६ ।

४. ज. ध. पु. १३ पृ. ३२७ ।

विशेषार्थ—अवस्थित परिणाम होनेसे अनवस्थित आयामरूपसे तथा अनवस्थित प्रदेशपुंजके अपकर्षणरूपसे गुणश्रेणि विन्यास सम्भव नहीं है । इसलिये पूरे उपशान्तकालके भीतर किये जाने वाले गुणश्रेणिनिक्षेपके आयामकी अपेक्षा और अपकर्षित किये जाने वाले प्रदेश पुंजकी अपेक्षा वह (गुणश्रेणि) अवस्थित होती है । अपूर्वकरणके प्रथम समयसे लेकर सूक्ष्मसाम्परायके अन्तिम समयतक मोहनीयके अतिरिक्त शेष कर्मोंका गुणश्रेणिनिक्षेप उदयावलिके बाहर गलितशेष होता है, परन्तु उपशान्तकषायके प्रथम समयसे लेकर उसीके अन्तिम समयतक गुणश्रेणिनिक्षेप उदयसे लेकर अवस्थित आयामवाला और अवस्थित प्रदेशोंकी रचनाको लिये हुए होता है । प्रथम समयमें गुणश्रेणिका जितने आयाम लिये आरम्भ किया उतने प्रमाण सहित ही द्वितीयादि समयोंमें उतना ही आयाम रहता है, क्योंकि उदयावलिका एक समय व्यतीत होने पर उपरितन स्थितिका एक समय गुणश्रेणिमें मिल जाता है । उपशान्तमोहके प्रथम समयमें जितना उदय अपकर्षित करके गुणश्रेणिमें दिया उतना ही प्रतिसमय दिया जाता है, इसलिए अपकर्षितद्रव्यका प्रमाण भी अवस्थित है ।

उपशान्तकषायके प्रथम समयमें निक्षिप्त गुणश्रेणिनिक्षेपकी अवस्थिति, वह प्रथम गुणश्रेणिशीर्ष है । उस प्रथम गुणश्रेणिशीर्षके उदयको प्राप्त होने पर ज्ञानावरणादि कर्मोंका उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है, क्योंकि वहां एक पिण्ड होकर अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण गुणश्रेणि गोपुच्छाओंका उदय होता है । सरल कथन इसप्रकार है—प्रथम समयवर्ती उपशान्तकषायका गुणश्रेणिशीर्ष वहां अविनष्टरूपसे उपलब्ध होता है । द्वितीय समयवर्ती उपशान्तकषायकी भी द्विचरम गुणश्रेणि गोपुच्छा वहां पर है । तृतीय समयवर्ती उपशान्तकषायकी त्रिचरम गुणश्रेणि गोपुच्छा वहांपर उपलब्ध है । इसप्रकार क्रमसे प्रथम समयमें किये गये गुणश्रेणिनिक्षेपके आयाम प्रमाण ही गुणश्रेणि गोपुच्छाएं वहां पर (प्रथमगुणश्रेणि शीर्षमें) पाई जाती हैं । इस कारण दूसरे स्थानको छोड़कर यहीं पर (प्रथम गुणश्रेणिशीर्षके उदयकाल में) उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है । यद्यपि अगले समयसे लेकर उपशान्तकषायके अन्तिम समयतक इतनी ही गुणश्रेणि गोपुच्छाएं प्राप्त होती हैं, किन्तु वहां पर उन स्थिति विशेषोंमें प्रकृति गोपुच्छा की अपेक्षा क्रमसे एक-एक गोपुच्छा-विशेष (चय) की हानि पाई जाती है । इसलिये गोपुच्छा विशेष (चय) के लाभको लक्ष्यकर यथानिर्दिष्टस्थान ही उत्कृष्ट प्रदेशोदयका स्वामित्व कहा गया है । प्रकृति गोपुच्छा-विशेष लाभकी दृष्टिसे यदि यह कहा जावे कि अपूर्वकरणके

प्रथम समयमें किया गया गुणश्रेणीशीर्षके, जो उपशांतकषायके प्रथम गुणश्रेणिशीर्षके भीतर ही नीचे उपलब्ध होता है, के उदयको प्राप्त होनेपर उत्कृष्ट प्रदेशोदयका स्वामित्व होता है, क्योंकि संचयको प्राप्त हुए गोपुच्छाओंके माहात्म्यवश उसके बहुत अधिक प्रदेशोंका संचय होता है । जो ऐसा कहना ठीक नहीं है, सबसे अधिक प्रदेशपुंजकी अपेक्षा इसको ग्रहण करना शक्य नहीं है, क्योंकि इस सम्बन्धी समस्त द्रव्यसे भी असंख्यातगुणा द्रव्य परिणामोंके माहात्म्यवश उपशांतकषायके प्रथम समयमें किये गये गुणश्रेणिशीर्षमें होता है । इसलिये पूर्वोक्त स्थल पर ही (प्रथम गुणश्रेणिशीर्ष उदय होने पर) ज्ञानावरणादि छह कर्मोंका उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है । यह आदेश उत्कृष्ट है, क्योंकि इनका ओघ उत्कृष्ट प्रदेशाग्न क्षपकश्रेणिमें होता है^१ ।

अब ११ वें गुणस्थानमें उदययोग्य सर्व ५६ प्रकृतियोंमें से अवस्थित वेदन और अवस्थित वेदन वाली प्रकृतियों का विभाजन बताते हैं—

णामधुवोदयवारस सुभगति गोदेकक विग्धपण्यं च ।
केवल णिदाजुयलं चेदे परिणामपचया ह्येति ॥३०६॥
तेसि रसवेदमवट्टाणं भवपचया हु सेसाओ ।
चोत्तीसा^२ उवसंते तेसि तिट्ठाण रसवेदं ॥३०७॥

अर्थ—उपशांतकषायमें उदययोग्य जो ५६ प्रकृतियां पाई जाती हैं उनमें तैजस-कामंशरीर २, वर्णादि ४, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, अगुरुलघु, निर्माण नामकर्म की ये बारह प्रकृति और सुभग, आदेय, यशस्कीर्ति, उच्चगोत्र, अन्तरायकी पांच, केवल-ज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, प्रचला ये सर्व २५ प्रकृतियां परिणामप्रत्यय हैं । ये २५ प्रकृतियां परिणाम प्रत्यय हैं इसलिये उपशांतकषायमें उनका रसवेदन अवस्थित है । शेष ३४ प्रकृतियां भवप्रत्यय हैं इसलिए उन शेष ३४ प्रकृतियोंके रसवेदन संबंधी तीनस्थान हैं ।

१ ज. ध. पु. १३ पृ. ३२८-३३० ।

२. ३४ प्रकृतियां इसप्रकार हैं—ज्ञानावरण ४, दर्शनावरण ३, वेदनीय २, मनुष्याद्यु-मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग, आदिके ३ संहनन, ६ संस्थान उपघात, परघात, उच्छ्वास, दो विहायोगति, प्रत्येक, अस, बादर, पर्याप्ति और दो स्वर ।

विशेषार्थ—गाथोक्त २५ प्रकृतियोंके उदय होनेके काल में आत्माके विशुद्ध संक्लेश परिणामों में जैसी हानि वृद्धि होती है वैसी ही हानि वृद्धि इन २५ प्रकृतियोंके अनुभागोदयमें होती है । आत्मपरिणामके अनुसार इन २५ प्रकृतियोंके अनुभागका उत्कर्षण-अपकर्षण होकर उदय होता है इसलिये ये २५ प्रकृतियां परिणामप्रत्यय हैं ।

समग्र उपशान्तकालके भीतर केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरणका अवस्थित अनुभागोदय होता है, क्योंकि उपशान्तकालमें आत्माके परिणाम अवस्थित होते हैं । निद्रा और प्रचला अध्रुवोदयी प्रकृतियां हैं इसलिये इनका कदाचित् उदय नहीं होता । यदि इनका उदय होता है तो जबतक इनका उदय रहता है तबतक अनुभागवेदन अवस्थित होता है, क्योंकि आत्मपरिणाम अवस्थित होते हैं । आत्मपरिणाम अवस्थित होनेके कारण अन्तरायकर्मकी पांचों प्रकृतियोंका अनुभागवेदन भी अवस्थित होता है । यद्यपि इन प्रकृतियोंकी क्षयोपशमलब्धि होनेसे छह वृद्धियों और छह हानियों के द्वारा नीचेके गुणस्थानोंमें उदय सम्भव है तो भी उपशान्तकषाय गुणस्थानमें इन प्रकृतियोंका अनुभाग उदय अवस्थित ही होता है, क्योंकि अवस्थित एक भेदरूप परिणामके होने पर परिणामके आधीन इनके उदयका द्वितीय प्रकार सम्भव नहीं है । मति-श्रुत अवधि-मनःपर्यय ये चार ज्ञानावरण, चक्षु-अचक्षु अवधि ये तीन दर्शनावरण, इन लब्धि कर्मांशों का अनुभागोदय अवस्थित ही होता है; यह नियम नहीं है, किन्तु उनके अनुभागोदयकी वृद्धि-हानि-अवस्थान ये तीन स्थान होते हैं । जिन प्रकृतियोंका क्षयोपशमरूप परिणाम होता है वे लब्धिकर्मांश होती हैं, क्योंकि क्षयोपशमलब्धि होकर कर्मांशोंकी लब्धिकर्मांश संज्ञा सिद्ध हो जाती है ।

यद्यपि ज्ञानावरण-दर्शनावरणकी उक्त सात प्रकृतियां परिणाम प्रत्यय हैं तथापि उनकी छह प्रकारकी वृद्धि, छह प्रकारकी हानि और अवस्थान उपशान्तकषायमें सम्भव है ऐसा उपदेश पाया जाता है । उपशान्तकषायमें यदि अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम नहीं है तो अवस्थित अनुभागोदय होता है, क्योंकि अवस्थितपनेका कारण नहीं पाया जाता । यदि क्षयोपशम है तो छहवृद्धियों, छह हानियों और अवस्थितक्रमसे अनुभागका उदय होता है, क्योंकि देशावधि और परमावधिज्ञानी जीवोंमें असंख्यातलोक-प्रमाण भेदरूप अवधिज्ञानावरण सम्बन्धी क्षयोपशमके अवस्थित परिणाम होने पर भी वृद्धि, हानि और अवस्थानके बाह्य और अभ्यन्तर कारणोंकी अपेक्षा तीन स्थानोंके होनेमें विरोधका अभाव है । इस कारण सबसे उत्कृष्ट क्षयोपशमसे परिणत हुए उत्कृष्ट

अवधिज्ञानी जीवमें अवधिज्ञानावरणका अनुभागोदय अवस्थित होता है । उससे अन्यत्र अवधिज्ञानावरणका रसोदय छहवृद्धियों, छह हानियों और अवस्थानरूपसे अनवस्थित होता है । इसीप्रकार मनःपर्ययज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरणकी अपेक्षा भी कथन करना चाहिए । शेष ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी अपेक्षा भी आगमानुसार कथन करना चाहिए ।

जो नामकर्म और गोत्रकर्म परिणाम प्रत्यय होते हैं उनका अनुभागोदयकी अपेक्षा अवस्थितवेदक होता है । वेदी जाने वाली नामकर्मकी प्रकृतियोंको ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि नहीं वेदी जाने वाली नामकर्मकी प्रकृतियोंका अधिकार नहीं है । मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, छहसंस्थानोंमें से कोई एक संस्थान, औदारिकशरीराङ्गोपाङ्ग, तीन संहणनमें से कोई एक संहणन, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, दो विहायोगतियोंमें से कोई एक, अस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर-दुःस्वरमें से कोई एक, आदेय, यशःकीर्ति, सुभग, निर्माण ये नामकर्मकी वेदी जानेवाली प्रकृतियां हैं । इनमें से तैजसशरीर, कार्मणशरीर, वर्ण, गंध, रस, शीत-उष्ण-स्निग्ध-रुक्ष स्पर्श, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और निर्माण नामकर्म परिणामप्रत्यय हैं । गोत्रकर्ममें उच्चगोत्र परिणामप्रत्यय है । इसप्रकार परिणामप्रत्यय नाम व गोत्रकर्मकी उक्त प्रकृतियोंकी अनुभागोदयकी अपेक्षा अवस्थित वेदना होती है, क्योंकि अवस्थित परिणामविषयक होने पर दूसरा प्रकार सम्भव नहीं है, परन्तु यहां वेदी जानेवाली भवप्रत्यय शेष सातावेदनीय आदि अधाति प्रकृतियोंकी छह वृद्धि और छह हानिके क्रमसे अनुभागको यह वेदता है^१ ।

इसप्रकार उपशान्तकषाय गुणस्थानके अन्तिमसमयपर्यन्त चारित्रमोहकी इवकीस प्रकृतियोंका उपशम विधान सम्पूर्ण हुआ ।

- लब्धिसार शुद्धिपत्र -

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	६	अधःप्रवृत्तकरणा	अधःप्रवृत्तकरणा	८४	२०	निष्ठापक	निष्ठापक
७	१४	हता	होता	६५	२०	सलिये	इसलिये
१०	१४	चौतिस	चौतीस	६७	१२	सांशयिक	सांशयिक
१०	२२	रागगोधवज्जलारा ए	रागगोधवज्जलाराए	६७	१६	"	"
१०	२३	चउतीसा	चौतीसा	६६	६	प्राप्त हो जो	प्राप्त होकर हो
१२	२५	असंप्राप्ता-	असंप्राप्त-	१०३	१	बन्ध भजनीय	बन्ध के भजनीय
१४	११	चोदस	चोदस	१०३	११	यह विशेष	यहां विशेष
१५	५	वज्जर्षभ	वज्जर्षभ	१०३	१६	अनन्तरकाल	अन्तरकाल
१५	१२-१३	असंप्राप्ता	असंप्राप्त	१०३	२०	प्रारम्भ	चालू
१५	१४	बंधति	बंधति	१०४	८	है । यह	है, यह
१८	२७	ज.घ.पु.पृ. १११	ज.घ.पु. १२ पृ. २११	१०८	४	स्थितिघता	स्थितिवात
२४	६	उद बतलाया	उदय बतलाया	१०८	१८	अनिवृत्तिकरण वाला	अनिवृत्तिकरण परिणाम वाला
२४	२१	अजहणमणुक्कस्सप्पदे	अजहणमणुक्कस्स-	११३	२०	आयु कम का	आयु कम का
			प्पदे	११५	१२	कर्मों की	कर्मों के
२८	१३	अपुव्वमणियट्ठियं ॥	अपुव्वमणियट्ठि ॥	११५	१८	स्थितिकर्म	स्थिति सत्कर्म
२८	१७	गुरुपदेश	गुरुपदेश	११५	२३	पल्योप प्रमाण	पल्योपम प्रमाण
३३	१६	उर्वीक	उर्वीक	११६	७	है, स	है, उस
३४	१०	आकर्षमनुकुष्टिः	अनुकर्षमनुकुष्टि	११८	१७	गुणसेदि	गुणसेदि
३६	८	खण्डका	खण्ड का	११६	६	अवस्थिति	अवस्थित
४१	१३	प्रतिभाव है	प्रतिभाग है ।	१२६	१४	गुणसेदिसंखभाग	गुणसेदिसंखभागा
४१	१७	प्रक्षपणा	प्रक्षपणा	१२७	१	अक्त	उक्त
४२	१०	अन्तरोपनिषा का	अन्तरोपनिषा का	१३०	७	उदयाद	उदयादि
४३	२	निरूपणा	निरूपित	१३४	३	उदयबहि	उदयबहि
४८	२४	बद्धद्रव्यावलि	बद्ध द्रव्य आवली	१३७	३	खबदे	खविदे
५६	१३	एक भाव को	एक भाग को	१४०	५	पश्चादनुपूर्वी	पश्चादानुपूर्वी
५६	१५	अध्वान	अध्वान	१४५	७	तथा	प्रमाण तथा
५६	१७	निषेकभागाहार	निषेकभागहार	१५०	२६	उससे अपूर्वकरण के	उससे संख्यातगुणा
६०	१	चयहान	चयहीन			प्रथम	अपूर्व करण के प्रथम
६०	४	भागाहार	भागहार	१५२	६	२. प्रतिपाद्यमान	२ प्रतिपद्यमान
६०	६	"	"	१५२	२४	असंख्यातगुण वृद्धि	असंख्यात गुणवृद्धि
६४	२	स्थितिकर्म	स्थितिसत्कर्म			जाकर	काण्डक जाकर
७५	५	प्रमाणवाला	प्रमाण वाला				

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६०	२१	(मनुष्य)	(मनुष्य) के	२६१	५	स्थितिवन्ध दो	स्थितिवन्ध से
१६३	११	तज्जेदठ	तज्जेदठ			गुणा	दो गुणा
१७१	१८	पूर्वक होने वाला	पूर्वक होनेवाला	२६३	७	अन्तमुहूर्त कम	अन्तमुहूर्त कम
		द्वितीयोपशमसम्पत्त्व	उपशमसम्पत्त्व,	२६३	१२	आदरग	आदरग
			द्वितीयोपशम सम्पत्त्व	२६३	२४	ठिदिबंधा	ठिदिबंधो
१७१	२५	घ. पु. १.....।	घ पु. १ पृ. ३६६ ।	२६४	११	बादरकसायरां	बादरकसायारां
१७३	११	अनुकीर्यमाण	अनुस्कीर्यमाण	२६६	२३	वर्तन हो हाने से	वर्तन हो जाने से
१७८	२७	दोण्हं पि उवसेदि	दोण्हं पि उवसमसेदि	२६६	२४	पांचप्रकृति बन्ध का	पांचप्रकृतिक बन्ध
		समारोहरो	समारोहरो				का
१८१	१६	मारवई	मारभई ।	२६६	६	गलिहावजेष	गलितावशेष
१८८	३	नीदेसु	तीदेसु	२७३	१८	पश्चादानुपूर्वी	पश्चादानुपूर्वी
१९७	८	अणुपुब्बीसंकमरां	आणुपुब्बी संकमरां	२७४	७	स्थितिवन्ध से असंख्यात गुणा	X
२०४	१७	संदुब समदेतत्तो	संदुबसमदे तत्तो	२७५	१२	धान—श्रेणी से	समाधान—श्रेणी से
२११	८	तत्कालठिदिबंधो	तत्कालठिदिबंधो	२७५	१३	प्रथवा	और
२१८	२१	स्तुयिक	स्तितुिक	२७६	२५	उक्कस्स	उक्कस्स
२२२	२८	—(गच्छ-१) १२]	—(गच्छ-१)]	२७७	६	विशेष अधिक प्रमाण	विशेष अधिक
			२				का प्रमाण
२२४	१३	प्रतिभा के	प्रतिभाग के	२७७	१३	तत्रतक पूर्ण	तब तक पूर्व
२२५	१४	३२ अर्थात् दो चय, १६ अर्थात् एक चय		२७७	२३	तदो एवं विहट्ठिदिबंध	तदो एवंविहट्ठि
२२५	१५	४८ अर्थात् तीन चय ३२ अर्थात् दो चय				परावत्ताणण	दिबंधपरावत्ताणणि
२२७	१४	चाहिये ।	चाहिये । [देखो चित्र	२७७	२४-२५	पलितो असख-भागिजो	पलितो० असखे०
			२२६ पृष्ठ पर]				भागिजो
२२८	१	एक चय को	एक चय को “आदि”	२७८	१०	माहात्म्य से	माहात्म्य से
		स्थापित कर	स्थापित कर	२७९	५	असंख्यातवें भाग	संख्यातवें भाग
२४०	७	वेदे	वेदी			प्रमाण-स्थिति	प्रमाण-स्थिति
२४५	२७	यथानिदिष्ट स्थान ही	यथानिदिष्ट स्थान	२८१	२२	के चरम समय में	उतरने पर
			पर ही	२८४	१	गुणश्रेणि के विशेष	गुण श्रेणि के
२४६	१८	यशस्कीर्ति	यशःकीर्ति				विषय में विशेष
२५४	७	द्रव्य का	द्रव्य को	२८३	२२	श्रेण्यारोह	श्रेण्यारोहण
२५७	१५	लीये	लिये	२८४	७	प्रथम समय करता	प्रथम समय
२५७	१६	विशुद्ध	विशुद्धि	२८७	२२	काण्डोत्कीरणकाल	काण्डकोत्कीरणकाल
२५६	५	अधस्तन कुण्टि न	अधस्तन कुण्टि का	२८८	१५	प्रथमस्थितिवन्ध	प्रथमस्थितिवन्धकाल
२५६	२६	सब्वासिमेगसमण्णव	सब्वासिमेगसमण्णव	२८८	१५		
२६०	१	स्तुयिक	स्तितुिक	२८९	१०	संख्यातगुण	संख्यातगुणे
२६०	२६	लोमं परिव्यज्य	लोमं परित्यज्य	२८९	१३	अधिक या वह	अधिक था वह

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३००	१	विशेष अधिक	विशेष अधिक है ।	३१३	३-४	चढ़ने वाले के आदर	चढ़ने वाले अति-
३००	१४	विभाग है	विभाग हैं			लोम के	वृत्तिकरण जीव के
३०४	६-७	सासादनगुणस्थानके संख्यातगुणे अवस्तन	काल से संख्यातगुणे कालरूप सासादन	३१३	५	के अन्तिम स्थितिबन्ध	के अन्तिम समय
		नीचे के	गुणस्थानके				में स्थितिबन्ध
३०४	७	इस कारण	क्योंकि	३१३	१५	होता है । उससे	होता है, वह संख्यात
३०६	१०	उपशमनकाल के	उपशान्त कालके				गुण है । उससे
३१२	५	पत्यक	पत्य के	३१५	२	होता है	होते हैं ।



—: लक्षणावलि :—

लब्धिसार

शब्द ग्रन्थ में जहाँ
आया वह पृष्ठ

परिभाषा

अकरणोपशामना २४६

अकरणोपशामना से भिन्न लक्षणवाली अकरणोपशामना होती है। अर्थात् प्रशस्त-समायत्ता परिणामों के बिना ही अप्राप्त काल वाले कर्म प्रदेशों का उदयरूप परिणाम के बिना अवस्थित करने को अकरणोपशामना कहते हैं। इसी का दूसरा नाम अनुदीर्णोपशामना है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आश्रय लेकर कर्मों के होने वाले विपाक-परिणाम को उदय कहते हैं। इस प्रकार के उदय से परिणत कर्म को "उदीर्ण" कहते हैं। इस उदीर्ण दशा से भिन्न अर्थात् उदयावस्था को नहीं प्राप्त हुए कर्म को अनुदीर्ण कहते हैं। इस प्रकार के अनुदीर्ण कर्म की उपशामना को अनुदीर्णोपशामना कहते हैं। इस अनुदीर्णोपशामना में करण परिणामों की अपेक्षा नहीं होती है, इसलिये इसे अकरणोपशामना भी कहते हैं।

इस अकरणोपशामना का विस्तृत वर्णन कर्मप्रवाद नामक आठवें पूर्व में किया गया है।

क० पा० सु० ७०४

अगुरुलघुचतुष्क १८
अग्रस्थिति ५०
अतिस्थापना ५५

अर्थात् अगुरुलघु, उपधात, परधात और उच्छ्वास ।

सत्त्वस्थ कर्म की अन्तिम स्थिति का द्रव्य अग्रस्थिति कहलाता है।

कर्म परमाणुओं उत्कर्षण-अपकर्षण होते समय उनका अपने से ऊपरकी या नीचेकी जितनी स्थितिमें निक्षेप नहीं होता वह अतिस्थापनारूप स्थिति कहलाती है। अर्थात् कर्म परमाणुओंका उत्कर्षण होते समय तो उनका अपने से ऊपर की जितनी स्थिति में निक्षेप नहीं होता वह अतिस्थापना रूप स्थिति है। ज० घ० ७/२५० इसी तरह जिन स्थितियों में अपकर्षित द्रव्य दिया जाता है उनकी निक्षेप संज्ञा है तथा निक्षेपरूप स्थितियों के ऊपर तथा जिस स्थिति के द्रव्य का अपकर्षण होता है उससे नीचे, जिन स्थितियों में अपकर्षित द्रव्य नहीं दिया जाता उनकी अतिस्थापना संज्ञा है।

शब्द

पृष्ठ

परिभाषा

उत्कर्षण में—अव्याघात दशा में जघन्य अतिस्थापना एक आवली प्रमाण और अतिस्थापना उत्कृष्ट आवाधा प्रमाण होती है। किन्तु व्याघात दशा में जघन्य अतिस्थापना आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण और उत्कृष्ट अतिस्थापना एक समय कम एक आवली प्रमाण होती है।

ज० ध० ७/२५०

अपकर्षण में—एक समय कम आवली; उसके दो त्रिभाग प्रमाण जघन्य अतिस्थापना होती है तथा उत्कृष्ट अतिस्थापना एक आवली प्रमाण होती है। यह अव्याघात विषयक कथन है।

ल० सा० मा० ५६-५८

व्याघात की अपेक्षा अतिस्थापना उत्कृष्ट समयाधिक अन्तः कोटाकोटिसागर सागर से हीन उत्कृष्ट कर्मस्थिति प्रमाण होती है।

ल० सा० मा० ५६-६० ज० ध० ८/२५०

अधःप्रवृत्तकरण

२६

प्रथम करण में विद्यमान जीव के करणों [परिणामों] में, उपरितन समय के परिणाम पूर्व समय के परिणामों के समान प्रवृत्त होते हैं वह अधःप्रवृत्तकरण है। इस करण में उपरितन समय के परिणाम नीचे के समयों में भी पाये जाते हैं, क्योंकि उपरितनसमयवर्ती परिणाम अधः अर्थात् अधस्तनसमय के परिणामों में समानता को प्राप्त होते हैं, अतः “अधः प्रवृत्त” यह संज्ञा सार्थक है।

खबल ६/२१७

जिसका कहीं पर भी अवस्थान—ठहरना न हो उसे अनवस्था कहते हैं। यह एक दोष है।

अष्टमहल्ली पृ० ४४४ [आ० ज्ञानमतीजी]

कहा भी है—मूलक्षतिकरीमाहुरनवस्थां हि दूषणम्।

वस्त्वमन्त्येज्यशक्तौ च तानवस्था विचार्यते ॥१॥

अर्थात् जो मूल तत्त्व का ही नाम करती है वह अनवस्था कहलाती है; किन्तु जहां वस्तु के अनन्तपने के कारण या बुद्धि की असमर्थता के कारण जानना न हो सके वहां अनवस्था नहीं मानी जाती है। मतलब जहां पर सिद्ध करने योग्य वस्तु या धर्म को सिद्ध नहीं कर सके और आगे-आगे अपेक्षा तथा प्रश्न या आकांक्षा बढ़ती ही जाय, कहीं पर ठहरना नहीं होवे, यह अनवस्था नामक दोष कहा जाता है। प्र० क० भार्तेण्ड पृ० ६४८-४९ [अनु० आ० जिनमतीजी] एवं षड् ६० स० ५७/३७१/३६२; प्र० र० माला पृ० १७१

शब्द

पृष्ठ

परिभाषा

वस्तु अनन्तता के कारण यदि अनवस्था है तो उसका वारण नहीं किया जा सकता, वह तो भूषण है। पद्मदर्शनसमुच्चय का० ५७ प्रकरण ३७१ पृष्ठ ३६२ [सं० डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य]

कहा भी है—अप्रमाणिकानन्तपदार्थपरिकल्पनया विद्यान्त्यभावोऽनवस्था।

यानी अप्रामाणिक अनन्त पदार्थों की कल्पना करते हुए जो विश्रान्ति का अभाव होता है, इसका नाम अनवस्थादोष है। प्र० २० माता पृ० २७७ टि० १०। अभिधान रा० कोश० १/३०२

जैसे—पुत्र पिता के आधीन है, पिता अपने पिता के अधीन है, वह अपने पिता के आधीन है। इसीप्रकार सत् और परिणाम को पराधीन मानने पर अनवस्था दोष आता है क्योंकि पराधीनता रूपी शृंखला का कभी अन्त नहीं आवेगा।

पं० ध० पू० ३८१-८२

यानी दो में से कोई एक वर्म, पर के आश्रय है, तो जिस पर के आश्रय है वह भी सब तरह से अपने से पर के आश्रय होने से, अन्य पर के आश्रय की अपेक्षा करेगा और वह भी पर अन्य के आश्रय की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर अन्य-अन्य आश्रयों की कल्पना की सम्भावना से अनवस्था प्रसंग रूप दोष आता है।

अनिवृत्तिकरण ३१, ६८१,
४३, ६६ क्षप. २४

जिस कारण में विद्यमान जीवों के एक समय में परिणाम भेद नहीं है वह अनिवृत्ति-करण है। ज० ध० १२/२३४ अनिवृत्तिकरण में एक-एक समय में एक-एक ही परिणाम होता है, क्योंकि यहां एक समय में जघन्य व उत्कृष्ट भेद का अभाव है। एक समय में वर्तमान जीवों के परिणामों की अपेक्षा निवृत्ति या विभिन्नता जहां नहीं होती वे परिणाम अनिवृत्तिकरण कहलाते हैं। ध०पु० ६ पृ० २२१-२२२ सारतः अनिवृत्तिकरण में प्रत्येक समय में नाना जीवों के एक सा ही परिणाम होता है। नाना जीवों के परिणामों में निवृत्ति [अर्थात् परस्पर भेद] जिसमें नहीं है वह अनिवृत्तिकरण है। धवल १/१५३; क० पा० सु० पृ० ६२४; ज० ध० १२/२५६

अनुकृष्टि

३४

अधः प्रवृत्तिकरण के प्रथमसमय से लेकर चरम समयपर्यन्त पृथक्-पृथक् एक एक समय में छह वृद्धियों के क्रम से अवस्थित और स्थितिबन्धापसरणादि के कारण-भूत असंख्यातलोक प्रमाण परिणामस्थान होते हैं। परिपाटी क्रम से विरचित इन परिणामों के पुनरुक्त और अपुनरुक्त भाव का अनुसन्धान करना अनुकृष्टि है।

शब्द

पृष्ठ

परिभाषा

“अनुकर्षणमनुकृष्टिः” अर्थात् उन परिणामों की परस्पर समानता का विचार करना, यह अनुकृष्टि का अर्थ है।

अनुदीर्ण २४६

देखो अकरणापशामना की परिभाषा में।

अनुदीर्णोपशामना २४६

अकरणापशामना का दूसरा नाम ही अनुदीर्णोपशामना है।

अनुभागकाण्डक- ४४; क्ष.सा.
घात ४, १०

पारद्वपदमसमयादौ अंतोमुहुत्तेण कालेण जो घादो रिप्पज्जदि सो अनुभागखंडय
घादोणाम ।
धवल १२/३२

अर्थ—प्रारम्भ किये गये प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा जो घात निष्पन्न होता है वह अनुभाग काण्डकघात है। काण्डक घोर की कहते हैं। कुल अनुभाग के हिस्से करके एक-एक हिस्से का कालि क्रम से अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा अभाव करना अनुभाग काण्डकघात कहलाता है।

[ध० १२/३२ विशेष०]

विशुद्धि में अप्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग का अनन्त बहुभाग अनुभागकाण्डक घात द्वारा घात की प्राप्ति होता है। करण परिणामों के द्वारा अनन्त बहुभाग अनुभाग घाते जाने वाले अनुभागकाण्डक के शेष विकल्पों का होना असम्भव है। एक एक अन्तर्मुहूर्त में एक एक अनुभागकाण्डक होता है। एक एक अनुभागकाण्डकोत्कीरण काल के प्रत्येक समय में एक-एक कालि का पतन होता है।

कर्म के अनुभाग में स्पर्धक रचना होती है। प्रथमादि स्पर्धक में अल्प अनुभाग होता है तथा आगे-आगे अधिक। वहाँ समस्त स्पर्धकों को अनन्त का भाग देने पर बहुभाग मात्र ऊपर के स्पर्धकों के परमाणुओं की एक भाग मात्र नीचे के स्पर्धकों में परिणामाते हैं। वहाँ कुछ परमाणु पहले समय में परिणत कराये जाते हैं, कुछ दूसरे समय में, कुछ तीसरे में; ऐसे अन्तर्मुहूर्त काल में समस्त परमाणुओं को परिणत करके ऊपर के स्पर्धकों का अभाव किया जाता है। वहाँ प्रत्येक समय में जो जो परमाणु नीचे के स्पर्धकरूप परिणामाये उनका नाम कालि है। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्त में जो कार्य किया, उसका नाम काण्डक है। इस अनुभागकाण्डक द्वारा जिन स्पर्धकों का अभाव किया वह अनुभाग काण्डकायाम है। एक एक स्थिति-काण्डकघात के अन्तर्मुहूर्त काल के संख्यातहजारवें भाग प्रमाण अन्तर्मुहूर्त काल में ही एक अनुभागकाण्डकघात हो जाता है।

ल० सा० ७६, ८०, ८१

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
अन्तरकरण	६६	विवक्षित कर्मों की अद्यस्तन और उपरिम स्थितियों को छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितियों के निषेधों का परिणामविशेष से अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं। क० पा० सु० पृ० ६२६; क० पा० सु० पृ० ७५२ टिप्पण १
अपूर्वकरण	३०	जिस करण में प्रतिसमय अपूर्व अर्थात् असमान व नियम से अनन्तगुणरूप से वृद्धि-गत परिणाम होते हैं वह अपूर्वकरण है। इस करण में होने वाले परिणाम प्रत्येक समय में असंख्यात लोकप्रमाण होकर भी अग्न्य समय में स्थित परिणामों के सदृश नहीं होते; यह उक्त कथन का भावार्थ है। ज० घ० १२/२३४
अप्रतिपात- अप्रतिपद्यमान स्थान	१५३, १६०, १६३	इन्हें अनुभय स्थान भी कहते हैं। स्वस्थान में अवस्थान के योग्य और उपरिम गुणस्थान के अभिमुख हुए जीव के स्थान ये सब लब्धिस्थान अप्रतिपात-अप्रति-पद्यमान स्वरूप अनुभय स्थान हैं। अर्थात् संयमासंयम से गिरने के अन्तिम समय में होने वाले स्थानों को प्रतिपात स्थान कहते हैं। संयमासंयम की धारण करने के प्रथम समय में होने वाले स्थानों को प्रतिपद्यमान स्थान कहते हैं। इन दोनों स्थानों को छोड़कर मध्यवर्ती समयों में सम्भव समस्त स्थानों को अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान या अनुभय स्थान कहते हैं। घ० ६/२७७ ज० घ० १३/१४८ संयम की अपेक्षा भी ऐसे ही लगाना चाहिये। ल० सा० १६८
अप्रशस्तोपशामना		कितने ही कर्म परमाणुओं का बहिरंग-अन्तरंग कारणवश उदीरणा द्वारा उदय में अनागमनरूप प्रतिज्ञा को अप्रशस्तोपशामना कहते हैं। यवज १५/२७६ अप्रशस्त उपशामना के द्वारा जो प्रदेशाय उपशान्त होता है वह अपकर्षण के लिये भी शक्य है, उत्कर्षण के लिये भी शक्य है तथा अन्य प्रकृति में संक्रमण कराने के लिये भी शक्य है। वह केवल उदयावलि में प्रविष्ट कराने के लिये शक्य नहीं है। जय यवज १३/२३१
आगाल- प्रत्यागाल	७२, ७३, २०८ अप० ६०	इसे देशकरणोपशामना भी कहते हैं। क० पा० सु० पृ० ७०८ द्वितीयस्थिति के द्रव्य का अपकर्षण करके उसके प्रथम स्थिति में निक्षेपण करने को आगाल कहते हैं। जय घ० अ० प० ६५४ प्रथम स्थिति के प्रदेशों को उत्कर्षणवश द्वितीय स्थिति में ले जाने को प्रत्यागाल कहते हैं। ज० घ० अ० प० ६५४ प्रथम और द्वितीयस्थिति के कर्म परमाणुओं का उत्कर्षण-अपकर्षणवश परस्पर विषय संक्रम का नाम आगाल-प्रत्यागाल है।

शब्द

पृष्ठ

परिभाषा

आनुपूर्वी संक्रम २७२, १६७

अन्तरकरण [नवम गुणस्थान में] कर चुकने के प्रथम समय में मोहनीय कर्म सम्बन्धी सात करण प्रारम्भ होते हैं। उसमें से यह प्रथम करण है। यथा-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद के प्रदेश पुंज पुरुषवेद में संक्रान्त होते हैं। पुरुषवेद छः लोकषाय तथा प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान कषाय सं० क्रोध में ही संक्रान्त होते हैं। इसी तरह संज्वलन क्रोध तथा दोनों प्रकार के मान मान संज्वलन में ही; मान संज्वलन तथा दोनों प्रकार की माया संज्वलन माया में ही तथा माया संज्वलन और दोनों लोभ लोभ संज्वलन में ही संक्रान्त होते हैं; यह आनुपूर्वी संक्रम है। [आनुपूर्वी संक्रम यानी एक नियत क्रम में संक्रम]

आयुक्तकरण

१६६

क्षप० ४७

आयुक्त करण, उद्यत करण और प्रारम्भ करण ये तीनों एकार्यक हैं। तात्पर्यरूप से यहां से लेकर नपुंसकवेद की उपशमाला है, यह इसका अर्थ है। ज० ध० १३/२७२ कहा भी है—नपुंसक वेद का “आयुक्तकरण संक्रामक” ऐसा कहने पर नपुंसक वेद की क्षपणा [या उपशामना] के लिये उद्यत होकर प्रवृत्त होता है यह कहा गया है। जयध्वला मूल पृ०..... “ताघे चेव एवमुसयवेदस्स आयु-सकरणसंकामसो” की जयध्वला।

आरोहकअवरोहक

२५७

उपशम श्रेणी चढ़ने वाले को आरोहक तथा उतरने वाले को अवरोहक कहते हैं। धवल ६/३१८-१६

उत्कर्षण

५०

विवक्षित प्रावतन सत्कर्म से उसी कर्म का नवीन स्थितिबन्ध अधिक होने पर बन्ध के समय उसके निमित्त से सत्कर्म की स्थिति को बढ़ाना उत्कर्षण कहलाता है। कहा भी है—‘कम्मप्पदेसदिठदिबट्ठावरणमुक्कड्डुणा’ अर्थात् कर्म प्रदेशों की स्थिति को बढ़ाना उत्कर्षण है। [धवल १०/५२] अन्यत्र भी कहा है “स्थिरयनुभागयोवृद्धिः उत्कर्षणम्” अर्थात् स्थिति व अनुभाग में वृद्धि का होना उत्कर्षण कहलाता है। [गो० क० गा० ४३८ की टीका]

उत्पादानुच्छेद

२०८

तथा क्ष० सा०

२३, ६१

उत्पादानुच्छेद द्रव्याधिकतय को कहते हैं। यह संत्वावस्था में ही विनाश को स्वीकार करता है। उदाहरणार्थ—सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान में अन्तिम समय तक सूक्ष्म लोभ का उदय है। वहां पर उसकी उदयव्युच्छित्ति बतलाई जाती है; सो यह कथन उत्पादानुच्छेद की अपेक्षा से जानना चाहिये। जय धवल ७/३०१-३०२; गो० क० गा० ६४ की बड़ी टीका (तत्र उत्पादानुच्छेदो नाम द्रव्या-

१. यानी क्षपणा व उपशामना; दोनों के ही अन्दर आयुक्तकरण शब्द प्रारम्भ-करण अर्थ में प्रयुक्त होता है।

शब्द

पृष्ठ

परिभाषा

धिकः); धवल १२/४५७-५८ कहा भी है—विनाशसमिपे दोगिरा गथा होंति
उत्पादानुच्छेदो अणुत्पादानुच्छेदो चेदि । वानी विनाश के विषय में दो नय हैं—
उत्पादानुच्छेद और अनुत्पादानुच्छेद । उत्पादानुच्छेद का अर्थ द्रव्याधिकनय है ।
अनुत्पादानुच्छेद का अर्थ पर्यायाधिकनय है । उत्पादानुच्छेद सद्भाव की अवस्था में
ही विनाश को स्वीकार करता है । तथा अनुत्पादानुच्छेद असत् अवस्था में अभाव
संज्ञा को स्वीकार करता है । धवल १२/४५७-४५८

उदयादि अवस्थित १२०
गुणश्रेणी आयाम २४५
तथा २८३
उदयादि गलितावशेष १२०
गुणश्रेणी आयाम २८३

परिणामों की विपुद्धि की वृद्धि से अपवर्तनाकरण के द्वारा उपरितन स्थिति से
हीन करके अन्तर्मुहूर्त काल तक प्रतिसमय उत्तरोत्तर असंख्यातगुणित वृद्धि के क्रमसे
कर्म प्रदेशों की निर्जरा के लिये जो रचना होती है उसे गुण श्रेणी कहते हैं । जैन
लक्षणावली २/४१३-४१४

जितने निषेकों में असंख्यात गुणश्रेणीरूप से प्रदेशों का निक्षेपण होता है वह
गुणश्रेणी आयाम कहलाता है । यह गुणश्रेणी आयाम भी दो प्रकार का होता
है । १ गलितावशेष २ अवस्थित (देखो चित्र पृ० २८३ ल० सा०) गलितावशेष
गुणश्रेणी—गुणश्रेणी प्रारम्भ करने के प्रथम समय में जो गुणश्रेणी आयाम का
प्रमाण था उसमें एक-एक समय के बीतने पर उसके द्वितीयादि समयों में गुण-
श्रेणी-आयाम क्रम से एक एक निषेक प्रमाण घटता हुआ अवशेष रहता है,
इसलिये उसे गलितावशेष गुणश्रेणी आयाम कहते हैं । उदय समय से लगाकर
गुणश्रेणी होने पर उदयादि गलितावशेष गुणश्रेणी कहलाती है तथा उदयावली
से बाहर गुणितक्रम से प्रदेश विन्यास हो तो उदयावलि बाह्य गलितावशेष गुण-
श्रेणी कहलाती है ।

अवस्थित गुणश्रेणी—प्रथम समय में गुणश्रेणी का जितने आयाम लिये प्रारम्भ
किया उतने प्रमाण सहित ही द्वितीयादि समयों में उतना ही आयाम रहता है,
क्योंकि उदयावलि का एक समय व्यतीत होने पर उपरितन स्थिति का एक समय
गुणश्रेणी में मिल जाता है । (पृ० १२०)

अतः नीचे का एक समय व्यतीत होने पर उपरितन स्थिति का एक समय गुणश्रेणी
में मिल जाने से गुणश्रेणी आयाम जितना था उतना ही रहता है, ऐसा गुण-
श्रेणी आयाम अवस्थित स्वरूप होने से अवस्थित गुणश्रेणी आयाम कहलाता है ।
यह अवस्थित गुणश्रेणी आयाम भी गलितावशेषवत् दो प्रकार का होता है—
उदयादि अवस्थित गुणश्रेणी आयाम तथा उदयावलि बाह्य अवस्थित गुणश्रेणी

आयाम । जहाँ उदयावलि के ऊपर प्रथम निषेक से अवस्थित गुणश्रेणी रचना हो तो वह उदयावलि बाह्य अवस्थित गुणश्रेणी आयाम कहलाता है तथा वही उदय रूप वर्तमान समय से ही गुण श्रेणी आयाम प्रारम्भ हो जावे तो वह गुणश्रेणी आयाम, उदयादि कहा जाता है ।

जैसे सम्यक्त्व की ८ वर्ष स्थिति सत्कर्म से पूर्व उदयावलि बाह्य गणितावशेष गुण-श्रेणी थी, किन्तु ८ वर्ष स्थिति सत्कर्म से लगाकर ऊपर सर्वत्र उदयादि अवस्थित गुणश्रेणी आयाम है । (पृ० ११६-१२०)

ऐसे ही उतरने वाला मायावेदक जीव उदयरहित लोभत्रय का द्वितीयस्थिति से अपकर्षण करके उदयावलि बाह्य अवस्थित गुण श्रेणी करता है । (ल० सा० ३१७) सम्यक्त्व प्रकृति के अन्तिम काण्डक की प्रथम फालि के पतन समय से लेकर द्विचरम फालि के पतन समय पर्यन्त उदयादि गणितावशेष गुण श्रेणी आयाम रहता है । ल० सा० गा० १४३ पृ० १३० इसप्रकार चारों प्रकारों की गुण-श्रेणियों के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं । अन्यत्र भी गुणश्रेणी-विन्यास यथा आयाम जानना चाहिए । विशेष इतना कि आयु कर्म का गुणश्रेणी निक्षेप नहीं होता । शेष सब कर्मों का होता है ।

उदीर्ण २४९
उपयोग ३

(देखो करणोपशामना में)

जिसके द्वारा उपयुक्त होता है उसका नाम उपयोग है । अर्थ के ग्रहणरूप आत्म-परिणाम को भी उपयोग कहते हैं । उपयोग के साकार और अनाकार के भेद से दो प्रकार हैं । इनमें से साकार तो ज्ञानोपयोग और अनाकार दर्शनोपयोग है ।

उपशम-उपशामक ७१
(दर्शनमोह की अपेक्षा)

करण परिणामों के द्वारा निःशक्त किये गये दर्शनमोहनीय के उदयरूप पर्याय के बिना अवस्थित रहने को उपशम कहते हैं । उपशम करने वाले को उपशामक कहते हैं । ज० घ० १२/२८०

उपशम चारित्र १६६

सकल चारित्र मोहनीय के उपशम से जो चारित्र उत्पन्न होता है उसे उपशम-चारित्र कहते हैं । त० सू० २/३

उपशमावली २०७

जिस आवली में उपशम करना पाया जाय उसे उपशमावली कहते हैं ।

करणोपशामना २४६

प्रशस्त और अप्रशस्त परिणामों के द्वारा कर्म प्रदेशों का उपशान्त भाव से रहना करणोपशामना है । अथवा करणों की उपशामना को करणोपशामना कहते हैं । अर्थात् निधत्ति, निकाचित आदि ८ करणों का प्रशस्त उपशामना के द्वारा उप-शान्त करने को करणोपशामना कहते हैं । क० पा० सु० पृ० ७०८

करणोपशामना के भी दो भेद हैं—देश करणोपशामना और सर्वकरणोपशामना । अप्रशस्तोपशामनादि करणों के द्वारा कर्म प्रदेशों के एक देश उपशान्त करने को देशकरणोपशामना कहते हैं । सर्व करणों के उपशमन को सर्व करणोपशामना कहते हैं । अर्थात् उदीरणा, निधत्ति, निकाचित आदि आठों करणों का अपनी-अपनी क्रियाओं को छोड़कर जो प्रशस्तोपशामना के द्वारा सर्वोपशम होता है, उसे सर्व करणोपशामना कहते हैं । कषायों के उपशमन का प्रकरण होने से प्रकृत में यही सर्व करणोपशामना विवक्षित है । क० पा० सु० पृष्ठ ७०६

विस्तार इसप्रकार है—उपशामना दो प्रकार की होती है—करणोपशामना और अकरणोपशामना । उनमें से सर्व प्रथम उपशामना पद की व्याख्या करते हुए जय धवला में (पृष्ठ १८७१-७२) बताया है कि उदयादि परिणामों के बिना कर्मों का उपशान्त भाव से अवस्थित रहना इसका नाम उपशामना है । यहां “उदयादि परिणामों के बिना” का अर्थ यह कि किसी भी कर्म का बन्व होने पर विवक्षित काल तक उदयादि के बिना तदवस्थ रहना इसका नाम उपशामना है । यह उपशामना का सामान्य लक्षण है जो पथासम्भव करणोपशामना और अकरणोपशामना दोनों में घटित होता है । जय धवला में कहा है कि प्रशस्त अप्रशस्त परिणामों के द्वारा कर्म प्रदेशों का उपशमभाव से सम्पादित होना करणोपशामना है अथवा करणों की उपशामना का नाम करणोपशामना है । उपशामना, निधत्ति, निकाचना आदि आठ करणों का प्रशस्त उपशामना द्वारा उपशम होना करणोपशामना है ; अथवा अपकर्षण आदि करणों का अप्रशस्त उपशामना द्वारा उपशम होना अकरणोपशामना है यह उक्त कथन का तात्पर्य है । इससे भिन्न लक्षण वाली अकरणोपशामना है । प्रशस्त और अप्रशस्त परिणामों के बिना जिन कर्म प्रदेशों का उदय काल प्राप्त नहीं हुआ है उनका उदयरूप परिणाम के बिना अवस्थित रहना अकरणोपशामना (अनुदीर्णोपशामना) है । यह उक्त कथन का तात्पर्य है ।

(जयधवला पृष्ठ १८७२ प्रथम पैरा)

परन्तु देशकरणोपशामना में अप्रशस्त परिणामों की निमित्तता है । कहा भी है—संसार के योग्य अप्रशस्त परिणाम निमित्तक होने से यह (देश करणोपशामना) अप्रशस्त उपशामना कही जाती है । यह संसार प्रायोग्य अप्रशस्त परिणाम निमित्तक होती है यह असिद्ध नहीं है क्योंकि अत्यन्ततीव्र संक्लेश से ही अप्रशस्त उपशामना, निधत्ति और निकाचना करणों की प्रवृत्ति देखी जाती है तथा संपक

श्रेणि और उपशम श्रेणि में विशुद्ध परिणामों के निमित्त से यह विनाश को प्राप्त हो जाती है, अतः इसका अप्रशस्तपना है, इस बात की सिद्धि में प्रतिबन्ध का अभाव है। इस कारण इस प्रकार की जो अप्रशस्त उपशामना [अप्रशस्त परिणाम निमित्तक] है वह ही 'देशकरणोपशामना' कही जाती है (जयधवल पृष्ठ १८७४) इस प्रकार एक तो अप्रशस्त परिणामों को निमित्त कर होती है, दूसरे कुछ कर्म परमाणुओं में ही इसका व्यापार होता है। ऐसी देशकरणोपशामना या अप्रशस्त उपशामना सार्थक नाम वाली है। कहा भी है—प्रशस्त उपशामना आदि करणों के द्वारा एक देश कर्म परमाणुओं का उदयादि परिणाम के पर मुखी भाव से उपशान्त भाव को प्राप्त होना देशकरणोपशामना है। [ज० घ० १८७२ चरमपेरा] यहां किन्हीं करणों का परिमित कर्म प्रदेशों में ही उपशान्तपना देखा जाने से इसकी देशकरणोपशामना संज्ञा बन जाती है। इसप्रकार संसार अवस्थामें अप्रशस्त उपशामना, निघत्त और निकाचना आदि करणों के माध्यम से जो परिमित कर्म परमाणुओं का उपशामनारूप होकर उदय के अयोग्य रहना वह देश करणोपशामना है। जबकि सर्वोपशामना में समस्त कर्मपुंज को अन्तर्मुहूर्त के लिये उदय के अयोग्य करना विवक्षित है। यथा—दर्शनमोह की अपेक्षा अनिवृत्तिकरण के प्रारम्भिक समयमें अप्रशस्त उपशामना, निघत्त, निकाचना की व्युच्छित्ति होने के बाद अनिवृत्ति परिणामों से दर्शनमोहनीय के समस्त कर्म परमाणु को अन्तर्मुहूर्त के लिये उदय के अयोग्य करना सर्वोपशामना है। यद्यपि दर्शनमोह का उपशम होने पर भी उसमें संक्रमकरण और अपकर्षण करण की प्रवृत्ति पाई जाती है, फिर भी समस्त कर्म परमाणु विवक्षित काल के लिये उदय के अयोग्य बने रहते हैं, अतः इसे सर्वोपशामना मानने में कोई बाधा नहीं है। इसी प्रकार चारित्र्य मोह की अपेक्षा अनिवृत्तिकरण परिणामों के प्रारम्भिक समय में अप्रशस्त उपशामना, निघत्त और निकाचित की व्युच्छित्ति होकर अनिवृत्तिकरण तथा सूक्ष्म साम्पराय द्वारा सकल चारित्र्यमोह के कर्म पुंज को अन्तर्मुहूर्त काल के लिये उदयादि के अयोग्य करना सर्वोपशामना [सर्वकरणोपशामना] है। इसप्रकार अकरणोपशामना, देशकरणोपशामना तथा सर्वकरणोपशामना के बारे में विस्तृत कथन परिभाषा के साथ किया गया। प्रशस्त उपशामना [प्रशस्त करणोपशामना] अर्थात् सर्वोपशामना यानी सर्वकरणोपशामना मोहनीय कर्म की ही होती है।

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		१ जय धवल मूल पृष्ठ १८७५ तथा क० पा० सु० पृ० ७०६
		कषाय की अपेक्षा परिभाषा—
कृष्टि	२३३ अप० ६३	जिसके द्वारा संज्वलन कषायों का अनुभाग सत्त्व उत्तारोत्तर कृश अर्थात् अल्पतर किया जाय उसे कृष्टि कहते हैं । क० पा० सु० पृ० ८०८
		योग की अपेक्षा परिभाषा—पूर्व पूर्व स्पर्धक स्वरूप से हटों की पक्ति के आकार में स्थित योग का उपसंहार करके जो सूक्ष्म-सूक्ष्म खण्ड किये जाते हैं उन्हें कृष्टि कहते हैं । ज० घ० अ० प० १२४३; जैन लक्ष० २/३६७
क्रमकरण	१७७	अनिवृत्तिकरण काल में मोहनीय का स्थितिबन्ध स्तोक; ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का स्थितिबन्ध तुल्य; किन्तु मोहनीय के स्थितिबन्ध से असंख्यात-गुणा तथा नाम-गोन का स्थिति बन्ध तुल्य; परन्तु पूर्व से असंख्यातगुणा और वेदनीय कर्म का स्थिति बन्ध विशेष अधिक होता है । जब इस क्रम से स्थितिबन्ध होता है तब इसे क्रमकरण कहते हैं ।
अयोपक्षमलक्षि	५	पूर्व संचित कर्मों के मलरूप पटल के अर्थात् अप्रशस्त (पाप) कर्मों के अनुभाग स्पर्धक जिस समय विद्युद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनन्त गुणों हीन होते हुए उदीरण को प्राप्त होते हैं, उस समय अयोपक्षम लक्षि होती है ।
सायिक सम्यक्त्व	१०४	चार अनन्तानुबन्धी कषाय तथा मिथ्यात्व, सम्पमिथ्यात्व एवं सम्पक्त्व प्रकृति; इन सात प्रकृतियों के क्षय से होने वाले सम्यक्त्व को सायिक सम्यक्त्व कहते हैं ।
क्षुद्रभव ग्रहण	३०३	सबसे छोटे भवग्रहण को क्षुद्र भव कहते हैं और यह एक उच्छ्वास के [संख्यात आवली समूह से निष्पन्न] साधिक अठारहवें भाग प्रमाण होता हुआ संख्यात आवलि-सहस्र प्रमाण होता है । जय धवल में कहा है कि संख्यात हजार कोड़ी कोड़ी प्रमाण आवलियों के द्वारा एक उच्छ्वास निष्पन्न होता है और उसके कुछ कम १८वें भाग प्रमाण (१ वां भाग) यह क्षुल्लकभवग्रहण (क्षुद्रभवग्रहण)
		१७.६
		होता है । ज० घ० मूल पृष्ठ १६३०
गुणश्रेणिप्रायाम	४६	जिन निषेधों में गुणकार क्रम से अवकषित द्रव्य निक्षेपित किया जाता है अर्थात्
		१. शेष कर्मों की अकरणोपशामना तथा देशकरणोपशामना ती होती है; ऐसा जानो ।

शब्द

पृष्ठ

परिभाषा

दिया जाता है, उन निषेकों का नाम गुणश्रेणी निषेध है । उन निषेको की संख्या का प्रमाण ही गुणश्रेणी आयाम है ।

चतुःस्थानीय
अनुभागबन्ध

३१

प्रशस्त प्रकृतियों का गुड़, खाण्ड, शर्करा और अमृतोपम रूप अनुभाग बन्ध चतुःस्थानीय अनुभाग बन्ध कहलाता है । अप्रशस्त प्रकृतियों में “चतुःस्थानीय” शब्द से नीम, काजीर, विष और हवाहलोपम लेना चाहिये । अथवा घातिया की अपेक्षा लता-दारु-अस्थि-शैल लेना चाहिये ।

चालीसिया

१८५

अर्थात् चारित्र मोहनीय (चालिस कोटा कोटी स्थितिवन्ध वाले कर्म चालीसिया कहलाते हैं)

जस्थिति

२८०, २६७

मूल और वृद्धि दोनों को मिलाकर स्थिति बन्ध के पूरे प्रमाण का निर्देश करना । विवक्षित प्रकरणमें यस्थिति बन्ध का यही तात्पर्य है । इसमें आवाषा भी शामिल है । ज० घ० १९१२; (यत्स्थितिवन्ध में आवाषा भी गिनी जाती है घ० ११/३३६)

तीसिया

१८५

ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय तथा अन्तराय को तीसिया कहते हैं ।

असचतुष्क

१८

अर्थात् ‘अस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक ।’

दूरापकृष्टि

१०७,

११६,

१८७

जिस अवशिष्ट स्थिति सत्कर्म में से संख्यात बहुभागको ग्रहण कर स्थितिकाण्डकका घात करने पर घात करने से शेष बचा स्थिति सत्कर्म नियम से पत्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण होकर अवशिष्ट रहता है उस सबसे अन्तिम पत्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति सत्कर्म को दूरापकृष्टि कहते हैं । जय धवला पु० १३ पु० ४५

तात्पर्य यह है कि जब स्थितिकाण्डकघात होते-होते सत्कर्म स्थिति पत्योपम प्रमाण शेष रह जाती है तब स्थितिकाण्डक का जो प्रमाण पहले था वह बदल कर अवशिष्ट स्थिति-सत्कर्म का संख्यात बहुभाग हो जाता है । और इस प्रकार उत्तरोत्तर उक्त विधि से स्थितिकाण्डकघात होते होते जब सबसे जघन्य पत्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति शेष रह जाती है तब वह “दूरापकृष्टि”, इस नाम से पुकारी जाती है । यह घटते घटते अति अल्प रह गई है, इसलिये इसे “दूरापकृष्टि” कहते हैं । अथवा शेष रही इस स्थिति से आगे उत्तरोत्तर अवशिष्ट स्थिति के असंख्यात बहुभाग असंख्यात बहुभाग प्रमाण स्थिति को ग्रहण कर स्थितिकाण्डकघात होता

इसलिये इसे “दूरापकृष्टि” कहते हैं । जय धवला पु० १३ पृष्ठ ४७

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
देवचतुष्क	१८	देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिकशरीर अंगोपांग; इन चार प्रकृतियों का समूह "देवचतुष्क" कहलाता है ।
देशकर्मणोपशमना	२४६	देखो—कर्मणोपशमना की परिभाषा में ।
देशघातीकरण	१७७	अनिवृत्तिकरण काल में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का बन्ध जब देश-घातिरूप होने लगता है, सर्वघातीरूप से बन्ध नहीं होता तब उसको देशघातीकरण कहते हैं ।
देशचारित्र	१४३	इसे संयमासंयम भी कहते हैं । देशचारित्र का घात करने वाली अप्रत्याख्यानावरण कषायों के उदयाभाव से हिसादिक दोषों के एक देश विरतिलक्षण अणुव्रत को प्राप्त होने वाले जीव के जो विशुद्ध परिणाम होता है उसे "देशचारित्र" अथवा संयमासंयमलब्धि कहते हैं ।
देशनालब्धि	६	जीवादिक ६ द्रव्य तथा जीव, अजीव, आलव आदिक ६ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है । उस देशना से परिणत आचार्यादि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को देशनालब्धि कहते हैं । अवल ६/२०४
द्वितीय स्थिति	७०	जीव दर्शनमोह आदि के उपशम के समय अन्तरकरण करता है । उस समय वह अन्तर के लिये जितनी स्थितियों को ग्रहण करता है उसकी "अन्तरायाम" संज्ञा है । उस अन्तराय के नीचे जितनी स्थिति है वह "प्रथम स्थिति" कहलाती है । तथा अन्तराय से ऊपर जितनी कर्म स्थिति है वह "द्वितीय स्थिति," कहलाती है ।
द्वितीयोपशम सम्यक्त्व	१७०, १७१	मिथ्यात्व से उत्पन्न होने वाला उपशम सम्यक्त्व प्रथमोपशम सम्यक्त्व है । यह चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान तक होता है । क्षयोपशम सम्यक्त्व अर्थात् वेदकसम्यक्त्व पूर्वक होने वाला उपशम सम्यक्त्व द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहलाता है । यही फिर चारित्रमोह की उपशमना करने के लिये प्रवृत्त होता है, अन्य प्रथमोपशम सम्यक्त्वी या वेदक सम्यक्त्वी नहीं । यह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व चतुर्थगुणस्थान से सप्तमगुणस्थान तक के किसी भी गुण स्थान में स्थित क्षायोपशम सम्यग्दृष्टि मनुष्य के उत्पन्न होता है । अवल पु० १/११; स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ४८४ की टीका, मूलाचार पर्याप्ति अधिकार १२ गा० २०५ की टीका; अवल १/२१४-१५ ।
		अन्यत्र भी कहा है—उपशम श्रेणि के योग से जिसका मोह (दर्शन मोह) उप-

शब्द

पृष्ठ

परिभाषा

शान्त हो चुका है । उसके जो मोह के उपशम से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहलाता है । ज० ल० २/५६६
विधि ल० सा० गा २०५ से २१८ में देखनी चाहिये ।

द्विस्थानीय अनुभाग २८

अप्रशस्त प्रकृतियों की अपेक्षा "लता-दारु" रूप अथवा 'नीम-कांजीर' रूप अनु-
भाग । प्रशस्त प्रकृतियों की अपेक्षा "गुड़, खाण्ड" रूप अनुभाग द्विस्थानीय अनुभाग
कहलाता है ।

नवकसमय प्रबद्ध ३०२

नवक अर्थात् नवीन समयप्रबद्ध । जिनका बन्ध हुए थोड़ा काल हुआ है; संक्रम-
णादि करने योग्य जो निषेक नहीं हुए ऐसे नूतन समयप्रबद्ध के निषेक का नाम
नवक समयप्रबद्ध है । (गो० क० ५१४ टीका)

दर्शनमोह; १ चारित्रमोहनीय २ की उपशमना आदि के समय विचक्षित कर्म के
अंतिम समय के बन्ध के समय से लेकर चरम द्विचरम आदि एक समय कम दो
आवली प्रमाण समयप्रबद्ध अनुपशमित अथवा अविनष्ट रह जाते हैं । उन समय-
प्रबद्धों की नवक समयप्रबद्ध संज्ञा है । जैसे चारित्रमोहनीय उपशामक के अनिवृत्ति-
करण गुणस्थान में अन्तिमसमयवर्ती सवेदी के एक समय कम दो आवली
प्रमाण नवक समय प्रबद्ध अनुपशान्त रहते हैं; पुच्छवेद के । जो आगे अपगतवेदी
भवस्था में एक समय कम दो आवली काल में नष्ट होते हैं । (ज० ध० १३/
२८७) इसीतरह जैसे मान का उपशामक है । तो उसके चरम समय बन्ध के
समय एक समय कम दो आवली प्रमाण समय प्रबद्ध अनुपशान्त रह जाते हैं ।
बाकी सब मानद्रव्य उपशान्त हो जाता है (उच्छिष्टावली गौण है) यह एक
समय कम दो आवली प्रमाण नवक बद्ध द्रव्य मायावेदक काल के भीतर एक समय
कम दो आवलीकाल के द्वारा पूर्ण रूप से उपशामये जाते हैं । क्योंकि प्रत्येक समय
में एक-एक समय प्रबद्ध के उपशामन क्रिया की समाप्ति देखी जाती है । ज० ध०
१३/३०१-३०२ इसी तरह क्रोध, माया, लोभ आदि के लिये भी प्रागमानुसार
कहना चाहिये । इतना विशेष है कि नवक बन्ध का बन्ध काल से एक आवली तक तो,
बन्धावलि सकल करणों के अयोग्य होने से कुछ नहीं होता तथा बन्धावली के बाद
उनका उपशमन काल एक आवली प्रमाण होता है (इसप्रकार एक नवक समय-

१ अथर्ववल् १२/२८६-६०

२ ल० सा० गा० २६२, २६६, २७१, २७६, २८०, २८५ आदि

शब्द पृष्ठ

परिभाषा

प्रवृद्ध का दो आवलियों द्वारा उपशम हो जाता है) ज० घ० १३/२८७ चरम पेरा विशेष हेतु ल० सा० पृष्ठ २०७ देखना चाहिये ।

निकाचनाकरण १८३

जो कर्म उदयादि चारों के अयोग्य होकर (उदय, अपकर्षण, उत्कर्षण व संक्रमण) अवस्थान की प्रतिज्ञा में प्रतिबद्ध हैं, उनकी उस अवस्थान लक्षण पर्यायविशेष को निकाचना कहते हैं । ज० घ० १३/२३१; घ० ६/२६९; घ० ६/२३६ आदि

निक्षेप ५५

उत्कर्षण अथवा अपकर्षण होकर कर्म परमाणुओं का जिन स्थितिविकल्पों में पतन होता है उनकी निक्षेप संज्ञा है । उत्कर्षण में—अव्याघात दशा में जघन्य निक्षेप का प्रमाण एक समय (क० पा० सु० पृ० २१५) ज० घ० ८/२६२ और उत्कृष्ट निक्षेप का प्रमाण उत्कृष्ट आवाधा और एक समयाधिक आवली; इन दोनों के योग से हीन ७० कोटा-कोटी सागर है । व्याघात दशा में जघन्य और उत्कृष्ट निक्षेप का प्रमाण आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण है । (ल० सा० गा० ६१, ६२ एवं ज० घ० ८/२५३; ज० घ० ७/२५० तथा ज० घ० ८/२६२)

अपकर्षण में—अव्याघातदशा में जघन्य निक्षेप एक समय कम आवली का त्रिभाग और एक समय प्रमाण निषेक रूप होता है । (ल० सा० ५६) तथा उत्कृष्ट निक्षेप “एक समय अधिक दो आवली” से हीन उत्कृष्ट स्थिति (७० कोड़ा कोड़ी सागर) प्रमाण होता है । ल० सा० ५८ व्याघात दशा में उत्कृष्ट निक्षेप अन्तः कोटा कोटीसागर प्रमाण होता है ।

निवृत्तीकरण १८३

जो कर्म प्रदेशात् उदय में देने के लिये अथवा अन्य प्रकृतिरूप परिणामाने के लिये शक्य नहीं वह निवृत्त है । (धवल पु० ६ पृ० २३५) अन्यत्र भी कहा है—जो कर्म अपकर्षण और उत्कर्षण के अविरुद्ध पर्याय के योग्य होकर पुनः उदय और पर प्रकृतिसंक्रमरूप न हो सकने की प्रतिज्ञारूप से स्वीकृत है उसकी उस अवस्था को निवृत्तीकरण कहते हैं । [(जय धवल १३/२३१) तथा धवल पु० १६ पृष्ठ ५१६]

निर्वर्गणाकाण्डक ३४

अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय सम्बन्धी परिणामस्थान के अन्तर्मुहूर्त अर्थात् अधःप्रवृत्तकरण काल के संख्यातवें भाग प्रमाण काल के जितने समय हैं, उतने खण्ड करने चाहिये, वही निर्वर्गणाकाण्डक है । विवक्षित समय के परिणामों का जिसस्थान से आगे अनुकृष्टविच्छेद होता है वह निर्वर्गणाकाण्डक कहा जाता है । (ज० घ० १२/२३६)

शब्द

पृष्ठ

परिभाषा

अभिप्राय—अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में जितने परिणाम होते हैं वे अधः-
प्रवृत्त करण के काल के संख्यातवें भाग प्रमाण खण्डों में विभाजित हो जाते हैं ।
जो उत्तरोत्तर विशेष अधिक प्रमाण को लिये हुए होते हैं । यहां पर उन परिणामों
के जितने खण्ड हुए; निर्वर्गणाकाण्डक भी उतने समय प्रमाण होता है । जिसकी
समाप्ति के बाद दूसरा निर्वर्गणाकाण्डक प्रारम्भ होता है । आगे भी इसीप्रकार
जानना चाहिये । (ज० घ० १२/२३७ विशेष)

निर्व्याघात

४८

स्थितिकाण्डकघात का अभाव निर्व्याघात कहलाता है । (अपकर्षण में)
ज० घ० ८/२४७ उत्कर्षण में—आवली प्रमाण अतिस्थापना का प्रतिघात ही
यहां व्याघातरूप से विवक्षित है । (ज० व० ८ पृ० २५३)
जहां..... अतिस्थापना एक आवली से कम पाई जाती है वहां व्याघात
विषयक उत्कर्षण होता है । (ज० घ० ८/२६२) अतः जिस समय आवली प्रमाण
अतिस्थापना बन जाती है वह अव्याघात (निर्व्याघात) विषयक उत्कर्षण कह-
लाता है ।

प्रकृतिबन्धापसरण

१०

अर्थात् प्रकृतिबन्ध व्युच्छित्ति । कहा भी है—“प्रकृतिबन्ध व्युच्छित्तिरूप एक बन्धा-
पसरण” । विशेष इतना है कि मिथ्यादृष्टि के प्रायोग्य लब्धि के समय ३४ प्रकृति-
बन्धापसरण होते हैं (पृ० १०) जिनमें ४६ प्रकृतियों की बन्ध-व्युच्छित्ति हो
जाती है। पृष्ठ १४ यह बन्धव्युच्छेद विशुद्धि को प्राप्त होने वाले भव्य और
अभव्य मिथ्यादृष्टि में साधारण अर्थात् समान है । (धवला ६ पृष्ठ १३५ से १३६)
यहां (धवला में) प्रकृति बन्धापसरण की जगह “प्रकृति बन्ध व्युच्छेद” शब्द ही
काम लिया है । प्रकृति बन्ध का क्रम से घटना प्रकृतिबन्धापसरण कहलाता है ।

प्रतिपद्यमान स्थान

१५३

देखो—अप्रतिपात—अप्रतिपद्यमान स्थान की परिभाषा में ।

प्रतिपात स्थान

”

”

”

”

”

प्रत्यावली

२१६, २०८

आवली के ऊपर की जो दूसरी आवली है वह प्रत्यावली कही जाती है । १

ज० घ० १३/२६८—२६९

प्रथमस्थिति

७०

देखो—द्वितीयस्थिति की परिभाषा में ।

प्रथमोपशम

१, २, ३

अनन्तानुबन्धी ४ और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियों
के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व होता है । यह मिथ्या दृष्टि जीवों की ही होता

सम्यक्त्व

१ इसे द्वितीयावली भी कहते हैं ।

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		है। क्योंकि उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाले वेदक सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले होते हैं, किन्तु उस सम्यक्त्व का "प्रथमोपशम सम्यक्त्व" यह नाम नहीं है। क्योंकि उस उपशमश्रेणी वाले के उपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति सम्यक्त्व से होती है। इसलिये प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला जीव मिथ्यादृष्टि ही होना चाहिये। (धवल ६/२०६) इसीलिये तो कहा है कि—सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा वेदक सम्यग्दृष्टि जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि इन जीवों के उस प्रथमोपशमसम्यक्त्व रूप पर्याय के द्वारा परिणामन होने की शक्ति का अभाव है। (धवल ६/२०६-७)
प्रायोग्य लब्धि	७	कर्मों की स्थिति को अन्तःकोड़ाकोड़ी तथा अनुभाग को द्विस्थानिक करने को "प्रायोग्य लब्धि" कहते हैं। [ल० सा० मा० ७ पृ० ७]
बीसिया	१८१	माम-गोत्र को बीसिया कहते हैं। (क्योंकि इनकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटा कीटी सागर होती है।)
वर्णचतुष्क	१८	"वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श"; इन चार नाम कर्मों का जोड़ा वर्णचतुष्क कहलाता है।
विशुद्धि लब्धि	५	क्षयोपशम लब्धि के होने पर साता आदि प्रशस्त (पुण्य) प्रकृतियों के बन्ध योग्य जो जीव के परिणामों का होना है; वही विशुद्धि लब्धि है।
विसंयोजना	१९६	चारों अनन्तानुबन्धी कथायों की युगपत् विसंयोजना होती है। विसंयोजना अर्थात् "अप्रत्याख्यानावरणादि १२ कथायरूप और ६ लोकथायों में से ५ कथायरूप परिणाम देना।"
		कहा भी है—अनन्तानुबन्धिचतुष्क के स्कन्धों के परप्रकृतिरूप से परिणाम देने को विसंयोजना कहते हैं। ज० घ० २/२१८-१९
शेष शेष में निक्षेप २६५, २६७		अर्थात् गलितावशेष गुरुश्रेणी।
सकल चारित्र	१५७	सकल सावद्य के विरतिस्वरूप पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुणितियों को प्राप्त होने वाले मनुष्य के जो विशुद्धिरूप परिणाम होता है उसे संयम लब्धि या सकल संयम (सकलचारित्र) कहते हैं। अनन्तानुबन्धी आदि १२ कथायों की उदयमाव लक्षण उपशमना के होने पर यह उत्पन्न होता है। यद्यपि यहाँ चार संवलन और नौ नौ कथायों का उदय है, परन्तु उनके सर्वधाति स्पर्धकों का उदय नहीं रहने से उनका भी देशोपशम पाया जाता है।

शब्द

पृष्ठ

परिभाषा

यह आयोपशमिक सकल चारित्र की अपेक्षा कहा है । क्षायिक सकल चारित्र तथा ओपशमिक सकल चारित्र उपशम या क्षयक श्रेणी में होता है । आयोपशमिक चारित्र प्रमत्त व अप्रमत्तसंयत इन दो गुण स्थानों में ही होता है ।

सर्वकरणोपशामना २५०

देखो—करणोपशामना की परिभाषा में इसकी भी परिभाषा आई है ।

सहानवस्थान ६२

पदार्थ का पूर्व में उपलम्भ (प्राप्ति वा सद्भाव) होने पर, पश्चात् अन्य पदार्थ के सद्भाव से उसके अभाव का ज्ञान होने पर दोनों में जो विरोध देखा जाता है उसे सहानवस्थारूप विरोध समझना चाहिये । जैसे शीतोष्ण । प्र०क० मा० परि० ४ सू० ६ पृ० ४२८ [निर्णय सागर मु० बंबई से मुद्रित]

इस परिभाषा का स्पष्टीकरण राजवार्तिक के निम्न विस्तृत कथन से हो जायगा—अनुपलम्भ अर्थात् अभाव के साध्य को विरोध कहते हैं । विरोध तीन प्रकार का है—वध्यघातक भाव, सहानवस्थान, प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक । १ वध्यघातक भाव विरोध सर्प और नेवले या अग्नि और जल में होता है । यह दो विद्यमान पदार्थों में संयोग होने पर होता है । संयोग के पश्चात् जो बलवान होता है वह निर्बल को बाधित करता है । अग्नि से असंयुक्त जल अग्नि को नहीं बुझा सकता है । दूसरा सहानवस्थान विरोध (जो कि प्रकृत है) एक वस्तु को क्रम से होने वाली दो पर्यायों में होता है । नयी पर्याय उत्पन्न होती है तो पूर्व पर्याय नष्ट हो जाती है । जैसे, आम का हरा रूप नष्ट होता है और पीतरूप उत्पन्न होता है । प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव विरोध—जैसे आम का फल जब तक डाली में लगा है, तब तक फल और डंठल का संयोगरूप प्रतिबन्धक के रहने से गुरुत्व (आम में) मौजूद रहने पर भी आम को नीचे नहीं गिराता है । जब संयोग टूट जाता है तब गुरुत्व फल को नीचे गिरा देता है । संयोग के अभाव में गुरुत्व पतन का कारण है; यह सिद्धान्त है । [अथवा जैसे दाह के प्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणि के विद्यमान रहते अग्नि से दाह क्रिया नहीं उत्पन्न होती, इसलिये मणि तथा दाह के प्रतिबन्धक-प्रतिबन्ध भाव युक्त है ।] रा० वा० पृ० ४२६ [हिन्दी सार] (अ० प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य) एवं षड्दर्शन समुच्चय का० ५७ पृ० ३५६ अर्थात् ३ लाख सागरोपम से ६ लाख सागरोपम के मध्य ।

सागरोपमशत

सहस्र पृथक्त्व १४०

स्तिबुक संक्रमण २१८,

२१६ (i)

को स्थिवुकसंकमो एवम् ? उदयसखेण समट्टिदीए जो संकमो सो स्थिवुकसंकमो स्ति भण्णदे । अर्थ—उदयरूप से समान स्थिति में जो संक्रम होता है उसे स्तिबुक

- (ii) संक्रमण कहते हैं । ज० घ० १३/२०१; क० पा० सु० पृ० ७०० टिप्पण (यह नियम से उदयावली में होता है और अनुदय प्रकृति का होता है)
- अन्यत्र भी कहा है—अनुदीर्ण प्रकृति के दलिक का जो उदय प्राप्त प्रकृति में विलय होता है उसे स्तिबुक संक्रमण कहते हैं । गति, जाति आदि पिण्डप्रकृतियों में से जो अन्यतम प्रकृति उदय को प्राप्त है उस समान काल स्थिति वाली अन्यतम प्रकृति में अनुदय प्राप्त प्रकृतियों को संक्रान्त करा कर जो वेदन किया जाता है उसे स्तिबुक संक्रमण कहा जाता है । जैसे—उदय प्राप्त मनुष्यगति में शेष तीन नरक गति आदि का व उदय प्राप्त पंचेन्द्रिय जाति में शेष चार जातियों का । (जैनलक्षणावली भाग ३ पृ० ११७६ सम्पा० बालचन्द्र सि० शा०)
- (iii) कहा भी है—उदयावली के अन्दर ही स्तिबुक संक्रमण होता है । उदयावली से बाह्य स्तिबुक संक्रमण नहीं होता है । उदयरूप निषेक के अनंतर ऊपर के निषेक में अनुदयरूप प्रकृति के द्रव्य का उदय प्रकृतिरूप संक्रमण हो जाना स्तिबुक संक्रमण है । जैसे नारकी के ४ गतियों में से नरकगति का तो उदय पाया जाता है; अन्य तीन गतियों का द्रव्य प्रतिसमय स्तिबुक संक्रमण द्वारा नरकगतिरूप संक्रमण होकर उदय में आ रहा है । कहा भी है—

पिण्डगईरा जा उदयसंगमा तीए अनुदयगयाओ ।

संकामिऊए वेयइ जं एसो धिवुगसंकामो ॥पंचसं० सं०क० ८०

गतिनामकर्म की पिण्ड प्रकृतियों में से जिस प्रकृति का उदय पाया जाता है उसके प्रतिरिक्त अन्य तीन गतियों का द्रव्य प्रति समय उदयगति रूप संक्रमण करके उदयरूप निषेक में प्रवेश करता है ।

सप्तम नरक के नारकी के नरक गति के अन्तिम समय में अनन्तर अगले निषेक में अनुदयरूप तीन गति के द्रव्य का नरक गति रूप संक्रमण नहीं होगा, क्योंकि अगले समय में नरक गति का उदय नहीं होगा । किन्तु तिर्यंच गति का उदय होगा । अतः गति के अन्तिम समय में उदयरूप निषेक से अनन्तर ऊपर के निषेक में जो द्रव्य नरक गति मनुष्यगति-देवगतिरूप है वह स्तिबुक संक्रमण द्वारा तिर्यंच गतिरूप संक्रमण कर जायगा और तिर्यंचगति रूप में उदय में आयगा । इसीप्रकार अन्यत्र भी लगा लेना चाहिये । (रत्नचन्द पत्रावली पत्र ७)

- (iv) अन्यत्र कहा भी है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव का अनुकूल संयोग न मिलने

पर उत्तरकर्म प्रकृति स्वमुख से उदय में नहीं आती; किन्तु स्तिबुक संक्रमण द्वारा उदयरूप स्वातातीय कर्म प्रकृति में संक्रमण हो जाता है। जैसे क्रोध के उदय के समय अन्य तीन (मान, माया, लोभ) कषायों का स्वमुख उदय न होकर स्तिबुक संक्रमण द्वारा क्रोधरूप संक्रमण हो जाता है और इसप्रकार उन तीन कषायों का द्रव्य क्रोध रूप फल देकर उदय में आता है।

स्थितिकाण्डकघात ४४,
६२, ६५,
क्षप० ४, १०

विवक्षित स्थिति समूह का घात करना स्थिति काण्डकघात है। यह एक अन्तर्मुहूर्त में निष्पन्न होता है। विवक्षित कर्म की स्थिति में से ऊपर की कुछ स्थिति समूह के द्रव्य को ग्रहण कर विशुद्धिवश अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा नीचे के स्थिति समूह के परमाणुओं में मिला देना तथा ऊपर की स्थिति में स्थित सकल कर्म द्रव्य का अभाव कर देना स्थितिकाण्डकघात है। जितने काल में यह स्थितिघात का कार्य किया जाता है वह काल स्थितिकाण्डकोत्कीरण काल कहलाता है तथा जितनी स्थिति घात करता है स्थितिकाण्डकघात कहलाता है। जैसे अपूर्व करण के प्रथम समय में जीव के स्थितिकाण्डक का आयाम उत्कृष्टतः सागरोपम पृथक्त्व प्रमाण होता है। अर्थात् प्रथमसमयवर्ती अपूर्वकरण जीव स्थितिकाण्डक घात के लिये स्थिति समूह को ग्रहण करता हुआ उत्कृष्टतः इतनी स्थिति को घात के लिये ग्रहण करता है। तथा अन्तर्मुहूर्त में निष्पद्यमान इस स्थितिकाण्डक के प्रत्येक समय में जितना द्रव्य नीचे [अधस्तन स्थितियों में; शीघ्र उदय में आने वाली स्थितियों में] देता है, उसे फाली कहते हैं। इतना विशेष है कि आयु कर्म का स्थितिकाण्डक वध नहीं होता। (ल० सा० गा० ७८; खल ६/२२४)

अपूर्वकरण के काल में संख्यात हजार स्थितिकाण्डकघात होते हैं। इसीप्रकार अन्यत्र भी यथायम स्थितिकाण्डकघात का अस्तित्व जानना चाहिये। स्थितिकाण्डकघात के बिना कर्मस्थिति का घात असम्भव होता है। (खल १२/४८६) इसना विशेष है कि केवली समुद्घात के समय; ८ समयों में से लोकपूरण समुद्घात तक के ४ समयों में; एक एक समय में एक एक स्थितिकाण्डक घात होता है। यह माहात्म्य समुद्घातक्रिया का ही है। अन्यत्र एक समय में यह कार्य नहीं होता। (क्षपणासार गा० २६५ पृ० २०२)

स्थितिबन्धापसरण १०

स्थितिबन्ध के अपसरण (क्रम से घटना) को स्थितिबन्धापसरण कहते हैं।

(अपसरण = घटना) विशेष के लिये देखो लब्धिसार गा० ३९ तथा क्षपणासार गा० ३६५ तथा ज० ख० मूल पृ० १५१

लब्धिसार

अवतरण सूची

[टीकायामुद्धृतगाथासूचिः]

पृष्ठ	गाथा का प्रारम्भिक अंश :—	अन्यत्र जहाँ आई हैं :—
३०३	तिष्णिसया छत्तीसा	धवल पृ० १४ पृ० ३६२ गा० २०; गो० जी० १२३; भावपाहुड गा० २६
३०३ ६७	तिष्णिसहस्ता सत्तय- तं मिच्छर्त्ता जमसद्दहणं	धवल १४ पृष्ठ ३६२ गा० १९ जय धवल १२ पृ० ३२३; भगवती प्राराधना ५६; जैन लक्ष० ३/६१६
१०१ २६	मिच्छत्त पञ्चमो खलु मिच्छत्तवेदणीयं कम्मं	क०पा०सु० गा० १०१ पृ० ६३३; जयधवला १२/३११ क०पा०सु० गा० ६६; जयधवला १२/ ३०७
१०३	सम्मत्तपढमलंभस्स	क०पा०सु० गा० १०५ पृ० ६३५; जयधवला १२/३१७; धवला ६/२४२
६६ ९८	सम्मत्तपढमलंभो सण्वेहिं दिठ्ठदिविसेसेहिं	क०पा०सु० गा० १०४ पृ० ६३५; जयधवला १२/३१६ क०पा०सु० गा० १०० पृ० ६३३; जयधवला पृ० १२ पृ० ३०६-१०



लब्धिसार

—विशेष शब्द सूची—

“अ”

अकररूपशामना	२४६	अनुपशान्त	११५, २५५
अकर्मभूमिज	१०४	अनुभयगत (स्थान)	१५२, १६०
अगुरुलघुचतुष्क	१७	अनुभागकाण्डकवाह	३१, ४४
अग्रस्थिति	५०	अनुभागबन्धापसरण	१०८
अजघन्य	२५	अनुभागसत्कर्म	२८
अतिस्थापना	४६	अनुभागस्पर्धक	५
अत्यन्तभाव	१००	अनुयोगद्वार	४२
अघस्तनकृष्टि	२२४	अनुसंधान	३४
अघस्तन शीर्षविशेष	२२४	अन्तदीपकन्याय	३०८
अधःप्रवृत्तकरण	२६	अन्तरकरण	६६, १७७
अधःप्रवृत्तदेशसंयत	१४७, १४६	अन्तर काल	१०३
अधःप्रवृत्तसंक्रमण	१७०	अन्तरायाम	८८
अधःप्रवृत्तसंयत	१५८	अस्तःकोटाकोटिसगर	८
अध्वान	१२६	अपकर्षण-उत्कर्षण भागहार	१०३
अनन्तानुबन्धचतुष्क	१६६	अपकर्षण-भागहार	१२४, १३४
अनभिगृहीत	६७	अपकृष्ट द्रव्य	४७
अनवस्थादोष	१७	अपकृष्टावशिष्ट	८६, ६०
अनादिमिथ्यादृष्टि	२६	अपुनरुक्तभाव	३४
अनानुपूर्वी संक्रमण	२७२	अपूर्वकरण	३०
अनिवृत्तिकरण	३०	अपूर्वकृष्टि	२२८
अनुकृष्टि	३२, ३४	अपूर्ववृद्धि	२७६
अनुत्कीर्णमात्र	१७३, १७४	अप्रतिपात-अप्रतिपक्षमान	१५३
अनुदीर्ण	२४६	अप्रशस्तोपशामना	११५, १८२, २५१
अनुत्कृष्ट	२५	अवदायुष्क	२५
अनुदीर्णोपशामना	२४६	अभिगृहीत	६७
अनुपपत्ति	२०४	अर्धक्रियाकारिपना	६३

प्रबं पुद्गलपरावर्तन	६६	उत्कृष्ट स्थिति सत्त्व	८
अलम्बपूर्व	३, १५८	उत्तर (चय)	२२६
अल्पबहुत्वदण्डक	१०३	उत्तरधन	८६
अवरोहक	२५७	उत्पादानुच्छेद	२०८, २०६, २१७
अविभागी प्रतिच्छेद	२२२, १५२	उदयादिअवस्थित गुरुश्रेणि घायाम	१२०
अविमर्शक	३	उदयादि गुरुश्रेणी	११३, १२६
अवेदक	२५	उदयाभाव	२४०
अश्वदानभाग	६४	उदयावलि बाह्य	१०६
अष्टांक	३३	उदीरणा	२५
"आ"		उदीर्ण	२४६
आगाल	७२, २०८	उद्घाटित	२५३, २८१
आगाल-प्रत्यागाल	७२, २०८	उद्देलना	२६
आनुपूर्वी संक्रमण	१६७	उद्देलना काल	२७
आन्तरिक स्थितियां	३०६	उपयोग	३
आवाधा	१८, १३८	उपरिमस्थिति	६०
आयाम	३३	उपशम	७१
आयुक्तकरण	१६६	उपशमकरणा	१७७
आरोहक	२५७	उपशमकालक्षय निबन्धन	२५३
आवली-प्रत्यावली	१७३	उपशमावलि	२१२
आहारक चतुष्क	२६	उपशामक	७१
"ई"		उभयद्रव्यविशेष	२२४
ईषन्मध्यमसंक्लेशपरिणाम	८	उर्वक	३३
"उ"		"ऊ"	
उच्छिष्टावलि	२१२, १११	ऊहापोह	१७४
उत्कर्षण	५०	"ए"	
उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध	८	एकान्तानुवृद्धि संयम	१४६
उत्कृष्ट अनुभाग सत्त्व	८	"ओ"	
उत्कृष्ट कर्म संचय	११२	ओदयिकभाव	६५
उत्कृष्ट प्रदेश सत्त्व	८	"क"	
उत्कृष्ट स्थिति बन्ध	८	करणा	१२८

करणा लक्षि	४
कर्मस्कन्ध	१५८
कषायप्राभृतशस्त्र	२८८
कृतकरणीयकाल	१२७
कृतकृत्यसम्यक्त्व	१२०
कुत्तयुग्म	४६
कुटी	७३
क्रमकरण	१७७
क्षयोपशम	४
क्षायिकसम्यक्त्व	६
क्षायोपशमिक	६३
क्षुद्रभव	२५४
क्षुद्रभवग्रहण	३०३

"ग"

गच्छ	२२६
गलितावशेष	४५
गलितावशेष गुणश्रेणी	१३०, २६६
गुण श्रेणी	३१, ७७
गुणश्रेणि श्रायाम	४५, ४६
गुणश्रेणि विन्यास	२८२
गुणश्रेणि शीर्ष	१२४, १२६
गुणसंकमरा	४४, १७७
गुणहानिस्थानान्तर	६६
गुणांश	६३
गुणवकर्मश	११२
गोपुरुषाकार	३६, ६०

"घ"

चतुःस्थानीय	२०
चतुःस्थानीय यद्वमध्य	८
चय	२२६

चयधन	८६
चालीसीया	१८५
चूणिसूत्र	२८८
चेतनाकार	३

"ज"

जघन्य धनुभाग सत्त्व	८
जघन्य प्रदेश सत्त्व	६
जघन्य सुषतासंख्यात	४६
जघन्य स्थितिबन्ध	८
जघन्य स्थितिसत्त्व	८
ज-स्थितिबन्ध	२७६
जातिस्मरण	२
जात्यन्तर	६२
जिनबिम्बदर्शन	२
जिनमहिमा दर्शन	२

"ड"

डेढ़ गुणहानि	६०

"त"

तदुभयप्रत्यधिक (क्षायोपशमिक)	६४
तीसिया	१८५
त्रसचतुष्क	१७

"द"

दण्डक	८०
दीयमान	१२४, २३४
दुमर्ग	६७
द्वारापकृष्टि	१०७, ११६, १८५
दृश्यमान	१२४, २३४
देवचतुष्क	१७
देवविदर्शन	२
देशकरणोपशमना	२४६

"घ"

देशघातिकरण	१७७	पंचम लब्ध	२
देशना	४	परप्रकृतिसङ्क्रम	१८२
देशनालब्ध	६	परस्थान-मल्पबहुत्व	३६, ७४
देशसंयमलब्धस्थान	१५२	परावर्तमान	२२
देशामर्शक	८६	परिपाटी क्रम	३४
देशोपशम	६६	परिवर्तमान	८६
दोलायमान	६७	परिहारविशुद्धिसंयम	१६४
द्वितीयस्थिति	७०, १७३	पर्यवसान	२१०
द्विस्थानीय	७, १२१	पवं (श्रेणियां)	१२८
"घ"		पश्चादानुपूर्वी	१४०, २७३
धर्मश्रवण	२	पुनरुक्त	३४
"न"		पुष्पदन्त-भूतबली	२८८
नवकप्रबद्ध	१६६	पूर्वकृष्टि	२२६
नवकबन्ध	२१७	पृथक्त्व	११५
निकाचनाकरण	१८३	प्रकृतिचतुष्क	२७
निकाचित	६	प्रकृतिबन्धव्युच्छिष्टि	१०
निक्षेप	४६, ४७, ४८	प्रतिधात	१३५
निधत्तीकरण	१८३	प्रतिपक्ष स्वरूप	१७
निपतित	१८६	प्रतिपद्यमानगत	१४२, १६०
निरवशेष	२१७	प्रतिपात	२५३
निरासान	८१	प्रतिपातगत	१४२, १६०
निनिबन्धनपना	२७५	प्रतिबद्ध	२३
निर्मलसूत्र	२८९	प्रतिभाग	३३, १२२
निलेप	२१८	प्रत्यागाल	७२, २०८
निर्वर्गणाकाण्डक	३३	प्रत्यावलि	२०८, २१६
निर्व्याघात प्ररूपण	४८	प्रथमस्थिति	७०, १७३
निर्व्याघात विषयक	५०	प्रथमोपशमसम्यक्त्व	२
निषेक भागहार	१०३	प्रदेशपुंज	४४, १२६
निष्ठापक	८३, ८४	प्रमथ	२२६
नैसर्गिक प्रथमोपशम सम्यक्त्व	६	प्रविशमान	१२१

प्रशस्तभाव	८	लब्धिकर्मांश	२४७
प्रस्थापक	८३	लब्धिस्थान	१५२, १५३, १५४
प्रायोग्य	४	"व"	
प्रायोग्यलब्धि	७		
"फ"	४५		वर्ग
		वर्गणा	२२१, २२३
		वर्णचतुष्क	१७
फालि	४५	वाक्यशेष	१००
		विकलचतुष्क	१०७
		विद्यातभागहार	२८६
बद्धीयुष्क	२६	विद्यातसंक्रमण	७५, १७०
बध्यमान	१७	विपरीताभिनिवेश	८३
बन्धपरावर्तन	१७६	विपर्यास	२७१
बन्धापसरण	१०	विप्रकृष्ट	६६, १४८
बहिर्भूत	५०	विमर्शकस्वरूप	३
बादरकृष्टिकरण	२२१	विलोमक्रम	२७१
बीसिया	१८५	विशुद्धि लब्धि	५
"भ"		विशेष (चय)	३३
		विषमस्थिति	१६४
		वेदक	२५
भजनीय	१०२	वेदकसम्यग्दृष्टि	७५
भयद्विक	१७	व्याघात	८१
भयक्षयनिबन्धन	२५३	व्याघातविषयक	५०
"म"		व्यापृत	१८१
		व्यामोह	१०८
		"श"	
शक्ति स्थिति	५४		
शक्तपृथक्त्व	१०		
मध्यघन	५६, २२७	शलाका	६०
मध्यम कृष्टि	२४०	श्रद्धानभास	६४
मध्यम स्तण्ड	२२४	श्रेणि व्यवहार	२२६
महादण्डक	२०		
मिथ्यास्त्र निमित्तक	१०१		
मिथ्यानुष्ठान	६		
"य"			
यतिवृषभाचार्य	२८८		
यथाख्यात चारित्र	१६४		
"स"			
लक्षपृथक्त्वसागर	२८०		

सौशयिक	६७	सावध	१४३
"ब"		सूक्ष्मकुण्डिकरणा	२२१
षट्खण्डागम	२८८	सूक्ष्मसाम्पराय क्षपक	१६४
षट्स्थानपतित	१५२	संयमासंयमगुण	१४४, १४६
"स"		संयमासंयमलक्षि	१४३
सङ्क्रमावली	२१२	संवेगसम्पन्न	१५८
सङ्क्लेश	८	स्तिबुक संक्रमण	८३, २१८, २१९, २६०
सदृशघन	२३६	स्थितिकाण्डकथात	३१, ४४, ५०
समकालभावी	३११	स्थितिकाण्डकोरकीरण काल	४५
समस्थिति	१६४	स्थितिक्षण्डायाम	८०
सर्वकरणोपश्रामना	२५०	स्थितिबन्धापसरणकाल	४५
सर्वोपशम	८७, ६६	स्थितिबन्धोत्तरण	२५७, २८१
सवेदी	२१०	स्थितिसत्कर्म	१२६
सहानवस्थान	६२	स्पर्धक	२२१, २२३, २२३, २२४
सागरोपमशतसहस्रपृथक्त्व	१४०	स्वस्थान नमनस	१६६
सादिमिथ्यादृष्टि	२६	स्वस्थान अल्पबहुत्व	३६, ७४
सामायिकछेदोपस्थापना संयम	१६४	स्वस्थान संयमी	२८४



लब्धिसारस्य गाथानुक्रमणिका

गा. सं.	गाथा	पृ. सं.	गा. सं०	गाथा	पृ. सं.
	"अ"				
३०	अजहण्णमणुक्कस्स	२४	१६२	अवरे विरदट्ठाणे	१५६
३२	अजहण्णमणुक्कस्सं	२७	८०	असुहाणं पयडीणं	६६
१२	अट्ट-अपुण्णपदेसु वि	१०	२२३	असुहाणं रसखंड-	१७६
१३०	अडवस्सादो उवरि	११८	६५	अहवावलि गदवरठिदि	५४
१३२	अडवस्से उवरिम्मि	१२२		"आ"	
१३६	अडवस्से य ठिदीदो	१२३	७८	आउगवज्जाणं ठिदि	६३
१३५	अडवस्से संपहियं	१२३	११	आऊ पडिणिरमदुगे	१०
१३३	अडवस्से संपहियं	१२२	४२	आदिमकरणद्धाए	३२
११३	अणियट्ठी अद्धाए	१०७	४०	आदिमकरणद्धाए	३१
११८	अणियट्ठिकरण पढमे	१०६	५	आदिमलब्धिभवो जो	५
२२६	अणियट्ठिस्स य पढमे	१८१		"उ"	
९५	अणियट्ठी संखगुणो	७७	५६	उक्कस्सट्ठिदि बंधिध	४६
२४६	अणुपुब्धी संकमरां	१६७	६६	उक्कस्सट्ठिदि बंधे	५७
११५	अणियट्ठी संखेज्जा	१०७	५८	उक्कस्सट्ठिदि बंधो	४८
२४७	अणुभयमाणंतरजं	१६५	२६	उदइल्लाणं उदये	२४
१४८	अणुसमओ वट्ठणयं	१३३	१४६	उदयवर्हि ओक्कट्टिय	१३४
१५	अयिरअसुभजसअरदो	१०	६८	उदयाणमावलिम्मिह य	५८
३१०	अद्धाए पट्ठतो	२५४	३१२	उदयाणं उदयादो	२५५
११६	अमरां ठिदिसत्तादो	१०६	३०५	उदयादि अवट्ठिदगा	२४४
१८४	अवरवरदेसलद्धी	१५१	१४३	उदयादिमलिदसेसा	१२६
३७६	अवराजेट्ठावाहा	३०७	७१	उदयावलिस्स दव्वं	५६
२९०	अवरादो चरिमेत्ति य	२३४	२२४	उदयावलिस्स वार्हि	१८०
३६५	अवरादो वरमहियं	२६७	२४५	उदयिल्ला एंतरजं	१६५
१८०	अवरा मिच्छविथद्धा	१४६	२८	उदये अउदसघादी	२२
१८५	अवरे देसट्ठाणे	१५२	१६७	उवणोउ मंगलं	१४२
२८८	अवरे बहुगं वेदि हु	२३२	२४६	उवरि समं उक्कोरद	१६४

गा. सं.	गाथा	पृ. सं.	गा. सं.	गाथा	पृ. सं.
२०५	उवसमचरिवाहिमुह	१६६	२८४	ओक्कट्टिद इगिभागं	२२२
१००	उवसमसम्मत्तद्धा	८२	१४२	ओक्कट्टिद बहुभागे	१२८
१०३	उवसमसम्मत्तुवरि	८७	३२१	ओदरगकोहपढमे	२६४
३५२	उवसमसेधीदां पुण	२८६	३२२	ओदरगकोहपढमे	२६६
६६	उवसामगो य सव्वो	८१	३२३	ओदरगपुरिसपढमे	२६६
३४२	उवसामगाणि शिषत्ती	२८१	३१६	ओदरगमाणपढमे	२६३
३७४	उवसंतद्धा दुगुणा	३०४	३२०	ओदरगमाणपढमे	२६३
३०३	उवसंतपढमसमवे	२४३	३१६	ओदरमादरपढमे	२६०
३०८	उवसंतो पडिबडिदे	२५३	३१७	ओदरमायापढमे	२६१
११६	उवहिसहस्सं तु	१०७	३१८	ओदरमायापढमे	२६२
“ए”			३१३	ओदरसुद्धमादीए	२४६
२३०	एइदियट्ठिदीदो	१८५	३४४	ओदरसुद्धमादीदो	२८४
७६	एक्केक्कट्ठिद्विखंढय	६४	६७	ओदरिय तदो विदीया-	५८
१६१	एत्तो उवरि विरहे	१५८	“अ”		
५७	एत्तो समज्जावलि	४७	२५२	अंतरकदपढमादो	२००
२६	एदेहि विहीणाणं	२०	८७	अंतरकदपढमादो	७१
८५	एयट्ठिद्विखंडुक्कीरण	६७	२६५	अंतरकदादुखणो	२०६
२५१	एय सावुं सयवेदं	१६६	२५४	अंतरकरणादुवरि	२०२
२१६	एवं पमत्तमियर	१७६	२५०	अंतरपढमादु कमे	१६६
३३८	एवं पल्लासंखं	२७७	२४४	अंतरपढमे अणो	१६४
२३२	एवं पल्ले जादे	१८६	८६	अंतरपढमे पत्तो	७२
७६	एवंविह संकमणं	६१	२४५	अंतरहेदुक्कीरद	१६५
२५८	एवं संखेज्जेसुट्ठिदि	२०४	६३	अंतिमरसखंडुक्की	७५
“ओ”			१७८	अंतिमरसखंडुक्कीरण	१४६
६६	ओक्कट्टिदइगिभागे	५८	७	अंतोकोडाकोडी	७
७३	ओक्कट्टिदइह य देदि	५६	२४०	अंतोकोडाकोडी	१६
१०४	ओक्कट्टिदइगिभाग-	८८	६७	अंतोकोडाकोडी	८०
			२२७	अंतोकोडाकोडी	१८६

गा. सं.	गाथा	पृ. सं.	गा. सं.	गाथा	पृ. सं.
३४	अंतोमुहुत्तकाला	२६	३७	गुणसेवी गुणसंकम	३०
११६	अंतोमुहुत्तकाले	१४३	५५	गुणसेवीदीहसाम	४५
११७	अंतोमुहुत्तकाले	१०६	३१४	गुणसेवीसत्पेदर	२५७
१०२	अंतोमुहुत्तमदं	८७		"घ"	
२१०	अंतोमुहुत्तमेत्ता	१७२	३२८	बादित्तिवाणं शियमा	२६८
३००	अंतोमुहुत्तमेत्ता	२४१	२०	बादित्तिसार्धं मिच्छं	१७
३०४	अंतोमुहुत्तमेत्ता	२४४		"च"	
	"क"		३८५	चडपडणमोहचरिमं	३११
१५४	कदरकरणासम्मलवणा	१३६	३८६	चडपड णपुब्बपडमो	३१३
३३६	कमकरणाविणट्ठादो	२७६	३८४	चडपडणमोहपडमं	३१०
४	कम्ममलपडस सत्ती	५	३८६	चडणे णामदुगाणं	३१२
१४७	करणापडमादु जावय	१३२	३४७	चडणोदरकालादो	२८६
३४६	करणे अघापवत्तो	२८६	३७०	चडबादरलोहस्स य	३००
२६६	किट्टि सुहुमादीदो	२४१	३८०	चडमाणस्स य णामा	३०८
३६६	किट्टीकरणाद्धिमा	३००	३९१	चडमाणं णपुब्बस्स य	३१४
२६२	किट्टीकरणाद्धाए	२३६	३८२	चडमायमाणकोहो	३०९
२६३	किट्टीयद्धाचरिमे	२३६	३७२	चडमायावेवद्धा	३०२
२७०	कोहदुगं संजलणग	२१२	२	चदुगधिमिच्छो सप्पणी	१
२७१	कोहस्स पडमट्ठिदी	२१३	३८१	चडतदिय अवरबंधं	३०९
३७३	कोहोवसामणद्धा	३०२	६०	चरिमणिसेओक्कहुं	४९
	"ख"		१८१	चरिमाबाहा ततो	१४९
३	खयउवसमविसोही	४	१४५	चरिमे फालि दिण्णे	१३१
२०४	खवगसुहमस्स चरिमे	१६३	४७	चरिमे सव्वे खंडा	३३
१४	खुज्जदं णाराए	१०	१४४	चरिमं फालि देदि दु	१३०
	"ग"			"छ"	
१३६	गुणसेडिसंखभागं	१२६	६	छद्व्वणवपयत्थो	६
८६	गुणसेवीए सीसं	७०		"ज"	
५५	गुणसेवीगुणसंकम	४४	३३७	जसो पाये होदि हु	२७७

गा. सं.	गाथा	पृ. सं.	गा. सं.	गाथा	पृ. सं.
२५५	अत्तो पाये होदि तु	२०२	२५९	एवदि असंख्खज्जाणं	२३२
१२३	अत्थ असंख्खज्जाणं	११०	२६२	एवदि य पुंवेदस्स य	२०६
१२७	जदि गोउक्खविसेसं	१२३	२२६	एवदि य एमिदुगारां	२६७
३४६	जदि भरदि सासणो सी	२५५	२६१	एमिदुगवेयणीय	२०६
१५१	जदि वि असंख्खज्जाणं	१३४	३०६	एमिधुवोदय वारस	२४६
१५०	जदि संकिलेसजुत्तो	१३४	५६	सिक्खेमदिस्थावण	४६
१२७	जदि होदि गुणिदकम्मो	११०	१११	एिदुवगो तट्ठारो	१०५
५१	जम्हा उवरिमभावा	४२		"स"	
३५	जम्हा हेदिठमभावा	२६	६४	तत्काले वज्जमाणे	५१
३५५	जस्सुदयेणारुडो	२६१	३३४	तत्काले मोहरियं	२७४
३५४	जस्सुदयेणारुडो	२६१	२३७	तत्काले वेमणियं	१९०
३६०	जस्सुदयेण च चडिदो	२६१	३६५	तग्गुणसेडो अहिंया	२९९
२१४	जावंतरस्स पुत्तरिम	१७२	४१	तच्चरिमे ठिदिबंधो	३१
५	जेदुववरिद्विदिबवे	७	२६३	तच्चरिमे पुंबंधो	२०५
	"ठ"		९५	तट्ठारो ठिदिसत्तो	५०
२२२	ठिदिखंडय तु खड्दवे	१७७	१३५	तत्तावकाले दिस्सं	१२३
३५५	ठिदिखंडय तु चरिमं	३१२	३४१	तत्तो अणियट्टिस्स य	२५०
१३४	ठिदिखंडाणुक्कीरणा	१२३	३३	तत्तो अभव्वजोमं	२५
२२६	ठिदिबंधपुषसगदे	१५४	१०	तत्तो उदधि सहस्स य	६
२३९	ठिदिबंधसहस्सगदे	१९१	१९६	तत्तोणुभयट्ठारो	१६२
२२५	ठिदिबंधसहस्सगदे	१५३	२०६	तत्तो तियरणविहिणा	१७०
२५७	ठिदिबंधाणोसरणा	२०४	६२	तत्तो दिस्थावणं	५१
५४	ठिदिबंधोसरणं पुण	४४	१६५	तत्तो पडिबज्जगया	१६१
१७५	ठिदिरसघादो एत्थि	१४७	९४	तत्तो पडमो अहिंयो	७६
२०५	ठिदिसत्तामपुव्वदुगे	१७२	१९७	तत्तो य सुहुमसंजम	१६२
	"रा"		१४१	तत्थ असंख्खज्जगुणं	१२५
३५०	एरतिरियक्खवणराउम	२५५	१५६	तत्थ य पडिवादगया	१५२
१६	एरतिरियाणं ओघो	१४	१९३	तत्थ य पडिवादगया	१६०
१५७	एरतिरिये तिरियणदे	१५३	३९०	तत्पडमट्ठिदिसत्तां	३१४

गा. सं.	गाथा	पृ. सं.	गा. सं.	गाथा	पृ. सं.
३७१	तन्मायावेददा	१०१	२१	देवसंज्ञाशुभ	१७
३४८	तन्मायावेददा	२८७	१४६	देवसु देवमणुए	१३१
४३६	साए अभापवत्तदाए	१२	१७६	देसो समये समये	१४८
३६३	ताहि चरिमसवेदो	२६६	३५३	दोण्हं तिण्हवण्हं	२९०
२२०	तिक्करणाबंधोसरणं	१७७	११०	दंसणमोहमखबराण	१०४
१३	तिरिखवुण्णोवी विम	१०	१६३	दंसणमोहुराणं	१३७
२३८	तीवे बंधसहस्से	११०	२०७	दंसणमोहवसमणं	१७०
३८७	तीसियचउण्ह पढमो	३१२	१६५	दंसणमोहे खविदे	१४१
१७	ते वेवोचोदसपदा	१४	“घ”		
१९	ते वेवेककारपदा	१६			
२१८	तेण परं हायदि वा	१७६	१६८	पढचरिमे गहणादी	१६३
२३४	तेत्तिममेत्तो बंधे	१८८	३६६	पढराजहणदिठवि	२६८
२३५	तेत्तिममेत्तो बंधे	१८९	३७५	पढरास्स असंखणं	३०५
२३६	तेत्तिममेत्तो बंधे	१८९	३८३	पढरास्स तस्स दुगुणं	३०९
१८	ते तेरस्सविदिमेण य	१४	३७६	पढराणिमट्टि यद्धा	३०५
३०७	तेसि रसवेदमवट्टाणं	२४६	४५	पडिखंडगपरिमाणा	३२
२४१	तो देसधादिकरणा-	१९३	२०१	पडिवज्ज जहणराकुबं	१६३
२३	तं राउगुच्चहीणं	१६	३७७	पडिवडवरगुणसेखी	३०६
२२	तं सुरचउक्कहीणं	१८	१९४	पडिवादगमा मिच्छे	१६०
“श्र”			१६६	पडिवादादीतिदियं	१६३
३२७	थी अण वसमे पढमे	२६८	१८८	पडिवादुगवरवरं	१५५
३६१	थी उदमस्स य एवं	२९५	४४	पडिसमयनपरिणामा	३२
२६०	थी उवसमिदाणंतर	२०६	२८५	पडिसमयमसंखगुणा	२२३
२५६	थीयद्धासंखेज्जदि	२०५	७५	पडिसमयमसंखगुणं	६१
“द”			७४	पडिसमयमोक्कहुदि	६१
१७४	दव्वं असंखगुणियं	१४६	२८२	पढमठिदिअद्धं ते	२२०
३१	दुत्तिआजतित्थाहार	२५	१७९	पढमट्ठिदि खंडुक्की	१४९
१६८	दुविहा चरित्तलद्धि	१४३	८८	पढमट्ठिदियावलि	७१
१५९	दुरावकिट्ठिपढमं	१३७	२७३	पढमट्ठिदिसीसादो	२१४
			६१	पढमादो गुणसंकम	७४

गा. सं.	गाथा	पृ. सं.	गा. सं०	गाथा	पृ. सं.
६६	पठमापुष्पजहृण	७६	११२	पुष्पं तिरमणविहिरण	१०६
८२	पठमापुष्परसादो	६७	३५२	पुंकोषोदयचलिय	३६०
२६७	पठमावेदो संजलराण	२१०	३६४	पुंकोहस्त व उदये	२६७
२६८	पठमावेदो तिविह	२११	३२४	पु संजलराणदराण	२६७
१८३	पठमे प्रवरो पत्तो	१४६		"ब"	
४८	पठमे प्रवरो प्रवरा	३३	३१५	बादरपठमे किट्टी	२५६
४६	पठमे करणे पठमा	३३	२६५	बादरलोहादिठिदी	२३७
४६	पठमे चरिमे समये	३३		"म"	
२६७	पठमे चरिमे समये	२३६	७२	मज्झिममधसामवरहिदे	५६
२२५	पठमे छट्ठे चरिमे	१८०	२७५	माणदुगं संजलराण-	२१५
२७	पठमे सध्वे विदिये	२१	२७६	माणस्त व पठमठिदी	२१६
३४३	पठमो प्रभापवतो	२८२	२७४	माणस्त व पठमठिदी	२१६
७७	पठमं प्रवरदिठदि	६२	३५६	मासादितियाण दये	२६१
५०	पठमं व विदियकरणं	४१	३५५	माणोदयेणचउपविदो	२६१
२०२	परिहारस्त जहृण	१६३	३५६	मासादयेण चडिदो	२६१
१६१	पलिदीवमसंतादो	१३७	२७६	मायदुगं संजलरा	२१६
१६०	पलिदीवमसंतादो	१३७	२८०	मायाए पठमठिदी	२१६
१२०	पल्लदिठिदो उवरि	११०	२७८	मायाए पठमठिदी	२१८
११४	पल्लस्त संखभागो	१०७	२५	मिच्छाणीयातिमुरकउ	२०
३६	पल्लस्त संखभाग	३१	६०	मिच्छतमिस्तसम्म-	७३
१२१	पल्लस्त संखभाग	११०	२००	मिच्छयदेसमिणो	१६३
१८२	पल्लस्त संखभाग	१४६	१५५	मिच्छतिमठिदिखंडो	१३७
२३१	पल्लस्त संखभाग	१८५	१०५	मिच्छतं वेदतो	६६
२४०	पुरारवि मदिपरिभोगी	१६१	१२६	मिच्छस्त चरिमफालि	११०
२६६	पुरिसस्त उत्तरावकं	२०६	१०६	मिच्छाद्वी जीवो	६६
२६४	पुरिसस्त व पठमदिठदि	२०८	१२४	मिच्छुच्छिदुठादुवरि	११०
३०१	पुरिसादीपुच्छिदुठ	२४२	१५७	मिच्छो खविदे सम्मदु	१३७
३०२	पुरिसादो लोहगयं	२४३	१७०	मिच्छो देसचरितं	१४४
३२५	पुरिसे दु ग्रण वसते	२६७	१७१	मिच्छो देसचरितं	१४४

श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्त षष्ठावर्ती विरचित

क्षपणासार

(कर्मक्षपण बोधिनी हिन्दो टीका समन्वित)

सम्पादक :

स्व. श्री. प. रतनचन्द्र मुख्तार

सहारनपुर (उ. प्र.)

“प्रकाशकीय निवेदन”

दिगम्बर जैन साहित्य में सर्वप्रथम ग्रन्थरूप से सूत्रनिबद्ध लिपिबद्ध सैद्धान्तिक कृति षट्-खण्डागम सूत्र हैं। जिन्हें धरसेनाचार्य तक (परम्परा से द्वासीन्मुख रूपेण) आगत भल्पतम एक देश अंगज्ञान को स्वयं धरसेनाचार्य से प्राप्त कर पुष्पदन्त-भूतबली आचार्यद्वय ने ग्रन्थरूप में सुरक्षित किया था। लगभग इन्हीं के समकालीन गुणधराचार्य ने कषायपाहुड़ नामक ग्रन्थ गाथासूत्र में निबन्ध किया था। इन्हीं दो ग्रन्थों पर धवल-जयधवल एवं महाधवल (महाबन्ध) टीकाएं विस्तारपूर्वक वीरसेन स्वामी ने लिखी हैं। इन्हीं के आधार से श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्यदेव ने चामुण्डराय के निमित्त गोम्मटसार (जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड) तथा लब्धिसार-क्षपणासार ग्रन्थश्रयो की रचना की है।

जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता से लगभग ४० वर्ष पूर्व संस्कृत टीकाओं एवं पं. टोडरमलजी की हिन्दी टीका सहित शास्त्राकार रूप से ये ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे। वर्तमान में ये ग्रन्थ अनुपलब्ध भी थे तथा इनकी हिन्दी टीका दुन्दारी भाषा में थी। अतः आधुनिक हिन्दी से परिचित अध्येताओं को इन ग्रन्थों के स्वाध्याय का यथोचित लाभ नहीं मिल पा रहा था। इसी को दृष्टिपथ में रखते हुए प. पू. आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज की स्मृति में स्थापित ग्रन्थमाला से धारों अनुयोग सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशन योजना के अन्तर्गत करणानुयोग से सम्बन्धित इन ग्रन्थों का प्रकाशन भी पिछले ८-९ वर्षों से निरन्तर चल रहा है। नेमिचन्द्राचार्य द्वारा विरचित त्रिलोकसार ग्रन्थ की माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव द्वारा रचित संस्कृत टीका सहित आ. विशुद्धमती माताजी द्वारा विरचित हिन्दी टीका के प्रकाशन से ग्रन्थमाला ने नेमिचन्द्र भारती का प्रकाशन प्रारम्भ किया था और उस भारती के ही ग्रन्थ गोम्मटसार कर्मकाण्ड का प्रकाशन आर्यिका आदिमती माताजी की हिन्दी टीका सहित अभी दो वर्ष पूर्व ही हुआ है। आर्यिकाद्वय आचार्य श्री शिवसागरजी की ही दीक्षित विदुषी शिष्याएं हैं।

अब नेमिचन्द्र भारती का तृतीय चरण लब्धिसार-क्षपणासार के रूप में प्रकाशित हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ की टीका करणानुयोग मर्मज्ञ स्व. ब्र. पं. रतनचन्द्रजी मुरुतार सहारनपुर निवासी ने की है। पंडितजी ने ग्रन्थमाला से प्रकाशित होने वाले अन्य कई ग्रन्थों का भी सम्पादन किया है। त्रिलोकसार और गोम्मटसार कर्मकाण्ड की टीकाओं का वाचन भी आपके साग्निध्य में ही हुआ है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड की वाचना के अवसर पर प. पू. आ. क. श्री श्रुतसागरजी महाराज के

सांनिध्य में जब आप आये थे उसी समय श्रीमान् सेठ रामचन्द्रजी कोठारी जयपुर निवासी की प्रबल-तम प्रेरणा से लब्धिसार-क्षपणासार के प्रकाशन का निर्णय पं. रतनचन्द्रजी से ही नवीन टीका कराकर करने का हुआ था । तदनुसार एक वर्ष के निरन्तर अथक परिश्रम से स्व. मुख्तार सा. लब्धिसार और क्षपणासार की टीका करके चातुर्मास प्रवास में निवाई सन् १९७६ में पुनः प. पू. आचार्य कल्प श्रुतसागरजी महाराज के सांनिध्य में उपस्थित हुए । वाचना के पश्चात् चूंकि पं. की स्वयं भावना थी कि पहले क्षपणासार का प्रकाशन हो क्योंकि इसकी टीका मैंने जयधवल की मूल प्राकृत टीका के उस भाग के आधार से की है जिसकी अभी तक हिन्दी टीका प्रकाशित नहीं हुई है । अतः उसी की पाण्डुलिपि का कार्य प्रारम्भ हुआ तथा क्षपणासार की पाण्डुलिपि का पुनर्निरीक्षण भी उन्होंने कर लिया था । लब्धिसार की पाण्डुलिपि का वाचन उन्हीं के अनन्यतम शिष्य श्री जवाहरलालजी सिद्धान्तशास्त्री (भीण्डर) ने आ. क. श्री श्रुतसागरजी के समक्ष हो किया है । इस प्रकार पं. द्वारा विरचित टीका के प्रकाशन का संक्षिप्त इतिहास है ।

अत्यन्त खेद है कि अनेक अपरिहार्य कारणों से हम स्व. मुख्तार साहब के इस परिश्रमपूर्ण कार्य को उनके समक्ष मूर्तरूप नहीं दे सके । त्रिलोकसार का एवं गोम्मटसार कर्मकाण्ड का प्रकाशन उनके समक्ष हो चुका था, किन्तु गोम्मटसार कर्मकाण्ड की प्रस्तावना, शुद्धिपत्र एवं परिशिष्ट आदि ही वे बना पाये थे बाइन्डिंग सहित प्रति वे नहीं देख सके । लब्धिसार-क्षपणासार की प्रस्तावना भी वे टीका वाचन के समय ही लिख चुके थे अतः उसी को यहां उन्हीं की भाषा में प्रकाशित किया गया है ।

एक विशिष्ट बात और निवेदन कर देना चाहता हूं कि गोम्मटसार कर्मकाण्ड की टीका वाचन के समय ही गोम्मटसार जीवकाण्ड की भी टीका लिखने का निर्णय हो चुका था, तदनुसार लब्धिसार-क्षपणासार की टीका वाचन के अनन्तर ही उन्होंने जीवकाण्ड की टीका को लिखना प्रारम्भ कर दिया था अथक परिश्रम करते हुए लिखी जाने वाली इस टीका को वे अपने मरण से दो दिन पूर्व तक लिखते रहे, किन्तु वे उसे पूरी नहीं कर पाये । अन्तिम ३७ गायत्रियों की टीका अवशिष्ट रह गई थी जिसे उन्हीं की भावनानुसार उनके अनन्यतम शिष्य भीण्डर निवासी श्री जवाहरलालजी सिद्धान्त शास्त्री ने ही की । उस टीका की पाण्डुलिपि का कार्य चल रहा है शीघ्र ही उसके प्रकाशन के लिये भी ग्रन्थमाला प्रयत्नशील है । आशा है स्व. मुख्तार सा. की उक्त कृति का भी शीघ्र ही प्रकाशन प्रारम्भ किया जा सकेगा । अत्यन्त हर्ष का विषय है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में सम्पूर्ण आर्थिक सहायता इस ग्रन्थ के प्रकाशन में प्रधान प्रेरक श्रीमान् रामचन्द्रजी कोठारी ने ही प्रदान की है । आप आर्थिक विचारों से युक्त बड़ी थोड़ी हैं, साथ अभीष्ट स्वाध्यायी भी हैं । लब्धिसार-क्षपणासार ग्रन्थ आपको रुचिकर भी था इस ग्रन्थ का स्वाध्याय आप स्वयं भी दो-तीन बार कर चुके थे ।

अन्त में मैं अपने को धन्य समझता हूँ कि वार्धवध की अवस्था में मुझे इन सिद्धान्त ग्रन्थों के प्रकाशन का मंगलमय सुप्रवसर आचार्य श्री शिवसागर ग्रन्थमाला के माध्यम से प्राप्त हुआ। स्व. मुख्तार सा. का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ कि जिन्होंने नेमिचन्द्र भारती प्रकाशन योजना के अन्तर्गत त्रिलोक-सार एवं गोम्मटसार कर्मकाण्ड की टीकाओं की वाचना-सम्पादनादि में अमूल्य सहयोग दिया तथा लब्धिसार-क्षरणासार, गोम्मटसार जीवकाण्ड की टीका लिखकर अध्येता समाज को उपकृत किया है। द्रव्य प्रदाता श्रीमान् रामचन्द्रजी कोठारी का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए आर्थिक भार वहन किया है और तत्त्व जिज्ञासुओं को लाभान्वित किया है। द्रव्यप्रदाता की भावना को देखते हुए इस ग्रन्थ का मूल्य स्वाध्याय रखा है। आशा है स्वाध्यायीजन सेठ सा. की इस सदारता का पूरा लाभ लेंगे।

अन्त में बाकलीवाल प्रिण्टर्स का भी आभार मानता हूँ कि ग्रन्थ मुद्रण का कार्य अत्यन्त तत्परता से किया है। साथ ही प्रेस कर्मचारों भी धन्यवादार्ह हैं जिन्होंने ग्रन्थ का सुन्दर मुद्रण किया है। नेमीचन्द्रजी बाकलीवाल तथा उनके सुपुत्र गुलाबचन्द्र एवं भूपेन्द्रकुमार भी जैनदर्शन के ग्रन्थों का मुद्रण अत्यन्त सुन्दरता से एवं परिश्रम से करवाते हैं।

ब. सादरमल जैन



प्रस्तुत ग्रन्थ के टीकाकार

लब्धिसार—क्षपणासार करणानुयोग का एक प्राकृतगाथाबद्ध ग्रन्थ है। इसमें कुल ६५३ गाथाओं द्वारा कर्मसिद्धान्त का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इसमें सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति का दिग्दर्शन है। प्रपंच यह है कि प्रथमोपशमसम्यक्त्व, क्षापिकसम्यक्त्व, देशसंयमलब्धि [संयमासंयम], सकलसंयमलब्धि [सकल संयम या सकल चारित्र], चारित्र मोह की उपशामना, चारित्रमोह की क्षपणा, केवली—समुद्घात एवं योगनिरोध का इसमें करणानुयोग के अनुसार सूक्ष्म प्ररूपण किया गया है।

इस ग्रन्थ की रचना श्री चामुण्डराय के प्रश्न के निमित्त से परमपूज्य नेमिचन्द्राचार्य द्वारा हुई। ग्रन्थराज श्री जयधवल। इस ग्रन्थ के सृजन का मूल आधार रहा है। श्री जयधवल कोई ६० हजार श्लोक प्रमाण माना जाता है, जो हिन्दी मनुवाद सहित कोई १५ अथवा १६ भागों में छपकर पूर्ण होगा। इसके १३ भाग तो छप चुके हैं। अवशिष्ट भाग छप रहे हैं इस जयधवल के लगभग एक तृतीय भाग के साररूप में लब्धिसार—क्षपणासार की रचना हुई है।

श्री परमपूज्य नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्त चक्रवर्ती ग्यारहवीं शताब्दी के आचार्य थे। [जै. ल. भाग १ पृष्ठ १८ ग्रन्थकारानुक्रमणिका] इनके गुरु अभयनन्दि थे। [प्रस्तुत ग्रन्थ, गा ६५२] ये [नेमिचन्द्राचार्य] वीरनन्दि, गुरु हृन्ननन्दि एवं गुरु कनकनन्दि आदि भुनीश्वरों के समकालीन थे। [ल. सा. क्ष. सा. ६५२ एवं गो. क. ३६६] इस ग्रन्थ पर पूर्व में संस्कृतवृत्ति तथा हिन्दी में पण्डित प्रवर टोडरमलजी द्वारा टीका लिखी गई है।

इसी ग्रन्थ पर अभीक्ष्ण स्वाध्यायी श्रीमन्त सेठ रामचन्द्रजी कोठारी के द्वारा अभिव्यक्त मनोभावना के बल पर परमपूज्य श्रुतसागरजी महाराज की विशिष्ट प्रेरणा से पू. गुरुवर्य स्व. रतनचन्द मुख्तार सा. ने प्रस्तुत हिन्दी टीका लिखी है। जिसका आधार मुख्यतः जयधवल रहा है। मैं इस अवसर पर अतिसंक्षेप में पूज्य गुरुवर्य के बारे में कुछ लिखना आवश्यक समझता हूँ—

सहारनपुर शहर के बड़तल्लायादगार मोहल्ले में जुलाई १९०२ ईस्वी में श्री धवलकीर्तिजी के घर पर बरफीदेवी माता के गर्भ से आपका जन्म हुआ। विद्याध्ययन एवं बाल्यावस्था पार करके यथाकाल आप वकालात (मुख्तारी काम) करने लगे। वर्षों तक मुख्तारों का कार्य करके ३१ मई सन् ४७ को आपने वकालात का कार्य समग्ररूप से छोड़ दिया।

श्री भागीरथजी वर्णी की प्रेरणा से आप स्वाध्याय की ओर आकृष्ट हुए। इसके बाद यथा समय आध्यात्मिक संत, पूज्य श्री श्रु. गणेशप्रसादजी वर्णी, न्यायाचार्य से आपका सम्पर्क हुआ। उन्हीं की प्रेरणा से गुरुजी ने १८ आचकाचार ग्रन्थों का अभ्यास किया तथा उनसे [पूज्य वर्णीजी से] द्वितीय प्रतिमा के व्रत अंगीकृत किये। जबसे बकालात का कार्य छोड़ा तबसे आप प्रतिदिन निरन्तर स्वाध्याय में लीन रहते थे। नित्य ८ से १२ घण्टों तक स्वाध्याय कर लेते थे। ऐसा अभीक्षण शानोपयोगी मैंने गृहस्थों में तो कहीं नहीं देखा। आपका स्वाध्याय अत्यन्त स्तुत्य था।

यद्यपि आप अंग्रेजी व उर्दू ही पढ़े थे, परन्तु आत्मबल से एवं जिनवाणी माँ की सेवा के प्रसाद से आपने हिन्दी, संस्कृत व प्राकृत में भी प्रवेश पा लिया था। किसी भी गुरु से नियमित रूप से पढ़कर ज्ञान-लाभ लेने का अवसर आपको नहीं प्राप्त हुआ, अर्थात् आप स्वोपार्जित ज्ञानी थे। स्वकीय अध्ययन की अभीक्ष्णता के कारण अल्प समय में ही आपने कोई २०० दिगम्बर जैन शास्त्रों का सूक्ष्म स्वाध्याय कर लिया तथा आप अपने समय में एक शीर्षस्थ करणानुयोगज्ञ के रूप में भारत में माने जाने लगे थे। धवला, जयधवला तथा महाधवला का अध्ययन तो आपको अतिसूक्ष्म एवं बेजोड़ था। इन तीनों ग्रन्थों के आप पारङ्गत बोद्धा थे। इन ग्रन्थों के अनेकों स्थल आपको कण्ठस्थ थे। श्री बद्रीप्रसादजी सरावगी, पटनासिटी ने ठीक ही कहा है—

“वर्तमान में प्रकाशित धवला, जयधवला एवं महाधवला ग्रन्थों में गम्भीर व सूक्ष्म अध्ययन करके हजारों अश्रुद्धियाँ स्व. ब्र. रतनचन्दजी ने पकड़ी थीं। कहां कितना विषय छूट गया था, कहां पर कितना ज्यादा है सब उनके पास नोट था।”

सन् १९५४ से अन्त तक आपका “शंका-समाधान-स्तम्भ” जैन संदेश एवं जैन गजट में आता रहा था। जिससे हजारों स्वाध्यायी मुमुक्षु लाभान्वित होते थे। अखिल भारतीय दि. जैन शास्त्री परिषद् के आप ४ वर्षों तक [१९६५ से ६९] अध्यक्ष भी रहे थे।

आपका सम्पर्क विशिष्ट रूप से प. पू. स्व. शिवसागरजी महाराज के संघ से रहा था। परम पूज्य शिवसागरजी महाराज के दिवंगत होने के पश्चात् भी प. पू. आ. क. श्रुतसागरजी महाराज के संघ से आपका सम्पर्क जीवनान्त तक बना रहा था।

परमपूज्य श्रुतसागरजी महाराज एवं उनके संघ की प्रेरणा से जीवन के अन्तिम दो-तीन वर्षों में आपने धवलत्रय आदि के आधार पर लब्धिसार-क्षपणासार तथा जीवकाण्ड की टीकाएँ लिखीं, जो सिद्धान्तग्रन्थों के स्वाध्यायीजनों के लिये अतीव लाभस्पर्द सिद्ध होंगी।

बड़े सौभाग्य की बात है कि भीण्डर में संघ परमपूज्य आ. क. श्रुतसागरजी महाराज का पदार्पण हुआ तथा संघ से मेरा नैकट्य बढ़ा। फलस्वरूप मुझे लब्धिसार-क्षपणासार की वाचना [प.

पू. आचार्यकल्प श्री की प्रधान सन्निकटता में एवं वर्धमानसागरजी महाराज श्री के साथ] का सुभवसर मिला । हमने इसमें यथाबोध अपनी प्रतिभा का पूरा उपयोग किया । अब लब्धिसार-क्षपणासार तो छपकर तैयार है तथा जीवकाण्ड की गुरुवर्यकृत टीका की प्रेसकापी [पाण्डुलिपि] हो रही है । प. पू. श्रुतसागरजी महाराज का अकथनीय सहयोग, प्रस्तुत ग्रन्थ की वाचना आदि में न होता तो यह कार्य नहीं हो सकता था ।

पूज्य गुरुवर्य लब्धिसार-क्षपणासार का टीका कार्य तो पूरा कर चुके थे तथा क्षपणासार उनकी उपस्थिति में ही छप चुका था, परन्तु लब्धिसार प्रेस में नहीं गया था । उसकी तो प्रेस कापी भी बनानी शेष थी । लब्धिसार-क्षपणासार की तरह वे जीवकाण्ड की टीका पूरी नहीं कर पाये थे । वे ६६६ गाथाओं की टीका लिख चुके थे । अर्थात् अन्तिम ३७ गाथाओं की टीका लिखनी अवशिष्ट रह गई थी कि दिनांक २८-११-८० के सन्ध्या के बाद बजे ने एक गश्बर शरीर को छोड़कर दिवंगत हुए ।

हां ! अभीक्षणज्ञानोपयोगी, निरीह तथा ज्ञान व त्याग के समन्वय से युक्त वह सत्पुरुष अब कहां ? अब तो उनकी कृतियां ही उनकी स्मारिकाएं हैं । पूज्य गुरुजी के लिये कहे गये कतिपय विद्वानों एवं श्रोमानों के उद्गार—

१. श्रीमान् स्व. ब्र. पं रतनचन्द्र मुख्तार, सहारनपुर वाले करणानुयोगरूपी नभमण्डल के उदीयमान मार्तण्ड थे । गणित का आपको इतना ज्ञान था कि जो आज के गणित के पी० एच० डी० को भी नहीं होगा ।

परमविदुषी पू० १०५ आ० विशुद्धमतीजी
[त्रिलोकसार, त्रिलोकसार दीपक आदि सिद्धान्त ग्रन्थों की टीकाकर्त्री]

२. चतुरनुयोग के अवगम को प्राप्त ब्र० रतनचन्द्रजी की साधना उत्कृष्ट थी ।

डॉ० पं० ब्र० पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर (M.P.)

३. सादे और त्यागमय जीवन वाले सत्पुरुष स्व० ब्र० रतनचन्द्रजी करणानुयोग के अधिकारी विद्वान् थे ।

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी सिंहास्त्री, काशी

४. स्व० बाबूजी रतनचन्द्रजी मुख्तार समतापूर्ण विद्वत्ता और विद्वत्तापूर्ण समता के बनी थे ।

अष्टसहस्र पृष्ठ प्रमाण जेनेन्द्र सिद्धान्त कोश जैसी अमर कृति
के निर्माता क्षु० जेनेन्द्र वर्मा जी

५. दोनों भाई [ब्र० रतनचन्द्रजी तथा ब० नेमिचन्द्रजी] धार्मिक जीवन निरन्तर स्वाध्याय में लीन रहते थे ।
पं० तनसुखलाल काला, मुंबई

६. जीवनदानी, श्रुतसेवी स्व० पं० रतनचन्द्रजी दिगम्बर शास्त्रों के जीते-जागते कोश थे ।

पं० कन्हैयालालजी सोढ़ा, जयपुर

७. जिन्हें मैं अपना गुरु मानता था, वे पू० स्वर्गीय रतनचन्द्र इस शताब्दी के पं० बनारसीदास, पं० टोडरमल, पं० दीलतराम ही थे ।
श्री शान्तिलालजी कांगजी, दिल्ली

८. मुख्तार सा. का जीवन अविरत, देशविरत और महाव्रतियों के लिये वह निदर्शन है [मोडल है] जो कि पंचमकाल में निभ सकता है ।
प्रो० खुसालचन्द गोरावाला, भदानी काशी

वस्तुतः वे चतुरनुयोग-पारगामी शीर्षस्थ विद्वानों में से एक थे । उनके द्वारा लिखी गई प्रस्तुत ग्रन्थ की यह टीका सर्वोपयोगी सिद्ध होगी । इसी भावना के साथ उनको "वन्दन" करता हुआ मैं अपना वक्तव्य पूरा करता हूँ ।

साटड़िया बाजार, गिरिवर पोल
भोण्डर [राज०] २१३६०३

जवाहरलाल पिता मोतीलाल जैन वगतावत

१. ब्र० नेमिचन्द्रजी मुख्तार सभी जीवित हैं । आप भी अपने अग्रज के समान असाधारण ज्ञान के धनी हैं । सरलता व निस्पृहता तो आपकी, ग्रन्थ देखने को नहीं मिलती । जगत् के बाह्य आडम्बर से विरक्त एवं महान् आध्यात्मिक हैं । आप में अग्रज की प्रतिभा के ही दर्शन होते हैं ।
—जवाहरलाल

२. उनके बारे में सभी विद्वानों-श्रीमानों के मत लिखने पर तो अतिविस्तार हो जायगा, अतः इस भय से उक्त आठ मत ही लिखे हैं । शेष 'मुख्तार स्मृति ग्रन्थ' से जाने जा सकेंगे ।

जीवन परिचय

सेठ सा. श्री रामचन्द्रजी भौसा (बड़जात्या) कोठचारी-जयपुर

श्री रामचन्द्रजी कोठचारी का जन्म चैत्र शुक्ला नवमी (रामनवमी) सं. १९६१ में हुआ। आपके पिता श्री जोहरीलालजी कोठचारी थे। आपके पूर्वज जयपुर राजघराने में कोठचारी पद को अलंकृत करते आये थे, इसी कारण आप भी कोठचारी कहलाये। यद्यपि आपने राजघराने में सेवा नहीं की थी किन्तु वंशपरम्परागत राजकीय सेवा होने से सभी परिवार वाले कोठचारी कहलाने लगे। वैसे आप दि. जैन धर्मानुयायी खण्डेलवाल जाति में भौसा (बड़जात्या) गोत्र में उत्पन्न हुये हैं।

जब आप ७-८ महीने के ही थे उस समय आपके पिता श्री जोहरीलालजी का स्वर्गवास हो गया था। आपके बड़े भाई श्री गुलाबचन्दजी कोठचारी थे किन्तु उन्होंने इनको पृथक् कर छोटी अवस्था में ही अपना घर का भार वहन करने को मजबूर कर दिया। यद्यपि उस समय आपकी अवस्था छोटी ही थी तथापि साहस और वीर्य ने इनका साथ नहीं छोड़ा और कुशाग्र बुद्धि के कारण तथा वाक्पटु होने से आप अपने व्यवसाय में निपुण हो गये। जो भी कारोबार किया सच्चाई और ईमानदारी से किया जिससे आपकी साख व प्रसिद्धि बाजार और व्यापार में प्रगाढ़ रूप से जम गई।

उस समय चांदी का व्यापार सट्टे के रूप में काफी जोरों पर था और राजमान्यता भी मिली हुई थी व इसके लिये बुलियन भी कायम हो चुकी थी। बड़े-बड़े व्यापारी वंश रूप से चांदी का सट्टा करते और काफी धन कमाते थे। इस व्यापार में इनको भी काफी लाभ हुआ। रात दिन दत्त चित्त होकर इस व्यापार में धन के साथ नाम भी कमाया, बुलियन के आप सम्माननीय सदस्यों की गिनती में आने लगे। यद्यपि आज सट्टा बन्द हो गया और यह व्यापार अब नाममात्र को भी नहीं है फिर भी आप बुलियन में सम्माननीय पद को अलंकृत करते हैं।

आपकी प्रवृत्ति धार्मिक रही है। सदा मन्दिरों और धार्मिक संस्थाओं में आना जाना, उनको चंदा देना, उनकी देखरेख में रुचि रखना तथा समय-समय पर उनके कार्यों में आर्थिक सहायता देना इनकी धार्मिक रुचि का परिचायक है। इसी के परिणाम स्वरूप आपको कई संस्थाओं ने सम्माननीय पद देकर अपना शौरव माना है। श्री दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज में आपने पूरा छात्रावास बनवाया जिसका उपभोग कासेज के पढ़ने वाले छात्र आज भी करते हैं और करते रहेंगे।

आपको शास्त्र पढ़ने का व्यसन है, इसी से आपको धार्मिक तत्त्वज्ञान तथा पौराणिक जैन साहित्य का धार्मिक ज्ञान है। छोटे दीवानजी के मन्दिर में आपने वर्षों शास्त्र प्रवचन किया है, जिससे सिद्ध होता है कि आपकी स्वाध्याय में काफी रुचि रही है।

जिस प्रकार आपको स्वाध्याय से प्रेम है उसी प्रकार स्वाध्यायी बंधुओं से भी प्रेम है। आप मुनि संघों की भक्ति में भी सदा से रुचि लेते आये हैं। कोई भी त्यागी, ब्रह्मी, प्रतिमाधारी, साधू सन्त जब भी आते हैं आप उनकी सेवा सुश्रूषा में निरत हो जाते हैं और उनकी तन मन धन से चर्या करते हैं।

संवत् २००८ में श्री १०८ आचार्य श्री बीरसागरजी महाराज के संघ से १०८ श्री शिवसागरजी महाराज व श्री सुमतिसागरजी महाराज व ३ आधिका माताजी फुलेरा से चातुर्मास पहले पदमपुरी दर्शन कर जयपुर पधारे उसी अवसर पर आपके परम मित्र श्री गुलाबचन्दजी लोंग्या (बाद में मुनि दीक्षा लेकर पूज्य १०८ श्री जयसागरजी के नाम से प्रसिद्ध हुये) ने आपके चौड़ा रास्ता स्थित भवन में आहारदान दिया था। सभी साधु एवं साध्वियों का निरंतराय आहार भी हुआ था इस अवसर पर आपके शुद्ध जल की प्रतिज्ञा नहीं थी अतः आप कृत कारित आहार न देकर मात्र अनुमोदन स्वरूप आहार ही दे सके थे तथा मन और वचन से ही अपना उपयोग लगा सके थे। जब संघ फुलेरा चातुर्मास हेतु गमन कर रहा था तब वह भाकरोटा में विभाम हेतु ठहरा था तब आप भाकरोटा गये थे और महाराज श्री के समक्ष शुद्ध जल ग्रहण करके आहारदान देने की पात्रता प्राप्त की थी और फिर फुलेरा जाकर चातुर्मास में संघ को आहार दान देकर अपनी मनशा पूर्ण की थी। आपके हृदय में मुनि संघ की सेवा के उत्कट भाव जागृत हो चुके थे इसी कारण आपने जब संघ चातुर्मास पूर्ण कर जयपुर आया तब संघ की श्री ब्र. लाडमलजी की प्रेरणा से सम्मेलन शिखर की यात्रा कराने के आपके भाव उत्पन्न हुए और आचार्य महाराज से संघ की सम्मेलन शिखर ले जाने की अनुमति चाही। महाराज श्री ने भी आपको समर्थ एवम् धर्मनुरागी थावक समझकर संघ को यात्रा कराने की अनुमति प्रदान कर दी। इसी अवसर पर आपने चांदी के शाब्दिक व्यापार अर्थात् सट्टा करने का त्याग कर दिया जिससे सभी ने आपकी सराहना की।

यात्रार्थ गये संघ में परमपूज्य आचार्य महाराज श्री १०८ श्री बीरसागरजी महाराज तो प्रमुख थे ही साथ में १०८ श्री आदिसागरजी महाराज, १०८ श्री शिवसागरजी महाराज, १०८ श्री सुमतिसागरजी महाराज, १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज, १०५ श्री एलक पदमसागरजी महाराज तथा १०५ आधिका श्री बीरमती माताजी, १०५ श्री सुमतिमाताजी, १०५ श्री पार्ष्वमति माताजी, १०५ श्री इन्दुमति माताजी, १०५ श्री सिद्धमति माताजी, १०५ श्री शान्तिमति माताजी, १०५ आधिका श्री कुन्धुमति माताजी, १०५ क्षु. श्री अजितमति माताजी, १०५ क्षु. श्री अनन्तमति माताजी, १०५ क्षु. श्री गुणमति माताजी, श्री ब्र. लाडमलजी, श्री ब्र. कजोडीमलजी, श्री ब्र. सूरजमलजी, श्री ब्र. चांदमलजी, श्री ब्र. राजमलजी (वर्तमान श्री १०८ श्री अजित सागरजी महाराज) व १५-२० ब्रह्मचारिणी ब्राह्म्या आदि संघ में उपस्थित थे। इन सभी साधु साध्वियों का संघ ब्रह्मचारी श्री लाडमलजी के विशेष सहयोग से रास्ते की सभी अतिशय क्षेत्रों की यात्रा करते हुये सानन्द सम्मेलन शिखर पहुंचा। आपने इस अवसर पर दिल खोलकर अपने द्रव्य का सदुपयोग किया और संघ की सेवा का लाभ लिया।

संवत् १२, १३ और १४ में खानिया जयपुर में होने वाले चातुर्मास में भी आपका सक्रिय सहयोग संघ

की मिला। आपने इस अवसर पर आहारार्थ धान देकर तथा अन्य सभी प्रकार की सेवा सुधूषा करके अपने धर्मानुराग का परिचय दिया—

जिनबाणी से आपका विशेष प्रेम होने से आपने पार्श्वनाथ भवन में सरस्वती भवन बनवाया जो जिनबाणी के प्रचार-प्रसार में काफी योगदान दे रहा है। आचार्यकल्प श्री १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज के चातुर्मास में श्री ब्र. लाडमलजी की प्रेरणा से आप संवत् २०३७ के चातुर्मास में पदमपुरा (बाड़ा) में २५ फुट ऊंची खडगासन प्रतिमा स्थापित कराने हेतु उसे मकराना में तैयार करा रहे हैं। श्री ब्र. लाडमलजी के विशेष सहयोग से आपने लक्ष्मिसार एवं क्षणसार की टीकायें छपायी हैं जो स्वाध्याय प्रेमियों को धर्म लाभ दे रही हैं।

आपने अपने जीवन में तीन विवाह किये और तीनों से ही सन्तानोत्पत्ति हुई। आपके ६ पुत्र एवं चार पुत्रियाँ हैं। जिनके नाम क्रमशः श्री प्रकाशचन्द, श्री धर्मकुमार, श्री सन्तकुमार व श्री पदमकुमार, श्री वृत्तिकुमार एवम् राजकुमार लड़के हैं और श्रीमती मुन्नादेवी, श्रीमती स्वर्णलता, श्रीमती मणिमाला एवम् श्रीमती अनिला ये चार पुत्रियाँ हैं। आपको धर्मपत्नि श्रीमती रत्नदेवी हैं जो धर्म से आपका पूर्ण सहयोग करती हैं। श्री १०८ श्री शिवसागरजी महाराज एवम् श्री १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज की सत्प्रेरणा से मि. प्रथम भादवा सुदी २ सं. २०१२ में आपने प. पू. आचार्य महाराज श्री १०८ श्री शक्ति सागरजी महाराज से दो प्रतिमायें धारण की जो सानन्द निभ रही हैं। प्रतिमाओं का निर्वह इनकी धर्मप्रेमी पत्नि के कारण ही सम्भना चाहिये जो इनको सभी प्रकार का सहयोग प्रदान करती हैं।

इस प्रकार श्री रामचन्द्रजी कोठ्यारी अपनी ८० वर्ष की अवस्था में अपने पुत्र एवं पौत्रों से सम्पन्न परिवार के साथ अपने धर्म ध्यान की साधते हुये सानन्द जीवन यापन कर रहे हैं। आपको गुरु भक्ति तथा जिनेन्द्र भक्ति सदा वृद्धिगत हो यही हमारी हार्दिक कामना है। इति शुभम्।

निवेदक—गुलाबचन्द जैन, जैन दर्शनाचार्य एम.ए. जयपुर

प्रस्तावना

तीर्थंकर वर्धमान स्वामि की दिव्यध्वनि से निःसृत, गौतम मण्णवर द्वारा सूत्र निबद्ध 'श्रुत' श्रुत केवली परम्परा में अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहु तक अक्षुण्ण रूप से प्राप्त होता रहा। इससे पूर्व भी २३ तीर्थंकरों, एवं विदेह क्षेत्रस्थ सीमन्धरादि तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि में भी वही प्ररूपण हुआ जो वर्धमान भगवान की वाणी में हुआ था। इतना ही नहीं अनन्तानन्त भूतपूर्व तीर्थकर्त्ता तीर्थंकरों की वाणी में भी उसी प्रकार प्ररूपण हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि—चारों घातिया कर्मों का क्षय हो जाने पर भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र के सभी तीर्थंकरों को केवल ज्ञान होता है। केवलज्ञान होने पर समवसरण की रचना होकर यथाकाल दिव्यध्वनि प्रकट होती है। सभी केवल ज्ञानियों का केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट अविभागी-प्रतिच्छेद वाला होने से एकरूप है। दिव्यध्वनि केवल ज्ञान का कार्य है।^१ अतः सभी तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि एकरूप होती है, इसीलिये आगम अपौरुषेय तथा अनादि है।^२ तीर्थंकर भगवान आगम के कर्त्ता नहीं हैं, व्याख्याता हैं।^३ प्रवाह रूप से अनादि होने के कारण दिव्यध्वनि न्यूनता और अधिकता से रहित होती है।^४

इस प्रकार अनादि प्रवाह रूप से चला आया श्रुत भद्रबाहु श्रुत केवली तक द्वादशांग रूप में प्राप्त था उसके पश्चात् ह्यासोन्मुख वह श्रुत ज्ञान परम्परा से आंशिक रूप में श्री गुणधर भट्टारक एवं श्री धरसेनाचार्य को प्राप्त था। वही आंशिक ज्ञान धरसेनाचार्य से पुष्पदन्त-भूतवली आचार्यद्वय को प्राप्त हुआ और उन्होंने उसे सूत्र रूप में निबद्ध कर दिया जिसे षट्खण्डागम के रूप में आज भी जाना जाता है। तथा गुणधराचार्य को जो आंशिक ज्ञान प्राप्त था उसे उन्होंने २३३ गाथाओं में कषायपाहुड़ रूप से निबद्ध किया है। यद्यपि गुणधराचार्य ने कषायपाहुड़ के प्रारम्भ में पन्द्रह अधिकारों को १८० गाथाओं में निबद्ध करने की प्रतिज्ञा की है, किन्तु इसमें २३३ गाथाएं हैं। इसके अतिरिक्त चूलिका में दो गाथाएं और हैं। दूसरे अधिकार में १८० गाथाओं की प्रतिज्ञा के अनुसार शेष ५३ गाथाओं को कितने ही व्याख्यानाचार्य नागहस्ति आचार्य कृत मानते हैं, किन्तु कषायपाहुड़ के इन गाथा सूत्रों पर वीरसेन स्वामि ने अपनी ६०००० श्लोक प्रमाण टीका की है। वे इन सभी २३३ गाथाओं के रचयिता गुणधराचार्य को ही स्वीकृत करते हैं। २३३ गाथाएं सूत्र गाथाएं हैं।

ये २३३ गाथा आचार्य परम्परा से आती हुई आर्यमंजु और नागहस्ती आचार्य को प्राप्त हुईं। आचार्य युगल के पादमूल उन्हीं २३३ गाथाओं के अर्थ को भली-भांति श्रवण करके प्रवचन

१. तत्र मतसोऽभावे तत्कार्यस्य लक्षसोऽपि न सत्त्वमिति चेन्न, तस्य ज्ञानकार्यत्वात्। अ. पु. १ पृ. २५८।
२. सत्येवमागमस्यापौरुषेयत्वं प्रसज्यतेति चेत् न, साध्यव्यावृत्तभावेन वरुण-पद्म-पंक्तिभिश्च प्रवाहरूपेणापौरुषेयस्याभ्युपगमात् (ध. पु. १ पृ. २८६)। अथपि विद्वारेणैकस्य प्रवाहरूपेणापौरुषेयस्यागमस्यासत्यत्व विरोधात्। अ. पु. १ पृ. १६५। अपौरुषेयत्वेनोऽनादिः सिद्धान्तः (ध. पु. १ पृ. ७६)
३. प्रवाहरूपेणापौरुषेयत्वतस्तीर्थंकरादयोऽस्य व्याख्यातार एव न कर्त्तार इति (अ. पु. १ पृ. ३४६)
४. हीणाहिमभावविरहित्य (ज. ध. पु. १ पृ. ६५; अ. पु. १ पृ. ६१)

वत्सल आचार्य श्री यतिवृषभ ने उन गाथाओं पर चूणिसूत्रों की रचना की। कथायपाहुड़ ग्रन्थ की रचना का मूलस्रोत दृष्टिवाद अंग के १४ पूर्व रूप भेदों में पाँचवें पूर्व के बारह वस्तु अधिकारों में २० प्राभूत हैं, उन २० प्राभूतों में से तीसरा पेज्जदोस पाहुड़ है अर्थात् तृतीय प्राभूत को अवलम्बन कर ही कथायपाहुड़ ग्रन्थ की रचना हुई है।

इस ग्रन्थ में १५ अधिकार हैं और उन पन्द्रह अधिकारों में मात्र मोहनीय कर्म सम्बन्धी कथन किया गया है। शेष सात कर्म सम्बन्धी कथन नहीं पाया जाता है। पन्द्रह अधिकारों में से १० वें अधिकार में दर्शन मोह की उपशामना, ग्यारहवें अधिकार में दर्शन मोह की क्षपणा, बारहवें अधिकार में संमयासंयम लब्धि, तेरहवें अधिकार में चारित्र्यलब्धि, चौदहवें अधिकार में चारित्र्यमोह की उपशामना और पन्द्रहवें अधिकार में चारित्र्यमोह की क्षपणा का विवेचन है। १० से १५ तक इन छह अधिकारों के चूणिसूत्र से श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तः चक्रवर्ती ने लब्धिसार-क्षपणासार ग्रन्थ की रचना की है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य इस लोकाकाश में सर्वत्र व्याप्त हैं। पुद्गल द्रव्य की २३ वर्गणाएँ हैं, जिनमें से आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कामेशवर्गणा इन पाँच वर्गणाओं को जीव अपनी योगशक्ति के द्वारा ग्रहण करता है। पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन-वचन-काय से युक्त जीव की कर्मों को ग्रहण करने में कारण-भूत शक्ति योग कहलाती है।^१ कर्म वर्गणाएँ आठ प्रकार की हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनोय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनमें से जो ज्ञानावरणीय के योग्य द्रव्य है वही मिथ्यात्वादि प्रत्ययों के कारण पाँच ज्ञानावरणीय रूप से परिणामन करता है अन्य रूप से परिणामन नहीं करता, क्योंकि वह अन्य के अयोग्य होता है। इसी प्रकार सभी कर्मों के सम्बन्ध में कहना चाहिए। अन्तर का अभाव होने से कामेशवर्गणा आठ प्रकार की है ऐसा उपदेश नहीं पाया जाता है।^२ कर्म और आत्मा का परस्पर संश्लेष सम्बन्ध होकर दो पने के त्याग पूर्वक एकरूपता हो जाना सो बन्ध है।^३

निश्चयनय में न बन्ध है न मोक्ष है, क्योंकि बन्ध व मोक्ष पर्याय हैं; और निश्चयनय पर्यायों को ग्रहण नहीं करता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने समयसार ग्रन्थ में भी कहा है—

एवि होदि अप्पमत्तो ए पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।

एवं भणति सुद्धं एणओ जो सो उ सो चेव ॥६॥

—निश्चय नय से जीव न तो अप्रमत्त (मुक्त) और न ही प्रमत्त (संसार) होता है। एक ज्ञायक भाव है, वह वही है। अतः निश्चयनय में न संसार अर्थात् कर्मबन्ध है और न ही मोक्ष अर्थात् कर्मक्षय है।

१. पुपस विवाइ देहोदयेण मण वयण काय जुत्तस्स । जीवस्स जा हु षत्ती कम्मागम कारुणं जोगो ॥ २१६ गो. जी. का ॥

२. एणनावरणीयस्स जाणि पाओग्गणि बव्वाणि ताणि खेव मिच्छतादि पच्चएहि पंच एणनावरणीय-सखेण परिणमंति ए सखेण । कुदो ? अप्पाओग्गतावो । एवं सखेसि कम्माणं वत्तव्वं । ध. पु. १४ पृ. ५५३ ।

३. संश्लेषलक्षणे बन्धे सति । स. सि. ५।३३ बंधो एणम बुभाव परिहारेण एयत्तावत्तो । ध. पु. १३ पृ. ७ ।

द्रव्य संग्रह में भी कहा है—

शुद्ध निश्चयनय से जीव के बन्ध ही नहीं है तथा बन्धपूर्वक होने से मोक्ष भी नहीं है ।^१

जब निश्चयनय में बन्ध व मोक्ष ही नहीं तो मोक्षमार्ग कैसे सम्भव है अर्थात् निश्चयनय से मोक्षमार्ग भी नहीं है । बन्धपूर्वक मोक्ष और मोक्षमार्ग के उपदेश के लिए ही षट्खण्डागम और कषायपाहुड़ ग्रन्थों की रचना हुई । यद्यपि ये दोनों ग्रन्थ करणानुयोग के नाम से प्रसिद्ध हैं, क्योंकि इनमें करण अर्थात् आत्म-परिणामों की तरतमता का सूक्ष्म-दृष्टि से कथन पाया जाता है तथापि इन दोनों ग्रन्थों में आत्म-विषयक कथन होने से वास्तव में ये अध्यात्म ग्रन्थ हैं ।^२

पूर्ववद्ध कर्मोदय से जीव के कषायभाव होते हैं और इन कषाय भावों से जीव के कर्मबन्ध होता है । बाह्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव अनुकूल मिलने पर द्रव्य कर्म उदय में (स्वमुख से) आकर अपना फल देता है ।^३ यदि बाह्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव अनुकूल नहीं मिलता तो कर्म (स्वमुख से) उदय में न आकर अपना फल नहीं देता । जिन बाह्य द्रव्यादि के मिलने पर कषायोदय हो जावे ऐसे बाह्य आदि के संयोग से अपने को पृथक् रखें वही हमारा पुरुषार्थ हो सकता है । जैसे—अणुव्रत ग्रहण द्वारा देश संयम हो जाने पर अप्रत्याख्यान क्रोध आदि कषाय तथा आनादेय, दुर्भंग, अयशःकीर्ति आदि कर्मोदय रुक जाता है । चरणानुयोग की पद्धति के अनुसार हम स्वयं को उन द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से बचा सकते हैं जिनके मिलने पर कषायादि उदय में आते हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का नामकरण—

प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पूर्व पांच लब्धियां होती हैं तथा अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना, द्वितीयोपशम सम्यक्त्व, आधिक सम्यक्त्व, उपशम चारित्र्य व आधिक चारित्र्य से पूर्व तीनों करणलब्धि होती हैं । देश संयम और सकलसंयम से पूर्व अधःकरण और अपूर्वकरण ये दो करणलब्धियां होती हैं । इन लब्धियों का कथन प्रस्तुत ग्रन्थ में विस्तार पूर्वक होने से इस ग्रन्थ का लब्धिसार गौण्य पद नाम है तथा चारित्र्य मोह की क्षपणा का कथन होने से अथवा आठों कर्मों की क्षपणा का कथन होने से दूसरे ग्रन्थ का क्षपणासार सार्थक नाम है । इस प्रकार लब्धिसार-क्षपणासार यह नामकरण विषय विवेचन की प्रधानता से किया गया है ।

ग्रन्थकर्ता—

लब्धिसार-क्षपणासार ग्रन्थ के कर्ता श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं । आपने पुष्पदन्त-भूतबलि आचार्य द्वारा विरचित षट्खण्डागम सूत्रों का गम्भीर मनन पूर्वक पारायण किया था । इसी कारण आपको सिद्धान्त चक्रवर्ती उपाधि प्राप्त थी । आपने स्वयं भी गो. क. की^४ गाथा ३६७ में सूचित किया है कि—जिस प्रकार भरतक्षेत्र के छह खंडों को चक्रवर्ती निर्विघ्नतया जीतता है उसी प्रकार प्रज्ञा रूपी चक्र के द्वारा मेरे द्वारा भी छह खंड (प्रथम सिद्धान्त ग्रन्थ—षट्खण्डागम) निर्विघ्न-तया साधित किये गये हैं अर्थात् जीवस्थान, खुदाबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदनाखण्ड, वर्णनाखण्ड और

१. बन्धश्च शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति तथा बन्धपूर्वकमोक्षोऽपि । गा. ५७ की टीका ।

२. 'एवं खंडमयमवभक्त्यविसय' 'यथादाए अवभक्त्यविसय' व पु. १३ पृ. १३६ ।

३. कर्मणां लानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवम् । सर्वार्थसिद्धि ६/३६ ।

४. जह चक्रेण य चक्रकी छहखंड साहियं आविषेण ।

तह मदचक्रेण मया छहखंड साहियं सम्म ।

महाबन्ध रूप षट्खण्डागम ग्रन्थ को मैंने अपने बुद्धिबैभव से सिद्ध किया है । षट्खण्डागम के अतिरिक्त कषायपाहुड़ (चूर्णिसूत्र सहित) तिलोपपण्णत्ति आदि ग्रन्थों के भी आप पारंगामी विद्वच्चिद-रोमणि आचार्य थे । इन्हीं सिद्धान्त ग्रन्थों के साररूप में आपने गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड, लब्धिसार-क्षपणासार तथा त्रिलोकसारदि ग्रन्थों का प्रणयन किया है ।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि लब्धिसार-क्षपणासार की रचना का मूलस्रोत ग्रन्थ कषायपाहुड़ ग्रन्थ रहा है । गुणधराचार्य कृत इस ग्रन्थ पर चूर्णिसूत्र यतिवृषभाचार्य ने रचे और चूर्णिसूत्र समन्वित कषायपाहुड़ की ६०००० श्लोक प्रमाण वाली जय धवला टीका लिखी गई है । इतने विशालकाय ग्रन्थ के एक तिहाई भाग (१०वें १५वें तक ६ अधिकार) को ६५३ गाथाओं में संकलित किया जाना ही नेमिचन्द्राचार्य के बुद्धि वैभव का उद्घोष करता है । यह कोई साधारण कार्य नहीं है ।

ग्रन्थकर्ता का समयकाल—

गोम्मटसार ग्रन्थ की कर्णाटकीय आदि वृत्ति के कर्ता केशववर्णी आदि अपने प्रारम्भिक कथन में लिखते हैं कि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लोक उपाधि विभूषित चामुण्डराय के लिए प्रथम सिद्धान्तग्रन्थ (षट्खण्डागम) के आधार पर गोम्मटसार ग्रन्थ की रचना की । स्वयं आचार्यदेव ने ही गो. क. की अन्तिम प्रशस्ति में राजा गोम्मट अर्थात् चामुण्डराय जयकार किया है । चामुण्डराय गंगनरेश श्री राक्षमल्ल के प्रधानमन्त्री एवं सेनापति थे । चामुण्डराय ने अपना चामुण्डराय पुराण शक सं. ६०० तदनुसार वि. सं. १०३१ में पूर्ण किया था । राक्षमल्ल का राज्य-काल वि. सं. १०४१ तक रहा है ऐसा ज्ञात होता है । बाहुबली चरित में गोम्मटेश की प्रतिष्ठा का समय वि. सं. १०३७-३८ बतलाया है । गोम्मटेश की प्रतिष्ठा में स्वयं नेमिचन्द्राचार्य उपस्थित थे । इसलिए नेमिचन्द्राचार्य का काल विक्रम की ११वीं शताब्दी सिद्ध होता है ।

ग्रन्थकर्ता के गुरु—

त्रिलोकसार की अन्तिम^१ गाथा में श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपने आपको अभय-नन्दी गुरु का शिष्य कहा है । इसके अतिरिक्त आचार्य वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि तथा कनकनन्दि का भी अत्यन्त श्रद्धा के साथ उल्लेख किया है । गोम्मटसार कर्मकाण्ड की निम्न गाथा के प्रकाश में ग्रन्थ-कर्ता के दीक्षा गुरु का आभास मिलता है गाथा इस प्रकार है—

अस्स य पायपसाएणाणंतसंसारजलहि मुत्तिण्णो ।

वीरिदण्णदिवच्छो एमामि तं अभयण्णंदि गुरुं ॥४३६॥

वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिका बत्स जिनके चरणप्रसाद से अनन्त संसाररूपी सागर से उत्तीर्ण हो गया उन अभयनन्दि गुरु को मैं (नेमिचन्द्र) नमस्कार करता हूँ । अनन्त संसार रूपी सागर से उत्तीर्ण होने का अभिप्राय दीक्षा से ही है । अतः ऐसा लगता है कि उनके दीक्षागुरु अभयनन्दि हैं । इसी प्रकार श्री नेमिचन्द्राचार्य ने इन्द्रनन्दि वीरनन्दि आदि आचार्यों का भी गुरु रूप में स्मरण किया है ।

१. इति नेमिचन्द्रपुलिणा अप्सुवेणभयण्णंदिबच्छेण ।

२३यो तिलोपसारो जमंतु बहुगुणपरिया ॥१०१॥

विषय परिचय—

लब्धिसार की प्रथम ८८ गाथाओं में क्षयोपशम-विशुद्धि-देशना प्रायोग्य एवं करण रूप पांच लब्धियों का सविस्तर वर्णन करते हुए प्रथम तीन लब्धियों का स्वरूप मात्र एक-एक गाथा में ही कर दिया है। प्रायोग्य लब्धि के अन्तर्गत ३४ बन्धापसरण और उन अपसरणों में बन्ध से व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों का कथन १५ गाथाओं में किया गया है। इसके पश्चात् सात गाथाओं द्वारा प्रायोग्यलब्धि में उदय व सत्त्व योग्य प्रकृतियों का कथन किया है। तदनन्तर ५६ गाथाओं में करणलब्धि के विवेचन को प्रारम्भ करते हुए अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति-करण लब्धियों का कथन किया है। इसके पश्चात् गाथा १०६ तक उपशम सम्यक्त्व आदि के प्रकरण में होने वाले अनुभाग काण्डकादि कालों का अल्पबहुत्व तथा प्रथमोपशम सम्यक्त्व से गिरने आदि का सर्व कथन पाया जाता है। गाथा ११० से दर्शनमोहनीय कर्म की क्षपणा का कथन प्रारम्भ होता है उसके अन्तर्गत अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क की विसंयोजना का कथन गाथा ११२-११६ तक किया गया है। तदनन्तर गाथा १६६ तक क्षायिक सम्यक्त्व का प्रकरण है। १६७वीं गाथा से प्रारम्भ होकर गाथा १८८ तक देशसंयमलब्धि का कथन सविस्तर किया गया है। देश संयमलब्धि अधिकार के पश्चात् गाथा १८९ से सकलसंयमलब्धि का वर्णन प्रारम्भ हुआ है। तदनन्तर गाथा २०५ से चारित्र्य मोहोपशमनाधिकार प्रारम्भ हुआ है, उसके अन्तर्गत १४ गाथाओं द्वारा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व का कथन है। गाथा २२० से ३६१ तक श्रेण्यारोहण और श्रेण्यावरोहण की अपेक्षा उपशम चारित्र्य का सविस्तर कथन आचार्यदेव ने किया है। इस प्रकार लब्धिसार ग्रन्थ में सर्व ३६१ गाथाओं में पंचलब्धियों का पूर्ण विवेचन प्रस्तुत करने के पश्चात् ३६२ से ६५३ तक ३६१ गाथाओं द्वारा क्षपणासार में चारित्र्यमोहनीय कर्म की क्षपणा के सविस्तर कथन पूर्वक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों के क्षय का विधान बताते हुए नाम-गोत्र-वेदनीय इन तीन अघातिया कर्मों के क्षय का विधान निरूपित किया गया है। इसके साथ ही केवली समुद्धात, योग निरोध, अर्हन्त व सिद्ध भगवान के सुख का भी विवेचन भी प्रसंग प्राप्त होने से किया गया है।

इस प्रकार लब्धिसार-क्षपणासार में प्रतिपादित विषय का परिचय अति संक्षिप्त में दिया गया है विस्तृत विवेचन ग्रन्थ श्रद्धेता स्वयं अध्ययन कर ग्रन्थ से जानने में सक्षम होंगे अतः प्रस्तावना में विस्तारपूर्वक विषय परिचय 'पिण्ट पेषण' के भय से नहीं दिया गया है।

लब्धिसार-क्षपणासार ग्रन्थ की प्रस्तुत टीका एवं उसके आधार—

लब्धिसार की सिद्धान्त बोधिनी एवं क्षपणासार की कर्म क्षपणबोधिनी टीका, इस प्रकार लब्धिसार-क्षपणासार ग्रन्थ की नवीन टीका का यह नामकरण किया गया है। यद्यपि पंडित प्रवर टोडरमलजी की सुबोध हिन्दी टीका सहित लब्धिसार की संस्कृतवृत्ति युक्त लब्धिसार का प्रकाशन 'जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था' कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था जो इस समय उपलब्ध नहीं है। संस्कृत वृत्तिकार ने प्रायः जयधवल टीका का अनुसरण किया है। हिन्दी टीकाकार के समक्ष जयधवल टीका नहीं थी अतः पंडितजी ने संस्कृत वृत्ति का मात्र हिन्दी अनुवाद किया है। लब्धिसार का प्रकरण जयधवल पु. १२ व १३ में चूणिसूत्र समन्वित जयधवला टीका के हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुका है। हां! गाथा ३०८ से ३६१ तक का प्रकरण, जिसमें उपशम श्रेणि से गिरने तथा मानादि कषायों व स्त्रीवेदादि सहित उपशम श्रेणि आरोहण का कथन भी पाया जाता है

उसका जयधवल टीका में जो वर्णन है वह अभी प्रकाशित नहीं है। कषायपाट्ट भाग १४ जो कि अभी प्रकाश्य है उसमें प्रकाशित होगा। अतः लब्धिसार की इस प्रस्तुत टीका में पंडित टोडरमलजी की हिन्दी टीका तथा संस्कृतवृत्ति के साथ-साथ ज. ध. पु. १२ व १३ आधार रही है, किन्तु गाथा ३०८ से ३६१ तक की टीका जयधवल मूल (फलटन से प्रकाशित) के आधार से लिखी गई है।

क्षपणासार की कोई संस्कृत टीका नहीं है। हां ! माधवचन्द्र त्रैविद्य देव द्वारा रचित संस्कृत क्षपणासार की दो प्रतियां जयपुर भण्डार से प्राप्त हुई थीं जो कि स्वतंत्र रचना है अतः वह स्वतंत्र कार्य की अपेक्षा रखता है। सम्भव है पं. टोडरमलजी के समक्ष यह क्षपणासार रहा हो जो उनकी क्षपणासार टीका का अवलम्बन रहा हो। गाथा ४७३ की टीका में उन्होंने अपनी लघुता प्रगट करते हुए लिखा है कि—“इस गाथा का अर्थ रूप व्याख्यान क्षपणासार विषे किछु किया नहीं और मेरे जानने में भी स्पष्ट न आया तातें इहां न लिखा। बुद्धिमान होइ सो याका यथार्थ अर्थ होइ सो जानहु।” इन पंक्तियों के प्रकाश में मेरे अनुमान से एक तथ्य प्रगट होता है कि पंडित प्रवर टोडरमलजी के समक्ष क्षपणासार की हिन्दी टीका सहित कोई प्रति होना चाहिए। अन्यथा वे ऐसा क्यों लिखते कि इस गाथा का अर्थ रूप व्याख्यान 'क्षपणासार विषे किछु किया नहीं'। माधवचन्द्र त्रैविद्य देव द्वारा रचित क्षपणासार संस्कृत भाषा का स्वतंत्र ग्रन्थ है वह अर्थ रूप व्याख्यान (टीका) तो है नहीं। खैर ! जो भी हो यह है अनुसंधान का विषय। मेरे द्वारा अनुमानित पं. टोडरमलजी के समक्ष विद्यमान क्षपणासार की भाषानुवादित उस टीका के कर्ता ने भी जयधवल मूल टीका का आश्रय लिया है यह स्पष्ट है।

क्षपणासार की कर्मक्षपणबोधिनी नामा इस नवीन टीका को भी मैंने फलटन से प्रकाशित जयधवल मूल (शास्त्राकार) के आधार से ही लिखा है, क्योंकि क्षपणासार से सम्बन्धित इस विषय की जयधवल टीका हिन्दी अनुवाद सहित संभवतः १५-१६ वें भाग के रूप में मथुरा से अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है प्रकाशनाधीन है।

आत्म निवेदन—

उक्त नवीन टीका करने की प्रेरणा मुझे आ. क. श्री श्रुतसागरजी महाराज से प्राप्त हुई। सन् १९६३ से तो मैं निरन्तर उनके सान्निध्य में जाता रहा हूं। इसी शृंखला में सन् १९७१-७२ में त्रिलोकसार की नवीन टीका (आयिका विशुद्धमतीजी द्वारा लिखित) के वाचनावसर पर मुझे भी जाने का प्रसंग प्राप्त हुआ था। ६ वर्ष पश्चात् सन् १९७८ में पुनः गोम्मटसार कर्मकाण्ड की 'सिद्धान्तज्ञानदीपिका' नामा नवीन हिन्दी टीका (आयिका आदिमतीजी विरचित) की वाचना के अवसर पर आ. क. श्री के सान्निध्य का लाभ मिला और उस टीका के सम्पादनत्व का भार भी मुझ पर आया। उक्त वाचना के अवसर पर ही जयपुर निवासी श्रीमान् रामचन्द्रजी कोठारी ने आ. क. श्री के समक्ष अपनी हार्दिक मनोभावना अ लाडमलजी के माध्यम से व्यक्त की थी कि “लब्धिसार-क्षपणासार की भी शुद्ध आधुनिक हिन्दी में नवीन टीका लिखी जानी चाहिए उसके प्रकाशन का अर्थ भार में स्वयं वहन करूंगा।” कोठारीजी की इस भावना को देखते हुए मुझे प्रेरणा मिली और उसी समय मैंने आ. क. श्री को अपनी स्वीकृति प्रदान की थी। लगभग १ वर्ष के परिश्रम से मैं इस नवीन टीका को लिख पाया और इसकी वाचना के लिए चातुर्मास प्रवास में मैं आ. क. श्री के सान्निध्य में पहुंचा। वाचना के अनन्तर ही फिर मुझे गोम्मटसार जीवकाण्ड की नवीन टीका लिखने

के लिए पू. महाराज श्री की प्रेरणा मिली जिसे मैंने निरन्तर किया । इन दिनों में उसी (गोम्मट-सार जीवकाण्ड को) टीका की लिख रहा हूँ ।

सन् १९३५ तदनुसार वि. सं. १९६१ में विद्वज्जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व. भाणिकचन्द्रजी कौन्देय 'न्यायाचार्य' दस लक्षण पर्व पर सहारनपुर पधारे थे । तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या करते हुए उन्होंने उपशम सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताया किन्तु ज्ञान के अल्पक्षयोपशमवश उनके द्वारा आगमानुसोदित वह व्याख्या मैं समझ नहीं पाया । हाँ ! इतना अवश्य समझ सका कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से ही मेरा आत्म हित हो सकता है । शास्त्र प्रवचन के अनन्तर मैंने पंडितजी से पूछा कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय और उसका स्वरूप जैन दर्शन के किस ग्रन्थ में विस्तार पूर्वक मिल सकता है ? मेरे इस प्रश्न का सहजिक उत्तर देते हुए पंडितजी बोले आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती विरचित 'लब्धिसार-क्षपणासार' ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन की विस्तृत प्ररूपणा की गई है । उस समय मुझे ऐसा लगा जैसे 'अंधे को दो आंखें ही मिल गई हों' उक्ति के अनुसार मुझे निधि प्राप्ति ही हुई हो । सहारनपुर में उन दिनों मुद्रित ग्रंथ उपलब्ध नहीं थे । अतः हस्तलिखित लब्धिसार-क्षपणासार से स्वाध्याय प्रारम्भ किया । कई दिनों तक विषय स्पष्ट नहीं हुआ फिर भी मन में निराशा नहीं हुई और बार-बार के प्रयत्न से सफलता मिली । कुछ दिनों के पश्चात् तो वकालात का कार्य छोड़कर जैन सिद्धान्त के विभिन्न ग्रंथों का (धवल-जयधवल-महाधवल, गोम्मटसार-समयसार-प्रवचनसार-त्रिलोकसारादि) अपने लघुभ्राता नेमिचन्द्र वकील के साथ स्वाध्याय किया ।

मुझे अत्यन्त हर्ष है कि जिस ग्रन्थ के अध्ययन से मुझे सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी मिली उसी ग्रन्थ की टीका लिखने का जीवन के अन्तिम चरणों में सुअवसर मिला । यह अत्यन्त सुखद संयोग है । पू. आ. क. श्री श्रुतसागरजी महाराज का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ कि जिन्होंने टीका की वाचना को उपयोग पूर्वक श्रवणकर यथायोग्य सुभाव दिये । उन्हीं की प्रेरणा एवं आशीर्वाद से मैं इस कार्य को करने में सक्षम हो सका हूँ । आगे भी इसी प्रकार जिनवाणी सेवा में मेरा जीवन व्यतीत हो इसी मंगल भावना से विराम लेता हूँ । आशा है ब्र. लाडमलजी के सद्प्रयत्न से इस टीका का शीघ्र प्रकाशन होगा ।

दीपावली
वि. सं. २०३६
निवाई

रतचचन्व जैन मुख्तार
सहारनपुर (उ. प्र.)

विशेष : ग्रन्थ की यह प्रस्तावना स्व. मुख्तार साहब ग्रन्थ की नवीन टीका की वाचना के अवसर पर जब निवाई छातुर्मास में आयी थे तभी वाचना के अनन्तर ही लिख गये थे । एक वर्ष के पश्चात् उनका स्वर्गवास ही हो गया । अत्यन्त खेद रहा कि वे इस ग्रन्थ के प्रकाशन को नहीं देख सके । उनके द्वारा लिखित उसी प्रस्तावना को अब ग्रन्थ प्रकाशन के साथ यही प्रकाशित किया जा रहा है ।

(प्रकाशकीय टिप्पणी)

क्षपणासार विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
मंगलाचरण	१	संक्रमणकरण का प्रतिपादन	४६
चारित्र्यमोह क्षपणाधिकार		संक्रम द्वारा नपुंसक वेद की क्षपणा	४८
चारित्र्यमोह की क्षपणा में प्रतिपाद्य अधिकार	१	नपुंसक वेद के संक्रमणकाल में बन्ध, उदय व संक्रम	
अथः प्रवृत्तिकरण में होने वाली क्रियाएं	१	के माध्यम से प्रदेश विषयक अल्पबहुत्व का कथन	४९
अपूर्वकरण का वर्णन	६	उदय और संक्रमण की निरन्तर गुणश्रेणि	५०
यहां होने वाली गुणश्रेणिका कथन	१०	स्त्रीवेद संक्रमण में होने वाले कार्यों का निर्देश	५१
गुण संक्रम के विषय में निर्देश	१०	सात नौ कषाय के संक्रमण काल में होने वाले कार्य	५१
अपकर्षण व उत्कर्षण सम्बन्धी अतिस्थापनादि का कथन	११	अश्वकर्णकरण के स्वरूप निर्देश पूर्वक संज्वलन	
अपूर्वकरण में जघम्य-उत्कृष्ट स्थिति खण्ड के प्रमाण का निर्देश	१५	चतुष्क के अनुभाग का अश्वकर्ण क्रिया का विधान तथा उसमें होने वाले कार्यों का निर्देश	६४
उक्त करण में प्रथम व चरम समय में स्थितिक्षण्डादि के प्रमाण का निर्देश	२०	अश्वकर्णकरण के प्रथम समय में होने वाले अपूर्व-स्पर्शकों का कथन	६८
एक स्थिति काण्डक के पतन में सहस्रों अनुभाग काण्डक घात होते हैं	२१	अपूर्वस्पर्शक की रचना में पाया जानेवाला द्रव्य का परिमाण	७२
अनुभाग काण्डक किनके होता है ?	२२	लोभादिक के स्पर्शकों की वर्णना सम्बन्धी विशेष विचार; प्रकृत में गणित सूत्र; क्रोधादि के काण्डक व उनकी शलाका आदि का कथन	७६
अपूर्वकरण में किस क्रम से किन-किन प्रकृतियों का बन्धव्युच्छेद होता है ?	२२	प्रकृत अल्प बहुत्व	८१
अनिवृत्तिकरण सम्बन्धी कथन	२३	अश्वकर्णकरण के प्रथम समय में उक्त स्पर्शकों में से उदय बन्ध को प्राप्त स्पर्शकों का कथन	८२
अनिवृत्तिकरण गुण स्थान में स्थिति खण्ड प्रमाण	२४	प्रकृत में दृश्यमान द्रव्य का कथन	८६
अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में स्थिति बन्ध स्थिति सत्त्व आदि का निर्देश	२६	प्रथम अनुभागकाण्डक होने पर होने वाला कार्य	८६
स्थिति बन्धापसरण का क्रम निर्देश	२६	अश्वकर्णकरण के प्रथमादि समयों में क्रमशः घटते क्रम से अपूर्व स्पर्शक रचना	८७
स्थिति सत्त्वापरण का कथन	३३	प्रकृत में स्पर्शक की वर्णना में अविभागी प्रतिच्छेद की अपेक्षा अल्पबहुत्व	८७
सत्त्व के क्रमकरण के बाद यथास्थान असंख्यात समय-प्रबद्ध की उदीरणा	३६	अश्वकर्णकरण में प्रथम अनुभागखण्ड पतित होने पर स्पर्शक आदि में अल्पबहुत्व	८८
स्थितिबन्ध और स्थितिसत्त्व सम्बन्धी क्रमकरण के कथन के पश्चात् व कषाय व १६ प्रकृतियोंका क्षपण-करणाधिकार	३६	अश्वकर्णकरण के चरम समय में स्थितिबन्ध व सत्त्व	९१
देशघातिकरण का कथन	४२	आगे बादर कृष्टिकरण के कालका प्रमाण जानने के उपाय	९३
अन्तरकरण का कथन	४३		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
कृष्टियां कौनसे द्रव्य से करता है इसका निर्देश	९३	परस्थान व स्वस्थान गोपुच्छ का नाश	१२३
अपकर्षित द्रव्य का विभाजन	९३	आय और व्यय द्रव्य का कथन	१२४
संग्रह एवं अवयव कृष्टि की अपेक्षा कृष्टियों की संख्या	९४	स्वस्थान-परस्थान गोपुच्छ के सद्भाव का विधान	१२४
कृष्टि में द्रव्य विभाजन सम्बन्धी निर्देश	९४	मध्यम खण्डादि करने का कथन	१२४
प्रथमादि बारह संग्रह कृष्टि का आयाम पत्यके		विरच्यमाण अपूर्व कृष्टियों का विधान	१२९
असंख्यातवें भाग के क्रम से घटता है	९६	कृष्टियों के घात का कथन	१३२
किस कषायोदय से श्रेणी चढ़ने वाले के कितनी		क्रोध की प्रथम संग्रह कृष्टि की प्रथम स्थिति में	
संग्रह कृष्टियां होती हैं	९६	समयाधिक आबलीकाल शेष रहने की अवस्था	१३३
अन्तर कृष्टियों की संख्या व उनका क्रम	९९	संग्रह कृष्टियों के चरम समय में फाली के देने का	
उक्त कथन विशेष स्पष्टीकरण	१००	विधान	१३६
लोभ की जघन्यकृष्टि के द्रव्य से क्रोध की उत्कृष्ट-		द्वितीय संग्रह वेदक के उदयादि का विधान प्रथम	
कृष्टि पर्यन्त देयद्रव्य	१०५	संग्रहवत् है	१३७
पार्श्वकृष्टि सम्बन्धी विधान	१०६	क्रोध की द्वितीय संग्रह का स्वस्थान-परस्थान	
द्रव्य देने का क्रम, कृष्टि भेद तथा उण्डुकुट रचना		संक्रमण की सीमा	१३७
का कथन	१०७	स्वस्थान-परस्थान संक्रमण में नियम का विशेष	
अनुभाग की अपेक्षा कृष्टि व स्पर्धक का लक्षण	१११	स्पष्टीकरण	१३८
कृष्टिकारक कृष्टिका भोग नहीं करता, इसका निर्देश		प्रकृत में किस-किस कृष्टि का संक्रमण नहीं है	१३९
एवं कृष्टिकरण काल समाप्ति का निर्देश	१११	वेद्यमान व भवेद्यमान संग्रह कृष्टि के बन्ध अवस्था	
कृष्टिवेदनाधिकार —		का निर्देश	१३९
कृष्टिवेदन तथा इसके प्रथम समय में होने वाले		संग्रह कृष्टियों में अवयव कृष्टियों के द्रव्य का	
बन्ध-सत्त्व का निर्देश	११२	अल्पबहुत्व	१४०
प्रकृत में उच्छिष्टावली, नवकप्रबद्ध के अनुभाग का		वेद्यमान कृष्टि की प्रथम स्थिति में समयाधिक	
निर्देश	११२	आबली शेष रहने पर होने वाली स्थिति एवं कार्य	१४१
कृष्टिकारक व वेदक के क्रम तथा प्रथम संग्रह कृष्टि		द्वितीय संग्रह वेदक के चरम स्थिति बन्ध व सत्त्व	१४२
का पहले वेदन होता है इसका निर्देश	११३	क्रोध की तृतीय संग्रह की प्रथम स्थिति स्थापना	
कृष्टि वेदक के प्राथमिक समय में होने वाले कार्य	११४	तथा चरम समय क्रोध वेदक के बन्ध-सत्त्व	१४३
प्रकृत में उदीयमान कृष्टि, बन्ध कृष्टियों का निर्देश	११५	मान की प्रथम स्थिति स्थापना तथा उसका प्रमाण	१४३
प्रकृत में अल्पबहुत्व	११६	मान की प्रथम संग्रह कृष्टि का वेदन प्रकार क्रोध-	
द्वितीयादि समयों में उक्त विषय का विशेषस्पष्टी-		वत् तथा चरम समय में बन्ध सत्त्व का निर्देश	१४४
करण	११७	मान की द्वितीय संग्रह कृष्टि का वेदन तथा इसके	
प्रति समय में इन कृष्टियों का बन्ध-उदय कैसे होता		चरम समय में बन्ध-सत्त्वका निर्देश	१४५
है इसका निर्देश	११८	तृतीय संग्रह का वेदन तथा अन्त में बन्ध-सत्त्व	१४६
संक्रमण द्रव्य का विधान	१२०	माया की प्रथम द्वितीयादि कृष्टियों के वेदनका वर्णन	
प्रति समय होने वाली अपवर्तन की प्रवृत्तिका क्रम	१२३	तथा वहां दो चरम समयमें होनेवाला बन्ध-सत्त्व	१४७

विषय	पृष्ठ
प्रति समय असंख्यात गुणी हीन कृष्टि रचना तथा दीयमान द्रव्य में असंख्यात गुणी क्रमता	१५३
सूक्ष्म कृष्टि करण के समय में दीयमान द्रव्य का विशेषहीन आदि रूप क्रम	१५४
द्वितीयादि समयों में क्रियमाण अधस्तन कृष्टि व अन्तरकृष्टि निर्देश एवं उनका प्रमाण प्ररूपण	१५४
द्वितीयादि समयों में दीयमान द्रव्य सम्बन्धी कथन सूक्ष्म कृष्टियों को करने वाले के दृश्यमान प्रदेश पुंज	१५५
प्रकृत में संक्रम्यमाण प्रदेशाशका अल्पबहुत्व सूक्ष्म कृष्टि में संक्रान्त द्रव्य के प्रमाण को प्राप्त करने का साधकभूत बादर कृष्टियों में संक्रान्त प्रदेशाश का अल्पबहुत्व	१५६
लोभ की द्वितीय संग्रह कृष्टि से तृतीय संग्रह कृष्टि में संक्रमण करने की अवधि	१५७
बादर लोभ की प्रथम स्थिति में समयाधिक आबली शेष रहने पर तृतीय व किंचिदून तृतीय कृष्टिका सूक्ष्म रूप परिणामना	१५८
नवम गुण स्थान के चरम समय में स्थिति बन्ध निर्देश	१५९
नवम गुण स्थान के चरम समय में स्थिति सत्त्व निर्देश	१६०
सूक्ष्म साम्पराय का कथन	१६१
पर्वत्रय के कथनपूर्वक अवस्थित गुण श्रेणी का आयाम	१६२
अपकृष्ट द्रव्य के देने का विधान	१६३
द्वितीयादि समयों में दिया गया द्रव्य	१६४
प्रथम समयवर्ती सूक्ष्म साम्पराय के दृश्यमान प्रदेशाश की श्रेणी प्ररूपण	१६५
चरम निषेक का द्रव्य प्रमाण तथा दीयमान द्रव्य की प्ररूपण	१६६
प्रकृत में दृश्यमान द्रव्य	१६७
द्वितीय स्थिति काण्डक के प्रथमादि समयों में गुण श्रेणी शीर्ष का अल्पबहुत्व	१६८

विषय	पृष्ठ
सूक्ष्म साम्पराय गुण स्थान के प्रथम समय में मोह की गुण श्रेणी अन्तरायाम आदि का अल्पबहुत्व	१६९
द्वितीयादि काण्डकों के काल में गुण श्रेणी के ऊपर गोपुच्छता का निर्देश	१७०
अधस्तन अनुदीर्ण, उपरिम अनुदीर्ण, मध्यम अनुदीर्ण कृष्टियों का अल्पबहुत्व	१७०
सूक्ष्म साम्पराय में क्षपक के अन्त में होने वाली गुण श्रेणी का निर्देश	१७०
प्रकृत में दीयमान और दृश्यमान द्रव्य का निर्देश	१७२
चरम काण्डक के पश्चात् काण्डक घात के अभाव के प्रतिपादन पूर्वक मोह के स्थिति सत्त्व का निर्देश	१७३
सूक्ष्म साम्पराय गुण स्थान के चरम समय में बन्ध का प्ररूपण	१७४
उक्त गुण स्थान के चरम समय में ही स्थिति सत्त्व का निर्देश	१७४
क्षीणकषाय के स्थिति-अनुभाग बन्ध के अभाव का कथन	१७४
क्षीण कषाय गुण स्थान में स्थिति-अनुभाग काण्डक घात का प्रमाण	१७६
क्षीण कषाय के चरम काण्डक का ग्रहण तथा वहां पर देयादि द्रव्य का विधान	१७७
क्षीण कषाय को कृतकृत्यक संज्ञा की प्राप्ति तथा इसके द्विचरम में उदय-व्युच्छिन्न प्रकृति का निर्देश	१७८
मानादि कषायत्रय सहित श्रेण्यारोहक जीव के विषय में प्रथम स्थिति आदि का विशेष निर्देश	१७९
स्त्री वेदोदय सहित श्रेण्यारोहक जीव के स्त्री वेद की प्रथम स्थिति के प्रमाणादि का निर्देश	१८२
नपुंसक वेदोदय सहित श्रेण्यारोहक जीव के प्रथम स्थिति प्रमाणादि के विषय में विशेष कथन	१८३
क्षीण कषाय के चरम समय में सत्त्व व्युच्छिन्न प्रकृतियों का निर्देश	१८४
अनन्त चतुष्टय की उत्पत्ति का कारण व इसकी विशेषता	१८५
किस कर्म के लाश से कौनसा गुण स्थान होता है ?	१८५

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अनन्त सुख की उत्पत्ति का कारण तथा उसकी विशेषताएं	१८६	सूक्ष्म कृष्टिकरण का प्रमाण, प्रथम समय में कृष्टि द्वितीयादि समयों में असंख्यात गुण प्रदेशों का अपकर्षण नवीन कृष्टि निर्माण तथा कृष्टि प्रमाण का निर्देश	२०८
क्षायिक सम्यक्त्व तथा उत्कृष्ट चारित्र्य की उत्पत्ति का कारण	१८७	योग के अपूर्व स्पर्शक तथा सूक्ष्मकृष्टि आदि के सम्बन्ध में कथन	२१०
असाता वेदनीय के उदय से केवली भगवान् के क्षुधादि-परीषह पाये जाते हैं तथा उनके आहारादि-क्रिया होती है ऐसी असत् मान्यता का परिहार इन्द्रिय सुख की परिभाषा	१८७	कृष्टिकरण के अनन्तर समय में सकल स्पर्शकों का कृष्टिरूप परिणामन, योग कृष्टियों का हीन क्रम से वेदन	२१०
केवली साता असाता जन्य सुख-दुःख के अभाव का कारण	१८८	सयोगी जिनके तृतीय शुक्ल ध्यान का प्ररूपण तथा अन्त में नाश को प्राप्त योग कृष्टि	२१२
केवली के साता वेदनीयका एक समय स्थिति वाला उदयरूप स्थिति बन्ध होता है इसका निर्देश सयोग केवली के प्रति समय होने वाले नोकर्महार तथा उसकी स्थिति का कथन	१८८	अवातिया कर्मों का चरम स्थिति काण्डक तथा चरम समय में होने वाली समस्याति का कथन	२१३
समुद्घातगत केवली के तीन समयों तक नोकर्म-आहार का अभाव पाया जाता है	१८९	अयोगी जिन व उनके ध्यान	२१५
परिचम स्कंधद्वार कथन के अन्तर्गत केवली समुद्घात के निर्देश पूर्वक केवली समुद्घात के अन्तर्गत आवर्जितकरण तथा इसके पूर्व एवं बाद में होने वाले क्रिया विशेषों का कथन	१८९	अयोगी के शुक्ल ध्यान द्वारा नाशित प्रकृतियां अष्टम पृष्ठी का वर्णन	२१६
योग निरोध का प्ररूपण	१९०	प्रथम एवं द्वितीय शुक्ल ध्यान का अधिकार	२१८
सूक्ष्म योग, अपूर्वस्पर्शक सृजन, प्रति समय असंख्यात-गुणा अपकर्षण, किन्तु अपूर्वस्पर्शक असंख्यातगुणा हीन क्रम से सृजन तथा अपूर्वस्पर्शक के प्रमाण का कथन	१९१	सिद्धों से रत्नत्रयकी शुद्धि व समाधि की याचना	२२६
	२०३		
	२०६	क्षपणाधिकार चूलिका— दर्शनमोह और चारित्र्यमोह कर्म प्रकृतियों की क्षपणाविधि पूर्व में कही गई उसका उपसंहार करते हुए चूलिका रूप व्याख्यान	२३१





क्षयणासार

कर्मक्षपण बोधिनी हिन्दी टीका समन्वित

“मंगलाचरणम्”

मुणियपरमत्थवित्थरमुणिवरवीरेहि सिद्धविज्जेहि ।
 जा संथुआ भयवरो पसियउ सुयदेवया मज्झं ॥१॥
 सुसुदेवयाए भत्तो सुदोवजोगोवभाविओ सम्मं ।
 आवहइ णाणसिद्धि णाणफलं चावि णिव्वाणं ॥२॥
 तो सुभदेवयणिणमो तिव्वुत्तो पणमियूण भत्तोए ।
 वोच्छामि जहासुत्तं चरित्तमोहस्स खवणविहि ॥३॥^१

तिकरणमुभयोसरणं कमकरणं खवणदेसमंतरयं ।
 संकम अपुव्वफड्डयकिट्ठीकरणाणुभवणखमणाए ॥१॥३६२॥
 गुणसेढी गुणसंकमठिदिरसखंडाण एत्थि पढमम्हि ।
 पडिसमयमणंतगुणं विसोहि वड्डीहिं वड्ढुदि हु ॥२॥३६३॥
 सत्थाणमसत्थाणं चउविट्ठाणं रसं च बंधदि हु ।
 पडिसमयमणंतेण य गुणभजियकमं तु रसबंधे ॥३॥३६४॥

१. ज० घ० मूल पृष्ठ १६३६ से उद्धृत ।

२. ल० सा० गाथा ३७ भी इसी प्रकार है ।

३. ल० सा० गाथा ३८ के समान ।

१पल्लसस संखभागं मुहुत्तञ्जतेण ओसरदि बंधे ।

संखेज्जसहस्साणि य अधापवत्तम्हि ओसरणा ॥४॥३६५॥

२आदिमकरणद्धाप पढमट्टिदिवंधदो दू चरिमम्हि ।

संखेज्जगुणविहीणो ठिदिवंधो होदि गियमेण ॥५॥३६६॥

अर्थः—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप तीनकरण ; बंधापसरण और सत्त्वापसरण ये दो अपसरण तथा क्रमकरण, आठ (अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण) कषाय और १६ प्रकृतियोंको क्षपणा, देशवातिकरण, अन्तरकरण, संक्रमण, अपूर्व-स्पर्धककरण, कृष्टिकरण, कृष्टिअनुभवन इसप्रकार चारित्रमोहकी क्षपणामें अधिकार जानना ॥१॥

पहले अधःप्रवृत्तकरणमें गुणश्रेणि, गुणसंक्रम, स्थितिकाण्डकधात और अनुभाग-काण्डकधात सम्भव नहीं है अतः जीव समय-समयप्रति अनन्तगुणे क्रमसहित विशुद्धता-की वृद्धिद्वारा वर्धमान होता है ॥२॥

जो जीव समय-समयप्रति प्रशस्तप्रकृतियोंका अनन्तगुणक्रम से चतुःस्थानिक अनुभागबन्ध करता है और अप्रशस्तप्रकृतियोंका अनन्तवें भागरूप क्रमसे द्विस्थानिक बन्ध करता है ॥३॥

पूर्वस्थितिबन्धमेंसे पल्लका असंख्यातवांभागमात्र स्थितिबन्ध घटाते हुए एक अन्तर्मुहूर्त कालपर्यन्त प्रतिसमय समानबन्ध होता है सो यह एक स्थितिबन्धापसरण हुआ ऐसे संख्यातहजार स्थितिबंधापसरण अधःप्रवृत्तकरणमें होते हैं ॥४॥

इसप्रकार स्थितिबंधापसरण होनेसे अधःप्रवृत्तकरणकालमें प्रथमसमयसम्बन्धी जो स्थितिबन्ध है उससे संख्यातगुणा होन स्थितिबन्ध अन्तसमयमें नियमसे होता है । ऐसे इस अधःप्रवृत्तकरणमें आवश्यक होते हैं ॥५॥

विशेषार्थः—कषायोपशामना (चारित्रमोहोपशामना) अधिकारके पश्चात् चारित्रमोहक्षपणाधिकार प्रारम्भ होता है । दर्शनमोहक्षपणाकी अविनाभावी यह चारित्र-

१. ल० सार गाथा ३६ के समान ।

२. देखो ल० सार गाथा ४० । तथा ध० पु० ६ पृ० २२३ ।

मोहक्षपणा है, क्योंकि दर्शनमोहका क्षय किये बिना क्षपकश्रेणीका आरोहण असम्भव है । दर्शनमोहकी क्षपणा भी अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना पुरस्सरा है अर्थात् अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना हो चुकनेपर ही दर्शनमोहकी क्षपणा सम्भव है, अन्यथा दर्शनमोहकी क्षपणा प्रारम्भ हो नहीं सकती । इसका कथन दर्शनमोहक्षपणाधिकारमें हो चुका है ग्रन्थविस्तारके भयसे जहाँ यहाँ पुनः कथन नहीं किया गया है । अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजनासम्बन्धी और दर्शनमोहक्षपणासम्बन्धी क्रियाविशेष समाप्त हो जानेपर क्षपकश्रेणिपर आरोहणके लिए प्रमत्त-अप्रमत्तगुणस्थानमें साता व असाताबन्धके प्रावर्त (परिवर्तन) सहस्रोबार करके प्रमत्त-अप्रमत्तगुणस्थानमें सहस्रोबार गमनागमन करके क्षपकश्रेणीकी प्रायोग्यविशुद्धिसे विशुद्ध होकर क्षपकश्रेणि चढ़नेवालेके पूर्वमें अधः-करणादि तीन विशुद्धपरिणामकालोंकी एक पंक्ति होती है, क्योंकि इनके बिना उपशमन व क्षपणक्रियाका होना असम्भव है । अधःकरणादि तीन विशुद्धपरिणामकालोंमें प्रथम अधःप्रवृत्तकरणकाल, द्वितीय अपूर्वकरणकाल और तृतीय अनिवृत्तिकरणकाल है । 'इन तीनोंमेंसे प्रत्येकका काल अन्तर्मुहूर्त है । ये तीनोंकाल परस्पर संबंधित हैं और ऊर्ध्वरूप एक श्रेण्याकारसे विरचित हैं । दर्शनमोहकी उपशमनामें अधःप्रवृत्तकरण आदिका लक्षण तथा तत्सम्बन्धी क्रियाओंका कथन किया गया है वैसे ही प्ररूपणा यहाँ भी करना चाहिए, क्योंकि दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है, किन्तु क्षपकश्रेणिसे पूर्व उपशमना आदिमें होनेवाले अधःप्रवृत्तकरण आदिके कालसे क्षपकश्रेणि सम्बन्धी अधःप्रवृत्तकरण-आदिका काल 'असख्यातगुणा हीन है, क्योंकि खड्गधाराके समान शुद्धतर परिणामोंमें चिरकालतक ठहरना सम्भव नहीं है । उपशमनादिसम्बन्धी परिणामोंसे क्षपकश्रेणि-सम्बन्धी परिणाम अनन्तगुणे विशुद्ध पाए जाते हैं । सातिशायअप्रमत्त नामक सप्तमगुण-स्थानमें क्षपकश्रेणिसम्बन्धी अधःप्रवृत्तकरण होता है ।

१. एदासि च पादेककर्मतोमुहृत्तपमाणावच्छिन्नाणं समयभावेणेगसेद्धीए विरइदार्णं लक्खणविहाणं जहा दंसणमोहोवसामणाए अधापवत्तादिकरणाणि णिरुंभियूण परूविदं तहा एत्थ वि परू-वियव्वं, विसेसाभावादो । णवरि हेट्ठिमात्तेसकिरियासु पडिबद्धअधापवत्तादिकरणद्धाहितो एत्थ-सणअधापवत्तकरणादिअद्धाओ असंखेज्जगुणहीणाओ सुद्धयरपरिणामेसु खग्गधारासरिसेसु चिर-कालमवट्ठणासंभवादो । (जयधवल मूल पृ० १६३६) ।

२. किन्तु घ० पु० १२ पृ० ७८ पर गाथा नं० ८ में यह काल संख्यातगुणा हीन कहा है ।

अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयसे लेकर प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिके द्वारा विशुद्ध होता हुआ स्थितिकाण्डकघात व अनुभागकाण्डकघातके बिना ही अपने कालमें संख्यातहजार स्थितिबंधापसरणोंको करता है, अप्रशस्तप्रकृतियोंके द्विस्थानिक अनुभागका प्रतिसमय अनन्तगुणा-अनन्तगुणाहीन अनुभागबन्ध करता है और प्रशस्तप्रकृतियोंका प्रतिसमय अनन्तगुणा-अनन्तगुणा चतुर्थानिक अनुभागबन्ध करता है^१ । इसप्रकार बन्ध करता हुआ अधःप्रवृत्तकरणके कालको क्रमसे व्यतीतकर चरमसमयको प्राप्त होता है । अधःप्रवृत्तकरणके अन्तिमसमयमें 'आत्मविशुद्धिके द्वारा बढ़ता है' इसे आदि करके प्रस्थापनासम्बन्धी निम्न चार गाथासूत्रोंकी विभाषा की जाती है^२ ।

संकामणपट्टवगस्स परिणामो केरिसो भवे । जोये कसाय उवजोगो लेस्सा वेवो य को भवे ॥१॥
 काणि वा पुटववद्धाणि के वा अंसे णिवंधवि । कधि अण्डलियं पदिसंति पदिण्णं अर पदेसगो ॥२॥
 के अंसे क्षीयवे पुठवं बंधेण उवएण वा । अंतरं वा कहि किच्चा के के संकामगो कहि ॥३॥
 कि द्विवियाणि कम्माणि अणुभागेसु केसु वा । ओवट्टेदूण सेसाणि कं ठाणं पडिवज्जवि^३ ॥४॥

अर्थः—संकमण प्रस्थापकके अर्थात् कषायकी क्षपणापर आरुढ़^४ चारित्र-मोहादि कर्मकी प्रकृतियोंको अन्य प्रकृतिरूप संक्रमित करता है । उसके परिणाम किस-प्रकारके होते हैं ? (उसके परिणाम इसप्रकारके होते हैं, ऐसी प्ररूपणाको विभाषा कहते हैं ।) उसके परिणाम विशुद्ध होते हैं और कषायोंका क्षपण प्रारम्भ करनेके भी अन्तर्मुहूर्त पहलेसे अनन्तगुणी विशुद्धिके द्वारा विशुद्ध होते आ रहे हैं । शुभपरिणाम कहनेसे अशुभपरिणामका निषेध हो जाता है । शुभपरिणामकी प्रणालीबिना इतने विशुद्धपरिणामोंका होना असम्भव है ।

योग कौनसा होता है ? कषायोंकी क्षपणा करनेवाला चारों मनोयोगोंमें से किसी एक मनोयोगवाला अथवा चारों वचनयोगोंमें से एक वचनयोगवाला अथवा औदारिककाययोगी होता है, इन ६ योगोंके अतिरिक्त अन्ययोग सम्भव नहीं है ।

१. विसोहीए सुहाणमणुभाग बुद्धि मोत्तूण पयारंतरासंभवादी । (जयधवल मूल पृ० १६४१) ।

२. जयधवल मूल पृ० १६३६-४० ।

३. कुछ पाठान्तरके साथ कषायपाहुड सुत्त पृ० ६१४-१५ या० ६१ से ६४ तक ।

४. संकामणपट्टवगो कसायक्खवणाए आडवगो त्ति वुत्तं होदि (जयधवल मूल पृष्ठ १६४१) ।

शंका:—क्षपकके मनोयोग तो सम्भव है, क्योंकि छद्मस्थके ध्यानावस्थामें मनकी एकाग्रता होती है, किन्तु चारों वचनयोग कैसे सम्भव है, क्योंकि ध्यानावस्थामें समस्त बहिरङ्गव्यापार रुक जाता है, जिसका वचनप्रवृत्तिके साथ विरोध है ।

समाधान:—यह दोष नहीं है, क्योंकि ध्यानयुक्तके भी अवक्तव्यरूपसे वचन-योगकी प्रवृत्तिके विप्रतिषेधका अभाव है । इसीप्रकार औदारिककाययोग भी सम्भव है, क्योंकि ध्यानावस्थामें उसके सम्बन्धसे जीवप्रदेशोंका परिस्पंदन संभव है ।

कषाय कौनसी होती है ? क्रोध-मान-माया और लोभ इन चारकषायरूप परिणामोंमें से किसी एक कषायरूप प्रवृत्तिका विरोध नहीं है ।

शंका:—कषायरूप परिणाम वर्धमान होते हैं या हीयमान होते हैं ?

समाधान:—कषायपरिणाम हीन होते हैं, वर्धमान नहीं, क्योंकि विशुद्धपरिणामोंका वर्धमानकषायपरिणामोंसे विरुद्ध स्वभाव है^१ ।

उपयोग कौनसा होता है ? अर्थात् अर्थग्रहणरूप आत्मपरिणाम उपयोग है, वह साकार व अनाकारके भेदसे दो प्रकारका है । मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय और केवल इन पांचज्ञानरूप व कुमति-कुश्रुत-विभङ्ग इन तीन कुज्ञानरूप इसप्रकार आठभेदवाला साकारोपयोग और चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवलरूप चार प्रकारका अनाकार उपयोग होता है । क्षपकश्चेऽपि चट्टनेवालेके एक श्रुतज्ञानोपयोग होता है, क्योंकि पृथक्त्ववितर्कबीचार संज्ञक प्रथम शुक्लध्यानके अभिमुख चौदह या दस अथवा नौ पूर्वधारीके श्रुतज्ञानोपयोग अवश्यंभावी है । द्वितीय उपदेशानुसार श्रुतज्ञान, मतिज्ञान, चक्षुदर्शन या अचक्षुदर्शन इन चारमें से कोई एक उपयोग होता है, क्योंकि वह अन्तरीय (अन्य) नहीं है, मात्र कारणरूप है मतिज्ञानके होनेपर चक्षुदर्शन व अचक्षुदर्शनके होनेमें भी कोई विरोध नहीं आता, क्योंकि चक्षुदर्शन व अचक्षुदर्शनके बिना मतिज्ञान नहीं हो सकता ।

शंका:—मतिज्ञान-श्रुतज्ञान-चक्षुदर्शन-अचक्षुदर्शन इन चार उपयोगोंके समान अवधिज्ञान-मनःपर्ययज्ञान और अवधिदर्शन भी क्यों नहीं होते ?

समाधान:—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इस सूत्रके द्वारा उनका विरोध कर दिया गया है तथा एकाग्रचित्तानिरोध लक्षणरूप ध्यानसे अवधिज्ञानादिका विरुद्ध स्वभाव है ।

लेश्या कौनसी होती है ? नियमसे शुक्ल ही होती है, क्योंकि सुविशुद्धलेश्या-की कारणभूत मन्दतमकषायके उदयमें शुक्ललेश्याकी प्रवृत्ति पाई जाती है, अन्य लेश्याओंकी नहीं। शुक्ललेश्या भी वर्धमान है हीयमान नहीं है, क्योंकि प्रतिसमय कषायानुभागस्पर्धक अनन्तगुणे हीनरूपसे उदयमेंआनेसे शुभलेश्यारूप परिणामोंमें वृद्धिके अतिरिक्त हानि होना असम्भव है^१।

वेद कौनसा होता है ? स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद इन तीनों वेदोंमेंसे कोई एक वेद होता है, क्योंकि तीनों वेदोंके उदयके साथ श्रेणि चढ़नेके प्रतिषेधका अभाव है अर्थात् तीनों वेदोंमें से किसी भी वेदोदयके साथ क्षपकश्रेणि चढ़ सकता है। इतनी विशेषता है कि द्रव्यसे पुरुषवेदके साथ ही श्रेणि चढ़ सकता है, क्योंकि अन्य-द्रव्यवेदके साथ श्रेणि चढ़नेका विरोध है। यहांपर गति आदिकी भी विभाषा करनी चाहिए, क्योंकि यह देशामर्सकसूत्र है। इसप्रकार प्रथमगाथाकी विभाषा समाप्त हुई आगे द्वितीयगाथाकी विभाषा इसप्रकार है—

दूसरी प्रस्थापन गाथाका प्रथमपद—कौन-कौनकर्म पूर्वबद्ध हैं ? यहांपर प्रकृतिसत्कर्म, स्थितिसत्कर्म, अनुभागसत्कर्म और प्रदेशसत्कर्मका अनुमार्गण करना चाहिए। सर्वप्रथम प्रकृतिसत्कर्म अनुमार्गणके लिए यहांपर दर्शनमोहनीय, अनन्तानु-बन्धीचतुष्क और तीन आयुके अतिरिक्त शेष कर्मप्रकृतियोंका सत्कर्म है। इतनी विशेषता है कि आहारकशरीर व आहारकअङ्गोपाङ्ग और तीर्थङ्करप्रकृतिका सत्त्व भजितव्य है, क्योंकि इनका सर्व जीवोंमें नियमरूपसे होनेका अभाव है। आयुर्कर्मके अतिरिक्त जिन प्रकृतियोंका सत्कर्म है उनका स्थिति सत्कर्म अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण है। अनुभाग-सत्कर्म भी अप्रशस्तप्रकृतियोंका द्विस्थानिक और प्रशस्त प्रकृतियोंका चतुःस्थानिक है। सर्वप्रकृतियोंका प्रदेशसत्कर्म अजघन्य-अनुत्कृष्ट है। किन-किन कर्मशोंको बांधता है ? यहांपर भी प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धका अनुमार्गण करना चाहिए^२। कितनी प्रकृतियां उदयावलीमें प्रवेश करती हैं ? सभी मूलप्रकृतियां उदयावलीमें आती हैं (प्रवेश करती हैं), किन्तु जो उत्तरप्रकृतियां विद्यमान हैं वे उदय या अनुदय (पर-मुखउदय) स्वरूपसे उदयावलीमें प्रवेश करती हैं। कितनी प्रकृतियां उदीरणास्वरूपसे उदयावलीमें प्रवेश करती हैं ? आयु और वेदनीयकर्मको छोड़कर जितने भी वेदन

१. जयधवल मूल पृ० १६४३।

२. जयधवल मूल पृ० १६४४।

क्रिये जानेवाले (स्वमुख उदयस्वरूप) कर्म हैं वे उदीरणारूपसे उदयावलिमें प्रवेश करते हैं । पांच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरणका तो नियमसे उदय है । निद्रा और प्रचलाका कदाचित् अवक्तव्य उदय है । साता व असातावेदनीयमें से किसी एकका, चार संज्वलनकषायोंमें से, तीन वेदोंमें से और द्योयुगलों (हास्य-रति व अरतिशोक) में से किसी एकका नियमसे उदय है । भय व जुगुप्साका कदाचित् उदय है और कदाचित् उदय नहीं है । मनुष्यायु, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति, औदारिक-तैजस-कर्मणशरीर, छह संस्थानोंमें से किसी एक संस्थानका, औदारिकशरीरअंगोपांग, वज्रर्षभनाराचसंहनन, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श, अगुरुलघु आदि चार (अगुरुलघु-उपघात-परघात-उच्छ्वास) प्रशस्त व अप्रशस्तविहायीमतिमें से किसी एकका, त्रसचतुष्क (त्रस-बादर-पर्याप्ति-प्रत्येक), स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग और सुस्वर-दुःस्वरमें से किसी एकका, आदेय, यशस्कीर्ति, उच्चगोत्र, पांच अन्तराय (दान-लाभ-भोग-उपभोग और वीर्यान्तराय) का नियमसे वेदक होता है । यहाँपर अन्यप्रकृतियोंका उदय सम्भव नहीं है । इनमेंसे साता-असाता-वेदनीय और मनुष्यायुको छोड़कर शेषका उदीरक होता है अर्थात् शेषकर्मोंकी उदीरणा होती है ।

शंका:—यहाँ आयु व वेदनीयकर्मकी उदीरणा सम्भव क्यों नहीं है ?

समाधान:—नहीं होती, क्योंकि वेदनीय व आयुकर्मकी उदीरणा प्रमत्तसंयत-गुणस्थानसे आगे सम्भव नहीं है ।

(तृतीयगाथा) कौन-कौन कर्मांश बन्ध अथवा उदयकी अपेक्षा पहले व्युच्छिन्न हो जाते हैं ? यहाँपर ज्ञानावरणकर्मकी पांचों प्रकृतियोंका बन्ध होता है अतः ज्ञानावरणकर्मकी एक भी प्रकृतिकी बन्धव्युच्छित्ति नहीं कही गई है । दर्शनावरणकर्मकी स्त्यानगृद्धित्रिककी पूर्वमें हो बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है, क्योंकि सासादनसम्यग्दृष्टि-गुणस्थानके आगे इनका बन्ध असम्भव नहीं है । वेदनीयकर्ममें से असातावेदनीयकर्मकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है, क्योंकि प्रमत्तसंयतगुणस्थानसे ऊपर असातावेदनीयके बन्धका अभाव है । मोहनीयकर्मकी मिथ्यात्व, बारहकषाय, अरति, शोक, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद ये १७ प्रकृतियां बन्धसे व्युच्छिन्न हो जाती हैं, क्योंकि पूर्वमें ही इन प्रकृतियोंकी यथा सम्भव अधस्तन गुणस्थानोंमें बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है । आयुकर्मकी सभी प्रकृतियां

बन्धसे व्युच्छिन्न हैं, क्योंकि उनके बन्धकारणोंको उल्लंघनकर क्षपकश्रेणिके अधःप्रवृत्त-करणसम्बन्धी तत्प्रायोग्य विशुद्धिमें वर्तन कर रहा है । नामकर्मकी परिवर्तमान सभी अशुभप्रकृतियोंकी पूर्वमें ही बन्धसे व्युच्छिन्ति हो जाती है । नरकगति, तिर्यञ्चगति, एकेन्द्रियादि चार जाति, पांच अशुभसंस्थान, पांच अशुभसंहनन, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यच-गत्यानुपूर्वी, अप्रणस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति नामकर्मकी ये प्रकृतियां यथासम्भव नीचले गुण-स्थानोंमें बन्धसे व्युच्छिन्न हो जाती हैं । नामकर्मकी केवल इतनी ही प्रकृतियोंकी बन्ध-व्युच्छिन्ति नहीं होती, किन्तु मनुष्यगतिद्विक, आहारिकद्विक, वज्रवृषभनाराचसंहनन इन शुभ प्रकृतियोंकी असंयतसम्यग्दृष्टियोंके भी बन्धव्युच्छिन्ति देखी जाती है । आतप और उद्योत इन दो शुभ प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छिन्ति यथाक्रम मिथ्यादृष्टि व सासादन-गुणस्थानमें हो जाती है । वहांपर (क्षपकश्रेणिमें) नामकर्मकी इतनी प्रकृतियोंकी बन्ध-व्युच्छिन्ति पायी जाती है । गोत्रकर्ममें नीचगोत्र बन्धसे व्युच्छिन्न है, क्योंकि सासादन-गुणस्थानसे आगे इसका बन्ध नहीं होता है । अन्तरायकर्मकी एकभी प्रकृति बन्धसे व्युच्छिन्न नहीं है । उदयसे व्युच्छिन्नप्रकृतियां निम्नप्रकार हैं— स्त्यानगृह्णिक पूर्वमें ही उदयसे व्युच्छिन्न हो जाती हैं । यहांपर निद्रा और प्रचला उदयसे व्युच्छिन्न नहीं होतीं, क्योंकि उनका उदय क्षीणकषाय गुणस्थानके द्विचरमसमयतक सम्भव है । शेष मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व, १२ कषाय, मनुष्यायुके अतिरिक्त तीन आयु, नरकगति, तिर्यञ्चगति, देवगति और इनके प्रायोग्य अर्थात् नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी एकेंद्रिय-विकलेंद्रियजाति, वैक्रियकशरीर, वैक्रियकअंगोपांग, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म-साधारणशरीर, आहारकद्विक, वज्रवृषभनाराचसंहननको छोड़कर शेष पांचसंहनन मनुष्यगत्यानुपूर्वी, अशुभत्रिक (दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति), अपर्याप्त, नीच-गोत्र ये प्रकृतियां उदयसे पूर्वमें ही व्युच्छिन्न हो जाती हैं^१ । तीर्थङ्करप्रकृतिकी कदाचित् उदयव्युच्छिन्ति होती है कदाचित् नहीं^२ ।

कहां पर अन्तरकरके किन-किन कर्मोंको कहां संक्रामण करता है ? यह अधःप्रवृत्ताकरणसंयत यहाँ अन्तर नहीं करता, किन्तु अपूर्वकरणकालको उल्लंघनकर

१. कर्मप्रकृतियोंका क्षय १४वें गुणस्थान तक है अतः क्षपणाका यह प्रकरण १४वें गुणस्थानतक जानना । इसी अपेक्षा तीर्थङ्करप्रकृतिका स्यात् उदय और स्यात् अनुदय कहा है ।

२. अयधवल पृ० १६४६-४७ ।

अनिवृत्तिकरणकालके संख्यात बहुभाग व्यतीत होनेपर अन्तर करता है और वहीं पर चारित्र्यमोहकी प्रकृतियोंका यथावसर संक्रामक होगा ।

(चतुर्थगाथा) कषायोंकी अपणा करनेवाला किस-किस स्थिति और अनुभाग-विशिष्ट कौन-कौनसे कर्मोंका अपवर्तन करके किस-किस स्थानको प्राप्त कराता है, शेष-कर्म किस स्थिति तथा अनुभागको प्राप्त होते हैं ? इस चतुर्थगाथाके द्वारा यह प्रश्न किया गया है कि स्थितिविशेषमें वर्तन करनेवाले कर्मोंका अनुभागकाण्डकघात हो जाने-पर अवशेष अनुभाग कितना रह जाता है ? यहां स्थितिकाण्डकघात व अनुभागकाण्डकघातकी सूचना इस पृच्छा द्वारा की गई है । अधःप्रवृत्तकरणके चरमसमयतक स्थितिके स्थितिकाण्डकघात व अनुभागकाण्डकघात सम्भव नहीं है, किन्तु अधःप्रवृत्तकरणके चरमसमयसे अन्तरसमयमें अपूर्वकरणके प्रवेश हो जानेपर दोनों काण्डकघातकी प्रवृत्ति होती है ।

शङ्का:—यदि ऐसा है तो अधःप्रवृत्तकरणसम्बन्धी विशुद्धिकी प्राप्ति निरर्थक हुई, क्योंकि स्थिति व अनुभागकाण्डकघातरूप कार्यविशेषकी अनुपलब्धि है ।

समाधान:—ऐसी शंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि स्थिति व अनुभागघातके हेतुभूत अपूर्वकरण परिणामोंकी उत्पत्तिमें ये (अधःप्रवृत्तिकरणके) परिणाम निमित्ता-रूपसे देखे जाते हैं । इसप्रकार इन चार मूल गाथाओंकी विभाषामें अधःप्रवृत्तकरणकाल समाप्त हो जाता है^१ ।

अथानन्तर अपूर्वकरणका वर्णन करते हैं—

‘गुणसेढी गुणसंकम ठिदिखंडमसत्थगाण रसखंडं ।

विदियकरणादिसमए अणणं ठिदिबंधमारवई ॥६॥३६७॥

अर्थ:—द्वितीय अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें गुणश्रेणि, गुणसंक्रमण, स्थितिखण्डन और अप्रशस्तप्रकृतियोंका अनुभागखण्डन होता है तथा अधःप्रवृत्तकरणके अन्तिमसमयमें जो स्थितिबन्ध होता था उससे पत्यके असंख्यातवेंभाग मात्र घटते हुए अन्य स्थिति-बन्धको प्रारम्भ करता है, क्योंकि यहां एक स्थितिबंधापसरण होनेके कारण इतने प्रमाण स्थितिबन्धको घटाता है ।

१. जयधवल मूल पृ० १६४१ से १६४८ तक ।

२. ल० सा० गा० ५३ के समान ।

विशेषार्थः—अधःप्रवृत्तकरण समाप्त होनेके अन्तरसमयमें अपूर्वकरणगुणस्थानमें प्रवेश करता है, इसका काल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है। अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें स्थिति-काण्डकघात व अनुभागकाण्डकघात प्रारम्भ होता है क्योंकि अपूर्वकरणकी विशुद्धिका स्थिति व अनुभागकाण्डकघातके साथ अविनाभावी सम्बन्ध है^१।

गुणसेढीदीहत्तं अपुठ्वचउक्कादु साहियं होदि ।

गलिदवसेसे उदयावलिवाहिरदो दु शिक्खेओ ॥७॥३६८॥

अर्थः—यहाँ गुणश्रेणिआयामका प्रमाण अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण-सूक्ष्मसाम्प-राय और क्षीणकषाय इन चारों गुणस्थानोंके कालसे साधक है, सो अधिकका प्रमाण क्षीणकषायगुणस्थानके कालके संख्यातर्वेभागमात्र है अतः उदयावलिसे बाहर गलिताव-शेषरूप जो यह गुणश्रेणिआयाम है उसमें अपकर्षण किये हुए द्रव्यका निक्षेपण होता है।

विशेषार्थः—परिणामविशेषके कारण असंख्यातसमयप्रबद्धप्रमाण द्रव्यका अप-कर्षण करके गुणश्रेणिआयाममें निक्षेपण करता है^२।

पडिसमयं उक्कद्वदि असंखगुणिदक्कमेण संचदि यः

इदि गुणसेढीकरणं पडिसमयमपुठ्वपडमादो ॥८॥३६९॥

अर्थः—प्रथमसमयमें अपकर्षण किये हुए द्रव्यसे द्वितीयादि समयोंमें असंख्यात-गुणा क्रम लीए हुए प्रतिसमय द्रव्यका अपकर्षण करता है और-सिचित्त-अर्थात् उदयावली, गुणश्रेणीआयाम और उपरितनस्थितिमें निक्षेपण करता है। इसप्रकार अपूर्वकरणगुण-स्थानके प्रथमसमयसे लेकर प्रतिसमय गुणश्रेणि होती है।

पडिसमयमसंखगुणं दव्वं संकमदि अप्पसत्थाणं ।

बंधुज्झियपयडीणं बंधंतसजादिपयडीसु ॥९॥३७०॥

अर्थः—अपूर्वकरणगुणस्थानके प्रथमसमयसे लेकर प्रतिसमय असंख्यातगुणे-क्रमसे युक्त (यहाँ जिनका बन्ध नहीं होता) अप्रशस्तप्रकृतियोंका जो द्रव्य है वह (यहाँ

१. जयधवल मूल पृष्ठ १६४८ ।

२. लघुसार गाथा ५३ के समान ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ १६५१ ।

४. लघुसार गाथा ७४ के समान ।

जिन प्रकृतियोंका बन्ध पाया जाता है ऐसी) स्वजातीय प्रकृतियोंमें संक्रमण करता है। अर्थात् तद्रूप परिणमन कर जाता है।

विशेषार्थः—यह गुणसंक्रमण अबन्धरूप अप्रशस्तप्रकृतियोंका ही होता है, अन्यमें गुणसंक्रमणकी प्रवृत्ति असंभव है^१। जैसे—असातावेदनीयप्रकृतिका द्रव्य सातावेदनीयरूप परिणमन करता है, इसीप्रकार अन्य प्रकृतियोंका भी जानना।

ओवदृणा जहणा आउलियाऊणिया तिभागेण ।

एसा द्विदिसु जहणा तहाणुभागे संणतेसु ॥१०॥४०१॥

अर्थः—जघन्य अपवर्तनाका प्रमाण त्रिभागसे होन आवलिप्रमाण है। यह जघन्यअपवर्तना स्थितिके विषयमें ग्रहण करना चाहिए, किन्तु अनुभागविषयक जघन्य अपवर्तना अनन्तस्पर्धकोसे प्रतिबद्ध है।

विशेषार्थः—यद्यपि इस गाथामें स्थितिसम्बन्धी अपकर्षणकी जघन्यअतिस्थापनाका कथन किया गया है, तथापि देशान्तरक होनेसे स्थिति अपकर्षण-उत्कर्षण-सम्बन्धी जघन्य व उत्कृष्ट अतिस्थापना व निक्षेपका कथन करना चाहिए। अनुभागके सम्बन्धमें यह कहा गया है कि जबतक अनन्तस्पर्धक अतिस्थापनारूपसे निक्षिप्त नहीं होते तब तक अनुभागविषयकअपवर्तनाकी प्रवृत्ति नहीं होती है^२।

उदयसे लेकर एकसमय अधिक आवलिप्रमाण स्थितिवाले निषेकके द्रव्यका अपकर्षण होनेपर समयकम आवलिका दो-त्रिभाग (३) तो अतिस्थापना है और शेष नीचेका समयाधिक आवलिका त्रिभाग निक्षेप है। स्थितिअपकर्षणसम्बन्धी यह जघन्य-अतिस्थापना व निक्षेपका प्रमाण है। उसे अनन्तरउपरिमनिषेक (उदयावलिके बाहर द्वितीयनिषेक) का अपकर्षण होनेपर निक्षेप तो पूर्ववत् समयकम आवलिके त्रिभागसे

१. जयधवल मूल पृ० १६५१।

२. यह गाथा क० पा० की गाथा १५२ के समान है तथा यह धवल पु० ६ पृष्ठ ३४६ तथा क० पा० सुत्त पृष्ठ ७७४ पर भी है। यद्यपि क्षपणासार में 'ओवदृणा' यह पाठ था, किन्तु वह अशुद्ध प्रतीत होता है अतः उसके स्थान पर 'ओवदृणा' यह शुद्ध उक्त आधारसे रखा गया है। ज० ध० मूल पृ० २००२ पर भी यह गाथा दी गई है।

३. जयधवल मूल पृ० २००२, क० पा० सु० पृष्ठ ७७४।

समयाधिक है, किन्तु अतिस्थापना पूर्वसे एकसमय बढ़ जाती है । उपरितन-उपरितन-स्थितिवाले निषेकोंके द्रव्यका अपकर्षण होनेपर जघन्यनिक्षेपको अवस्थितकरके अति-स्थापना एक-एकसमयके कमसे तब तक बढ़ानी चाहिए जबतक समयाधिकत्रिभाग निक्षेपके ऊपर एक आवलिप्रमाण उत्कृष्ट अतिस्थापना नहीं हो जाती । उसके पश्चात् आवलिप्रमाण अतिस्थापनाको अवस्थितकरके एक-एकसमयके प्रमाणसे निक्षेपको तब तक बढ़ाना चाहिए जबतक उत्कृष्टनिक्षेप हो जावे । उत्कृष्टनिक्षेपका प्रमाण समयाधिक दो आवलिकम उत्कृष्टस्थितिप्रमाण है जो इसप्रकार है— कषायकी उत्कृष्टस्थिति चालीसकोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण बांधकर पुनः बंधावलिकाल बितानेपर ४० कोड़ाकोड़ी-सागरकी उत्कृष्टस्थिति एक आवलिप्रमाण कम होगई । बंधावलिके व्यतीत हो जानेपर अग्रस्थितिके द्रव्यको अपकर्षणकर अग्रस्थितिके नीचे एक आवलिप्रमाण अतिस्थापना छोड़कर नीचे उदयस्थितिपर्यन्त वह अपकर्षण किया हुआ द्रव्य दिया जाता है । इस-प्रकार बंधावलि, अग्रस्थिति, अतिस्थापनावलि अर्थात् समयाधिक दो आवलिप्रमाणको कर्मस्थितिमेंसे कम करनेपर स्थितिअपकर्षणसम्बन्धी उत्कृष्टनिक्षेपका प्रमाण होता है^१ ।

मानाकि उत्कृष्टस्थितिका प्रमाण १००० समय है, आवलिका प्रमाण १६ समय है । स्थितिअपकर्षणसम्बन्धी जघन्यनिक्षेप व अतिस्थापना इसप्रकार है—उदयावलिके १६ समय, उदयावलिके अनन्तर ऊपर १७वें निषेकका अपकर्षणकरके उदयावलिमें देना है । एकसमयकम आवलि (१६-१=१५) का दो त्रिभाग ($15 \times \frac{2}{3}$) १० समय अर्थात् ७वें निषेकसे १६वें निषेकतक अतिस्थापना है और एकसमय अधिक त्रिभाग ($15 \times \frac{1}{3} + 1 = 6$) ६ समय निक्षेप है अर्थात् प्रथमनिषेकसे छठे निषेकतक निक्षेप है । १८वें समयसम्बन्धी निषेकके द्रव्यका अपकर्षण होनेपर पूर्ववत् प्रथम ६ निषेक तो निक्षेप हैं और ७वें निषेकसे १८वें निषेकतक ११ निषेक अतिस्थापनारूप हैं । इसी-प्रकार १९वें निषेकका अपकर्षण होनेपर १२ निषेक और २०वें निषेकका अपकर्षण होनेपर १३ निषेक अतिस्थापनारूप होते हैं, किन्तु निक्षेप पूर्ववत् ६ समय ही है । इस-प्रकार एक-एकसमय बढ़ते २३वें निषेकसम्बन्धी द्रव्यका अपकर्षण होनेपर अतिस्थापना १६ समयप्रमाण एकआवलि हो जाती है, किन्तु निक्षेप प्रथम ६ समय प्रमाण है । २४वें निषेकके द्रव्यका अपकर्षण होनेपर अतिस्थापना तो पूर्ववत् १६ समयप्रमाण और निक्षेप एकसमय बढ़ जाता है अर्थात् प्रथमसात निषेकोंमें द्रव्यसिंचित किया जाता है । इसके

१. जयधवल मूल पृ० २००२-२००४ तक ।

आगे अतिस्थापनाका प्रमाण तो अवस्थित उपरित्त एक आवलिप्रमाण है और निक्षेप एक-एकसमय बढ़ता जाता है ।

उत्कृष्ट निक्षेप—उत्कृष्टस्थितिबन्धका प्रमाण १००० समय है । १६ समय बन्धावलिके व्यतीत होनेपर स्थिति १०००-१६=९८४ समयप्रमाण शेष रह जाती है । ९८४वें समयवाले निक्षेपके द्रव्यका अपकर्षण होनेपर ९७८ से ९८३ तक १६ निक्षेप तो अतिस्थापनारूप हैं और प्रथमनिक्षेपसे ९७७ निक्षेपतक निक्षेप हैं । यह उत्कृष्ट निक्षेपकी अङ्कुसन्दृष्टि है ।

शंकाः—क्षपकक्षेणिके कथनमें सांसारिक अवस्थाके उत्कृष्टनिक्षेपका प्रमाण बतलाना असम्बद्ध है । फिर क्यों यह कथन किया गया ?

समाधानः—प्रसङ्गवश अपकर्षणसम्बन्धी यह कथन किया गया । इस प्ररूपणामें कोई दोष नहीं है । यहां अल्पबहुत्व इसप्रकार है— 'एकसमयकम आवलिके तृतीय-भागसे एक समयाधिक (६) जघन्यनिक्षेपका प्रमाण है जो सबसे स्तोक है, इससे अधिक जघन्यअतिस्थापना है जिसका प्रमाण एकसमयकमआवलिके दो त्रिभाग (१०) है । इससे विशेष अधिक उत्कृष्ट अतिस्थापनावलि (१६) प्रमाण है । उत्कृष्टनिक्षेप इससे असंख्यातगुणा है, क्योंकि वह समयाधिक दोआवलिकम उत्कृष्ट स्थितिप्रमाण है ।

अनुभागविषयक अपकर्षणसम्बन्धी जघन्य व उत्कृष्ट निक्षेप व अतिस्थापनाका प्रमाण जानना चाहिए । स्थिति-अनुभागविषयक उत्कर्षणसम्बन्धी जघन्य व उत्कृष्ट अतिस्थापना व निक्षेपका कथन आगे किया जावेगा अतः यहां नहीं किया है ।

संकामेदुक्कडुदि जे अंसे ते अवट्ठिदा होंति ।

आवलियं से काले तेण परं होंति भजिदव्वा ॥११॥४०२॥

१. जयधवल मूल पृष्ठ २००४ ।

२. यह गाथा क० पा० की १५३ वीं गाथाके समान है, किन्तु 'दुक्कडुदि' और 'भजियव्व' के स्थान पर क्रमशः 'दुक्कडुदि' और 'भजिदव्वा' पाठ हैं जो शुद्धप्रतीत होते हैं अतः यहां शुद्धपाठ क० पा० के अनुसार ही प्रयुक्त किये हैं । यह गाथा धवल पु० पृष्ठ २४६ पर भी पाई जाती है । तथा जयधवल मूल पृष्ठ २००५, क० पा० सुत्त पृष्ठ ७७७ पर भी है ।

अर्थ:—जो कर्मप्रदेश संक्रमित व उत्कषित किये जाते हैं वे एक आवलिकाल-तक अवस्थित रहते हैं उसके पश्चात् अनन्तरसमयमें भजितव्य है ।

विशेषार्थ:—पर प्रकृतिमें संक्रमित प्रदेशाग्र तथा स्थित व अनुभागकी अपेक्षा उत्कषित प्रदेशाग्र आवलिप्रमाण कालतक निरुपक्रमभावसे अवस्थित रहते हैं । आवलि-मात्र कालतक अन्यक्रियारूप परिणामके बिना जहांपर जिसरूपसे प्रदेशाग्र निक्षिप्त किये जाते हैं वहांपर उसीरूपसे निश्चलभावसे अवस्थित रहते हैं । आवलिकाल व्यतीत होनेके अनन्तर समयमें या उससे ऊपरवर्ती समयोंमें भजितव्य होते हैं । संक्रमावलिप्रमाणकाल के व्यतीत हो जानेपर उसके अनन्तरवर्ती वे कर्मप्रदेश संक्रमण, उत्कर्षण, वृद्धि-हानि व अवस्थित क्रियाके लिए भजितव्य हैं, क्योंकि आवलिकालके पश्चात् तद्रूप प्रवृत्तिके प्रतिषेधका अभाव है ।

जो प्रदेशाग्र परप्रकृतिरूपसे संक्रमण करते हैं वे आवलिकालपर्यन्त अपकर्षण, उत्कर्षण व संक्रमणके लिए शक्य नहीं है । जो प्रदेशाग्र स्थिति या अनुभागमें उत्कर्षण को प्राप्त होते हैं वे भी आवलिकालतक अपकर्षण, उत्कर्षण या संक्रमणके लिए शक्य नहीं है । आवलिकालपर्यन्त निरुपक्रमभावके पश्चात् अपकर्षण आदि क्रियाके लिए भजितव्यभावकी प्ररूपणा मन्दबुद्धिवालोंको समझानेके लिए की गई है ।

‘ओक्कड्डदि जे अंसे से काले ते च होंति भजिदव्वा ।

वड्ढीए अवट्ठाणे हाणीए संक्रमे उदए ॥१२॥४०३॥

अर्थ:—जो कर्मप्रदेशाग्र अपकषित किये जाते हैं वे अनन्तर अगले समयमें वृद्धि-हानि, अवस्थान, संक्रमण व उदयके लिए भजितव्य हैं ।

विशेषार्थ:—उत्कषित प्रदेशाग्र या परप्रकृतिरूप संक्रमितप्रदेशाग्र आवलि-प्रमाण कालतक निरुपक्रम भावसे अवस्थित रहते हैं ऐसा नियम है, किन्तु ऐसा नियम अपकषितप्रदेशाग्र सम्बन्धमें नहीं है । अपकषितप्रदेशाग्र दूसरे समयमें ही संक्रमण व

१. जयधवल मूल पृ० २००५ ।

२. यह गाथा कषायपाहुडकी १५४वीं गाथा है (क० पा० सु० पृष्ठ ७७७ व धवल पु० ६ पृष्ठ ३४७), किन्तु वहां ‘उक्कड्डदि’ व ‘अवठाण’ के स्थानपर क्रमशः ‘ओक्कड्डदि’ और ‘अवट्ठाणे’ ये पाठ दिये गए हैं जो कि शुद्ध प्रतीत होते हैं अतः उन शुद्ध पाठोंको ही यहांपर रखा गया है ।

उदीरणा होता सम्भव है अर्थात् जिन कर्मप्रदेशाग्रोंका स्थिति व अनुभागमें अपकर्षण होता है वे अनन्तरसमयमें ही वृद्धि-हानि-अवस्थान व संक्रमणके लिए भजनीय है, अनन्तरसमयमें अपकर्षितप्रदेशाग्रमेंसे कुछ तो पुनः अपकर्षित हो जाते हैं अपकर्षण नहीं होता, कुछ प्रदेशाग्रोंकी वृद्धि होती है और कुछकी वृद्धि नहीं होती। अपकर्षित-प्रदेशाग्रोंमेंसे कुछ प्रदेशाग्र अपने स्थानपर स्थित रहते हैं और कुछ अन्यक्रियाको प्राप्त हो जाते हैं। इसीप्रकार संक्रमण व उदयके विषयमें भी योजना करना चाहिए। अपकर्षितप्रदेशाग्रकी दूसरे समयमें पुनः अपकर्षण आदिरूप प्रवृत्ति होनेमें कोई बाधा नहीं है। कर्म प्रदेशाग्रका स्थितिमुखसे या अनुभागमुखसे ही अपकर्षण होता है, अन्यप्रकारसे अपकर्षण नहीं होता, ऐसा जानना चाहिए।

‘एकं च टिठदिविसेसं तु असंखेज्जेषु टिदि विसेसेसु ।

वड्ढेदि हरस्सेदि व तद्वाणुभागे सण्तेसु ॥१३॥४०४॥

अर्थः—एक स्थितिविशेषको असंख्यात स्थितिविशेषोंमें बढ़ाता भी है और घटाता भी है। इसीप्रकार अनुभागविशेषको अनन्त अनुभागस्पर्धकोंमें बढ़ाता और घटाता है।

विशेषार्थः—एकस्थितिविशेषके उत्कर्षण होनेपर असंख्यात स्थितिविशेषोंमें वृद्धि होती है, क्योंकि उत्कर्षणसम्बन्धी जघन्यनिक्षेप भी आवलिके असंख्यातवैभाग है उससे कममें नहीं। एक स्थितिविशेषके अपकर्षण होनेपर असंख्यातस्थितिविशेषोंमें ह्रास होता है इससे कममें नहीं। गाथा अनुसार अपकर्षणसम्बन्धी जघन्यनिक्षेप भी आवलीका तृतीयभाग है। अनुभागसम्बन्धी स्पर्धककी एकवर्णणामें उत्कर्षण या अपकर्षण होनेपर नियमसे अनन्त अनुभागस्पर्धकोंमें वृद्धि या ह्रास होता है। इससे अनुभागविषयक अपकर्षण-उत्कर्षणमें जघन्य व उत्कृष्ट निक्षेपका प्रमाण बतलाया गया है।

स्थितिसत्कर्मकी अग्रस्थितिसे एसकमय अधिक स्थितिबन्ध होनेपर, स्थितिसत्कर्मकी अग्रस्थितिका उत्कर्षण नहीं होता, क्योंकि अतिस्थापना और निक्षेपका अभाव

१. जयधवल मूल पृ० २००६।

२. यह गाथा कसायपाहुड़की गाथा १५६वीं के समान है (क० पा० सु० पृष्ठ ७७८ व धवल पु० ६ पृष्ठ ३४७)। किन्तु क० पा० सु० में ‘टिदि’ और ‘रहस्सेदि’ के स्थानपर क्रमशः ‘टिदि’ और ‘हरस्सेदि’ पाठ है अतः क० पा० के आधारसे ही पाठ परिवर्तित किया गया है।

होनेसे उत्कर्षण होनेका विरोध है । इसीकारणसे दोसमय आदि अधिक-अधिक स्थिति-बन्ध होनेपर उत्कर्षण नहीं होता । आवलिप्रमाण अधिक स्थितिबन्ध होनेपर स्थिति-सत्कर्मकी अग्रस्थितिका उत्कर्षण नहीं होता, क्योंकि जघन्य अतिस्थापना होते हुए भी निक्षेपका अभाव होनेसे उत्कर्षणका प्रतिषेध है । यदि स्थितिसत्कर्मकी अग्रस्थितिसे एकआवलि और एकआवलिके असंख्यातवेंभागअधिक स्थितिका बन्ध हो तो अग्रस्थिति-का उत्कर्षण हो सकता है, क्योंकि अग्रस्थितिका उत्कर्षण होनेपर आवलिप्रमाण जघन्य अतिस्थापना करके आवलिके असंख्यातवेंभागप्रमाण जघन्य निक्षेपमें निक्षिप्त होता है और यह निक्षेप आवलिके असंख्यातवेंभागको आदि करके एक-एकसमय वृद्धिसे निरन्तर उत्कृष्टनिक्षेप प्राप्त होनेतक बढ़ता है । स्थितिसत्कर्मकी अग्रस्थितिकी अपेक्षा ओघ-उत्कृष्टनिक्षेप प्राप्त नहीं होता, किन्तु उदयावलिसे बाहर अन्तरस्थितिके प्रदेशाग्रका उत्कर्षण होनेपर उत्कृष्टनिक्षेपका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि उसीमें ओघउत्कृष्ट-निक्षेप संभव है अर्थात् जघन्यनिक्षेपसे लेकर उत्कृष्टनिक्षेपतक सर्वस्थान निक्षेप स्वरूप हैं ।

सर्व कर्मोंका अपना-अपना उत्कृष्टस्थितिबन्ध होनेपर आगमविरोधसे उत्कृष्ट-निक्षेप सम्भव है, किन्तु उदाहरणरूपसे कषायके उत्कृष्टनिक्षेपका कथन इसप्रकार है— ४० कोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण कषायकी उत्कृष्टस्थितिबन्ध होनेपर एकसमय अधिक आवलि और चारहजारवर्षकम ४० कोड़ाकोड़ीप्रमाण उत्कृष्टनिक्षेप है । कषायका उत्कृष्टस्थिति-बन्ध करके बन्धावलि व्यतीतकर अन्तिम निषेकमेंसे प्रदेशाग्रका अपकर्षणकर नीचे निक्षिप्त करता है । इसप्रकार निक्षिप्यमान उदयावलिसे बाहर द्वितीयस्थितिमें निक्षिप्त प्रदेशाग्रको उत्कर्षण करनेके लिए ग्रहण करता है । उस प्रदेशाग्रको तदनन्तर समयमें बन्ध होनेवाली ४० कोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण उत्कृष्टस्थितिके ऊपर उत्कर्षण करता हुआ ४००० वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट आबाधाकालका उत्लंघनकरके इससे उपरिमनिषेकस्थितियों में ही निक्षिप्त करता है । इसप्रकार उत्कृष्ट आबाधाकालसे हीन ४० कोड़ाकोड़ीसागर-प्रमाण चारित्रमोहनीयकर्मकी उत्कृष्टस्थिति ही उत्कर्षणसम्बन्धी उत्कृष्टनिक्षेपका प्रमाण होता है, किन्तु एकसमयाधिक बन्धावलिकालसे उक्त कर्मस्थितिको कमकरना चाहिए, क्योंकि निरुद्ध समयप्रबद्धकी सत्त्वस्थितिका समयाधिक बन्धावलिकाल प्रमितकाल नीचे ही गल चुका है । इसप्रकार समयाधिक आवलि और ४००० वर्षोंसे हीन ४० कोड़ा-कोड़ीसागरोपम उत्कृष्ट निक्षेपका प्रमाण है शेष अनुत्कृष्ट निक्षेपस्थानोंको उपायविधिसे जानना चाहिए ।

आबाधाकालसे ऊपर जितनी भी स्थितियां हैं उनका उत्कर्षण होनेपर जघन्य भी और उत्कृष्ट भी अतिस्थापनावलि प्रमाण है, क्योंकि अन्य प्रकार होना असम्भव है । आबाधाकालसे अधस्तनवर्ती सत्कर्म स्थितियोंका उत्कर्षण होनेपर अतिस्थापना किसी स्थितिकी तो एकआवलि, किसी स्थितिकी एकसमय अधिक आवलि, किसी स्थितिकी दो समय अधिक आवलि और किसीकी तीनसमय अधिक आवलि है । इसप्रकार निरन्तर एकसमय अधिकतक बढ़ना चाहिए जबतक उदयावलिसे बाहर अनन्तरस्थितिकी सर्वोत्कृष्ट अतिस्थापना प्राप्त नहीं होती ।

शंका:—उत्कृष्ट अतिस्थापनाका प्रमाण कितना है ?

समाधान:—जिसकर्मकी जो उत्कृष्ट आबाधा है वह एकसमय अधिक आवलि से हीन आबाधा उस कर्मकी उत्कृष्ट अतिस्थापना है । उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होनेपर उत्कृष्ट आबाधा होती है और उसीके एकसमयअधिक आवलिकम उत्कृष्टआबाधा ही उत्कृष्टअतिस्थापना होती है । उदयावलिसे बाहर अनन्तर स्थितिका उत्कर्षण होनेपर उत्कृष्टअतिस्थापना प्राप्त होती है^१ ।

क्षपककी प्ररूपणाके अवसरमें संसारअवस्थासम्बन्धी उत्कर्षणकी अर्थपद प्ररूपणा की गई है, क्योंकि क्षपकश्रेणिमें सत्कर्मसे अधिक स्थितिबन्ध न होनेसे उत्कर्षण प्ररूपणा सम्भव नहीं है^२ । जिसप्रकार उत्कर्षण-विषयक जघन्य-उत्कृष्टनिक्षेप और अतिस्थापनाका प्रमाण बतलाया है, उसीप्रकार अपकर्षणसम्बन्धी निक्षेप और अतिस्थापनाका भी जान लेना चाहिए । अब उन्हीं उत्कर्षण-अपकर्षणसम्बन्धी अल्पबहुत्वको कहते हैं—

(१) उत्कर्षण की जानेवाली स्थितिका जघन्यनिक्षेप सबसे स्तोक है, क्योंकि वह आवलिके असंख्यातर्वेभागप्रमाण है । (२) इससे अपकर्षणकी जानेवाली स्थितिका जघन्य निक्षेप असंख्यातगुणा है, क्योंकि उसका प्रमाण एकसमय अधिक आवलिका त्रिभाग प्रमाण है । (३) इससे अपकर्षणसम्बन्धी जघन्यअतिस्थापना कुछकम दोगुणी है, क्योंकि इसका प्रमाण एकसमयकम आवलिका दो त्रिभाग है और जघन्यनिक्षेपका प्रमाण समयाधिक त्रिभाग प्रमाण है इसलिए जघन्य अतिस्थापना दो समयकम दुगुणी है अतः विशेष अधिक है^३ । (४) अपकर्षणसम्बन्धी उत्कृष्ट अतिस्थापना और निर्व्य-

१ जयधवल मूल पृष्ठ २००७ से २०११ तक । २. जयधवल मूल पृष्ठ २००८ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २०११ ।

घातकी अपेक्षा उत्कर्षण सम्बन्धी जघन्यअतिस्थापना के दोनों परस्परतुल्य होते हुए भी पूर्वसे विशेष अधिक है, क्योंकि वे दोनों आवलिप्रमाण है और समय अधिक आवलिके त्रिभाग प्रमाण पूर्वसे विशेष अधिक है । (५) उत्कर्षणसम्बन्धी उत्कृष्ट अतिस्थापना संख्यातगुणी है, क्योंकि इसका प्रमाण समयाधिक आवलिकम उत्कृष्ट आबाधा है । (६) व्याघातकी अपेक्षा अपकर्षणसम्बन्धी उत्कृष्टअतिस्थापना असंख्यातगुणी है, क्योंकि वह एकसमयकम उत्कृष्टस्थितिकाण्डकप्रमाण है । (७) उत्कर्षणसम्बन्धी उत्कृष्टनिक्षेप विशेष अधिक है । विशेषका प्रमाण अन्तःकोड़ाकोड़ीसागर है, क्योंकि इसका प्रमाण समय अधिक आवली और उत्कृष्ट आबाधासे हीन ४० कोड़ाकोड़ी सागरोपममात्र उत्कृष्टस्थिति है । (८) अपकर्षणविषयक उत्कृष्टनिक्षेप विशेष अधिक है । विशेषका प्रमाण संख्यातावलि हैं, क्योंकि यहाँपर एकआवलिसे हीन उत्कृष्ट आबाधाका प्रवेश सम्मिलित हो जाता है । (९) उत्कृष्टस्थिति एकसमयअधिक दोआवलिप्रमाण विशेष अधिक है, क्योंकि समयाधिक अतिस्थापनावलिके साथ बन्धावलि भी सम्मिलित हो जाती है ।

‘पल्लस्स संखभागं वरं पि अवरानु संखगुणिदं तु ।

पडमे अपुब्बखवमे ठिदिखंडपमाणयं होदि ॥१४॥४०५॥

अर्थः—क्षपक अपूर्वकरणके प्रथमस्थितिलिखण्ड अर्थात् स्थितिकाण्डकायामका जघन्य और उत्कृष्टप्रमाण यद्यपि पल्लके संख्यातवैभागमात्र है तथापि जघन्यसे उत्कृष्टका प्रमाण संख्यातगुणा है ।

विशेषार्थः—जिसके स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणा हीन है उसके जघन्यस्थितिकाण्डकघात होता है और संख्यातगुणे स्थितिसत्कर्मवालेके उत्कृष्टस्थितिकाण्डकघात होता है । यद्यपि जघन्यस्थितिकाण्डकघातसे उत्कृष्टकाण्डकघात संख्यातगुणा है तथापि दोनोंका प्रमाण पल्लोपमका संख्यातवैभाग है^१ । जिसप्रकार दर्शनमोहकी उपशमनामें, दर्शनमोहकी क्षपणामें तथा कषायोपशमनामें (उपशमन्त्रेणी) अपूर्वकरणका प्रथमस्थिति-

१. जयधवल मूल पृ० २०१२ ।

२. देखो धवल पृ० ६ पृष्ठ ३४४, जयधवल मूल पृ० १६४६, क० पा० सु० पृष्ठ ७४१-४२ ।

३. क० पा० सुत पृष्ठ ७४१ सूत्र ४६ ।

काण्डकघात जघन्यसे पत्योपमका संख्यातवांभाग और उत्कृष्टसे सागरोपम पृथक्त्व-प्रमाण होता है। इसीप्रकार असंयत, संयतासंयत व संयतके अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना-सम्बन्धी अपूर्वकरणका प्रथमस्थितिकाण्डकघात जघन्यसे पत्योपमका संख्यातवांभाग और उत्कृष्ट सागरोपमपृथक्त्व होता है, किन्तु चारित्र्यमोह क्षपणाके अपूर्वकरणसम्बन्धी प्रथमस्थितिकाण्डकघात जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही पत्योपमका संख्यातवांभागप्रमाण होकर भी जघन्यसे उत्कृष्टका प्रमाण संख्यातगुणा है।

क्षपकश्रेणि अपूर्वकरणमें दो व्यक्तियोंने एक साथ प्रवेश किया। उनमें एकके स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणा है और दूसरेका स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणा हीन है। जिसके स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणा हीन है उसके प्रथमस्थितिकाण्डकसे, संख्यातगुणे स्थितिसत्कर्म-वालेका प्रथमस्थितिकाण्डकघात संख्यातगुणा है^१। एक तो दर्शनमोहका क्षपण करके उपशमश्रेणि चढ़कर पुनः क्षपकश्रेणिसम्बन्धी प्रथमसमयवर्ति अपूर्वकरण हुआ और दूसरा उपशमश्रेणि चढ़ा पुनः वहांसे उतरकर दर्शनमोहका क्षयकरके क्षपकश्रेणिपर आरुढ़ हो प्रथमसमयवर्ती अपूर्वकरण हुआ, इनमेंसे पहलेकी अपेक्षा दूसरे व्यक्तिका स्थिति-सत्कर्म संख्यातगुणा हीन है। अथवा एक दर्शनमोहका क्षयकरके क्षपकश्रेणीपर आरुढ़ हुआ और दूसरा दर्शनमोहका क्षयकर उपशमश्रेणीपर चढ़कर क्षपकश्रेणीपर आरुढ़ हुआ; प्रथमकी अपेक्षा द्वितीयका स्थितिसत्कर्म संख्यातगुणाहीन है और प्रथमका संख्यात-गुणा है, क्योंकि इसके उपशमश्रेणिसम्बन्धी स्थितिघातका अभाव है। जिसके स्थिति-सत्कर्म संख्यातगुणा हीन है उसके प्रथमस्थितिकाण्डकघातसे दूसरेका प्रथमस्थितिकाण्डक-घात संख्यातगुणा है, क्योंकि स्थितिसत्कर्मके अनुसार स्थितिकाण्डकघातकी प्रवृत्ति होनेमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। इसीप्रकार, द्वितीय, तृतीयादि अपूर्वकरणके चरमस्थितिकाण्डकतक जघन्यसे उत्कृष्ट संख्यातगुणा जानना चाहिए। यदि स्थिति-सत्कर्म एक दूसरेसे विशेषहीन व विशेष अधिक है तो अपूर्वकरणमें स्थितिकाण्डकघात भी विशेष हीन व विशेष अधिक होता है।

अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें पत्यके संख्यातवैभाग प्रमाणवाला स्थितिकाण्डक-घात, अप्रशस्तप्रकृतियोंका अनन्तबहुभागवाला अनुभागकाण्डकघात और पत्यके संख्यातवै-भाग प्रमाणवाला स्थितिबन्धापसरण होता है। अवःप्रवृत्तकरणके चरमस्थितिबन्धसे अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें अन्यस्थितिबन्ध पत्यके संख्यातवैभाग हीन होता है। अपूर्व-

करणके प्रथमसमयमें परिणामविशेषके कारण असंख्यातसमयप्रबद्ध प्रमाण द्रव्यका अप-
कर्षणकर उदयावलिसे बाहर अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय और क्षीण-
कषायके कालोंसे विशेष अधिककालमें गुणश्रेणिरूपसे निक्षेप करता है न बंधनेवाले
अप्रशस्तकर्माँका गुणसंकमण होता है । अपूर्वकरणके द्वितीयादि समयोंमें गुणश्रेणि
असंख्यातगुणी है, क्योंकि जितने द्रव्यका प्रथमसमयमें अपकर्षण किया था; द्वितीयादि
समयोंमें असंख्यातगुणकमसे द्रव्यका अपकर्षणकर; शेष-शेष (गलितावशेष) गुणश्रेणि
आयाममें निक्षेप करता है, विशुद्धि भी प्रतिसमय अनन्तगुणे कमसे बढ़ती है, प्रथमसमय-
से अन्य कोई विशेषता नहीं है । यह क्रम प्रथम अनुभागकाण्डकके समाप्त होने तक है ।
अनन्तर अगले समयमें शेष अनुभागका अनन्त बहुभाग घातनेके लिए अन्य अनुभाग-
काण्डकको प्रारम्भ करता है इसप्रकार प्रथमस्थितिकाण्डक कालके भीतर अन्य-अन्य
संख्यातहजार अनुभागकाण्डकघात होते हैं ।

‘आउगवज्जाणं ठिदिघादो पढमादु चरिमठिदिसंतो ।

ठिदिबन्धो य अपुव्वे होदि हु संखेज्जगुणहीणो ॥१५॥४०६॥

अर्थ:—आयुक्रम बिना शेष सातकर्माँका स्थितिकाण्डकायाम, स्थितिसत्त्व और
स्थितिबन्ध ये तीनों अपूर्वकरण के प्रथमसमयमें जो पाये जाते हैं उनसे अपूर्वकरणके
चरमसमयमें संख्यातगुणे कम होते हैं ।

विशेषार्थ:—प्रत्येक स्थितिकाण्डकघातमें स्थितिसत्कर्म हीन होता जाता है ।
स्थितिकाण्डकायाम (एकस्थितिकाण्डकघातके द्वारा जितनी स्थितिका घात होता है वह
स्थितिकाण्डकायाम है) स्थितिसत्त्वका अनुसरण करनेवाला है । स्थितिकाण्डकघात
द्वारा स्थितिसत्कर्मकी हानि होनेपर स्थितिकाण्डकायाम भी हीन होता जाता है ।
प्रत्येक स्थितिबन्धापसरणके द्वारा स्थितिबन्ध घटता जाता है । अपूर्वकरणकालमें हजारों
स्थितिकाण्डकघात व स्थितिबन्धापसरण होते हैं अतः अपूर्वकरणके चरमसमयमें इन
हजारों स्थितिकाण्डकघात द्वारा स्थिति सत्कर्मका घात होकर संख्यातगुणा हीन रह
जाता है, स्थिति सत्कर्मका अनुसरण करनेवाला स्थितिकाण्डकायाम भी संख्यातगुणा

१. यह विशेषार्थ जयधवल मूल पृ० १६४८-१६५२ के आधारसे लिखा गया है ।

२. जयधवल मूल पृष्ठ १६५० । यह गाथा लब्धिसारकी गाथा ७८ के समान है ।

हीन हो जाता है । हजारों स्थितिवन्धापसरण द्वारा स्थितिवन्ध विशेष हीन होता हुआ अपूर्वकरणके चरमसमयमें स्थितिवन्ध भी संख्यातगुणा हीन होवे लगता है' ।

^१अंतोकोड़ाकोड़ी अपुव्वपडमम्हि होदि ठिदिबंधं

बंधादो पुण सत्तं संखेज्जगुणं हवे तत्थ ॥१६॥४०७॥

अर्थः—अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें स्थितिवन्ध अन्तःकोड़ाकोड़ीप्रमाण अर्थात् पृथक्त्वलक्षकोटिसागर प्रमाण है तथा स्थितिसत्त्व भी यद्यपि अन्तःकोटाकोटी प्रमाण है तथापि स्थितिवन्धसे संख्यातगुणा है ।

विशेषार्थः—आयिकसम्यग्दृष्टिके स्थितिवन्ध व स्थितिसत्त्व अन्तःकोड़ाकोड़ी-सागरप्रमाण हो जाता है, किन्तु बन्धसे सत्त्व संख्यातगुणा होता है वही प्रवृत्ति यहांपर भी पाई जाती है ।

^२एक्केक्कट्टिदिखंडयणिवडण्ठिदिओसरणकाले ।

संखेज्जसहस्साणि य एणिवडंति रसस्स खंडाणि ॥१७॥४०८॥

अर्थः—एक-एक स्थितिखण्डके पतन होनेमें अथवा एक स्थितिवन्धापसरणके कालमें संख्यातहजार अनुभागकाण्डकका पतन होता है ।

विशेषार्थः—एकस्थितिकाण्डकका काल और एक स्थितिवन्धापसरणकाल समान होते हैं । स्थितिकाण्डककी अन्तिमफालिका पतन होनेपर स्थितिकाण्डककाल समाप्त होता है और अन्तिमफालिके पतन होनेपर ही स्थितिघात होता है, द्विचरमफालिके पतन होने तक स्थितिघात नहीं होता इसीप्रकार एक स्थितिवन्धापसरणके प्रथम-समय जितना स्थितिवन्ध प्रारम्भ किया था उतना ही स्थितिवन्ध चरमसमयपर्यन्त होता रहता है । स्थितिवन्धापसरणके चरमसमयके पतन होनेपर, अन्य स्थितिवन्ध स्थिति घटकर होने लगता है । एकस्थितिकाण्डक और एकस्थितिवन्धापसरण इन दोनोंका काल तुल्य है ।

१. ज० ध० मूल पृष्ठ १६५१ ।

२. धवल पु० ६ पृष्ठ ३४५; क० पा० सुत्त पृष्ठ ७४२ सूत्र ५५ । ज० ध० मूल पृष्ठ १६५१ ।

३. यह गाथा ल० सार माथा ७६ के समान है । धवल पु० ६ पृष्ठ २२८; ज० ध० मूल पृष्ठ १६५२ ।

अपूर्वकरणके प्रथम अनुभागकाण्डकका अन्तर्मुहूर्तकाल व्यतीत हो जानेपर तदनन्तर समयमें अन्य अनुभागकाण्डक प्रारम्भ हो जाता है जिसके द्वारा पूर्वघातित शेष अनुभागके अनन्त बहुभागका घात होता है। प्रथमस्थितिकाण्डक कालके भीतर पुनः पुनः संख्यातहजार अनुभागकाण्डकके पतनके साथ अपूर्वकरणके प्रथमस्थितिकाण्डकका और प्रथमस्थतिबन्धापसरणका भी पतन होता है। इसप्रकार तीनोंका पतन एक साथ होता है अर्थात् तीनोंका पतन समकालीन है^१।

असुहाणं पयडीणं अणैतभागा रसस्स खंडाणि ।

सुहपयडीणं गियमा गत्थित्ति रसस्स खंडाणि ॥१८॥४०६॥

अर्थः—अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागकाण्डकका प्रमाण अनन्तबहुभागमात्र है तथा प्रशस्तप्रकृतियोंका अनुभागखण्ड नियमसे नहीं होता है, क्योंकि विशुद्धपरिणामोंके द्वारा शुभप्रकृतियोंका अनुभागघात सम्भव नहीं है।

विशेषार्थः—पूर्वमें जो अनुभाग था उसको अनन्तका भाग देनेपर उसमेंसे बहुभागमात्र प्रथमअनुभागकाण्डकमें घटाता है अवशेष एकभागमात्र अनुभाग रहता है उसको अनन्तका भाग देनेपर उसमेंसे बहुभाग द्वितीय अनुभागकाण्डकमें घटाता है, अवशेष एकभागप्रमाण अनुभाग रहता है, यह क्रम अन्तिम अनुभागकाण्डकपर्यन्त क्रम जानना। इसप्रकार अप्रशस्तप्रकृतियोंका अनुभागखण्ड करणविशुद्धिके द्वारा यहाँ होता है। अनुभागकाण्डक सम्बन्धी अल्पबहुत्व इसप्रकार है—एकप्रदेशगुणहानिस्थानमें स्पर्धक स्तोक है, अतिस्थापना अनन्तगुणी है, निक्षेप अनन्तगुणे, अनुभागकाण्डकके द्वारा घाता जानेवाला अनुभाग असन्तगुणा है^२।

पढमे छट्ठे चरिमे भागे दुग तीस चदुर वोच्छिण्णा ।

बंधेण अपुव्वस्स य से काले बादरो होदि ॥१९॥४१०॥

अर्थः—अपूर्वकरणके प्रथमभागमें दो प्रकृतियाँ, छठे भागमें ३० प्रकृतियाँ और अन्तिमभागमें ४ प्रकृतियाँ बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं। अपूर्वकरणसे अनन्तरसमयमें बादर साम्पराय होता है।

विशेषार्थः—हजारों स्थितिवन्धापसरणके व्यतीत हो जानेपर अपूर्वकरणके सातभागोंमेंसे प्रथमभाग समाप्त होता है उससमय निद्रा और प्रचलाकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है । यह कथन अनुत्पादानुच्छेदकी अपेक्षा है, किन्तु उपपादानुच्छेदकी अपेक्षा प्रथमभागके अन्तसमयमें निद्रा-प्रचलाकी बन्धव्युच्छित्ति होती है । प्रथमभागके समाप्त होते ही निद्रा और प्रचलाका गुणसंक्रमण होने लगता है, क्योंकि क्षपक या उपक्षमश्रेणि-में जिन अप्रशस्तप्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है उनकी गुणसंक्रमणके अतिरिक्त अन्य पर्याय सम्भव नहीं है । अपूर्वकरणकालके सातभागोंमेंसे छह भाग व्यतीत हो जाने पर परभवसम्बन्धी प्रकृतियोंकी बन्धसे व्युच्छित्ति हो जाती है ।

शंकाः—परभवसम्बन्धी प्रकृतियां कौन-कौनसी हैं ?

समाधानः—देवगति, पञ्चेन्द्रियगति, वैक्रियिकशरीर, आहारकशरीर, तैजस-शरीर, कामेणशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्ग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघुचतुष्क (अगुरुलघु, उपधात, परधात, उच्छ्वास) प्रशस्त-विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण, तीर्थङ्कर ये तीस प्रकृतियां परभवसम्बन्धी हैं ।

शंकाः—इनकी परभविक संज्ञा क्यों है ?

समाधानः—परभवसम्बन्धी देवगतिके साथ बन्धको प्राप्त होती है, अतः इनकी परभविक संज्ञा है । यशस्कीतिका बन्ध भी देवगतिके साथ होता है और उसकी भी परभविक संज्ञा है, किन्तु उसकी बन्धव्युच्छित्ति यहां नहीं होती, क्योंकि यशस्कीतिके बन्धके साथ ऊपरितन विशुद्धिका विरोध नहीं है । यशस्कीतिका बंध सूक्ष्मसाम्परायगुण-स्थानके अन्तसमयपर्यन्त होता है उससे आगे इसके बन्धका अभाव है ।

उसके बाद हजारों स्थितिवन्धापसरण हो जानेपर अपूर्वकरणका चरमसमय प्राप्त होता है । अपूर्वकरणके चरमसमयमें स्थित हास्य, रति, भय और जुगुप्साकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है उसी समय छह लोकषायकी उदयव्युच्छित्ति हो जाती है । उसके अनन्तर समयमें बादरसाम्पराय अर्थात् अनिवृत्तिकरणको प्राप्त हो जाता है ।

अब आगे अनिवृत्तिकरणका कथन करते हैं—

अणियद्वस्स य पढमे अणं ठिदिखंडपहुदिमारवई ।

उवसामणा णिधत्ती णिकाचणा तत्थ वोद्धिणणा ॥२०॥४११॥

अर्थ:—अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयमें अन्य ही स्थितिखण्डादिक प्रारम्भ करता है उनमें अपूर्वकरणके अन्तिम समयवर्ती स्थितिकाण्डकायामसे भिन्न ही स्थितिकाण्डकायाम, इसके पश्चात् अवशिष्ट जो अनुभाग उसका अनन्तबहुभागमात्र अन्य ही अनुभागकाण्डक होता है और अपूर्वकरणके अन्तिमसमयके स्थितिबन्धसे पत्यके संख्यातवें-भाषमात्र घटता हुआ अन्य ही स्थितिबन्ध यहां होता है तथा यहीं अप्रशस्तोपशम, निवृत्ति व निकाचनारूप तीन करणोंकी व्युच्छिन्ति भी हुई है । अतः अब सर्व कर्म उदय, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण करने योग्य हुए हैं ।

निवृत्तिः व्यावृत्तिः—परिणामोंकी विसदृशता; इसरूप निवृत्ति जिसमें न हो वह अनिवृत्ति कहलाता है । नानाजीवोंके एकसमयसम्बन्धी परिणामोंमें व्यावृत्तिका प्रभाव होनेसे प्रतिसमय एक-एक परिणाम होता है वह अनिवृत्तिकरण है ।

वादरपढमे पढमं ठिदिखंडं विसरिसं तु विदियादि ।

ठिदिखंडपं समाणं सव्वस्स समाणकालम्हि ॥२१॥४१२॥

पल्लस्स संखभागं अवरं तु वरं तु संखभागदियं ।

घादादिमठिदिखंडो सेसा सव्वस्स सरिसा हु ॥२२॥४१३॥

अर्थ:—अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयमें जो प्रथमस्थितिखण्ड है सो तो विसदृश है, नानाजीवोंके समान नहीं है तथा जो द्वितीयादि स्थितिखण्ड हैं वे समानकालमें सभी जीवोंके समान हैं । प्रथम स्थितिखण्ड जघन्यसे तो पत्यका संख्यातवांभाग तथा उत्कृष्ट इससे संख्यातवांभाग अधिक है और अवशेष द्वितीयादि स्थितिखण्ड सभी जीवोंके समान हैं ।

विशेषार्थः—त्रिकालसम्बन्धी समानसमयवर्ती सर्व अनिवृत्तिकरणवालोंके परिणाम सदृश होते हैं इसलिए प्रथमस्थितिकाण्डकघात सदृश ही होता है ऐसा निश्चय नहीं करना चाहिए, किन्तु प्रथमस्थितिकाण्डकघातमें जघन्य व उत्कृष्टके भेदसे विसदृशता सम्भव है । किन्हींके विसदृश होता है और किन्हींके सदृश होता है । जघन्य प्रथमस्थितिकाण्डकघातसे उत्कृष्ट प्रथमस्थितिकाण्डकघात संख्यातवेंभाग अधिक है ।

शंका:—सदृश परिणामवाले अनिवृत्तिकरणका प्रथमस्थितिकाण्डकघात विसदृश कैसे सम्भव है ?

समाधान:—सदृश परिणाम होते हुए भी स्थिति सत्कर्ममें विशेषता होनेसे प्रथमस्थितिकाण्डकमें विभिन्नता सम्भव है । दो जीव एक साथ क्षपकश्रेणिपर आरुढ़ हुए उनमेंसे एकका स्थिति सत्कर्म संख्यातभाग अधिक है और दूसरेका संख्यातभागहीन है । जिसका स्थिति सत्कर्म संख्यातभाग अधिक है उसके अपूर्वकरणसम्बन्धी प्रथमस्थितिकाण्डकघातसे लेकर अनिवृत्तिकरणसम्बन्धी प्रथमस्थितिकाण्डकपर्यन्त सर्वस्थितिकाण्डकघात दूसरे जीवके स्थितिकाण्डकघातोंसे संख्यातभाग अधिक होता है । जिसका स्थिति सत्कर्म संख्यातभाग अधिक है उस जीवके अपूर्वकरणके घातसे शेष बचा हुआ स्थिति सत्कर्म जितना विशेष अधिक होता है उसको अनिवृत्तिकरणके प्रथमस्थितिकाण्डकघातद्वारा ग्रहण करता है इसलिए अनिवृत्तिकरणका उत्कृष्ट प्रथमस्थितिकाण्डकघात संख्यातवांभाग अधिक होता है ।

शंका:—यदि किसीका स्थितिसत्कर्म संख्यातगुण हो तो उसका प्रथम उत्कृष्टकाण्डकघात संख्यातगुण होगा ?

समाधान:—उत्कृष्ट प्रथमस्थितिकाण्डकघात संख्यातगुण नहीं हो सकता, क्योंकि संख्यातगुण स्थितिसत्कर्म असम्भव है ।

शंका:—संख्यातगुणस्थितिसत्कर्म असम्भव क्यों है ?

समाधान:—अपूर्वकरणके चरमसमयमें घात किया हुआ स्थितिसत्कर्म जो अवशेष रहता है वह उत्कृष्ट भी जघन्यसे संख्यातवेभाग अधिक होनेका नियम है । इसलिए अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयसम्बन्धी जघन्यस्थितिकाण्डकसे उत्कृष्टस्थितिकाण्डक संख्यातभाग अधिक है । इसीप्रकार प्रथम अनुभागकाण्डक भी विसदृश होता है ।

प्रथमस्थितिकाण्डकके निर्लेपित होनेपर त्रिकालवर्ति अनिवृत्तिकरणकालमें वर्तन करनेवाले सर्व जीवोंके घातसे शेष बचा हुआ स्थिति सत्कर्म समान ही होता है, क्योंकि समान परिणामके द्वारा घात होकर शेष बचा हुआ है । समाप्त स्थितिसत्कर्मसम्बन्धी द्वितीयादि स्थितिकाण्डक भी समान होते हैं, क्योंकि कारणकी समानता होनेपर कार्य समान होते हैं, समान कार्यको छोड़कर अन्यकार्य असम्भव है । इसीप्रकार

द्वितीयादि अनुभागकाण्डक भी सदृश हाते है, क्योंकि द्वितीयादि अनुभागकाण्डकमें नानापन असम्भव है। प्रथमस्थितिकाण्डकके नाश होनेपर अनिवृत्तिकरणमें प्रवेश हुए तुल्यकाल हुआ है उन सबका स्थितिसत्कर्म तुल्य होता है और एकका द्वितीयस्थिति-काण्डक अन्य सब सामान्यकालवालोंके द्वितीयस्थितिकाण्डकके समान होता है उसके आगे तृतीयादि स्थितिकाण्डक तृतीयादि स्थितिकाण्डकोंके तुल्य होते हैं^१।

उदधिसहस्रपुधत्तं लक्षपुधत्तं तु बंध संतो य ।

अणियट्टीसादीए गुणसेढीपुण्वपरिसेसा ॥२३॥४१४॥

अर्थ:—पूर्वमें जो स्थितिबन्ध अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण था वह अपूर्वकरण में होनेवाले संख्यातहजार स्थितिबन्धापसरणोंसे घटते हुए अनिवृत्तिकरणके प्रथम-समयमें स्थितिबन्ध पृथक्त्वहजारसागरप्रमाण हो जाता है तथा पूर्वमें जो अन्तःकोड़ा-कोड़ीसागरप्रमाण स्थितिसत्त्व था वह अपूर्वकरणमें होनेवाले संख्यातहजार स्थितिकाण्डक-घातोंके द्वारा घटते हुए पृथक्त्व लक्षसागरप्रमाण हो जाता है। जघन्य या उत्कृष्ट परिणामोंके कारण जो जघन्य या उत्कृष्ट गुणश्रेणीनिक्षेप अपूर्वकरणमें प्रारम्भ किया था वह गुणश्रेणिआयाम अपूर्वकरणका काल व्यतीत होनेके पश्चात् जितना शेष रहा वही यहां जानना। समय-समयप्रति असंख्यातगुणे क्रमसहित पूर्ववत् गुणश्रेणी और गुण-संक्रमण वर्तता है। ये सब प्रथमसमयवर्ती अनिवृत्तिकरणके आवश्यक हैं। तदनन्तर-कालमें ये उपर्युक्त ही आवश्यक होते हैं, विशेषता केवल यह है कि यहाँ गुणश्रेणि असंख्यातगुणी होती है, शेष-शेष (गलितावशेष) में निक्षेप होता है, विशुद्धि अनन्तगुणी बुद्धिरूप है^२।

आगे स्थितिबन्धापसरणका क्रम कहते हैं—

“ठिदिबंधसहस्रगदे संखेडजा बादरे गदा भागा ।

तत्थासणिणस्तट्टिदिसरिसं ठिदिबंधणं होदि ॥२४॥४१५॥

१. जयधवल मूल पृ० १९५४ ।

२. जयधवल मूल पृष्ठ १९५५ । क० पा० सु० पृष्ठ ७४३-४४ सूत्र ७५ से ७७ ।

३. यह गाथा ल० सा० गाथा २२८ के समान है। क० पा० सुत पृष्ठ ७४४ सूत्र ८१ ।

अर्थ:—इसप्रकार संख्यातहजार स्थितिबन्ध हो जानेपर अनिवृत्तिकरणकालके संख्यातबहुभाग तो व्यतीत हो जाते हैं तथा एकभाग शेष रहनेके अवसरमें असंज्ञी-ञ्चेन्द्रियकी स्थितिके समान स्थितिबन्ध होता है ।

विशेषार्थ:—उपर्युक्त आवश्यकोंका पालन करते हुए अन्तर्मुहूर्तकाल व्यतीत हो जानेपर प्रथमअनुभागकाण्डक निर्लेपित होता है तथा शेष अनुभागके अनन्तबहुभागको वात करनेवाला अन्य अनुभागकाण्डक होता है अवशिष्ट आवश्यकोंमें कोई अन्तर नहीं होता । संख्यातहजारअनुभागकाण्डकोके व्यतीत हो जानेपर प्रथमस्थितिकाण्डक व प्रथमस्थिति-बन्धापसरण व अन्य अनुभागकाण्डक एकसाथ समाप्त होते हैं । इसप्रकार अनुक्रम लीये एक स्थितिबन्धापसरण द्वारा स्थितिबन्ध घटनेसे एक स्थितिबन्ध होता है ऐसे संख्यात-हजार स्थितिबन्ध होनेपर अनिवृत्तिकरणके कालका संख्यात बहुभाग व्यतीत होनेपर एक भाग अवशेष रहा वहाँ असंज्ञीपञ्चेन्द्रियके समान स्थितिबन्ध होता है, वह इस-प्रकार है—एक हजारसागरके ३ वां भागमात्र मोहनीयका, ३ वां भाग ज्ञानावरणादि चारकर्मोंका और ३ वां भाग नाम-गोत्र कर्मका स्थितिबन्ध होता है । चालीस, तीस व बीस कोड़ाकोड़ीसागर स्थितिकी अपेक्षा चारित्रमोहको चालीसीय, ज्ञानावरणादि चार-कर्मोंकी तीसीय एवं नाम-गोत्रको बीसिय जानना चाहिए^१ ।

‘ठिदिबन्धसहस्सगदे पत्तेयं चदुरतियविण्णंदी ।

ठिदिबन्धसमं होदि हु ठिदिबन्धमणुक्कमेणेव ॥२५॥४१६॥

अर्थ:—पूर्वोक्तक्रम लीये संख्यातहजार स्थितिबन्ध होनेपर अनुक्रमसे चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रियके समान स्थितिबन्ध होता है । इनमें चतुरिन्द्रियके समान तो १०० सागर, त्रीन्द्रियके समान ५० सागर, द्वीन्द्रियके समान २५ सागर, एकेन्द्रियके समान एकसागरका ३ वां भाग मोहनीयका, ३ वां भाग ज्ञानावरणादि चारतीसीयकर्मोंका, ३ भागमात्र नाम-गोत्र बीसिय कर्मोंका स्थितिबन्ध होता है ।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञीके ७० कोड़ाकोड़ीसागर स्थितिवाले मिथ्यात्वकर्मका क्रमसे एक, पचीस, पचास, सौ और एकहजार सागरका

१. जयधवल मूल पृ० १६५६ ।

२. यह गाथा ल० सा० गाथा २२६ के समान है, किन्तु ‘सहस्स’ के स्थानपर पुधत्त^२ पाठ है ।
क० पा० सुत्त पृष्ठ ७४४ सूत्र ८२-८३ ।

स्थितिबन्ध होता है तो क्षणः चालीस, तीस व बीस कोड़ाकोड़ीरूप उत्कृष्टस्थितिवाले मोहनीय, ज्ञानावरणादि चार और नाम व गोत्रकर्मका कितना बन्ध होगा ? इसप्रकार त्रैराशिक करनेपर पूर्वोक्त स्थितिबन्धका प्रमाण प्राप्त होता है । यही त्रैराशिकक्रम आगे भी जानना^१ ।

^२एइंदियट्टिदीदो संखसहस्ते गदे तु ठिदिबंधे ।

पल्लेकदिवहुदुगं ठिदिबंधो वीसियतियाणं ॥२६॥४१७॥

अर्थः—एकेन्द्रियके समान स्थितबन्धसे आगे संख्यातहजार स्थितिबन्ध जानने-पर नाम-गोत्रका (वीसियका) एक पल्ल, तीसोयाक्रमोंका १५ पल्ल और मोहनीयका दो पल्ल स्थितिबन्ध होता है^३ ।

तक्काले ठिदिसंतं लक्खपुधत्तं तु होदि उवहीणं ।

बंधोसरणा बंधो ठिदिखंडं संतमोसरदि ॥२७॥४१८॥

अर्थः—उस कालमें कर्मोंका स्थितिसत्त्व पृथक्त्वलक्षणाग्रप्रमाण होता है तो अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयसम्बन्धी स्थितिबन्धसे संख्यातगुणाक्रम जानना “स्थिति-बंधापसरणके द्वारा स्थितिबन्ध घटता है और स्थितिकाण्डकोंसे स्थितिसत्त्वकम होता है” ऐसा सर्वत्र जानना ।

विशेषार्थः—जिस समय नाम व गोत्रकर्मका पल्लोपमको स्थितिवाला बन्ध होता है उस समय अल्पबहुत्व इसप्रकार है—नाम व गोत्रका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक है, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक है, मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक है । इससे पूर्वके स्थितिबन्ध भी इसी अल्प-बहुत्व विधानसे व्यतीत होते हैं^४ ।

^५पल्लस्स संखभागं संखगुणुणं असंखगुणहीणं ।

बंधोसरणे पल्लं पल्लासंखं असंखवस्संति ॥२८॥४१९॥

१. जयधवल मूल पृ० १६५६ ।

२. यह गाथा ल० सा० गाथा २३० के समान है । क० पा० सु० पृ० ७४४ सूत्र ८४-८५-८६ ।

३. जयधवल मूल पृ० १६५६ ।

४. जयधवल मूल पृष्ठ १६५६-५७ । क० पा० सुत पृ० ७४४ सूत्र ८७ से ९३ ।

५. यह गाथा ल० सा० गा० २३१ के समान है ।

अर्थः—अन्तःकोड़ाकोड़ीसागर स्थितिबन्धसे जबतक पत्यमात्र स्थितिबन्ध होता है तबतक स्थितिबन्धापसरणका प्रमाण पत्यके संख्यातवैभाग है उसके पश्चात् पत्यके असंख्यातवैभागरूप स्थितिबन्धपर्यन्त पत्यके संख्यात बहुभागवाले स्थितिबन्धापसरण होते हैं अर्थात् प्रत्येक स्थितिबन्धापसरणमें स्थितिबन्ध पत्यका संख्यातबहुभाग घटता हुआ होता है । दूरापकृष्टिसे लेकर जबतक संख्यातहजारवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है वहां प्रत्येक स्थितिबन्धापसरण द्वारा पत्यका असंख्यातबहुभाग घटता स्थितिबन्ध होता है ।

एवं पल्लं जादा वीसीया तीसीया य मोहो य ।

पल्लासंखं च कमं बंधेण य वीसियतियाओ ॥२६॥४२०॥

अर्थः—इसप्रकार (२० कोड़ाकोड़ीसागरकी स्थितिवाले) बीसीयकर्मोंका पत्यमात्र स्थितिबन्ध होनेतक बीसीयकर्मोंसे डेढ़गुना तीसीयका और दोगुना मोहका स्थितिबन्ध है, ऐसा ही कम जानना । इसके अनन्तर एक स्थितिबन्धापसरण होनेसे बीसीयकर्मोंका स्थितिबन्ध तो संख्यातगुणाकम होता जाता है ।

पत्यको संख्यातका भाग देनेपर उसमेंसे बहुभाग घटानेसे एकभागमात्र स्थितिबन्ध रहता है तथा अन्य कर्मोंका जबतक पत्यमात्र स्थितिबन्ध नहीं हो जाता उससे पूर्वबन्धसे पत्यका संख्यातवैभागमात्र विशेषसे होना स्थितिबन्ध होता है । यहां बीसीयकर्मोंका स्थितिबन्ध स्तोक है उससे ज्ञानावरणादि चार तीसीयोंका स्थितिबन्ध तुल्य होकर संख्यातगुणा है क्योंकि बीसीयकर्मोंका स्थितिबन्ध तो पत्यके संख्यातवैभाग और तीसीयकर्मोंका साधिक पत्यमात्र है एवं तीसीयोंसे मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक है इसप्रकार अल्पबहुत्व जानना । इसकमसे संख्यातहजार स्थितिबन्ध होनेपर ज्ञानावरणादि तीसीयकर्मोंका पत्यमात्र स्थितिबन्ध हो जाता है । तीसीयकर्मोंके स्थितिबन्धसे तीसराभाग अधिक मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध होता है, क्योंकि तीसीयका पत्यमात्र स्थितिबन्ध होता है, तो चालीसीयका कितना स्थितिबन्ध होता है इसप्रकार त्रैराशिक करनेपर त्रिभाग अधिक पत्यमात्र मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध प्राप्त होता है । इसके अनन्तर तीसीयकर्मोंका एक स्थितिबन्धापसरण द्वारा पूर्व स्थितिबन्धसे पत्यका संख्यातबहुभागमात्र घटता अर्थात् संख्यातगुणा घटता स्थितिबन्ध होता है । यहां नाम व गोत्रका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक उससे तीसीयोंका संख्यातगुणा और उससे मोहनीयकर्मका संख्यातगुणा स्थितिबन्ध होता है ।

इस अनुक्रमसे संख्यातहजार स्थितिवन्ध होनेपर मोहनीयकर्मका पत्यमात्र स्थितिवन्ध होता है । यहां छह कर्मोंका स्थितिवन्ध पत्यके संख्यातवैभागमात्र है ऐसे बीसीय, तीसीय और मोहनीयका पत्यमात्र स्थितिवन्ध होनेका क्रम जानना तथा इसके अनन्तर जब मोहनीयकर्मका पत्यके संख्यातबहुभागवाला एक स्थितिवन्धापसरण होता है तब सातों ही कर्मोंका स्थितिवन्ध पत्यके संख्यातवैभागमात्र हो जाता है यहां नाम-गोत्रका स्तोक उससे तीसीयकर्मोंका संख्यातगुणा और उससे मोहनीयकर्मका स्थितिवन्ध संख्यातगुणा जानना । इस अनुक्रमसे संख्यातहजार स्थितिवन्ध होनेपर नाम व गोत्रकर्मका दूरापकृष्टि नामक पत्यके संख्यातवैभागवाला अन्तिम स्थितिवन्ध होता है । इसके अनन्तर पत्यका असंख्यात बहुभागमात्र एक स्थितिवन्धापसरण होनेसे जब नाम व गोत्रका पत्यके असंख्यातवैभागमात्र स्थितिवन्ध होता है वहां अन्यकर्मोंका पत्यके संख्यातवैभागमात्र ही स्थितिवन्ध है, क्योंकि दूरापकृष्टिका लक्षण होनेसे इनके स्थितिवन्ध पत्यके संख्यातवैभागप्रमाण और स्थितिवन्धापसरण पत्यके संख्यातबहुभाग-

१. संखेज्जसहस्समेत्तेसु ठिदिखंडएसु गदेसु तदो हेट्ठा दूरयरमोइण्णस्स दूरावकिट्टिसण्णदं सव्व-पच्छिमं पलिदोवमस्स संखेज्जभागप्रमाणं ठिदिसंतकम्ममवसिट्ठं होदि । कि कारणमेदस्स ठिदिविसेसस्स दूरावकिट्टिसण्ण जादा त्ति चे ? पलिदोवमट्ठिदिसंतकम्मादो सुट्ठु दूरयरमोसारिय सव्वजहण्णपलिदोवमसंखेज्जभागसखेणावट्ठणादो । पत्योपमस्थितिकर्मणोऽधस्ताद्दूरतरमप-कृष्टत्वादतिकृशत्वाच्च दूरापकृष्टिरेणा स्थितिरित्युक्तं भवति । अथवा दूरतरमपकृष्यतेऽस्याः स्थितिकरण्डकमिति दूरापकृष्टिः । इतः प्रभृत्यसंख्येयान् भागान् गृहीत्वा स्थितिकाण्डकघात-माचरतीत्यतो दूरापकृष्टिरिति यावत् । अर्थात्

संख्यातहजार स्थितिकाण्डकोंके जानेपर उससे नीचे बहुत दूर गये हुए जीवके दूरापकृष्टि संज्ञा-वाला सबसे अन्तिम पत्योपमके संख्यातवैभागप्रमाण स्थितिसत्कर्म शेष रहता है ।

शंका:—इस स्थितिकी दूरापकृष्टि संज्ञा किस कारणसे है ?

समाधान:—क्योंकि पत्योपमप्रमाण स्थितिसत्कर्मसे अत्यन्त दूर उतरकर सबसे जघन्य पत्योपम-के संख्यातवैभागरूपसे इसका अवस्थान है । पत्योपमप्रमाण स्थितिसत्कर्मसे नीचे अत्यन्त दूरतक अपकर्षित की गई होनेसे और अत्यन्त कृश-अल्प होनेसे यह स्थिति दूरापकृष्टि है यह उक्त कथन का तात्पर्य है । अथवा इसका स्थितिकाण्डक अत्यन्त दूरतक अपकर्षित किया जाता है इसलिए इसका नाम दूरापकृष्टि है । यहांसे लेकर असंख्यातबहुभागोंको ग्रहणकर स्थितिकाण्डकघात किया जाता है अतः यह दूरापकृष्टि कहलाती है यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

मात्र ही है । यहाँ नाम व गोत्रका सबसे स्तोक उससे ज्ञानावरणादि चार तीसियकर्मोंका असंख्यातगुणा उससे मोहनीयकर्मका संख्यातगुणा स्थितिबन्ध जानना । इसक्रमसे संख्यात-हजार स्थितिबन्ध होनेपर ज्ञानावरणादि (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्त-राय) तीसीयकर्मोंका स्थितिबन्ध दूरापकृष्टिका उलंघनकरके जब पत्यके असंख्यातवें-भागमात्र हो जाता है । तब नाम व गोत्रकर्मका स्तोक उससे तीसीयकर्मोंका असंख्यात-गुणा और उससे मोहनीयकर्मका संख्यातगुणा स्थितिबन्ध है । इसक्रमसे संख्यातहजार स्थितिबन्ध होनेपर दूरापकृष्टिको उलंघनकर मोहनीयकर्मका भी पत्यके असंख्यातवेंभाग स्थितिबन्ध हो जाता है । यहाँ सभी कर्मोंका पत्यके असंख्यातवेंभागमात्र स्थितिबन्ध होता है । इसीप्रकार बीसीय, तीसीय और चालीसीयकर्मोंका पत्यके असंख्यातवेंभाग-मात्र स्थितिबन्ध क्रमसे होता है' ।

३ उदधिसहस्रपुधत्तं अन्मंतरदो दु सदसहस्रस ।

तवकाले ठिदिसंतो आउगवउजाण कम्माणं ॥३०॥४२१॥

अर्थ:—उस मोहनीयकर्मका पत्यके असंख्यातवेंभागमात्र स्थितिबन्ध होनेके कालमें आयुविना अन्यकर्मोंका स्थितिसत्त्वपृथक्त्व हजारसागर प्रमाण होता है सो पृथक्त्वहजार शब्दसे यहाँ लक्षके भीतर यथासम्भव प्रमाण जानना । पहले पृथक्त्वलक्ष-सागरका स्थितिसत्त्व था सो संख्यातहजार स्थितिकाण्डकघातोंके द्वारा यहाँ इतना शेष रहा है ।

शंका:—स्थितिबन्धमें जिसप्रकार असंख्यातगुणा कम हो गया था उसीप्रकार स्थितिसत्त्वमें असंख्यातगुणा कम क्यों नहीं हुआ ?

समाधान:—स्थितिसत्त्वमें असंख्यातगुणा कम नहीं हुआ, क्योंकि स्थितिबन्ध से स्थितिसत्त्व असंख्यातगुणा है अतः सहस्र अपवर्तन सम्भव नहीं है' ।

४ मोहगपल्लासंखट्टिदिवंधसहस्रगेषु तीदेसु ।

मोहो तीसिय हेट्ठा असंखगुणहीणयं होदि ॥३१॥४२२॥

१. ज० घ० मूल पृष्ठ १६५६ से १६५६ । क० पा० सुत्त पृष्ठ ७४५-४६-४७ सूत्र ६४ से १२४ ।
२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७४७ सूत्र १२५; घ० पु० ६ पृष्ठ ३५२ । ३. ज० घ० मूल पृष्ठ १६६० ।
४. यह गाथा ल० सार गाथा २३३ के समान है । क० पा० सुत्त पृ० ७४७ सूत्र १३० से १३३; धवल पु० ६ पृष्ठ ३५२ ।

अर्थः—मोहनीयकर्मका पत्यके असंख्यातवैभागमात्र स्थितिवन्ध होनेके कालमें ताम व गोत्रका स्थितिवन्ध सबसे स्तोक, उससे असंख्यातगुणा ज्ञानावरणादि चार-तीसीयकर्मोंका और उससे असंख्यातगुणा मोहनीयकर्मका स्थितिवन्ध होता है । इस-प्रकारके अल्पबहुत्वसहित संख्यातहजार स्थितिवन्ध होनेपर ताम व गोत्रकर्मका स्तोक उससे मोहनीयकर्मका असंख्यातगुणा तथा उससे भी असंख्यातगुणा ज्ञानावरणादि चार तीसीयकर्मोंका, ऐसे अन्यप्रकार स्थितिवन्ध होता है । यहाँ विशुद्धताके निमित्तसे तीसीय-कर्मोंके नीचे अतिअप्रशस्त मोहनीयकर्मका स्थितिवन्ध विशेषघातके वशसे असंख्यातगुणा कम हो जाता है ।

‘तेत्तियमेत्ते बंधे समतीदे वीसियाण हेट्ठादु ।

एकसरहे मोहे असंखगुणहीणयं होदि ॥३२॥४२३॥

अर्थः—पूर्व गाथोक्त अल्पबहुत्वके क्रमसहित उतने ही संख्यातहजार स्थिति-बन्ध होनेपर एक ही बार अन्यप्रकारसे स्थितिवन्ध होता है वहाँ मोहनीयकर्मका सबसे स्तोक, ताम व गोत्रकर्मका असंख्यातगुणा और उससे ज्ञानावरणादि चारों तीसीयकर्मों-का असंख्यातगुणा स्थितिवन्ध होता है । यहाँ विशुद्धताके बलसे अति अप्रशस्तमोहका स्थितिवन्ध तीसीयकर्मोंके नीचे असंख्यातगुणा कम हो जाता है ।

‘तेत्तियमेत्ते बंधे समतीदे वेदणीय हेट्ठादु ।

तीसियघादितियाओ असंखगुणहीणया होति ॥३३॥

अर्थः—इसप्रकार उपर्युक्त क्रमसे उतने ही संख्यातहजारस्थितिवन्ध व्यतीत होनेपर अन्य ही प्रकार स्थितिवन्ध होता है । तब मोहनीयकर्मका सबसे स्तोक, उससे ताम व गोत्रका असंख्यातगुणा और उससे तीन घातिया कर्मोंका असंख्यातगुणा तथा

१. जयधवल मूल पृ० १६६० ।

२. यह गाथा ल० सा० गाथा २३४ के समान है । क० पा० सु० पृ० ७४७ सूत्र १३४ से १३६; धवल पु० ६ पृष्ठ ३५२ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ १६६० ।

४. यह गाथा लब्धिसार गाथा २३५ के समान है । धवल पु० ६ पृष्ठ ३५३; क० पा० सुत्त पृ० ७४७-४८ सूत्र १३७ से १४० तक ।

उससे असंख्यातगुण। वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध होता है। यहाँ विशुद्धता होनेसे तीसीय-कर्मोंमें भी वेदनीयकर्मसे नीचे अप्रशस्त तीन घातियाकर्मोंका असंख्यातगुणा घटते हुए स्थितिबन्ध हो जाता है^१।

तेत्तियमेत्ते बंधे समतीदे वीसियाण हेट्ठा दु ।

तीसियघादिलियन्धो असंख्यगुणहीणया होति ॥३४॥४२५॥

अर्थ:—इसी उपर्युक्तक्रमसे संख्यातहजार स्थितिबन्ध व्यतीत होनेपर पूर्व-स्थितिबन्धसे अन्यप्रकार स्थितिबन्ध होता है तब मोहनीयकर्मका सबसे स्तोक, उससे तीन घातियाकर्मोंका असंख्यातगुणा, उससे नाम व गोत्रकर्मका असंख्यातगुणा और उससे साधिक वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध होता है। यहाँ विशुद्धताके बलसे बीसीय (नाम-गोत्र) कर्मोंके नीचे अतिअप्रशस्त तीन घातियाकर्मोंका असंख्यातगुणा घटते हुए स्थिति-बन्ध होता है^२।

तवकाले वेदणियं णामागोदादु साहियं होदि ।

इदि मोहतीसवीसियवेदणियाणं कमो बंधे ॥३५॥४२८॥

अर्थ:—उस (विशुद्धतावश अप्रशस्त तीन घातियाकर्मोंका असंख्यातगुणा घटते हुए स्थितिबन्धके) कालमें वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध नाम व गोत्रके स्थितिबन्धसे साधिक है अर्थात् नाम व गोत्रके स्थितिबन्धसे आधाप्रमाण अधिक (१३ गुणा) है, क्योंकि बीसीयकर्मोंके स्थितिबन्धसे तीसीयकर्मोंका स्थितिबन्ध डेढ़गुणा त्रैशिकविधिसे सिद्ध होता है। इसप्रकार मोहनीय, तीसीय, बीसीय और वेदनीयकर्मका क्रमसे बन्ध सो ही क्रमकरण जानना। नाम और गोत्रकर्मसे वेदनीयका डेढ़गुणा स्थितिबन्धरूप क्रमसे अल्पबहुत्व होना ही क्रमकरण कहलाता है।

अथानन्तर स्थितिसत्त्वापसरणका कथन करते हैं:—

बंधे मोहादिकमे संजादे तेत्तियेहि बंधेहि ।

ठिदिसंतमसणिसमं मोहादिकमं तहा संते ॥३६॥४२७॥

१. जयधवल मूल पृष्ठ १६६०-६१।

२. यह गाथा ल० सार भा० २३६ के समान है। धवल पु० ६ पृष्ठ ३५३; क० पा० सु० पृष्ठ ७४८ सूत्र १४१ से १४८ तक।

३. जयधवल मूल पृ० १६६१।

४. यह गाथा ल० सार भा० २३७ के समान है। धवल पु० ६ पृष्ठ ३५३।

अर्थ:—मोहादिके कम लीये जो कमकरणरूप बन्ध हुआ उससे आगे इसी-क्रमसे उतने ही संख्यातहजार स्थितिवन्ध होनेपर असंज्ञोपञ्चेन्द्रियके समान स्थितिसत्त्व होता है तथा उससे आगे जिसप्रकार मोहादिकसम्बन्धी स्थितिवन्धका व्याख्यान कम-करणपर्यन्त किया गया है वैसे ही स्थितिसत्त्वका व्याख्यान अनुक्रमसे जानना ।

विशेषार्थ:—यहां पल्यस्थितिपर्यन्त पल्यका संख्यातत्राभागमात्र, उससे दूराप-कृष्टिपर्यन्त पल्यका संख्यातबहुभागमात्र, उससे आगे संख्यातहजारवर्ष स्थितिपर्यन्त पल्यका असंख्यातबहुभागमात्र आयाम लीये जो स्थितिवन्धापसरण हैं उनके द्वारा स्थितिवन्धघटनेका कथन किया था उसीप्रकार यहां उतने आयामसहित स्थितिकाण्डकों-के द्वारा स्थितिसत्त्वका घटना होता है । जिसप्रकार कमकरणमें संख्यातहजार स्थिति-बन्धका व्यतीत होना कहा था वैसे यहां भी कहते हैं और वहीं उतने स्थितिकाण्डकोंका व्यतीत होना कहेंगे, क्योंकि स्थितिवन्धापसरणका और स्थितिकाण्डकोत्करणका काल समान है तथा कमकरणके प्रकरणमें स्थितिवन्ध कहा था उसके स्थानपर स्थितिसत्त्व कहना तथा अल्पबहुत्व, त्रैराशिकादि विशेषकथन बन्धापसरणवत् ही जानना चाहिए । स्थितिसत्त्वके कमका कथन निम्नप्रकार है—

प्रत्येक संख्यातहजारकाण्डक व्यतीत हो जानेपर क्रमसे असंज्ञोपञ्चेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रियके स्थितिवन्धके समान ही कर्मोंका स्थिति-सत्त्व भी एकहजार, सौ, पचोस व एकसागरप्रमाण होता है तथा संख्यातहजार स्थिति-काण्डक व्यतीत होनेपर बीसीय (नाम-गोत्र) कर्मोंका एकपल्य, तीसीय (ज्ञानावरणादि चार) कर्मोंका डेढ़पल्य और मोहनोयकर्मका दो पल्य स्थितिसत्त्व होता है । इससे आगे पूर्वसत्त्वका संख्यातबहुभागमात्र एककाण्डक होनेसे बीसीयकर्मोंका पल्यके संख्यातवैभाग-मात्र स्थितिसत्त्व हो जाता है । उस कालमें बीसीयकर्मोंका सबसे स्तोक, बीसीयकर्मोंके स्थितिसत्त्वसे तीसीयकर्मोंका स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा और मोहनोयकर्मका विशेष अविक है । इस क्रमसे पृथक्त्वस्थितिकाण्डक व्यतीत हो जानेपर तीसीयकर्मोंका पल्य-मात्र और मोहनोयकर्मका त्रिभाग अविक पल्यमात्र स्थितिसत्त्व जानना । इसके आगे एककाण्डकके होनेपर तीसीयकर्मोंका स्थितिसत्त्व भी पल्यके संख्यातवैभागमात्र हो जाता है तब बीसीयकर्मोंका स्थितिसत्त्व सबसे स्तोक तीसीयकर्मोंका उससे संख्यातगुणा और

उससे भी संख्यातगुणा स्थितिसत्त्व मोहनीयकर्मका जानना । इसक्रमसे पृथक्त्व (बहुतसे) स्थितिकाण्डक बीत जानेपर मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व पत्योपममात्र हो जाता है^१ । एककाण्डकके पूर्ण हो जानेपर मोहनीयकर्मका भी पत्यके संख्यातवैभागमात्र स्थितिसत्त्व हो जाता है । उसीकालमें सातों कर्मोंका स्थितिसत्त्व पत्यके संख्यातवैभागमात्र हो जाता है वहां बीसीयकर्मोंका स्थितिसत्त्व सबसे स्तोक, तीसीयकर्मोंका संख्यातगुणा और उससे भी संख्यातगुणा मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व होता है । इसके आगे इसक्रमसहित संख्यात-हजार स्थितिकाण्डक व्यतीत हो जानेपर बीसीयकर्मोंका स्थितिसत्त्व दूरापकृष्टिको उलंघकर पत्यके असंख्यातवैभागमात्र हो जाता है उससमय बीसीयकर्मोंका सबसे स्तोक उससे तीसीयकर्मोंका असंख्यातगुणा और उससे मोहनीयकर्मका संख्यातगुणा स्थिति-सत्त्व होता है । इससे आगे इसक्रमसे पृथक्त्व स्थितिकाण्डक बीत जानेपर तीसीय-कर्मोंका स्थितिसत्त्व दूरापकृष्टिको उलंघकर पत्यके असंख्यातवैभागमात्र होता है तब नाम व गोत्रकर्मका स्थितिसत्त्व सबसे कम चार तीसीयकर्मोंका स्थितिसत्त्व परस्पर तुल्य और असंख्यातगुणा है तथा मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा है । पुनः स्थितिकाण्डकपृथक्त्वके पश्चात् मोहनीयकर्मका भी स्थितिसत्त्व पत्योपमके असंख्यातवै-भागमात्र हो जाता है^२ तब सभी कर्मोंका स्थितिसत्त्व पत्यके असंख्यातवैभागमात्र होता है उससमयमें बीसीयकर्मोंका स्थितिसत्त्व सबसे स्तोक उससे तीसीय (ज्ञानावरणादि चार) कर्मोंका असंख्यातगुणा और उससे भी असंख्यातगुणास्थितिसत्त्व मोहनीयकर्मका है । इसक्रमसे संख्यातहजार स्थितिकाण्डक बीतजानेपर नाम व गोत्रकर्मका सबसे स्तोक उससे मोहनीयकर्मका असंख्यातगुणा एवं उससे असंख्यातगुणा स्थितिसत्त्व चार तीसीय-कर्मोंका होता है^३ । इसक्रमके द्वारा पृथक्त्व स्थितिकाण्डक बीत जानेपर मोहनीयकर्म-का सबसे स्तोक उससे नाम-गोत्रकर्मका असंख्यातगुणा, और उससे ज्ञानावरणादि चार तीसीयकर्मोंका असंख्यातगुणा स्थितिसत्त्व होता है । इसीक्रमसे पृथक्त्व स्थिति-काण्डक व्यतीत होनेपर मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व सबसे स्तोक, उससे बीसीयकर्मोंका असंख्यातगुणा, उससे तीनधातियाकर्मोंका असंख्यातगुणा, उससे भी^४ असंख्यातगुणा

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७४६ सूत्र १६४ । जयधवल मूल पृष्ठ १६६२ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७४६ सूत्र १७० । जयध० मूल पृष्ठ १६६२ ।

३. क० पा० सुत्त पृ० ७४६-५० सूत्र १७१ से १७४ । ज० ध० मूल पृष्ठ १६६२ ।

४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५० सूत्र १७८-१८१ । जयधवल मूल पृष्ठ १६६२ ।

स्थितिसत्त्व वेदनीयकर्मका होता है । इसक्रमसे पूर्वकत्व स्थितिकाण्डकोंके बीत जानेपर मोहनीयकर्म स्थितिसत्त्व सबसे कम है, उससे तीन धातियाकर्मोंका असंख्यातगुणा, उससे नाम व गोत्रकर्मका असंख्यातगुणा और विशेष अधिक स्थितिसत्त्व वेदनीयकर्मका होता है । इसप्रकार अन्तमें नाम व गोत्रके स्थितिसत्त्वसे वेदनीयकर्मका स्थितिसत्त्व साधिक हो जाता है । तब मोहादिकर्मके क्रमसे स्थितिसत्त्वका क्रमकरण होता है ।

तीदे बंधसहस्से पल्लासंखेज्जयं तु ठिदिबंधे ।

तत्थ असंखेज्जाणं उदीरणा समयवद्धाणं ॥३७॥४२८॥

अर्थः—इस क्रमकरणसे आगे संख्यातहजार स्थितिबन्ध बीत जानेपर पल्यके असंख्यातवैभागमात्र स्थितिबन्ध होता है तब असंख्यात समयप्रबद्धोंकी उदीरणा होती है ।

विशेषार्थः—यहांसे पूर्वमें अपकर्षण किये हुए द्रव्यको उदयावलिमें देनेके लिए असंख्यातलोकप्रमाणभागहार सम्भव था वहां समयप्रबद्धके असंख्यातवैभागमात्र उदीरणा-द्रव्य था उसका नाशकरके अब परिणामोंकी बिशुद्धताके कारण सर्ववेद्यमान कर्मोंका उदीरणारूप द्रव्य असंख्यातसमयप्रबद्धप्रमाण हो जाता है ।

इसप्रकार स्थितिबन्ध और स्थितिसत्त्वसम्बन्धी क्रमकरणका कथन पूर्णकरके कषाय व १६ प्रकृतियोंका क्षपणकरणाधिकार प्रारम्भ करते हैं—

ठिदिबंधसहस्सगदे, अट्टकसायाण होदि संकमगो ।

ठिदिखंडपुधत्तेण य, तट्ठिदिसंतं तु आवलियविद्धं ॥३८॥

१. क० पा० सु० पृ० ७५० सूत्र ८२ से १६२ जयधवल मूल पृष्ठ १६६२-६३ ।

२. यह गाथा ल० सा० गाथा २३८ के समान है । जयधवल मूल पृष्ठ १६६३ । क० पा० सु० पृष्ठ ७५१ सूत्र १६३-१६४ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३५५ ।

३. क० पा० सु० पृष्ठ ७५१ सूत्र १६३-६४ ।

४. क० पा० सु० पृष्ठ ७५१ सूत्र १६५ से १६७ । जयधवल मूल पृष्ठ १६६३ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३५५-५६ । अट्टकसायाणमपच्छिमट्ठिदिखंडे चरमफालिसल्लेखेण णिल्लेविदे तेसिमावलियपविद्ध-संतकम्मस्सेव समयूणःवलियमेत्तणिसेवमाणस्स परिसेससत्तसिद्धोए णिव्वाहमुवलंभादी । (जय-धवल मूल पृ० १६६३)

अर्थ:—तत्पश्चात् संख्यातहजार स्थितिवन्ध बीत जानेपर आठ (अप्रत्याख्याना-
वरण ४, प्रत्याख्यानावरण ४) कषायोंका पृथक्त्वस्थितिक्षण्डसम्बन्धी कालके द्वारा संक्रमण
होता है तथा उच्छिष्टावलीमात्र स्थितिसत्त्व शेष रह जाता है ।

विशेषार्थ:—असंख्यातसमयप्रबद्धमात्र उदोरणा होनेसे लगाकर संख्यातहजार
स्थितिकाण्डक व्यतीत होनेपर अप्रत्याख्यात व प्रत्याख्यातकोव-मान-माया व लोभरूप
आठ कषायोंका संक्रमण होता है । यहांपर प्रकृतिरूप संक्रमणके द्वारा क्षपणाका
प्रारम्भ होना संक्रमण जानना । ये उपर्युक्त आठकषाय अप्रशस्त थे अतः प्रथम हो
इनकी क्षपणा सम्भव है । इन कषायोंके द्रव्यमेंसे कुछ द्रव्य तो क्षपणाके प्रारम्भके
प्रथमसमयमें, कुछ द्रव्य द्वितीय समयमें इसप्रकार समय-समयप्रति एक-एक फालिका
संक्रमण होते हुए अन्तर्मुहूर्तके जितने समय होते हैं उतनी फालियोंके द्वारा प्रथम-
काण्डकका संक्रमण होता है । इसप्रकार ये कर्म परमुखसे नष्ट होते हैं, सो अन्यप्रकृति-
रूप होकर जिसका नाश होता है वही परमुखनाश कहलाता है । मोहनोयकर्मरूप राजा
की सेनाकी नायकरूप इन आठ कषायोंका अन्तिमकाण्डकसम्बन्धी अन्तिमफालिके नाश
होनेसे अवशिष्ट स्थितिसत्त्व कालकी अपेक्षा आवलीमात्र रहता है और निषेकोंकी
अपेक्षा एकसमयकम आवलिप्रमाण रहता है, क्योंकि अन्तिमकाण्डकघातके समय प्रथम-
निषेकका संक्रमण स्वमुख उदयसहित किसी सञ्ज्वलनकषायमें होता है तथा उदयावली
को प्राप्त निषेकका काण्डकघात नहीं होनेसे एकसमयकम आवलिमात्र निषेक अन्तिम-
फालिके साथ नष्ट नहीं होता है । प्रतिसमय स्तुविकसंक्रमणद्वारा प्रत्येकनिषेक संज्वलन-
रूप परिणमनकरके विनाशको प्राप्त होता है ।

‘ठिदिवंधपुधत्तगदे सोलसपयडीण होदि संकमगो ।

ठिदिखंडपुधत्तेण य तट्टिदिसंतं तु आवलिपविट्ठं ॥३६॥४३०॥

अर्थ:—तत्पश्चात् पृथक्त्वस्थितिकाण्डक व्यतीत हो जानेपर सोलह (स्त्यान-
गुद्धिन्निक, नरकद्विक, तिर्यञ्चगतिद्विक, एकेन्द्रियादि चारजाति, आतप, उद्योत, स्थावर,

१. क० पा० सुत्त पृ० ७५१ सूत्र १६७-६८ । जयधवल मूल पृ० १६६३-६४ । धवल पु० ६ पृष्ठ
३५६ । एत्थ शिरयतिरिक्खगईपाओग्गणामाओ ति वुत्तं शिरयगइशिरयगइपाओग्गणुपुव्वी-
तिरिक्खगइतिरिक्खगईपाओग्गणुपुव्वीएइन्दियवीइन्दियतीइन्दियअउरिन्दियजादि आदावुज्जोव-
थावरसुहुमसाहारणणामाणं तेरसहं पयडीणं गहणं कायव्वं (जयधवल मूल पृष्ठ १६६४)

सूक्ष्म, साधारण) प्रकृतियोंका स्थितिसत्त्व पृथक्त्वस्थितिविखण्डोंके कालद्वारा परप्रकृति-रूप संक्रमण होता है, उच्छिष्टावलीप्रमाण स्थितिसत्त्व शेष रह जाता है ।

विशेषार्थः—इसके उपर पृथक्त्वस्थितिबन्ध बीत जानेपर निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्थानगृद्धि ये तीन दर्शनावरणकर्मकी और नरकगति-नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्च-गति-तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियादि चारजाति, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण ये १३ नामकर्मकी इन १६ प्रकृतियोंका संक्रमण द्वारा क्षपणाका प्रारम्भ करते हैं । समय-समय-प्रति इनके द्रव्यको पूर्वोक्तप्रकार एक-एकफालिका संक्रमण होनेपर प्रथमकाण्डकघात होकर पृथक्त्व स्थितिकाण्डकों द्वारा संक्रमण होता है वहां अन्तिमकाण्डकघात होते हुए अवशेष स्थितिसत्त्व कालापेक्षा आवलिमात्र और निषेकापेक्षा समयकम आवलिमात्र रहता है । इसप्रकार इनका उदयवलोसे बाहर सर्वनिषेकोंका द्रव्य स्वजातीय अन्य-प्रकृतियोंमें संक्रमण होकर क्षयको प्राप्त होती हैं^१ । अपनी जातिकी अन्यप्रकृतियोंकी स्वजाती कहते हैं । जैसे—स्थानगृद्धिब्रिककी स्वजातीय दर्शनावरणकी अन्यप्रकृति है इसीप्रकार अन्य प्रकृतियोंके सम्बन्धमें भी जानना । यहाँ पृथक्त्व शब्द विपुलतावाची है^२ । इसप्रकार यहाँ मोहनीयकर्मकी तो आठ प्रकृतियोंका नाश होनेसे नामकर्मकी १३ प्रकृतियाँ, दर्शनावरणकर्मकी तीन प्रकृतियोंका नाश हो जानेपर छह प्रकृतिका और नामकर्मकी १३ प्रकृतिका नाश हो जानेसे ८० प्रकृतिका सत्त्व रह जाता है ज्ञानावरण, वेदनीय, गोत्र और अन्तरायकर्ममें किसी प्रकृतिका नाश नहीं होता है ।

क्षायिकसम्यग्दृष्टिजीव सातिशय अप्रमत्तगुणस्थानको प्राप्त होकर जिससमय क्षपणविधि प्रारम्भ करता है उससमय अधःप्रवृत्तकरणको करके क्रमसे अन्तर्मुहूर्तमें अपूर्वकरणगुणस्थानवाला होता है, वह एक भी कर्मका क्षय नहीं करता किन्तु प्रत्येक समयमें असंख्यातगुणितरूपसे कर्मप्रदेशोंकी निर्जरा करता है । एक-एक अन्तर्मुहूर्तमें एक-एक स्थितिकाण्डकका घात करता हुआ अपने कालके भीतर संख्यातहजार स्थिति-काण्डकोंका घात करता है और उतने ही स्थितिबन्धापसरण करता है तथा उनसे संख्यातहजारगुणे अनुभागकाण्डकोंका घात करता है; क्योंकि, एक अनुभागकाण्डकके उत्कीरणकालसे एक स्थितिकाण्डकका उत्कीरणकाल संख्यातगुणा है ऐसा सूत्र वचन है ।

१. जयधवल पृ० १६६३-६४ । क० पा० सुत्त पृ० ७५१ सूत्र १६८-६९ ।

२. जयधवल पु० १३ पृष्ठ ४२ व २२५ ।

इसप्रकार अपूर्वकरणगुणस्थानसम्बन्धी क्रियाको करके अनिवृत्तिकरणगुणस्थानमें प्रविष्ट होकर, वहां भी अनिवृत्तिकरणकालके संख्यातबहुभागको अपूर्वकरणके समान स्थिति-काण्डक धातादि विधिसे बिताकर अनिवृत्तिकरणके कालमें संख्यातवांभाग शेष रहनेपर स्थानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, नरकगति आदि नामकर्मकी १३ ऐसे उपर्युक्त १६ प्रकृतियोंका क्षय करता है। पश्चात् अन्तर्मुहूर्त व्यतीत करके प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्यानावरणसम्बन्धी क्रोध-मान-माया और लोभ इन आठ प्रकृतियोंका एक-साथ क्षय करता है। यह सत्कर्मप्राभृतका उपदेश है, किन्तु कषायप्राभृतका उपदेश तो इसप्रकार है कि पहले आठकषायोंके क्षय हो जानेपर पीछेसे एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्वोक्त सोलह कर्मप्रकृतियां क्षयको प्राप्त होती हैं। ये दोनों ही उपदेश सत्य हैं ऐसा कितने ही आचार्योंका मत है, किन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता, क्योंकि उनका ऐसा कहना सूत्रसे विरुद्ध पड़ता है तथा दोनों कथन प्रमाण हैं यह वचन भी घटित नहीं होता है, क्योंकि "एक प्रमाणको दूसरे प्रमाणका विरोधी नहीं होना चाहिए" ऐसा न्याय है।

शंका:—नानाजीवोंके नानाप्रकारकी शक्तियां सम्भव है; इसमें कोई विरोध नहीं आता है। अतः कितने ही जीवोंके आठ कषायोंके नष्ट हो जानेपर तदनन्तर सोलहकर्मोंके क्षय करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है। इसलिए उनका आठकषायोंका क्षय हो जानेके पश्चात् सोलहकर्मोंका क्षय होता है, क्योंकि "जिस क्रमसे कारण मिलते हैं उसी क्रमसे कार्य होता है" ऐसा न्याय है तथा कितने ही जीवोंके पहले सोलहकर्मोंके क्षयकी शक्ति उत्पन्न होती है तदनन्तर आठ कषायोंके क्षयकी शक्ति उत्पन्न होती है। इसलिए पहले १६ कर्मप्रकृतियां नष्ट होती हैं पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तके व्यतीत होनेपर आठकषायें नष्ट होती हैं अतः पूर्वोक्त दोनों उपदेशोंमें कोई विरोध नहीं आता है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं।

समाधान:—किन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता, क्योंकि अनिवृत्ति-करणगुणस्थानवाले जितने भी जीव हैं वे सब अतीत, वर्तमान और भविष्यकालसम्बन्धी किसी एकसमयमें विद्यमान होते हुए भी समान-परिणामवाले ही होते हैं इसीलिए उन जीवोंकी गुणश्रेणी निर्जरा भी समानरूपसे ही पाई जाती है। यदि एकसमयस्थित अनिवृत्तिकरणगुणस्थानवालोंको विसदृश परिणामवाला कहा जाता है तो जिसप्रकार एकसमयस्थित अपूर्वकरणगुणस्थानवालोंके विसदृश परिणाम होते हैं अतएव उन्हें अनि-

वृत्त यह संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है उसीप्रकार इन परिणामोंको भी अनिवृत्तिकरण यह संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकेगी और असंख्यातगुणश्रेणीके द्वारा कर्मस्कन्धोंके क्षपणके कारणभूत परिणामोंको छोड़कर अन्य कोई भी परिणाम स्थितिकाण्डकघात और अनु-भागकाण्डकघातके कारणभूत नहीं हैं, क्योंकि, उन परिणामोंका निरूपण करनेवाला सूत्र (आगम) नहीं पाया जाता है।

शंका:—अनेक प्रकारके कार्य होनेसे उनके साधनभूत अनेक प्रकारके कारणों का अनुमान किया जाता है ? अर्थात् एवं गुणस्थानमें प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्म-निर्जरा, स्थितिकाण्डकघातआदि अनेक कार्य देखे जाते हैं इसलिए उनके साधनभूत परिणाम भी अनेकप्रकारके होने चाहिए।

समाधान:—यह कहना भी नहीं बनता, क्योंकि एक मुद्गुरसे अनेक प्रकारके कपालरूप कार्यकी उपलब्धि होती है।

शंका:—वहां भी मुद्गुर एक भले ही रहा आवे, परन्तु उसकी शक्तियोंमें एकपता नहीं बन सकता। यदि मुद्गुरकी शक्तियोंमें भी एकपता मान लिया जावे तो उससे एक कपालरूप कार्यकी उत्पत्ति होगी।

समाधान:—यदि ऐसा है तो यहां भी स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, स्थितिबन्धापसरण, गुणसंक्रमण, गुणश्रेणी शुभप्रकृतियोंके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध के कारणभूत परिणामोंमें नानापता रहा आवे तो भी एकसमयमें स्थित नानाजीवोंके परिणाम सदृश ही होते हैं अन्यथा उन परिणामोंके 'अनिवृत्ति' यह विशेषण नहीं बन सकता है।

शंका:—यदि ऐसा है तो एक समयमें स्थित सम्पूर्ण अनिवृत्तिकरणगुणस्थान वालोंके स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघातकी समानता प्राप्त हो जावेगी।

समाधान:—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि यह बात तो हमें इष्ट ही है।

शंका:—प्रथमस्थितिकाण्डक और प्रथम अनुभागकाण्डकोंकी समानताका नियम तो नहीं पाया जाता है इसलिए उक्त कथन घटित नहीं होता है।

समाधान:—यह दोष कोई दोष नहीं है; क्योंकि, प्रथमसमयमें घातकरके शेष बचे हुए स्थितिकाण्डकोंका और अनुभागकाण्डकोंका एकप्रमाण नियम देखा जाता है। दूसरी बात यह है कि अल्पस्थिति और अल्प-अनुभागका विरोधी परिणाम उससे

अधिक स्थिति और अधिक अनुभागोंके अविरोधीपनेको प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि, अन्यत्र वैसा देखनेमें नहीं आता, किन्तु इस कथनसे अनिवृत्तिकरणके एकसमयमें स्थित सम्पूर्ण जीवोंके प्रदेशबन्ध सहज होता है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए, क्योंकि प्रदेश-बन्ध योगके निमित्तसे होता है, परन्तु अनिवृत्तिकरणके एकसमयवर्ती उन सर्व जीवोंके योगकी सहजताका कोई नियम नहीं पाया जाता । जिसप्रकार लोकपूरण समुद्रवातमें स्थित केवलियोंके योगकी समानताका प्रतिपादक परमागम है, उसप्रकार अनिवृत्तिकरणमें योगकी समानताका प्रतिपादक परमागमका अभाव है । इसलिये समान (एक) समयमें स्थित अनिवृत्तिकरणगुणस्थानवाले सम्पूर्ण जीवोंके सहजपरिणाम होनेके कारण स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात तथा उनका बन्धापसरण, गुणश्रेणीनिर्जरा और संक्रमणमें भी समानता सिद्ध हो जाती है ।

शङ्का:—इसप्रकार समान समयमें स्थित सम्पूर्ण अनिवृत्तिकरणगुणस्थान-वालोंके स्थितिकाण्ड और अनुभागकाण्डोंके समानरूपसे पतित होनेपर घात करनेके पश्चात् शेष रहे हुए स्थिति और अनुभागोंके समानरूपसे विद्यमान रहनेपर और प्रकृतियोंके अपना-अपना प्रशस्त और अप्रशस्तपनाके नहीं छोड़नेपर व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियोंके विनाशमें विपर्यास कैसे हो सकता है ? अर्थात् किन्हीं जीवोंके पहले आठकषायोंके नष्ट हो जानेपर सोलहप्रकृतियोंका नाश होता है यह बात कैसे सम्भव हो सकती है ? इस-लिए दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे कोई एकवचन ही सूत्ररूप हो सकता है, क्योंकि जिनेन्द्र अभ्यथावादी नहीं होते अतः उनके वचनोंमें विरोध नहीं होना चाहिए ।

समाधान:—यह कहना सत्य है कि उनके वचनोंमें विरोध नहीं होना चाहिए, किन्तु ये जिनेन्द्रदेवके वचन न होकर इस युगके आचार्योंके वचन हैं अतः उन वचनोंमें विरोध होना सम्भव है ।

शङ्का:—तो फिर इस युगके आचार्यों द्वारा कहे गये सत्कर्मप्राभृत और कषाय प्राभृतको सूत्रपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान:—नहीं, क्योंकि जिनका अर्थरूपसे तीर्थङ्करोंने प्रतिपादन किया है और गणधरदेवने जिनकी ग्रन्थरचना की ऐसे बारहअङ्ग आचार्यपरम्परासे निरन्तर चले आ रहे हैं, किन्तु कालप्रभावसे उत्तरोत्तर बुद्धिके क्षीण होनेपर और उन अंगोंको धारण करनेवाले योग्यपात्रके अभावमें उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए आ रहे हैं । इसलिये

जिन आचार्योंने आगे श्रेष्ठबुद्धिवाले पुरुषोंका अभाव देखा और जो अत्यन्त पापभीरु थे, जिन्होंने गुरुपरम्परासे श्रुतार्थ ग्रहण किया था उन आचार्योंने तीर्थविच्छेदके भयसे उससमय अवशिष्ट रहे हुए अङ्गसम्बन्धी अर्थको पोथियोंमें लिपिबद्ध किया अतएव उनमें असूत्रपना नहीं आ सकता ।

शङ्का:—यदि ऐसा है, इन दोनों वचनोंको द्वादशाङ्गका अवयव होनेसे सूत्रपना प्राप्त हो जावेगा ?

समाधान:—दोनोंमेंसे किसी एक वचनको सूत्रपना भले ही प्राप्त होओ, किन्तु दोनोंको सूत्रपना प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि उन दोनों वचनोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है ।

शङ्का:—उत्सूत्र लिखनेवाले आचार्य पापभीरु कैसे हो सकते हैं ?

समाधान:—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे किसी एक ही वचनके संग्रह करनेपर पापभीरुता निकल जाती है अर्थात् उच्छृंखलता आ जाती है, किन्तु दोनों प्रकारके वचनोंका संग्रह करनेवाले आचार्योंके पापभीरुता नष्ट नहीं होती है अर्थात् बनी रहती है ।

शङ्का:—दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे किस वचनको सत्य माना जावे ?

समाधान:—इस बातको केवली या श्रुतकेवली जानते हैं, दूसरा कोई नहीं जानता, क्योंकि इस समय उसका निर्णय नहीं हो सकता है, इसलिए पापभीरु वर्तमानकालके आचार्योंको दोनोंका संग्रह करना चाहिए, अन्यथा पापभीरुताका विनाश हो जावेगा ।

अथानन्तर देशघातिकरणका कथन करते हैं—

'ठिदिबंधपुधत्तगदे मणदाणा तत्तियेवि ओहि दुगं ।

लाभं च पुणोवि सुदं अचक्खुभोगं पुणो चक्खू ॥४०॥४३१॥

पुणरवि मदिपरिभोगं पुणरवि विरयं कमेण अणुभागो ।

बंधेण देसघादी पल्लासंखं तु ठिदिबंधो ॥४१॥४३२॥

१. ये दोनों गाथाएँ ल० सा० गाथा २३६-४० के समान हैं । क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५१-५२ सूत्र २०० से २०५ । जयधवल मूल पृ० १६६४-६५ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३५६-३५७ ।

अर्थः—(सोलह प्रकृतियोंके संक्रमणसे आगे) पृथक्त्व स्थितिकाण्डक बीत जानेपर मनःपर्ययज्ञानावरण और दानान्तराय कर्मोंका अनुभागबन्ध देशघातिरूप हो जाता है पुनः इतने ही स्थितिबन्ध बीत जानेपर अवधिज्ञानावरण, अवधिदर्शनावरण-रूप अवधिविहक और लाभान्तरायका अनुभागबन्ध देशघातिरूप हो जाता है । इसीप्रकार पृथक्त्वस्थितिबन्धोंको पुनः पुनः व्यतीतकर क्रमशः श्रुतज्ञानावरण, अचक्षुदर्शनावरण और भोगान्तराय इन तीन कर्मोंका पश्चात् चक्षुदर्शनावरणका फिर मतिज्ञानावरण एवं उपभोगान्तराय इन दोनोंकर्मोंका पुनः वीर्यान्तरायकर्मका अनुभागबन्ध देशघाति हो जाता है, किन्तु स्थितिबन्ध पत्योपमके असंख्यातवैभागप्रमाण ही होता है । इसप्रकार प्रकृतिगत अनुभाग स्तोक होनेसे देशघातिबन्ध होनेका यह क्रम है । यहां स्थितिबन्ध यथासम्भव पत्यका असंख्यातवैभागमात्र ही जानना ।

आगे अन्तरकरणका कथन करते हैं—

‘टिदिखंडसहस्रगदे चदुसंजलणाण णी कसायाणं ।

एयट्टिदिखंडुक्कीरणकाले अंतरं कुणदि ॥४२॥४३३॥

अर्थः—देशघातिकरणके आगे संख्यातहजार स्थितिकाण्डक व्यतीत हो जाने-पर एकस्थितिकाण्डकोत्कीरणकालके द्वारा चार संज्वलन और नव नोकषायका अन्तर करता है अन्यका अन्तर नहीं होता है ।

विशेषार्थः—अधस्तन और ऊपरितनवर्ती निषेकोंको छोड़कर अन्तर्भूतमात्र बीचके निषेकोंका परिणाम विशेषके द्वारा अभाव करना अन्तरकरण कहलाता है^१ । [विरह-शून्य और अभाव ये एकार्थवाची हैं] यहां अन्तरकरणकालके प्रथमसमयमें पहले की अपेक्षा अन्यप्रमाणसहित स्थितिकाण्डक, अनुभागकाण्डक और स्थितिबन्धका प्रारम्भ एक साथ होता है तथा एक स्थितिकाण्डकोत्कीरणका जितना काल है उतने कालके द्वारा अन्तरकरणका कार्य पूर्ण करता है । इसकालके प्रथमादि समयोंमें उस निषेकोंके द्रव्यको अन्य निषेकोंमें निक्षेपण करता है^२ ।

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५२ सूत्र २०६ से २०८ । ध० पु० ६ पृ० ३५७ ।

२. जयधवल पु० १२ पृष्ठ २७२ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ १६६५ ।

‘संजलणाणं एककं वेदाणोक्कं उदेदि तद्दोण्हं ।

सेसाणं पढमट्ठिदि ठवेदि अंतोमुहुत्तमावलियं ॥४३॥४३४॥

अर्थः—संज्वलनचतुष्कमेंसे कोई एक और तीनों वेदोंमेंसे कोई एक इस-प्रकार उदयरूप दो प्रकृतियोंकी तो अन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्रथमस्थिति स्थापित करता है । इनके बिना जिनका उदय नहीं पाया जाता ऐसी ११ प्रकृतियोंकी प्रथमस्थिति आवलि-प्रमाण स्थापित करता है ।

विशेषार्थः—जो पुरुषवेद और क्रोधके उदयसहित श्रेणी मांडता है वह इन दोनोंकी प्रथमस्थिति तो अन्तर्मुहूर्तमात्र तथा अन्य प्रकृतियोंकी आवलिमात्र प्रथमस्थिति करता है सो वर्तमानसमयसम्बन्धी निषेकसे लेकर प्रथमस्थितिप्रमाण निषेकोंको नीचे छोड़कर इनके ऊपर गुणश्रेणी शीर्षसे सहित प्रथमस्थितिसे संख्यातगुणे निषेकोंका अन्तर करता है । स्रोवेद, तपुंसकवेद और छह नोकषायका जितना क्षपणाकाल है उतने प्रमाण पुरुषवेदकी प्रथमस्थिति है, जो कि सबसे स्तोक है, उससे संज्वलनक्रोधकी प्रथम स्थिति विशेष अधिक है, जो कि संज्वलनक्रोधके क्षपणाकालप्रमाणसे विशेष अधिक है । उदयस्वरूप और अनुदयस्वरूप सभी नोकषायोंकी अन्तिमस्थिति सदृश ही होती है, क्योंकि द्वितीयस्थितिके प्रथमनिषेकका सर्वत्र सदृशरूपसे अवस्थान होता है, किन्तु अवस्तन प्रथमस्थिति विसदृश है, क्योंकि उदयरूप प्रकृतियोंकी प्रथमस्थिति अन्तर्मुहूर्त है और अनुदयप्रकृतियोंकी प्रथमस्थिति आवलिमात्र है^१ ।

‘उक्कीरिदं तु दब्बं संत्ते पढमट्ठिदिमिह संथुहदि ।

बंधेवि य आवाधमदिस्थिय उक्कहदे गियमा ॥४४॥४३५॥

अर्थः—अन्तररूप निषेकोंके द्रव्यको सत्त्वमेंसे अपकर्षणकरके प्रथमस्थितिमें निक्षेपण करता है और जिन कर्मोंका बन्ध होता है उनके अपकर्षितद्रव्यको आबाधा छोड़कर बन्धरूप निषेकोंमें भी निक्षेपण करता है ।

१. यह गाथा ल० सा० गाथा २४२ के समान है, किन्तु “तद्दोण्हं” के स्थानपर वहां “तं दोण्हं” यह पाठ है । क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५२ सूत्र २०६ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३५७ ।

२. जयधवल मूल पृ० १६६५ ।

३. क० पा० सुत्त पृ० ७५२-५३ सूत्र २१० से २१४ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३५८ ।

विशेषार्थः—जिससमय अन्तरकरणका आरम्भ होता है उसीसमय पूर्वके स्थिति-बन्ध, स्थितिकाण्डक और अनुभागकाण्डक समाप्त हो जानेके कारण अन्य स्थितिबन्धको असंख्यातगुणहानिरूपसे आरम्भ होता है और अन्य स्थितिकाण्डक पत्यके असंख्यातवै-भागप्रमाणसे और अनुभागकाण्डक अनन्त बहुभागरूपसे होता है । हजारों अनुभाग-काण्डकोंके व्यतीत होतेपर अन्य अनुभागकाण्डक, वही स्थितिकाण्डक, वही स्थितिबन्ध और अन्तरका उत्कीरणकाल एक साथ सम्पन्न होते हैं, क्योंकि तत्काल होनेवाले स्थिति-बन्ध और स्थितिकाण्डकोत्कीरणकालके समान अन्तरकरणोत्कीरणकाल होता है अर्थात् अन्तररूप निषेकोंके द्रव्यको फालिरूपसे ग्रहणकर अन्य निषेकोंमें देता है । फालियां अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती हैं, फालियोंके द्वारा द्रव्य असंख्यातगुणित क्रमसे ग्रहण होता है ।

अंतर करनेवाला जीव जिनकर्मोंको बांधता है और वेदता है उन कर्मोंकी अंतर-स्थितियोंमेंसे उत्कीर्ण होनेवाले प्रदेशपुञ्जको अपनी प्रथमस्थितिमें निक्षिप्त करता है और आबाधाको छोड़कर द्वितीयस्थितिमें भी निक्षिप्त करता है, किन्तु अन्तरसम्बन्धी स्थितियोंमें निक्षिप्त नहीं करता है, क्योंकि उनके कर्मपुञ्जसे वे स्थितियां रिक्त होने-वाली हैं अतः उनमें निक्षेप होनेका विरोध है । (जब तक अन्तरसम्बन्धी द्विचरमफालि है तब तक स्वस्थानमें भी अपकर्षणसम्बन्धी अतिस्थापनावलिको छोड़कर अन्तरसम्बन्धी स्थितियोंमें प्रवृत्त रहता है ऐसा कितने हो आचार्य व्याख्यान करते हैं, किन्तु सूत्रमें इसप्रकारकी सम्भावना स्पष्टरूपसे निषिद्ध है ।

जो कर्म न बंधते हैं और न वेदन किये जाते हैं ऐसी छद्म नोकषायोंके उत्कीर्ण होने वाले प्रदेशपुञ्जको अपनी स्थितियोंमें नहीं देता, किन्तु बन्धनेवाली प्रकृतियोंकी द्वितीयस्थितिमें बन्धके प्रथमनिषेकसे लेकर उत्कर्षण द्वारा सींचता है । बंधनेवाली और नहीं बंधनेवाली जिनप्रकृतियोंकी प्रथमस्थिति है उनमें भी यथासम्भव अपकर्षण और परप्रकृतिसमस्थितिसंक्रम द्वारा सींचता है, किन्तु स्वस्थानमें निक्षिप्त नहीं करता है । जो कर्म बन्धते नहीं, किन्तु वेदे जाते हैं जैसे स्त्रीवेद और नपुंसकवेद, उनकी अन्तर-सम्बन्धी स्थितियोंके प्रदेशपुञ्जको ग्रहणकर अपनी-अपनी प्रथमस्थितिमें अपकर्षण और परप्रकृतिसंक्रमण द्वारा आगमानुसार निक्षिप्त करता है तथा बन्धकी द्वितीयस्थितिमें उत्कर्षणकरके सिंचित करता है ।

जो कर्म केवल बन्धको प्राप्त होते हैं वेदे नहीं जाते जैसे परोदयकी विवक्षामें पुरुषवेद और अन्यत्र संज्वलनका उनको अन्तरसम्बन्धी स्थितियोंमेंसे उत्कीर्ण होनेवाले

प्रदेशपुञ्जका उत्कर्षणवश अपनी द्वितीयस्थितिमें संचार होता है, क्योंकि उदयसहित बंधनेवाली प्रकृतियोंकी प्रथम व द्वितीयस्थितिमें तथा अनुदयरूप बंधनेवाली प्रकृतियोंकी द्वितीयस्थितिमें संचार विरुद्ध नहीं है । इस क्रमसे अन्तर्मुहूर्तप्रमाण फालिरूपसे प्रति-समय असंख्यातगुणी श्रेणीद्वारा उत्कीर्ण होनेवाला अन्तर अन्तिमफालिके उत्कीर्ण होने-पर पूरा उत्कीर्ण हो जाता है, किन्तु इतनी विशेषता है कि अन्तरसम्बन्धी अन्तिमफालिका पतन हो जानेपर सब द्रव्य प्रथम और द्वितीयस्थितिमें संक्रमित होता है । यथा—प्रथम-स्थितिसे संख्यातगुणी स्थितियोंको ग्रहणकरके आबाधाके भीतर अन्तरको करता है और गुणश्रेणिके अग्रभागके अग्रभागमेंसे असंख्यातवैभागको खण्डित करता है तथा उससे ऊपरकी संख्यातगुणी अन्यस्थितियोंको भी अन्तरके लिए ग्रहण करता है^१ ।

अब संक्रमणकरण का पञ्चाङ्ग करते हैं—

सत्त करणाणि यन्तरकदपढमे ताणि मोहणीयस्स ।

इगिठाण्यिवंधुदओ तस्सेव य संखवस्सटिदिवंधो ॥४५॥४३६॥

तस्साणुपुव्विसंक्रम लोहस्स असंकमं च संढस्स ।

आवेत्तकरणसंकम छावलितीदेसुदीरणदा ॥४६॥४३७॥

अर्थः—अन्तर करनेकी क्रिया समाप्त हो जानेके पश्चात् अनन्तर प्रथम सात-करण होते हैं—(१-२) मोहनीयकर्मका एक स्थानीय अर्थात् लतारूप अनुभागका बन्ध व उदय (३) मोहनीयकर्मका संख्यातवर्षवाला स्थितिबन्ध (४) मोहनीयकर्मकी प्रकृतियों का आनुपूर्विसंक्रमण (५) संज्वलन लोभका असंक्रमण (६) नपुंसकवेदका आयुक्त-करण संक्रमण (७) छह आवलियोंके बीत जानेपर उदीरणा^२ ।

विशेषार्थः—अन्तरकरणक्रिया समाप्तिका जो काल है उसीसमयमें ये सात-करण युगपत् प्रारम्भ होते हैं—(१) मोहनीयकर्मका एक स्थानीय (लतारूप) अनुभाग-

१. जयधवल पु० १३ पृष्ठ २५३ से २६२ ।

२. ये दोनों गाथाएं कुछ अन्तर के साथ ल० सार गा० २४८ व २४९ के समान हैं । क० पा० सु० पृष्ठ ७५३ सूत्र २१५ । परं तत्र "आवेत्तकरण" इत्यस्य स्थाने "आजुत्तकरण" इति पाठो । ध० पु० ६ पृष्ठ ३५८; तथापि "आजुत्तकरण" इति पाठो स च उपयुक्तो प्रतिभाति ।

४. जयधवल मूल पृष्ठ १६६६-६७ ।

बन्ध प्रारम्भ हो जाता है, इससे पूर्व देशघाति द्विस्थानीयरूप (लता, दारु रूपसे) मोहनीय कर्मका अनुभागबन्ध होता था अब परिणामोंके माहत्म्यवश घटकर वह एक स्थानीय (लतारूप) हो जाता है । (२) पहले मोहनीयकर्मके अनुभागकी उदय द्विस्थानीय (लता, दारु) देशघातिरूपसे होता था अन्तरकरणके अनन्तर ही एक स्थानीयरूपसे (लतारूपसे) परिणत हो गया । (३) मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध पहले असंख्यातवर्षप्रमाण होता था वह घटकर अब संख्यातहजारवर्षप्रमाणवाला हो गया । (४) मोहनीयकर्मका आनुपूर्वीसंक्रम यथा-स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके प्रदेशपुञ्जको पुरुषवेदमें ही नियमसे संक्रान्त करता है । पुरुषवेद और छह नोकषायके प्रदेशपुञ्जको सञ्ज्वलनक्रोधमें संक्रान्त करता है, अन्य किसीमें संक्रान्त नहीं करता । संज्वलनक्रोधको संज्वलमानमें ही, संज्वलनमानको संज्वलनमायामें ही और संज्वलनमायाको संज्वलनलोभमें निक्षिप्त करता है । पहले चारित्र-मोहनीयरूप प्रकृतियोंका आनुपूर्वीके बिना संक्रम होता था, किन्तु इस समय इस प्रतिनियत आनुपूर्वीसे प्रवृत्त होता है । (५) पहले आनुपूर्वीके बिना लोभसंज्वलनका भी शेष संज्वलन और पुरुषवेदमें प्रवृत्त होनेवाला संक्रम होता था, किन्तु यहां आनुपूर्वीसंक्रमका प्रारम्भ होनेपर प्रतिलोभसंक्रमका अभाव होनेसे रुक गया । यहांसे लेकर संज्वलन लोभका संक्रमण नहीं होता । यद्यपि आनुपूर्वीसंक्रमसे ही यह अर्थ उपलब्ध हो जाता है तो भी मन्दबुद्धिजनोंके अनुग्रहके लिए पृथक् निर्देश किया गया । (६) नपुंसकवेदता क्षपण 'आयुक्तकरणके द्वारा नपुंसकवेदकी क्षपणक्रियामें उद्यत होता है । जैसे पहले सर्वत्र ही समयप्रबद्ध बन्धावलिके व्यतीत होनेके बाद ही उदीरणाके लिए शक्य रहता आया है इसप्रकार यहां शक्य नहीं है, किन्तु अन्तर किये जानेके प्रथमसमयसे लेकर जो कर्म बंधते हैं वे कर्म छह आवलियोंके व्यतीत होनेके बाद उदीरणाके लिए शक्य होते हैं बंधसमयसे लेकर जबतक पूरी छह आवलियां व्यतीत नहीं होती तब तक उनकी उदीरणा होना शक्य नहीं है^१ ।

१. आयुक्तकरण, उद्यतकरण और प्रारम्भकरण ये तीनों एकार्थक हैं । यहांसे लेकर नपुंसकवेदकी क्षपणा प्रारम्भ हो जाती है । (जयधवल पु० १३ पृष्ठ २७२) "तत्थ राबुंसयवेदस्स आयुत्त-करणसंकामगो त्ति भणिदे णबुंसयवेदस्स खवणाए अब्भुट्ठिदो होदुण पयट्ठो त्ति भणिदं होदि" (जयधवल मूल पृष्ठ १६६७) ।

२. जयधवल पु० १३ पृष्ठ २६४ से २६७ तक ।

संछुहदि पुरिसवेदे इत्थीवेदं णउंसयं चेव ।

सत्तेव णोकसाए णियमा कोहम्हि संछुहदि ॥४७॥४३८॥

कोहं च छुहदि माणे माणं मायाए णियमसा छुहदि ।

मायं च छुहदि लोहे पडिलोमो संकमो गृत्थि ॥४८॥४३९॥

अर्थः—स्त्रीवेद और नपुंसकवेदसम्बन्धी द्रव्य तो पुरुषवेदमें ही संक्रमण करता है अन्यत्र नहीं । पुरुषवेद और हास्यादि छह ये सात नोकषायोंका द्रव्य संज्वलनक्रोधमें संक्रमण करता है । क्रोधकषायका द्रव्य मानमें ही संक्रमण करता है, मानकषायका द्रव्य मायामें, मायाका द्रव्य लोभमें संक्रमण करता है । इसप्रकार संक्रमणके द्वारा अन्य-रूप परिणमनकर स्वयं नाशको प्राप्त होता है, यही आनुपूर्वीसंक्रमण जानना । प्रतिलोभ अर्थात् अन्यथा प्रकार संक्रमण अब नहीं होता है ।

ठिदिबंधसहस्सगदे संढो संकामिदो हवे पुरिसे ।

पडिलमयसहस्रगुणं संकामगव्वरिमसमञ्जोत्ति ॥४९॥४४०॥

अर्थः—हजारों स्थितिबंधापसरण व्यतीत हो जानेपर नपुंसकवेदका संक्रमण पुरुषवेदमें हो जाता है । चरमसमयतक प्रतिसमय असंख्यातगुणे द्रव्यका संक्रमण होता है और चरमसमयमें सर्वसंक्रमण द्वारा नपुंसकवेदका सम्पूर्णद्रव्य पुरुषवेदमें संक्रान्त हो जाता है ।

विशेषार्थः—अन्तरकरणके अनन्तरसमयसे लगाकर संख्यातहजार स्थितिबंध व्यतीत हो जानेपर नपुंसकवेद पुरुषवेदमें संक्रमित होता है । नपुंसकवेदकी क्षपणाके प्रथमसमयसे समय-समयप्रति असंख्यातगुणे क्रमसे संक्रमणकालके अन्तसमयमें नपुंसकवेदके द्रव्यका पुरुषवेदमें संक्रमण होता है सो समय-समयमें जितना द्रव्य संक्रमित होता है वह फालि है और अन्तर्मुहूर्तमात्र फालियोंका समूहरूप काण्डक है । इसप्रकार गुण-संक्रमणरूप अनुक्रमसे संख्यातहजारकाण्डक व्यतीत होनेपर अन्तसमयमें जो अन्तिम-

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६५ गाथा १३८ के समान है । जयधवल मूल पृष्ठ १९८८ ।
धवल पु० ६ पृष्ठ ३५९ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६५ गाथा १३९ के समान । जयधवल मूल पृष्ठ १९८९ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ १९६७ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३५९ ।

काण्डककी अन्तिमफालि है उसको सर्वसंक्रमणके द्वारा संक्रमाता है । इसप्रकार सपुंसक-वेदको पुरुषवेदरूप परिणमाकर नाशको प्राप्त कराता है । ऐसा अर्थ स्त्रीवेदकी क्षपणा आदिमें भी लगाना चाहिए ।

‘बंधेण होदि उदयो अहिणो उदयेण संक्रमो अहिणो ।

गुणसेडि असंखेजापदेसग्गेण बोधववा ॥५०॥४४१॥

अर्थः—बंधसे उदय अधिक होता है और उदयसे संक्रम अधिक होता है । इसप्रकार प्रदेशाग्रकी अपेक्षा गुणश्रेणि असंख्यातगुणी जानना चाहिए । (गुणकाररूपसे पंक्तिकी अपेक्षा गुणश्रेणिका प्रयोग हुआ है ।)

विशेषार्थः—‘प्रदेश’ शब्दसे परमाणुरूप द्रव्य जानना । यहाँ समयप्रबद्ध बंधता है उसमें उका भाग देनेपर सोहनीयकर्मको जो द्रव्य प्राप्त होता है उसमें कषाय व नो-कषायरूप द्रव्यप्राप्तिके लिए पुनः दोका भाग देनेसे नोकषायरूप पुरुषवेदका जितना द्रव्य प्राप्त होता है उतने प्रमाण लो प्रदेशोंका बन्ध होता है तथा सर्वसत्तारूप पुरुषवेदसंबंधी द्रव्यमें गुणश्रेणी आदिके द्वारा दिये गये द्रव्यसहित इससमय उदय आने योग्य विषेकका द्रव्य असंख्यातसमयप्रबद्धप्रमाण है सो उतने प्रदेशोंका उदय होता है । ये प्रदेश बंध-प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यातगुणे हैं । सर्वद्रव्यको गुणसंक्रमणका भाग देनेसे जो प्रमाण आता है, उतने प्रदेशोंका संक्रमण होता है सो ये प्रदेश भी उदयप्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात-गुणे हैं । इसप्रकार एक ही कालमें होनेवाले बन्ध, उदय व संक्रमणकी अपेक्षा अल्प-बहुत्व कहनेसे गुणसंक्रमणरूप द्रव्यका प्रमाण जाना जाता है ।

जिन प्रकृतियोंका अधःप्रवृत्तसंक्रमण होता है उनका भी संक्रमण द्रव्य असंख्यात-समयप्रबद्धप्रमाण होनेसे उदयद्रव्यकी अपेक्षा असंख्यातगुणा है ।

शङ्काः—उत्कर्षण-अपकर्षणभागहारसे अधःप्रवृत्तसंक्रमणभागहार असंख्यात-गुणा है अतः अधःप्रवृत्तसंक्रमणद्रव्य उदयद्रव्यसे असंख्यातगुणा नहीं हो सकता ।

समाधानः—अपकर्षित किया हुआ सभी द्रव्य गुणश्रेणिमें नहीं दिया जाता उसका असंख्यातवांभागप्रमाण द्रव्य दिया जाता है अतः उदयद्रव्यसे संक्रमणद्रव्य असंख्यातगुणा है^१ ।

१. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७६६ गा. १४४ के समान । घ० पु० ६ पृ० ३५६ । ज० घ० मूल पृ० १६६४ ।

२. जयधवल मूल पृष्ठ १६६५ ।

‘गुणसेटि असंखेजा पदेसअगेण संकमो उदओ ।

से काले से काले भज्जो बंधो पदेसग्गे ॥५१॥४४२॥

अर्थ:—प्रदेशाग्रकी अपेक्षा संक्रमण और तदय उत्तरोत्तर कालमें असंख्यात-गुणश्रेणिरूपसे होते हैं, किन्तु प्रदेशाग्रमें बन्ध भजनीय है ।

विशेषार्थ:—अन्तरकरणकी समाप्तिके पश्चात् प्रथमसमयमें प्रदेशोदय अल्प होता है, तदनन्तरसमयमें असंख्यातगुणा होता है । इसी क्रमसे उत्तरोत्तर समयोंमें असंख्यातगुणितक्रमसे प्रदेशोंका उदय होता रहता है । जैसी प्ररूपणा उदयसम्बन्धी है वैसी ही गुणसंक्रमणकी भी है । प्रथमसमयमें प्रदेशोंका संक्रमण अल्प होता है तदनन्तर-समयमें असंख्यातगुणे प्रदेशोंका संक्रमण होता है । उत्तरोत्तर समयोंमें असंख्यातगुणित-क्रमसे प्रदेशोंका संक्रमण होता है । पूर्व समयमें जितने प्रदेशोंका बन्ध हुआ उससे अनन्तर समयमें असंख्यातगुणित प्रदेशबन्धका नियम नहीं है । प्रदेशबन्ध कदाचित् चतुर्विधवृद्धिसे (असंख्यातवैभागवृद्धि, संख्यातवैभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि) बढ़ भी सकता है, कदाचित् चतुर्विध हानिरूपसे (असंख्यातवैभागहानि, संख्यातवैभागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि) घट भी सकता है और कदाचित् तदवस्थ भी रह सकता है अर्थात् जितने प्रदेशोंका पूर्वसमयमें बन्ध हुआ था उतने ही प्रदेशोंका उत्तर-समयमें भी बन्ध होता है । अधःप्रवृत्तसंक्रमणमें असंख्यातगुणाक्रम नहीं है मात्र विशेष-अधिक या विशेषहीन होती है ।

प्रदेशबन्ध योगके कारण होता है । क्षपकश्रेणीपर आरोहण करनेवालेके योग-की वृद्धि-हानि और अवस्थान ये तीनों अवस्थायें सम्भव हैं, क्योंकि वीर्यान्तरायक्रमके क्षयोपशमके अनुसार योगमें हानि-वृद्धि और अवस्थान होता है । योगस्थान असंख्यात हैं, क्योंकि जीवप्रदेश असंख्यात हैं अतः योगमें अनन्तवैभागवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि, अनन्तवै-भागहानि और अनन्तगुणहानि सम्भव नहीं है । इसीलिये षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिके स्थानपर चतुर्विध हानि-वृद्धि कही गई है^१ ।

१. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७७२ गाथा १४६ के समान । ध० पु० ६ पृ० ३६० । ज० व० मूल पृष्ठ १६६६ ।

२. जयधवल मूल पृष्ठ १६६६ ।

‘इदि संढं संकामिय से काले इत्थिवेदसंकमगो ।

अरणं ठिदिरसखंडं अरणं ठिदिवंधमारवई ॥५२॥४४३॥

थी अद्धा संखेज्जाभागेपगदे तिघादिठिदिवंधो ।

वस्साणं संखेज्जं थी संकंतापगद्धंते ॥५३॥४४४॥

ताहे संखसहस्सं वस्साणं मोहणीयठिदिसंतं ॥पूर्वा.गा.५४॥४४५॥

अर्थः—इसप्रकार नपुंसकवेदको संक्रमाकर तदनन्तरकालमें स्त्रीवेदका संक्रामक प्रथमसमयवर्ती आयुक्तक्रियाके द्वारा होता है । उससमयमें अन्यस्थितिकाण्डक, अन्य ही अनुभागकाण्डक और अन्य स्थितिबन्धका प्रारम्भ करता है । पश्चात् (स्थितिकाण्डक-पृथक्त्वसे) स्त्रीवेदके क्षपणकालका संख्यातवर्षांश व्यतीत होनेपर तीन घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय) कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातवर्ष प्रमाणवाला होता है, तत्पश्चात् (स्थितिकाण्डक पृथक्त्वके द्वारा) स्त्रीवेदका जो शेष स्थितिसत्त्व है वह सब क्षपणाके लिये ग्रहण हो जाता है । (शेष कर्मोंके स्थितिसत्त्वका असंख्यातबहुभाग क्षपणाके लिए ग्रहण हो जाता है । उस समय मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व संख्यातहजार वर्ष-प्रमाण हो जाता है । शेषकर्मोंका स्थितिसत्त्व पत्यके असंख्यातवर्षभागप्रमाण है) अन्तिम स्थितिकाण्डकके पूर्ण होनेपर संक्रम्यमान स्त्रीवेद संक्रान्त हो जाता है । इसप्रकार पुरुषवेदमें संक्रान्त होकर स्त्रीवेदका अय हो जाता है ।

विशेषार्थः—अप्रशस्त होनेके कारण नपुंसकवेदके पश्चात् स्त्रीवेदकी क्षपणा प्रारम्भ करता है । उस समय पूर्वमें तीनघातियाकर्मोंका जो स्थितिबन्ध असंख्यातवर्षका होता था वह घटकर संख्यातवर्षका रह जाता है^३ ।

‘से काले संकमगो सत्तरहं ग्लोकसायाणं ॥५४॥उत्तरार्ध॥

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५३-५४ सूत्र २१७ से २२३ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३६०-६१ ।

जयधवल मूल पृष्ठ १६६७-६८ ।

२. ‘ठिदिवंधमारवई’ इस्यस्यस्थाने ‘ठिदिवंधमारभदि’ इति पाठो प्रतिष्ठाति ।

३. जयधवल मूल पु० १६६७-६८ ।

४. क० पा० सुत्त पु० ७५४ सूत्र २२४ से २३२ । ध. पु. ६ पृष्ठ ३६१ । ज. ध. मूल पृष्ठ १६६८-६९ ।

ताहे मोहो थोबो संखेज्जगुणं तिघादिठिदिसंतं ।

तत्तो असंखगुणियो णामदुगं साहियं तु वेयणियं ॥५५॥

ताहे असंखगुणियं मोहादु तिघादिपडिठिदिसंतं ।

तत्तो असंखगुणियं णामदुगं साहियं तु वेयणियं ॥५६॥

अर्थः—स्त्रीवेदकी क्षपणाके अनन्तरसमयमें (प्रथमसमयवर्ती) सात नोकषाय (पुरुषवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा) का संश्लेषक होता है । उस प्रथमसमयमें मोहनीयकर्मका स्थितिवन्ध स्तोक, तीन घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय) कर्मोंका स्थितिवन्ध संख्यातगुणा, नामद्विक (नाम-गोत्र) कर्मोंका स्थितिवन्ध असंख्यातगुणा और वेदनीयकर्मका स्थितिवन्ध विशेष अधिक अर्थात् डेढ़गुणा है । उसी प्रथमसमयमें मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व स्तोक, तीन घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय) कर्मोंका स्थितिसत्त्व असंख्यातगुणा, नामद्विक (नाम-गोत्र) का स्थितिसत्त्व असंख्यातगुणा और वेदनीयकर्मका स्थितिसत्त्व विशेष अधिक है ।

विशेषार्थः—मोहनीयकर्मका स्थितिसत्कर्म संख्यातवर्षका हो जानेपर भी तीन घातियाकर्मोंका स्थितिसत्त्व संख्यातवर्षप्रमाण नहीं होता इसीलिए स्थितिसत्कर्मका अल्पबहुत्व पूर्वके समान है ।

सत्तरहं पढमट्ठिदिसंखे पुण्णे दु मोहठिदिसंतं ।

संखेज्जगुणविहीणं सेसाणमसंखगुणहीणं ॥५७॥४४८॥

अर्थः—सात (पुरुषवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा) प्रकृतियोंका प्रथमस्थितिकाण्डकघात पूर्ण होनेपर मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा हीन और शेषकर्मोंका स्थितिसत्त्व असंख्यातगुणाहीन हो जाता है ।

विशेषार्थः—मोहनीयकर्मकी भेदरूप नव नोकषायोंमें से नपुंसक व स्त्रीवेदका संक्रमणद्वारा क्रमशः क्षय हो जानेपर शेष सात नोकषायोंका घात करनेके लिये स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, स्थितिवन्धापसरणादिका प्रारम्भ होता है । स्थिति-

१. जयधवल मूल पृष्ठ १६६६ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५४ सूत्र २३३-२४ । ध० पु० ६ पृष्ठ ३६१ । जयधवल मूल पृष्ठ १६६६ ।

काण्डकघातके द्वारा स्थितिसत्त्वकर्मके बहुभागका घात होते-होते एकभाग शेष रह जाता है । मोहनोपकर्मका स्थितिसत्त्व संख्यातवर्षप्रमाण है । अतः प्रथमस्थितिकाण्डकघातको अन्तिमफालिका पतन होनेपर मोहनोपकर्मसम्बन्धी स्थितिसत्त्वके संख्यातबहुभाग घात हो जानेपर शेष स्थितिसत्त्व संख्यातगुणाहीन अर्थात् संख्यातवैभाग रह जाता है । शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, वेदनीय, ताम और गोत्र इनछह कर्मोंके स्थिति-सत्त्वकर्मका असंख्यातबहुभाग उसी (प्रथम) स्थितिकाण्डकघातके द्वारा घाता जानेसे शेष स्थितिसत्त्व असंख्यातवैभागहीन अर्थात् असंख्यातवैभाग रह जाता है । इनछह कर्मोंका स्थितिसत्त्व, मोहनोपकर्मके स्थितिसत्त्वसे असंख्यातगुणा होनेके कारण (गाथा ५६) असंख्यातवर्षप्रमाण है । अतः स्थितिसत्त्वका बहुभाग अर्थात् असंख्यातबहुभागका घात प्रथमस्थितिकाण्डककी अन्तिमफालिके पतनके समय हो जाता है ।

‘सत्तरहं पढमट्टिदिखंडे पुणणेति घादिठिदिवंधो ।

संखेज्जगुणविहीणं अधादितियाणं असंखगुणहीणं ॥५८॥४४६॥

अर्थः—सातकर्मोंका प्रथमस्थितिकाण्डक पूर्ण होनेपर घातियाकर्मोंका स्थिति-बन्ध संख्यातगुणाहीन और तीन अधातियाकर्मोंका असंख्यातगुणाहीन हो जाता है ।

विशेषार्थः—सात (पुरुषवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) नो-कषायको श्रय करनेके लिए अन्यस्थितिकाण्डक, अन्यस्थितिबन्धापसरण और अन्य ही अनुभागकाण्डकका प्रारम्भ होता है । स्थितिकाण्डकके द्वारा स्थितिसत्त्वका घात होता है, स्थितिबन्धापसरणसे स्थितिबन्ध घटता है और अनुभागकाण्डकके द्वारा अप्रशस्त (अशुभ-पाप) प्रकृतियोंके अनुभागका घात होता है । हजारों अनुभागकाण्डकोंके हो जानेपर एक स्थितिकाण्डकपूर्ण होता है और अन्तिम अनुभागकाण्डकघात व स्थिति-काण्डक युगपत् समाप्त होते हैं । एक स्थितिकाण्डकका काल और स्थितिबन्धापसरणका काल परस्पर तुल्य है । सात नोकषायोंके स्थितिसत्त्वका घात करनेके लिए जो प्रथम-स्थितिकाण्डक प्रारम्भ हुआ था उसके पूर्ण होनेपर अर्थात् प्रथमस्थितिकाण्डककाल समाप्त होनेपर प्रथमस्थितिबन्धापसरणद्वारा स्थितिबन्धका बहुभाग घट जाता है अर्थात् प्रथमस्थितिबन्धापसरण पूर्ण होनेपर जो स्थितिबन्ध होता है वह पूर्वस्थितिबन्धका

संख्यातवांभागमात्र होता है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनघातिया-
कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातवर्षमात्र होता था अतः प्रथमस्थितिकाण्डककाल पूर्ण होने-
पर प्रथमस्थितिबन्धापसरणके द्वारा घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातबहुभाग घटकर
संख्यातगुणा हीन अर्थात् संख्यातवैभाग हो जाता है । इसीप्रकार प्रथमस्थितिकाण्डक-
काल पूर्ण होनेपर उसी प्रथमस्थितिबन्धापसरणके द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र इन
तीन अघातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध असंख्यातबहुभाग घटकर असंख्यातगुणाहीन अर्थात्
असंख्यातवैभाग हो जाता है । अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध असंख्यातवर्षप्रमाण होता
था इसलिए उनमें असंख्यातबहुभागका स्थितिबन्धापसरण होता है । यहां 'प्रथमस्थिति-
काण्डक पूर्ण होनेपर' ये शब्दमात्र प्रथमस्थितिकाण्डककाल अन्तर्मुहूर्त है इस बातके
द्योतक हैं; कारणके द्योतक नहीं, क्योंकि स्थितिकाण्डकद्वारा स्थितिबन्ध नहीं घटता ।
यदि कहा जाय कि स्थितिकाण्डकसे स्थितिसत्त्व और बन्ध दोनोंका घात होता है तो
स्थितिबन्धापसरणका कोई कार्य ही नहीं रहेगा ।

‘ठिदिबन्धपुधत्तगदे संखेज्जदिमं गदं तदद्वाए ।

एत्थ अघादितियाणं ठिदिबन्धो संखवस्सं तु ॥५६॥४५०॥

अर्थः—पृथक्त्व स्थितिबन्धापसरणोंके हो जानेपर सात नोकषायके क्षपणा-
कालका संख्यातवांभाग व्यतीत हो जाता है तब तीनअघातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध
संख्यातवर्षवाला हो जाता है ।

विशेषार्थः—पुरुषवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा इनसात
नोकषायोंके क्षपणाकालका संख्यातवांभाग व्यतीत हो जानेपर तब नाम व गोत्र, वेद-
नीय इन तीनअघातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध पृथक्त्वबन्धापसरणोंके द्वारा असंख्यातवर्षसे
घटकर संख्यातहजारवर्षप्रमाण हो जाता है । इन तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध
प्रत्येक स्थितिबन्धापसरणके द्वारा असंख्यातवर्ष घटता है । इसप्रकार सर्वकर्मोंका स्थिति-
बन्ध संख्यातवर्ष होने लगता है ।

‘ठिदिखंडपुधत्तगदे संखाभागा गदा तदद्वाए ।

घादितियाणं तत्थ य ठिदिसंतं संखवस्सं तु ॥६०॥४५१॥

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५४ सूत्र २३७ । घ० पु० ६ पृष्ठ ३६१ । जयधवल मूल पृष्ठ १६६६ ।

२. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७५४ सूत्र २३८ । घ. पु. ६ पृष्ठ ३६१-६२ । ज. घ. मूल पृष्ठ १६६६-७० ।

अर्थ:—पृथक्त्वस्थितिकण्डोंके हो जानेपर सात नोकषायोंके क्षपणाकालका संख्यातबहुभाग व्यतीत हो जाता है उससमय तीनघातिया कर्मोंका स्थितिसत्त्व संख्यात-वर्षप्रमाण रह जाता है ।

विशेषार्थ:—अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातवर्ष हो जानेके पश्चात् जब 'पृथक्त्व' अर्थात् बहुत स्थितिकाण्डक व्यतीत हो जाते हैं और पुरुषवेद व हास्यादिछह नोकषायोंके क्षपणाकालका संख्यातबहुभाग व्यतीत हो जाता है तथा संख्यातवांभाग शेष रह जाता है उससमय ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया-कर्मोंका स्थितिसत्कर्म संख्यातवर्षप्रमाण रह जाता है । जो स्थितिसत्त्व पूर्वमें असंख्यात-वर्षवाला था वह स्थितिकाण्डकोंके द्वारा घातित होकर संख्यातवर्षमात्र रह जाता है, क्योंकि सात नोकषायके क्षपणकालमें संख्यातहजारवर्ष आयामवाला भी स्थितिकाण्डक होता है । यहांसे लेकर तीन (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय) घातिया कर्मोंके प्रत्येक स्थितिबन्धापसरण और स्थितिकाण्डकके पूर्ण होनेपर स्थितिबन्ध एवं स्थितिसत्त्व संख्यातगुणे हीन होते जाते हैं । स्थितिकाण्डकायाम व स्थितिबन्धापसरणका विषय भी संख्यातगुणा है । स्थितिकाण्डकके पूर्ण होनेपर नाम, गोत्र व वेदनीयकर्मका स्थितिसत्त्व असंख्यातगुणाहीन हो जाता है । इस क्रमसे तबतक जाते हैं जबतक कि सात नोकषायोंके संक्रामकका अन्तिमस्थितिबन्ध होता है ।

पडिसमयं अशुहाणं रसबंधुदया अणंतगुणहीणा ।

बंधोवि य उदयादो तदणंतरसमय उदयोथ ॥६१॥४५२॥

अर्थ:—अशुभप्रकृतियोंका अनुभागबन्ध व अनुभाग उदय प्रतिसमय अनन्त-गुणाहीन होता है । अनुभागउदयसे अनुभागबन्ध अनन्तगुणाहीन होता है, किन्तु इस बन्धसे अनन्तरसमयमें होनेवाला उदय अनन्तगुणाहीन होता है ।

विशेषार्थ:—अशुभप्रकृतियोंके अनुभागका उदय पूर्वसमयमें बहुत होता है । इससे अनन्तर उत्तरसमयमें अनुभागोदय अनन्तगुणाहीन होता है । इसप्रकार आगे-आगेके समयोंमें अनुभागका उदय अनन्तगुणा-अनन्तगुणाहीन होता है । अर्थात्

अप्रशस्तप्रकृतियोंके अनुभागका प्रतिसमय अनन्तगुणितहीन श्रेणिरूपसे वेदन (उदय) होता है^१ ।

“विवक्षितसमयमें अप्रशस्तप्रकृतियोंका जो अनुभागबन्ध होता है वह स्तोक है, उसीसमयमें बन्धसे अनुभागोदय अनन्तगुणा होता है अर्थात् अनुभागोदयसे अनुभागबन्ध अनन्तगुणाहीन होता है, क्योंकि अनुभागोदय चिरंतनसत्त्वके अनुरूप है अर्थात् पूर्ववद्ध अनुभागका उदय विवक्षितकालमें होता है और पूर्ववद्ध अनुभागसत्कर्म विवक्षितसमयमें बंधनेवाले अनुभागसे अनन्तगुणा होता है । अन्तिमसमयमें बद्ध अनुभागसे वही उदयागत गोपुच्छाका अनुभागसत्कर्म अनन्तगुणा है, उससे द्विचरमसमयमें होनेवाला अनुभागबन्ध अनन्तगुणा है, उससे वही उदयागत गोपुच्छाका अनुभागसत्कर्म अनन्तगुणा है । इसप्रकार अपूर्वकरणके प्रथमसमयपर्यंत क्रमसे नीचे उतरना चाहिए^२ ।

विवक्षितसमयमें अनन्तर उत्तरसमयमें अशुभप्रकृतिका जो अनुभागोदय है वह विवक्षितसमयके अनुभागबन्धसे अनन्तगुणाहीन है । इसप्रकार अपूर्वकरणके प्रथमसमयसे लेकर अपनी-अपनी बन्धव्युच्छित्तिक ले जाना चाहिए ।

“बंधेण ह्योदि उदओ अहियो उदयेण संकमो अहियो ।

गुणसेहि अणंतगुणा बोधत्वा ह्योदि अणुभागे ॥६२॥४५३॥

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७७० गाथा १४६ का पूर्वार्ध एवं सूत्र ३५६ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३६२ “अणुभागबन्धो अणुभागोदओ च समयं पडि असुहाणं कम्माणमणंतगुणाहीणो” । जयधवल मूल पृष्ठ १६६६ ।

२. “वट्टमाणसमयपवद्धादो वट्टमाणसमए उदओ अणंतगुणो त्ति दट्ठव्वो । किं कारणं ? चिराण संतं सरूवत्तादो ।” (धवल पु० ६ पृष्ठ ३६२ टि० नं० ३ व जयधवल मूल पृष्ठ १६६६)

३. जयधवल पु० ५ पृष्ठ १४६ । क० पा० सुत्त पृष्ठ ७७० सूत्र ३४६ से ३५२ व गाथा १४५ का उत्तरार्ध । “से काले उदयादो एवं भणिए शिरुद्धसमयःदो तदनंतरोदरिमसमए जो उदओ अणुभागविसओ, तत्तो एसो संपहिसमयपवद्धो अणंतगुणो त्ति दट्ठव्वो । कुदो एवं च समए समए अणुभागोदयस्स विसोहिषाहम्मेणणंतगुणाहाणोए ओवट्ठिज्जमाणस्स तहाभावोववत्तीए । (जयधवल मूल पृष्ठ १६६६, धवल पु० ६ पृष्ठ ३६२ टि० नं० ३)

४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६६ गाथा १४३ । धवल पु० ६ पृ० ३६२ । जयधवल मूल पृष्ठ १६६३ ।

अर्थः—बन्धसे अधिक उदय और उदयसे अधिक संक्रमण होता है । इसप्रकार अनुभागके विषयमें अनन्तगुणित गुणश्रेणि जानना चाहिए अर्थात् यहां अधिकका प्रमाण अनन्तगुणा है ।

विशेषार्थः—अनुभागकी अपेक्षा तत्काल होनेवाला बन्ध अल्प है, बन्धसे उदय अनन्तगुणा है जो कि चिरंतनसत्त्वके अनुभागस्वरूप है, उदयसे संक्रमण अनन्तगुणा है, क्योंकि अनुभागसत्त्व अनन्तगुणाहीन होकर उदयमें आता है, किन्तु चिरंतनसत्त्वका संक्रमण तदवस्थरूपसे ही परप्रकृतिमें संक्रमित होता है । यह अल्पबहुत्वका कथन धातियाकर्मसम्बन्धी है ।

‘गुणसेढि अणंतगुणेणूणा य वेदगो दु अणुभागो ।

गणणादियंतसेढी पदेसअग्गेण बोधव्वा ॥६३॥४५४॥

अर्थः—अप्रशस्तप्रकृतियोंके अनुभागका प्रतिसमय अनन्तगुणितहीन गुणश्रेणिरूपसे वेदक होता है, किन्तु प्रदेशाग्रकी अपेक्षा गणवातिक्रान्त अर्थात् असंख्यातगुणित श्रेणिरूपसे वेदक जानना चाहिए ।

विशेषार्थः—विवक्षितसमयमें अनुभागोदय बहुत होता है । इसके अनन्तरसमयमें अनुभागका उदय अनन्तगुणा-अनन्तगुणाहीन जानना चाहिए^१ । प्रदेशोदय विवक्षित समयमें अल्प होता है, इसके अनन्तरसमयमें असंख्यातगुणा होता है । इसीप्रकार उत्तरोत्तर समयोंमें सर्वत्र असंख्यातगुणा प्रदेशोदय जानना चाहिए^२ ।

१. गुणसेढि अणंतगुणेणूणाए वेदगो दु अणुभागो । गणणादियंतसेढी पदेसअग्गेण बोधव्वा ॥१४६॥
क० पा० सुत्त पृष्ठ ७७० । धवल पु० ६ पृष्ठ ३६३ । जयधवल मूल पृष्ठ १९६६ ।

२. अस्सि समए अणुभागुदयो बहुगो । से काले अणंतगुणहीणो । एवं सव्वत्थ । (क० पा० सुत्त सूत्र ३५६ पृष्ठ ७७०) तदो समए समए अणंतगुणहीणमणंतगुणहीणमपसत्थकम्माणमणुभागमेसो वेदयदि त्ति गाहा पुब्बद्वे समुदयत्थो । (धवल पु० ६ पृष्ठ ३६३ टि० नं० १) । जयधवल मूल पृष्ठ १९६७ ।

३. पदेसमुदयो अस्सि समए थोवो । से काले असंखेज्जगुणो । एवं सव्वत्थं ॥ क० पा० सुत्त सूत्र ३५७ पृष्ठ ७७० । गणणादियंतसेढी एवं भणिदे असंखेज्जगुणाए सेढीए पदेसग्गमेसो समयं पडि वेदेदि त्ति भणिदं होई । (धवल पु० ६ पृ० ३६३ टि० नं० १)

‘बन्धोदएहिं गियमा अणुभागो होदि अंतगुण हीणो ।

से काले से काले भज्जो पुण संकमो होदि ॥६४॥४५५॥

अर्थ:—तदनन्तरकालमें बन्ध और उदयकी अपेक्षा अनुभाग नियमसे अनन्त-गुणितहीन होता है, किन्तु संक्रमण भजनीय है ।

विशेषार्थ:—विवक्षितसमयमें अनुभागबन्ध बहुत होता है और तदनन्तर उत्तरसमयमें विशुद्धिके कारण अनन्तगुणितहीन होता है । इसप्रकार प्रतिसमय अनन्त-गुणितहीन होता जाता है । तथैव अनुभागउदयकी भी प्ररूपणा करनी चाहिए अर्थात् विवक्षितसमयमें अनुभागोदय बहुत होता है और उससे अनन्तरसमयोंमें प्रतिसमय अनन्तगुणाहीन होता जाता है । यद्यपि पूर्वमें भी यह कथन किया जा चुका है तथापि सरलतापूर्वक बोध हो जावे इसलिए पुनः कथन किया गया अतः पुनरुक्तदोषकी शंका नहीं करना चाहिए । जबतक अनुभागकाण्डकका पतन नहीं होता अर्थात् जबतक एक-अनुभागकाण्डकका उत्कीर्ण होता है तबतक अवस्थितअनुभागसंक्रमण होता रहता है । अनुभागकाण्डकका पतन होनेपर अन्य अनन्तगुणाहीन अनुभागसंक्रमण होता है, क्योंकि अनुभागकाण्डकके द्वारा अवन्तबहुभाग अनुभागका घात हुआ है ।

‘संकमणं तदवट्ठं जाव दु अणुभागखंडयं पडिदि ।

अणणाणुभागखंडे आडंते अंतगुणहीणं ॥६५॥४५६॥

अर्थ:—अनुभागकाण्डकघातके पतन होनेतक तदवस्थ अर्थात् अवस्थितसंक्रमण होता है, अन्य अनुभागखंडके प्रारम्भ होनेपर पूर्वसे अनन्तगुणा घटता अनुभागसंक्रमण होता है ।

१. क० पा० सुत्त पृ० ७७२ गाथा १४८ एवं सूत्र ३६५ से ३६६ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३६३ । जय-धवल मूल पृष्ठ १६६८-६६ ।
२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७७२ पर “संकमो जाव अणुभागखंडयमुक्कीरेदि ताव तत्तिगो तत्तिगो अणु-भागसंकमो । अण्णम्मिह अणुभागखंडे आडंते अणंतगुणहीणो अणुभागसंकमो ।” सूत्र ३६६ । “जाव अणुभागखंडयं पादेदि ताव अवट्ठिदो चेव संकमो भवदि, अणुभागखंडे पुण पदिदे अणु-भागसंकमो अणंतगुणहीणो जायदि त्ति ।” (धवल पु० ६ पृष्ठ ३६३ टि० नं० २), जयधवल मूल पृष्ठ १६६८ ।

विशेषार्थः—अनुभागकाण्डकका काल अन्तर्मुहूर्त है, अनुभागकाण्डककालमें प्रतिसमय एक-एक फालिका पतन होता है । फालिपतनसे यद्यपि फालीप्रमाण कर्म-प्रदेशोंका अनुभाग अनन्तगुणाहीन हो जाता है, किन्तु शेष कर्मप्रदेशोंमें उतना ही रहता है । अनुभागकाण्डकके शेष सर्व कर्मप्रदेशोंका अन्तिमफालिद्वारा ग्रहण होता है अतः अन्तिमफालिके पतनके समय सर्वप्रदेशोंमेंसे अनुभागघात होकर अनन्तगुणाहीन हो जाता है । जबतक अन्तिमफालीका पतन नहीं होता तबतक अनुभागकाण्डककालमें अनुभाग-सत्कर्म उतना ही रहता है इसलिए अनुभागसंक्रमण भी उतना ही अवस्थितरूपसे होता रहता है । अनुभागकाण्डककी अन्तिमफालीके पतन होनेपर अनुभागसत्कर्म अनन्तगुणा-हीन हो जानेसे अनुभागसंक्रमण भी अनन्तगुणाहीन होता है । यही क्रम अन्य अनुभाग-काण्डकोंके विषयमें भी जान लेना चाहिए ।

‘सत्तएहं संकामगचरिमे पुरिसस्स बंधमडवस्सं ।

सोलस संजलणाणं संखसहस्साणि सेसाणं ॥६६॥४५७॥

अर्थः—सातकर्मोंके संक्रमणके अन्तिमसमयमें पुरुषवेदका आठवर्षप्रमाण, संज्वलनकषायोंका १६ वर्षप्रमाण एवं शेष छहकर्मोंका संख्यातहजारवर्षप्रमाण स्थिति-बन्ध होता है ।

विशेषार्थः—पुरुषवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा इन सात नोकषायरूप कर्मोंके संक्रामक अर्थात् क्षपकके अन्तिम स्थितिबन्ध संख्यातहजारवर्षसे यथाक्रम घटकर पुरुषवेदका आठवर्षप्रमाण, सञ्ज्वलन क्रोध-मान-माया व लोभका १६ वर्षप्रमाण और शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, वेदनीय, नाम व गोत्र इन घातिया-अघातियारूप छहकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजारवर्षप्रमाण होता है । यहाँपर पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छिस्ति हो जानेसे पुरुषवेदका यह आठवर्षवाला जघन्यस्थिति बन्ध होता है तथा शेषकर्मोंका जघन्यस्थितिबन्ध अपनी-अपनी बन्धव्युच्छिस्तिके समय होता है । इन उपर्युक्त पुरुषवेदादि सातकर्मोंका क्षय क्रोधसञ्ज्वलनमें संक्रमणके द्वारा होता है अतः गाथामें ‘क्षपक’ के स्थानपर ‘संक्रामक’ शब्दका प्रयोग किया गया है । यहाँपर संक्रामकका अभिप्राय क्षपकसे ही है ।

'ठिदिसंतं घादीणं संखसहस्साणि हौति वस्साणं ।

हौति अघादितियाणं वस्साणमसंखमेत्ताणि ॥६७॥४५८॥

अर्थ:—उसीसमय घातियाकर्मोंका स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्ष होता है और अघातियाकर्मोंका असंख्यातवर्ष होता है ।

विशेषार्थ:—सात नोकषायरूप कर्मोंका संक्रमणवाले जीवके अन्तिमसमयमें मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन चारघातिया कर्मोंका स्थितिसत्कर्म संख्यातहजारवर्षप्रमाण होता है, क्योंकि घातियाकर्म होनेसे अतिअप्रशस्त है अतः स्थिति-खण्डके द्वारा इनकी अधिक स्थितिका घात होता है । नाम-गोत्र और वेदनीय इनतीन-अघातियाकर्मोंका स्थितिसत्त्व असंख्यातवर्षप्रमाण है, क्योंकि अघातिया होनेके कारण घातियाकर्मोंको अपेक्षा इनका स्थितिघात अल्प होता है ।

'पुरिसस्स य पढमट्ठिदि, आवलिदोसुवरिदासु आगाला ।

पडिआगाला छिण्णा, पडिआवलियादुदीरणदा ॥६८॥४५९॥

अर्थ:—पुरुषवेदकी प्रथमस्थितिमें दोआवलिमात्र शेष रह जानेपर आगाल व प्रत्यागालकी व्युच्छिन्ति हो जाती है और मात्र प्रत्यावलि शेष रह जानेपर उदीरणा व्युच्छिन्न हो जाती है ।

विशेषार्थ:—प्रथम और द्वितीयस्थितिके प्रदेशपुञ्जोंके उत्कर्षण-अपकर्षणवश परस्पर विषयसंक्रमको आगाल व प्रत्यागाल कहते हैं । द्वितीयस्थितिके प्रदेशपुञ्जका प्रथमस्थितिमें आना आगाल तथा प्रथमस्थितिके प्रदेशपुञ्जका प्रतिलोमरूपसे द्वितीय स्थितिमें जाना प्रत्यागाल है । इसप्रकार पुरुषवेदकी प्रथमस्थितिमें एकसमयअधिक दो-आवलियाँ शेष रहनेतक आगाल और प्रत्यागाल होते हैं । पुरुषवेदकी प्रथमस्थितिमें आवलि और प्रत्यावलिमात्रके शेष रहनेपर आगाल और प्रत्यागाल उपपादानुच्छेदके द्वारा व्युच्छिन्न हो जाते हैं अथवा परिपूर्ण आवलि और प्रत्यावलिके शेष रहनेपर

१. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७५५ सूत्र २४६-४७ । व० पु० ६ पृ० ३६३ । ज० ध० मूल पृष्ठ १६७१ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५५ सूत्र २४६, धवल पु० ६ पृष्ठ ३६४ । जयधवल मूल पृष्ठ १६७१ । यह गाथा ल० सार गाथा २६४ के समान है ।

आगाल-प्रत्यागाल होकर पुनः तदनन्तरसमयमें एकसमयकम दोआवलि शेष रहनेपर आगाल और प्रत्यागाल अनुपपादानुच्छेदके द्वारा व्युच्छिन्न हो जाते हैं, यह उक्त गाथा-का अभिप्राय है, क्योंकि उत्पादानुच्छेदका आश्रयलेकर सद्भावके अन्तिमसमयमें ही उसके अभावका विधान गाथामें किया गया है । यहीसे पुरुषवेदको गुणश्रेणी भी नहीं होती । 'प्रत्यावलिमें से ही असंख्यातसमयप्रवृद्धोंकी उदीरणा होती है' ।

पुरुषवेदकी प्रथमस्थितिमें एकसमयअधिक आवलि शेष रहनेपर अधन्यस्थिति-उदीरणा होती है^१ । अर्थात् पुरुषवेदकी प्रथमस्थिति जब समाप्त हो जाती है और मात्र उदयावलि एवं उसके ऊपर तदनन्तर एक निषेक रह जाता है उससमय उदयावलिसे बाह्य एकनिषेककी स्थिति एकसमयअधिक उदयावलिमात्र है । तदनन्तरसमयमें वह निषेक भी उदयावलिमें प्रवेश कर जाता है सब पुरुषवेदकी उदीरणा भी व्युच्छिन्न हो जाती है और वह चरमसमयवर्ती सवेदी होता है । उदयावलिप्रमाण निषेकोंका प्रति-समय परमुखउदय होता रहता है, स्वमुखउदय नहीं होता ।

अंतरकदपढमादो कोहे छणोकसाययं छुहदि ।

पुरिसस्स चरिमसमए पुरिसवि एणेण सव्वयं छुहदि ॥६६॥४६०॥

समऊणदोरिणआवलिपमाणसमयपबद्धणवबंधो ।

विदिये ठिदिये अत्थि हु पुरिसस्सुदयावली^२ च ॥७०॥४६१॥

१. उदयावलिसे बादकी (ऊपरकी) आवलिको प्रत्यावलि कहते हैं ।

२. जयधवल पु० १३ पृष्ठ २८५-८६ ।

३. "समयाहियाए आवलियाए सेसाए जहणिया ठिदि उदीरणा" (क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५५ सूत्र २५०; धवल पु० ६ पृष्ठ ३६४; जयधवल मूल पृष्ठ १६७१)

४. "अंतरादो दु समयकदादो पाए छणोकसाए कोहे संछुहदि" ॥२४८॥ क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५५ । "अंतरादो पढमसमयकदादो पाए छणोकसाए कोहे संछुहदि ।" (धवल पु० ६ पृष्ठ ३६४) "तदो चरिमसमयपुरिसवेदओ जादो । तावे छणोकसाया संछुह्वा । पुरिसवेदस्स जाओ दो-आवलियाओ समयूणाओ एत्तिगा समयपबद्धा विदियट्ठिदोए अत्थि, उदयट्ठिदो च अत्थि, सेसं पुरिसवेदस्स संतकम्मं सव्वं संछुह्वा ।" (क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५५ सूत्र २५१ से २५३; धवल पु० ६ पृष्ठ ३६४; जयधवल मूल पृष्ठ १६७१-७२)

५. 'उदयावली' इत्येत्यस्थाने 'उदयट्ठिदि' इति पाठो वर्तते ध० पु० ६ पृष्ठ ३६४ एवं क० पा० सुत्त पृष्ठ ७५५ सूत्र २५३, (जयधवल मूल पृष्ठ १६७२) ।

अर्थः—अन्तरकृत अर्थात् अन्तरकरण कर चुकनेके पश्चात् प्रथमसमयसे लेकर छह नोकषायोंको संज्वलनक्रोधमें स्थापित करता है । पुरुषवेदके अन्तसमयमें छह नोकषायोंका सर्वद्रव्य संक्रमणको प्राप्त हो चुकता है और उसीसमय पुरुषवेदका भी पुरातन सर्वद्रव्य संज्वलनक्रोधमें संक्रान्त हो जाता है, किन्तु एकसमयकम दोआवलि-प्रमाण नवकसमयप्रबद्ध द्वितीयस्थितिमें है और उदयावलि भी है ।

विशेषार्थः—अन्तरकरण करनेकी क्रिया समाप्त हो जानेके पश्चात् प्रथमसमय में अथवा अन्तरकृत दूसरे समयमें (अन्तरकृत प्रथमसमयके पश्चात्का दूसरासमय) आनुपूर्वीक्रमसे संक्रमणके नियमानुसार छह नोकषायोंको संज्वलनक्रोधमें संक्रमण करता है अन्यत्र संक्रमण नहीं करता है । सवेदभागके द्विचरमसमयमें पुरुषवेदके सत्तामें स्थित पुरानेकर्मोंका और छह नोकषायोंकी अन्तिमफालिका सर्वसंक्रमद्वारा क्रोधसंज्वलनमें संक्रमण करता है । तदनन्तरवेदका अनुभव करनेवाला सवेदभागके चरमसमयसे लेकर एकसमयकम दोआवलि कालतक पुरुषवेद और चारसंज्वलन इन पांचप्रकृतियोंकी सत्तावाला होता है^३, क्योंकि पुरुषवेदका एकसमयकम दोआवलिप्रमाण नवकसमयप्रबद्ध और उच्छिष्टावली (उदयावली) का द्रव्य शेष है ।

दोसमयकम दोआवलियोंमें जितने समयप्रबद्ध होते हैं उतने समयप्रबद्ध प्रथम-समयवर्ती अपगतवेदीके होते हैं ।

शंका—दोआवलियोंमें किसकारणसे दोसमयकम किये गए हैं ?

समाधानः—अपगतवेदीके प्रथमसमयसे लेकर आगेकी एकआवलिप्रमाणकाल अपगतवेदकी प्रथमावलि है और इससे आगेकी दूसरी आवलिप्रमाणकाल उसकी दूसरी आवलि है, क्योंकि इनका सम्बन्ध अपगतवेदसे है । उस द्वितीयावलिके त्रिचरमसमय-तक अन्तिमसमयवर्ती सवेदीके द्वारा बांधा गया कर्म दिखाई देता है, क्योंकि एकसमय-कम दोआवलिके अतिरिक्त और अधिककालतक विवक्षित नवकसमयप्रबद्धका अवस्थान नहीं पाया जाता । अपगतवेदीके एकसमयकम एकावलिकालतक नवकसमयप्रबद्ध-विलोप नहीं होता अर्थात् तदवस्थ रहता है, क्योंकि बन्धावलिकालमें उसका अन्यप्रकृति संक्रमण नहीं होता तथा संक्रमणका प्रारम्भ होनेपर भी एकसमयकम एकआवलिप्रमाण कालमें

भी वह निर्लेप नहीं होता, क्योंकि संक्रमणावलि के अन्तिम समयमें उसका अभाव पाया जाता है इसलिए अपगतवेदीकी द्वितीयआवलि के तृतीयसमय तक वह समयप्रबद्ध पाया जाता है तथा उस द्वितीयआवलि के द्विचरमसमयमें अकर्मभावको प्राप्त होता है, क्योंकि सवेदीके अन्तिमसमयसे गिननेपर वहां पूरी दो आवलियां पाई जाती हैं । उपान्तसमय-वर्ती सवेदीने जो पुरुषवेदकर्म बाँधा है वह अपगतवेदीके द्वितीयआवलि के चतुःचरम-समय तक दिखाई देता है और त्रिचरमसमयमें अकर्मपक्षको प्राप्त होता है, क्योंकि अप-गतवेदीकी दोसमयकम प्रथमावलिसे बंधावलि बिताकर प्रथम आवलि के द्विचरमसमयमें इस नवकसमयप्रबद्धका संक्रमण प्रारम्भ होता है एवं अपगतवेदीको द्वितीयआवलि के त्रिचरमसमयमें वह नवकसमयप्रबद्ध अकर्मभावको प्राप्त होता है । बन्धसमयसे लेकर यहाँ तक गिननेपर पूरी दो आवलियां हो जाती है । जो कर्म सवेदीने त्रिचरमसमयमें बाँधा है वह अपगतवेदीके द्वितीयआवलि के पंचमचरमसमय तक दिखाई देता है । जो पुरुषवेदकर्म सवेदीने अपने चतुर्थ समयमें बाँधा है वह अपगतवेदीको द्वितीयआवलि के षष्ठम चरमसमय तक दिखाई देता है । इसी प्रकार अन्तिमआवलि के प्रथमसमय तक ले जाना चाहिए । सवेदभागकी अन्तिमआवलि के प्रथमसमयमें जो पुरुषवेदकर्म बाँधा है वह अपगतवेदीकी प्रथमआवलि के अन्तिमसमयमें अकर्मभावको प्राप्त होता है, क्योंकि कर्मबन्धके समयसे गिनती करनेपर अपगतवेदीकी प्रथमआवलि के अन्तिमसमयमें बन्धा-वलि और संक्रमावलि इस प्रकार वहाँ तक पूरी दो आवलियोंका प्रमाण पाया जाता है एवं नवकसमयप्रबद्ध एकसमयकम दो आवलिसे अधिककाल तक नहीं रहता है, क्योंकि और अधिककाल तक इसके रहनेका निषेध है । सवेदीने अपनी द्विचरमावलि के प्रथम-समयमें जो कर्म बाँधा है वह सवेदीके अन्तिमसमयमें अकर्मभावको प्राप्त होता है, क्योंकि नवकबन्धके समयसे लेकर गिनती करनेपर वहाँ पूर्ण दो आवलियां पाई जाती हैं । जो कर्म सवेदीकी उसी द्विचरमावलि के द्वितीयसमयमें बाँधा है वह अपगतवेदीके प्रथमसमयमें अकर्मभावको प्राप्त होता है, क्योंकि नवकबन्धके समयसे लेकर अपगतवेदके प्रथमसमयमें पूर्ण दो आवलियां पाई जाती हैं ।

इस प्रकार सवेदभागकी द्विचरमावलि के प्रथम और द्वितीयसमयमें बन्धको प्राप्त हुए समयप्रबद्ध अपगतवेदके प्रथमसमयमें नहीं हैं, किन्तु सवेदभागकी दोसमयकम द्विचरमावलि और चरमावलि सम्बन्धी सर्व समयप्रबद्ध पाए जाते हैं^१, क्योंकि सवेद-

भागको द्विचरमावलिके दूसरे समयमें बंधा समयप्रबद्ध अवेदभागके प्रथमसमयमें अकर्म-
भावको प्राप्त होता है अतः गाथा ७०में सवेदभागकी द्विचरमावलीके प्रथमसमयप्रबद्ध-
को [कर्मकरके ही] “सभञ्ज दोष्णि आवलिय” अर्थात् एकसमयकम दोआवलि कहा
गया है ।

अथानन्तर अश्वकर्णकरणका स्वरूप कहते हैं—

‘से काले ओवट्टणिउवट्टण अस्सकण्ण आदोलं ।

करणं तियसण्णगदं संजलणरसेसु वट्ठिहिदि ॥७१॥४६२॥

अर्थः—(अन्तिमसमयवर्ती पुरुषवेदके) “से काले” अनन्तरसमयमें अपवर्तन-
उद्वर्तन, अश्वकर्णकरण, आदोलकरण ऐसा तीन वामवाला करण संज्वलनकषायके अनु-
भागमें प्रवृत्त होता है ।

विशेषार्थः—अश्वकर्णकरण, आदोलकरण, अपवर्तनोद्वर्तनकरण ये तीनों एकार्थक
नाम हैं । अश्वकर्ण अर्थात् घोड़ेके कानके समान जो क्रोधसंज्वलनसे लोभसंज्वलनतक
अनुभागस्पर्धक क्रमसे हीयमान होते हुए चले जाते हैं उनको अश्वकर्णकरण कहते हैं ।
आदोल हिंडोलेको कहते हैं, जिसप्रकार हिंडोलेके स्तम्भ और रस्सीके अन्तरालमें घोड़ेके
कान सदृश त्रिकोणाकार दिखता है इसीप्रकार यहाँ भी क्रोधादि संज्वलनकषायोंके
अनुभागका सन्निवेश भी क्रमसे घटता हुआ दिखता है अतः इसे आदोलकरण भी कहते
हैं । क्रोधादिकषायोंका अनुभाग क्रोधसे लोभकषायपर्यन्त हानिरूप और लोभसे क्रोध-

१. किन्तु धवल पु० ६ पृ० ३६४ पर टिप्पण नं० १ में “से काले ओवट्टणि उवट्टण अस्सकण्ण
आदोलं” इति । गाथाके पूर्वार्धका यह पाठ शुद्ध प्रतिभासित होता है । अतः लब्धिसार-अपणा-
सार मुद्रितप्रतिमें छपे “से काले ओवट्टणिउवट्टण अस्सकण्ण आदोलं” के स्थानपर उपर्युक्त शुद्ध
पाठ ही दिया है । ‘अस्सकण्णकरणे त्ति वा आदोलकरणे त्ति ओवट्टण-उवट्टणकरणे त्ति वा
तिणिण्ण णामाणि अस्सकण्णकरणस्स” क० पा० सुत्त पृ० ७८७ सूत्र ४७२ । जयधवल मूल
पृ० २०२२ ।

तक वृद्धिरूप अर्थात् हानि-वृद्धिरूप दिखाई देनेके कारण इसे अपवर्तनोद्भूतनकरण भी कहते हैं ।

छह नोकषायका द्रव्य और पुरुषवेदका प्राचीनसत्कर्म सर्वसंक्रमणद्वारा क्रोधमें संक्रांत हो जानेके अनन्तरसमयमें प्रथमसमयवर्ती अवेदी होता है उसी समयमें प्रथमसमयवर्ती अश्वकर्णकरणकारक होता है अर्थात् क्रोधसे लोभतक चारों संज्वलनकषायोंका अनुभाग-क्रमसे हीयमान हो जाता है । क्रोधके अनुभागसे मानका अनुभाग हीयमान, मानसे मायाका अनुभाग हीयमान और मायासे लोभका अनुभाग हीयमान हो जाता है ।

‘ताहे संजलणाणं ठिदिसंतं संखवस्सयसहस्सं ।

अंतोमुहुत्तहीणो सोलसवस्साणि ठिदिबंधो ॥७२॥४६३॥

अर्थः—‘ताहे’ वहां अश्वकर्णकरणके प्रथमसमयमें संज्वलनकषायोंका स्थिति-सत्त्व संख्यातहजारवर्ष है और स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम सोलहवर्ष है ।

विशेषार्थः—यद्यपि सात नोकषायोंके क्षपणकालमें सर्वत्र संज्वलनकषायोंका स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्ष ही था, किन्तु अश्वकर्णकरण करनेके प्रथमसमयमें वह संख्यात-सहस्र स्थितिकांडकोसे संख्यातगुणितहानिके द्वारा पर्याप्तरूपसे घटकर उससे संख्यातगुणित-हीन हो जाता है । सवेदके अंतिमसमयमें चारोंसंज्वलनकषायोंका स्थितिबंध पूर्ण १६वर्षप्रमाण था वह स्थितिबंध वहींपर समाप्त हो जाता है । अश्वकर्णकरणके अर्थात् अवेदके प्रथमसमयमें

१. अश्वस्य कर्णः अश्वकर्णः, अश्वकर्णवत्करणमश्वकर्णकरणम् । यथाश्वकर्णः अग्रात्प्रभृत्यामूलात् क्रमेण हीयमानस्वरूपो दृश्यते, तथेदमपि कर्णं क्रोधसंज्वलनात्प्रभृत्यालोभसंज्वलनाद्यथाक्रम-मनन्तगुणहीनानुभागस्पर्धकसंस्थानव्यवस्थाकरणमश्वकर्णकरणमिति लक्ष्यते । संपहि आदोलन-करणसण्णाए अस्थो वुच्चदे—आदोलं णाम हिदोलमादोलमिवकरणमादोलकरणं । यथा हिदो-लत्थंभस्स वरत्ताए च अंतराले तिकोणं होदूरा कण्णायारेण दोसइ, एवमेत्थ वि कोहादिसंजल-णाणामणुभागसंणिवेसो कमेण हीयमाणो दोसइ त्ति एदेण कारणेण अस्सकण्णकरणस्स आदोल-करणसण्णा जादा । एवमोवट्ठण-उब्बट्ठणकरणेत्ति एसो वि पज्जायसदो अणुगयदो दट्ठवो, कोहादिसंजलणाणामणुभागविण्णासस्स हाणिवड्डिसरूवेणावट्ठणं पेक्खियूण तत्थ ओवट्ठणुब्बट्ठण-सण्णाए पुब्बाइरिएहि पयट्ठिवेदस्तादो । क० पा० सुत्त पृ० ७५५-५६ । अवल पु० ६ पृष्ठ ३६४ टिप्पण नं० ५ ।

२. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७८८ सूत्र ४७४-७५ । घ. पु. ६ पृष्ठ ३६५ । ज. घ. मूल पृष्ठ २०२२-२३ ।

अन्यस्थितिबन्ध प्रारम्भ होता है । प्रत्येक स्थितिबन्धमें अन्तर्मुहूर्तस्थितिका अपसरण होता है अतः अवेदके प्रथमसमयमें अन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम १६ वर्षका होता है । तीनघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध व सत्त्व संख्यातहजारवर्ष है । तीन अघातिया-कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजारवर्ष और सत्त्व असंख्यातवर्ष है ।

‘रससंतं आगहिदं खंडेण समं तु माणगे कोहे ।

मायाए लोभेवि य अहियकमा होति बंधेवि ॥७३॥४६४॥

अर्थः—अश्वकर्णकरणको प्रारम्भ करनेवालेने अनुभागखण्डके द्वारा अनुभाग-को घातकरनेके लिए जिस अनुभागसत्त्वको ग्रहण किया है वह अनुभागसत्त्व मान, क्रोध, माया और लोभमें विशेषअधिक क्रमसे हैं । अनुभागबन्धभी इसी क्रमसे होता है ।

विशेषार्थः—अश्वकर्णकरणको प्रारम्भ करनेवालेने जिस अनुभागसत्त्वमें से अनुभागखण्डको ग्रहण किया है उसकालमें (अवेदीके प्रथमसमयमें) उस अनुभागसत्त्वका यह अल्प बहुत्व है—अनुभागसत्त्व मानमें स्तोक, क्रोधमें विशेषअधिक, मायामें विशेषअधिक और लोभमें विशेषअधिक है अर्थात् अतिवृत्तिकरण नामक ९वें गुणस्थानके अवेदभागके प्रथमसमयमें जब अश्वकर्णकरणका प्रारम्भ होता है और अनुभागको घात-करनेके लिए अनुभागकाण्डको (आगहिदं) ग्रहण करता है उसके साथ रहनेवाला अनुभागसत्त्व इसप्रकार है—मानमें अनुभागसत्त्व स्तोक, उससे क्रोधका अनुभागसत्त्व विशेषअधिक, उससे मायाका अनुभागसत्त्व विशेषअधिक और उससे लोभका अनुभाग-

१. “चरिमसमयसवेदस्त ठिदि बंधो संजलाणं संपुण्णसोलसवस्समेत्तो तम्मि चेव पज्जवसिदो । तदो ठिदिबंधे समत्ते पढमसमय अवेदो अण्णं ठिदिबंधमाढवेइमाणो संजलाणाणं पुब्बित्तलठिदिबंधादो अंतोमुहत्तूणं ठिदिबंधमाढवेइ एत्तो पाए संजलणाणं ठिदिबंधोअपसरणस्स अंतोमुहत्तपमाणत्तादो ।” (जयधवल पु० १३ पृ० २८६-६०)

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७८८ सूत्र ४७६-४८० । ध० पु० ६ पृष्ठ ३६५ । जयधवल मूल पृष्ठ २०२३ ।

३. “अणुभागसंतकम्मं सह आगाइदेण माणे थोवं ॥४७६॥ क. पा. सुत्त पृष्ठ ७८८ ।” “अणुभागसंत-कम्मं आगाइदेण सह माणे थोवं, कोहे विसेसाहियं, मायाए विसेसाहियं, लोभे विसेसाहियं” (जयधवल पु० ६ पृष्ठ ३६५)

४. धवल पु० ६ पृष्ठ ३६५ टि० नं० २ । जयधवल मूल पृष्ठ २०२३ ।

सत्त्व विशेषअधिक होता है। यहां विशेषअधिकका प्रमाण अनन्त अविभागप्रतिच्छेद है। अनुभागका यह अल्पबहुत्व अन्तदीपक है, इससे नीचे भी संज्वलनके अनुभाग-सत्त्वमें अल्पबहुत्वका यही विधान है और अनुभागबन्ध भी इसी अल्पबहुत्व विधिके क्रमसे होता है।

‘रसखंडफड्डयाओ कोहादीया हवन्ति अहियकमा ।

अवसेसफड्डयाओ लोहादि अणंतगुणितकमा ॥७४॥४६५॥

अर्थ:—अनुभागखण्डके लिए ग्रहण किये गए स्पर्धक क्रोधादि कषायोंमें विशेष-अधिक क्रमसे होते हैं, किन्तु घात होनेके पश्चात् शेष रहे स्पर्धक लोभादिकषायोंमें अनन्तगुणितक्रमसे होते हैं।

विशेषार्थ:—शङ्का:—अश्वकर्णकरणसे नीचे अशेष अनुभागकाण्डकीमें मानके स्पर्धक स्तोक, उससे विशेषअधिक क्रोधके, इससे विशेषअधिक मायाके और इससे विशेषअधिक लोभके स्पर्धक प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि अनुभागसत्त्वके अनुसार अनुभाग-काण्डकघातोंमें अल्पबहुत्व होता है, किन्तु अश्वकर्णकरणसम्बन्धी अनुभागकाण्डकमें क्रोधके स्पर्धक सबसे स्तोक और उससे मानसे लोभपर्यन्त स्पर्धक विशेषअधिक क्रमसे क्यों ग्रहण किए गये ?

समाधान:—अश्वकर्णकरणमें घातसे बचे हुए शेष अनुभागका लोभसे अनन्त-गुणा मायाका, मायासे अनन्तगुणा मावका और मानसे अनन्तगुणा क्रोधका, ऐसा क्रम होता है जो गाथामें कथित अनुभागके द्वारा ही सम्भव है अन्यप्रकार घातके द्वारा संभव नहीं है। अथवा अपूर्वस्पर्धक विधानके पश्चात् क्षय होनेवाले कर्मोंमें जिनका मन्दउदय होकर घात होता है उनके अनुभागसत्त्वका बहुत घात होता है। लोभका सबसे अंतमें घात होनेसे उसका मन्दतम उदय होकर घात होता है अतः अश्वकर्णकरणके प्रथम-समयमें लोभके अधिकस्पर्धक घातके लिए ग्रहण होते हैं उससे पूर्व मायाका मन्दतम उदय होकर घात होता है और उससे भी पूर्व मानका मन्दउदय होकर घात होता है। क्रोधका सर्वप्रथम घात होवेसे उसके अनुभागका मानके समान मन्दउदय होकर घात नहीं होता, किन्तु मावकी अपेक्षा विशेषअधिक अनुभागके साथ घात होता है। इसलिए

अश्वकर्णकरणके प्रथमसमयमें अनुभागखण्डके लिए ग्रहण किए गये स्पर्धक क्रोधके स्तोक, मानके विशेषअधिक, उससे मायाके विशेषअधिक और उससे लोभके विशेषअधिक इस-क्रमसे होते हैं ।

क्रोधमें जितना अनुभाग छोड़कर शेषको घात करनेके लिए ग्रहण किया जाता है मानमें उसका अनन्तवांभाग छोड़कर शेषको घात करनेके लिये ग्रहण करते हैं । इसीप्रकार माया व लोभमें भी जानना चाहिए । इसका स्पष्टीकरण निम्न अङ्कसंहितसे हो जाता है ।

घातसे पूर्व क्रोधादि चारसंज्वलनकषायोंके अनुभागका क्रम [६६।६५।६७।६८]
 घातके लिए ग्रहण किये गए स्पर्धक [६४।७६।८१।६४]
 क्रोधादिके शेष स्पर्धक [३२।१६।८।४]

घातसे पूर्व क्रोधादि कषायोंके अनुभागका अल्पबहुत्व घातके लिए ग्रहण किये गए स्पर्धकोंका अल्पबहुत्व तथा क्रोधादिके शेष अनुभागका अल्पबहुत्व ये तीनों अल्प-बहुत्व उपर्युक्त अङ्कसंहितसे स्पष्ट हो जाते हैं ।

अश्वकर्णकरणके प्रथमसमयमें होनेवाले अपूर्वस्पर्धकोंका कथन करते हैं--

'ताहे संजलणाणं देसावरफड्डयस्स हेट्ठादो ।

एतंगुणमपुव्वं फड्डयमिह कुणदि हु अणंतं ॥७५॥४६६॥

अर्थः—वहाँ अर्थात् अश्वकर्णकरणके प्रथमसमयमें ही संज्वलनकषायोंके देश-घाति जघन्यस्पर्धकके नीचे अनन्तगुणितहानिके क्रमसे अनन्त अपूर्वअनुभागस्पर्धकों को करता है ।

विशेषार्थः—अश्वकर्णकरण करनेके प्रथमसमयमें ही क्रोध-मान-माया और लोभरूप चार संज्वलनकषायोंके अपूर्वस्पर्धक करता है ।

अपूर्वस्पर्धक—जो स्पर्धक पूर्वमें कभी प्राप्त नहीं हुए, किन्तु अपकश्रेणीमें ही अश्वकर्णकरणके कालमें प्राप्त होते हैं और जो संसारावस्थामें प्राप्त होनेवालेपूर्वस्पर्धकों से अनन्तगुणितहानिके द्वारा क्रमशः हीयमान स्वभाववाले हैं वे अपूर्वस्पर्धक हैं^२ ।

१. क०पा० सुत्त पृ० ७८६ सूत्र ४६०-४६६ । घ.पु. ६ पृष्ठ ३६५-६६ । ज. घ. मूल पृष्ठ २०२५ ।
 २. कान्ति अपुव्वफड्डयाणि एणम ? संसारावस्थाए पुव्वमलद्वप्पसरूवाणि खवगसेढीए चैव अस्स-
 करणद्धाए समुल्लभमाणसरूवाणि पुव्वफड्डाहिंतो अणंतगुणहानीए ओवट्टिज्जमाणसहावाणि
 जाणि फड्डयाणि ताणि अपुव्वफड्डयाणि त्ति भणन्ते । (ज० ध० मूल पृष्ठ २०२५)

शङ्का:—पूर्वस्पर्धकोंके अनुभागको अपवर्तनके द्वारा अनन्तगुणाहीन करके यदि अपूर्वस्पर्धक रचे जाते हैं तो उनको कृष्टिसंज्ञा क्यों नहीं दी गई ?

समाधान:—जितकी उत्तरोत्तर वर्गणाओंमें अविभागप्रतिच्छेद क्रमसे विशेष-अधिक या हीन होते हैं तो उनकी स्पर्धक संज्ञा है, किन्तु कृष्टियोंमें अनन्तगुणी वृद्धि-हानिका क्रम होता है । अनन्तगुणी वृद्धि व हानिका उत्तरोत्तरक्रम अपूर्वस्पर्धकोंमें नहीं पाया जाता अतः उनकी कृष्टिसंज्ञा सम्भव नहीं है^१ ।

अनुभागस्पर्धक दो प्रकारके हैं—पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धक । पूर्वस्पर्धक वर्धमानक्रमसे हैं अर्थात् प्रथमपूर्वस्पर्धकसे द्वितीयस्पर्धकमें अनुभाग बढ़ता हुआ है, द्वितीयसे तृतीयस्पर्धकमें और तृतीयसे चतुर्थमें अनुभाग वृद्धिरूप है । अपूर्वस्पर्धकोंमें अनुभाग हीयमानक्रमसे हैं । प्रथमअपूर्वस्पर्धकसे द्वितीयमें, द्वितीयसे तृतीयमें अनुभाग हीयमान है, यही क्रम सर्व अपूर्वस्पर्धकोंमें जानना चाहिए^२ ।

सर्व अक्षपक जीवोंके सभी कर्मोंके देशघातिस्पर्धकोंकी आदिवर्गणा तुल्य है । सर्वघातियोंमें भी केवल मिथ्यात्वको छोड़कर शेष सर्वघातिकर्मोंकी आदिवर्गणा तुल्य है, इन्हींका नाम पूर्वस्पर्धक है । तत्पश्चात् वही प्रथमसमयवर्ती अवेदी जीव उन पूर्व-स्पर्धकोंसे चारों संज्वलनकषायोंके अपूर्वस्पर्धकोंको करता है उससमय क्षपकके जो डेढ़-गुणहानिप्रमाण समयप्रबद्ध हैं और पूर्वस्पर्धकोंमें यथायोग्य विभागके अनुसार अवस्थित हैं, उन्हें उत्कर्षण-अपकर्षण भागहारके प्रतिभागद्वारा असंख्यातवैभागका अपकर्षणकरके अपूर्वस्पर्धक बनानेके लिये ग्रहण करता है । पुनः उन्हें अनन्तगुणितहानिके द्वारा हीन-शक्तिवाले करके पूर्वस्पर्धकोंके प्रथमदेशघातिस्पर्धकोंके नीचे उनके अनन्तवैभागमें अपूर्व-स्पर्धक बचाता है । इसका अभिप्राय यह है कि प्रथमदेशघातिस्पर्धकोंकी आदिवर्गणामें जितने अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं उन अविभाग प्रतिच्छेदोंके अनन्तवैभागमात्र ही अवि-भागप्रतिच्छेद अपूर्वस्पर्धककी सबसे अन्तिम (आदि ?) वर्गणामें होते हैं^३ । इन अपूर्व-स्पर्धकोंका प्रमाण अनन्त है जो अभव्योंसे अनन्तगुणा और सिद्धोंके अनन्तवैभागप्रमाण है ।

१. ज० घ० मूल पृष्ठ २०२५ ।

२. वर्धमानं मतं पूर्वं हीयमानमपूर्वकं । स्पर्धकं द्विविधं ज्ञेयं स्पर्धकक्रमकोविदैः ॥ (अमितगति पंचसंग्रह १।४६)

३. जयधवल मूल पृ० २०२५-२६ ।

‘गणनादेयपदेसगुणहाणिद्वाराणफहृयाणं तु ।

होदि असंखेज्जदिमं अवरादु वरं अरांतगुणं ॥७६॥४६७॥

अर्थः—गणनाकी अपेक्षा अपूर्वस्पर्धक प्रदेशगुणहानि स्थानान्तरके स्पर्धकोंके असंख्यातवेंभागप्रमाण हैं । जघन्यअपूर्वस्पर्धकके अविभागप्रतिच्छेदोंसे उत्कृष्ट अपूर्वस्पर्धक में अनुभागसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं^१ ।

विशेषार्थः—पूर्वस्पर्धकोंकी आदिवर्गणा एक-एकवर्गणा विशेषसे घटते-घटते आधी हो जाती है उतने आयामका नाम एकगुणहानिस्थानान्तर है । इसमें अभव्योंसे अनन्तगुणे और सिद्धोंके अनन्तवेंभाग स्पर्धक होते हैं उनको उत्कर्षण-अपकर्षणभागहारसे असंख्यातगुणे भागहारके द्वारा भाग देनेपर जो प्रमाण आवे उतने अपूर्वस्पर्धक होते हैं अर्थात् एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरके स्पर्धकोंके असंख्यातवेंभागप्रमाण अपूर्वस्पर्धकोंकी संख्या (गणना) होती है, वह संख्या अभव्योंसे अनन्तगुणी और सिद्धोंके अनन्तवेंभाग-प्रमाण अनन्त है^२ ।

प्रथमसमयमें रचे गए अपूर्वस्पर्धकोंमें से प्रथम अर्थात् जघन्यस्पर्धककी आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेदसमूह सर्वजीवोंसे अनन्तगुणा होते हुए भी उपरिम पदोंकी अपेक्षा स्तोक है । द्वितीयस्पर्धककी आदिवर्गणामें अविभागप्रतिच्छेदसमूह अनन्तबहुभाग अधिक हैं^३ । प्रथमस्पर्धककी आदिवर्गणाके सदृश अविभागप्रतिच्छेदवाले परमाणुओंकी संख्यासे अविभागप्रतिच्छेदोंको गुणा करनेपर अविभागप्रतिच्छेदसमूहरूप एकपुंज होता है, उससे दूसरेस्पर्धककी आदिवर्गणाके सदृश अविभागप्रतिच्छेदवाले परमाणुओंमें सर्व अविभागप्रतिच्छेदसमूह कुछकम दुगुना होता हुआ अनन्तबहुभाग अधिक है । प्रथम-स्पर्धककी आदिवर्गणाआयामसे (आदिवर्गणा प्रदेशपुंजसे) दूसरेस्पर्धककी आदिवर्गणा-आयाम विशेषहीन है । एकस्पर्धकशलाकाप्रमाण वर्गणाविशेषके बराबर विशेषहीनका प्रमाण है । प्रथमस्पर्धककी आदिवर्गणाके एक परमाणुके अविभागप्रतिच्छेदसे द्वितीय-स्पर्धककी आदिवर्गणाके एकपरमाणुमें अविभागप्रतिच्छेद दुगुणे होते हैं । प्रथमस्पर्धककी आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेद प्रतिस्पर्धककी आदिवर्गणामें दुगुणे-तिगुणे-

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७८६ सूत्र ४६७ । धवल पु० ६ पृ० ३६६ ।

२. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७६१ सूत्र ५०१-२ । घ० पु० ६ पृ० ३६७ ।

३. ज० घ० मूल पृ० २०२७ ।

४. “अणंता भागा अणंतभागा, अणंतभागेहि उत्तरमणंतभागुत्तरं ।” (ज० घ० मूल पृष्ठ २०२७)

आदिक्रमसे बढ़ते जाते हैं । यदि प्रथमस्पर्धकका आदिवर्गणाआयाम और द्वितीयस्पर्धकका आदिवर्गणाआयाम सदृश (समान) होते तो प्रथमस्पर्धककी आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेदसमुदायसे द्वितीयस्पर्धककी आदिवर्गणाका अविभागप्रतिच्छेदसमूह दुगुणा होता है, किन्तु दोनों आदिवर्गणाआयाम सदृश नहीं है, क्योंकि प्रथमस्पर्धककी आदिवर्गणाआयामसे द्वितीयस्पर्धकका आदिवर्गणाआयाम विशेषहीन है । जितना हीन है उसको दुगुणे अविभागप्रतिच्छेद (प्रथमस्पर्धककी आदिवर्गणाके एक परमाणुगतअविभागप्रतिच्छेदका दुगुणा) से गुणा करनेपर जो अनन्तवैभागप्रमाण गुणनफल प्राप्त होता है उतना दुगुणा होनेमें कम है । जिनकी वृद्धि हुई है ऐसे शेष अविभागप्रतिच्छेद अनन्तबहुभागप्रमाण हैं, क्योंकि अनन्तवैभाग घटानेपर अनन्तबहुभाग शेष रहता है । इसप्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि प्रथमस्पर्धककी आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेदसमूहसे द्वितीयस्पर्धककी आदिवर्गणाका अविभागप्रतिच्छेदपुंज अनन्तबहुभाग अधिक है । इसीप्रकार द्वितीयस्पर्धककी आदिवर्गणासे तृतीयस्पर्धककी आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेद कुछकम आधेसे अधिक है । तृतीयस्पर्धककी आदिवर्गणासे चतुर्थस्पर्धककी आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेद कुछकम तृतीयभागसे अधिक हैं तथैव पंचमादिस्पर्धकोंमें कुछकम चतुर्थादिभाग अधिक यथाक्रम जानना चाहिए । जघन्य परितासंख्यातस्पर्धककी आदिवर्गणामें नीचेके स्पर्धककी आदिवर्गणासे कुछकम उत्कृष्टसंख्यातवैभाग (अविभागप्रतिच्छेद) अधिक हैं । संख्यातवैभागकी वृद्धि यहांपर समाप्त हो जाती है । इससे आगे यथाक्रम असंख्यातवैभागकी वृद्धि होती है । जघन्यपरीतान्तस्पर्धकमें अनेसे नीचेके स्पर्धकसे उत्कृष्टअसंख्यातवैभागवृद्धि होती है । यहांपर असंख्यातभागकी वृद्धि समाप्त हो जाती है । इससे ऊपर अपूर्वस्पर्धकके चरमस्पर्धकतक अनन्तवैभागवृद्धि होती है । जितने स्पर्धक ऊपर चढ़े हैं उनमेंसे एककम करके उससे अधस्तनवर्ती स्पर्धककी वर्गणाको भाजित करनेपर जो लब्ध प्राप्त हो उससे कुछकम ऊपरितन स्पर्धकमें विशेषअधिकका प्रमाण होता है ऐसा सर्वत्र जानना चाहिए । इस प्रकार अपूर्वस्पर्धकका चरमस्पर्धक द्विचरमस्पर्धकसे कुछकम अनन्तवैभाग विशेषअधिक है । इस सम्बन्धमें अल्पबहुत्व इसप्रकार है—प्रथमसमयमें रचित अपूर्वस्पर्धकके प्रथमस्पर्धककी आदिवर्गणा अल्प है, चरमअपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणा अनन्तगुणी है, क्योंकि प्रथम अपूर्वस्पर्धकसे अनन्त (अभव्योंसे अनन्तगुणे और सिद्धोंके अनन्तवैभाग) स्पर्धक चढ़कर चरमस्पर्धक प्राप्त होता है । पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणा अनन्तगुणी है, क्योंकि

पूर्वस्पर्धिककी सर्वजघन्यदेशघातिवर्गणाअनुभागसे अनन्तगुणेहीन अनुभागके द्वारा अपूर्व-स्पर्धिकोंकी रचना होती है । क्रोध-मान-माया व लोभके पूर्वस्पर्धिकोंमेंसे असंख्यातवेंभाग-का अपकर्षण होकर क्रोध-मान-माया व लोभके देशघाति प्रथमस्पर्धिकके नीचे तत् तत्-सम्बन्धी अपूर्वस्पर्धिकोंकी रचना होती है । पुरुषवेदके नवकसमयप्रबद्धकी अपूर्वस्पर्धिक-रचना नहीं होती है, क्योंकि उसका अनुभागकाण्डकघात नहीं होता, उसका तो प्रति-समय सञ्ज्वलनक्रोधमें संक्रमण होता रहता है ^१ ।

^२पुष्पाण फड्ढयारां छैत्तूण असंखभागदव्वं तु ।

कोहादीणमपुव्वं फड्ढयमिह कुणदि अहियकमा ॥७७॥४६८॥

अर्थ:—सञ्ज्वलनक्रोध-मान-माया व लोभके पूर्वस्पर्धिकद्रव्यको असंख्यातसे भाग देकर मात्र एकभाग द्रव्यसे क्रोधादिके अपूर्वस्पर्धिक करता है । वे स्पर्धिक अधिक-क्रमसे होते हैं ।

विशेषार्थ:—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यानका क्षय हो जानेसे मात्र सञ्ज्वलनक्रोध, मान, माया व लोभकषायरूप द्रव्य है जिसकी पूर्वस्पर्धिकसंज्ञा है । क्रोध-मान-माया व लोभमें से प्रत्येककषायके समयप्रबद्धको डेढ़गुणहानिसे गुणा करकेपर प्रत्येककषायके पूर्वस्पर्धिकसम्बन्धी द्रव्यका प्रमाण प्राप्त हो जाता है । इस द्रव्यको उत्कर्षण-अपकर्षणभागहाररूप असंख्यातसे भाग देकर एकभागप्रमाण द्रव्यसे अपूर्व-स्पर्धिकोंकी रचना होती है ^३ । चारों सञ्ज्वलनकषायोंमें से प्रत्येक कषायकी एकप्रदेश गुणहातिस्थानान्तरके असंख्यातवेंभागप्रमाण अपूर्वस्पर्धिकोंकी रचना होती है, तो भी सर्वसञ्ज्वलनकषायोंमें खण्डोंका प्रमाण सम नहीं है, क्योंकि सञ्ज्वलनक्रोधके अपूर्व-स्पर्धिक स्तोक हैं, उससे सञ्ज्वलनमानके अपूर्वस्पर्धिक विशेषअधिक हैं, मायासञ्ज्वलनके अपूर्वस्पर्धिक विशेषअधिक हैं और लोभसञ्ज्वलनके अपूर्वस्पर्धिक विशेष अधिक हैं । संख्यातवें या असंख्यातवेंभाग विशेषअधिक नहीं हैं, किंतु अनंतवेंभागरूपसे विशेषअधिक हैं ।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०२७-२०३० ।

२. घ० पु० ६ पृष्ठ ३६८ (जयधवल मूल पृष्ठ २०२६ व २०३०) ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २०२६-२७ ।

संज्वलनक्रोधके स्पर्धकोंको तत्प्रायोम्य अनन्तसे भागदेकर एकभागप्रमाणसे विशेषअधिक मानकषायके अपूर्वस्पर्धक हैं । इसीप्रकार मान और मायाकषायके अपूर्वस्पर्धकोंको यथा-क्रम तत्प्रायोम्य अनन्तका भाग देकर माया और लोभकषायके विशेषअधिक अपूर्व-स्पर्धकोंका प्रमाण प्राप्त होता है । संज्वलनक्रोध-मान-माया व लोभकषायके अपूर्वस्पर्धकों की अङ्कसन्दृष्टि [१६।२०।२४।२८] इसप्रकार है^१ ।

समखंडं सविसेसं शिखिवियोकट्टिदादु सेसधणं ।

पक्खेवकरणसिद्धं इणियोउंछेण उज्जयत्थ ॥७८॥४६६॥

ओक्कट्टिदं तु होदि अपुव्वदिवग्गणाउ हीणकमं ।

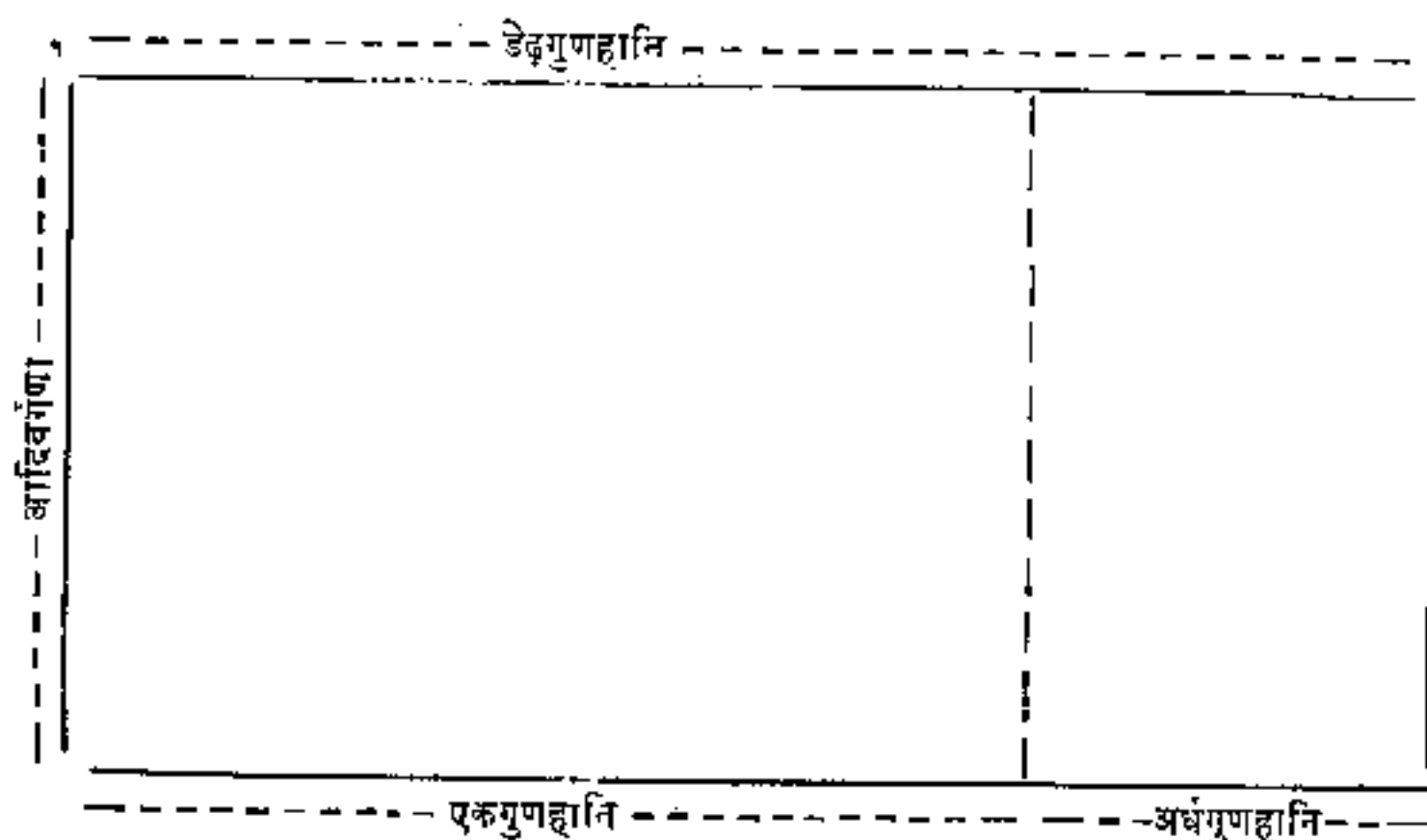
पुव्वादिवग्गणाए असंखगुणहीणयं तु हीणकमा ॥७९॥४७०॥

अर्थ—अपकर्षितद्रव्यमेंसे अपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणासे लेकर विशेषहीनक्रमसे द्रव्य दिया जाता है, किन्तु पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामें संख्यातगुणाहोव द्रव्य दिया जाता है उसके पश्चात् विशेषहीनक्रमसे द्रव्य दिया जाता है । अपूर्वस्पर्धककी वर्गणाओंमें विशेषसहित समखण्डद्रव्य देकर शेषद्रव्यको इसप्रकार दिया जाता है जिससे पूर्व और अपूर्व दोनों स्पर्धकोंका एक गोपुच्छाकार सिद्ध हो जावे ।

विशेषार्थः—अपूर्वस्पर्धकोंकी अन्तिमवर्गणामें दिये गये द्रव्यसे असंख्यातगुणा-हीन द्रव्य पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामें क्यों दिया जाता है उसे बतलाते हैं—अपूर्वस्पर्धक की अन्तिमवर्गणामें जो द्रव्य निक्षिप्त किया गया है वह पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणासे एकवर्गणा चय (विशेष) अधिक है । पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामें पूर्व अवस्थितद्रव्यका असंख्यातवांभाग द्रव्य निक्षिप्त किया जाता है, क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्यके असंख्यातवैभाग-मात्र अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्यको कुछ अधिक डेढ़गुणहानिसे भागदेने पर पूर्वस्पर्धककी आदि-वर्गणाका द्रव्य आता है और उस आदिवर्गणाको उत्कर्ष-अपकर्षभागहारसे खण्डित करने पर अपकर्षित द्रव्य प्राप्त होता है । अङ्कसन्दृष्टिमें सम्पूर्णद्रव्य ६३०० है । एक गुण-हानि ८ है, डेढ़गुणहानि (८×३) १२ है । सम्पूर्णद्रव्य ६३०० को कुछ अधिक डेढ़-गुणहानि १२ से भाजित करनेपर ५१२ आदिवर्गणाका द्रव्य प्राप्त होता है । इस आदि-वर्गणा (५१२) को उत्कर्षण-अपकर्षण भागाहारसे खण्डित करनेपर अपकर्षितद्रव्यका

प्रमाण प्राप्त होता है अतः अपकर्षितद्रव्य पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणाके असंख्यातवेंभाग होनेसे यह सिद्ध हो जाता है कि पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामें पूर्व अवस्थित द्रव्य, निक्षिप्त-द्रव्यसे असंख्यातगुणा है । इसीको क्षेत्र विन्यासके द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

समस्तद्रव्यको पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणा प्रमाणरूप करनेपर डेढ़गुणहानिप्रमाण आदिवर्गणा होती है, उसका क्षेत्रविन्यास निम्नप्रकार है जिसका विषकम्भ आदिवर्गणा प्रमाण है और आयाम डेढ़गुणहानि प्रमाण है ।



इस क्षेत्रके विषकम्भकी उत्कर्षण-अपकर्षणभागहारप्रमाण फालियां करनी चाहिए । उनमेंसे एकफालिको ग्रहणकर पृथक् स्थापित करना चाहिए । इस संबंधमें चित्र नं० २ देखना चाहिए ।

चित्र नं० २ :— उत्कर्षण-अपकर्षणभागहारसे खण्डितकर एकफालि नीचे पृथक् ग्रहण की गई है । उत्कर्षण-अपकर्षणभागहार अङ्कुसन्दृष्टिमें (५) है ।

— डेढ़गुणहानि —	
एकफालि बहुफालिप्रमाण पूर्वस्पर्धकका शेषद्रव्य	
	अपकर्षितद्रव्य

पृथक् ग्रहण किया एकफालिप्रमाण क्षेत्र समस्त अपकर्षितद्रव्य है । अपूर्व-स्पर्धकोंके लिए इसद्रव्यका अपकर्षण किया गया है । एकगुणहानिका भागहार है । पृथक् ग्रहण की गई फालिका आयाम डेढ़गुणहानि है अतः असंख्यातगुणे अपकर्षण-उत्कर्षण-भागहारको भी डेढ़गुणा करना चाहिए । इसलिए डेढ़गुणहानिआयामके इतने खण्ड करने चाहिए । देखो निम्न चित्र नं० ३ । अङ्कुसन्दृष्टिमें असंख्यातगुणा अपकर्षण-उत्कर्षण भागहार = ८ ।

चित्र नं० ३

एकफालि									
— डेढ़गुणहानि —									

इतमेंसे एकखण्डका आयाम अपूर्वस्पर्धकके आयामके बराबर है । इन खण्डोंमें से एककम उत्कर्षण-अपकर्षणभागहारप्रमाण खण्डोंको ग्रहणकर पूर्वखण्डोंके क्षेत्रके नीचे स्थापित करनेपर अपूर्वस्पर्धकवर्गणा पूर्वस्पर्धकवर्गणाओंके सदृश (बराबर) प्रमाण दिखाई देती है । देखो चित्र नं० ४ :—

—एककम उत्कर्षण-अपकर्षण भागहार—

चित्र नं० ४

चित्र नं० २ का उपरिभाग उलटकर रखा गया है ।
पूर्वस्पर्धकोका शेषद्रव्य एककम उत्कर्षण-अपकर्षण भागहारप्रमाण

पूर्वस्पर्धक पूर्वस्पर्धक पूर्वस्पर्धक पूर्वस्पर्धक

१ अ स्पर्धक १ अ स्पर्धक १ अ स्पर्धक १ अ स्पर्धक
एककम उत्कर्षण-अपकर्षणभागहार (५-१)
प्रमाण अपूर्वस्पर्धक

जब तक इन अपूर्वस्पर्धकोंमें अपूर्वस्पर्धकोंको वर्गणाओंमें वर्गणाविशेष (वर्गणाचय) न मिलाये जावे तबतक इन अपूर्वस्पर्धकोंका गोपुच्छाकार नहीं हो सकता । इस-

लिए अपूर्वस्पर्धकोंकी वर्गणाओंके अध्वानसम्बन्धी संकलनप्रमाण वर्गणाविशेष द्रव्य शेष-
खण्डोंमेंसे ग्रहणकर भागमभिविरोधसे अपूर्वस्पर्धकोंकी वर्गणाओंमें प्रक्षेप करना चाहिए ।
यह संकलनद्रव्य एकखण्डके असंख्यातवैभागप्रमाण है ।

अपूर्वस्पर्धकोंकी चरमवर्गणासे द्विचरमवर्गणामें एक चतुःचरमवर्गणामें तीन
वर्गणाविशेष (वर्गणाचय) अधिक है । इसप्रकार प्रतिवर्गणा एक-एक वर्गणाविशेष बढ़ाते
हुए पूर्वस्पर्धकोंकी प्रथमवर्गणानक ले जाना चाहिए । इन सब वर्गणाविशेषोंको जोड़नेके
लिए अपूर्वस्पर्धकोंकी वर्गणाओंके अध्वानका संकलन कहा है । यदि अपूर्वस्पर्धकोंकी
वर्गणाओंका अध्वान (वर्गणाओंकी संख्या) २० हो तो एक, दो, तीन आदि २० तक
जोड़नेको बीसका संकलन कहा जाता है । एकसे लेकर जिस संख्यातक संकलन करना
हो सो उस अन्तिमसंख्याके आधेसे एक अधिक अन्तिमसंख्याको गुणा करनेपर संकलन-
का प्रमाण प्राप्त हो जाता है । जैसे एकसे बीसतककी संख्याओंको जोड़ना है तो $\frac{20}{2} \times$
 $21 = 210$ प्राप्त होते हैं; यह बीसका संकलन है । इसीप्रकार यदि 'क' संख्यातक
संकलन करना है तो $\left[\frac{क \times (क + १)}{२} \right] = \frac{क^२ + क}{२}$ संकलन होगा । ('क' संख्या
असंख्यात या अनन्तकी द्योतक हो सकती है ।)

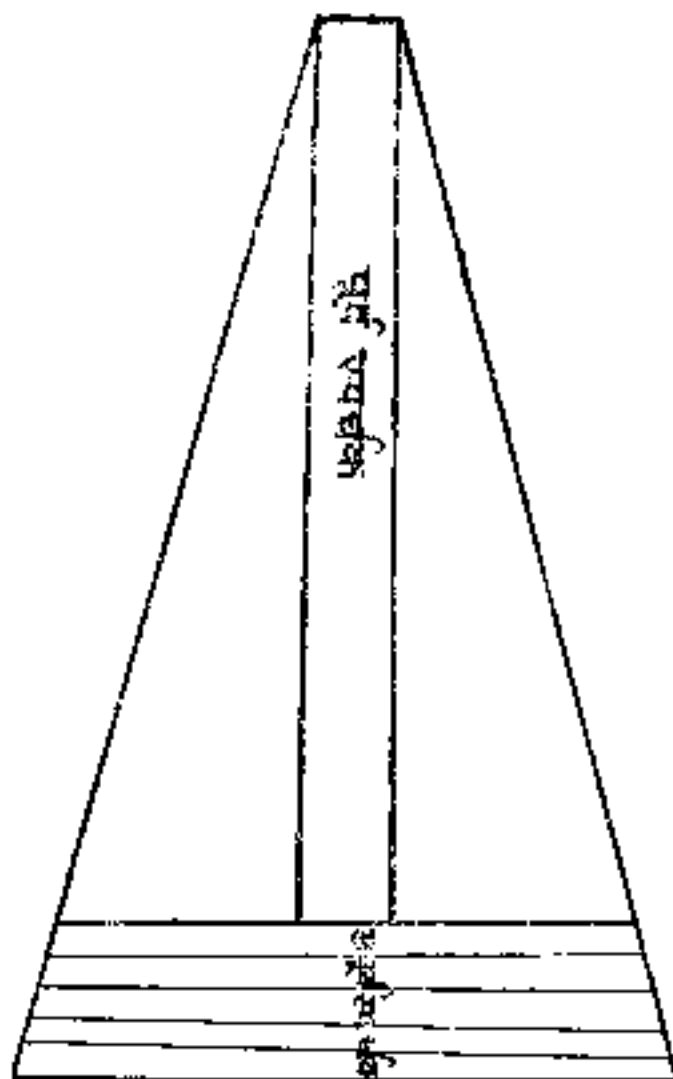
एकफालिप्रमाण अपकर्षितद्रव्यके ड्योढ़े-असंख्यातगुणित-अपकर्षण-उत्कर्षण-
भागहारप्रमाण खण्ड किये गये थे (चित्र नं० ३) । इन खण्डोंमें से एककम उत्कर्षण-
अपकर्षणभागहारप्रमाण खण्ड अपूर्वस्पर्धकोंके लिए ग्रहण किये गए थे अतः ड्योढ़े-
असंख्यातगुणित-अपकर्षण-उत्कर्षणभागहार प्रमाण समस्तखण्डोंमें से एककम अपकर्षण-
उत्कर्षणभागहारप्रमाण खण्डोंके घटानेपर समस्त शेषखण्डोंको पूर्व व अपूर्वस्पर्धकोंमें
डाल देने चाहिए । वे खण्ड पूर्व-अपूर्वस्पर्धकोंमें इसप्रकार निक्षिप्त किए जाते हैं— उन
शेषखण्डोंमेंसे एकखण्डको ग्रहणकर पूर्वमें कहे गये एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरका भाग-
हार जो असंख्यात-अपकर्षण-उत्कर्षणभागहार, उसको डेढ़गुणा करके जो प्रमाण प्राप्त
हो उतने अवान्तर अर्थात् विकलखण्ड, उस ग्रहण किये गये एक सम्पूर्ण (सकल) खण्डके
करने चाहिए उनमेंसे प्रत्येक अवान्तर खण्ड (विकलखण्ड) का आयाम अपूर्वस्पर्धकोंके
आयाम बराबर है । देखो निम्न चित्र नं० ५ :—

चित्र नं० ५

अक्षयसंहतिमें
१२ खण्ड

इन विकल (अवान्तर) खण्डोंमें से एक विकल खण्डको ग्रहणकर अपूर्वखण्डोंके पार्श्वमें देना चाहिए और शेष समस्त विकलखण्डोंको पूर्वस्पर्धकोंमें देना चाहिए। इसीप्रकार शेष समस्त सकलखण्डोंके विकल (अवान्तर) खण्ड करके पूर्व-अपूर्व स्पर्धकोंमें देना चाहिए। इसप्रकार पूर्वस्पर्धकको आदिवर्गणामें दिए गये सर्वविकलखण्डोंका प्रमाण एक सकलखण्डके बराबर

नहीं होता, किन्तु किञ्चित्ऊन सकलखण्डप्रमाण होता है। यदि अपकर्षण-उत्कर्षणभागाहारप्रमाण विकलखण्ड और होते तो एक सकलखण्ड हो जाता। इसप्रकार अपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामें जो द्रव्य दिया गया है वह किञ्चित्ऊन एक सकलखण्डप्रमाण है। अपूर्वस्पर्धकोंमें एककम अपकर्षण-उत्कर्षणभागहारप्रमाण द्रव्य दिया गया है। इससे सिद्ध हो जाता है कि अपूर्वस्पर्धककी अन्तिमवर्गणामें निक्षिप्त प्रदेशाग्रासे पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामें निक्षिप्त प्रदेशाग्र असंख्यातगुणेहीन हैं। यहांपर गुणाकार साधिक अपकर्षण-उत्कर्षणभागाहार है। इसलिए पूर्व-स्पर्धककी आदिवर्गणामें जो प्रदेशाग्र पहलेसे विद्यमान हैं उनके असंख्यातवै-भाग प्रदेशाग्रोंका निक्षेपण होता है। पूर्वस्पर्धकोंकी द्वितीयवर्गणामें विशेष-हीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं। पूर्व और अपूर्वस्पर्धकोंमें दिये गये अवशेष द्रव्य द्वारा पूर्व और अपूर्वस्पर्धकोंकी एक गोपुच्छाकार बन् जाती है।



‘कोहादीणमपुढ्वं जेट्ठं सरिसं तु अवरमसरित्थं ।

लोहादिआदिवग्गणअविभागा होंति अहियकमा ॥८०॥४७१॥

सगसगफड्डयएहिं सगजेट्ठे भाजिदे सगीआदि ।

मज्जेवि अणंताओ वग्गणमाओ समाणाओ ॥८१॥४७२॥

जे हीणा अवहारे रूवा तेहिं गुणित्तु पुढ्वफलं ।

हीणवहारेणहिये अद्धं पुढ्वं फलेणहियं ॥८२॥४७३॥

कोहदुसेसेणवहिदकोहे तवकंडयं तु माणतिए ।

रूपहियं सगकंडयहिदकोहादी समाणसला ॥८३॥४७४॥

अर्थ—क्रोधादि चार सञ्जवलनकषायोंके अपूर्वस्पर्धकोंमें उत्कृष्ट (अन्तिम) स्पर्धककी आदिवर्गणा सदृश हैं और जघन्य (प्रथम) स्पर्धककी आदिवर्गणा विसदृश हैं । लोहादि कषायोंके अपूर्वस्पर्धकोंकी आदिवर्गणामें अविभागप्रतिच्छेद अधिककम लिए हुए हैं ॥८०॥ अपने-अपने उत्कृष्टस्पर्धककी आदिवर्गणाको अपने-अपने स्पर्धकोंकी संख्यासे भाग देनेपर अपनी-अपनी आदिवर्गणा प्राप्त होती है । अन्तिमस्पर्धकके समान मध्यमें भी चारोंकषायोंकी अनन्तवर्गणा समान होती है ॥८१॥ जिसका पूर्वफल अर्थात् आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेद होन हैं उसको अधिक अवहारकाल (स्पर्धकसंख्या) से गुणा करना चाहिए और पूर्वफल (आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेद) अधिक है उसको होन अवहारकालसे गुणा करना चाहिए ॥८२॥ क्रोधकी अपूर्वस्पर्धकसंख्याको मान-कषायकी अपूर्वस्पर्धकसंख्यामेंसे घटानेपर जो शेष रहे उससे क्रोधकी अपूर्वस्पर्धक संख्या को भाग देनेपर क्रोधके काण्डकोंका प्रमाण प्राप्त होता है । उस काण्डकप्रमाणमें एक एक अधिक करनेसे मान-माया व लोभ इनतीन काण्डकोंका प्रमाण प्राप्त होता है । अपने-अपने काण्डकोंसे अपनी-अपनी अपूर्वस्पर्धकसंख्याको भाग देनेपर समानशलाका प्राप्त होती है ॥८३॥

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६१ सूत्र ५१० से ५१४ । धवल पु० ६ पृष्ठ २६८ । जय धवल मूल पृष्ठ २०३१ ।

२. गाथा ८२ का अर्थ स्वकीयबुद्धिसे किया है अतः यदि अशुद्ध हो तो बुद्धिमान उसे सुधार लेवे ।

विशेषार्थः—क्रोधादि चार संज्वलनकषायोंसे प्रतिबद्ध प्रथमअपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणा लोभादिकी परिपाटीमें यथाक्रम अनन्तभाग अधिक है अर्थात् लोभकषाय-सम्बन्धी प्रथमअपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामें अविभागप्रतिच्छेद स्तोक, मायाकषायमें अनन्तवैभाग अधिक, मानकषायमें अनन्तवैभाग अधिक और क्रोधकषायमें अनन्तवैभाग अधिक है । इस परिपाटी क्रमसे स्थित आदिवर्गणके अविभागप्रतिच्छेदोंको अपनी-अपनी अपूर्वस्पर्धकशलाकाओंसे गुणा करनेपर अपने-अपने अन्तिमस्पर्धककी आदिवर्गणा प्राप्त होती हैं जो एक दूसरेकी अपेक्षा परस्पर समानप्रमाणवाली हैं । प्रथमस्पर्धककी आदिवर्गणासे द्वितीय, तृतीयादि स्पर्धकोंकी प्रथमवर्गणाका गच्छमान दुगुणा, तिगुणा आदि क्रमसे होता है, इसप्रकार चरमस्पर्धककी आदिवर्गणाके गच्छमानमें अपूर्वस्पर्धक-शलाकाप्रमाण गुणकार सिद्ध हो जाता है । इसप्रकार अपने प्रथमअपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणाकी स्पर्धकशलाकासे गुणा करनेपर चरमस्पर्धककी आदिवर्गणाका प्रमाण प्राप्त होता है । शिष्यगणको इसका सरलतापूर्वक बोध हो जावे जयधवलाटीकाकार इस विषयको अङ्कसन्द्ष्टि द्वारा समझाते हैं—

क्रोधादि चार संज्वलनकषायकी प्रथमअपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणाके अविभाग-प्रतिच्छेदोंका मान इसप्रकार है [क्रोध - मान - माया - लोभ] अपूर्वस्पर्धकशलाका [क्रोध - मान - माया - लोभ] अन्तिम अपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणाका प्रमाण—

प्रथमस्पर्धक आदिवर्गणा	$\left\{ \begin{array}{cccc} \text{क्रोध} & \text{मान} & \text{माया} & \text{लोभ} \\ १०५ & ८४ & ७० & ६० \\ \times १६ & \times २० & \times २४ & \times २८ \\ \hline १६८०-१६८०-१६८०-१६८० \end{array} \right\}$	क्रोधादि चारों संज्वलनकषायोंकी चरम अ.स्पर्धककी आदिवर्गणाका प्रमाणसर्वत्र १६८० होनेसे सदृश है ।
स्पर्धकशलाका		
चरमस्पर्धक आदिवर्गणा		

क्रोधादिकी अन्तिमअपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणा ही सदृश है यह अन्तदीपक न्यायसे कहा गया है, क्योंकि नीचे भी अनन्तअपूर्वस्पर्धकोंकी आदिवर्गणा सदृश है । सन्द्ष्टिमें क्रोधकी स्पर्धकशलाका १६ है और मानकषायकी २० शलाका है इनको घटानेपर (२०-१६) शेषका प्रमाण ४ होता है । इसीप्रकार मान व मायाकषायकी और माया व लोभकषायकी स्पर्धकशलाकाओंको घटानेपर (२४-२०), (२८-२४) सर्वत्र शेष ४ रहता है । इस ४ से क्रोधादिकी स्पर्धकशलाकाओंमें भाग देनेपर क्रमशः $\frac{१६}{४}=४$, $\frac{२०}{४}=५$, $\frac{२४}{४}=६$, $\frac{२८}{४}=७$; ४, ५, ६, ७ लब्ध प्राप्त होता है । क्रोधसंज्वलनमें

चौथे अपूर्वस्पर्धिककी आदिवर्गणाका प्रमाण $(१०५ \times ४) ४२०$ है, मानसंज्वलनके पांचवें अपूर्वस्पर्धिककी आदिवर्गणाका प्रमाण $(८४ \times ५) ४२०$ है, मायासंज्वलनके छठे अपूर्वस्पर्धिककी प्रथमवर्गणाका प्रमाण $(७० \times ६) ४२०$ है। लोभकषायके सप्तम अपूर्वस्पर्धिककी आदिवर्गणाका प्रमाण $(६० \times ७) ४२०$ है। चारों कषायोंमें आदिवर्गणाका प्रमाण ४२० होनेसे सदृश हैं। इसीप्रकार इतना अध्वान ऊपर-ऊपर चढ़नेसे क्रोधादि चारों संज्वलनकषायोंमें क्रमशः आठवें, दसवें, बारहवें और चौदहवें अपूर्वस्पर्धिकोंकी आदिवर्गणाका प्रमाण ८४० होनेसे और क्रमशः बारहवें, १५वें, अठारहवें और २१वें अपूर्वस्पर्धिकोंकी आदिवर्गणाका प्रमाण १२६० होनेसे सदृश है। अपने-अपने खण्डप्रमाणका अपनी-अपनी अपूर्वस्पर्धिकशलाकामें भाग देनेसे समानलब्ध प्राप्त होता है। अङ्कसन्दृष्टिमें जैसे $\frac{१६}{४}, \frac{२०}{५}, \frac{२४}{६}, \frac{२८}{७} = ४$ प्राप्त होता है। प्रत्येक संज्वलनकषायके लब्धप्रमाण अपूर्वस्पर्धिकोंकी आदिवर्गणा परस्पर तुल्य होती हैं। जैसे अङ्कसन्दृष्टिमें संज्वलनक्रोधकषायके चौथे, आठवें, बारहवें और सोलहवें इनचार अपूर्वस्पर्धिकोंकी आदिवर्गणा; संज्वलनमानसकषायके पांचवें, दसवें, पंद्रहवें और २०वें इनचार अपूर्वस्पर्धिकोंकी आदिवर्गणा; संज्वलनमायाकषायके छठे, बारहवें, अठारहवें और २४वें इनचार अपूर्वस्पर्धिकोंकी आदिवर्गणा तथा संज्वलनलोभकषायके सातवें, चौदहवें, इक्कीसवें और अठईसवें इनचार अपूर्वस्पर्धिकोंकी आदिवर्गणा, इसप्रकार चारों संज्वलनकषायसम्बन्धी चार आदिवर्गणाएँ परस्परमें एक कषायकी आदिवर्गणा दूसरी कषायकी आदिवर्गणाके तुल्य होती हैं। तुल्यता बतानेके लिए अङ्कसन्दृष्टिमें जैसे ४ संख्या प्राप्त होती है, अर्थसन्दृष्टिमें अनन्तकी संख्या प्राप्त होती है, क्योंकि अपूर्वस्पर्धिकशलाकाका प्रमाण अनन्त है। इसप्रकार मध्यके अनन्तअपूर्वस्पर्धिकोंकी आदिवर्गणा तुल्य होती है यह सिद्ध हो जाता है^१।

‘ताहे दब्बवहारो पदेसगुणहाणि फड्ढयवहारो ।

पल्लस्स पढममूलं असंखगुणिदक्कमा होति ॥८४॥४७५॥

अर्थ—अश्वकर्णकरणके प्रथमसमयमें द्रव्यके अवहारसे प्रदेशगुणहानिस्पर्धिकका अवहार असंख्यातगुण है, उससे पल्लोपमका प्रथमवर्गमूल असंख्यातगुण है।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०३१ ।

२. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७६२ सूत्र ५१५ से ५१७ । घ० पु० ६ पृ० ३६६ । जयध० मूल पृ० २०३२ ।

विशेषार्थः—अश्वकर्णकरण कार्यके प्रथमसमयमें अर्थात् अश्वकर्णकरण करने-वाला प्रथमसमयमें जिस अवहारकालके द्वारा प्रदेशाप्रका अपकर्षण करता है उसकी उत्कर्षण-अपकर्षणभागहार संज्ञा है । वह उत्कर्षण-अपकर्षणभागहार उपरिमपदोंकी अपेक्षा स्तोक है, इससे अपूर्वस्पर्धकोंका प्रमाण लानेके लिए एकप्रदेशगुणहानि स्थानान्तरको एकबार भाग दिया जाता है और अपकर्षण-उत्कर्षणभागहारसे पुनः पुनः भाग दिया जाता है । इसलिए अपकर्षण-उत्कर्षणभागहारसे एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरका भागहार असंख्यातगुणा है और यह पत्यके असंख्यातवैभागप्रमाण है । “इसका प्रमाण पत्यके प्रथमवर्गमूलके असंख्यातवैभाग है” यह ज्ञान करानेके लिए “इससे पत्यका प्रथमवर्गमूल असंख्यातगुणा है” ऐसा कहा गया है । इस भागहारसे एकप्रदेशगुणहानि स्थानान्तरके स्पर्धकोंमें भाग देनेसे जो लब्ध प्राप्त हो उतने संज्वलनक्रोधादिके अपूर्व-स्पर्धक रचे जाते हैं । यह अत्यबहुत्व ऊपर कही जानेवाली निषेकप्ररूपणाका साधनभूत है । अपकर्षण-उत्कर्षणभागहारसे अपूर्वस्पर्धकोंके लिए एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरका भागहार असंख्यात गुणा है इसका कारण यह है कि प्रदेशविण्ड इसप्रमाणसे दिये जाते हैं जिससे कि पूर्वस्पर्धककी वर्गणाओंके साथ अपूर्वस्पर्धककी वर्गणा गोपुच्छाकार हो जावे अर्थात् पूर्व और अपूर्व दोनों स्पर्धक भिन्न-भिन्न एक गोपुच्छाकार हो आवें । यदि अपकर्षण-उत्कर्षणभागहारसे एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरका भागहार असंख्यातगुणाहीन हो जावे तो पूर्व-स्पर्धककी वर्गणाओंके साथ अपूर्वस्पर्धकवर्गणाकी एकगोपुच्छाकार रचना नहीं हो सकती । अपकर्षित समस्तद्रव्य अपूर्वस्पर्धकप्रवृत्तसे अपवर्तित होनेपर अपूर्वस्पर्धककी एकवर्गणाका द्रव्य पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणाके असंख्यातवैभागप्रमाण होता है ।

‘ताहे अपुव्वफड्डयपुव्वस्तादीदणंतिमुव्वदेहि ।

बन्धो हु लताणंतिमभागोत्ति अपुव्वफड्डयदो ॥८५॥४७६॥

अर्थ—उस कालमें अपूर्व और पूर्वस्पर्धकोंकी आदिसे लेकर अनन्तवैभाग-स्पर्धकोंका उदय होता है तथा लताके अनन्तवैभाग अनुभागसहित अपूर्वस्पर्धक होकर बन्धको प्राप्त होते हैं ।

१. जयधवल मूल पृ० २०३२ ।

२. क० पा० सूत पृ० ७६३-६४ सूत्र ५२४ से ५२६ । ध० पु० ६ पृ० ३७० । जयधवल मूल पृ० २०३६-३७ ।

- विशेषार्थ—तत्कालमें अपूर्वस्पर्धकरूपसे परिणत अनुभागसत्कर्ममेसे असंख्यातवै-
भाग प्रदेशाग्रका अपकर्षणकरके उदीरणा करनेवालेके उदयस्थितिमें सर्व अपूर्वस्पर्धक-
स्वरूपसे अनुभागसत्कर्म उपलब्ध होता है, किन्तु अपूर्वस्पर्धकरूपसे परिणतसत्कर्म विरव-
शेष (पूर्ण) उदयमें नहीं आता, क्योंकि अपूर्वस्पर्धकके समान घनवाले जो परमाणु
स्पर्धकोंमें समवस्थित हैं, उनमेंसे कितने परमाणु उदयको प्राप्त होते हैं और शेष वहींपर
अवस्थित रहते हैं । इसलिए सर्व अपूर्वस्पर्धकोंका उदय होता भी है और नहीं भी
होता है । इसीप्रकार आदिसे लेकर अनन्तवैभागतक पूर्वस्पर्धक भी उदय व अनुदय
स्वरूप हैं । पूर्वस्पर्धकोंमें भी सदृश घनवाले उदयके अभिमुख रहनेवालोंका उदय होता
है और तत् जातिस्वरूप शेष अनुदयरूप रहते हैं, क्योंकि विप्रतिषेधका अभाव है ।
लताके अनन्तवैभागसे ऊपरके अनन्तबहुभाग पूर्वस्पर्धक नियमसे अनुदयस्वरूप हैं, वे
सभी अपने-अपने स्वरूपसे उदयको प्राप्त नहीं होते । पूर्वमें संज्वलनकषायके अनुभागका
पूर्वस्पर्धकस्वरूपसे बन्ध लताके अनन्तवैभाग स्पर्धकस्वरूपसे प्रवृत्त होते थे, किन्तु अब
उससे अनन्तगुणेहीन घटकर प्रथम अपूर्वस्पर्धकसे लेकर लताके अनन्तवैभाग अनु-
भागवाले स्पर्धकतक जितने स्पर्धक हैं उन स्पर्धक-स्वरूप प्रवृत्त होते हैं, किन्तु
पूर्वकथित उदयस्वरूप स्पर्धकोंसे बन्धस्वरूप स्पर्धक अनन्तगुणेहीन अनुभागवाले होते
हैं, क्योंकि यहांपर बन्धसे उदय अनन्तगुणा होता है । यह सब अश्वकर्णके प्रथमसमयकी
प्ररूपणा है ।

‘विदियादिसुसमयेसु वि पढमं व अपूव्वफड्डयाण विही ।

‘णवरि अणंतगुणूणं हीणो अनुभाग पडिसमयं ॥८६॥४७७॥

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०३६-३७ ।
२. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७६४ सूत्र ५२७ व ५२८ । धवल पु. ६ पृष्ठ ३७० । ज. घ. मूल पृष्ठ २०३७ ।
३. गाथा ८६ के उत्तरार्धमें मुद्रितप्रति (शास्त्राकार) में पाठ अद्वितीय था उसके स्थानपर “णवरि
अणंतगुणूणं बंधो अनुभाग पडिसमयं” यह पाठ रखा है जो कि क. पा. सुत्तके चूरिसूत्र ५२८
पृष्ठ ७६६ व जयधवल मूल पृष्ठ २०३७ के विषयानुसार किया है सो सूत्र इसप्रकार है (अनुभाग-
बंधो अणंतगुणहीणो) इस आधारसे ४७७ गाथा के उत्तरार्धमें जो पाठ पूर्तिकी है उसे विद्वद्-
जन विचारें यदि अशुद्ध प्रतीत हो तो शुद्ध कर लें । हमने उपर्युक्त आधारसे स्वकीय बुद्धिद्वारा
पाठ पूर्ति की है ।

अर्थ—द्वितीयादि समयोंमें भी अपूर्वस्पर्धकविधि प्रथमसमयके समान है, किन्तु अनुभागबन्ध प्रतिसमय अनन्तगुणाहीन होता है ।

विशेषार्थ—अश्वकर्णकरणके प्रथमसमयमें जिसप्रकार स्थितिकाण्डक अनुभाग-काण्डक और स्थितिबन्ध होते हैं उसीप्रकार अश्वकर्णकरणके द्वितीयादिमयोंमें भी होते हैं, किन्तु प्रतिसमय विशुद्धिके बढ़नेसे अप्रशस्तप्रकृतियोंका अनुभागबन्ध अनन्त-गुणाहीन होता है । चारों संज्वलनकषायोंका जितना अनुभागबन्ध प्रथमसमयमें हुआ था उससे अनन्तगुणाहीन अनुभागबन्ध द्वितीयसमयमें होता है, तृतीयसमयमें उससे भी अनन्तगुणाहीन अनुभागबन्ध होता है । आगेके प्रत्येकसमयमें भी अनुभागबन्ध अनन्तगुणा घटते हुए होता है । इसीप्रकार अनुभागोदयके विषयमें जानना चाहिए । विशुद्धिके बढ़नेसे प्रतिसमय श्रेणिरूपसे असंख्यातगुणे प्रदेशाग्रका अपकर्षणकरके गुणश्रेणीमें निक्षेपण करता है ।

‘णवफड्डयाण करणं पडिसमयं एवमेव एवरिं तु ।

दब्बमसंखेज्जगुणं फड्डयमाणं असंखगुणीणं ॥८७॥४७८॥

अर्थ—(अश्वकर्णकरणके) प्रथमसमयके समान ही प्रत्येकसमयमें नवीन स्पर्धकोंको रचना होती है, किन्तु इतनी विशेषता है कि यहाँ द्रव्य तो क्रमसे असंख्यात गुणा बढ़ता हुआ अपकर्षण करता है और नवीनस्पर्धकोंकी रचना असंख्यातगुणी-असंख्यातगुणीहीन होती है ।

विशेषार्थ—अश्वकर्णकरणके प्रथमसमयमें अपकर्षितद्रव्यसे अपूर्वस्पर्धकोंकी रचना हुई थी, उसीप्रकार अश्वकर्णकरणके द्वितीयादिसमयोंमें भी अपकर्षितद्रव्यसे नवीन अपूर्वस्पर्धकोंकी रचना होती है और पुराने अर्थात् पहले समयोंमें रचे गए अपूर्व-स्पर्धकोंमें भी अपकर्षित द्रव्य दिया जाता है, किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रतिसमय जो प्रदेशाग्र अपकर्षित किये जाते हैं उनका प्रमाण असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा होता जाना है और नवीन अपूर्वस्पर्धक रचे जाते हैं उनको संख्या प्रतिसमय असंख्यातगुणी-असंख्यातगुणीहीन होती जानी है । अर्थात् प्रथमसमयमें जितने प्रदेशाग्रोंका अपकर्षण हुआ था उससे असंख्यातगुणे प्रदेशाग्रोंका अपकर्षण द्वितीयसमयमें होता है उससे

असंख्यातगुणे प्रदेशाग्र तृतीयसमयमें अपकर्षित होते हैं । प्रदेशाग्रके अपकर्षण होनेका यही क्रम चतुर्थादि समयोंमें भी है, इसप्रकार गुणश्रेणि असंख्यातगुणी है । प्रथमसमयमें जो अपूर्वस्पर्धक निर्वर्तित हैं द्वितीयसमयमें वे भी रचे जाते हैं और उनसे असंख्यातगुणे हीन अन्य भी नवीन अपूर्वस्पर्धकोंकी रचना होती है । प्रथम और द्वितीयसमयोंमें जो अपूर्वस्पर्धक निर्वर्तित हुए हैं तृतीयसमयमें वे भी रचे जाते हैं (उनमें भी सदृशअनुभाग-वाला अपकर्षितद्रव्य दिया जाता है) और द्वितीयसमयमें रचित नवीनअपूर्वस्पर्धकोंसे असंख्यातगुणेहीन नवीनअपूर्वस्पर्धक रचे जाते हैं । यहीक्रम चतुर्थ्यादि समयोंमें विरचित नवीनअपूर्वस्पर्धकोंके विषयमें भी जानना ।

‘पठमादिसु दिञ्जकमं तवकालजफड्डयाण चरिमोत्ति

हीणकमं से काले असंखगुणहीणयं तु हीणकमं ॥८८॥४७६॥

अर्थ—उसी समय (काल) में रचे गए नवीनअपूर्वस्पर्धकोंकी आदिवर्गणासे अन्तिमवर्गणातक प्रदेशाग्र हीनक्रमसे दिये जाते हैं तदनन्तर पूर्वसमयोंमें रचे गये अपूर्वस्पर्धकोंकी आदिवर्गणामें असंख्यातगुणाहीन द्रव्य दिया जाता है और द्वितीयादि वर्गणाओं में विशेषहीन क्रमसे दिया जाता ।

विशेषार्थ—द्वितीयसमयमें रचित नवीनअपूर्वस्पर्धकोंकी आदिवर्गणामें बहुत-प्रदेशाग्र दिये जाते हैं, द्वितीयवर्गणामें विशेष (चय) हीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं । इसप्रकार अनन्तरवर्तीवर्गणाओंमें विशेषहीन क्रमसे तद्वतक दिये जाते हैं जबतक नवीनअपूर्वस्पर्धकोंकी अन्तिमवर्गणा प्राप्त होती है । पश्चात् उनको अन्तिमवर्गणासे प्रथमसमयमें निर्वर्तित अपूर्वस्पर्धकोंकी प्रथमवर्गणामें असंख्यातगुणे हीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं तथा उन्हीं अपूर्वस्पर्धकोंको द्वितीयवर्गणामें उससे हीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं । यहांसे लेकर अनन्तरवर्ती सभी वर्गणाओंमें विशेष (चय) हीन क्रमसे प्रदेशाग्र दिये जाते हैं । पूर्वस्पर्धकोंकी आदि (प्रथम) वर्गणामें विशेषहीन ही प्रदेशाग्र दिये जाते हैं शेष वर्गणाओं में भी विशेषहीन-विशेषहीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं ।

तृतीयसमयमें विरचित असंख्यातवर्गभागमात्र नवीन अपूर्वस्पर्धकोंकी आदिवर्गणामें बहुतप्रदेशाग्र दिया जाता है, द्वितीयवर्गणामें विशेष (चय) हीन प्रदेशाग्र दिये

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६४-६५ सूत्र ५३३ से ५३५ एवं ५३७ से ५३६ तक । धवल पु० ६ पृष्ठ ३७०-७१-७२ ।

जाते हैं । इसप्रकार अनन्तरवर्ती वर्गणाओंमें विशेषहीन क्रमसे उन्हीं नवीन अपूर्व-स्पर्धकोंकी अन्तिमवर्गणातक प्रदेशाग्र दिये जाते हैं, उससे द्वितीयसमयमें निर्वर्तित अपूर्व-स्पर्धकोंकी प्रथमवर्गणामें असंख्यातगुणाहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है । वहांसे लेकर द्वितीयादि वर्गणाओंमें सर्वत्र (पूर्व-अपूर्वस्पर्धकोंकी वर्गणाओंमें) विशेषहीन क्रमसे प्रदेशाग्र दिये जाते हैं ।

‘पढमादिसु दिस्सकमं तवकालजफड्डयाण चरिमोत्ति ।

हीणकमं से काले हीणं हीणं कमं तत्तो ॥८६॥४८०॥

अर्थ—उस विवक्षितसमयमें रचे गए तवीनअपूर्वस्पर्धकोंकी प्रथमवर्गणासे लेकर अन्तिमवर्गणातक हीनक्रमसे और उस विवक्षितसमयसे पूर्वसमयोंके अपूर्व-पूर्व-स्पर्धकोंकी वर्गणाओंमें भी अनन्तर क्रमशः हीन-हीन प्रदेशाग्र दिखाई देते हैं ।

विशेषार्थ—अश्वकर्णकरणके द्वितीयसमयमें अपूर्वस्पर्धकोंकी शरणा पूर्वस्पर्धकोंकी एक-एक वर्गणामें जो प्रदेशाग्र दिखाई देता है वह नवीन अपूर्वस्पर्धकोंकी प्रथम-वर्गणामें बहुत और शेष सभी वर्गणाओंमें अनन्तरक्रमसे विशेषहीन है । तृतीयसमयमें भी यही क्रम है अर्थात् जो प्रदेशाग्र दिखता है वह नवीन अपूर्वस्पर्धकोंकी प्रथमवर्गणामें बहुत तथा ऊपर अनन्तरक्रमसे सभीवर्गणाओंमें विशेषहीन है । जो क्रम तृतीयसमयमें है वही क्रम प्रथमअनुभागकाण्डकके उत्कीर्ण होनेके अन्तिमसमयतक उपरिमसमयोंमें भी है ।

इसप्रकार प्रथमअनुभागकाण्डकघात होनेपर क्या होता है सो कहते हैं—

‘पढमाणुभागखंडे पडिदे अणुभागसंतकम्मं तु ।

लोभादणंतगुणिदं उवरिं वि अणंतगुणिदकमं ॥८७॥४८१॥

अर्थ—प्रथमअनुभागखण्डके पतन होतेपर लोभकषायसे ऊपर अनन्तगुणा अनुभाग होता । इसप्रकार अनुभागसत्कर्ममें अनन्तगुणा क्रम हो जाता है ।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०३८-३९ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६४-६५ सूत्र ५३६ एवं ५४०-४१ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३७१-७२ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २०३९-४० ।

४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६५ सूत्र ५४२ से ५४८ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३७२ ।

विशेषार्थ—प्रथमअनुभागकाण्डक उत्कोर्ण होनेके अन्तिमसमयसे अनन्तर अगले समयमें अनुभागसत्त्वमें विशेषता हो जाती है जो इसप्रकार है—संज्वलनलोभमें अनुभागसत्त्व स्तोक है, उससे संज्वलनमायामें अनुभागसत्त्व अनन्तगुणा है, उससे संज्वलनमानका अनुभागसत्त्व अनन्तगुणा है और उससे भी संज्वलनक्रोधका अनुभागसत्त्व अनन्तगुणा है । इससे आगे सम्पूर्ण अश्वकर्णकरणकालमें यही क्रम है^१ ।

आदोलस्त य पढमे णिव्वत्तिदअपुव्वफहुयाणि बहु ।

पडिसमयं पलिदोवममूलासंखेज्जभागभजियकमा ॥६१॥४८२॥

अर्थ—आंदोल अर्थात् अश्वकर्णकरणके प्रथमसमयमें निर्वर्तित अपूर्वस्पर्धक बहुत हैं उसके आगे प्रतिसमय पत्योपमके वर्गमूलके असंख्यातवेंभागसे भाजित क्रमसे हैं ।

विशेषार्थ—अश्वकर्णकरणके प्रथमसमयमें जो अपूर्वस्पर्धक रचे गए हैं उनकी संख्या बहुत है, द्वितीयसमयमें जो नवीन अपूर्वस्पर्धक रचे गए हैं उनकी संख्या असंख्यातगुणीहीन है । प्रथमसमयमें रचे गए अपूर्वस्पर्धकोंकी संख्याको पत्यके प्रथमवर्गमूलके असंख्यातवेंभागसे भाजित करनेपर जो लब्ध प्राप्त हो उतने दूसरे समयमें रचित नवीन अपूर्वस्पर्धक हैं । द्वितीयसमयके अपूर्वस्पर्धकोंकी पत्यके प्रथमवर्गमूलके असंख्यातवेंभागसे भाजित करनेपर जो प्राप्त हो तत्प्रमाण तृतीयसमयमें नवीन अपूर्वस्पर्धक रचे जाते हैं । इसप्रकार अश्वकर्णकरणकालमें प्रतिसमय जो नवीन अपूर्वस्पर्धक रचे जाते हैं जे क्रमसे असंख्यातगुणेहीन होते जाते हैं । असंख्यातगुणाहीन प्राप्त करनेके लिए पूर्वके अपूर्वस्पर्धकोंको पत्योपमके प्रथमवर्गमूलके असंख्यातवेंभागसे भाजित किया जाता है^२ ।

आदोलस्त य चरिमे अपुव्वादिमवग्गणाविभागादो ।

दो चडिमादीणादी चडिदव्वा मेत्तणंतगुणा ॥६२॥४८३॥

अर्थ—आंदोलकरण अर्थात् अश्वकर्णकरणकालके अन्तिमसमयमें प्रथमस्पर्धक की आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेदसे द्वितीयादि स्पर्धकोंकी आदिवर्गणाके अविभाग-

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०४० ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६६ सूत्र ५४६ से ५५३ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३७२ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २०४१ ।

४. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७६६ सूत्र ५५४ से ५५७ तक । धवल पु० ६ पृष्ठ ३७२-७३ ।

प्रतिच्छेद दुगुणे आदि हैं । अन्तिमस्पर्धककी प्रथमवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेद अनन्त-गुणे हैं ।

विशेषार्थः—अश्वकर्णकरणके अन्तिमसमयमें लोभकषायकी प्रथमअपूर्वस्पर्धक-सम्बन्धी आदिवर्गणामें अविभागप्रतिच्छेद स्तोक हैं । द्वितीय अपूर्वस्पर्धककी प्रथमवर्गणा-में अविभागप्रतिच्छेद दुगुणे और तृतीयस्पर्धककी प्रथमवर्गणामें अविभागप्रतिच्छेद तिगुणे हैं । इसप्रकार प्रथमस्पर्धककी प्रथमवर्गणासम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेदाग्रसे जितनवें स्पर्धककी प्रथमवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेदाग्रका संकल्प हो उतनवें स्पर्धककी प्रथम-वर्गणामें प्रथमस्पर्धकसम्बन्धी प्रथमवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेदाग्रसे उतनागुणा अविभाग-प्रतिच्छेदाग्र होता है । इसप्रकार अनन्तस्पर्धक बढ़नेपर अनन्तवें स्पर्धककी प्रथमवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेदाग्रका गुणाकार अनन्त है । अन्तिमस्पर्धककी प्रथमवर्गणाके अविभाग-प्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं, यह कथत एकपरमाणुसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेदकी अपेक्षा किया गया है सर्वपरमाणुकी अपेक्षा किंचित्ऊन दुगुणा तिगुणा आदि क्रम लिये है, क्योंकि प्रतिवर्गणामें परमाणुकी संख्याहीन होती जाती है । इसीप्रकार माया, मान और क्रोधके अपूर्वस्पर्धकोंमें अविभागप्रतिच्छेदसम्बन्धी अल्पबहुत्व जानना चाहिए ।

आदोलस्स य पढमे रसखंडे पाडिदे अपुव्वादो ।

कोहादी अहियकमा पदेसगुणहाणिफड्डया तत्तो ॥६३॥४८४॥

होदि असंखेज्जगुणं इमिफड्डयवग्गणा अणंतगुणा ।

तत्तो अणंतगुणिदा कोहस्स अपुव्वफड्डयाणं च ॥६४॥४८५॥

माणादीणहियकमा लोभगपुव्वं च वग्गणा तेसि ।

कोहोति य अट्ठपदा अणंतगुणिदक्कमा होति ॥६५॥४८६॥

अर्थ—आंदोलकरण अर्थात् अश्वकर्णकरणके प्रथम अनुभागखण्डके पतित होनेपर क्रोधादिके अपूर्वस्पर्धक विशेषअधिक क्रमसे हैं । प्रदेशगुणहानिके स्पर्धक उससे

१. जयधवल मूल पृ० २०४१ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६६-६७ सूत्र ५५८ से ५७७ । धवल पृ० ६ पृ० ३७३ । जयधवल मूल पृष्ठ २०४२-२०४३ ।

असंख्यातगुणे हैं, एक स्पर्धकसम्बन्धीवर्गणा अनन्तगुणी हैं, उससे अनन्तगुणी क्रोधकी अपूर्वस्पर्धकवर्गणाएं हैं इससे मानादि कषायोंमें विशेषअधिक क्रमसे हैं, लोभके पूर्वस्पर्धक और उनकी वर्गणाओंसे क्रोधपर्यन्त आठपद अनन्तगुणित क्रमसे हैं ।

विशेषार्थः—अश्वकर्णकरणके प्रथम अनुभागकाण्डके नष्ट होनेपर संज्वलन-कषायोंके शेष अनुभागसम्बन्ध अल्पबहुत्व इसप्रकार है—क्रोधकषायके अपूर्वस्पर्धक सबसे स्तोक हैं उससे मानकषायके अपूर्वस्पर्धक विशेषअधिक हैं, उससे मायाकषायके अपूर्वस्पर्धक विशेषअधिक और इससे लोभकषायसम्बन्धी अपूर्वस्पर्धक विशेषअधिक हैं । इनसे भी एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरके स्पर्धक असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि अपूर्वस्पर्धक एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरके स्पर्धकोंके असंख्यातवैभागप्रमाण हैं । एकस्पर्धककी वर्गणाएं अनन्तगुणी है, क्योंकि पूर्व या अपूर्वस्पर्धकोंमें एकस्पर्धकसम्बन्धी वर्गणाएं अभव्योंसे अनन्तगुणी और सिद्धोंके अनन्तवैभाग हैं, सर्वस्पर्धकोंमें वर्गणाओंका प्रमाण सदृश है । संज्वलनक्रोधकी अपूर्वस्पर्धकवर्गणाएं अनन्तगुणी हैं, क्योंकि संज्वलनक्रोधके अपूर्वस्पर्धक अनन्त हैं तथा तत्सम्बन्धी वर्गणाएं एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरके स्पर्धकों से असंख्यातवैभागगुणी हैं । एकस्पर्धकसम्बन्धी वर्गणाओंको एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरके स्पर्धकोंके असंख्यातवैभागप्रमाण स्पर्धकोंसे गुणा करनेपर संज्वलनक्रोधके सर्व अपूर्वस्पर्धकोंकी संख्या प्राप्त हो जाती है जो एकस्पर्धकसम्बन्धी वर्गणाओंसे अनन्तगुणी हैं, उससे संज्वलनमानके अपूर्वस्पर्धकसम्बन्धी वर्गणाएं विशेषअधिक हैं, उससे संज्वलनमायाके अपूर्वस्पर्धकोंकी वर्गणाएं विशेषअधिक हैं तथा इससे संज्वलनलोभकषायके अपूर्वस्पर्धकों की वर्गणाएं विशेषअधिक हैं, क्योंकि अपूर्वस्पर्धक विशेषअधिक क्रमसे हैं । लोभकषायके पूर्वस्पर्धक अनन्तगुणे हैं, क्योंकि पूर्वस्पर्धकोंके अनन्तवैभागप्रमाण अपूर्वस्पर्धक हैं, अपूर्वस्पर्धक एकप्रदेशगुणहानिस्थानान्तरके असंख्यातवैभाग हैं । अपूर्वस्पर्धकोंको एकस्पर्धकवर्गणासे गुणा करनेपर अपूर्वस्पर्धककी वर्गणाका प्रमाण प्राप्त होता है । पूर्वस्पर्धकोंके अनन्तवैभागप्रमाण पूर्वस्पर्धकसम्बन्धी नानागुणहानिस्थलाकासे एकस्पर्धककी वर्गणा अनन्तगुणीहीन है इसलिए अपूर्वस्पर्धकवर्गणाओंसे पूर्वस्पर्धक अनन्तगुणे हैं यह सिद्ध हो जाता है ।

संज्वलनलोभके पूर्वस्पर्धकोंकी वर्गणा अनन्तगुणी हैं, यहां गुणकार एकस्पर्धकसम्बन्धी वर्गणाशलाका है । मायाकषायके पूर्वस्पर्धक लोभकषायके पूर्वस्पर्धकोंसे अनन्तगुणे हैं, क्योंकि अनुभागखण्डके नष्ट हो जानेपर लोभादि संज्वलनकषायोंके पूर्वस्पर्धक

अनन्तगुणितवृद्धि क्रमसे अवस्थित हो जाते हैं । इसप्रकार लोभसंज्वलनके पूर्वस्पर्धकोंसे मायासंज्वलनके पूर्वस्पर्धकोंका अनन्तगुणापना विसंवादसे रहित है ।

शङ्का—लोभसंज्वलनके पूर्वस्पर्धकोंसे अनन्तगुणी वर्गणाओंसे मायास्पर्धक अनन्तगुणे कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि वर्गणाशलाकागुणकारसे स्पर्धक-शलाकागुणकार अनन्तगुणा है । संज्वलनलोभके पूर्वस्पर्धकोंको वर्गणाका प्रमाण प्राप्त करनेके लिए जिस अनन्तरूप संख्यासे गुणा किया जाता है उस अनन्तसंख्यासे अनन्त-गुणी वह संख्या है जिससे संज्वलनमायाके पूर्वस्पर्धक प्राप्त करनेके लिए लोभसंज्वलनके पूर्वस्पर्धकोंको गुणा किया जाता है । संज्वलनमायाके पूर्वस्पर्धकोंसे संज्वलनमायाके पूर्व-स्पर्धकसम्बन्धी वर्गणाएं अनन्तगुणी हैं उससे मानकषायके पूर्वस्पर्धक अनन्तगुणे और उन्हींकी वर्गणाएं उनसे अनन्तगुणी, उससे कोवकषायके पूर्वस्पर्धक अनन्तगुणे तथा उससे उन्हींकी वर्गणाएं अनन्तगुणी हैं ।

रसदिदिखंतायेवं संख्येऽसहस्रगाणि गंतूणं ।

तत्थ ये अपुव्वफड्डयकरणविही णिट्ठिदा होदी ॥६६॥४८७॥

अर्थ—इसप्रकार संख्यातहजार अनुभागकाण्डकघात व स्थितिकाण्डकघात व्यतीत हो जानेपर वहां अपूर्वस्पर्धककरणकी विधि पूर्ण होती है ।

विशेषार्थ—हजारों अनुभागकाण्डक हो जानेपर एकस्थितिकाण्डक होता है । संख्यातहजार स्थितिकाण्डक और उनसे हजारोंगुणे अनुभागकाण्डकोंके अन्तर्मुहूर्तकाल के द्वारा प्रतिसमय अपूर्वस्पर्धकोंकी रचना क्रिया होती है । इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकाल-तक अश्वकर्णकरण प्रवर्तमान रहता है^१, क्योंकि एक अन्तर्मुहूर्तकालमें ही संख्यातहजार-स्थितिकाण्डकों और उनसे हजारोंगुणे अनुभागकाण्डकोंके द्वारा अपूर्वस्पर्धकोंकी रचना पूर्ण हो जाती है ।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०४२-४३ ।

२. “एवमंतोबुद्धमस्तकण्णकरणं” (क० पा० सुत्त पु० ७६७ सूत्र २७८; व० पु० ६ पृष्ठ ३७३)
जयधवल मूल पृष्ठ २०४३ ।

‘हयकण्णकरणचरिमे संजलणाणदुवस्सठिदिवंधो ।

वस्साणं संखेज्जसहस्साणि हवंति सेसाणं ॥६७॥४८८॥

अर्थ—अश्वकर्णकरणके अन्तिमसमयमें संज्वलनकषायोंका आठवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है और शेषकर्मोंका संख्यातहजारवर्षवाला स्थितिबन्ध होता है ।

विशेषार्थ—अश्वकर्णकरणकालके प्रथमसमयमें संज्वलनकषायका बंध अंतर्मुहूर्त-कम १६ वर्ष और ज्ञानावरणादि शेषकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजारवर्ष होता था । जब अपूर्वस्पर्धक निर्वर्तनाका चरमसमय होता है उससमय संज्वलनक्रोध-मान-माया-लोभका स्थितिबन्ध घटकर जो बन्ध होता है उस बन्धकी स्थिति आठवर्षमात्र होती है, किन्तु ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन घातियाकर्म तथा वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन अघातियाकर्मोंका अर्थात् इन छहोंकर्मोंका स्थितिबन्ध हजारों स्थितिबंधावसरणके द्वारा संख्यातगुणा घटकर संख्यातहजारवर्षप्रमाण होता है, क्योंकि ये छहकर्म मोहनीयकर्मके समान अतिअप्रशस्त नहीं हैं ।

‘ठिदिसत्तमघादीणं असंखवस्साण होंति घादीणं ।

वस्साणं संखेज्जसहस्साणि हवंति णियमेण ॥६८॥४८९॥

अर्थ—अघातियाकर्मोंका स्थितिसत्त्व असंख्यातवर्षप्रमाण और घातियाकर्मोंका स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्षका नियमसे होता है ।

विशेषार्थ—अश्वकर्णकरणके चरमसमयमें नाम, गोत्र व वेदनीय इन तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिसत्त्व असंख्यातवर्ष और ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय इन चार घातियाकर्मोंका स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्ष होता है । इसप्रकार अश्वकर्णकरणका काल समाप्त होता है^१ ।

आगे आदरकृष्टिकरणकेकालका प्रमाण जाननेके लिए गाथासूत्र कहते हैं—

अक्कम्मे संखुद्धे कोहे कोहस्स वेदगच्छा जा ।

तस्स य पढमतिभागो होदि हु हयकण्णकरणद्धा ॥६९॥४९०॥

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६७ सूत्र ५७६-८० । धवल पु० ६ पृष्ठ ३७४ । जयधवल मूल पृष्ठ २०४४ ।

२. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७६७ सूत्र ५८१-८२ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३७४ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २०४४ ।

विदियतिभागो किट्टीकरणद्धा किट्टिवेदगद्धा हु ।

तदियतिभागो किट्टीकरणो ह्यकसणकरणं च ॥१००॥४६१॥

अर्थ—(छह नोकषायोंको संज्वलनक्रोधमें संक्रमणकरके नाश करनेके अनन्तर-वर्ती समयसे लेकर अन्तमुंहूर्तमात्र जो क्रोधवेदककाल है उसमें संख्यातका भाग देकर बहुभागके समानरूपसे तीन भाग करते हैं तथा अवशेष एकभागको संख्यातका भाग देकर उनमेंसे बहुभागको प्रथम त्रिभागमें एवं अवशिष्ट एकभागमें संख्यातका भाग देकर बहुभाग दूसरे त्रिभागमें तथा अवशेष एक भागको तृतीय त्रिभागमें जोड़ते हैं ।) इस-प्रकार करते हुए प्रथमत्रिभाग कुछ अधिक हुआ और वह अपूर्वस्पर्धक सहित अश्वकर्ण-करणका काल है सो पहले हो ही गया । द्वितीयत्रिभाग किंचित् ऊन है सो चार संज्वलनकषायोंका कृष्टि करनेका काल है जो अब प्रवृत्तमान है एवं तृतीयत्रिभाग किंचित् ऊन है जो कि क्रोधकृष्टिका वेदककाल है जो आगे प्रवृत्तमान होगा । इस कृष्टि-करणकालमें भी अश्वकर्णकरण पाया जाता है, क्योंकि यहां भी अश्वकर्णके आकाररूप संज्वलनकषायोंका अनुभागसत्त्व या अनुभागकाण्डक होता है अतः यहां कृष्टिसहित अश्वकर्णकरण पाया जाता है ।

विशेषार्थ—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छह नोकषायरूप कर्मप्रकृतियोंका संज्वलनक्रोधमें संक्रमण होकर नष्ट हो जानेपर अन्तमुंहूर्तप्रमाण क्रोध वेदककाल होता है । उसके तीन भाग होते हैं; उन तीन भागोंमेंसे प्रथमभाग सबसे बड़ा होता है, द्वितीयभाग उस प्रथमभागसे विशेषहीन होता है और तृतीयभाग इस दूसरे भागसे भी हीन कालवाला होता है । वह इसप्रकार है—क्रोध वेदककालको संख्यातसे भाजितकर उसमेंसे बहुभागके तीन समखण्ड होते हैं । क्रोधवेदककाल जो संख्यातका एकभाग शेष रहा उसको पुनः संख्यातसे भागदेकर बहुभाग प्रथम त्रिभागमें मिलानेपर प्रथमभागसम्बन्धी कालका प्रमाण होता है, शेष एक भागको पुनः संख्यातसे भागदेकर बहुभाग द्वितीयभागमें मिलानेसे द्वितीयभागके कालका प्रमाण होता है । शेष एकभागको तृतीयभागमें मिलानेपर तीसरेभागके कालका प्रमाण होता है । इस हीन क्रमसे क्रोधवेदककालके तीनखण्ड हैं । यद्यपि स्थूलरूपसे प्रत्येकभागको त्रिभाग कहा गया है तथापि वे क्रोधवेदककालके त्रिभागसे कुछ हीन या अधिक हैं । उन तीन भागों में से प्रथमभाग अश्वकर्णकाल है, द्वितीयभाग कृष्टिकरणकाल है और तृतीयभाग कृष्टि-वेदककाल है ।

अश्वकर्णकरणके समाप्त होनेपर अर्थात् प्रथमभागका काल समाप्त होनेपर तदनन्तरकालमें अन्यस्थितिवन्ध होता है । जो धारों संज्वलनकषायोंका अन्तर्मुहूर्त-कम आठवर्ष है और कर्मोंका स्थितिवन्ध पूर्वके स्थितिवन्धसे संख्यातगुणाहीन है अन्य अनुभागकाण्डक होता है । अन्य स्थितिकाण्डक होता है जो कि मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन चार धातियाकर्मोंका संख्यातसहस्रवर्ष है और नाम-गोत्र, वेदनीय इन तीन अधातियाकर्मोंका असंख्यातबहुभाग है^१ ।

कृष्टिकरणकालमें अश्वकरण भी होता है, क्योंकि अनुभागकी अपेक्षा कृष्टियों की रचना अश्वकर्णकरण भी होता है जिसके द्वारा संज्वलनकषायरूप कर्म कृष्ट किया जाता है, उसकी कृष्टि यह सार्थक संज्ञा है । यह कृष्टिका लक्षण है^२ ।

क्रोधादीणां सगसगपुञ्जापुञ्जगदफड्डयेहिंतो ।

उक्कट्टिदूण दव्वं ताणं किट्ठी करेदि कमे ॥१०१॥४६२॥

अर्थ—क्रोधादिके अपने-अपने पूर्व-अपूर्व स्पर्धकोंसे अपकर्षित द्रव्यके द्वारा क्रमसे कृष्टियां करता है ।

विशेषार्थ—कृष्टिकारक प्रथमसमयमें क्रोधके पूर्व और अपूर्वस्पर्धकोंसे प्रदेशाग्र-का अपकर्षणकर क्रोध कृष्टियोंको करता है । मानके पूर्व-अपूर्वस्पर्धकोंसे प्रदेशाग्रका अप-कर्षणकर मानकृष्टियोंको करता है । मायाके पूर्व और अपूर्वस्पर्धकोंसे प्रदेशाग्रका अप-कर्षणकर मायाकृष्टियोंको करता है । लोभके पूर्व-अपूर्वस्पर्धकोंसे प्रदेशाग्रका अपकर्षण-कर लोभकृष्टियोंको करता है^३ ।

उक्कट्टिददव्वस्स य पल्लासंखेज्जभागबहुभागो ।

आदरकिट्ठिणिबद्धो फड्डयगे सेसइणिभागो ॥१०२॥४६३॥

अर्थ—अपकर्षितद्रव्यको पल्लके असंख्यातवैभागसे भाजितकर उसमेंसे बहु-भागद्रव्य आदरकृष्टियोंमें दिया जाता है और एकभाग पूर्व-अपूर्वस्पर्धकोंमें दिया जाता है ।

१. क. पा. सुत्त पृष्ठ ७६७-७६८ सूत्र ५८५-५८८ ।

२. 'किसं कम्मं कदं जम्हा, तम्हा किट्ठी ॥७३३॥ एदं लक्खणं ॥७३४॥ (क. पा. सुत्त पृ. ८०८)

३. धवल पु० ६ पृष्ठ ३७४-३७५ ।

विशेषार्थ—डेढ़गुणहानि समयप्रबद्धप्रमाण सत्ता द्रव्य है, इसको अपकर्षणभाग-हारसे भाग देनेपर जो लब्ध आवे वह अपकर्षितद्रव्य है । उस अपकर्षितद्रव्यको पत्यो-पमके असंख्यातवैभागसे भाजित करनेपर जो द्रव्य प्राप्त हो वह तो पूर्व और अपूर्वस्पर्धकों में निक्षिप्त किया जाता है । शेष बहुभागद्रव्यसे बादरकृष्टियां निर्वर्तित होती हैं इस-प्रकार अपकर्षितद्रव्यका विभाजन होता है ।

किट्टीओ इगिफड्डयवग्गण संखाणरांतभागो दु ।

एक्केक्कम्मिह कसाए तियंति अहवा अणंता वा ॥१०३॥४६४॥

अर्थ—कृष्टियोंकी संख्या एक स्पर्धककी वर्गणाओंके अनन्तवैभाग है^१ । एक-एक कषायकी तीन-तीन कृष्टियां अथवा अनन्तकृष्टियां है ।

विशेषार्थ—चारों कषायोंकी कृष्टियां गणनासे एकस्पर्धककी वर्गणाओंकी संख्याको अनन्तकाभाग देनेसे जो लब्ध प्राप्त हो उतनी हैं अर्थात् अनन्त है, किन्तु संग्रह-की अपेक्षा संग्रहकृष्टि १२ हैं, क्योंकि क्रोध-मान-माया-लोभ इन चारों कषायोंमें से प्रत्येककी तीन-तीन संग्रहकृष्टियां हैं^२ । एक-एक संग्रहकृष्टिकी अनन्त अवयवकृष्टियां होती हैं इसकारणसे “अथवा अनन्त होती है” ऐसा कहा गया है^३ ।

अकसायकसायाणं दव्वस्स विभंजणं जहा होदी ।

किट्टिस्स तहेव हवे कोहो अकसायपडिबद्धं ॥१०४॥४६५॥

अर्थ—अकषाय अर्थात् नोकषाय और कषायमें द्रव्य (समयप्रबद्ध) का जिस प्रकार विभाजन होता है उसीप्रकार कृष्टियोंमें भी द्रव्यका विभाजन होता है, किन्तु अकषायका द्रव्य क्रोधकृष्टिमें सम्मिश्रित होता है ।

१. धवल पु० ६ पृष्ठ ३७५ ।

२. धवल पु० ६ पृष्ठ ३७६ । “ताएव किट्टयः परमार्थतोऽनन्तापि स्थिरजाति भेदापेक्षया द्वादश कल्प्यन्ते, एकैकस्य कषायस्य तिस्रस्तिस्रः ।” (जयधवल पु० ६ पृष्ठ ३८१ टि० नं० ५) “एक्के-क्कम्मिह कसाए तिण्णि तिण्णि किट्टीओ ति एवं तिग्ग तिग्ग” क. पा. सुत्त पृष्ठ ८०६ सूत्र ७१४ ।

३. “एक्केक्किस्से संगहकिट्टीए अणंताओ किट्टीओ ति एदेए अथवा अणंताओ जादा । (क० पा० सुत्त पृष्ठ ८०६ सूत्र ७१५ ।

विशेषार्थः—विभाजनद्वारा समयप्रबद्धका जितना द्रव्य चारित्रमोहको मिलता है उसमेंसे आधा नोकषायसम्बन्धी है और आधा क्रोध-मान-माया-लोभ इन चार कषाय सम्बन्धी है । इसप्रकार प्रत्येक कषायको चारित्रमोहसम्बन्धी अर्धद्रव्यका चतुर्थभाग मिलता है अर्थात् क्रोधकषायका चारित्रमोहनीय द्रव्यका आठवांभाग तथा मानका, मायाका और लोभका भी चारित्रमोहनीयद्रव्यका आठवां-आठवां भाग है । नोकषायस्वरूप चारित्रमोहनीयका आधाद्रव्य है ।

क्षपक अनिवृत्तिकरणकालके संख्यात बहुभाग व्यतीत हो जानेपर १३ प्रकृतियों का अन्तरकरण करके फिर नपुंसकवेदकी क्षपणाका प्रारम्भ करता है । पुनः उसका प्रारम्भ करते हुए गुणसंक्रमणके द्वारा नपुंसकवेदको पुरुषवेदमें संक्रान्त करता है, क्योंकि नवम गुणस्थानमें अन्तरकरण करनेके बाद जो संक्रमण होता है वह आनुपूर्वी क्रमसे होता है अतः शेषकषायोंमें नपुंसकवेद और स्त्रीवेदका संक्रमण न करके नपुंसकवेदका क्षपण करता हुआ नपुंसकवेदकी द्विचरमफालीके प्राप्त होने तक जाता है, उसके बाद अन्तिमफालीका पुरुषवेदमें संक्रमण होनेपर नपुंसकवेद नष्ट हो जाता है फिर स्त्रीवेदका क्षपण प्रारम्भ करके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उसके क्षपणाकालसम्बन्धी चरमसमयमें स्त्रीवेदकी अन्तिमफालीका पुरुषवेदमें संक्रमण होनेपर स्त्रीवेदका भी सम्पूर्णद्रव्य पुरुषवेदमें संक्रान्त हो जाता है । पुनः इस पुरुषवेद (जिसमें नपुंसकवेद और स्त्रीवेद, इन दोनों वेदोंका द्रव्य संक्रान्त हो चुका है) के साथ शेष छह नोकषाय (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) का द्रव्य क्रोधसंज्वलनमें संक्रान्त हो जानेपर क्रोधसंज्वलनका उत्कृष्ट संचय होता है^१, क्योंकि उससमय क्रोधसंज्वलनका द्रव्य चारित्रमोहनीयके द्रव्यके (३ + ३) आठ भागोंमें से पांचभागप्रमाण हो जाता है । इसप्रकार ६ नोकषायोंका द्रव्य जो चारित्रमोहनीयके अर्धद्रव्यप्रमाण है वह क्रोधकृष्टिमें सम्मिलित होता है ।

क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे प्रथमसंग्रहकृष्टिमें प्रदेशाग्र ठेरहगुणा कैसे संभव है, इसका स्पष्टीकरण यह है कि मोहनीयकर्मका सर्वप्रदेशरूप द्रव्य अङ्कुसन्दृष्टिका अपेक्षा ४६ कल्पित कीजिए । इसके दो भागोंमेंसे असंख्यातवैभागसे अधिक एकभाग (२५) तो कषायरूप द्रव्य है और असंख्यातवैभागसे हीन शेष दूसराभाग (२४) नो-

कषायरूप द्रव्य है । अब यहाँपर कषायरूप द्रव्यको क्रोधदि चारकषायोंकी १२ संग्रह-कृष्टियोंमें विभाग करनेपर क्रोध प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य (२) अंकप्रमाण रहता है जो कि मोहनोयकर्मके सकल (४६) द्रव्यकी अपेक्षा कुछ अधिक २४वाँ भागप्रमाण है । प्रकृत कृष्टिकरणहटानेमें नोकाषायोंका सत्यद्रव्य भी संजवलनक्रोधमें संक्रमित हो जाता है जो कि सर्व ही द्रव्यकृष्टि करनेवालेके क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिरूपसे ही परिणत होकर अवस्थित रहता है । इसका कारण यह है कि वेदन की जानेवाली प्रथमसंग्रहकृष्टिरूप से ही उसके परिणमनका नियम है । इसप्रकार क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके प्रदेशाग्रका स्वभाग (२) इस नोकाषायद्रव्य (२४) के साथ मिलकर $(२+२४=२६)$ क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके दो अङ्कप्रमाण द्रव्यकी अपेक्षा तेरहगुणा $(२ \times १३=२६)$ सिद्ध हो जाता है । अतएव चूणिकारने उसे तेरहगुणा बतलाया है ।

इसप्रकार उपर्युक्त सूत्रसे सूचित स्वस्थान-अल्पबहुत्व इसप्रकार जानना चाहिए । क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें प्रदेशाग्र संख्यातगुणित है । मानका स्वस्थानअल्पबहुत्व इसप्रकार है—मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें प्रदेशाग्र सबसे कम है, द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें विशेष अधिक हैं, तृतीय संग्रहकृष्टिमें विशेषअधिक हैं । इसीप्रकार माया और लोभ-सम्बन्धी स्वस्थान-अल्पबहुत्व जानना चाहिए ।

पटमादिसंगहाओ पल्लासंखेज्ज भागहीणाओ ।

कोहस्स तदीयाए अकसायाणं तु किट्ठीओ ॥१०५॥४६६॥

अर्थ—संग्रहकृष्टिकरणकी प्रथम (जघन्य) संग्रहकृष्टिसे लेकर आगे-आगे क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टितक द्रव्य हीन होता गया है । प्रथमसंग्रहकृष्टिके द्रव्यको पल्ल-के असंख्यातवैभागसे भाग देनेपर जो प्रमाण आवे उतना द्रव्य द्वितीयसंग्रहकृष्टि कष है । कृष्टिकरणकी अपेक्षा क्रोधकी तृतीयकृष्टि (उदयापेक्षा क्रोधकी प्रथमकृष्टि) में नोकाषायका द्रव्य मिल जाता है ।

१. क० पा० सुत्त ८१२ । गाथा ६६ से १०४ तक ६ गाथाओंकी टीका मात्र क० पा० सुत्त और धवल पु० ६ के आधारसे लिखी गई है क्योंकि जयधवल मूल (फलटनसे प्रकाशित) के पृष्ठ २०४५ से २०४८ के पृष्ठ नहीं मिल सके । इन गाथाओं सम्बन्धी विषय उन पृष्ठोंमें होगा ऐसा प्रतीत होता है ।

विशेषार्थ—गाथा १०५ का विशेषार्थ कषायगहुड़ गाथा १७० और जय घवलमूलटीका के आधारसे लिखा जा रहा है । क. पा. गाथा १७० में उदयकी अपेक्षा 'प्रथमादि' कम रखा गया है अतः यहां भी उदयकी अपेक्षा ही प्रथमादि कम लिखा जावेगा । जैसे ऊपर गाथामें तो "क्रोधकी तृतीयकृष्टिमें नोकषायका द्रव्य मिलाया गया है" ऐसा कहा है, किन्तु उदयापेक्षा वह तृतीयकृष्टि ही प्रथमकृष्टि है इसीलिए क. पा. गाथा १७० में "प्रथमकृष्टिमें नोकषायका द्रव्य मिलाया गया है" ऐसा कहा है, क्योंकि कृष्टिरचना तो नीचेसे ऊपरकी ओर होती है अर्थात् जघन्यअनुभागसे उत्तरोत्तर अनुभाग बढ़ते हुए कृष्टिरचना होती है, किन्तु प्रथमउदय अधिक अनुभागवाला होता है तथा आगे उत्तरोत्तर हीनअनुभागका उदय होता जाता है अर्थात् उदय ऊपरसे नीचेकी ओर होता है ।

क्रोधोदयकी अपेक्षा द्वितीयसंग्रहकृष्टिके प्रदेशाग्र अल्प हैं, उससे उदयागत प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संख्यातगुणे अर्थात् तेरहगुणे प्रदेशाग्र हैं, क्योंकि इस कृष्टिमें नोकषाय का द्रव्य मिल गया है । उसी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे तृतीयसंग्रहकृष्टिमें विशेष अधिक द्रव्य है, क्योंकि यह बादमें उदय आवेगा । इसप्रकार क्रोधकषायकी तीनसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी अल्पबहुत्व जानना ।

शंका—क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे उदयागत प्रथमसंग्रहकृष्टि तेरहगुणी किस प्रकार है ? **समाधान—**अङ्कसन्दृष्टिमें मोहनोयकर्मका सर्वद्रव्य (४९) है । इसके दो भाग करनेपर असंख्यातवैभागअधिक एकभाग कषायका द्रव्य है जिसकी अङ्कसन्दृष्टि (२५) है और असंख्यातवैभागसे हीन शेष दूसरा नोकषायसम्बन्धी द्रव्य है, जिसकी अङ्कसन्दृष्टि (२४) है । कषायभागको बारह संग्रहकृष्टियोंमें विभाजित करनेपर क्रोधकषाय की प्रथमसंग्रहकृष्टिमें कषायसम्बन्धी द्रव्यका १२वां भाग है उसकी सन्दृष्टि (२) है । नोकषायका सर्वद्रव्य भी क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें मिलता है, क्योंकि यह उदयागत-कृष्टि है । कषायसम्बन्धी प्रत्येकसंग्रहकृष्टिके द्रव्यसे नोकषायका द्रव्य १२ गुणा है, क्योंकि कषाय द्रव्यका १२ संग्रहकृष्टियोंमें विभाजन होनेसे प्रत्येक संग्रहकृष्टिको १२ वै भाग द्रव्य मिला है । क्रोधकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य कषायसम्बन्धी सकल-द्रव्यका १२ वां भाग है जिसकी सन्दृष्टि दो है अतः द्वितीयसंग्रहकृष्टिके द्रव्य (२) से उदयागत प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य (२६) तेरहगुणा सिद्ध हो जाता है ।

शंका—क्रोधकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके द्रव्यसे तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य कितना अधिक है? समाधान—क्रोधकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके द्रव्यको पत्यके असंख्यातवैभागसे खण्डित करने एकखण्डप्रमाण तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेष अधिक है।^१

उदय (वेदक) की अपेक्षा मानकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टि अथवा कारककी अपेक्षा मानकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य स्तोक है; उससे द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेष अधिक है, क्योंकि तीव्रअनुभागवाले प्रदेशपिण्डसे मन्दअनुभागवाला प्रदेशपिण्ड अधिक होता है। द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेष अधिक है। विशेष के लिए प्रतिभाग पत्यका असंख्यातवांभाग है, यह प्रतिभाग स्वस्थानके लिए है अर्थात् मानकषायकी तीनसंग्रहकृष्टियों में परस्पर विशेषका प्रमाण स्वस्थानविशेष है। इसी प्रकार माया व लोभकषायमें भी स्वस्थानविशेष जानना चाहिए।

मानकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसे क्रोधकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेष अधिक है। यहांपर विशेषके लिए प्रतिभाग आवलिका असंख्यातवांभाग है; क्योंकि यहां परस्थानविशेष है कारण कि मान और क्रोध दोनों भिन्न-भिन्न कषाय हैं। क्रोधकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेष अधिक है; यहांविशेषका प्रतिभाग पत्यका असंख्यातवांभाग है। मायाकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य क्रोधकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसे विशेष अधिक है, यहां विशेषअधिकके लिए प्रतिभाग आवलिका असंख्यातवांभाग है, क्योंकि परस्थान है। मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके द्रव्यसे माया कषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेष अधिक है। यहां विशेष अधिकके लिए प्रतिभाग पत्यका असंख्यातवांभाग है, क्योंकि स्वस्थान है। इससे मायाकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेष अधिक है यहां भी स्वस्थान होनेसे विशेषअधिकके लिए प्रतिभाग पत्यका असंख्यातवांभाग है। मायाकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसे लोभकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेष अधिक है, यहांपर परस्थान होनेसे विशेषअधिकके लिए प्रतिभाग आवलिका असंख्यातवांभाग है, क्योंकि माया व लोभकषाय भिन्न-भिन्न कषायें हैं। लोभकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे लोभकी ही द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेष अधिक है और इससे तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य विशेष अधिक है। यहां द्वितीय और तृतीय दोनों ही कृष्टियोंमें विशेषअधिकके लिए प्रतिभाग पत्यका असंख्यातवांभाग है, क्योंकि स्वस्थान है। इस

१. "विशेषो पतिदोवमस्स अराखेज्जदिभागपडिभागो" (क. पा. सुत्त पृ० ८१२ सूत्र ७६२)

प्रकार क्रोधकषायकी उदयागत प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य संख्यातगुणा अर्थात् तेरहगुणा है, क्योंकि इसमें नोकषायका द्रव्य मिल गया है ।

किस कषायोदयसे श्रेणी चढ़नेवालेके कितनी संग्रहकृष्टियां होती हैं —

क्रोधस्स य माणस्स य मायालोभोदण चडिदस्स ।

बारस णव छ तिरिण य संगहकिट्ठी केमे होति ॥१०६॥४६७॥

अर्थ—क्रोध-मान-माया अथवा लोभके उदयसे क्षयकश्रेणि चढ़नेवाले के क्रम से १२-६-६ व ३ संग्रहकृष्टियां होती हैं ।

विशेषार्थः—संज्वलनक्रोधके उदयसहित जो जीव श्रेणी चढ़ता है उसके तो चारों कषायोंकी बारह संग्रहकृष्टि होती हैं, क्योंकि प्रत्येक कषायकी तीन-तीन संग्रहकृष्टि होती हैं । मानकषायके उदयसहित श्रेणी चढ़ता है, उसके कृष्टिकरणकालसे पहले ही क्रोधका संक्रमण करके स्पर्धकरूपसे क्षय होता है इसलिए संज्वलनक्रोधकी संग्रहकृष्टि नहीं होती अवशेष तीन कषायोंकी ६ संग्रहकृष्टि होती हैं, मायाकषायके उदयसहित जो श्रेणी चढ़ता है उसके क्रोध व मानकषायका कृष्टिकरणकालसे पहले ही संक्रमण करके स्पर्धकरूपसे क्षय होता है इसलिए दो कषायोंकी छहसंग्रहकृष्टि होती है तथा लोभकषाय के उदयसहित जो श्रेणी चढ़ता है उसके क्रोध-मान व मायाकषायका कृष्टिकरणकालसे पहले ही स्पर्धकरूपसे संक्रमणकरके क्षय होता है इसलिए एक लोभकषायकी ही तीन संग्रहकृष्टि होती हैं । यहाँ जितनी संग्रहकृष्टि होती हैं उन्हींमें कृष्टिप्रमाणका विभाग र्थासम्भव जानना चाहिए ।

अन्तरकृष्टियोंकी संख्या व उनका क्रम—

संगहमे एक्केक्के अंतरकिट्ठी हवदि हु अणंता ।

लोभादि अणंतगुणा कोहादि अणंतगुणहीणा ॥१०७॥४६८॥

अर्थ—एक-एक संग्रहकृष्टिमें अन्तरकृष्टियां अनन्त हैं तथा उन संग्रहकृष्टियोंमें लोभकषायसे लेकर क्रमसे अनन्तगुणा बढ़ते हुए और क्रोधकषायसे लेकर क्रमसे घटता हुआ अनुभाग जानना ।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०८२ से २०८६ तक ।

२. जयधवल मूल पृष्ठ २०७१ से २०७३ ।

विशेषार्थ—क्रोध-मान-माया व लोभ इन चारोंकषायोंमें प्रत्येककषायकी तीन-तीन संग्रहकृष्टि होकर सर्व (४×३) १२ संग्रहकृष्टियां होती हैं तथा इनमेंसे एक-एक संग्रहकृष्टियोंमें अवान्तरकृष्टियां अभव्योंसे अनन्तगुणी और सिद्धोंके अनन्तवैभाग-प्रमाण अनन्त होती हैं और इनके अन्तर भी अनन्त हैं । एक-एक कृष्टिसम्बन्धी अवान्तरकृष्टियोंके अन्तरकी संज्ञा “कृष्टिअन्तर” है एवं संग्रहकृष्टिके ग्यारह अन्तरालोंमें रची गई कृष्टियोंकी “संग्रहकृष्टिअन्तर” संज्ञा है । इनमेंसे कृष्टिअन्तरके गुणकारकी ‘स्वस्थानगुणकार’ और संग्रहकृष्टिअन्तरके गुणकारकी “परस्थानगुणकार” संज्ञा है ।

लोभकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें अनुभाग स्तोक है, उससे द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें अनन्तगुणा है । इसप्रकार अनन्तगुणा क्रम लीये क्रोधकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टितक जाना चाहिए, यह कथन अनुलोभकी अपेक्षा है । विलोमकी अपेक्षा क्रोधकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें अनुभाग सबसे अधिक है, उससे क्रोधकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें अनन्तगुणाहीन है । इसप्रकार क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसे लेकर लोभकषायकी प्रथम संग्रहकृष्टिपर्यन्त अनन्तगुणेहीन क्रमसे अनुभाग होता है । इसका विशेषकथन आगे गाथा १०८ में किया जावेगा ।

उपर्युक्त गाथाके कथनका स्पष्टीकरण करनेके लिए गाथा सूत्र कहते हैं —

‘लोभादी कोहोत्ति य सट्ठाणंतरमणंतगुणिदकमं ।

तत्तो बादरसंगहकिट्ठी अंतरमणंतगुणिदकमं ॥१०८॥४६६॥

अर्थ—लोभकषायसे क्रोधकषायपर्यन्त स्वस्थान अन्तर^१ अनन्तगुणा क्रम लीये है तथा उस स्वस्थानअन्तरसे बादरसंग्रहकृष्टिअन्तर अनन्तगुणा क्रमसहित है ।

१. “एक्केविकस्से संगहकिट्ठीए अणताओ किट्ठीओ । तासि अंतराणि वि अणताणि । तेसिमंतराणं सण्णा किट्ठी-अंतराइ^२ णाम ।” संग्रहकिट्ठाए च संग्रहकिट्ठीए च अंतराणि एवकारस, तेसि सण्णा संग्रहकिट्ठी-अंतराइणाम । (क. पा. सुत्त पृष्ठ ७६६ सूत्र ६११) ध० पु० ६ पु० ३७६ । जयधवल मूल पु० २०५१ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६६ से ८०१ सूत्र ६१४ से ६४२ तक । धवल पु० ६ पु० ३७८ ।

३. “तत्थ सत्थाणगुणगारस्स किट्ठीअंतरमिदि सण्णा, परत्थाणगुणगाराणं संगहकिट्ठीणं अंतराणि त्ति सण्णा ।” अर्थात् एकसंग्रहकृष्टि की अन्तरकृष्टियोंका जो परस्पर गुणकार है वह स्वस्थान-गुणकार है । एकसंग्रहकृष्टि की अन्तरकृष्टिका जो गुणकार है वह परस्थान गुणकार है । (जयधवल मूल पृष्ठ २०५१)

विशेषार्थ—बादरसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी एक-एकसंग्रहकृष्टिमें अन्तरकृष्टि सिद्ध-
राशिके अनन्तर्वेभागमात्र है तथा उनकेअन्तराल एककम कृष्टिप्रमाण हैं, क्योंकि दोकृष्टियों
के बीचमें एक अन्तराल, तीन कृष्टियोंके बीचमें दो अन्तराल होते हैं । इसप्रकार विव-
क्षितकृष्टिप्रमाणमें अन्तराल एककम उस कृष्टिप्रमाण होता है । यहां कारणमें कार्यका
उपचार होनेसे अन्तरकी उत्पत्तिमें कारणभूत गुणकारोंको अन्तर कहते हैं । और इन्हीं
का नाम कृष्ट्यन्तर है । अधस्तनसंग्रहकृष्टि और उपरितनसंग्रहकृष्टिके बीचमें ११
अन्तराल होते हैं, क्योंकि क्रोधादि चारकषायसम्बन्धी संग्रहकृष्टियां १२ हैं अतः एककम
(१२-१) अन्तरोंका प्रमाण होगा, इन्हींको संग्रहकृष्ट्यन्तर कहते हैं । यहां उक्त कथन
का यह अभिप्राय जानना कि जितने अन्तराल होते हैं सतनीबार अन्तरकृष्टियोंकी रचना
होती है और उनमें स्वस्थान परस्थान गुणकार होता है । वहां स्वस्थानगुणकारका
नाम कृष्ट्यन्तर है तथा परस्थान गुणकारों का नाम संग्रहकृष्ट्यन्तर है । एकही संग्रह-
कृष्टिमें अधस्तन अन्तरकृष्टिसे उपरितन संग्रहकृष्टिमें जो गुणकार होता है वह तो
स्वस्थानगुणकार तथा अधस्तन संग्रहकृष्टिकी अन्तिम अन्तरकृष्टिसे अन्य संग्रहकृष्टि
सम्बन्धी प्रथमअन्तरकृष्टिमें जो गुणकार होता है उसे परस्थान गुणकार कहते हैं । इस-
प्रकार संज्ञाएं बताकर कृष्ट्यन्तर और संग्रहकृष्टियोंका अल्पबहुत्वको स्पष्टरूपसे बताने
के लिए अङ्कसन्दृष्टिद्वारा कथन करते हैं—

यहां अनन्तकी सन्दृष्टि दो और एकसंग्रहकृष्टिमें अन्तरकृष्टिके प्रमाणकी
सन्दृष्टि (४) है । सर्वप्रथम लोभकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी जघन्यकृष्टिको
स्थापित करके उसमें अनन्तरूप गुणकारसे गुणा करने पर उसकी द्वितीयकृष्टिका
प्रमाण होता है । यहां उस गुणकारको जघन्यकृष्ट्यन्तर कहते हैं और उसकी सहनानी
(२) है तथा द्वितीयकृष्टिको जिस गुणकारके द्वारा गुणा करनेसे तृतीयकृष्टि होती है
उस गुणकारको द्वितीयकृष्ट्यन्तर कहते हैं, यह जघन्यकृष्ट्यन्तरसे अनन्तगुणा है और
इसकी सहनानी (४) है । इसीप्रकार क्रमसे तृतीयादि कृष्ट्यन्तर अनन्तगुणे-अनन्तगुणे
होते हैं । जिस गुणकारसे द्विचरमकृष्टिको गुणा करनेसे अन्तिमकृष्टि होती है वह
अन्तिमगुणकार द्विचरमगुणकारसे अनन्तगुणा है और उसकी सहनानी (८) है । प्रथम-
संग्रहकृष्टिकी अन्तिमकृष्टिको जिसगुणकारसे गुणा किया जानेसे द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी
प्रथमकृष्टि होती है वह गुणकार परस्थानगुणकार है और यह स्वस्थानगुणकारोंसे
अनन्तगुणा है । अतः इसको छोड़कर द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी प्रथमकृष्टिको जिस गुणकारसे

गुणा करनेपर उसको (द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी) द्वितीयकृष्टि होती है वह प्रथमगुणकार उपर्युक्त अन्तिमस्वस्थानगुणकारसे अनन्तगुणा है इसको अङ्कसन्दृष्टि (१६) है । इस प्रकार बीच-बीचमें परस्थानगुणकारको छोड़कर एक-एककृष्टिके प्रति गुणकारका प्रमाण अनन्तगुणा जानना । यहां कृष्टियोंके प्रमाणमें से एककम प्रमाण अन्तराल हैं उनमें ११ परस्थानगुणकार और एक जघन्यगुणकार पाया जाता है । अन्तिम प्राप्त संख्याका गुणकार नहीं होता (सन्दृष्टिमें ४२ = ३२७६८) इसप्रकार इन १३को कृष्टियों के प्रमाणमें से घटानेपर अवशेष जितना प्रमाण रहा उतनीबार जघन्य गुणकारको अनन्तसे गुणा करनेपर जो लब्ध आया उससे क्रोधकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिकी द्विचरम-कृष्टिकी गुणा करें तो क्रोधकषायकी तृतीय संग्रहकृष्टिसम्बन्धी चरमकृष्टि होती है । यहां अङ्कसन्दृष्टिमें ४८ कृष्टियोंमेंसे १३ घटानेसे (४८-१३) ३५ शेष रहे अतः ३५ बार अनन्तके प्रमाण (२) को परस्परमें गुणा करनेपर १६ गुणा बादाल (१६×बादाल) लब्ध आया । यहांसे स्वस्थानगुणकारको छोड़कर पुनः लौटकर लोभकी प्रथमसंग्रह-कृष्टिकी अन्तिमवर्गणाको (कृष्टिकी) जिस गुणकारसे गुणा करनेसे द्वितीयसंग्रहकृष्टि-की प्रथमवर्गणा (कृष्टि) होती है वह परस्थानगुणकार पूर्वोक्त अन्तिमस्वस्थानगुणकारसे अनन्तगुणा है और इसको सन्दृष्टि ३२ गुणा बादाल (३२×बादाल) है तथा लोभ-कषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी अन्तिमकृष्टिकी जिस गुणकारसे गुणा करनेपर लोभकषाय-की तृतीयसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी प्रथमकृष्टि होती है वह द्वितीयपरस्थानगुणकार उपर्युक्त प्रथमपरस्थानगुणकारसे अनन्तगुणा है एवं लोभकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी अन्तिमकृष्टिकी जिस गुणकारसे गुणा करनेपर मायाकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी प्रथमअन्तरकृष्टि होती है वह तृतीयपरस्थानगुणकार पूर्वोक्त द्वितीयपरस्थानगुणकारसे अनन्तगुणा है । इसीप्रकार ११ परस्थानगुणकारोंको क्रमसे अनन्तके द्वारा गुणा करनेपर क्रोधकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी अन्तिमकृष्टिकी जिस गुणकारसे गुणा करनेसे क्रोधकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी प्रथमकृष्टि होती है उस गुणकार प्रमाण लब्ध-राशि प्राप्त होती है ।

कृष्टिअन्तरों एवं संग्रहकृष्टिअन्तरोंका अल्पबहुत्व इसप्रकार है—

लोभकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें जघन्यकृष्टिअन्तर अर्थात् जिस गुणकारसे गुणित जघन्यकृष्टि अपनी द्वितीयकृष्टिका प्रमाण प्राप्त करती है वह गुणकार सबसे

कम है, इससे द्वितीयकृष्टिका अन्तर अनन्तगुणा है । इसप्रकार अनन्तर-अनन्तररूपसे जाकर अन्तिमकृष्टिअन्तर अनन्तगुणा है । लोभकषायकी ही द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें प्रथम-कृष्टि अन्तर अनन्तगुणा है । इसप्रकार अनन्तर-अनन्तररूपसे अन्तिमकृष्टि अन्तरतक अनन्तगुणा अन्तर जानना चाहिए । पुनः लोभकषायकीही तृतीयसंग्रहकृष्टिमें प्रथमकृष्टि अन्तर अनन्तगुणा है । ऐसे अनन्तर-अनन्तररूपसे जाकर अन्तिमकृष्टि अन्तर अनन्तगुणा है । यहांसे आगे मायाकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें प्रथमकृष्टि अन्तर अनन्तगुणा है । इसप्रकार अनन्तर अनन्तररूपसे मायाकषायकी भी तीनों संग्रहकृष्टियोंके कृष्टि-अन्तर यथाक्रमसे अनन्तगुणित श्रेणीके द्वारा ले जाना चाहिए । यहांसे आगे मानकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें प्रथमकृष्टिअन्तर अनन्तगुणा है । इसप्रकार मानकषायकी भी तीनों संग्रहकृष्टियोंके कृष्टिअन्तर यथाक्रमसे अनन्तगुणित श्रेणीके द्वारा ले जाना चाहिए । यहांसे आगे क्रोधकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें प्रथमकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है । इसप्रकार क्रोधकषायकी भी तीनों संग्रहकृष्टियोंके अन्तर यथाक्रमसे अन्तिम-अन्तरपर्यन्त अनन्त-गुणित श्रेणीके द्वारा ले जाना चाहिए ।

उससे अर्थात् स्वस्थानगुणकारोंके अन्तिमगुणकारसे लोभकषायकी प्रथमसंग्रह-कृष्टिका अन्तर अनन्तगुणा है । इससे द्वितीयसंग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है और इससे तृतीयसंग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है । लोभ व मायाकषायसम्बन्धी अन्तर अनन्तगुणा है । मायाकषायका प्रथमसंग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है, इससे द्वितीयसंग्रहकृष्टिअन्तर अनन्तगुणा है, इससे तृतीयसंग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है । मायाकषायसे मानकषायका अन्तर अनन्तगुणा है । मानकषायका प्रथमसंग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है, इससे द्वितीय-संग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है, इससे तृतीयसंग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है । मानकषाय और क्रोधकषायका अन्तर अनन्तगुणा है । क्रोधकषायका प्रथमसंग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है, इससे द्वितीयसंग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है और इससे तृतीय-संग्रहकृष्टि-अन्तर अनन्तगुणा है । क्रोधकषायकी अन्तिमकृष्टिसे लोभकषायके अपूर्वस्व-धर्मोंकी आदिवर्गणाका अन्तर अनन्तगुणा है ।^१

गुणकारसम्बन्धी सन्दृष्टि इसप्रकार है—

नाम	लोभ	माया	मान	क्रोध	
तृतीयसंग्रहकृष्टिमें स्वस्थानगुणकार	५१२ २५६ १२८	६५ = ४ ६५ = २ ६५ = १	६५ = २०४८ ६५ = १०२४ ६५ = ५१२	४२ = १६ ४२ = ८ ४२ = ४	
परस्थानगुणकार	४२ = ६४	४२ = ५१२	४२ = ४०९६	४२ = ३२७६८	
द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें स्वस्थानगुणकार	६४ ३२ १६	३२७६८ १६३८४ ८१९२	६५ = २५६ ६५ = १२८ ६५ = ६४	४२ = २ ४२ = १ ६५ = ३२७६८	
परस्थानगुणकार	४२ = ३२	४२ = २५६	४२ = २०४८	४२ = १६३८४	
प्रथमसंग्रहकृष्टिमें स्वस्थानगुणकार	८ ४ २	४०९६ २०४८ १०२४	६५ = ३२ ६५ = १६ ६५ = ८	६५ = १६३८४ ६५ = ८१९२ ६५ = ४०९६	अपूर्वस्पर्धक वर्गणा गुण०
परस्थानगुणकार	परस्थान (४२)	४२ = १२८	४२ = १०२४	४२ = ८१९२	४२ = ६५ =

नोट—जपर्युक्त सन्दृष्टिमें पण्णट्टीकी सहनानी ६५ = और बादालकी सह-
सानी ४२ = है तथा इनके आगे जो अंक हैं उतनेका इनमें गुणकार जानना ।

अंकसन्दृष्टिके द्वारा ११ परस्थान गुणकारोंको १० बार दुगुणा करनेपर
३२७६८ गुणा बादाल प्रमाण होता है और इससे उस गुणकारका प्रमाण अनन्तगुणा
जानना जिस गुणकारके द्वारा क्रोधकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिकी अन्तिमसंग्रहकृष्टिकी
गुणा करनेसे लोभकषायके अपूर्वस्पर्धककी प्रथमवर्गणाके अनुभागसम्बन्धी अविभागप्रति-
च्छेदोंका प्रमाण होता है । उस गुणकारकी सन्दृष्टि ६५ = ४२ (पण्णट्टी × बादाल) है ।
इसप्रकार गुणकारोंका प्रमाण कहा, उसका स्पष्टीकरण करते हैं—अंकसन्दृष्टिमें जैसे
लोभकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी जघन्यकृष्टिमें जो अनुभाग पाया जाता है, उससे
दुगुणा द्वितीयकृष्टिमें तथा उससे चारगुणा तृतीयकृष्टिमें, उससे आठगुणा अन्तिमकृष्टि
में पाया जाता है । इससे ३२ गुणित बादाल गुणा (३२ × बादाल) लोभकषायकी

द्वितीयसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी प्रथमकृष्टिमें अनुभाग है । यहांसे पहले अन्यप्रकार गुणकार था अतः वही पर्यन्त प्रथमसंग्रहकृष्टिकी ही कृष्टियां हैं । यहां अन्यप्रकार गुणकार हुआ इसलिए यहांसे आगे द्वितीयसंग्रहकृष्टि वही इसीप्रकार अन्तर्पर्यन्त विधान जानना । इसीप्रकार (अंकसंदृष्टि कथनके समान) यथार्थ कथन (अर्थसंदृष्टिरूप कथन) भी जानना, किन्तु (२) के स्थानपर अनन्त और संग्रहकृष्टियोंमें जो चार अन्तरकृष्टियां कही उसके स्थानपर अनन्त अनन्तरकृष्टियां जानना । इसप्रकार अनुभागके अविभाग-प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा कृष्टियोंका कथन किया ।

‘लोहस्स अवरकिट्ठिगदव्वादो कोधजेट्ठकिट्ठिस्स ।

दव्वोत्ति य हीणकमं देदि अणंतेण भागेण ॥१०६॥५००॥

लोहस्स अवरकिट्ठिगदव्वादो कोधजेट्ठकिट्ठिस्स ।

दव्वं तु होदि हीणं असंखभागेण^१ जोगेण ॥११०॥जुम्मं॥५०१॥

अर्थ—लोभकषायकी जघन्यकृष्टिसे लेकर क्रोधकषायकी उत्कृष्टकृष्टिपर्यन्त द्रव्य अनन्तवैभागहीन क्रमसे दिया जाता है तथा लोभकषायकी जघन्यकृष्टिके द्रव्यसे क्रोधकषायकी उत्कृष्टकृष्टिका द्रव्य अनन्तवैभागहीन है ।

विशेषार्थ—प्रथमसमयवर्ती कृष्टिकारक पूर्व-अपूर्वस्पर्धाकोसे असंख्यातवैभाग प्रदेशाग्रका अपकर्षणकरके पुनः समस्त अपकर्षितद्रव्यके असंख्यातवैभाग द्रव्यको कृष्टियोंमें विक्षिप्त करता है । इसप्रकार निक्षिप्तमान लोभकषायकी जघन्यकृष्टिमें बहुत प्रदेशाग्रको देता है । द्वितीयकृष्टिमें एकवर्गणा विशेष (चय) से हीन द्रव्य देता है तथा इससे आगे-आगेकी उपरित्त कृष्टियोंमें यथाक्रमसे अनन्तवांभागविशेष (चय) से हीन द्रव्य क्रोधकषायकी उत्कृष्टकृष्टिपर्यन्त देता है । इस विधानसे अन्तरोपनिधाकी अपेक्षा एक-एकवर्गणा विशेषसे हीन द्रव्य उपरिम सर्व कृष्टियोंमें सर्वोत्कृष्ट अर्थात् क्रोधकषायकी चरमकृष्टिपर्यन्त देता है, किन्तु संग्रहकृष्टियोंकी अन्तरालवर्ती कृष्टियोंको उल्लंघ्य जाता है, क्योंकि इस अध्वानमें एक अन्तरसे दूसरे अन्तरमें ‘अनन्तवैभागसे हीन’ अन्य कोई

१. क. पा. सुत्त पृष्ठ ८०१ सूत्र ६४३ से ६४७ तक ।

२. “हीणं असंखभागेण” इत्यस्य स्थाने “हीणमणंतभागेण” इति पाठो (क० पा० सुत्त पृष्ठ ८०१ सूत्र ६४८) ।

पर्याय असम्भव है । परम्परोपनिधाकी अपेक्षा लोभकषायकी जघन्यकृष्टिसे क्रोधकषाय-
की उत्कृष्टसम्बन्धी प्रदेशाग्र अनन्तर्वेभागसे विशेषहीन हैं, क्योंकि कृष्टिअध्वान एक-
प्रदेशगुणहानिस्थानान्तरके अनन्तर्वेभागप्रमाण है और एककम कृष्टिअध्वानप्रमाण वर्गणा-
विशेषसे हीव सद्यस्त द्रव्य है^१ ।

पडिसमयमसंखगुणं कमेण उक्कट्टिदूण दव्वं खु ।

संगहहेट्टपासे अपुव्वकिट्ठी करेदी हु ॥१११॥५०२॥

हेट्टा असंखभागं फासे वित्थारदो असंखगुणं ।

मज्झिमखंडं उभयं दव्वविसेसे इवे फासे ॥११२॥जुम्मं॥५०३॥

अर्थ—प्रथमसमयसे द्वितीयादि समयोंमें असंख्यातगुणे क्रमयुक्त द्रव्यको अप-
कर्षणके द्वारा संग्रहकृष्टिके नीचे अथवा पार्श्वमें अपूर्वकृष्टिको करता है । संग्रहकृष्टिके
नीचे की हुई कृष्टियोंका प्रमाण तो सर्वकृष्टियोंके प्रमाणके असंख्यातवेभागमात्र है तथा
पार्श्वमें की हुई कृष्टियोंका प्रमाण नीचे की हुई कृष्टियोंके प्रमाणसे असंख्यातगुणा है ।
यहां पार्श्वमें की हुई कृष्टियोंमें मध्यमखण्ड और उभयद्रव्य विशेष पाये जाते हैं ।

विशेषार्थ—कृष्टिकरणकालमें प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि बढ़ते रहनेसे
असंख्यातगुण-असंख्यातगुणे द्रव्यका अपकर्षणकरके संग्रहकृष्टियोंके नीचे अपूर्वकृष्टियोंको
करता है और पूर्वकृष्टियोंमें द्रव्य देता है अर्थात् पार्श्वभागमें कृष्टियोंको करता है ।
पूर्व-अपूर्वस्पर्धाकोंसे जितना द्रव्य प्रथमसमयमें अपकर्षण किया था उससे असंख्यातगुणे
द्रव्यको द्वितीयसमयमें अपकर्षणकरके प्रथमसमयमें की गई कृष्टियोंके असंख्यातगुणे
द्रव्यको अपकर्षणकरके प्रथमसमयमें की गई कृष्टियोंके नीचे अन्य अपूर्वकृष्टियोंकी
रचना करता है जो प्रथमसमयमें निर्वर्तितकृष्टियोंके असंख्यातवेभागमात्र है । प्रथम-
समयमें निर्वर्तित कृष्टियोंमें तत्प्रायोग्य पक्षके असंख्यातवेभागका भाग देनेपर जो लब्ध
प्राप्त हो उतनी अपूर्वकृष्टियां द्वितीयसमयमें होती हैं । द्वितीयसमयमें जितना द्रव्य अप-
कर्षित किया गया है उसके असंख्यातवेभाग द्रव्यको आगमके अविरावरूपसे पूर्वकृष्टियों
में तथा पूर्व-अपूर्वस्पर्धाकोंमें देता है । इसप्रकार एक-एक संग्रहकृष्टिके नीचे अपूर्वकृष्टियों-
को करता है । संज्वलनक्रोधके पूर्व-अपूर्वस्पर्धाकोंसे प्रदेशाग्रको अपकर्षित करके क्रोधकी

तीन संग्रहकृष्टियोंके नीचे पूर्वकृष्टियोंके असंख्यातवैभागमात्र अपूर्वकृष्टियां द्वितीयसमयमें रची जाती हैं । इसीप्रकार संज्वलनमान-माया व लोभकषायके अपने-अपने स्पर्धकोंसे प्रदेशाग्र अपकषित करके अपनी-अपनी संग्रहकृष्टियोंके नीचे प्रथमसमयमें रची गई कृष्टियोंके असंख्यातवैभागप्रमाण अपूर्वकृष्टियोंको द्वितीयसमयमें रचता है । इसप्रकार १२ कृष्टियोंके नीचे द्वितीयसमयमें अपूर्वकृष्टियोंकी रचना की जाती है । पार्श्वमें की हुई कृष्टियोंका प्रमाण अपूर्वकृष्टियोंसे असंख्यातगुणा है । यहां पार्श्वकृष्टियोंमें मध्यमखण्ड और उभयद्रव्य विशेष है । मध्यमखण्ड और उभयद्रव्यके सम्बन्धमें लब्धिसार-गाथा २८६-८७ देखना चाहिए ।

‘पुव्वादिमिह अपुव्वा पुव्वादि अपुव्वपढमगे सेसे ।

दिज्जदि असंखभागेणूणं अहियं अणंतभागूणं ॥११३॥५०४॥

वारेक्कारमणंतं पुव्वादि अपुव्वआदि सेसं तु ।

तेवीस ऊंटकूडा दिज्जे दिस्से अणंतभागूणं ॥११४॥५०५॥

अर्थ—अपूर्वकृष्टिकी अन्तिमकृष्टिसे पहले जो पुरातनकृष्टि है उसकी प्रथम-कृष्टिमें तो असंख्यातवैभाग घटता द्रव्य देता है तथा पूर्वकृष्टिकी अन्तिमकृष्टिसे द्वितीय संग्रहकृष्टिके नीचे अपूर्वकृष्टिकी प्रथमकृष्टिमें असंख्यातवैभागमात्र अधिक द्रव्य देता है, एवं अवशिष्ट सर्वकृष्टियोंमें पूर्वकृष्टिसे उत्तरकृष्टिमें अनन्तवैभागमात्र घटते हुए द्रव्य देता है । यहां पुरातन (प्रथम) कृष्टियां १२ और अपूर्वप्रथमकृष्टि ११ तथा अवशेष कृष्टियां अनन्त जाननी । दृश्यमानमें लोभकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी नवीन (अपूर्व) जघन्यकृष्टिसे लेकर क्रोधकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी पुरातन (पूर्व) अन्तिम-कृष्टिपर्यन्त अनन्तवैभागमात्र घटते हुए क्रमसे द्रव्य जानना चाहिए ।

विशेषार्थः—लोभकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके नीचे द्वितीयसमयमें निर्वर्तमान लोभकी अपूर्वकृष्टिसम्बन्धी जघन्यकृष्टिमें अन्य उपरिमकृष्टियोंकी अपेक्षा बहुत प्रदेशाग्र दिया जाता है अन्यथा कृष्टिगत प्रदेशोंमें पूर्वानुपूर्वी एक गोपुच्छ विशेषकी अवस्थित अनुवृत्ति सम्भव नहीं है । द्वितीयकृष्टिमें विशेषहीन अर्थात् अनन्तवैभागहीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं । यहां अनन्तवैभागका प्रमाण एकवर्गणा-विशेषके प्रमाणके बराबर है अतः

प्रथमकृष्टिमें दिये जानेवाले प्रदेशाग्रेसे द्वितीयकृष्टिमें निसिच्यमाण प्रदेशाग्र एकवर्गणा-विशेष होन होते हैं । इसप्रकार तदनन्तर प्रतिकृष्टि अनन्तवर्गभागहीन अर्थात् एकवर्गणा-विशेषहीन द्रव्य तबतक दिया जाता है जबतक प्रथमसंग्रहकृष्टिके नीचे द्वितीयसमयमें निर्वर्तमान अपूर्वकृष्टियोंकी अन्तिमकृष्टि प्राप्त होती है । उससे असंख्यातवर्गभागरूप विशेषहीन द्रव्य प्रथमसमयमें निर्वर्तित लोभकषायको प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियों में से जघन्यकृष्टिमें दिया जाता है । प्रथमसमयमें कृष्टियोंमें दिये गये प्रदेशपिण्डकी अपेक्षा द्वितीयसमयमें समस्तकृष्टियोंमें निसिच्यमाण सकलप्रदेशपिण्ड असंख्यातगुणा होता है, क्योंकि अनन्तगुणो विशुद्धिके द्वारा इसका अवकर्षण हुआ है । इसलिए प्रथम-समयकी जघन्यकृष्टिमें पूर्वप्रवस्थित प्रदेशपुञ्जकी अपेक्षा द्वितीयसमयमें निर्वर्तमान अपूर्वचरमकृष्टिमें निसिक्त प्रदेशाग्र असंख्यातगुण अधिक होते हैं । अतः असंख्यातवर्ग-भागहीन द्रव्य देनेसे अपूर्वचरमकृष्टिके प्रदेशपुञ्जकी अपेक्षा पूर्वजघन्यकृष्टिमें दृश्यमान (पूर्व और निसिचित) द्रव्य एकगोपुच्छविशेषसे हीन हो जाता है । अन्य संधिविशेषोंमें जहां-जहां असंख्यातवर्गभागहीन द्रव्य देनेका कथन हो वहां भी इसीप्रकार जानना चाहिए । प्रथमसंग्रहकृष्टिमें अनन्तभागसे होन प्रदेशाग्र दिया जाता है उसके आगे प्रथमसमयमें निर्वर्तित लोभकषायको प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियोंमें अनन्तर-अनन्तर-रूपसे प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अन्तिम अन्तरकृष्टिपर्यन्त अनन्तभागहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है । प्रथमसमयमें ही निर्वर्तित लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके नीचे द्वितीयसमयमें रची गई अपूर्वकृष्टियोंकी पंक्ति है । उन द्वितीयसमयमें निर्वर्तित अपूर्वकृष्टियोंकी जघन्यकृष्टिमें दीयमान प्रदेशाग्र (प्रथमसंग्रहकृष्टिकी चरमकृष्टिमें निसिक्त प्रदेशाग्रकी अपेक्षा) असंख्यातवर्गभागसे विशेष अधिक हैं । इसप्रकार द्रव्य देनेसे पूर्वप्रथमसंग्रहकृष्टिकी चरम-कृष्टिकी अपेक्षा इस अपूर्व द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी जघन्यकृष्टिमें प्रदेशपुञ्ज एकवर्गणा (गोपुच्छ) विशेषसे हीन होते हैं । आगे जहां-जहां भी पूर्वचरमकृष्टिसे अपूर्वजघन्य-कृष्टिमें असंख्यातवर्गभागअधिक द्रव्य देनेका कथन हो वहां इसीप्रकार जानना चाहिए । उसके आगे द्वितीयसंग्रहकृष्टिके नीचे निर्वर्तमान अपूर्वकृष्टियोंकी अन्तिमकृष्टिपर्यन्त अनन्तभागहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है । उससे प्रथमसमयमें निर्वर्तित पूर्वद्वितीयसंग्रह-कृष्टियोंकी जघन्यकृष्टिमें असंख्यातवर्गभागप्रमाण विशेषहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है । इससे आगे द्वितीयपूर्वकृष्टिकी अन्तिमकृष्टितक अनन्तवर्गभागसे विशेषहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है । तत्पश्चात् द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें जैसी विधि बतलाई गई है वसी ही विधि

तृतीयसंग्रहकृष्टिमें भी जाननी चाहिए । जिसप्रकार द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी आदिमें अपूर्व-कृष्टियोंकी जघन्यकृष्टिमें एकबार असंख्यातवैभागसे विशेषअधिक प्रदेशाग्रका विन्यास होकर पश्चात् अपूर्वकृष्टिके अन्तपर्यन्त अनन्तवैभागहीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं । अपूर्व-कृष्टियोंको उलंघकर पूर्वकृष्टियोंकी आदिकृष्टिमें असंख्यातवैभागहीन द्रव्य दिया जाकर अनन्तरकृष्टियोंमें अनन्तवैभागहीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं ऐसा प्ररूपण किया गया है उसीप्रकार लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके नीचे अन्तरकृष्टियोंमें भी हीनाधिक प्रदेशाग्र देनेका कथन करना चाहिए ।

तदनन्तर लोभकषायकी अन्तिमकृष्टिसे मायाकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके नीचे द्वितीयसमयमें निर्वर्तमान अपूर्वकृष्टियोंमें जो जघन्यकृष्टि है उसमें असंख्यातवैभागसे विशेषअधिक प्रदेशाग्र दिया जाता है । इसप्रकार उपर्युक्त क्रमसे जहां-जहां पूर्वकृष्टियों की अन्तिमकृष्टिसे अपूर्वकृष्टियोंकी जघन्यकृष्टि कही गई है वहां-वहां असंख्यातवैभागसे विशेषअधिक प्रदेशाग्र दिया जाता है और अहां-जहां अपूर्वकृष्टियोंकी अन्तिमकृष्टिसे पूर्वकृष्टियोंकी जघन्यकृष्टि कही गई है वहां-वहां असंख्यातवैभागसे हीन प्रदेशाग्र दिया जाता है । इसक्रमसे द्वितीयसमयमें निक्षिप्यमाण प्रदेशाग्रका बारहकृष्टिस्थानोंमें असंख्यातवैभागसे हीन दीयमान प्रदेशाग्रका अवस्थान है, क्योंकि बारह पूर्वसंग्रहकृष्टियों-के नीचे अपूर्वकृष्टियोंकी रचना हुई है इसलिए बारह अपूर्वकृष्टियोंकी धरमकृष्टिसे बारह पूर्वसंग्रहकृष्टियोंकी जघन्यकृष्टियोंमें असंख्यातवैभागसे हीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं, किन्तु असंख्यातवैभागसे अधिक प्रदेशाग्र ग्यारहकृष्टिस्थानोंमें दिया जाता है, क्योंकि लोभकी प्रथमपूर्वसंग्रहकृष्टिके नीचे जो अपूर्वकृष्टियोंकी रचना हुई है उन अपूर्वकृष्टियोंकी जघन्यकृष्टिस्थानमें पूर्वसंग्रहकृष्टिकी अन्तिमकृष्टिसम्बन्धी संविका अभाव होनेसे अपूर्वकृष्टियोंकी जघन्यकृष्टि और पूर्वसंग्रहकृष्टियोंकी अन्तिमकृष्टिसम्बन्धी सन्धि ११ स्थानोंमें होती है । शेषकृष्टि-स्थानोंमें दीयमान प्रदेशाग्रका अनन्तवैभागसे हीन अवस्थान है । इसप्रकार द्वितीयसमय में दीयमान प्रदेशाग्रकी यह उष्ट्रकूटश्रेणि है अर्थात् (जिसप्रकार ऊंटकी पोठ पिछले-भागमें पहले ऊंची होती है पुनः मध्यमें नीची होती है और फिर आगे नीची-ऊंची होती है, उसीप्रकार यहां प्रदेशाग्र भी आदिमें बहुत होकर फिर स्तोक रह जाता है पुनः सन्धिविशेषोंमें अधिक और हीन होता जाता है इसीकारण यहांपर होनेवाली प्रदेशश्रेणीकी रचनाको उष्ट्रकूटश्रेणी कहा है) । द्वितीयसमयमें जो प्रदेशाग्र दिखता है

वह जघन्यकृष्टिमें बहुत है और शेष सर्वकृष्टियोंमें अनन्तरोपनिधासे अनन्तभागहीन है । जिसप्रकार द्वितीयसमयमें कृष्टियोंमें दीयमान प्रदेशाग्रकी प्ररूपणा की है उसीप्रकार सम्पूर्णकृष्टिकरणकालमें दीयमान प्रदेशाग्रके २३ उष्ट्रकूटोंकी प्ररूपणा करना चाहिए, किन्तु दृश्यमान प्रदेशाग्र सर्वकालमें अनन्तभागहीन जानना चाहिए । जो प्रदेशाग्र साम-स्त्यरूपसे प्रथमसमयमें कृष्टियोंमें दिया जाता है वह सबसे अल्प है, उससे द्वितीयसमयमें कृष्टियोंमें दिया जानेवाला प्रदेशाग्र असंख्यातगुणा है, इससे तृतीयसमयमें कृष्टियोंमें दिया जानेवाला प्रदेशाग्र असंख्यातगुणा है । विशुद्धिमें प्रतिसमय अनन्तगुणीवृद्धि होनेके कारण सर्वकृष्टिकरणकालमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा प्रदेशाग्र अपकर्षण-करके कृष्टियोंमें निक्षिप्त किया जाता है^१ ।

किट्टीकरणद्धाप चरिमे अंतोमुहुत्तसुज्जुतो ।

चत्तारि होति मासा संजलणाणं तु ठिदिबंधो ॥११५॥५०६॥

सेसाणं वस्साणं संखेज्जसहस्साणि ठिदिबंधो ।

मोहस्स य ठिदिसंतं अडवस्संतोमुहुत्तहियं ॥११६॥५०७॥

घादितियाणं संखं वस्ससहस्साणि होदि ठिदिसंतं ।

वस्साणमसंखेज्जसहस्साणि अघादितियाणं तु ॥११७॥^२कु.॥५०८॥

अर्थ—अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कृष्टिकरणकालके अन्तिमसमयमें अन्तर्मुहूर्तअधिक चारमासप्रमाण संज्वलनचतुष्कका स्थितिबन्ध है । यह स्थितिबन्ध अपूर्वस्पर्धककरण-कालके चरमसमयमें आठवर्षप्रमाण था सो एक-एक स्थितिबन्धापसरणमें अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण घटकर इतना अवशेष रहता है । शेष कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजारवर्षमात्र है, पूर्वमें भी संख्यातहजारवर्षमात्र ही था सो संख्यातगुणेहीन क्रमरूप संख्यातहजार स्थितिबन्धापसरण हो जानेपर भी आलापसे इतना ही कहा है तथा मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व पहले संख्यातहजारवर्षप्रमाण था सो घटकरके यहां अन्तर्मुहूर्तअधिक आठ-

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०५६ से २०६४ तक ।

२. इन गाथाओंसे सम्बन्धित विषय क० पा० सुत्त पृष्ठ ८०३-४ सूत्र ६७३ से ६७७ तक आया है । धवल पु० ६ पु० ३८० । जयधवल मूल पृष्ठ २०६४ ।

वर्षमात्र रह गया । तीन घातिया (जानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय) कर्मोंका स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्षप्रमाण है, क्योंकि जिसप्रकार मोहनीयकर्मके स्थितिसत्त्वका विशेष घात होता है वैसे विशेषघात शेष तीन घातियाकर्मोंका नहीं पाया जाता है । तीनअघातियाकर्मोंका सत्त्व यद्यपि असंख्यातगुणहानियों द्वारा अपवर्तनघात होता है तथापि उनका स्थितिसत्त्व यहां असंख्यातहजारवर्षप्रमाण ही है ।

पडिपदमणंतगुणिदा किट्टीओ फड्डया विसेसहियां ।

किट्टीण फड्डयाणं लक्खणमणुभागमासेज्ज ॥११८॥५०६॥

अर्थ—यहां सर्वकृष्टियां तो प्रतिपद अनन्तगुणा अनुभाग लीये हैं अर्थात् प्रथमकृष्टिके अनुभागसे द्वितीयकृष्टिका अनुभाग अनन्तगुणा है । उससे तृतीयकृष्टिका अनुभाग अनन्तगुणा है । इसप्रकार चरमकृष्टि पर्यन्त क्रमसे अनन्तगुणा अनुभाग पाया जाता है तथा जो स्पर्धक हैं वे प्रतिपद विशेषअधिक अनुभाग लीये हैं । अर्थात् स्पर्धकोंकी प्रथमवर्गणासे द्वितीयवर्गणामें और द्वितीयवर्गणासे तृतीयवर्गणामें, इसप्रकार अनन्तवर्गणा पर्यन्त क्रमसे विशेषअधिक अनुभाग पाया जाता है । इसप्रकार अनुभागका आश्रयकरके कृष्टि और स्पर्धकोंका लक्षण कहा । द्रव्यकी अपेक्षा तो चय घटता क्रम कृष्टि और स्पर्धक इन दोनोंमें हो है, किन्तु अनुभाग क्रमकी अपेक्षा कृष्टि और स्पर्धकका लक्षण पृथक्-पृथक् है ।

‘पुव्वापुव्वफड्डयमणुहवदि हु किट्टिकारओ णियमा ।

तस्सच्चा णिट्ठायदि पढमट्ठिदि आवलीसेसे ॥११९॥५१०॥

अर्थ—कृष्टि करनेवाला कृष्टिकरणकालमें पूर्व-अपूर्वस्पर्धकोंके उदयको नियमसे अनुभवता है । जैसे अपूर्वस्पर्धकोंको करते हुए पूर्वस्पर्धकके साथ अपूर्वस्पर्धकका अनुभव करता है वैसे कृष्टि करते हुए कृष्टिको नहीं भोगता है । इसप्रकार संज्वलनक्रोधकी प्रथमस्थितिमें उच्छिष्टावलिप्रमाण काल शेष रहनेपर कृष्टिकरणकालकी निष्ठापना (समाप्ति) करता है । यह कथन उत्पादानुच्छेदकी अपेक्षासे है ।

॥ इति कृष्टिकरणाधिकारः ॥

“अथ कृष्टिवेदनाधिकार”

‘से काले किट्टीओ अणुहवदि हु चारिमासमडवस्सं ।

बंधो संतं मोहे पुठ्वाजावं तु सेसाणं ॥१२०॥५११॥

अर्थ—कृष्टिकरणकालके अनन्तरसमयमें अपने कृष्टिवेदककालमें कृष्टियोंके उदयका अनुभव करता है । द्वितीयस्थितिके निषेकोमें रहती हुई कृष्टियोंको अपकर्षण करके प्रथमस्थितिमें उदयावलिके निषेकोमें प्राप्त करके भोगता है और उस भोगनेका नाम ही वेदना है । उससमय प्रथमस्थिति आवलिमात्र शेष रह जाती है, किन्तु आवलि-का प्रथमनिषेक स्तुविकसंक्रमण द्वारा कृष्टिरूपसे उदयमें आता है । उसकाल (उदय-काल) के प्रथमसमयमें चारसंज्वलनरूप मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तअधिक चारमासको घटकर चारमास हो जाता है और स्थितिसत्त्व आठवर्षमात्र है । यह स्थितिसत्त्व पहले अन्तर्मुहूर्तअधिक आठवर्ष था सो अन्तर्मुहूर्त कमकरके इतना रह गया । अवशेष कर्मोंका भी स्थितिबन्ध और स्थितिसत्त्व यद्यपि कम हुआ है तथापि आलापद्वारा पूर्वोक्तप्रकार तीनघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्व संख्यातहजार-वर्ष एवं वेदनीय, ताम व गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध संख्यातहजारवर्ष और स्थितिसत्त्व असंख्यातहजारवर्ष जिसप्रकार कृष्टिकरणकालके अन्तिमसमयमें कहा था वैसे ही यहां भी जानना ।

‘ताहे कोहुच्छिद्धं सव्वं घादी हु देसघादी हु ।

दोसमऊणदुआवलिणवकं ते फट्ठयगदाओ ॥१२१॥५१२॥

अर्थ—संज्वलनक्रोधका जो अनुभागसत्त्व उदयावलिके भीतर उच्छिष्टावलि-रूपसे अवशिष्ट अवस्थित है वह सत्त्व सर्वघाति है और संज्वलनचतुष्कके जो दोसमय-

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८०४ सूत्र ६७६ से ६८५ । ध० पु० ६ पृष्ठ ३८३ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८०४ सूत्र ६८६-६८७ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३८३ ।

कक्ष दोआवलि प्रमाण नवकसमयप्रबद्ध है वे देशघाति है तथा उनका वह अनुभागसत्त्व स्पर्धकस्वरूप है ।

विशेषार्थ—श्रोधकषायकी उच्छिष्टावलिका अनुभागसत्त्व तो सर्वघाती है, क्योंकि एकसमयकम आवलिप्रमाण श्रोधके निषेक उदयावलिको प्राप्त हुए है । इनमें पूर्वअनुभागसत्त्व लता व दारुके समान शक्तिवाला है सो इसी शक्तिकी अपेक्षा यहाँ सर्वघाती कहा है । शैलादि की समानताकी अपेक्षा सर्वघाती नहीं कहा गया है सो ये निषेक उदयकालमें कृष्टिरूप परिणमनकरके वर्तमानसमयमें उदय आने योग्य निषेकोंमें उदयरूपहोकर निर्जराको प्राप्त होते हैं । यहाँ आवलिमें एकसमयकम कहा है वह इस-लिए कहा है कि उच्छिष्टावलिका प्रथमनिषेक वर्तमानसमयमें कृष्टिरूप परिणमन करने से परमुखरूप होकर उदयमें आता है । सज्जलनचतुष्कके दोसमयकम दो आवलिमात्र अवशिष्ट नवकसमयप्रबद्धमें देशघातिशक्तिसे युक्त अनुभाग है, क्योंकि कृष्टिकरणकालमें स्पर्धकरूप शक्तिसे युक्त जो अनुभाग बघता है वह दोसमयकम दोआवलिकालमें कृष्टि-रूप परिणमनकरके सत्तासे नाशको प्राप्त होगा । यहाँ अवशिष्ट रहे नवकबन्ध और श्रोधकषायकी उच्छिष्टावलिप्रमाण निषेकोंका स्वरूप तो इसप्रकार जानना कि कृष्टि-करणकालके चरमसमयमें ही ये सर्वनिषेक कृष्टिरूप परिणमन करते हैं' ।

लोहादो कोहादो कारउ वेदउ हवे किट्टी ।

आदिमसंगहकिट्टी वेदयदि ए विदीय तिदियं च ॥१२२॥५१३॥

अर्थ—कृष्टिकारक तो लोभसे लेकर क्रमवाले हैं और कृष्टिवेदन श्रोधसे लेकर क्रमवाले हैं । यहाँ पहले श्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका ही अनुभव करता है द्वितीय-तृतीयसंग्रहकृष्टिका अनुभव नहीं करता है ।

विशेषार्थ—कृष्टिकरणमें तो सर्वप्रथम लोभकी फिर मायाकी पश्चात् घातकी और बादमें श्रोधकी, इसक्रमसे कृष्टियां कहीं थीं, किन्तु यहाँ कृष्टिवेदनकालमें पहले श्रोधकी फिर मानकी पश्चात् मायाकी और बादमें लोभकी कृष्टियोंका अनुभव होता है । कृष्टिकरणमें जिसको तृतीयसंग्रहकृष्टि कही है उसको कृष्टिवेदनके समय प्रथम-कृष्टि और जिसको कृष्टिकरणमें प्रथमकृष्टि कही है उसको कृष्टिवेदनमें तृतीयकृष्टि

जानना । यदि इसप्रकार नहीं होगा तो पहले स्तोक शक्तिवाली कृष्टियोंका अनुभव होकर पश्चात् अधिक शक्तिवाली कृष्टियोंका अनुभव होगा सो होता नहीं, क्योंकि प्रति-समय अनन्तगुणे घटते हुए अनुभागका अनुभव होता है । इसलिए संग्रहकृष्टियोंमें कृष्टिकारकसे कृष्टिवेदकका उलटा क्रम जानना, किन्तु अन्तरकृष्टियोंमें पूर्वोक्त क्रम ही है ।

‘किष्टीवेदगपठमे कोहस्स य पढमसंगहादो दु ।

कोहस्स य पढमठिदी पत्तो उव्वट्ठगो मोहे ॥१२३॥५१४॥

अर्थ—कृष्टिवेदककालके प्रथमसमयमें क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे क्रोधकी प्रथमस्थिति प्राप्त करता है तथा मोहनीयकर्मका अपवर्तनघात करता है ।

विशेषार्थ—कृष्टिकरणकालके प्रथमसमयपर्यन्त तो जहां कृष्टियोंके दृश्यमान प्रदेशोंका समूह चयरूप घटते हुए क्रमसहित गोपुच्छाकाररूपसे अपने स्थानमें रहता है और स्पर्धकोंके प्रदेशोंका समूह एक गोपुच्छाकाररूपसे अपने स्थानमें रहता है वहां कृष्टियोंके द्रव्यसे स्पर्धकोंका द्रव्य असंख्यातगुणा है अतः कृष्टि और स्पर्धकोंका एक गोपुच्छाकार नहीं है, किन्तु कृष्टिकरणकालकी समाप्तिके अनन्तर सभी द्रव्य कृष्टिरूप परिणमनकर एक गोपुच्छाकाररूप रहता है, तब संज्वलनके सर्वद्रव्यको आठका भाग देकर उसमेंसे एक-एक भागप्रमाण द्रव्य लोभ, माया और मानका तथा पांचभागप्रमाण द्रव्य क्रोधका जानना । यदि १२ संग्रहकृष्टियोंमें विभाग किया जावे तो संज्वलनके सर्वद्रव्यको २४का भाग देनेसे वहां अन्य संग्रहकृष्टियोंका एक-एक भागप्रमाण और क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका १३ भागप्रमाण द्रव्य है । यहां साविकपना न्यूनपना है सो यथासम्भव पूर्वोक्तप्रकारं (गाथा १०५के अनुसार) जानना । पहले कृष्टिकरणकालके द्वितीयसमयमें जैसा विधान कहा वैसा ही यहां भी जानना । प्रथमसमयमें की गई कृष्टियोंके प्रमाणमें उसके असंख्यातवैभागप्रमाण द्वितीयादि समयोंमें की गई कृष्टियोंका प्रमाण जोड़नेपर सर्व पूर्व-अपूर्वकृष्टियोंका प्रमाण प्राप्त होता है । कृष्टिवेदकके प्रथमसमयमें क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके द्रव्यको अपकर्षणभागहारका भागदेकर लब्धमें से एकभाग ग्रहणकर उसको पल्यके असंख्यातवैभागका भाग देकर उसमेंसे एकभागको

१. जयधवल मूल पृष्ठ २०६७ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८०४ सूत्र ६८६ । ष० पु० ६ पृष्ठ ३८३ । जयधवल मूल पृष्ठ २०६७ ।

ग्रहणकरके प्रथमस्थितिको करता है । क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टि वेदककालसे उच्छिष्टा-
वलिमात्र अधिक उस प्रथमस्थितिके निषेकोंका प्रमाण है और वही गुणश्रेणीआयाम भी
कहा जाता है, उसके वर्तमानमें उदयरूप प्रथमनिषेकमें तो सबसे स्तोकद्रव्य देता है,
उससे द्वितीयादि से चरमसमयपर्यन्त असंख्यातगुणे क्रमसे द्रव्य दिया जाता है । इस-
प्रकार उस एकभागप्रमाण द्रव्यका गुणश्रेणीरूपसे देना कहा । यहां प्रथमस्थितिके
अन्तिमनिषेकको ही गुणश्रेणीशीर्ष कहते हैं । जो अवशेष बहुभागमात्र द्रव्य था उसको
स्थितिकी अपेक्षा क्रोधकी द्वितीय व तृतीयसंग्रहकृष्टिसे भी अपकर्षित द्रव्यमें मिलानेपर
जितना द्रव्य हुआ उसमें, यहां आठवर्षमात्र स्थिति है, उसकी संख्यातआवलियां हुईं
और वही हुआ गच्छ, उस गच्छका भाग देनेसे मध्यधन प्राप्त होता है । उस मध्यधनमें
एककम गच्छके आधेप्रमाण चय मिलानेपर द्वितीयस्थितिके प्रथमनिषेकमें दिये हुए द्रव्य
का प्रमाण होता है, यह द्रव्य गुणश्रेणीशीर्षमें दिये गए द्रव्यसे असंख्यातगुणा है सो
इसके असंख्यातवैभागमात्र विशेषका (चयका) प्रमाण है अतः इस विशेषरूप घटते
क्रमसे द्वितीयादि निषेकोंमें अतिस्थापनावलिके नीचे-नीचे द्रव्य दिया जाता है । इस
क्रमसे प्रतिसमय उदयादि गलितावशेष गुणश्रेणि करता है । यहांपर मोहनोपकर्मका
अपवर्तनघात होता है । इससे पूर्व अश्वकर्णकरणरूप अनुभागका अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होने-
वाला काण्डकघात होता था, किन्तु अब संज्वलनकी बारहकृष्टियोंका प्रतिसमय अनन्त-
गुणा घटता हुआ अनुभाग होनेसे अपवर्तनघात प्रवर्तता है ।

पठमस्स संगहस्स य असंखभागा उदेदि कोहस्स ।

बंधेवि तहा चेव य माणतियाणं तहा बंधे ॥१२४॥५१५॥

अर्थ—कृष्टिवेदककालके प्रथमसमयमें क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी अन्तर-
कृष्टियोंके प्रमाणको असंख्यातका भाग देनेपर उसमेंसे बहुभागमात्रकृष्टि उदयमें आती
है । यहां जो बहुभागमात्र कहा गया है वह एकभागप्रमाण उपरितन व अधस्तन कृष्टि-
को छोड़कर मध्यवर्ती कृष्टियोंका प्रमाण है । प्रथम, द्वितीयादि कृष्टियोंको तो अध-
स्तन और चरम व उपातआदि कृष्टियोंको उपरितनकृष्टि कहते हैं । उदयरूप नहीं
होती ऐसी अधस्तनकृष्टि तो अनन्तगुणरूपसे बढ़ते हुए अनुभागरूप होकर तथा उपरितन-

कृष्टि अनन्तगुणरूप घटते हुए अनुभागरूप होकर मध्यवर्तीकृष्टिरूप परिणमनकरके उदयमें आती हैं । बंधमें भी असंख्यातवैभागप्रमाण अधस्तन व उपरितनकृष्टि छोड़कर बीचको असंख्यातबहुभागप्रमाण कृष्टि जानना । उदयरूप कृष्टियोंमें जो उपरितन अनुदयकृष्टियोंका प्रमाण है उससे साधिक दुगुणे प्रमाणसहित अधस्तन व उपरितन कृष्टियोंका प्रमाण देनेपर बन्धरूप कृष्टियोंका प्रमाण होता है, इनका यहां बन्ध होता है । यहां मानादिकी अपनी-अपनी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अधस्तन व उपरितनकृष्टिप्रमाण-का असंख्यातवैभागमात्र कृष्टियोंको नीचे और ऊपर छोड़कर मध्यकी बहुभागमात्र कृष्टि बंधती है, किन्तु मानादिकी दोनों ही संग्रहकृष्टियोंका उदय नहीं है तथा क्रोधकी द्वितीय व तृतीयसंग्रहकृष्टिका बन्ध व उदय दोनों ही नहीं है । इसीप्रकार मान-माया व लोभका कथन भी जानना ।

‘कोहस्त पढमसंगहकिट्टिस्त य हेट्ठिमणुभयट्ठाणा ।

तत्तो उदयट्ठाणा उवरिं पुण अणुभयट्ठाणा ॥१२५॥५१६॥

उवरिं उदयट्ठाणा चत्तारि पदाणि होति अहियकमा ।

मज्जे उभयट्ठाणा होति असंखेज्जसंगुणिया ॥१२६॥५१७॥

अर्थ—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियोंमें अधस्तन अर्थात् प्रथम, द्वितीयादि अधस्तन अनुभयस्थानरूप (जिनका उदय और बन्ध दोनों ही नहीं हैं) अधस्तनकृष्टियोंका प्रमाण स्तोक है उसी (पूर्वोक्त अधस्तन अनुभयस्थानरूप कृष्टियोंके प्रमाणको पल्यके असंख्यातवैभागका भाग देकर उसमेंसे एकभागप्रमाण विशेषरूप अधिक अनुभयकृष्टियोंके उपरितनवर्ती जो अधस्तन उदयस्थानरूप (जिनका उदय तो पाया जाता है बन्ध नहीं पाया जाता) कृष्टिका प्रमाण है पश्चात् उसीको पल्यके असंख्यातवैभागका भाग देनेपर उसमेंसे एकभागप्रमाण विशेषसे अधिक उपरितन अर्थात् अन्त व उपान्तादि उपरितन अनुभयस्थानरूप (बन्ध व उदयरहित) कृष्टिका प्रमाण है पश्चात् उसीको पल्यके असंख्यातवैभागका भागदेकर उसमें एकभागप्रमाण विशेषसे अधिक उन कृष्टियोंके नीचे पाये जानेवाले उपरितन उदयस्थानरूप (उदयसहित व बंधरहित)

कृष्टियोंका प्रमाण है इसप्रकार चारपद तो अधिकक्रमसहित हैं तथा उससे असंख्यात-
गुणे मध्यके उभयस्थानरूप (जिनका बन्ध व उदय दोनों पाये जाते हैं) कृष्टियोंका
प्रमाण है^१ ।

क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें पायी जानैवाली कृष्टियोंके प्रमाणको पत्यके
असंख्यातवैभागका भाग देकर उसमें बहुभागमात्र तो मध्यकी उभयकृष्टियोंका प्रमाण
है तथा अवशेष जो एकभाग रहा उसको [“प्रक्षेपयोगोद्धृतमिश्रविद्धः” इत्यादि सूत्र-
विधानसे अंकसंहृष्टिकी अपेक्षा २-३-४ व ७ शलाकाओंको जोड़नेपर (२+३+४+७)
१६ लब्ध आया] इससे भाग देकर जो एकभागका प्रमाण आया उसको अपनी-अपनी
दो आदि शलाकाओंसे गुणा करनेपर अधस्तन व उपरितन अनुभयआदि कृष्टियोंका
प्रमाण प्राप्त होता है । इसप्रकार बारहसंग्रहकृष्टियोंके वेदकालके प्रथमसमयमें अल्प-
बहुत्व जानना ।

विद्यादिसु चउठाणा पुत्रिवल्लेहि असंखगुणहीणा ।

ततो असंखगुणिदा उवरिमणुभया तदो उभया ॥१२७॥५१८॥

अर्थ—द्वितीयादि समयोंमें चारोंस्थान पूर्वसे असंख्यातगुणे हीन हैं, उससे
असंख्यातगुणे उपरितन अनुभयस्थान तथा उससे असंख्यातगुणे उभयस्थान हैं ।

विशेषार्थः—पूर्वसमयमें बन्धरहित जो अधस्तन केवल उदयकृष्टि थी वे तो
उत्तरवर्ती समयमें उभयकृष्टिरूप होती हैं और पूर्वसमयमें जो अनुभयकृष्टि थीं उनमें
अन्तकी कुछ कृष्टि उभयरूप एवं उनसे नीचेकी कुछ कृष्टियां उत्तरसमयमें केवल उदयरूप
होती हैं तथा पूर्वसमयमें जो उपरितन केवल उदयकृष्टि थीं वे सभी उत्तरसमयमें अनु-
भयरूप होती हैं । पूर्वसमयमें जो उभयकृष्टि थीं उनमें अन्तिम कुछ कृष्टियां अनुभय-
रूप हैं उनसे नीचेकी कुछ कृष्टियां उत्तरसमयमें केवल उदयरूप होती हैं । इसप्रकार
प्रतिसमय बन्ध और उदयमें अनुभागका घटना होता है, क्योंकि अधस्तन कृष्टियोंमें
स्तोक अनुभाग पाया जाता है और उपरितन कृष्टियोंमें बहुत अनुभाग पाया जाता है ।
अब अल्पबहुत्वका कथन करते हैं—

अधस्तन अनुभयकृष्टि स्तोक हैं, उससे उनके ऊपर जो अधस्तनरूप केवल
उदयकृष्टि हैं वे विशेषअधिक हैं । इससे आगेऊपर उत्कृष्ट अनुभागसहित पूर्वसमयवर्ती

बन्धरूप जो अन्तिमकृष्टि थी उससे लेकर नीचे उत्तरसमयमें जो अनुभयकृष्टि हुई है वे विशेषअधिक हैं । इनके नीचे विवक्षितसमयमें होनेवाली केवल उदयरूपकृष्टि इससे विशेषअधिक हैं । इसप्रकार ये चारस्थान तो पूर्वसमयमें अवस्तन अनुभयआदिकृष्टिका जो प्रमाण था उससे असंख्यातगुणे कम हैं । उदयकृष्टियोंसे पूर्वसमयमें जो ऊपरकी उदयकृष्टि थी उसमें स्तोक अनुभागवाली जो आदिकी जघन्यकृष्टि थी उसीके समान कृष्टिसे लेकर उत्तरसमयमें जो सर्व अनुभयकृष्टियां हुईं वे असंख्यातगुणी हैं, क्योंकि पूर्वसमयमें ऊपरकी अनुभयकृष्टियोंका जो प्रमाण था उसके असंख्यातवैभागमात्र कृष्टि पूर्वसमयसम्बन्धी ऊपरकी जघन्य उदयकृष्टिसे नीचे उत्तरोत्तर समयमें ऊपरकी जघन्य अनुभयकृष्टि होती हैं । इससे पूर्वसमयसम्बन्धी ऊपरकी उदयकृष्टियोंके प्रमाणके असंख्यातवैभागमात्र कृष्टि नीचे उतरनेपर इस विवक्षितसमयमें ऊपरकी जघन्य उदयकृष्टि होती है । अनुभयकृष्टियोंके प्रमाणसे बंध व उदययुक्त मध्यवर्ती उभयकृष्टियां असंख्यातगुणी हैं । इसप्रकार द्वितीयादि समयोंमें कृष्टियोंका अल्पबहुत्व जानता ।

पुंविस्लबन्धजेट्ठा हेट्ठासंखेज्जभागमोदरिय ।

संपडिगो चरिमोदयवरमवरं अणुभयाणं च ॥१२८॥५१६॥

अर्थ—पूर्वसमयसम्बन्धी बन्धकी उत्कृष्ट (चरम) कृष्टिसे लेकर पूर्वसमयसम्बन्धी उभयकृष्टियोंके असंख्यातवैभागप्रमाण कृष्टियां नीचे उतरकर वर्तमानमें उत्तरसमयसम्बन्धी केवल उदयरूप अन्तिमकृष्टि उत्कृष्टकृष्टि होती है और इसके अनन्तर ऊपर अनुभयकृष्टिकी जघन्यकृष्टि पाई जाती है । उत्कृष्ट उदयकृष्टिसे नीचे पूर्वसमयसम्बन्धी उदयकृष्टिके असंख्यातवैभागप्रमाण कृष्टि नीचे उतरकर वर्तमानमें उदयकी जघन्यकृष्टि होती है, उसके अनन्तर नीचे उभयकृष्टिसम्बन्धी उत्कृष्टकृष्टि होती है । ऐसा ही विधान उपरिम कृष्टियोंमें भी जानता ।

हेट्ठमणुभयवरादो असंखबहुभागमेत्तमोदरिय ।

संपडिबन्धजहणं उदयुक्कस्सं च होदित्ति ॥१२९॥५२०॥

अर्थ—पूर्वसमयसंबन्धी अनुभयकृष्टिकी उत्कृष्ट (चरम) कृष्टिसे पूर्वसमयसंबन्धी अनुभयकृष्टियोंके असंख्यातबहुभागप्रमाण कृष्टि नीचे उतरकर संप्रति बन्धकृष्टिकी जघन्यकृष्टि होती है उसके अनन्तर नीचेकी केवल उदयरूप उदयकृष्टियोंकी उत्कृष्टकृष्टि है, उससे लेकर पूर्वसमयसम्बन्धी उदयकृष्टियोंके असंख्यातवैभागमात्र कृष्टि

नीचे उतरकर संप्रति उदयकृष्टिकी जघन्यकृष्टि होती है । उसके नीचे पूर्वसमयसम्बन्धी अनुभयकृष्टियोंके असंख्यातवेंभागप्रमाण कृष्टि नीचे उतरकर वर्तमानमें जघन्यअनुभय-कृष्टि होती है, वही सर्वकृष्टियोंमें जघन्यकृष्टि है । इसप्रकार अधस्तनकृष्टियोंमें विधान जानना । ऐसे प्रतिसमय पूर्वसमयसम्बन्धी अधस्तन अनुभयरूप उदयकृष्टि और उपरितन उदय व अनुदयरूप कृष्टियोंके प्रमाणसे उत्तरसमयसम्बन्धी कृष्टियोंका प्रमाण असंख्यात-गुणा कम है और मध्यवर्ती उभयकृष्टियोंका प्रमाण विशेषअधिक होता है ऐसा जानना ।

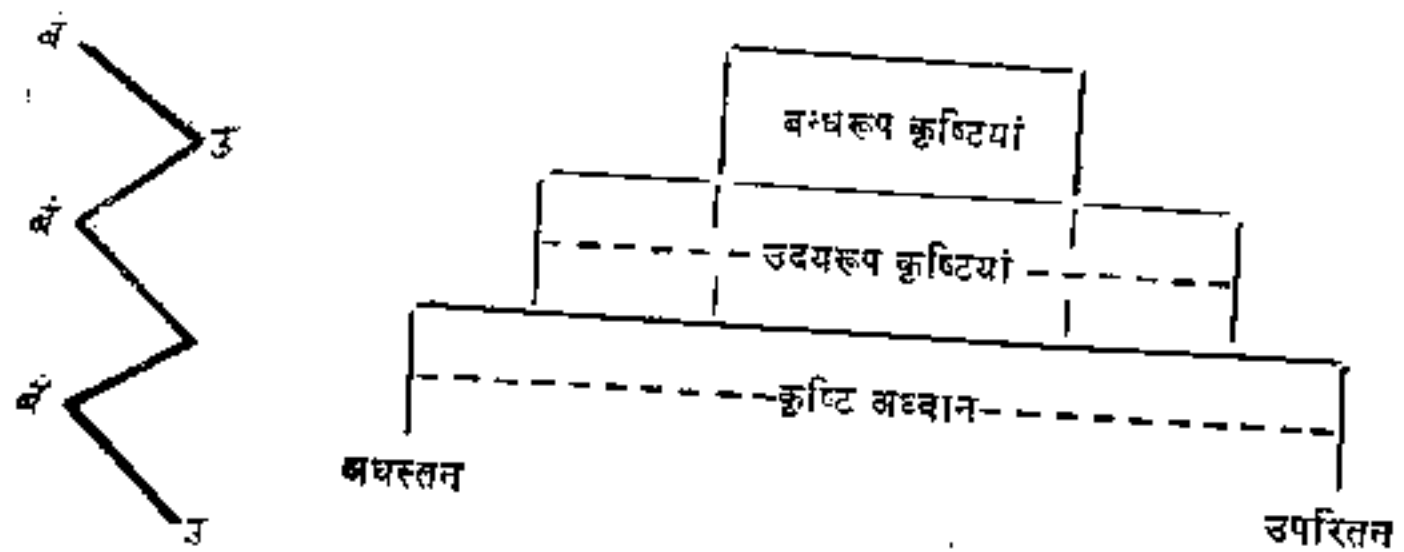
‘पडिसमयं अहिगदिणा उदये बंधे च होदि उक्कस्सं ।

बंधुदये च जहराणं अणंतगुणहीणया किट्ठी ॥१३०॥५२१॥

अर्थ—प्रतिसमय सर्पकी गतिवत् उदय व बन्धमें तो उत्कृष्टकृष्टि तथा बन्ध व उदयमें जघन्यकृष्टि अनुभागअपेक्षा अनन्तगुणे घटते हुए क्रमसहित जाननी ।

विशेषार्थ—सर्वकृष्टियोंके अनन्त मध्यवर्ती कृष्टियां उदयरूप हैं और उदय-रूप कृष्टियोंके मध्यवर्तिकृष्टियां बन्धरूप है । उनमें सबसे स्तोक अनुभागवाली प्रथम-कृष्टि ही जघन्यकृष्टि है और सबसे अधिक अनुभागसहित अन्तिमकृष्टि उत्कृष्टकृष्टि है । कृष्टिवेदककालके प्रथमसमयमें उदयसम्बन्धी उपरितन उत्कृष्टकृष्टि बहुत अनुभाग-सहित है, उसी समयमें बन्धकी उपरितन उत्कृष्टकृष्टि उससे अनन्तगुणेकम अनुभाग-युक्त है, क्योंकि उदयागतकृष्टिसे अनन्तकृष्टि नीचे जाकर बन्धकृष्टिका अवस्थान है । उससे द्वितीयसमयमें उदयकी उपरितन उत्कृष्टकृष्टि अनन्तगुणेहीन अनुभागवाली है, क्योंकि प्रथमसमयसे द्वितीयसमयमें विशुद्ध अनन्तगुणी है । उससे द्वितीयसमयमें ही बन्धकी उपरितन उत्कृष्टकृष्टि अनन्तगुणेहीन अनुभागसहित है, उससे तृतीयसमयवर्ती उदयसम्बन्धी उत्कृष्टकृष्टि अनन्तगुणेहीन अनुभागयुक्त है, उससे उसी समयवाली बन्ध-की उत्कृष्टकृष्टि अनन्तगुणेहीन अनुभागसहित है । इसप्रकार सर्पगतिवत् (जैसे सर्प इधर से उधर और उधर से इधर गमन करता है) विवक्षित समयमें उदयकी कृष्टिसे बन्धकी कृष्टि और पूर्वसमयसम्बन्धी बन्धकृष्टिसे उत्तरसमयवाली उदयकृष्टिमें अनन्त-गुणाहीन अनुभाग क्रमसे जानना । कृष्टिवेदककालके प्रथमसमयमें अधस्तन बन्धसम्बन्धी जघन्यकृष्टि बहुत अनुभागयुक्त है, क्योंकि जघन्यउदयकृष्टिसे अनन्तकृष्टि ऊपर जाकर

इसका अवस्थान है । उससे प्रथमसमयवर्ती ही अधस्तन जघन्यउदयकृष्टि अनन्तगुणेहीन अनुभागवाली है । इसप्रकार सर्पगतिवत् एकसमयमें बन्धकृष्टिसे उदयकृष्टि और पूर्व-समयसम्बन्धी उदयकृष्टिसे उत्तरसमयवर्ती बन्धकी जघन्यकृष्टिमें अनन्तगुणा-अनन्तगुणा-हीन अनुभाग जानना । इसप्रकार क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिवेदककालके चरमसमयपर्यंत ऐसी ही प्ररूपणा है । क्रोधकी ही द्वितीयसंग्रहकृष्टिवेदकके भी ऐसा क्रम लगा लेना चाहिए ।



अब संक्रमणद्रव्यका विधान कहते हैं—

संकमदि संगहाणं द्रव्यं सगहेट्टिमस्स पढमोत्ति ।

तदणुदये संखगुणं इदरेसु इवे जहाजोग्गं ॥१३१॥५२२॥

अर्थ—विवक्षित स्वकीयकषायके अधस्तनवर्ती कषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिपर्यंत संग्रहकृष्टियोंका द्रव्य संक्रमण करता है । यहां जिस संग्रहकृष्टिको भोगता है उस संग्रहकृष्टिके अपकषित द्रव्यसे संख्यातगुणा द्रव्य उस कृष्टिके अनन्तर भोगने योग्य जो संग्रहकृष्टि है उसमें संक्रमित होता है तथा अन्यकृष्टियोंमें यथायोग्य संक्रमण करता है ।

विशेषार्थ—यदि स्वस्थानमें विवक्षित कषायकी संग्रहकृष्टिका द्रव्य अन्य-संग्रहकृष्टिमें संक्रमण करता है तो उस विवक्षित कषायकी शेष अधस्तन कृष्टियोंमें संक्रमण करता है, यदि परस्थान संक्रमण होता है तो निकटतम कषायकी प्रथमसंग्रह-कृष्टिमें संक्रमण करेगा और जो द्रव्य जिस कषायमें संक्रमण करता है वह उसी कषाय-रूप परिणमन कर जाता है ।

जिसप्रकार लोकव्यवहारमें जमा-खरच कहा जाता है उसीप्रकार यहाँ भी आयद्रव्य और व्ययद्रवरूप कथन करते हैं । अन्य संग्रहकृष्टियोंका द्रव्य संक्रमण करके विवक्षित संग्रहकृष्टिमें आया (प्राप्त हुआ) उसे आयद्रव्य और विवक्षित संग्रहकृष्टिका द्रव्य संक्रमण करके अन्यसंग्रहकृष्टियोंमें गया उसे व्ययद्रव्य कहते हैं । यहाँ क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिविना अन्य ११ संग्रहकृष्टियोंके स्वकीय-स्वकीय द्रव्यको अपकर्षणभाग-हारका भाग देनेपर लब्धमें से एकभागप्रमाण द्रव्य संक्रमण करता है अतः उसे 'एक-द्रव्य' कहते हैं तथा क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके द्रव्यको अपकर्षणभागहारका भाग देने-पर लब्धमें से जो एकभागप्रमाण द्रव्य संक्रमण करता है वह 'तेरह द्रव्य' है, क्योंकि अन्यसंग्रहकृष्टिके द्रव्यसे क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य नोकषायका द्रव्य मिल जानेसे से १३ गुणा है । लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टि और द्वितीयसंग्रहकृष्टिका अपकर्षित द्रव्य संक्रमण करता है इसलिए लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टि में आयद्रव्य दो हुआ । लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका अप-कर्षितद्रव्य संक्रमण करता है इसलिए द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें आयद्रव्य एक है तथा लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें मायाकी प्रथम-द्वितीय व तृतीयसंग्रहकृष्टिका अपकर्षित द्रव्य संक्रमण करता है अतः लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें आयद्रव्य तीन है । मायाकी तृतीयसंग्रहकृष्टि-में मायाकी द्वितीय व प्रथमसंग्रहकृष्टिका अपकर्षितद्रव्य संक्रमण करता है इसलिये मायाकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें आय द्रव्य दो है । मायाकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका अपकर्षित द्रव्य संक्रमण करता है इसलिए मायाकी द्वितीयसंग्रह-कृष्टिमें आयद्रव्य एक है तथा मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें मानकी प्रथम, द्वितीय व तृतीयसंग्रहकृष्टिका अपकर्षितद्रव्य संक्रमित होता है अतः मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें आयद्रव्य तीन हैं । मानकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें मानकी द्वितीय व प्रथमसंग्रहकृष्टि-का अपकर्षितद्रव्य संक्रमित होता है इसलिए मानकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें आयद्रव्य दो है, मानकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका ही अपकर्षितद्रव्य संक्रमण करता है इसलिए मानकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें आयद्रव्य एक है तथा मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें क्रोधकी प्रथम-द्वितीय व तृतीयसंग्रहकृष्टिके अपकर्षितद्रव्यका संक्रमण होता है इसलिए मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें आयद्रव्य १५ है । क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें क्रोधकी प्रथम व द्वितीयसंग्रहकृष्टिका अपकर्षितद्रव्य संक्रमण करता है अतः क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टि-में आय द्रव्य १४ है, क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टि में क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका अपकर्षित-

द्रव्य १३ है इसलिए १४ गुणा संक्रमण होता है अतः क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें आय-द्रव्य १८२ है । यहां १४ गुणा करनेका प्रयोजन कहने हैं—

अनन्तर भोगने योग्य संग्रहकृष्टिमें संख्यातगुणे व्यवसाय संक्रमण होता है वह यही संख्यातके प्रमाण अपने गुणकारसे एक अधिक जानना । यही क्रोधकी प्रथमसंग्रह-कृष्टिको और उसके पश्चात् क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिको भोगता है इसलिये क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके अपकर्षितद्रव्यसे संख्यातगुणा द्रव्य द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित होता है । प्रथमसंग्रहकृष्टिद्रव्यमें गुणकार १३ है अतः उससे एक अधिक (१३+१) करनेपर यहां संख्यातका प्रमाण १४ होगा (१३×१४=१८२) । अन्यसंग्रहकृष्टिके वेदककालमें संख्यातका प्रमाण अन्य होगा, उसे आगे कहेंगे । क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें आयद्रव्य वहीं है, क्योंकि वहां आनुपूर्विसंक्रमण पाया जाता है । इसप्रकार आयद्रव्यका कथन करके अब व्ययद्रव्यको कहते हैं—

क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य क्रोधकी द्वितीय, तृतीय व मानकी प्रथम-संग्रहकृष्टिमें संक्रमणकर गया अतः (१८२+१३+१३) क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका व्ययद्रव्य २०८ हुआ, क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य क्रोधकी तृतीय व मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमणकर गया इसलिए क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका व्ययद्रव्य दो है तथा क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें ही संक्रमणकर गया अतः क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें व्ययद्रव्य एक ही है । मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य मानकी द्वितीय, तृतीय व मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमणकर गया इसलिए मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका व्ययद्रव्य तीन है, मानकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य मानकी तृतीय व मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमणकर गया अतः मानकी द्वितीय-द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें व्यय-द्रव्य दो है । मानकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें ही संक्रमणकर गया अतः मानकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें व्ययद्रव्य एक है । मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य द्वितीय, तृतीय व लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमणकर गया इसलिए मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें व्ययद्रव्य तीन है, मायाकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य मायाकी तृतीय और लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित हुआ अतः मायाकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें व्यय-द्रव्य दो है । मायाकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें ही संक्रमित हुआ इसलिए यहां व्ययद्रव्य एक ही है । लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य लोभकी द्वितीय व तृतीयसंग्रहकृष्टिमें गया इसलिए लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका व्ययद्रव्य दो है,

लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें संश्रुत हो गया इसलिए लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें व्ययद्रव्य एक है तथा लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य अन्यत्र नहीं जाता है क्योंकि विपरीतरूप संक्रमणका अभाव है अतः लोभकी तृतीय-संग्रहकृष्टिमें व्ययद्रव्य नहीं है ।

आगे प्रतिसमय होनेवाली अपवर्तनकी प्रवृत्तिका क्रम कहते हैं—

‘पडिसमयमसंखेज्जदिभागं’ एासेदि कंडयेण विणा ।

बारससंगहकिट्ठीणग्गादो किट्ठिवेदगो णियमा ॥१३२॥५२३॥

अर्थ—कृष्टिवेदकजीव काण्डकबिना ही बारहसंग्रहकृष्टियोंके अग्रभागसे सर्व-कृष्टियोंके असंख्यातवैभागप्रमाण कृष्टियोंको नियमसे नष्ट करता है ।

विशेषार्थ—अनन्तगुणोविशुद्धिसे वर्धमान प्रथमसमयवर्ती कृष्टिवेदकजीव बारहसंग्रहकृष्टियोंकी प्रत्येकसंग्रहकृष्टिके अग्रभागसे उत्कृष्टकृष्टिको आदि करके अनन्त-कृष्टियोंके असंख्यातवैभागप्रमाण कृष्टियोंका अपवर्तनाघात करके उन कृष्टियोंकी अनु-भागशक्तिका अपवर्तनकर स्तोकअनुभागयुक्त नीचली कृष्टिरूप करता है । इसीप्रकार द्वितीयादि समयोंमें भी अपवर्तनाघात करता है, किन्तु प्रथमसमयमें जितनी कृष्टियोंका घात किया था द्वितीयादि समयोंमें घात की जानेवाली कृष्टियोंका प्रमाण उत्तरोत्तर असंख्यातगुणाहीन होता है ।

एासेदि परट्टाणिय, गोउच्छं अग्गकिट्ठीघादादो ।

सट्टाणियगोउच्छं, संकमदव्वादु घादेदि ॥१३३॥५२४॥

अर्थ—अग्रकृष्टिघातके द्वारा तो परस्थानगोपुच्छको नष्ट करता है और संक्रमद्रव्यरूप (अन्यसंग्रहरूप) पूर्वोक्त व्ययद्रव्यसे स्वस्थानगोपुच्छको नष्ट करता है ।

विशेषार्थ—विवक्षित एकसंग्रहकृष्टिमें अन्तरकृष्टियोंका जो विशेषहीन क्रम पाया जाता है वह यहाँ स्वस्थानगोपुच्छ कहलाता है तथा अधस्तनवर्ती विवक्षित संग्रह-

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५२ सूत्र १०८८ । जय ध० मूल पृष्ठ २१६८ ।

२. मुद्रित शास्त्राकार बड़ी टीका में गाथामें “पडिसमयं संखेज्जदिभागं” ऐसा पाठ मुद्रित है, किन्तु क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५२ सूत्र १०८८ व गाथा ५३६ के अनुसार एवं गाथामें कथित अर्थानुसार “पडिसमयमसंखेज्जदिभागं” ऐसा पाठ रखा है ।

कृष्टिकी चरमकृष्टिसे उपरिम अन्यसंग्रहकृष्टिकी आदिकृष्टिमें जो विशेषहीन क्रम पाया जाता है वह परस्थानगोपुच्छ कहलाता है । कृष्टियोंके हीनाधिक द्रव्यका संक्रमण होनेसे चय (विशेष) हीनरूप क्रम नष्ट हो जानेसे पूर्वमें जो स्वस्थानगोपुच्छ था वह संक्रमणद्रव्यके द्वारा नष्ट हो गया तथा नीचलीसंग्रहकृष्टिकी चरमकृष्टि व उपरिम-संग्रहकृष्टिकी आदिकृष्टिमें कृष्टियोंका घात होनेसे एकविशेषहीनरूप क्रमका अभाव हो गया अतः पूर्वमें जो परस्थानगोपुच्छ था, उसका अग्रकृष्टिघातद्वारा नाश हुआ ।

यहां कोई कहता है कि व्ययद्रव्य तो गया और आयद्रव्य आया अतः व्यय-द्रव्यसे स्वस्थानगोपुच्छका नाश कहा तथा आयद्रव्यसे स्वस्थानगोपुच्छका होना कहा उसीको कहते हैं—

आय और व्यय द्रव्य का कथन—

आयादो वयमहियं, हीणं सरिसं कर्हिपि अणं च ।

तम्हा आयदव्वा, ए होदि सट्ठाणगोउच्छं ॥१३४॥पृ २५॥

अर्थ—किसी संग्रहकृष्टिमें आयद्रव्यसे व्ययद्रव्य अधिक है तो किसीमें हीन है और किसी संग्रहकृष्टिमें आय-व्ययद्रव्य समान भी है । किसी संग्रहकृष्टिमें आयद्रव्य तो है, किन्तु व्ययद्रव्य नहीं है और किसीमें व्ययद्रव्य तो है आयद्रव्य नहीं है इसलिए आय-द्रव्यसे स्वस्थानगोपुच्छका होना मानना ठीक नहीं है ।

अब स्वस्थान-परस्थानगोपुच्छके सद्भावका विधान कहते हैं—

घादयदव्वादो पुणं वय आयदखेत्तदव्वगं देदि ।

सेसासंखाभागे अणंतभागूणयं देदि ॥१३५॥पृ २६॥

अर्थ—घातक द्रव्यसे व्यय और आयतक्षेत्रद्रव्यको देनेसे एक गोपुच्छ होता है तथा शेष असंख्यात भागमें अनन्तभाग ऊण द्रव्य दिया जाता है ।

विशेषार्थ—घात की हुई कृष्टियोंके व्ययद्रव्यको पूर्वोक्त व्ययद्रव्यमें से घटाने-पर अवशिष्ट द्रव्यप्रमाण द्रव्य घातद्रव्यसे ग्रहणकरके जिन कृष्टियोंका जितना-जितना द्रव्य व्यय हुआ था उनमें उतना-उतना द्रव्य देकर उनको पूर्ण करनेसे स्वस्थानगोपुच्छ होता है ।

उदयगदसंगहस्स य मज्झिमखंडादिकरणमेदेन ।

दव्वेण होदि णियमा एवं सव्वेसु समयेसु ॥१३६॥पृ २७॥

अर्थ—उदयको प्राप्त संग्रहकृष्टिका इस घातद्रव्यद्वारा मध्यमखंडादि किये जाते हैं यह विधान सभी समयोंमें होता है ।

विशेषार्थः—जिस संग्रहकृष्टिका अनुभव करता है उसमें आयद्रव्यका अभाव है अतः संक्रमणद्रव्यसे मध्यमखंडादि नहीं होते हैं । इसलिए मध्यमखण्ड, उभयद्रव्य, विशेष इत्यादि वक्ष्यमाण विधान करनेके लिये उस वेदनेरूप संग्रहकृष्टिका असंख्यातवा-
भागप्रमाण द्रव्य घातद्रव्यसे पृथक् रखकर अवशिष्ट घातद्रव्यको ही पूर्वोक्तप्रकार विशेष-
हीन क्रमसे एकगोपुच्छाकार द्वारा दिया जाता है । एक भागके आगे मध्यमखण्डादि
विधानसे द्रव्यदेनेका कथन करेंगे । यह विधान सर्वसमयों (कृष्टिगत उदयके समयों) में
जानना । इसप्रकार घातद्रव्यसे एकगोपुच्छ हुआ, अब जो अन्यसंग्रहका द्रव्य विवक्षित
संग्रहमें द्रव्य आया उसको पूर्वमें आयद्रव्य कहा था उसका नाम यहां संक्रमण द्रव्य
कहा जाता है तथा जो द्रव्य नवीनसमयप्रबद्धमें बन्धकरके कृष्टिरूप होता है वह बन्ध-
द्रव्य कहा जाता है । उसका विधान कहते हैं—

कुछ संक्रमणद्रव्य और बन्धद्रव्यसे कुछ नवीन अपूर्वकृष्टियोंको करता है ।
इनमें संक्रमणद्रव्यके द्वारा तो उन संग्रहकृष्टियोंकी जघन्यकृष्टिके नीचे कुछ अपूर्व-
कृष्टियोंको करता है, इनको अधस्तनकृष्टि कहते हैं तथा उन संग्रहकृष्टियोंकी पूर्व-
अवयवकृष्टियोंके बीच-बीचमें नवीन अपूर्वकृष्टियोंको करता है, इनका नाम अन्तरकृष्टि
है । बन्धद्रव्यके द्वारा अवयवकृष्टियोंके बीच-बीचमें ही नवीनअपूर्वकृष्टियोंको करता है,
इनको भी अन्तरकृष्टि कहते हैं । कुछ संक्रमणद्रव्य और बन्धद्रव्यको पूर्वकृष्टियोंमें ही
निक्षेपण करता है । इसीका विधान अगली गाथामें कहते हैं—

हेट्टाकिट्टिप्पहुदिसु संकमिदासंखभागमेत्तं तु ।

सेसा संखाभागा अंतरकिट्टिस्स दव्वं तु ॥१३७॥५२८॥

अर्थ—संक्रमणद्रव्यको असंख्यातका भाग देनेपर उसमेंसे एकभागमात्र द्रव्य
तो अधस्तनकृष्टिआदिमें देता है अर्थात् इस एकभागप्रमाण द्रव्यसे क्रोधकी प्रथमकृष्टिके
अतिरिक्त शेष ११ संग्रहकृष्टियोंके अधस्तन अपूर्वकृष्टि करता है तथा अवशेष असंख्यात-
बहुभागप्रमाण अन्तरकृष्टिसम्बन्धी द्रव्य है, इससे अन्तरकृष्टियोंके अन्तरमें अपूर्वकृष्टियों
को करता है । इस गाथाका विशेष अर्थ जाननेके लिये गाथा १४३का विशेषार्थ देखना
चाहिए ।

संप्रद्वयान्तिमभागं पुनः पुनर्वकिट्टिपट्टिबद्धं ।

सेसांता भागा अंतरकिट्टिस्स द्दवं तु ॥१३८॥५२६॥

अर्थ—बन्धको प्राप्त द्रव्यमें अनन्तका भाग देनेपर एकभागप्रमाण तो पूर्वकृष्टि-सम्बन्धी द्रव्य है अतः इस एकभागप्रमाण द्रव्यका पूर्वोक्त कृष्टियोंमें निक्षेपण करता है तथा अवशिष्ट अनन्तबहुभागप्रमाण द्रव्य अन्तरकृष्टिसम्बन्धी है, इससे नवीन अन्तर-कृष्टियोंको करता है । इस गाथाके सम्बन्धमें विशेषकथन गाथा १४२के विशेषार्थसे जानना चाहिए ।

कोहस्स पढमकिट्टी मोत्तूणणेकारसंगहाणं तु ।

बंधणसंकमदब्वादपुनर्वकिट्टिं करेदी हु ॥१३९॥५३०॥

अर्थ—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके बिना अवशेष ग्यारह संग्रहकृष्टियोंके यथा-सम्भव बन्ध व संक्रमणरूप द्रव्यसे अपूर्वकृष्टियोंको करता है । क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टि में संक्रमणद्रव्यका अभाव होनेसे मात्र बन्धद्रव्यसे ही अपूर्वकृष्टि करता है ।

विशेषार्थ—वेद्यमान क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिको छोड़कर शेष ग्यारहसंग्रह-कृष्टिसम्बन्धी संक्रम्यमान और यथासम्भव वेद्यमान प्रदेशाग्रसे अपूर्वकृष्टिकी रचना की जाती, किन्तु क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी अपूर्वकृष्टियां मात्र बध्यमान प्रदेशाग्रसे रची जाती हैं उसमें संक्रम्यमान प्रदेशाग्रका अभाव है । अतः 'क्रोधकी प्रथमसंग्रह-कृष्टिको छोड़कर' ऐसा कहा गया है । मान, माया व लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी अपूर्वकृष्टियां बध्यमान और संक्रम्यमान दोनों प्रकारके प्रदेशाग्रसे रची जाती हैं, शेष संग्रहकृष्टिसम्बन्धी अपूर्वकृष्टियां मात्र संक्रम्यमान प्रदेशाग्रसे रची जाती हैं उनमें बध्य-मान प्रदेशाग्रका अभाव है । यहांपर अपकर्षित द्रव्यकी संक्रम्यमान संज्ञा है । सर्वत्र यहाँ ऐसा ही ग्रहण करना चाहिए ।

बंधणदब्वादो पुण चदुसट्ठाणेषु पढमकिट्टीसु ।

बंधुप्पवकिट्टीदो संकमकिट्टी असंखगुणा ॥१४०॥५३१॥

१. जयघवल मूल पृष्ठ २१६६ । क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५२ सूत्र १०८६ से १०६१ तक । ध० पु० ६ पृष्ठ ३८५ ।

संख्यातीदगुणाणि य पल्लस्सादिमपदाणि गंतूण ।

एककेककबंधकिट्टी किट्टीणं अंतरे होदि ॥१४१॥५३२॥

अर्थ—क्रोधादि चारकषायोंकी प्रथमसंग्रहकृष्टिरूप चारस्थानोंमें बन्धद्रव्यसे अपूर्वकृष्टिको करता है । संक्रमणद्रव्यसे पहले ग्यारहस्थानोंमें कृष्टि रचना कही गई है । बन्धद्रव्यसे होनेवाली अपूर्वकृष्टियोंसे संक्रमणद्रव्यके द्वारा उत्पन्न कृष्टियां पल्लके असंख्यातवैभागगुणो हैं । असंख्यातपल्लके प्रथमवर्गमूल जाकर एक-एक अपूर्वकृष्टि बन्धती है यही कृष्टिगत अन्तर है ।

विशेषार्थ—गह्वं तत्त्वद्रव्य सपणावद्धप्रमाण है, उससे संक्रमणद्रव्य असंख्यात-गुणा है । “कृष्टिद्रव्यके अनुसार कृष्टियां उत्पन्न होती हैं” इस न्यायके अनुसार बध्यमान प्रदेशाग्रसे थोड़ी (स्तोक) अपूर्वकृष्टियां रची जाती हैं, क्योंकि डेढ़गुणहानि समय-प्रबद्धप्रमाण सत्त्वद्रव्यके असंख्यातवैभाग संक्रम्यमाण द्रव्य है । यह संक्रम्यमाण प्रदेशाग्र बध्यमान प्रदेशाग्रसे पल्लके असंख्यातवैभागगुणा है । बध्यमानप्रदेशाग्रसे जो अपूर्वकृष्टियां रची जाती हैं वे चारों ही प्रथमसंग्रहकृष्टिमें से प्रत्येक संग्रहकृष्टिकी अवयवकृष्टियोंके अन्तरालोंमें निर्वर्तित की जाती हैं, किन्तु प्रथमआदि असंख्यात पल्लोपमके प्रथमवर्ग-मूलप्रमाणकृष्टि अन्तरालोंको लांघकर आगे कृष्टिअन्तरालमें प्रथमअपूर्वकृष्टि रची जाती है । पुनः असंख्यातकृष्टिअन्तरालों उलंघकर द्वितीयअपूर्वकृष्टि रची जाती है । इस-प्रकार असंख्यातपल्लोपमके प्रथमवर्गमूलप्रमाण असंख्यातकृष्टि अन्तरालोंको छोड़-छोड़कर तृतीय, चतुर्थादि अपूर्वकृष्टिको रचना होती है । यह क्रम तबतक चला जाता है जबतक अन्तिमअपूर्वकृष्टि निष्पन्न नहीं होती है ।

दिज्जदि अणंतभागेणूणकमं बंधगे य णंतगुणं ।

तणणंतरे णंतगुणूणं तत्तोणंतभागूणं ॥१४२॥५३३॥

अर्थ—बध्यमानद्रव्य पहले अनन्तवैभागहीन क्रमसे दिया जाता है पुनः अनन्त-गुणा द्रव्य दिया जाता है उसके अनन्तर अनन्तगुणाहीन दिया जाता है तदनन्तर अनन्त-भागहीन द्रव्य क्रमसे दिया जाता है ।

विशेषार्थ—बध्यमानप्रदेशाग्रकी श्रेणिप्ररूपणा कही जाती है—चारों प्रथम-संग्रहकृष्टियोंके नीचे व ऊपर असंख्यासर्वेभाग कृष्टियोंको छोड़कर शेषसमस्त मध्यम-स्वरूपसे प्रवर्तमान नवकबन्धका अनुभाग पूर्वकृष्टिस्वरूप भी होता है और अपूर्वकृष्टि-स्वरूप भी । नवकसमयप्रबद्धका अनन्तर्वाभाग प्रदेशाग्र पूर्वकृष्टियोंमें दिया जाता है और शेष अनन्त बहुभाग नवीन अपूर्वकृष्टिस्वरूपसे दिया जाता है । नवकसमयप्रबद्धके उपर्युक्त अनन्तर्वेभागमें से जघन्यकृष्टिमें बहुत प्रदेशाग्र दिया जाता है । द्वितीयकृष्टिमें अनन्तर्वे-भागसे विशेषहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है । तृतीयकृष्टिमें अनन्तर्वेभागसे विशेषहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है, चतुर्थकृष्टिमें अनन्तर्वेभागसे विशेषहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है । इसप्रकार विशेषहीन-विशेषहीन प्रदेशाग्र नवीन अपूर्वकृष्टिके प्राप्त होने-तक दिया जाता है । पुनः अनन्तगुणप्रदेशाग्र द्वारा अपूर्वकृष्टि निर्वर्तित होती है । इस अपूर्वकृष्टिसे अनन्तरकृष्टिमें अनन्तगुणाहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है । तदनन्तर अनन्तभागहीन-अनन्तभागहीन प्रदेशाग्र तब तक दिया जाता है जबतक कि अन्य अपूर्व-कृष्टि प्राप्त हो । पुनः अनन्तगुण प्रदेशाग्रद्वारा अन्य अपूर्वकृष्टि निर्वर्तित होती है, उससे अनन्तरकृष्टिमें अनन्तगुणाहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है और उससे आगे अनन्तर्वेभाग-हीन प्रदेशाग्र दिया जाता है । इसीप्रकार शेष सर्वकृष्टियोंमें जानना चाहिए । पूर्व और अपूर्वकृष्टियोंमें गोपुच्छसम्पादनके लिए प्रदेशाग्रका यह क्रम होता है । इसप्रकार बध्य-मानप्रदेशाग्रसे अपूर्वकृष्टियोंकी रचना कही गई ।

संकमदो किट्टीणं संग्रहकिट्टीणमंतरं होदि ।

संग्रह अंतरजादो किट्टी अंतरभवा असंखगुणा ॥ १४३ ॥ ५३४ ॥

अर्थ—संकमणरूप द्रव्यसे उत्पन्न हुई अपूर्वकृष्टियोंमें से कुछ कृष्टियां तो संग्रह-कृष्टियोंके नीचे उत्पन्न होती हैं और कुछ कृष्टियां पूर्वमें जो अवयवकृष्टि थीं उनके अन्तरालोंमें होती हैं । यहां संग्रहकृष्टियोंके अन्तरालमें नीचे उत्पन्न हुई कृष्टियोंसे अवयवकृष्टियोंके अन्तरालमें उत्पन्न हुई कृष्टि असंख्यासगुणी हैं ।

विशेषार्थ—संकम्यमाण प्रदेशाग्रसे जो अपूर्वकृष्टियां रची जाती हैं वे दो अवकाशों (स्थलों) अर्थात् कृष्टिअन्तरालमें भी और संग्रहकृष्टिअन्तरालमें भी रची

१. क० पा० सुत पृष्ठ ८५३ सूत्र ११०५ से १११४ । घ० पु० ६ पृष्ठ ३८६ । जयधवल मूल पृष्ठ २०७२ से २०७४ ।

जाती हैं । क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिको छोड़कर शेष ग्यारहसंग्रहकृष्टियोंके नीचे अपूर्व-
कृष्टियां संक्रम्यमाण प्रदेशाग्र अर्थात् अपकर्षित समस्तद्रव्यके असंख्यातवैभागसे रची
जाती हैं अतः वे अल्प हैं । संक्रम्यमाणप्रदेशाग्र अर्थात् अपकर्षित समस्तद्रव्यके असंख्यात-
बहुभाग द्वारा कृष्टिअंतरालोंमें जो अपूर्वकृष्टियां रची जाती हैं उससे संग्रहकृष्टियोंके
नीचे अपूर्वकृष्टियोंकी रचनामें दिये जानेवाले द्रव्यसे असंख्यातगुणे द्रव्यद्वारा कृष्टि-
अन्तरालोंमें रची जानेवाली अपूर्वकृष्टियां असंख्यातगुणी हैं, क्योंकि इनकी रचनामें
असंख्यातगुणा द्रव्य लगा है ।

संग्रहअंतरजागं अपूर्वकिष्टिं व बंधकिष्टिं वा ।

इदराणमंतरं पुण पल्लपदासंखभागं तु ॥१४४॥५३५॥

अर्थ—संग्रहकृष्टिअन्तरालोंमें जो अपूर्वकृष्टियोंकी रचना की जाती है उसका
विधान कृष्टिकरणमें निर्वर्त्यमानकृष्टियोंके विधान जैसा जानना चाहिए । 'इदराणाम'
अर्थात् कृष्टिअन्तरालोंमें रची जानेवाली अपूर्वकृष्टियोंका विधान बध्यमानप्रदेशाग्रसे
निर्वर्त्यमान अपूर्वकृष्टियोंके विधान (गाथा १४१-४२) जैसा यहां भी जानना चाहिए,
किन्तु यहां अपूर्वकृष्टिगत अन्तर पल्लोपमके प्रथमवर्गमूलके असंख्यातवैभाग है^१ ।

विशेषार्थः—कृष्टिकरणकालमें पूर्वमें निर्वर्त्यमान अपूर्वकृष्टियोंकी जो विधि
वही विधि निरवशेषरूपसे अपकर्षितद्रव्यके द्वारा संग्रहकृष्टियोंके अन्तरालमें रची जाने-
वाली अपूर्वसंग्रहकृष्टियोंके सम्बन्धमें भी जानना चाहिए, क्योंकि उष्ट्रकूटश्रेणिके आकार
से दिये जानेवाले प्रदेशाग्रकी निषेकप्ररूपणाके प्रति भेदकी अनुपलब्धि पायी जाती है ।
इसप्रकार उष्ट्रकूटश्रेणिसामान्यकी अपेक्षासे दोनों विधानोंमें कोई विशेषता नहीं है ऐसा
कहा गया है, किन्तु अर्थतः (वास्तवमें) देखनेपर इन दोनोंमें सादृश्य नहीं दिखाई देता,
क्योंकि दोनोंमें कुछ विशेषता संभव है । वह विशेषता इसप्रकार है कि कृष्टिकरणकाल-
के प्रथमसमयमें कृष्टिरूपसे परिणत प्रदेशपिण्डसे द्वितीयसमयवर्ती कृष्टियोंमें निःसिच्य-
मान प्रदेशपिण्ड असंख्यातगुणा होता है, उससे तृतीयसमयमें निःसिच्यमान प्रदेशपिण्ड
असंख्यातगुणा है, उससे चतुर्थसमयमें निःसिच्यमान प्रदेशपिण्ड असंख्यातगुणा है । इस-

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५४ सूत्र १११५ से १११६ । धवल पु० ६ पृ० ३८७ । जयधवल मूल
पृष्ठ २०७४-७५ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५४ सूत्र ११२० से ११२३ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३८७ ।

प्रकार कृष्टिकरणकालके चरमसमयपर्यन्त प्रतिसमय कृष्टियोंमें निःसिच्यमान प्रदेशपिण्ड विशुद्धिके माहात्म्यसे असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा होता जाता है । वर्तमानसमयमें निर्वर्तित अपूर्वकृष्टिकी चरमकृष्टिमें निःसिक्त प्रदेशाग्रसे पूर्वसमयमें की गई पूर्वकृष्टियोंकी जघन्यकृष्टिमें निःसिच्यमान प्रदेशाग्र असंख्यातभागहीन होता है, क्योंकि उसमें पूर्व अवस्थितद्रव्य इतना ही होन दिखाई देता है । तदनन्तर अनन्तभागहीनरूपसे यथाक्रम जाकर पुनः पूर्वसमयमें की गई संग्रहकृष्टिसम्बन्धी चरमकृष्टिमें निःसिक्त प्रदेशाग्रसे वर्तमानसमयमें द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें नीचे की गई अपूर्वजघन्यकृष्टिमें दिया जानेवाला प्रदेशपिण्ड असंख्यातभाग अधिक होता है । शेष अपूर्वकृष्टियोंमें अनन्तभागहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है, इसीप्रकार आगे भी जानना चाहिए । पुनः दृश्यमानप्रदेशाग्र सर्वत्र अनन्तभागहीनरूपसे रहता है । इसप्रकार यहक्रम कृष्टिकरणकालके द्वितीयसमयसे चरमसमयपर्यन्त जानना चाहिए, किन्तु कृष्टिवेदककालमें ऐसी विधि नहीं होती, क्योंकि कृष्टिवेदककालकी अपूर्वकृष्टियोंमें निःसिच्यमान प्रदेशाग्र पूर्वकृष्टिप्रदेशपिण्डसे असंख्यातवै-भागप्रमाण होता है, उससे कृष्टिवेदककालके प्रथमसमयमें निर्वर्त्यमान अपूर्वकृष्टियोंकी चरमकृष्टिमें निर्वर्तित प्रदेशाग्रसे पूर्वकृष्टिकी जघन्यकृष्टिके प्रथमसमयमें प्रदेशाग्र असंख्यातगुणाहीन होता है, अन्यथा पूर्व-अपूर्वकृष्टियोंकी संधिमें एकगोपुच्छकी उत्पत्ति वहीं होगी । अतः कृष्टिकरणविधि और कृष्टिवेदकविधिमें इसप्रकारकी विशेषता दिखानेके लिए श्रेणीप्ररूपणा करते हैं—

कृष्टिवेदककालके प्रथमसमयमें पूर्वतुपूर्वकी अपेक्षा लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टि के नीचे अपकषित प्रदेशाग्रके द्वारा जो अपूर्वकृष्टियाँ रची जाती हैं, उनमें से जघन्य-कृष्टिमें बहुत प्रदेशाग्र दिया जाता है तथा उसके आगे चरमकृष्टिपर्यन्त अनन्तवै-भागहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है । उसके आगे अपूर्वकृष्टिकी चरमकृष्टिमें पतित प्रदेशाग्रसे लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी पूर्वकृष्टिसम्बन्धी जघन्यकृष्टिमें असंख्यातगुणा-हीन प्रदेशाग्र दिया जाता है, द्वितीयपूर्वकृष्टिमें उससे अनन्तभागहीन द्रव्य दिया जाता है और यह अनन्तभागहीनरूप द्रव्यका क्रम प्रथमसंग्रहकृष्टिकी चरमकृष्टिपर्यन्त जानना । पुनः उस प्रथमसंग्रहकृष्टिकी चरमकृष्टिमें पतित प्रदेशाग्रसे द्वितीयसंग्रहकृष्टिके नीचे रची जानेवाली अपूर्वकृष्टियोंकी जघन्यकृष्टिमें असंख्यातगुणा प्रदेशाग्र दिया जाता है । उससे आगे अपूर्वचरमकृष्टिपर्यन्त अनन्तभागहीनरूप क्रमसे द्रव्यका सिचन होता है । पुनः अपूर्वचरमकृष्टिमें तिसिचित प्रदेशाग्रसे, पूर्वनिर्वर्तित द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी अन्तर-

कृष्टि सम्बन्धी जघन्यकृष्टिमें असंख्यातगुणहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है, उससे आगे अणंतभागहीनरूप क्रमसे होकर द्रव्य निःसिञ्चित होता है, किन्तु इतनी विशेषता है कि पूर्वकृष्टियोंके अन्तरमें रची जानेवाली अपूर्वकृष्टियोंकी और पूर्वकृष्टियोंकी संधिमें प्रदेशविन्यासका भेद है । इसप्रकार कही गई विधी ऊपर (आगे) भी जानना चाहिए । कृष्टिवेदकके द्वितीयादि समयोंमें भी निषेकप्ररूपणा इसीप्रकार जानना चाहिए । इस उपर्युक्त विधिकी अपेक्षा दोनोंमें (कृष्टिकरण व कृष्टिवेदककालमें) विशेषता सम्भव है इसकी विवक्षा गाथासूत्रमें नहीं है । ग्यारह संग्रहकृष्टियोंके नीचे एक-एक पूर्वकृष्टिमें से असंख्यातवैभागप्रमाण द्रव्यको अपकर्षितकरके पूर्वकृष्टियोंके असंख्यातवैभागमात्र अपूर्वकृष्टियोंको करनेवाला उष्ट्रकूटश्रेणीरूपसे प्रदेशविन्यास करता है इसको देखते हुए गाथासूत्रमें (कृष्टिकरण व अपूर्वकृष्टि रचना विधानकी) समानता कही गई है' ।

जिसप्रकार असंख्यातकृष्टियोंका अन्तर देकर बध्यमान प्रदेशाग्रसे अपूर्वकृष्टियाँ रची जाती हैं, उसीप्रकार पत्योपमके प्रथमवर्गमूलके असंख्यातवैभागप्रमाण कृष्टियोंके अन्तरसे संक्रम्यमान प्रदेशाग्रसे अवान्तरकृष्टियोंमें अपूर्वकृष्टियाँ रची जाती हैं । दियमान प्रदेशाग्रकी श्रेणिप्ररूपणा जैसी वहाँ (बध्यमान प्रदेशाग्रसे अपूर्वकृष्टि रचनामें) की गई है वैसी ही प्ररूपणा यहाँ भी जानना, किन्तु यहाँ उससे थोड़े (अल्प) अर्थात् प्रथमवर्गमूलके असंख्यातगुणे हीन अन्तरालसे संक्रम्यमान प्रदेशाग्रसे अपूर्वकृष्टि रची जाती है । संक्रम्यमाण प्रदेशाग्रसे कृष्टिअन्तरोंमें निर्वर्तित अपूर्वकृष्टिमें जो प्रदेशाग्र दिये जाते हैं उनकी श्रेणिप्ररूपणाका विधान बन्धद्रव्यसे निर्वर्तित अपूर्वकृष्टिमें जैसा कहा गया है वैसा जानना, किन्तु इतनी विशेषता है कि संग्रहकृष्टियोंके नीचे निर्वर्तित अपूर्वकृष्टिमें पूर्वोक्त क्रमसे प्रदेश निःसिक्त करनेके पश्चात् अपूर्वचरमकृष्टिकी अपेक्षा पूर्वजघन्यकृष्टिमें असंख्यातगुणेहीन प्रदेशाग्र निःसिञ्चित किये जाते हैं, उसके आगे उत्कर्षण-अपकर्षणभाग-हारप्रमाण पूर्वकृष्टियोंमें अनन्तभागहीनरूप क्रमसे प्रदेशाग्र दिये जाते हैं उसके बाद कृष्टिअन्तरालमें निर्वर्तित की जानेवाली अपूर्वकृष्टिमें असंख्यातगुणे प्रदेशाग्र दिये जाते हैं, तत्पश्चात् अचन्तर पूर्वकृष्टिमें असंख्यातगुणेहीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं तथा उसके अनन्तभागहीन प्रदेशाग्र देता है । संधियोंको जानकर यह क्रम निरुद्धसंग्रहकृष्टिके अन्त-पर्यन्त जानना चाहिए, इससे ऊपरकी संग्रहकृष्टियोंमें भी इसी विधानसे श्रेणिप्ररूपणा

करना चाहिए । कृष्टिवेदककालके प्रथमसमयकी यह प्ररूपणा जिसप्रकार की गई है, वह सर्वप्ररूपणा उसीप्रकार द्वितीयादि समयोंमें भी कहना चाहिए ।

कृष्टियोंके घातका कथन—

‘कोद्वादिकिष्टिवेदगपडमे तस्स य असंखभागं तु ।

णासेदि हु पडिसमयं तस्सासंखेज्जभागकमं ॥१४५॥५३६॥

कोहस्स य जे पडमे संगहकिष्टिम्हि णट्टकिट्ठीओ ।

बंधुज्झियकिट्ठीणं तस्स असंखेज्जभागो हु ॥१४६॥५३७॥

अर्थ—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदकजीव प्रथमसमयमें सर्वकृष्टियोंका असंख्यातवैभागमात्र कृष्टियोंको नष्ट करता है तथा द्वितीयसमयमें उसके असंख्यातवैभागप्रमाण कृष्टियोंका घात करता है । इसी क्रमसे प्रतिसमय असंख्यातवैभागप्रमाण-रूप क्रमसे कृष्टियोंका घात करता है । क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके सर्ववेदककालमें जो कृष्टियां नष्ट हुई हैं वे क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी अवध्यमानकृष्टियोंके असंख्यातवैभागप्रमाण हैं ।

विशेषार्थ—विशुद्धिके माहात्म्यसे क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी कृष्टियोंमें से अग्रकृष्टिको आदि करके कृष्टियोंका असंख्यातवैभाग प्रतिसमय अपवर्तनाघातद्वारा विनाश किया जाता है । जो कृष्टियां प्रथमसमयमें विनष्ट होती हैं वे बहुत हैं, क्योंकि समस्तकृष्टियोंके असंख्यातवैभागप्रमाण हैं और जो कृष्टियां द्वितीयसमयमें नष्ट की जाती हैं वे प्रथमसमयमें विनष्टकृष्टियोंसे असंख्यातगुणीहीन हैं । यद्यपि द्वितीयसमयमें विशुद्धि अनन्तगुणी बढ़ जाती है तथापि प्रथमसमयमें विनष्ट कृष्टियोंसे रहित शेष बची हुई कृष्टियोंके असंख्यातवैभागका घात करता है इसलिये द्वितीयसमयमें असंख्यात-गुणीहोन कृष्टियोंका नाश करता है । इसीप्रकार तृतीयादि समयोंमें भी प्रतिसमय अपवर्तनाघातका क्रम जानना चाहिए । यह असंख्यातगुणाहीनक्रम अपने विनाशकालके द्विचरमसमयतक चला जाता है । प्रथमसमयवर्ती कृष्टिवेदकके क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१७७-७८ ।

२. इन दोनों गाथासम्बन्धी विषय क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५४-५५ सूत्र ११२४ से ११२८ तक एवं धवल पु० ६ पृष्ठ ३८७-८८ पर भी है ।

ऊपर और नीचेकी असंख्यातवैभागप्रमाण कृष्टियां अबध्यमान कहलाती हैं । कृष्टि-वेदकके प्रथमसमयसे लेकर निरुद्ध प्रथमसंग्रहकृष्टिके विनाशकालके द्विचरमसमयतक उपरिम अबध्यमानकृष्टियोंके असंख्यातवैभागमात्र कृष्टियोंका विनाश होता है । उपरिम व अबस्तन इन दोनों भागोंमेंसे उपरिमभागमें विनष्ट कृष्टियोंका प्रमाण आवलिके असंख्यातवैभागमात्र विशेष है । जैसा क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके विनाशका क्रम कहा गया है वैसा ही क्रम शेष संग्रहकृष्टियोंके विनाशका भी जानना चाहिए, क्योंकि इसमें विरोधका अभाव है^१ ।

क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी प्रथमस्थितिमें समयाधिक आवलोकाल शेष रहने-की अवस्थाका कथन—

‘कोहादिकिद्वियादिद्विदिम्हि समयाहियावलीसेसे ।

ताहे जहराणुदीरइ चरिमो पुण वेदगो तस्स ॥१४७॥पृ.३८॥

ताहे संजलणाणं बंधो अंतोमुहुत्तपरिहीणो ।

सत्तोवि य सददिवसा अडमासब्भहियछव्वरिसा ॥१४८॥पृ.३९॥

घादितियाणं बंधो दसवासंतोमुहुत्तपरिहीणा ।

सत्तं संखं वस्सा सेसाणं संखऽसंखवस्साणि ॥१४९॥पृ.४०॥

अर्थ—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी प्रथमस्थितिमें समयअधिक आवली अवशेष रहनेपर जघन्यस्थितिकी उदीरणा करनेवाला होता है । आवलीके ऊपर जो एकसमय है उस समयसम्बन्धी निषेधको अपकषितकरके उदयावलिमें निक्षेपण करता है तथा वहीं क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिवेदकका चरमसमय होता है । वहां (पूर्वोक्त समयाधिक आवलिकाल शेष रह जानेपर) संज्वलनका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम १०० दिन और स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम आठमाह अधिक ६ वर्ष है । तीनघातिया कर्मोंका स्थिति-

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१७८-७९ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५५ सूत्र ११२६ से ११३१ । ध० पु० ६ पृष्ठ ३८८ ।

बन्ध अन्तर्मुहूर्तकम १० वर्ष है और स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्ष है । शेष (तीन अघातिया) कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातवर्ष और स्थितिसत्त्व असंख्यातवर्ष है^१ ।

विशेषार्थ—प्रथमसमयवर्ती कृष्टिवेदक संज्वलनक्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें से अवयवकृष्टियोंका अपकर्षणकरके उसकेद्वारा क्रोधवेदककालके साधिक त्रिभागकालसे एक आवलि अधिकप्रमाण स्थितिको करता है । क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिको वेदन करने-वालेकी जो प्रथमस्थिति है उस प्रथमस्थितिका वेदन करते हुए जिससमय एकसमय-अधिक आवलिमात्र काल उस प्रथमस्थितिमें शेष रह जाता है वही क्रोधकी प्रथमसंग्रह-कृष्टिके वेदनका अन्तिमसमय होता है । प्रथमस्थितिमें समयअधिक आवलिमात्र शेष रह जानेपर अन्तिमस्थितिका अपकर्षणकरके उद्भावलिमें क्षेपण करनेवालेके संज्वलन-क्रोधकी जघन्यस्थितिउदीरणा होती है वहांपर द्वितीयस्थितिसे उदीरणा सम्भव नहीं है, क्योंकि उसप्रथमस्थितिमें आवलि-प्रत्यावलिकाल शेष रह जानेपर पहले ही आगाल-प्रत्यागालकी व्युच्छिन्ति हो जाती है । कृष्टिवेदकके प्रथमसमयसे संज्वलनचतुष्कके अनुभागसत्त्वकी जो पूर्वप्रवृत्त अनुसमय अपवर्तना है वह उसीप्रकारसे होती रहती है^२ ।

पूर्व अर्थात् कृष्टिवेदनके प्रथमसमयमें संज्वलनचतुष्कका स्थितिबन्ध पूर्ण चार-माह होता था वह संख्यातहजार स्थितिबन्धापसरणोंके द्वारा यथाक्रम घटकर प्रथम-कृष्टिकी प्रथमस्थितिके एकसमयअधिक आवलिकाल शेष रह जानेपर चालीसदिनअधिक दो माह अर्थात् (४० + ६०) १०० दिन रह जाता है । तीनों संग्रहकृष्टियोंके वेदक-कालमें स्थितिबन्ध दो माह अर्थात् ६० दिन घटता है तो एक (प्रथम) संग्रहकृष्टिके वेदककालमें स्थितिबन्ध कितना कम होगा ? इसप्रकार त्रैराशिकविधि करनेपर (१/३) २० दिन प्राप्त होते हैं, जो कि प्रथमसंग्रहकृष्टिवेदककालके त्रिभागसे कुछ अधिक है । अतः प्रथमसंग्रहकृष्टिवेदककालमें चारसंज्वलन कषायोंका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तअधिक २० दिन घटकर अन्तर्मुहूर्तकम १०० दिन रह जाता है ।

१. “जा पुत्रव पवत्ता संजलणाणुभागसंतकम्मस्स अनुसमयमोवट्टणा सा तथा चेव” अर्थात् संज्वलन-चतुष्कके अनुभागसत्त्वकी जो पूर्व प्रवृत्त अनुसमयवर्ती अपवर्तना है वह उसीप्रकार होती रहती है । (क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५५ सूत्र ११३३) यह पाठ जयबवल मूल पृष्ठ २१८० तथा बवल पु० ६ पृष्ठ ३८८ में भी, किन्तु तेमिचन्द्राचार्यने उसे यहां ग्रहण नहीं किया है ।

२. जयबवल मूल पृष्ठ २१७६-८० ।

कृष्टिवेदककालके प्रथमसमयमें संज्वलनचतुष्कका स्थितिसत्त्व आठवर्षमात्र था । संख्यातहजार स्थितिकाण्डकोंके द्वारा वह स्थितिसत्त्व क्रमसे घटकर इससमय अर्थात् क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिको प्रथमस्थितिमें एकसमयअधिक आवलिमात्रस्थिति शेष रह जानेपर अन्तर्मुहूर्तकम आठमाहअधिक छहवर्ष रह जाता है । तीनों कृष्टियोंके वेदककालमें संज्वलनचतुष्कका स्थितिसत्त्व यदि चारवर्ष कम हो जाता है तो प्रथम-संग्रहवेदककालमें कितना कम होगा ? इसप्रकार त्रैराशिकविधिके द्वारा साधिक प्रथम-संग्रहकृष्टिके त्रिभागप्रमाण अर्थात् अन्तर्मुहूर्त अधिक चारमाहसहित एकवर्षकम हो जाता है । इसको आठवर्षमें से कम करनेपर (८ वर्ष - १ वर्ष ४ माह व अन्तर्मुहूर्त) अन्तर्मुहूर्त-कम आठमास ६ वर्ष शेष स्थितिसत्त्व रह जाता है^१ ।

पूर्वसंधि अर्थात् क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके वेदककालके प्रथमसमयमें तीन (ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय) घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजारवर्ष था जो यथाक्रम घटकर इससमय (क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी प्रथमस्थितिमें) समयाधिक आवलिकाल शेष रह जानेपर अन्तर्मुहूर्तकम १० वर्ष रह जाता है और स्थितिसत्त्व पूर्वसंधिमें संख्यातहजारवर्ष था, वह संख्यातहजार स्थितिकाण्डकोंके द्वारा घटकर संख्यातहजारगुणाहीन होनेसे तत्प्रायोग्य संख्यातवर्षप्रमाण रह जाता है । शेष (वेदनीय, नाम व गोत्र) तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध पूर्वसंधिमें संख्यातहजारवर्षप्रमाण था वह सहस्रों स्थितिबन्धापसरणोंके द्वारा घटकर यथाक्रम घटते हुए संख्यातगुणाहीन होकर भी संख्यातहजारवर्षप्रमाण है और स्थितिसत्कर्म भी हजारों स्थितिकाण्डकघातोंके द्वारा असंख्यातगुणाहीन होकर तत्प्रायोग्य असंख्यातवर्ष रह जाता है^२ ।

‘से काले कोहस्स य विदियादो संगहादु पढमठिदी ।

कोहस्स विदियसंगहकिट्टिस्स य वेदगो होदि ॥१५०॥५४१॥

कोहस्स पढमसंगहकिट्टिस्सावलिपमाण पढमठिदी ।

दोसमऊणदुआवलिणवकं च वि चेउदे ताहे ॥१५१॥५४२॥

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१८०-८१ ।

२. जय ध० मूल पृष्ठ २१८१ ।

३. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५५-५६ सूत्र ११३६-४० व ४१ । ध० पु० ६ पृष्ठ ३८६ । जयधवल मूल पृष्ठ २१८१ ।

अर्थ—उसके (क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टि वेदनके चरमसमयके) अनन्तरसमयमें क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे प्रथमस्थिति करके क्रोधको द्वितीयसंग्रहकृष्टिका वेदक होता है । उससमय क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी आवलिप्रमाण प्रथमस्थितिका द्रव्य और दोसमयकम दोआवलिप्रमाण नवकसमयप्रबद्ध शेष रह जाता है और उसीकालमें क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य १४ गुणा हो जाता है ।

विशेषार्थ—जब प्रथमसंग्रहकृष्टिको पूर्वोक्त प्रथमस्थितिमें उच्छिष्टावलिकाल शेष रह जाता है उससमय द्वितीयस्थितिमें स्थित क्रोधकी द्वितीयकृष्टिके प्रदेशाग्निको अपकर्षित करके उदयादि गुणश्रेणीके द्वारा द्वितीयसंग्रहकृष्टिके वेदककालसे आवलि-अधिककाल द्वारा प्रथमस्थितिको करता है । क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें से अपकर्षण-करके प्रथमस्थितिको करनेवालेके उससमय दोसमयकम दोआवलिप्रमाण नवकसमय-प्रबद्धरूप प्रदेशाग्र और उच्छिष्टावलिप्रमाण प्रदेशाग्रको छोड़कर क्रोधकी प्रथमसंग्रह-कृष्टिके शेष समस्त प्रदेशाग्र क्रोधकी द्वितीय कृष्टिरूप संक्रमण कर जाते हैं । क्रोधकी द्वितीयकृष्टिसे प्रथमकृष्टि तेरहगुणी थी, क्योंकि प्रथमसंग्रहकृष्टिमें नोकषायका भी द्रव्य था । प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य द्वितीयसंग्रहकृष्टिके नीचे अनन्तगुणेहीन परिणमन करके अपूर्वकृष्टिरूप होकर प्रवृत्त करता है, उससमय शेष पृथक् पृथक् संग्रहकृष्टिके द्रव्यसे इसका द्रव्य १४ गुणा हो जाता है, क्योंकि प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य इस द्वितीयकृष्टिरूप संक्रमित होगया है । नवकबन्ध और उच्छिष्टावलिके प्रदेशाग्र यथाक्रम प्रतिसमय दूसरी-कृष्टिमें संक्रमण करते हैं, उसीसमय क्रोधकी द्वितीयकृष्टिका वेदक होता है^१ ।

पडमादिसंगहाणं चरिमे फालिं तु विदियपहुदीणं ।

हेट्टा सव्वं देदि हु मउक्के पुव्वं व इगिभागं ॥१५२॥^१५४३॥

अर्थ—प्रथमादि संग्रहकृष्टियोंके अन्तिमसमयमें जो संक्रमणद्रव्यरूप फालि है उसका (बहुभाग) द्रव्य तो द्वितीयादि संग्रहकृष्टियोंके नीचे सर्वत्र देता है और एकमात्र-रूप द्रव्य पूर्ववत् मध्यमें देता है ।

विशेषार्थ—जिस संग्रहकृष्टिको भोगता है उसका नवकसमयप्रबद्धबिना सर्व-द्रव्य सर्वसंक्रमणरूप है और वही अन्तिमफालि है, इसको अनन्तर समयमें भोगी जानेवालो

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१८१-८२ ।

२. इस गाथाका विषय जयधवल मूलमें नहीं है ।

संग्रहकृष्टिके नीचे और मध्यमें अपूर्वकृष्टिरूप परिणमाता है, वहाँ उस संग्रहकृष्टिको अवयवकृष्टियोंके मध्यमें जो अपूर्वकृष्टियां करता है, उनको पूर्ववत् चरमसमयवर्ती स्वकीय द्रव्यके असंख्यातवैभागप्रमाण द्रव्यसे रचता है तथा अवशिष्टद्रव्यसे उस संग्रहकृष्टिके नीचे अपूर्वकृष्टियोंको करता है, क्योंकि यहाँ क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके अनंतर द्वितीयसंग्रहकृष्टिको भोगता है अतः ऐता विधान जानना ।

१ कोहस्स विदियकिट्ठी वेदयमाणस्स पढमकिट्ठि वा ।

उदओ वंधो णासो अपुव्वकिट्ठीण करणं च ॥१५३॥५४४॥

अर्थ—क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका वेदन करनेवालेके उदय, बन्ध, घात तथा संक्रमण व बन्ध द्रव्यसे अपूर्वकृष्टियोंका करना आदि विधान प्रथमसंग्रहकृष्टिवत् ही जानना ।

विशेषार्थः—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिवेदककालमें जो विधि कही गई है वही विधि द्वितीयसंग्रहकृष्टिवेदककालमें भी जानना चाहिए । वह इसप्रकार है—उदीर्ण कृष्टियोंकी, बध्यमानकृष्टियोंकी, विनाश की जावेवाली कृष्टियोंकी, बध्यमान प्रदेशाग्रसे निर्वर्त्यमान कृष्टियोंकी तथा संक्रम्यमान प्रदेशाग्रसे निर्वर्त्यमान अपूर्वकृष्टियोंकी विधि प्रथमसंग्रहकृष्टिकी प्ररूपणाके समान है^१ ।

२ कोहस्स विदियसंगहकिट्ठी वेदंतयस्स संक्रमणं ।

सट्ठाणे तदियोत्ति य तदणंतरहेट्ठिमस्स पढमं च ॥१५४॥५४५॥

अर्थ—क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिवेदकके स्वस्थान अर्थात् विवक्षित कषायमें ही संक्रमण तो तृतीयसंग्रहकृष्टिमें होता है और परस्थान अर्थात् अन्यकषायमें जो संक्रमण होता है वह उसके नीचे जो (मान) कषाय है उसको प्रथमसंग्रहकृष्टिमें होता है ।

विशेषार्थ—क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका वेदक क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके प्रदेशाग्रको क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें और भावकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित करता है

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५६ सूत्र ११४२ से ११४४ तक । धवल पु० ६ पृष्ठ ३८६ ।

२. जयधवल मुल पृष्ठ २१८२ ।

३. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५६ सूत्र ११४७ । ध० पु० ६ पृष्ठ ३८६ ।

अन्यकृष्टियोंमें नहीं, क्योंकि संक्रमण आनुपूर्वीरूपसे होता है । क्रोधकी द्वितीयसंग्रह-कृष्टिका द्रव्य स्वस्थानस्वरूप क्रोधकी तृतीयकृष्टिमें अपकर्षणभागहारसे संक्रमण करता है और परस्थानस्वरूप मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें अधःप्रवृत्तसंक्रमण द्वारा संक्रमण करता है । क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके प्रदेशाग्रको मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित करता है, क्योंकि अन्यत्र संक्रमण असम्भव है । यहां भी अधःप्रवृत्तसंक्रमण होता है ।

‘पढमो विदिये तदिये हेट्टिम पढमे च विदियगो तदिये ।

हेट्टिमपढमे तदियो हेट्टिमपढमे च संक्रमदि ॥१५५॥५४६॥

अर्थ—विवक्षित कषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य तो अपनी द्वितीय, तृतीय और अधस्तनवर्ती कषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमण करता है, द्वितीयसंग्रहकृष्टिका (विवक्षितकषायकी) द्रव्य अपनी तृतीय व अधस्तनवर्ती कषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमण करता है तथा (विवक्षितकषायकी) तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य अधस्तनवर्ती कषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें ही संक्रमण करता है । [नोट—इस गाथाका सम्बन्ध गाथा १३१ से है]

विशेषार्थ—यहां जिस कषायका वेदन कर रहा है उस विवक्षित कषायके अनन्तर जिस कषायका वेदन करेगा उसे अधस्तनवर्ती कषाय कहा गया है । क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके प्रदेशसमुहका क्रोधकी तृतीय व मानकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमण करता है, क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके द्रव्यको मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें ही संक्रमित करता है । मानकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य मानकी द्वितीय-तृतीय व मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित करता है, मानकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके द्रव्यका मानकी तृतीय व मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमण करता है और मानकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके द्रव्यको मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें ही संक्रमित करता है । माया-कषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके द्रव्यका संक्रमण मायाकी द्वितीय-तृतीय व लोभकी प्रथम-संग्रहकृष्टिमें होता है, माया कषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य मायाकी तृतीय व लोभ-

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१८३ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५६ सूत्र ११४७ से ११५६ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३८६-६० ।

की प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमण करता है तथा मायाकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके द्रव्यको लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें ही संक्रमित करता है । लोभकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य लोभकी द्वितीय व तृतीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित करता है और लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके द्रव्यका संक्रमण लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें करता है, (देखो गाथा १३१ की टीका) क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें भी दिया जाता है ।

यहाँ विवक्षित कषायके द्रव्यको अपकर्षणभागहारका भाग देकर एकभागमात्र द्रव्य स्वस्थानमें (अपनी ही अन्य संग्रहकृष्टिमें) संक्रमित करता है और परस्थानमें (अन्यकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें) विवक्षितकषायके द्रव्यको अधःप्रवृत्तभागहारका भाग देकर एकभागमात्र द्रव्यका संक्रमण करता है ।

कोहस्स पढमकिट्ठी सुणोत्ति ण तस्स अत्थि संक्रमणं ।

लोभंतिमकिट्ठिस्स य णत्थि पडिस्थावणूणादो ॥१५६॥५४७॥

अर्थ—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टि तो शून्य हो गई (नास्तिरूप हो गई) अतः उसका संक्रमण नहीं होता तथा लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका भी संक्रमण नहीं है, क्योंकि अतिस्थापनाका अभाव है ।

विशेषार्थ—इसप्रकार क्रोधकी प्रथम व लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टि बिना शेष दशसंग्रहकृष्टियोंके द्रव्यका संक्रमण करता है । वेदन करनेयोग्य द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें आयद्रव्यका अभाव है अतः वहाँ घात (व्यय) द्रव्यको पूर्वकृष्टियोंमें पूर्वोक्तप्रकार दिया जाता है तथा लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें व्ययद्रव्य नहीं, किन्तु आयद्रव्य ही है अतः दशसंग्रहकृष्टियोंमें संक्रमणद्रव्यको पूर्वोक्तप्रकार पूर्व-अपूर्वकृष्टियोंमें दिया जाता है ।

जस्स कसायस्स जं किट्ठि वेदयदि तस्स तं चेव ।

सेसाण कसायाणं पढमं किट्ठि तु बंधदि हु ॥१५७॥५४८॥

अर्थ—जिसकषायकी जिस संग्रहकृष्टिका वेदन करता है उस कषायकी उसी संग्रहकृष्टिका बन्ध करता है तथा अन्यकषायोंकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका बन्ध करता है ।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१८३-८४ ।

२. क० पा० सूत पृष्ठ ८५७ सूत्र ११६० । धवल पु० ६ पृष्ठ ३६० ।

विशेषार्थ— शङ्का—जैसे क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदन करनेवाला चारों कषायोंकी प्रथमकृष्टियोंका बन्ध करता है उसी प्रकार क्रोधकी द्वितीयकृष्टिका वेदन करनेवाला क्या चारों ही कषायोंकी द्वितीयकृष्टियोंका बन्ध करता है^१ ?

समाधान—जिसकषायकी जिसकृष्टिका वेदन करता है अर्थात् प्रथम द्वितीय या तृतीयकृष्टिका वेदन करता है तो उस कषायकी उसी कृष्टिको बांधता है । वेद्यमान कषायके अतिरिक्त अन्य अधस्तनवर्ती कषायोंकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका बन्ध करता है, क्योंकि अन्यप्रकार असम्भव है । क्रोधकी द्वितीयकृष्टिका वेदन करनेवाला क्रोधकी द्वितीय-कृष्टिका बन्ध करता है, किन्तु मान-माया व लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका बन्ध करता है । इसीप्रकार उपरितनकृष्टियोंका वेदनकरने वालोंके भी लगा लेना चाहिए^२ ।

^३माणतिय कोहतदिये मायालोहस्स तिय तिये सहिया ।

संखगुणं वेदिज्जे अंतरकिट्ठी पदेसो य ॥१५८॥५४६॥

अर्थ—यहाँ संग्रहकृष्टियोंमें अवयवकृष्टियोंके द्रव्यका अल्पबहुत्व कहते हैं—मानकी तीन, क्रोधकी एक तृतीयकृष्टि तथा माया व लोभकी तीन-तीन, इन संग्रह-कृष्टियोंमें तो विशेष अधिक और वेद्यमान क्रोधकी द्वितीयकृष्टिमें कृष्टियोंका और प्रदेशोंका संख्यातगुणाप्रमाण क्रमसे है ।

विशेषार्थ—क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके वेदन करनेवाले जीवके ग्यारहसंग्रह-कृष्टियोंका अल्पबहुत्व इसप्रकार है—कृष्टिवेदकके मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अवयव-कृष्टियां व प्रदेशाग्र अभव्योंसे अनन्तगुणे और सिद्धोंके अनन्तवैभाग होते हुए भी सबसे अल्प है, क्योंकि स्तोकद्रव्यसे निर्वर्तित हुई है । मानकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें अंतर-कृष्टियां विशेषअधिक हैं । पत्यके असंख्यातवैभागका भाग देनेपर जो लब्ध आवे उतनी अधिक है, क्योंकि स्वस्थानमें यह प्रतिभाग है । तृतीयसंग्रहकृष्टि भी उतनी ही अधिक है । मानकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसे क्रोधकषायकी तृतीयसंग्रहकृष्टिकी अवयवकृष्टियां विशेषअधिक है । आवलिके असंख्यातवैभागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतनी अधिक है, क्योंकि पर-

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५७ सूत्र ११५७ । जयधवल मूल पृष्ठ २१८४ ।

२. जय ध० मूल पृष्ठ २१८४ ।

३. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५७ सूत्र ११६३ से ११७४ । घ० पु० ६ पृष्ठ ३६०-६१ ।

स्थानमें आवलिका असंख्यातवांभाग प्रतिभागस्वरूप है । इसीप्रकार ऊपर भी स्वस्थान-विशेष और परस्थानविशेष कहना चाहिए । उससे मायाकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अंतरकृष्टियां विशेष अधिक हैं । मायाकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी अंतरकृष्टियां विशेष अधिक हैं, मायाकी तृतीयसंग्रहकृष्टिकी अंतरकृष्टियां विशेषअधिक हैं । इससे लोभकी प्रथम-संग्रहकृष्टिकी अंतरकृष्टियां विशेषअधिक हैं, लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी अंतरकृष्टियां विशेषअधिक हैं, उससे लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिकी अंतरकृष्टियां विशेषअधिक हैं उससे क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी अंतरकृष्टियां संख्यात अर्थात् चौदहगुणी हैं, क्योंकि चारित्र-मोहनीयकर्मके सम्पूर्णद्रव्यसे २४ कृष्टियां बनीं थीं । क्रोधकी द्वितीयकृष्टिमें अपना मूल द्रव्य तो $\frac{1}{2}$ है, किन्तु इसमें क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य $\frac{1}{2}$ प्रविष्ट होवेसे इसका द्रव्य $(\frac{1}{2} + \frac{1}{2})$ 1 हो गया । अतः अंतरकृष्टियां व प्रदेशाग्र भी चौदहगुणा हो गया ।

‘वेदिज्जादिट्टिदिग्ग समयाहियआवलीयपरिसेसे ।

ताहे जहणुदीरणचरिस्सो पुण्ण वेदग्गो तस्स ॥१५६॥५५०॥

अर्थ—वेद्यमान कृष्टिकी प्रथमस्थितिमें समयाधिक आवलिकाल शेष रहनेपर जघन्य उदीरणा होती है और विवक्षित कृष्टिके वेदककालका चरमसमय होता है ।

विशेषार्थ—वेद्यमान कृष्टिकी प्रथमस्थितिमें आवलि-प्रत्यावलि शेष रहनेपर आगाल-प्रत्यागालकी व्युच्छित्ति हो जाती है । यद्यपि कृष्टिकरणकालके प्रारम्भसे ही मोहनीयकर्मके उत्कर्षणका अभाव हो जानेसे प्रथमस्थितिके प्रदेशाग्रका द्वितीयस्थितिमें संचार नहीं होता तथापि द्वितीयस्थितिसे प्रदेशाग्रका अपकर्षण होकर प्रथमस्थितिमें आगमन होता है अतः आगाल-प्रत्यागाल कहा जाता है । इसके पश्चात् एकसमयकम आवलिकाल व्यतीत हो जानेपर जब प्रथमस्थितिमें एकसमयाधिक एकआवलिकाल शेष रह जाता है तब जघन्य उदीरणा होती है अर्थात् उदयावलिसे बाह्यस्थित निषेकके द्रव्यका अपकर्षणद्वारा उदयावलिमें निक्षेप होता है वही विवक्षितकृष्टिके वेदनका चरम-समय होता है^३ ।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१८५-८६ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५८ सूत्र ११७५-७६ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३६१ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २१८६ ।

'नाहे संजलणाणं बंधो अंतोसुहुत्तपरिहीणो ।
 सत्तोवि य दिण्णसीदी चउमासब्भहियपणवस्सा ॥१६०॥५५१॥
 घादितियाणं बंधो वासपुधत्तं तु सेसपयडीणं ।
 वस्साणं संखेज्जसहस्साणि हवन्ति णियमेण ॥१६१॥५५२॥
 घादितियाणं सत्तं संखसहस्साणि होति वस्साणं ।
 तिरहं वि अघादीणं वस्साणि असंखमेत्ताणि ॥१६२॥५५३॥

अर्थ—वहो (क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिवेदकके चरमसमयमें) संज्वलनचतुष्क-
 का स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम ८० दिन मात्र है और उनका स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम
 चारमासअधिक पांचवर्षप्रमाण है । तीनघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध पृथक्त्ववर्षप्रमाण
 तथा शेष रहे अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध नियमसे संख्यातहजारवर्षप्रमाण है । तीन
 घातियाकर्मोंका स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्षप्रमाण है तथा (आयुबिना) तीन अघातिया-
 कर्मोंका स्थितिसत्त्व असंख्यातवर्षमात्र है ।

विशेषार्थ—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिवेदकके चरमसमयमें संज्वलनचतुष्कका
 स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम १०० दिन होता था, वह यथाक्रम घटकर क्रोधकी द्वितीय-
 संग्रहकृष्टिवेदकके चरमसमयमें अन्तर्मुहूर्तकम ८० दिन रह गया और स्थितिसत्त्व
 अन्तर्मुहूर्तकम आठमाहअधिक छहवर्षसे यथाक्रम घटकर अन्तर्मुहूर्तकम चारमासअधिक
 पांचवर्ष रह गया । क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिवेदकके चरमसमयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण
 और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम १० वर्ष होता था
 जो यथाक्रम घटकर क्रोधकी द्वितीयकृष्टिवेदकके चरमसमयमें अन्तर्मुहूर्तकम वर्षपृथक्त्व
 रह जाता है । तीनसे अधिक और ६ से कम यथायोग्य संख्याको पृथक्त्व कहते हैं ।
 शेष अर्थात् नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यात-
 हजारवर्षप्रमाण होता था वह अब भी संख्यातहजारवर्षमात्र ही है, किन्तु पहलेसे हीव
 है । इसीप्रकार तीनघातियाकर्मोंके विषयमें स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्षप्रमाण जानना ।

१. इन तीनों गाथासम्बन्धी विषय क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५८ सूत्र ११७७ से ११८२ और धवल
 पु० ६ पृष्ठ ३६१-६२ पर भी है ।

तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिसत्त्व यद्यपि असंख्यातहजारवर्ष हे तथापि पहिलेसे हीन हे । यह स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्व पूर्वोक्त त्रैराशिकविधिसे प्राप्त करना चाहिए^१ ।

‘से काले कोहस्स य तदियादो संगहादु पढमठिदि ।

अंते संजलणाणं बंधं सत्तं दुमास चउवस्सा ॥१६३॥५५४॥

अर्थ—पूर्वोक्त क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टि वेदनके चरमसमयसे अनन्तर समयमें क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके प्रदेशाग्रेसे प्रथमस्थिति होती है उसके अन्तिमसमयमें संज्वलन-चतुष्कका बन्ध दोमाह और स्थितिसत्त्व ४ वर्ष होता है ।

विशेषार्थ—क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका जो द्रव्य द्वितीयस्थितिमें था उसमेंसे अपकर्षण करके प्रथमस्थितिको करनेवाला क्रोधकी तृतीयकृष्टिका प्रथमसमयवर्तीवेदक होता है उससमय द्वितीयकृष्टिके दो समयकम दोआवलिप्रमाण नवकसमयप्रबद्ध और उच्छिष्टावलिप्रमाण द्रव्यको छोड़कर शेषसर्वद्रव्य तृतीयकृष्टिरूप परिणमन कर जाता है । इसप्रकार क्रोधकी तृतीयकृष्टिका द्रव्य चारित्रमोहनीयकर्मके द्रव्यका ($\frac{1}{8} + \frac{1}{8}$) $\frac{1}{4}$ भाग हो जाता है । उसीसमय क्रोधकी तृतीयकृष्टिकी अन्तरकृष्टियोंके असंख्यातवें-भागकी उदीरणा होती है और असंख्यातवेंभागप्रमाण कृष्टियोंका बन्ध होता है, किन्तु उदीरणासे बन्धकृष्टियोंकी संख्या अल्प है । क्रोधकी द्वितीयकृष्टिके वेदनका जो विधान कहा गया है वही तृतीयसंग्रहकृष्टिका जानना । प्रथमस्थितिमें जब आवलि-प्रत्यावलि-काल शेष रह जाता है उससमय आगाल-प्रत्यागालकी व्युच्छित्ति हो जाती है और एक-समयअधिक आवलिकाल रहनेपर जघन्यस्थितिउदीरणा होती है, उसीसमय क्रोधका चरमसमयवर्ती वेदक होता है और तभी संज्वलनचतुष्कका स्थितिबन्ध पूर्ण दोमास एवं स्थितिसत्त्व चारवर्षप्रमाण होता है । इसीप्रकार पूर्वोक्त त्रैराशिकविधिसे शेषकर्मों-का भी स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्व जान लेना चाहिए^२ ।

‘से काले माणस्स य पढमादो संगहादु पढमठिदी ।

माणोदयअज्जाए तिभागमेत्ता हु पढमठिदी ॥१६४॥५५५॥

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१८७ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५८-५६ सूत्र ११८३ से ११९० । धवल पु० ६ पृष्ठ ३६२ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २१८७-८८ ।

४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५६ सूत्र ११६१-६२ । ध० पु० ६ पृष्ठ ३६२-६३ ।

अर्थ—क्रोधवेदककालके अनन्तरसमयमें मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे मानकी प्रथमस्थितिको करता है जिसका काल मानोदयकालके तृतीयभागमात्र है ।

विशेषार्थ—क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके चरमसमयसे अनन्तरसमयमें मानकी प्रथमकृष्टिके द्रव्यको द्वितीयस्थितिसे अपक्षिप्त करके प्रथमस्थितिको करता है । क्रोधवेदककालसे विशेषहीन मानवेदकका सर्वकाल होता है । इस मानवेदकके सर्वकालके तृतीयभागप्रमाण मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदककाल होता है । मानकी प्रथमकृष्टि-वेदकके कालसे आवलिप्रमाणअधिक प्रथमस्थिति होती है । मानकी प्रथमकृष्टिको वेदन करनेवाला प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियोंके असंख्यातबहुभागप्रमाण अन्तरकृष्टियोंका वेदन करता है और उसीसमय उन कृष्टियोंसे विशेषहीनकृष्टियोंको बांधता है, क्योंकि वेद्यमानकृष्टियोंमें ऊपर और नीचेकी असंख्यातवैभागप्रमाण कृष्टियोंको छोड़कर मध्यवर्ती बहुभागप्रमाण कृष्टिरूपसे बन्ध होता है ऐसा पहले कहा जा चुका । क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके दोसमयकम दोआवलिप्रमाण नवकसमयप्रबद्ध और उच्छिष्टावलिके द्रव्यको छोड़कर शेष सर्वद्रव्य मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिरूपसे परिणमन कर जाता है, क्योंकि आनुपूर्वीसंक्रमणके वशसे मानमें संक्रमण होना अविरुद्ध है । क्रोधके प्रदेशाग्र मानरूप संक्रमित हो जानेपर जबतक संक्रमावलि व्यतीत नहीं हो जाती तबतक उनका उदय नहीं होता । क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके उपरिमभागमें अपूर्वकृष्टिरूप होकर परिणमन नहीं करता, किन्तु मानकी सहशानुभागवाली कृष्टिके नीचे अपूर्वकृष्टिरूपसे क्रोधका प्रदेशाग्र परिणमन करता है । उसमें भी थोड़ाद्रव्य तो पूर्वकृष्टिरूपसे तथा बहुतद्रव्य अपूर्वकृष्टिरूपसे परिणमन करता है । क्रोधकी तृतीयकृष्टिका द्रव्य मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें परिणमन करनेसे मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य १६ गुणा हो जाता है, शेष दो कषायों (माया व लोभ) की प्रथमसंग्रहकृष्टियोंका बन्ध होता है' ।

१कोहपदमं व माणो चरिमे अंतोमुहुत्तपरिहीणो ।

दिणमासपण्णवत्तं बंधं सत्तं तिसंजलणगाणं ॥१६५॥५५६॥

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१८६ से २१९० ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८५६ सूत्र ११९६-९९ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३६३ ।

अर्थ—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका जिस विधिसे वेदता है उसी विधिसे मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदन करता है । मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिवेदकके चरमसमयमें संज्वलनत्रयका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम ५० दिन और स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम ४० माह होता है ।

विशेषार्थ—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदक जिस विधिसे अग्रकृष्टिकादि असंख्यातवैभाग उपरिमकृष्टियोंका प्रतिसमय अपवर्तनाघात करता है उसीप्रकार मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिको वेदन करनेवाला कृष्टियोंका अपवर्तनाघात करता है । क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदक जिस विधिसे बध्यमान प्रदेशाग्रसे और संक्रम्यमान प्रदेशाग्रसे अन्तरकृष्टिके अन्तरालोंमें और संग्रहकृष्टिके अन्तरालोंमें यथासम्भव अपूर्वकृष्टियोंकी रचना करता है उसी विधिसे मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदक अपूर्वकृष्टियोंकी रचना करता है तथा क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदक जिसप्रकार कृष्टियोंके बन्ध व उदय-सम्बन्धी प्रतिसमय अनन्तगुणे हीनरूपसे अपसरणोंको करता है उसीप्रकार मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदक अपसरणोंको करता है । इन करणोंमें तथा अन्यकरणोंमें कोई अन्तर नहीं है । मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिवेदकके इसप्रकार प्रथमस्थिति क्षीण होते हुए जब एकसमयअधिक आवलिकाल शेष रह जाता है तब जघन्य उदीरणा होती है और मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका चरमसमयवर्ती वेदक होता है । तीन संज्वलनका स्थिति-बन्ध व स्थितिसत्त्व यथाक्रम घटकर स्थितिबन्ध तो अन्तर्मुहूर्तकम ५० दिन अर्थात् एकमाह २० दिन एवं स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम ४० माह अर्थात् ३ वर्ष चारमाह रह जाता है । यह पूर्वोक्त वैराशिक विधिसे प्राप्त कर लेना चाहिए^१ ।

^३विदियस्स माणचरिमे चत्तं वत्तीसदिवसमासाणि ।

अंतोमुहुत्तहीणा बंधो सत्तो तिसंजलणगाणं ॥१६६॥५५७॥

अर्थ—इसके अनन्तर मानकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका वेदक होता है और उसके चरमसमयमें तीन संज्वलनकषायोंका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम ४० दिन और स्थिति-सत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम वत्तीसमासप्रमाण है ।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१६०-६१ ।

२. क. पा. मुत्त पृष्ठ ८६० सूत्र १२०० से १२०३ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३६४ ।

विशेषार्थ—मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदक चरमसमयसे अनन्तरसमयमें द्वितीयस्थितिमें से मानकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके प्रदेशाग्रको अपकर्षित करके उदयादि गुणश्रेणिरूपसे प्रथमस्थितिमें क्षेपण करता है और द्वितीयसंग्रहकृष्टिको उसी विधिसे वेदन करता हुआ जबतक प्रथमस्थितिमें एकसमयाधिक आवलिकाल शेष रहता है तबतक पूर्वोक्त विधिसे सब कार्य करता हुआ चला जाता है । प्रथमस्थिति शेष रह जानेपर मानकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका चरमसमयवर्ती वेदक होता है, उससमय तीन संज्वलनकषायोंका स्थितिबन्ध यथाक्रम घटकर अन्तर्मुहूर्तकम ४० दिन अर्थात् १ मास १० दिन और स्थितिसत्त्व यथाक्रम घटकर अन्तर्मुहूर्तकम ३२ माह अर्थात् २ वर्ष ८ माह रह जाता है । इसप्रकार स्थितिबन्ध तो १० दिन और स्थितिसत्त्व आठमाह घट जाता है । यह सब त्रैराशिक विधिसे सिद्ध कर लेना चाहिए ।

तदियस्स माणचरिमे तीसं चउवीस दिवसमासाणि ।

तिण्हं संजलणाणं ठिदिबन्धो तह य सत्तो य ॥१६७॥५५८॥

अर्थ—उसके पश्चात् मानकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका वेदक होता है, उसके चरमसमयमें तीन संज्वलनकषायोंका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम ३० दिन और स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम २४ माहप्रमाण होता है ।

विशेषार्थ—मानकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके वेदककालके चरमसमयके अनन्तरसमयमें द्वितीयस्थितिसे मानकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके प्रदेशाग्रका अपकर्षणकरके पूर्वोक्तप्रकार प्रथमस्थिति करता है और उसी विधिसे मानकी तृतीयसंग्रहकृष्टिको वेदन करनेवालेकी जो प्रथमस्थिति है उसमें एकसमयाधिक आवलिप्रमाणकाल शेष रहनेतक पूर्वोक्त सर्वकार्य करता हुआ चला जाता है और जब एकसमयाधिक आवलिकाल शेष रहनेपर मानका चरमसमयवर्ती वेदक होता है तब तीनों संज्वलनकषायों (मान, माया व लोभ) का स्थितिबन्ध यथाक्रम घटकर ३० दिन अर्थात् एकमास और स्थितिसत्त्व भी यथाक्रम घटकर २४ मास अर्थात् परिपूर्ण २ वर्ष रह जाता है । यहां भी घटनेका काल त्रैराशिकविधिसे सिद्ध कर लेना चाहिए ।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१६१-६२ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६० सूत्र १२०४ से १२०८ । धवल पु० ६ पु० ३६४ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २१६२ ।

पदमगमायाचरिमे पणवीसं वीसदिवसमासाणि ।

अंतोमुहुत्तहीणा बंधो सत्तो दु संजलणगाणं ॥१६८॥५५६॥

अर्थ—उसके अनन्तर मायाकषायकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका वेदक होता है, इसका वेदककाल मायाके सम्पूर्ण वेदककालका त्रिभागमात्र है । इसके चरमसमयमें संज्वलन-माया व लोभका स्थितिवन्ध अन्तर्मुहूर्तकम २५ दिन और स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम २० माहप्रमाण होता है ।

विशेषार्थ—मानकषायके वेदनके चरमसमयसे अनन्तरसमयमें द्वितीयस्थितिसे मायाकी प्रथमकृष्टिके प्रदेशाग्रका अपकर्षण करके प्रथमस्थितिको करता है और उसी विधिसे मायाकी प्रथमकृष्टिको वेदन करनेवालेकी जो प्रथमस्थिति है उसमें एकसमयाधिक आवलिकाल शेष रहनेतक पूर्वोक्त सर्वकार्य करता हुआ चला जाता है । प्रथमस्थितिमें एकसमयाधिक आवलिकाल शेष रहनेपर माया और लोभ इन दोनों संज्वलनोंका स्थितिवन्ध अन्तर्मुहूर्तकम २५ दिवस और स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम २० माह होता है । यहां भी घटनेका प्रमाण त्रैराशिक विधिसे ही प्राप्त करना चाहिए^१ ।

विदियगमायाचरिमे वीसं सोलं च दिवसमासाणि ।

अंतोमुहुत्तहीणा बंधो सत्तो दु संजलणगाणं ॥१६९॥५६०॥

अर्थ—उसके पश्चात् मायाकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका वेदक होता है उसके चरमसमयमें दो संज्वलनकषायोंका स्थितिवन्ध अन्तर्मुहूर्तकम २० दिन और स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम १६ माहप्रमाण होता है ।

विशेषार्थ—मायाकषायकी प्रथमकृष्टिके चरमसमयसे अनन्तरवर्तीसमयमें द्वितीयस्थितिसे मायाकी द्वितीयकृष्टिके प्रदेशाग्रका अपकर्षण करके मायाकी द्वितीयकृष्टिसम्बन्धी प्रथमस्थितिको करता है, वह मायाकी द्वितीयकृष्टिका वेदक भी पूर्वोक्त विधिसे द्वितीयकृष्टिको तबतक वेदन करता है और सर्वकार्य तबतक करता है जबतक प्रथमस्थितिमें एकसमयाधिक एकआवलिकालशेष रहता है । उससमय दो (माया व लोभ

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६० सूत्र १२०६ से १२१२ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३६४ ।

२. जयधवल मूल पृष्ठ २१६२ ।

३. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६०-६१ सूत्र १२१३ से १२१६ । धवल पु० ६ पृष्ठ ६६५ ।

संज्वलनकषायोंका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम २० दिन और स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तकम १६ मास है^१ ।

तदियगमायाचरिमे पणारवासय दिवसमासाणि ।

दोणहं संजलणाणं ठिदिबंधो तह य सत्तो य ॥१७०॥५६१॥

मासपुधत्तं वासा संखसहस्साणि बंध सत्तो य ।

घादितियाणिदराणं संखमसंखेज्जवस्साणि ॥१७१॥जुम्मं॥५६२॥

अर्थ—उसके अनन्तर मायाकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका वेदक होता है, इसके अन्तिमसमयमें दो संज्वलनकषायोंका स्थितिबन्ध १५ दिन और स्थितिसत्त्व १२ मास प्रमाण होता है और वहीं तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध पृथक्त्वमासप्रमाण है एवं स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्षमात्र है । तथैव तीन अघातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यात-वर्षप्रमाण व स्थितिसत्त्व असंख्यातवर्षप्रमाण है ।

विशेषार्थ—मायाकषायकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके वेदनके चरमसमयसे अनन्तर-वर्तीसमयमें द्वितीयस्थितिसे मायाकी तृतीयकृष्टिके प्रदेशाग्र अपकर्षणकरके मायाकी तृतीयकृष्टिसम्बन्धी प्रथमस्थिति की जाती है और उसी विधीसे मायाकी तृतीयकृष्टिको वेदन करनेवालेकी प्रथमस्थिति एकसमयाधिक आवलि शेष रहनेतक सर्वकार्य करता हुआ चला जाता है । प्रथमस्थितिमें एकसमयाधिक आवलिकाल शेष रहनेपर मायाकी जघन्यस्थितिउद्दीरणा होती है और चरमसमयका वेदक होता है, उससमयमें माया व लोभ इन दोनों संज्वलनकषायोंका स्थितिबन्ध पूर्ण १५ दिन और स्थितिसत्त्व पूर्ण १२ मास (१ वर्ष) प्रमाण होता है तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध पृथक्त्वमास व स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्ष होता है । नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातवर्ष और स्थितिसत्त्व असंख्यातवर्ष है^२ ।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१६२-२१६३ ।

२. इन दोनों गाथाओंका विषय क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६१ सूत्र १२१७ से १२२४ तक तथा धवल पु० ६ पृष्ठ ३६५ पर भी है ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २१६३ ।

‘लोहस्स पढमचरिमे, लोहस्संतोमुहुत्त बंधदुगे ।

दिवस पुधत्तं वासा, संखसहस्साणि घादितिये ॥१७२॥पृ ६३॥

सेसाणं पयडीणं, वासपुधत्तं तु होदि ठिदिबंधो ।

ठिदिसत्तमसंखेज्जा, वस्साणि हवन्ति णियमेण ॥१७३॥जुम्मं॥पृ ६४॥

अर्थ—लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके चरमसमयमें लोभका स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है और तीन घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध पृथक्त्वदिवस तथा स्थितिसत्त्व संख्यातहजारवर्षप्रमाण है । शेष तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध वर्ष-पृथक्त्व और स्थितिसत्त्व असंख्यातवर्ष होता है ऐसा नियमसे जानना ।

विशेषार्थ—संज्वलनमायाकी तीनसंग्रहकृष्टियोंका वेदककाल यथाक्रम परिसमाप्त होनेपर अनन्तरवर्तीसमयमें द्वितीयस्थितिमें स्थित लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें से प्रदेशाग्रका अपकर्षण करके उदयादिगुणश्रेणिरूपसे क्षेपणकर अपवे वेदककालसे आवलि-अधिक कालप्रमाण प्रथमस्थितिको करता है । लोभवेदकके सर्वकालके त्रिभागसे कुछ-अधिक अथवा बादरलोभवेदककालके आधेसे कुछअधिक प्रथमस्थितिका काल होता है । उसी पूर्वोक्त विधानसे लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियोंके असंख्यातबहुभागकी उदीरणा होती है और उससे विशेषहीन कृष्टियोंका बन्ध होता है, प्रतिसमय कृष्टियोंके बन्ध व उदयसम्बन्धी निर्वर्गणकरण अर्थात् अनन्तगुणीहानिरूपसे अपसरण होता है, अनुभागसत्त्वका प्रतिसमय अपवर्तनाघात होता है, बध्यमान व संक्रम्यमान प्रदेशाग्रसे अन्तरकृष्टियोंके नीचे तथा संग्रहकृष्टिके नीचे अपूर्वकृष्टियोंकी रचना होती है । इस विधिसे लोभकी प्रथमकृष्टिको वेदता हुआ जब प्रथमस्थितिमें एकसमयाधिक आवलि-काल शेष रह जाता है उससमय जघन्यउदीरणाका तथा चरमसमयवर्ती वेदक होता है और संज्वलन लोभका पूर्ववद्ध स्थितिबन्ध यथाक्रम घटकर मात्र अन्तर्मुहूर्तप्रमाण, तथैव स्थितिसत्त्व भी घटकर अन्तर्मुहूर्तप्रमाणही शेष रहता है, किन्तु यह अन्तर्मुहूर्त स्थिति-बन्धके अन्तर्मुहूर्तसे संख्यातगुणा है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय, इन तीन घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध मासपृथक्त्वसे घटकर दिवसपृथक्त्व और स्थितिसत्त्व संख्यात-हजारवर्ष रहता है । नाम, गोत्र व वेदनीय, इन तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध

यथायोग्य संख्यातवर्षोंसे घटकर वर्षपृथक्त्व तथा स्थितिसत्त्व हीन होते हुए असंख्यात-वर्ष रह जाता है^१ ।

‘से काले लोहस्स य त्रिदियादो संगहादु पढमठिदी ।

ताहे सुट्टुमं किट्ठिं करेदि तच्चिदियत्तदियादी ॥१७४॥५६५॥

अर्थ—अनन्तरवर्तीकालमें लोभकी द्वितीयकृष्टिमें से प्रथमस्थितिको करके है और उसी कालमें द्वितीय व तृतीय कृष्टिसे सूक्ष्मकृष्टि करता है ।

विशेषार्थ—लोभवेदकके प्रथमसंग्रहकृष्टिको अनन्तर प्ररूपित क्रमसे वेदकरके पश्चात् अनन्तरसमयमें लोभवेदककालके द्वितीयत्रिभागके प्रथमसमयमें द्वितीयस्थितिमें स्थित लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें से प्रदेशाग्र अपकर्षित करके उदयादिगुणश्रेणीरूपसे द्वितीयकृष्टिवेदककालसे आवलिअधिकप्रमाणवाली प्रथमस्थितिको उत्पन्न करता है । इसप्रकार प्रथमस्थितिको करके द्वितीय त्रिभागके प्रथमसमयमें लोभकी द्वितीयसंग्रह-कृष्टिका वेदक द्वितीय व तृतीयसंग्रहकृष्टिमें से असंख्यातवर्षभागप्रमाण प्रदेशाग्रको अप-कर्षित करके सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियोंको करता है । यदि द्वितीयत्रिभागमें सूक्ष्मसाम्प-रायिककृष्टियोंको नहीं करे तो तृतीयभागमें सूक्ष्मकृष्टिके वेदकरूपसे परिणमन नहीं हो सकता । यदि कहा जावे कि तृतीयत्रिभागसे सूक्ष्मकृष्टिवेदककालमें सूक्ष्मसाम्परायिक-कृष्टियोंको करलेगा तो ऐसी शंका भी ठीक नहीं, क्योंकि सूक्ष्मकृष्टिरूप परिणमन किये बिना अपने स्वरूपसे उदयमें आनेसे सूक्ष्मसाम्परायिक परिणामोंकी अनुपलब्धि होती है । सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिका लक्षण इसप्रकार है—संज्वलनलोभकषायके अनुभागको बादरसाम्परायिककृष्टियोंसे भी अनन्तगुणित हानिरूपसे परिणमित करके अत्यन्तसूक्ष्म या मन्द अनुभागरूपसे अवस्थित करनेको सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टि कहते हैं । सर्वजघन्य-बादरकृष्टिसे सर्वोत्कृष्ट सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिका भी अनुभाग अनन्तगुणाहीन होता है^२ ।

‘लोहस्स तदियसंगहकिट्ठीए हेट्टुदो अचट्ठाणं ।

सुट्टुमाणं किट्ठीणं कोहस्स य पढमकिट्ठिणिभा ॥१७५॥५६६॥

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१६३-६४ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६२ सूत्र १२३३-३४ । धवल पु० ६ पृष्ठ ६६६ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २१६४-६५ ।

४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६२ सूत्र १२३६-३७ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३६६-६७ ।

अर्थ—उन सूक्ष्मकृष्टियोंका अवस्थान लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके नीचे है तथा वे सूक्ष्मकृष्टियां क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके समान होती हैं ।

विशेषार्थ— सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियोंका अवस्थान लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके नीचे है, क्योंकि अनन्तगुणीहीन अनुभागसे परिपूरित की गई हैं । ये सूक्ष्मकृष्टियां संज्वलनक्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके समान ही हैं । जैसे क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टि शेष संग्रहकृष्टियोंके आयामको देखते हुए अपने आयामसे द्रव्यमाहात्म्यकी अपेक्षा असंख्यात-गुणी थी वैसे ही ये सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियां भी क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके बिना शेष-संग्रहकृष्टियोंके कृष्टिकरणकालमें समुपलब्ध आयामसे संख्यातगुणे आयामवाली जानना चाहिए, क्योंकि मोहनीयकर्मका सर्वद्रव्य इसके आधाररूपसे ही परिणमन करचेवाला है अथवा जैसे क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टि अपूर्वस्पर्धकोंके अधस्तनभागमें अनन्तगुणीहीन की गई थी वैसे ही यह सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टि भी लोभकी तृतीयबादरकृष्टिके अधस्तन-भागमें अनन्तगुणीहीन की जाती है अथवा जिसप्रकार क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टि जघन्य-कृष्टिसे लगाकर उत्कृष्टकृष्टिपर्यन्त अनन्तगुणी होती गई थी, उसीप्रकार यह सूक्ष्म-साम्परायिककृष्टि भी अपनी जघन्यकृष्टिसे लेकर उत्कृष्टकृष्टिपर्यन्त अनन्तगुणी होती जाती है । इसीलिए किसी भी कृष्टिके साथ सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिकी समानता ब बताकर क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके साथ बतलाई गई है ।

‘कोहस्स पढमकिट्ठी कोहे छुद्धे दु माणपढमं च ।

माणे छुद्धे मायापढमं मायाए संछुद्धे ॥१७६॥५६७॥

लोहस्स पढमकिट्ठी आदिमसमयकदसुहुमकिट्ठीय ।

अहियकमा पंचपदा सगसंखेज्जदिमभागेण ॥१७७॥जुम्मं॥५६८॥

अर्थ—क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियां सबसे कम हैं (क्योंकि उनके आयामका प्रमाण ३३ है ।) क्रोधके संक्रमित होतेपर अर्थात् क्रोधकी तृतीयसंग्रह-कृष्टिकी मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें प्रक्षिप्त करनेपर मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अन्तर-

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१६६ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६३ सूत्र १२४८ से १२५३ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३६७-६८ ।

कृष्टियां विशेषअधिक हैं (क्योंकि उनका प्रमाण $\frac{१}{३}$ है ।) मानके संक्रमित होनेपर मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियां विशेषअधिक हैं (क्योंकि उनका प्रमाण $\frac{१}{३}$ है ।) मायाके संक्रमित होनेपर लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी अन्तरकृष्टियां विशेषअधिक हैं (क्योंकि उनका प्रमाण $\frac{१}{३}$ है ।) प्रथमसमयमें की गई सूक्ष्मसाम्परायिक-कृष्टियां विशेषअधिक हैं (क्योंकि उनका प्रमाण $\frac{१}{३}$ है ।) इसप्रकार चारकषाय और पांचवीं सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टि अपनेसे अनन्तरपूर्वसे संख्यातवेंभागअधिक कमवाले हैं ।

विशेषार्थ—इस उपर्युक्त अल्पबहुत्वमें क्रोधआदि कषायोंकी प्रथमसंग्रहकृष्टि-सम्बन्धी अन्तरकृष्टियोंकी हीनाधिकता बतलानेके लिए जो अङ्कसन्दृष्टि दी गई है, उसका स्पष्टीकरण यह है कि प्रदेशबन्धकी अपेक्षा आये हुए समयप्रबलके द्रव्यका जो पृथक्-पृथक् कर्मोंमें विभाग होता है उसके अनुसार मोहनीयकर्मके हिस्सेमें जो द्रव्य आता है उसका दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीयमें विभाग होता है । चारित्रमोहनीयका द्रव्य अथान्तरप्रकृतियोंमें विभाग होता है । प्रथमगुणस्थानके पश्चात् मोहनीयकर्मका सर्वद्रव्य चारित्रमोहनीयको मिलता है उसका आधाभाग ($\frac{१}{२}$) नोकषायको और आधा-भाग ($\frac{१}{२}$) चारकषायोंको मिलता है । इसप्रकार संयमीकेमात्र संज्वलनका अन्ध होनेसे संज्वलनक्रोधको आधेका चौथाई भाग ($\frac{१}{२} \times \frac{१}{२}$) अर्थात् मोहनीयकर्मका आठवांभाग मिलता है । पुनः यह आठवांभाग भी क्रोधकी तीनों संग्रहकृष्टियोंमें विभक्त होता है, अतएव क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका द्रव्य मोहनीयकर्मके सकलद्रव्यकी अपेक्षा ($\frac{१}{२} \times \frac{१}{२}$) चौबीसवांभाग है । नोकषायका सत्त्वरूपसे अवस्थित सर्वद्रव्य ($\frac{१}{२}$) भी क्रोधकी प्रथम-संग्रहकृष्टिमें पाया जाता है, उसके साथ इसका द्रव्य मिलनेपर ($\frac{१}{२} + \frac{१}{२}$) $\frac{१}{२}$ भाग हो जाता है अतः क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अन्तरकृष्टियोंका प्रमाण भी उतना ही ($\frac{१}{३}$) है । जो उपरिमपदकी अपेक्षा सबसे कम है । $\frac{१}{३}$ भाग प्रमाणवाली क्रोधकी प्रथमसंग्रह-कृष्टि जिससमय क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित होती है उससमय द्वितीयसंग्रह-कृष्टिकी अन्तरकृष्टियोंका प्रमाण $\frac{१}{३}$ हो जाता है । पुनः क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका तृतीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमण हो जानेपर उसका प्रमाण ($\frac{१}{३} + \frac{१}{३}$) $\frac{२}{३}$ हो जाता है, पुनश्च क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टि जब मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रान्त होती है तब उसका प्रमाण ($\frac{२}{३} + \frac{१}{३}$) $\frac{३}{३}$ हो जाता है । इसप्रकार $\frac{१}{३}$ भाग प्रमाणवाली क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अपेक्षा मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका प्रमाण $\frac{१}{३}$ विशेषअधिक है, क्योंकि इसमें $\frac{२}{३}$ और अधिक मिल गया है । मानकी तीनों संग्रहकृष्टियोंका द्रव्य पूर्वोक्त

प्रकारसे मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रान्त होनेपर उसकी विशेषकृष्टियोंका प्रमाण $(\frac{1}{2} + \frac{1}{2}) \frac{1}{2}$ हो जाता है, जो विशेषअधिक है । मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अपेक्षा मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें मानकी द्वितीय व तृतीयसंग्रहकृष्टियोंके $\frac{1}{2}, \frac{1}{2}$ भाग तथा मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका $\frac{1}{2}$ भाग, इसप्रकार $\frac{3}{2}$ और मिल जानेसे मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी अन्तरकृष्टियोंका प्रमाण विशेष अधिक सिद्ध हो जाता है । मायाका लोभमें संक्रमण होनेपर लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका प्रमाण विशेषअधिक अर्थात् $\frac{3}{2}$ भाग हो जाता है, क्योंकि उसमें मायाकी द्वितीय-तृतीयसंग्रहकृष्टियोंका $\frac{1}{2}, \frac{1}{2}$ भाग तथा स्वयंका $\frac{1}{2}$ भाग, ऐसे $\frac{3}{2}$ भाग और अधिक बढ़ जानेसे $(\frac{1}{2} + \frac{3}{2}) \frac{3}{2}$ भाग अन्तरकृष्टियोंका प्रमाण हो जाता है । जो सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियां प्रथमसमयमें की जाती हैं उनका प्रमाण विशेषअधिक अर्थात् $\frac{3}{2}$ भाग प्रमाण हो जाता है, क्योंकि उसमें लोभकी द्वितीय-तृतीयसंग्रहकृष्टिसम्बन्धी $(\frac{1}{2})$ भाग मिल जानेसे $(\frac{3}{2} + \frac{1}{2}) \frac{3}{2}$ हो जाता है । इसप्रकार उत्तरोत्तर अधिक होनेवाले इस विशेषका प्रमाण अपने पूर्ववर्ती प्रमाणके संख्यातर्वेभागप्रमाण सिद्ध हो जाता है ।

सुहुमाओ किट्टीओ पडिसमयमसंखगुणविहीणाओ ।

दव्वमसंखेज्जगुणं विदियस्स य लोहचरिमोत्ति ॥१७८॥५६६॥

अर्थ—सूक्ष्मकृष्टियां प्रतिसमय असंख्यातगुणे होनक्रमसे की जाती हैं तथा द्वितीयसमयसे लोभकषायके चरमसमयतक द्रव्य असंख्यातगुणे क्रमसे दिया जाता है ।

विशेषार्थ—प्रथमसमयमें जो सूक्ष्मकृष्टियां की जाती हैं वे बहुत हैं, द्वितीयसमयमें जो कृष्टियां की जाती हैं वे असंख्यातगुणीहीन होती हैं । इसप्रकार अन्तरोपनिधारूप श्रेणीकी अपेक्षा अन्तर्मुहूर्तप्रमाण सम्पूर्ण सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिकरणके कालमें अपूर्वसूक्ष्मसाम्परायिक कृष्टियां असंख्यातगुणीहीन श्रेणीके क्रमसे की जाती हैं । प्रथम समयमें सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियोंके भीतर जो प्रदेशाग्र दिया जाता है वह स्तोक है, द्वितीयसमयमें दिये जानेवाला प्रदेशाग्र असंख्यातगुणा है । इसप्रकार प्रतिसमय अनन्त-

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१६६-६७ ।

२. क० पा० मुत्त पृष्ठ ८६४-६५ सूत्र १२४४ से १२४६ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३६८ ।

गुणी विशुद्धि बढ़नेसे सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिकालके चरमसमयपर्यन्त असंख्यातगुणा प्रदेशाग्र दिया जाता है ।

‘द्ववं पढमे समये देदि हु सुहुमेसणंतभागूणं ।

थूलपढमे असंखगुणूणं ततो अणंतभागूणं ॥१७६॥५७०॥

अर्थ—सूक्ष्मकृष्टिकरणकालके प्रथमसमयमें सूक्ष्मकृष्टिकी जघन्यकृष्टिसे उत्कृष्ट सूक्ष्मकृष्टिपर्यन्त अनन्तभाग-अनन्तभाग घटते हुए क्रमसहित द्रव्य दिया जाता है तदनन्तर जघन्यबादरकृष्टिमें असंख्यातगुणा घटता द्रव्य दिया जाता है उसके पश्चात् अनन्तगुणे घटते क्रमसे द्रव्य दिया जाता है ।

विशेषार्थ—उससमयमें अपकषित समस्तद्रव्यके असंख्यातबहुभागका ग्रहण होकर जघन्य सूक्ष्मकृष्टिमें बहुत प्रदेशाग्र दिये जाते हैं, द्वितीयकृष्टिमें अनन्तवैभागसे विशेषहीनद्रव्य दिया जाता है, तृतीयकृष्टिमें अनन्तवैभागसे विशेषहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है । इसप्रकार अन्तरोपनिधारूप श्रेणिके क्रमसे अन्तिम सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिपर्यन्त विशेषहीन-विशेषहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है । चरमसूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिमें सूक्ष्मसाम्परायअध्वानसे खण्डित बहुभागद्रव्यमें से एकभागप्रमाण द्रव्य दिया जाता है । शेष असंख्यातवैभाग द्रव्यको बादरकृष्टिअध्वानसे खण्डितकर एकखण्डद्रव्य जघन्यबादर-साम्परायिककृष्टिमें दिया जाता है जो चरमसूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिमें दिये गए प्रदेशाग्रसे असंख्यातगुणाहीन है अर्थात् चरमसूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिसे जघन्यबादरसाम्परायिककृष्टिमें दिया जानेवाला प्रदेशाग्र असंख्यातगुणाहीन है । इसके आगे अन्तिमबादर-साम्परायिककृष्टिपर्यन्त अनन्तवैभागसे विशेषहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है^१ ।

‘विदियादिसु समयेसु अपुव्वाओ पुव्वकिट्ठि हेट्ठाओ ।

पुव्वाणमंतरेसुवि अंतरजणिदा असंखगुणा ॥१८०॥५७१॥

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१६७-६८ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६ सूत्र १२५० से १२५४ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३६८ ।

३. जय ध० मूल पृष्ठ २१६८-६९ ।

४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६५ सूत्र १२५५ से १२६० । ध० पु० ६ पृष्ठ ३६९ ।

अर्थ—द्वितीयादि समयोंमें नवीन अपूर्वसूक्ष्मकृष्टिको पूर्वसमयमें की गई सूक्ष्म-कृष्टिके नीचे और उनके बीच-बीचमें करता है । इनमें अधस्तनकृष्टियोंका प्रमाण स्तोक है और उनसे असंख्यातगुणा अन्तरकृष्टियोंका प्रमाण है ।

विशेषार्थ—सूक्ष्मसाम्परायिक कृष्टिकारक द्वितीयसमयमें असंख्यातगुणीहीन अपूर्वसूक्ष्मकृष्टियोंको दोस्थानोंमें अर्थात् प्रथमसमयमें की गई कृष्टियोंके नीचे और अन्तरालमें करता है । जो कृष्टियां नीचे करता है वे अधस्तन और जिन कृष्टियोंको बीच-बीचमें करता है वे अन्तरकृष्टियां कहलाती हैं । कृष्टियोंके नीचे की जानेवाली (अधस्तन) कृष्टियां अल्प हैं तथा अन्तरालमें की जानेवाली (अन्तर) कृष्टियां उनसे असंख्यात-गुणी होती हैं^१ ।

‘दव्वगपहमे सेसे देदि अपुव्वेसणंतभागूणं ।

पुव्वापुव्वपवेसे असंखभागूणमहियं च ॥१८१॥५७२॥

अर्थ—द्वितीयादि समयोंमें प्रथमसमयवत् द्रव्य देता है, किन्तु इतनी विशेषता है सूक्ष्मकृष्टिसम्बन्धी द्रव्यको अधस्तन अपूर्वकृष्टियोंमें अनन्तवैभागरूप हीनक्रमसे तथा पूर्व-अपूर्वकृष्टियोंके प्रवेशमें क्रमशः असंख्यातवैभागहीन व असंख्यातवैभागप्रमाण अधिक अर्थात् पूर्वकृष्टियोंके प्रवेशमें असंख्यातवैभागहीनरूपसे द्रव्य दिया जाता तथा अपूर्व-कृष्टियोंके प्रवेशमें असंख्यातवैभागप्रमाण अधिकद्रव्य दिया जाता है ।

विशेषार्थ—द्वितीयसमयमें जो जघन्यसूक्ष्मसाम्परायिककृष्टि है, उसमें बहुत प्रदेशाग्र दिया जाता है, द्वितीयकृष्टिमें अनन्तवैभागसे हीन दिया जाता है । इस क्रमसे जाकर प्रथमसमयमें जो जघन्यसूक्ष्मसाम्परायिककृष्टि है उसमें असंख्यातवैभागसे हीन प्रदेशाग्र दिया जाता है और इसके आगे निर्वर्त्यमान अपूर्वकृष्टि जबतक प्राप्त नहीं होती तबतक अनन्तवैभागसे हीन प्रदेशाग्र दिया जाता है तथा अपूर्वनिर्वर्त्यमानकृष्टिमें असंख्यातवैभागअधिक प्रदेशाग्र दिया जाता है । इससे आगे उत्तरोत्तर प्रतिपद्यमान प्रदेशाग्रका अनन्तवैभागरूप हीन प्रदेशाग्र दिया जाता है । द्वितीयसमयमें दिये जाने-

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१६६ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ६६५-६६ सूत्र १२६१ से १२६६ । धवल पु० ६ पृष्ठ ३६६ ।

वाले प्रदेशाग्रकी जो विधि पहले कही गई है वही विधि शेष समयोंमें जानना चाहिए और यह क्रम बादरसाम्परायिककृष्टिके चरमसमयतक ले जाना चाहिए^१ ।

^१पदमादिसु दिस्तकमं सुहुमेसु अणंतभागहीणकमं ।

बादरकिष्टिपदेसो असंखगुणिदं तदो हीणं ॥१८२॥५७३॥

अर्थ —सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिकारकके प्रथमसमयमें दृश्यमानक्रम सूक्ष्मकृष्टियोंमें अनन्तवैभागहीनरूपसे घटता हुआ द्रव्य है, उसके अनन्तर बादरकृष्टिमें असंख्यातगुणा तथा उसके पश्चात् अनन्तवैभागहीन द्रव्य है ।

विशेषार्थ —बादरकृष्टियोंके द्रव्यका असंख्यातवांभाग अपकर्षण करके सूक्ष्म-साम्परायिककृष्टिकारक कृष्टियोंमें दृश्यमान प्रदेशाग्र प्रथमसमयमें इसप्रकार है—जघन्य-सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिमें दृश्यमान प्रदेशाग्र बहुत है, इससे आगे चरमसूक्ष्मसाम्परायिक-कृष्टितक प्रत्येककृष्टिमें दृश्यमानद्रव्य पूर्वकृष्टिसे अनन्तवैभागहीन है अर्थात् एक-एक चय घटता है । चरमसूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिके अनन्तर ऊपर तृतीयबादरसंग्रहकृष्टिकी जघन्यबादरसाम्परायिककृष्टिमें प्रदेशाग्र असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि बादरकृष्टियोंके असंख्यातवैभाग प्रदेशाग्रोंका अपकर्षण होकर सूक्ष्मकृष्टियोंकी रचना हुई है अतः सूक्ष्म-कृष्टिप्रदेशाग्रकी अपेक्षा बादरकृष्टिमें दृश्यमानप्रदेशाग्र असंख्यातगुणे हैं । उसके पश्चात् प्रत्येक बादरकृष्टिमें अनन्तवैभाग-अनन्तवैभागहीन होता गया है अर्थात् अन्तरोपनिधामें एक-एक चय घटता गया है । यह श्रेणिप्ररूपणा सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिकारकके प्रथम-समयसे लेकर चरमसमयवर्ती बादरसाम्परायिककृष्टिपर्यन्त करना चाहिए । प्रथमसमय-वर्ती सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियोंमें भी दृश्यमान प्रदेशाग्रकी यही श्रेणिप्ररूपणा है । पूर्व-द्रव्य और निक्षिप्तद्रव्यके मिलनेपर दृश्यमानप्रदेशाग्र होता है^२ ।

^२लोहस्ततदियादो सुहुमगदं विदियदो दु तदियगदं ।

विदियादो सुहुमगदं द्रव्यं संखेजगुणिदकमं ॥१८३॥५७४॥

१. जयधवल मूल पृष्ठ २१६६ से २२०१ तक ।
२. क० पा० सुत पृष्ठ ८६६ सूत्र १२७० से १२७५ । धवल पु० ६ पृष्ठ ४०० ।
३. जयधवल मूल पृष्ठ २२०१-२२०२ ।
४. क० पा० सुत पृष्ठ ८६७ सूत्र १२७७ से १२७९ । ध० पु० ६ पृष्ठ ४०० ।

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिकारक लोभकी द्वितीय व तृतीयसंग्रहकृष्टियोंमें से असंख्यातवैभाग प्रदेशाग्रका अपकर्षणकरके संक्रमणके द्वारा सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिरूप संक्रमित करता है । इसप्रकार संक्रमण करनेवाला तृतीयवासरसाम्परायिककृष्टिसे अपकर्षणकरके जो प्रदेशाग्र सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टिरूप संक्रमण करता है वे प्रदेशाग्र छोड़े हैं, उससे संख्यातगुणे प्रदेशाग्र लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे तृतीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमण करता है, क्योंकि लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिके प्रदेशाग्रसे द्वितीयसंग्रहकृष्टिके प्रदेशाग्र संख्यातगुणे हैं । लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे जो प्रदेशाग्र तृतीयसंग्रहकृष्टिरूप संक्रमित किये जाते हैं उनसे संख्यातगुणे प्रदेशाग्र द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे सूक्ष्मसाम्परायिक-रूप संक्रमित होते हैं, क्योंकि लोभके तृतीयसंग्रहकृष्टिआयामसे सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टि-का आयाम संख्यातगुणा है और आयामके अनुसार ही प्रदेशाग्रोंकी संख्याका प्रमाण जानना चाहिए । प्रतिग्राह्यके अल्पबहुत्वके अनुसार 'पडिमेज्जमाण' अर्थात् प्रतिग्राह्य संक्रमणद्रव्यका अल्पबहुत्व कहना चाहिए ।

किट्ठीवेदगपढमे कोहस्स य विदियदो दु तदियादो ।

माणस्स य पढमगदो माणतियादो दु मायपढमगदो ॥१८४॥५७५॥

मायतियादो लोभस्सादिगदो लोभपढमदो विदियं ।

तदियं च गदा दब्बा दसपदमच्चियकमा होति ॥१८५॥५७६॥

कोहस्स य पढमादो माणादी कोहतदियविदियगदं ।

तत्तो संखेज्जगुणं अहियं संखेज्जसंगुणियं ॥१८६॥तियलं॥५७७॥

अर्थ—कृष्टिवेदकके प्रथमसमयमें क्रोधकी द्वितीयकृष्टिसे जो प्रदेशाग्र मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमण होता है वह स्तोक है । क्रोधका तृतीयसंग्रहकृष्टिसे जो प्रदेशाग्र मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित होता है वह विशेषअधिक है, मानकी प्रथम-संग्रह कृष्टिसे मायाको प्रथमसंग्रहकृष्टिमें विशेषअधिक प्रदेशाग्रका संक्रमण होता है,

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२०३ ।

२. क. पा. सुत्त पृष्ठ ८६७-६८ सूत्र १२८० से १२८६ । धवल पु० ६ पृष्ठ ४०१ ।

३. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६८ सूत्र १२६० से १२६२ । धवल पु० ६ पृष्ठ ४०१-४०२ ।

मानकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें विशेषअधिक प्रदेशाग्रका संक्रमण होता है। तथा मानकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसे मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें विशेष अधिक प्रदेशाग्र संक्रमित होते हैं। मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें विशेष अधिक प्रदेशाग्र संक्रमित होते हैं, मायाकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें विशेषअधिक प्रदेशाग्र संक्रमित होते हैं, मायाकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसे लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें विशेषअधिक प्रदेशाग्र संक्रमित होते हैं। लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें विशेषअधिक प्रदेशाग्रका संक्रमण होता है, लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टि में विशेषअधिक प्रदेशाग्रका संक्रमण होता है। अधिकक्रमसे द्रव्यका संक्रमण करनेवालेके ये दशस्थान हैं। क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें (पूर्वोक्त संक्रमणसे) संख्यातगुणित प्रदेशाग्रका संक्रमण होता है। क्रोधकी ही प्रथमसंग्रहकृष्टिसे क्रोधकी ही तृतीयसंग्रहकृष्टिमें विशेषअधिक प्रदेशाग्रका संक्रमण होता है। क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें संख्यातगुणे प्रदेशाग्रका संक्रमण होता है।

विशेषार्थ—कृष्टिकरणकालके समाप्त होनेपर अनन्तरसमयमें क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिका अपकर्षण करके उसका वेदन करनेवालेके क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे मानकी प्रथमकृष्टिमें अधःप्रवृत्तासंक्रमणद्वारा संक्रान्त किये जाते हैं वे कहे जानेवाले अन्यसंक्रमणद्रव्यकी अपेक्षा स्तोक हैं। जिस संग्रहकृष्टिका अनुभाग अल्प होगा उसके प्रदेशाग्र बहुत होते हैं। बहुत प्रदेशोंमें संक्रमण होनेवाले प्रदेश भी बहुत होते हैं, अतः पूर्वकथित संक्रमणद्रव्यसे यह संक्रमणद्रव्य विशेषअधिक है। पूर्व द्रव्यको पत्यके असंख्यातवैभागसे खण्डितकर एकखण्डप्रमाण विशेषअधिक है। मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमण होनेवाला द्रव्य विशेष अधिक है, क्योंकि क्रोधकी तृतीयकृष्टिकी प्रतिग्रहस्थानरूप मानकी प्रथमकृष्टिकी अपेक्षा मानकी प्रथमकृष्टिकी प्रतिग्रहस्थानरूप मायाकी प्रथमसंग्रहकृष्टि विशेष अधिक है। आधार विशेषअधिक होनेके कारण अधिकप्रदेशोंका संक्रमण होता है। यहांपर विशेषअधिक प्रमाणका प्रतिभाग आवलिका असंख्यातवांभाग है इससे आगेके स्थानोंमें सत्त्वकर्मके अनुसार ही विशेषअधिक संक्रमण होता है और सर्वत्र अधःप्रवृत्तासंक्रमणभागहार है।

शङ्का—क्रोध-मान व मायाकी संग्रहकृष्टियोंका द्रव्य अन्यकषायकी संग्रहकृष्टियोंमें होता है अतः वहांपर अधःप्रवृत्तासंक्रमणभागहार होता है अतः यहांपर अपकर्षणभागहार होना चाहिए जो अत्रःप्रवृत्तासंक्रमणभागहार असंख्यातगुणाहीन है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि परिणामोंके माहात्म्यसे लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिके संक्रमणमें भी भागहारमें हानि नहीं हुई है । लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें से लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित होनेवाले प्रदेशाग्रका प्रतिग्रहस्थान लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टि है जो अल्प है और लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित होनेवाले प्रदेशाग्रको प्रतिग्रहस्थान लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टि है जो विशेषअधिक है । प्रतिग्रहस्थानमें अधिकता होनेसे उनका विषयभूत संक्रमणद्वय भी विशेषअधिक हो जाता है^१ ।

लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे जितने प्रदेशाग्र लोभकी तृतीयकृष्टिमें संक्रमण किये जाते हैं उससे संख्यातगुणे प्रदेशाग्र क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे मानकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित किये जाते हैं, क्योंकि लोभकी प्रथमसंग्रहकृष्टिकी अपेक्षा क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिमें प्रदेशाग्रसत्त्व १३ गुणा है । इसलिये प्रदेशसंक्रमण संख्यातगुणा है । उससे क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें प्रदेशसंक्रमण विशेषअधिक है, क्योंकि पूर्व प्रतिग्रह स्थानसे क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिरूप प्रतिग्रहस्थान विशेषअधिक है । अतः प्रदेशसंक्रमण भी विशेषअधिक है । उससे क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमण होनेवाले प्रदेशाग्र संख्यातगुणे हैं । यद्यपि प्रतिग्रहस्थानस्वरूप क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टि क्रोधकी तृतीयसंग्रहकृष्टिसे अल्प है तथापि वेद्यमान क्रोधकी प्रथमसंग्रहकृष्टिसे अनन्तर वेद्यमान क्रोधकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित होनेयोग्य प्रदेशाग्र संख्यातगुणा है । यह बादरकृष्टिसम्बन्धी प्रदेशाग्र यद्यपि अतिक्रान्त हो चुका है तथापि की जानेवाली सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियोंमें आश्रयभूत मानकर यहाँ कहा गया है । लोभकी द्वितीयकृष्टिसे ओ प्रदेशाग्र लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रान्त हुए हैं उनसे संख्यातगुणे प्रदेशाग्र सूक्ष्मकृष्टिरूप होते हैं ऐसा जो गुणकारका अनुक्रम कहा गया है वह नवीन नहीं है, किन्तु बादरकृष्टियोंमें भी संख्यातगुणकार का अनुक्रम है यह बतलानेके लिए बादरकृष्टियोंके प्रदेशसंक्रमणके संक्रमणमें अल्पबहुत्वका कथन किया गया है^२ ।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२०३ से २२०५ ।

२. जयधवल मूल पृष्ठ २२०५-२२०६ ।

लोहस्स विदियकिट्ठि वेदयमाणस्स जाव पढमटिदी ।

आवलितियभवसेसं आगच्छदि विदियदो तदियं ॥१८७॥५७८॥

अर्थ—इसप्रकार लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिको वेदते हुए जीवके द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी प्रथमस्थितिमें तीनआवलीप्रमाणकाल शेष रहने तक द्वितीयसंग्रहकृष्टिसे तृतीयसंग्रहकृष्टिमें द्रव्य संक्रमणरूप होकर प्राप्त होता है ।

विशेषार्थ—लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी प्रथमस्थितिमें विश्रमणावलि, संक्रमणावलि व उच्छिष्टावलि ये तीनों अवशिष्ट रहनेतक लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिमें दिया जाता है, क्योंकि तृतीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित हुआ द्रव्य विश्रमणावलि पर्यन्त वहीं विश्राम करता है पश्चात् संक्रमणावलिमें सूक्ष्मकृष्टिरूप होकर संक्रमण करता है तब उच्छिष्टावलिमात्र प्रथमस्थिति अवशेष रह जावे उससे तीन आवलि अवशेष रहनेतक द्वितीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य तृतीयसंग्रहकृष्टिमें संक्रमित होता है तथा उसके ऊपर द्वितीयसंग्रहकृष्टिके द्रव्यमें अपवर्णनभागहारका भाग देकर एकभागप्रमाण द्रव्यका संक्रमणद्वारा सूक्ष्मकृष्टिमें ही संक्रमण करता है । यह क्रम जबतक दो आवलिप्रमाण काल अवशेष रहे तबतक जानना, वहीं आगाल व प्रत्यागालकी व्युच्छित्ति होती है । आनुपूर्वीसंक्रमणके कारण तृतीयसंग्रहकृष्टिका द्रव्य द्वितीयकृष्टिमें न आवेसे आगाल नहीं होता मात्र प्रत्यागाल ही होता है तथा समयक्रम आवलिप्रमाण निषेकोंको अधोगलनरूप क्रमसे भोगकर समयाधिक आवलि अवशेष रखता है ।

तत्तो सुहमं गच्छदि समयाहियआवलीयसेसाए ।

सठवं तदियं सुहुमे एव उच्छिट्ठं विहाय विदियं च ॥१८८॥५७९॥

अर्थ—बादरलोभकी प्रथमस्थितिमें एकसमयाधिक आवलिकाल शेष रहनेपर लोभकी तृतीयसंग्रहकृष्टिका सर्वद्रव्य सूक्ष्मकृष्टिरूप संक्रमण कर जाता है । नवकसमय-प्रबद्ध व उच्छिष्टावलिसे द्रव्यको छोड़कर लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिका शेषद्रव्य भी सूक्ष्मकृष्टिरूप संक्रमण कर जाता है ।

विशेषार्थ—इसक्रमसे लोभकी द्वितीयकृष्टिको वेदन करनेवालेके जो प्रथमस्थिति है उस प्रथमस्थितिमें जब एकसमयाधिक आवलिकाल शेष रह जाता है उस

समयमें वह चरमसमयवर्ती बादरसाम्परायिक होता है, उसी समयमें अर्थात् अनिवृत्ति-करणगुणस्थानके चरमसमयमें लोभकी संक्रम्यमाण (जिसका पूर्वसे यथाक्रम संक्रमण हो रहा था) चरम (तृतीय) बादरकृष्टि सामस्त्यरूपसे सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियोंमें संक्रांत हो जाती है। यह कथन उत्पादानुच्छेदकी अपेक्षा है, क्योंकि उससमय वह बादरसाम्परायिक है, अन्यथा सूक्ष्मसाम्परायिकके प्रथमसमयमें बादरसाम्परायिककृष्टिद्रव्यका सामस्त्यरूपसे सूक्ष्मकृष्टिमें संक्रमण देखा जाता है। उससमय मात्र लोभकी तृतीयसंग्रह-कृष्टिके द्रव्यका ही संक्रमण नहीं होता, किन्तु लोभकी द्वितीयसंग्रहकृष्टिके भी एकसमय-कम दोआवलिप्रमाण नवकसमयप्रबद्धकी तथा उदयावलिमें प्रविष्टद्रव्यको छोड़कर द्वितीयसंग्रहकृष्टिकी संक्रम्यमाण शेष अन्तरकृष्टियां संक्रमणको प्राप्त हो जाती हैं'।

‘लोहस्स तिघादीणं, ताहे अघादीतियाणं ठिदिबंधो ।

अंतो दु मुहुत्तस्स य दिवसस्स य होदि वरिसस्स ॥१८६॥५८०॥

अर्थ—अनिवृत्तिकरणके चरमसमयमें संज्वलनलोभका जघन्यस्थितिबन्ध अन्त-मुहूर्तप्रमाण, तीनघातियाकर्मोंका कुछकम एकदिन तथा तीन अघातियाकर्मोंका कुछकम १ वर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है ।

विशेषार्थ—अनिवृत्तिकरणके चरमसमयमें लोभसंज्वलनका जघन्यस्थितिबन्ध अन्तमुहूर्तप्रमाणवाला होता है और उसीसमय मोहनीयकर्मकी बंधव्युच्छिन्ति होती है, क्योंकि उसके ऊपर मोहनीयकर्मके बन्धमें कारणभूत परिणामोंका अभाव है। तीव्र घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध पहले दिवसपृथक्त्वप्रमाण होता था जो घटकर कुछकम एकदिन-रात प्रमाण रह गया। नाम, गोत्र व वेदनीय, इन तीन अघातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजारवर्षसे घटकर अन्तःवर्ष अर्थात् कुछकम एकवर्ष प्रमाण रह जाता है^१ ।

‘ताणं पुणं ठिदिसंतं कमेण अतोमुहुत्तयं होदि ।

वस्साणं संखेज्जसहस्साणि असंखवस्साणि ॥१८७॥५८१॥

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२०७ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६६ सूत्र १२६८-१३०० । धवल पु० ६ पृष्ठ ४०२-४०३ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २२०७-२२०८ ।

४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६८ सूत्र १३०१-१३०३ । धवल पु० ६ पृष्ठ ४०३ ।

अर्थ—अनिवृत्तिकरणगुणस्थानके चरमसमयमें स्थितिसत्त्व क्रमसे लोभका अन्तर्मुहूर्त, तीन घातियाकर्मोंका यथायोग्य संख्यातहजारवर्ष और तीन अघातियाकर्मोंका यथायोग्य असंख्यातवर्षप्रमाण है ।

सूक्ष्मसाम्परायका कथन—

‘से काले सुहुमगुणं पडिवज्जदि सुहुमकिट्ठिदिखंडं ।

आणायदि तद्वत्त्वं उक्कट्टिय कुण्णदि गुणसेदि ॥१६१॥५८२॥

अर्थ—बादरकृष्टिवेद्यमानकाल समाप्त होनेके अनन्तरसमयमें सूक्ष्मसाम्पराय-गुणस्थानको प्राप्त होता है वहांपर सूक्ष्मकृष्टियोंका स्थितिकाण्डकघात करता है और लोभके सूक्ष्मकृष्टिद्रव्यका अपकर्षणकरके गुणश्रेणिरूपसे निक्षेप करता है ।

विशेषार्थ—बादरकृष्टिवेदनने अन्तिमसमयसे अनंतरवर्तीसमयमें सूक्ष्मकृष्टियोंका अपकर्षण करके वेदन करनेवाला उसीसमय सूक्ष्मसाम्परायिकभावोंसे परिणत होकर प्रथमसमयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिकगुणस्थानवाला हो जाता है । सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके उसी प्रथमसमयमें अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितिके संख्यातवैभागप्रमाणस्थितिकाण्डकायाम होता है । मोहनीयकर्मके सूक्ष्मकृष्टिअनुगत अनुभागका पूर्ववत् अववर्तनाघात करता है । ज्ञानावरणादि कर्मोंका भी पूर्ववत् स्थितिकाण्डक व अनुभागकाण्डकघात करता है तथा अपकर्षितप्रदेशाग्रके असंख्यातवैभागकी गुणश्रेणी करता हुआ प्रथमसमयमें थोड़ा द्रव्य देता है जिसका प्रमाण असंख्यातसमयप्रबद्ध है, उससे ऊपर भृणश्रेणीशीर्षपर्यन्त असंख्यात-गुणे क्रमसे द्रव्य दिया जाता है ।

सूक्ष्मसाम्परायकृष्टियोंमें से असंख्यातवैभागप्रमाण प्रदेशाग्रको अपकर्षणकरके पुनः अपकर्षितद्रव्यके असंख्यातबहुभागको पृथक् रखकर असंख्यातवैभागको गुणश्रेणी-रूपसे देनेवाला उदयस्थितिमें स्तोकद्रव्य देता है जो असंख्यातसमयप्रबद्धप्रमाण है । उदयस्थितिके अनन्तर उपरितनस्थितिमें उससे असंख्यातगुणे द्रव्यको देता है । उससे अनन्तरस्थितिमें असंख्यातगुणे प्रदेशाग्रको देता है । इसप्रकार अनन्तर उत्तरोत्तर स्थितियोंमें असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा प्रदेशाग्र अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितिमें तबतक

१. अयधवल मूल पृष्ठ २२०८ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६६ सूत्र १३०४-१३०७ । धवल पु० ६ पृष्ठ ४०३ ।

देता है जबतक गुणश्रेणीशीर्ष प्राप्त नहीं होता । यह गुणश्रेणी आयाम सकल अन्तरायाम-के संख्यातवैभागप्रमाण है, तथापि सूक्ष्मसाम्परायकालसे विशेषअधिक-का प्रमाण सूक्ष्मसाम्परायके संख्यातवैभाग है । ज्ञानावरणादिका गलितावशेष गुणश्रेणी-आयाम भी इतना है । अपकर्षित प्रदेशाश्रका असंख्यातबहुभाग जो पृथक् रखा था वह गुणश्रेणीसे उपरिमस्थितियोंमें दिया जाता है^१ ।

‘गुणसेढि अंतरट्टिदि विदियट्टिदि इदि हवन्ति पञ्चतिया ।

सुदुमगुणादो अहिया अवट्टिदुदयादि गुणसेढी ॥१६२॥५८३॥

अर्थ— गुणश्रेणि, अन्तरस्थिति और द्वितीयस्थिति ये तीन पर्व होते हैं । सूक्ष्म-साम्परायगुणस्थानके कालसे उदयादि अवस्थित गुणश्रेणिका आयाम अधिक है ।

विशेषार्थ— गुणश्रेणि, अन्तरस्थिति व द्वितीयस्थिति इन तीनों पर्वोंमें अप-कर्षितद्रव्यका विभाजन किया जाता है । जबतक अपकर्षितद्रव्य असंख्यातगुणे क्रमसे दिया जाता है वह गुणश्रेणी कहलाती है, उसके ऊपरवर्ती जिन निषेकोका पहले अभाव किया था उनके प्रमाणरूप अन्तरस्थिति है तथा उससे ऊपरवर्ती अवशिष्ट संवस्थितिको द्वितीयस्थिति कहते हैं । सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है, उससे विशेष-अधिक अर्थात् संख्यातवैभागअधिक गुणश्रेणी आयाम है । ज्ञानावरणादि कमौकी भी गलितावशेषगुणश्रेणि निक्षेपका आयाम सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके कालसे अन्तर्मुहूर्त-अधिक, क्योंकि इसमें क्षीणकषायगुणस्थानका काल भी गमित है^२ ।

‘ओक्कट्टिदिइगिभागं गुणसेढीए असंखबहुभागं ।

अंतरहिद विदियट्टिदी संखसलागा हि अवरहिया ॥१६३॥५८४॥

गुणिय चउरादिखंडे अंतरसयलट्टिदिमिह णिक्खिवदि ।

सेसबहुभागमावलिहीणे वितियट्टिदीएह ॥१६४॥५८५॥

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२०८-२२०९ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६६ सूत्र १३०८ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २२०९ ।

४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६६-७० सूत्र १३०९-१३१२ ।

अर्थ—अपकर्षितद्रव्यका असंख्यातवां एकभाग गुणश्रेणि आयाममें दिया जाता है और शेष असंख्यातबहुभाग अन्तरस्थिति व द्वितीयस्थितिमें दिया जाता है । अन्तरस्थितिसे द्वितीयस्थितिको भाग देनेसे जो संख्यातशलाकारूप लब्ध प्राप्त हो उसका भाग असंख्यातबहुभाग द्रव्यमें देनेसे जो प्राप्त हो उसका चतुरादि खण्डमें गुणा करनेपर जो द्रव्य प्राप्त हो वह द्रव्य समस्त अन्तरस्थितियोंमें निक्षिप्त किया जाता है और शेष बहुभाग अतिस्थापनावलिहीन द्वितीय स्थितियोंमें दिया जाता है । (नोट—यहां जो 'चतुरादि' संख्या दी गई है वह अङ्कसन्दृष्टिकी अपेक्षासे है ।)

विशेषार्थ—सूक्ष्मकृत्स्नियोंके द्वारा यत्कि अन्तर भर दिया जाता है अर्थात् पूर्ण कर दिया जाता है और एकरूप हो जाती है, तथापि अनिवृत्तिकरणगुणस्थानके चरमसमयकी अपेक्षा प्रथम और द्वितीयस्थितिका भेद करके अन्तरका कथन किया गया है । अन्तरस्थितियोंमें अपकर्षितद्रव्यके असंख्यातबहुभागका संख्यातवां एकभाग दिया जाता है या संख्यातबहुभाग दिया जाता है इससम्बन्धमें दो मत हैं । इन गाथाओंके अनुसार असंख्यातवांभाग दिया गया है, किन्तु जयधवल मूल पृष्ठ २२०६ के अनुसार अन्तरस्थितियोंमें संख्यातबहुभाग दिया जाता है । जयधवल मूल पृष्ठ २२१० पर इन दोनोंमतोंका उल्लेख कर दिया गया है । क्षपणासार बड़ीटोका (शास्त्राकार) पृ० ६६७ पर जो अङ्कसन्दृष्टिआदि दी गई है उसका समर्थन जयधवल मूल (चारित्रक्षपणाधिकार) आर्षग्रन्थसे नहीं होता अतः यहां नहीं दी गई । द्वितीयस्थितिमें एक गोपुच्छ-होव क्रमसे प्रदेशाग्र तबतक दिये जाते हैं जबतक एकसमयअधिक अतिस्थापनावली शेष रह जाती है । अतिस्थापनावलीमें द्रव्य नहीं दिया जाता ।

अंतरपडमठिदित्ति य असंखगुणिदवकमेण दिज्जदि हु ।

हीणकमं संखेज्जगुणूणं हीणवकमं तत्तो ॥१६५॥५८६॥

अर्थ—अन्तरायामकी प्रथमस्थिति पर्यन्त तो असंख्यातगुण क्रमसे द्रव्य दिया जाता है और उसके ऊपर हीनक्रमसे (गोपुच्छ विशेषहीन) द्रव्य दिया जाता है । उसके पश्चात् संख्यातगुणाहीन द्रव्य दिया जाता है ।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२०६-२२१० ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८७० सूत्र १३१३-१३१४ ।

विशेषार्थ—यह कथन द्वितीयादि समयोंकी अपेक्षा है, क्योंकि प्रथमसमयका कथन गाथा १६२ में किया जा चुका है। उदयस्थितिसे लेकर गुणश्रेणिआयाममें असंख्यातगुणित क्रमसे प्रदेशाग्र दिया जाता है और गुणश्रेणीशीर्षसे असंख्यातगुणा प्रदेशाग्र अन्तरायामकी प्रथमस्थितिमें दिया जाता है। इस कथनको स्मरण करानेके लिए गाथामें कहा गया है कि अन्तरायामकी प्रथमस्थितितक असंख्यातगुणितक्रमसे द्रव्य दिया जाता है, उससे अनन्तरवर्ती स्थितिसे लेकर अन्तरायामकी अन्तिम-स्थितितक एक गोपुच्छविशेषसे हीन द्रव्य दिया जाता है। इसप्रकारसे अन्तरायाम-स्थितियोंमें प्रदेश विन्यास होता है। अन्तरायामकी चरमस्थितिके अनन्तरवर्तीस्थितिमें (जो कि पूर्वमें की गई द्वितीयस्थितिमें आदिस्थिति है) संख्यातगुणाहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है अर्थात् जहांपर अन्तरायामकी अन्तिमस्थितिकी और द्वितीयस्थितिसम्बन्धी आदिस्थितिकी संधि होती है वहां संख्यातगुणाहीन द्रव्य दिया जाता है। अन्तरायामकी स्थितियोंमें अपकर्षितद्रव्यके असंख्यातबहुभागका संख्यातबांभाग या संख्यातबहुभाग दिया जावे, किन्तु द्वितीयस्थितिसम्बन्धी स्थितियोंमें से आदिस्थितिमें संख्यातगुणाहीन द्रव्य दिया जाता है, क्योंकि अन्तरायामस्थितियोंकी अपेक्षा द्वितीयस्थितिकी स्थितियाँ असंख्यातगुणी हैं। उसके अनन्तरवर्तीस्थितियोंमें गोपुच्छविशेषहीन द्रव्य अपनी अति-स्थापनाधलीतक दिया जाता है। जितना द्रव्य सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके प्रथमसमयमें अपकर्षित किया गया था उससे असंख्यातगुणे द्रव्यका द्वितीयसमयमें अपकर्षण होता है उसमें से उदयस्थितिमें स्तोक द्रव्य तथा द्वितीयस्थितिमें उससे (उदयस्थितिसे) असंख्यात-गुणा द्रव्य दिया जाता है। प्रथमसमयके गुणश्रेणिशीर्षसे ऊपर अनन्तरस्थितितक इसी असंख्यातगुणे क्रमसे द्रव्य दिया जाता है, क्योंकि यहांपर मोहनीयकर्मका अवस्थितगुण-श्रेणिआयाम है। द्वितीयसमयके गुणश्रेणीशीर्षसे अनन्तरउपरिम एकस्थितिमें भी असंख्यातगुणा द्रव्य दिया जाता है, उसके पश्चात् अन्तरायामकी चरमस्थितितक विशेष-हीन-विशेषहीन द्रव्य दिया जाता है। इसके अनन्तर द्वितीयस्थितिकी स्थितियोंमें से प्रथम-स्थितिमें संख्यातगुणाहीन प्रदेशपिण्ड दिया जाता है, उसके आगे अनन्तरवर्तीस्थितिसे लेकर जिसस्थितिमेंसे प्रदेशाग्र अपकर्षण किया गया था उससे एक आवलि नीचे तक असंख्यातगुणेहीन क्रमसे द्रव्य दिया जाता है। इसीप्रकार तृतीयादि समयोंमें प्रदेशाग्रका अपकर्षण व निःसिचन होता है। द्वितीयस्थितिके समस्तद्रव्यका संख्यातबांभाग प्रथम-स्थितिकाण्डककी चरमफालिके लिए अपकर्षित होता है जो पूर्वोक्त विधिके अनुसार

दिया जाता है । चरमफालिके पतन होनेपर गुणश्रेणिके बिना सूक्ष्मसाम्परायिक स्थितियोंका द्रव्य एकगोपुच्छाकार रूप हो जाता है । प्रथमस्थितिकाण्डककी चरम-फालिके पतन होनेके अनन्तरसमयमें द्वितीयस्थितिकाण्डकका प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु इसका आयाम प्रथमस्थितिकाण्डकायामसे स्तोक है । द्वितीयस्थितिकाण्डकसे अपवर्षण करके जो प्रदेशाग्र उदयस्थितिमें दिया जाता है वह अल्प है इससे आगे असंख्यातगुणो-श्रेणिके क्रमसे गुणश्रेणिशीर्षसे अनन्तरउपरिम एकस्थितितक द्रव्य दिया जाता है, उससे आगे गोपुच्छविशेषसे हीन प्रदेशाग्र दिया जाता है । यही क्रम सूक्ष्मसाम्परायिकगुण-स्थानके मोहनीयकर्मके स्थितिघात होनेतक रहता है^१ ।

अंतरपट्टमटिदित्ति य असंखगुणिदक्कमेण दिस्सदि हु ।

हीणकमेण असंखेज्जेण गुणं तो विहीणकमं ॥१६६॥५८७॥

अर्थ—अन्तरकी प्रथमस्थितिपर्यन्त प्रदेशाग्र असंख्यातगुणे क्रमसे दिखाई देते हैं, इससे आगे चरमअन्तरस्थितितक विशेषहीन क्रमसे प्रदेशाग्र दिखाई देते हैं, तदनन्तर असंख्यातगुणे और तत्पश्चात् विशेषहीन क्रमसे प्रदेशाग्र दिखाई देते हैं ।

विशेषार्थ—इस गाथामें प्रथमसमयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिके दृश्यमान प्रदेशाग्रकी श्रेणिप्ररूपणा बतलाई गई है । प्रथमसमयमें सूक्ष्मसाम्परायिकी उदयस्थितिमें अल्प प्रदेशाग्र दिखाई देते हैं, द्वितीयस्थितिमें असंख्यातगुणे प्रदेशाग्र दिखाई देते हैं । इसप्रकार यह असंख्यातगुणाक्रम गुणश्रेणीशीर्षतक जानना तथा उससे आगे चरमअन्तरस्थितितक विशेष-हीन-विशेषहीन प्रदेशाग्र दिखाई देता है । तदनन्तर असंख्यातगुणे प्रदेशाग्र दिखाई देते हैं, तत्पश्चात् विशेषहीन प्रदेशाग्र दिखाई देते हैं । यह क्रम तबतक रहेगा जबतक कि कि प्रथमस्थितिकाण्डकके समाप्त होनेका चरमसमय प्राप्त नहीं होता^२ ।

कंडयगुणचरिमठिदी सविसेसा चरिमफालिया तस्स ।

संखेज्जभागमंतरठिदिमिह सव्वे तु बहुभागं ॥१६७॥५८८॥

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२०६ से २२१३ तक ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८७०-७१ सूत्र १३१६ से १३२५ । धवल पु० ६ पृष्ठ ४०४ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २२१३-२२१४ ।

अर्थ—चरमस्थितिको काण्डकायामसे गुणाकरके उसमें विशेष (चय) द्रव्य मिलानेसे चरमफालिका द्रव्य होता है उसका संख्यातव्यंभाग अन्तरस्थितियोंमें देता है और बहुभाग सर्वस्थितियोंमें देता है ।

विशेषार्थ—द्वितीयस्थितिके प्रथमनिषेकमें एककम द्वितीयस्थितिआयामप्रमाण विशेष घटानेपर उसके चरमनिषेकका द्रव्य होता है, उससे लेकर नीचेके काण्डकायामात्र निषेकोंका द्रव्य अन्तिमफालिमें ग्रहण करता है उससे उस अन्तिमनिषेकके द्रव्यको काण्डकायामसे गुणा करनेपर वहां अधस्तन निषेकमें जो विशेषअधिक पाया जाता है उनको मिलानेपर अन्तिमफालिके सर्वद्रव्यका प्रमाण होता है इसमें अधस्तन निषेकोंका अपकर्षण किये हुए द्रव्यको जोड़नेपर जो द्रव्य होता है उसको पत्यके असंख्यातव्यंभागका भागदेकर एकभागको गुणश्रेणीआयाममें देनेके पश्चात् अवशिष्ट द्रव्यके संख्यातव्यंभागको अन्तरायामकी स्थितियोंमें और शेष बहुभागको द्वितीयस्थितिकी स्थितियोंमें गोपुच्छाकाररूपसे एक-एक चयरूप हीन द्रव्य देता है ।

अंतरपटमठिदिन्ति य असंखगुणिदक्कमेण दिज्जदि हु ।

हीणं तु मोहविदियट्ठिदिखंडयदो दुघादोत्ति ॥१६८॥५८६॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानमें मोहनीयकर्मसम्बन्धो द्वितीयस्थितिकाण्डकघातसे लेकर द्विचरमकाण्डकघातपर्यन्त अन्तरायामकी प्रथमस्थितिपर्यन्त असंख्यातगुणे क्रमसे द्रव्य दिया जाता है तथा उसके ऊपर एक-एक चयरूप हीनद्रव्य दिया जाता है ।

विशेषार्थ—मोहकर्मके द्वितीयस्थितिकाण्डकघातसे लेकर द्विचरमकाण्डकघातपर्यन्त काण्डकसे गृहीत स्थितिसे नीचे और उदयावलिसे ऊपर जो निषेक हैं उनके द्रव्यको अपकर्षणभागहारका भाग देकर उसमें से एकभागप्रमाण द्रव्य ग्रहणकरके पुनः उसको पत्यका असंख्यातव्यंभागका भागदेकर एकभागको पूर्वोक्तप्रकार गुणश्रेणिआयाममें प्रथमउदयनिषेकमें तो स्तोकद्रव्य तथा द्वितीयादि निषेकोंसे गुणश्रेणिशीर्षपर्यन्त असंख्यातगुणे क्रमसे द्रव्य दिया जाता है । अवशिष्ट बहुभागमात्रद्रव्यको गुणश्रेणिसे ऊपरकी स्थितियोंमें दिया जाता है । गुणश्रेणिके ऊपरवर्ती निषेकोंमें जो द्रव्य देता है वह गुणश्रेणीशीर्षमें दिये गए द्रव्यसे असंख्यातगुणा है । इसप्रकार अन्तरके प्रथमनिषेक पर्यन्त तो असंख्यातगुणे क्रमसे तथा उसके ऊपर एक-एक विशेष (चय) रूप घटते क्रमसे द्रव्य दिया जाता है । यह क्रम अतिस्थापनावलि प्राप्त होनेतक पाया जाता है । सर्वस्थिति-

काण्डकोंमें जबतक चरमफालि प्राप्त नहीं होती तबतक जो अपकृष्टद्रव्य है वह सम्पूर्ण-द्रव्यका असंख्यातवैभागमात्र तथा अन्तिमफालिका द्रव्य सर्वद्रव्यके संख्यातवैभाग-प्रमाण है' ।

‘अंतरपढमठिदित्ति य असंखगुणिदक्कमेण दिस्सदि हु ।

हीणं तु मोहविदियट्ठिदिखंडयदो दुष्पादोत्ति ॥१६६॥५६०॥

अर्थ—मोहनीयकर्मका प्रथमस्थितिकाण्डक निर्लेपित होनेपर द्वितीयस्थितिकाण्डकवातसे द्वितीयमकाण्डकवातपर्यन्त दृश्यमान द्रव्य गुणश्रेणिके प्रथमनिषेकमें स्तोक है, उससे गुणश्रेणिशीर्षके ऊपरवर्ती अन्तरायामकी प्रथमस्थितिपर्यन्त असंख्यातगुणे क्रम-सहित है और उसके ऊपर चरमसमयपर्यन्त विशेष घटते हुए क्रमसे दृश्यमान द्रव्य है, क्योंकि प्रथमकाण्डककी चरमफालिका पतनसमयमें गुणश्रेणीसे ऊपर सर्वस्थितिका एक गोपुच्छ होता है' ।

पढमगुणसेडिसीसं पुट्ठिवल्लादो असंखसंगुणियं ।

उवरिमसमये दिस्सं विसेसअहियं हवे सीसे ॥२००॥५६१॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानसम्बन्धी प्रथमस्थितिकाण्डकके निर्लेपित होनेके पश्चात् अर्थात् द्वितीयस्थितिकाण्डकके प्रथमसमयमें गुणश्रेणिशीर्ष पूर्वसमयके गुणश्रेणी-शीर्षसे असंख्यातगुणा दिखाई देता है, किन्तु आगे द्वितीयादि समयोंमें गुणश्रेणिशीर्ष पूर्व समयवर्ती गुणश्रेणिशीर्षसे अधिक दिखाई देता है' ।

विशेषार्थ—द्वितीयस्थितिकाण्डकमें अपकृष्टकरके ग्रहण किया गया समस्त-द्रव्य भी मिलकर एकस्थितिके द्रव्यको पत्थोपमके असंख्यातवैभागसे भाजितकरके जो

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२१३ पं. ८-१० ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८७१ सूत्र १३२६-१७; धवल पु० ६ पृष्ठ ४०६ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २२१४ ।

४. “गुणसेडि दिस्समाण दक्खमेत्तो पाए असंखेज्जगुणं णं होदि विसेसाहिय चेव होदि । तत्थ कारण पक्खणा जहा दंसणमोहकखण्णाए सम्मत्तस्स अट्ठ वत्सट्ठि सत्तकम्मादो उवरि मग्गिदा तहा चेव मग्गिदुण गेण्हियत्त्वा ।” (जयधवल मूल पृष्ठ २२१५)

एकभाग लब्ध आवे उतना है और वह मोहनीयकर्मके स्थितिसत्कर्मप्रमाण निषेकोमें अपकर्षणभागहारका भाग देनेपर जो लब्ध आवे तत्प्रमाण है । पुनः उसके भी असंख्यातवै-
भागप्रमाण द्रव्यको ही नीचे गुणश्रेणिमें सिंचित करता है । शेष असंख्यातबहुभागको इससमयके गुणश्रेणीशीर्षसे उपरिम गोपुच्छाश्रोमें आगममें प्ररूपितविधिके अनुसार सिंचित करता है । इसकारणसे पहलेके गुणश्रेणिशीर्षसे इससमयका गुणश्रेणिशीर्ष असंख्यातगुणा नहीं हुआ, किन्तु दृश्यमानद्रव्य विशेषाधिक ही है ऐसा निश्चय करना चाहिए । यहांपर अवस्थित गुणश्रेणिआयाम होनेसे प्रतिसमय ऊपर-ऊपरका निषेक गुण-
श्रेणिशीर्ष होता जाता है' ।

सुहुमच्छादो अहिया गुणसेढी अंतरं तु ततो दु ।

पढमे खंडं पढमे संतो मोहस्स संखगुणिदकमा ॥२०१॥५६२॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कालसे उसीके असंख्यातवै-
भागसे अधिक सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके प्रथमसमयमें मोहनीयकर्मका गुणश्रेणीआयाम है, उससे अन्तरायाम संख्यातगुणा, उससे सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके मोहनीयकर्मका प्रथमस्थितिकाण्डकायाम संख्यातगुणा तथा उससे सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके प्रथमसमयमें मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा है । सर्वत्र गुणकारतत्प्रायोग्य संख्यातगुणा है^१ ।

एदेणप्पाबहुगविधारोण विदीयखंडयादीसु ।

गुणसेढिमुञ्जियेया गोपुच्छा होदि सुहुमम्हि ॥२०२॥५६३॥

अर्थ—इस अल्पबहुत्व विधानके द्वारा साम्परायगुणस्थानमें द्वितीयस्थिति-
काण्डकोके कालमें गुणश्रेणिको छोड़कर उसके ऊपरवर्ती सर्वस्थितिका एक गोपुच्छ होता है ।

विशेषार्थ—यहां अन्तरायामसे प्रथमस्थितिकाण्डकायाम संख्यातगुणा कहा है, उससे प्रथमस्थितिकाण्डककी चरमफालिके द्रव्यमें अन्तरायाममें देनेयोग्य गोपुच्छरूप

१. जयधवल पु० १३ पृष्ठ ६८ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८७१ सूत्र १३३० से १३३५ । धवल पु० ६ पृष्ठ ४०५ ।

३. जय ध० मूल पृष्ठ २२१४-२२१५ ।

४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८७१ सूत्र १३२८ । ध० पु० ६ पृष्ठ ४०५ ।

द्रव्यको अंतरायाममें देकर द्वितीयस्थितिके और इस अन्तरायामके एकगोपुच्छ किया जो प्रथमस्थितिकाण्डकायामसे अन्तरायाम बहुत होता तो वहां अन्तरायाम पूर्ण नहीं होता तब अन्तरस्थितिके और द्वितीयस्थितिके एक गोपुच्छ नहीं होता । अतः यहां अन्तरायाम से प्रथमस्थितिकाण्डकायाम बहुत कहा है, उससे अन्तरायाम और द्वितीयस्थितिके एक-गोपुच्छ प्रथमस्थितिकाण्डककी चरमफालिके पतनसमयमें ही होता है' । जहां विशेष (चय) रूप घटता कम होता है वहां गोपुच्छ संज्ञा है ।

सुहुमाणं किट्टीणं हेट्टा अणुदिरण्णा हु थोवाओ ।

उवरिं तु विसेसहिया मज्जे उदया असंखगुणा ॥२०३॥५६४॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियोंके अधस्तनभागमें अनुदीर्णकृष्टियां स्तोक हैं, उपरिमभागमें अनुदीर्ण सूक्ष्मकृष्टियां विशेषअधिक हैं । मध्यमें उदीर्ण सूक्ष्मकृष्टियां असंख्यातगुणी हैं ।

विशेषार्थ—प्रथमसमयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिकक्षपकके सूक्ष्मसाम्परायिककृष्टियों के असंख्यातबहुभाग उदीर्ण होते हैं । ये उदीर्णमान सूक्ष्मकृष्टियां ऊपर और नीचेके संख्यातवेंभागको छोड़कर मध्यके बहुभागमें पायी जाती है । अधस्तन अनुदीर्णसूक्ष्मकृष्टियां स्तोक हैं, उपरिम अनुदीर्णसूक्ष्मकृष्टियां विशेषअधिक है, मध्यमें उदीर्णमान सूक्ष्मकृष्टियां असंख्यातगुणी हैं । जिसप्रकार सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके प्रथमसमयमें उदीर्ण और अनुदीर्णकृष्टियोंका कथन किया है वैसा ही द्वितीयादि समयोंमें जानना, उसमें कोई विशेषता नहीं है, किन्तु द्वितीयसमयमें पूर्व उदीर्णमान कृष्टियोंके असंख्यातवेंभागको छोड़ देता है और अधस्तन अनुदीर्णकृष्टियां असंख्यातवेंभाग बढ़ जाती है' ।

सुहुमे संखसहस्से खंडे तीदे वसाणखंडेण ।

आगायदि गुणसेढी आगादो संखभागे च ॥२०४॥५६५॥

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२१४ ।
२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८७२ सूत्र १३३६ से १३४३ । धवल पु० ६ पृष्ठ ४०६ ।
३. जयधवल मूल पृष्ठ २२१७ ।
४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८७२ सूत्र १३४४ । ध० पु० ६ पृष्ठ ४०६ ।

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायमें संख्यातहजार स्थितिकाण्डक व्यतीत होनेपर अन्तिम-स्थितिकाण्डकसे पूर्वगुणश्रेणि आयामके संख्यातवैभागमात्र आयाममें गुणश्रेणि करता है ।

विशेषार्थः—सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानमें संख्यातहजार स्थितिकाण्डकोंको ग्रहण करनेवाला, सूक्ष्मसाम्परायके प्रथमसमयमें जो गुणश्रेणिनिक्षेप सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके कालसे विशेषश्रद्धिक था उसके संख्यातवैभाग अग्रस्थितियोंको घातके लिए ग्रहण करता है अर्थात् सूक्ष्मसाम्परायकालप्रमाण स्थितियोंको छोड़कर शेष जितने भी अधिक निक्षेप थे उन सबको काण्डकरूपसे ग्रहण करता है । मात्र इतनी ही स्थितियोंको नहीं ग्रहण करता, किन्तु गुणश्रेणिशीर्ष (गुणश्रेणिनिक्षेप) से ऊपर संख्यातगुणी स्थितियोंको चरमस्थितिकाण्डकरूपसे ग्रहण करता है, क्योंकि उनके ग्रहणबिना गुणश्रेणिशीर्षका काण्डकरूपसे ग्रहण होना असम्भव था । अतः गुणश्रेणिशीर्षके साथ उपरिम अन्तर्गुण-प्रमाण संख्यातगुणी स्थितियोंका चरमस्थितिकाण्डकमें ग्रहण होता है । चरमस्थितिकाण्डकके प्रथमसमयमें प्रथमफालिके लिए द्रव्यका अपकर्षणकरके उदयस्थितिमें थोड़े प्रदेशाग्रको देता है, उससे अनन्तरस्थितिमें असंख्यातगुणा प्रदेशाग्र देता है । सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके अन्तिमसमयतक इस असंख्यातगुणश्रेणिरूपसे निक्षेप होता है वही अब गुणश्रेणिशीर्ष है, उससे ऊपर अनन्तरस्थितिमें असंख्यातगुणाहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है, उसके पश्चात् पुरातन गुणश्रेणिशीर्षतक हीन प्रदेशाग्र दिया जाता है । उससे अनन्तर उपरिम एकस्थितिमें असंख्यातगुणाहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है, उससे आगे चरमस्थितिसे आवलिकाल पूर्वतक विशेषहीन-विशेषहीन प्रदेशाग्र दिया जाता है । इसीप्रकार द्वितीयादि फालियोंमें भी प्रदेशाग्र देता है । प्रदेशाग्रनिक्षेप यह क्रम चरमस्थितिकाण्डककी द्विचरमफालिपर्यन्त रहता है । चरमस्थितिकाण्डकको चरमफालिके द्रव्यको ग्रहणकर उदयस्थितिमें स्तोक प्रदेशाग्र देता है, उससे अनन्तरस्थितिमें असंख्यातगुणे प्रदेशाग्रको देता है । इसप्रकार सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानको चरमस्थितितक असंख्यातगुणी श्रेणिरूपसे प्रदेशाग्रका निक्षेप करता है । द्विचरमस्थितिमें जितने प्रदेशाग्रका निक्षेप करता है उससे पल्योपमके असंख्यात प्रथमवर्गमूलगुणे (पल्यका प्रथमवर्गमूल $\times$ असंख्यात) प्रदेशाग्रको चरमस्थितिमें निक्षिप्त करता है । पूर्वगुणाकार पल्योपमके तत्प्रायोग्य असंख्यातवैभागप्रमाण है अर्थात् प्रथमस्थितिसे पल्योपमके असंख्यातवैभागगुणा प्रदेशाग्र द्वितीयस्थितिमें देता है उससे भी पल्योपमके असंख्यातवैभागगुणा प्रदेशाग्र तृतीयस्थितिमें देता है । इसप्रकार यह क्रम द्विचरमस्थितितक यह क्रम रहता है अतः द्विचरमस्थितितक

अन्तिमफालिका असंख्यातवैभागप्रमाण द्रव्य और चरमस्थितिमें शेष बहुभाग प्रदेशाग्र देता है इसीलिये गुणाकार पत्योपमके असंख्यात प्रथमवर्गमूलप्रमाण हो जाता है । इस-प्रकार चरमस्थितिकाण्डकके निर्लेपित होनेपर मोहनीयकर्मकी स्थितिघातादि क्रिया नहीं होती, मात्र अधःस्थितिगलनाके द्वारा अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितियां निर्जराको प्राप्त होती हैं ।

एतो सुहुमंतोत्ति य, दिज्जस्स य दिस्समाण्णस्स कमो ।

सम्मत्तचरिमखंडे, तक्कदिकज्जेवि उत्तं च ॥२०५॥५६६॥

अर्थ—इसप्रकार यहांसे लेकर सूक्ष्मसाम्परायिकगुणस्थानके चरमसमयपर्यन्त देयद्रव्य और दृश्यमानद्रव्यका क्रम जानना । जैसे क्षायिकसम्यक्त्वविधानमें सम्यक्त्व-मोहनीयके चरमस्थितिकाण्डकमें अथवा उसको कृत्यकृत्यावस्थामें (कृतकृत्यवेदक सम्यक्त्वकी अवस्थामें) कहा या वैसे ही जानना ।

विशेषार्थ—यही मोहनीयकर्मकी सर्वस्थितिमें सूक्ष्मसाम्परायका जितना काल अवशिष्ट रहा उतनेप्रमाण स्थितिबिना अवशेष सर्वस्थितिका घात चरमकाण्डकद्वारा किया जाता है वहां इस काण्डककी स्थितिसम्बन्धी निषेकोंके द्रव्यमें जो द्रव्य अन्तिम-काण्डकोत्कीरणकालके प्रथमसमयमें ग्रहण किया उसको प्रथमकाल कहते हैं । इसीको स्पष्ट करते हैं—

प्रथमफालिके द्रव्यको अपकर्षणकरके उसको पत्यके असंख्यातवैभागका भाग देकर उसमें बहुभागमात्र द्रव्यको यहां (प्रथमफालिके पतन समय) सम्बन्धी सूक्ष्मसाम्परायकालके चरमसमयपर्यन्त तो गुणश्रेणिआयामरूप प्रथमपर्वमें देता है । वहां उसके (गुणश्रेणिआयामके) उदयरूप प्रथमनिषेकमें स्तोक उससे द्वितीयादि निषेकोंमें असंख्यात-गुणेक्रमसे द्रव्य दिया जाता है (यहां सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके चरमसमयको गुणश्रेणी-शीर्ष कहते हैं) तथा अवशेष एकभागप्रमाण द्रव्यको पत्यके असंख्यातवैभागका भाग-देकर बहुभागप्रमाण द्रव्य गुणश्रेणीशीर्षसे ऊपर जो गुणश्रेणिआयाम या उसके शीर्ष-पर्यन्त द्वितीयपर्वमें दिया जाता है, यह द्रव्य गुणश्रेणीशीर्षमें दिये गए द्रव्यसे असंख्यात-गुणा-क्रम है । उसके ऊपर द्वितीयादि निषेकोंमें चयरूपसे होन क्रमयुक्त द्रव्य दिया

जाता है तथा अवशेष रहे एकभागप्रमाण द्रव्यको द्वितीयपर्वके ऊपर जो सर्वस्थिति है, उसके अन्तर्में अतिस्थापनावलिबिना सर्वनिषेकरूप तृतीयपर्वमें देता है । पुरातन गुण-अणिशीर्षमें दिये गये द्रव्यसे असंख्यातगुणाक्रम द्रव्य अन्तरस्थितिमें देता है तथा उसके ऊपर जयरूप हीनक्रमसे द्रव्य देता है । इसप्रकार चरमकाण्डककी प्रथमफालिके पतनसमयमें द्रव्य देनेका विधान कहा है । ऐसे ही विधान चरमकाण्डककी द्विचरम-फालिके पतनपर्यन्त जानना चाहिए । अब चरमकाण्डककी अन्तिमफालिमें द्रव्य देनेका विधान कहते हैं—

किञ्चित्कुत द्वयर्थगुणहानि (डेडगुणहानि) गुणित समयप्रबद्धप्रमाण चरम-फालिका द्रव्य है उसको असंख्यातगुणे पत्यके वर्गमूलप्रमाण पत्यके असंख्यातवैभागका भाग देकर उसमेंसे एकभागप्रमाण द्रव्यको वर्तमानमें उदयरूप समयसे लेकर सूक्ष्म-साम्परायके द्विचरमसमयपर्यन्त निषेकरूप प्रथमपर्वमें देता है । वहाँ प्रथमनिषेकमें स्तोक, द्वितीयादिनिषेकोंमें असंख्यातगुणे क्रमसे द्रव्य देता है तथा अवशेष बहुभागप्रमाण द्रव्य सूक्ष्मसाम्परायके चरमसमयसम्बन्धी निषेकरूप द्वितीयपर्वमें दिया जाता है । यह द्रव्य द्विचरमसमयमें दिये गये द्रव्यसे असंख्यातपत्यवर्गमूलसे गुणित जानना^१ । इसप्रकार देयद्रव्यका विधान कहा है, ऐसे ही दृश्यमानद्रव्यका विधान भी यथासम्भव जान लेना चाहिए ।

‘उक्किरणे अवसाणे खंडे मोहस्स एत्थि ठिदिघादो ।

ठिदिसत्तं मोहस्स य सुहुमज्जासेसपरिमाणं ॥२०६॥५६७॥

अर्थ — इसप्रकार मोहराजाके मस्तकसदृश लोभके चरमकाण्डकका घात करते हुए अब मोहनोपकर्मका स्थितिघात नहीं होता है । सूक्ष्मसाम्परायका जितनाकाल अब शेष रहा है उतना ही मोहनोपकर्मका स्थितिसत्त्व शेष रहा जो कि प्रतिसमय अपवर्त-मान सूक्ष्मकृष्टिरूप अनुभागको प्राप्त होता है उसके एक एक निषेकको एक-एक समयमें भोगते हुए सूक्ष्मसाम्परायके चरमसमयको प्राप्त होता है^२ ।

१. जयधवल पु० १३ पृष्ठ ७२ से ८० ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८७२ सूत्र १६४२-४६ । धवल पु० ६ पृष्ठ ४०६-४०७ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २२१८ ।

^१ 'णामदुगे वेदणीये अडवारमुहुत्तयं तिघादीणं ।

अंतोमुहुत्तमेत्तं ठिदिबंधो चरिम सुहमम्हि ॥२०७॥५६८॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायके चरमसमयमें नाम व गोत्रकर्मका आठ मुहूर्तप्रमाण, वेदनीयकर्मका बारह मुहूर्तप्रमाण तथा तीनघातियाकर्मोंका अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थिति-बन्ध होता है ।

^२ तिगहं घादीणं ठिदिसंतो अंतोमुहुत्तमेत्तं तु ।

तिगहमघादीणं ठिदिसंतमसंखेज्जवस्साणि ॥२०८॥५६९॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्परायके चरमसमयमें तीनघातिया (जानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय) कर्मोंका स्थितिसत्त्व अन्तर्मुहूर्तप्रमाण तथा तीन अघातिया (वेदनीय, नाम व गोत्र) कर्मोंका स्थितिसत्त्व असंख्यातवर्षप्रमाण है ।

विशेषार्थ—घातियाकर्मोंके स्थितिसत्त्वका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त कहा गया है वह क्षीणकषायगुणस्थानके कालसे संख्यातगुणा है । मोहनीयकर्मका स्थितिसत्त्व क्षयके सम्मुख है अर्थात् पर्यायाधिक तयकी अपेक्षासे यद्यपि इस समय विद्यमान है, तथापि उपपादानुच्छेदकी अपेक्षा नष्ट ही हो गया है । इसप्रकार क्षयके सम्मुख लोभकी संग्रह-कृष्टिका अनुभव करता है, सो सूक्ष्मसाम्परायचारित्रसे युक्त सूक्ष्मसाम्परायिकगुण-स्थानवर्ती जीव है ऐसा जानना । इसप्रकार कृष्टिवेदनाधिकार पूर्ण हुआ ।

^३ 'से काले सो खीणकसाओ ठिदिरसगबंधपरिहीणो ।

सम्मत्तडवस्सं वा गुणसेढी दिज्ज दिस्सं च ॥२०९॥६००॥

अर्थ—जो अनन्तर अगले समयमें क्षीणकषाय हो जाता है उसके स्थितिबन्ध व अनुभागबन्ध नहीं होता है । दर्शनमोहकी क्षपणामें जब सम्यक्त्वप्रकृतिकी आठवर्ष-

१. क. पा. सुत्त पृष्ठ ८६४ सूत्र १५५७-१५५८ । धवल पु० ६ पृष्ठ ४१०-११ । जयधवल मूल पृष्ठ २२६३ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६४ सूत्र १५५९-६० । धवल पु० ६ पृष्ठ ४०७ । ज. घ. मूल पृष्ठ २२६३ ।

३. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६४ सूत्र १५६२ । धवल पु० ६ पृष्ठ ४११ ।

प्रमाण स्थिति रह जातो है तब जिसप्रकार गुणश्रेणीनिर्जरा, देयद्रव्य व दृश्यमानद्रव्य कथन है उसीप्रकार यहां भी जानना ।

विशेषार्थ—चारित्र्यमोहनीयकर्मका क्षय होनेके अनन्तरवर्ती समयमें द्रव्य व भावकषायलभूहसे उपरस्य (रहित) हो जानेसे क्षीणकषाय संज्ञाको प्राप्त होता है और यथाख्यातविहारशुद्धिसंयमी हो जाता है । प्रथमसमयमें निर्ग्रन्थ बीतरागगुणस्थानको प्राप्त कर लेता है । क्षीणकषायगुणस्थानका लक्षण इसप्रकार कहा है—

निस्सेसस्त्रीणमोहो फलिहामलभायणुदय समचित्तो ।

स्त्रीणकसाक्षो भण्णदि निग्गंधो वीयरएहि ॥^१

मोहकर्मके निःशेष क्षीण हो जानेसे जिसका चित्त स्फटिकके निर्मलभाजनमें रखे हुए सलीलके समान स्वच्छ हो गया है ऐसे निर्ग्रन्थसाधुको बीतरागियोंने क्षीण-कषायसंयत कहा है ।

उस क्षीणकषायावस्थामें सर्वकर्मोंके स्थिति, अनुभाग व प्रदेशका अवन्धक हो जाता है^२ । स्थिति व अनुभागबन्धका कारण कषाय है, क्योंकि कषायका स्थितिआदि बन्धके साथ अन्वय-व्यतिरेक है । संश्लेषरूप कषायपरिणामोंके अपगत (व्यतीत) हो जानेसे क्षीणकषायी जीवके स्थितिआदि बन्ध सम्भव नहीं हैं । प्रकृतिबन्धका कारण योग है जो क्षीणकषायी जीवके भी सम्भव है इसलिए प्रकृतिबन्धका निषेध नहीं किया गया । सातावेदनीयके अतिरिक्त अन्यप्रकृतियोंका बन्ध क्षीणकषायगुणस्थानमें नहीं होता, क्योंकि सूखे भाजनपर झूलके समान बन्धके अनन्तरसमयमें गल जाती हैं अर्थात् अकर्मभावको प्राप्त हो जाती है । स्थिति और अनुभागबन्धकी कारणभूत कषायकी संगतिका अभाव होनेसे दूसरे समयमें दुःख (निर्जीर्ण) हो जाता है, ईर्यापथ्य बन्धकी निर्जराका इसप्रकार उपदेश है । जहांपर ईर्यापथ्य कर्मवर्गणाओंके लक्षणका विस्तार-पूर्वक कथन है^३ वहांसे विस्तार जानना चाहिए । क्षीणकषायसे अवस्तनवर्ती गुणस्थानों-

१. गोमप्रदसार जीवकाण्ड गाथा ६२ ।

२. जयघवलका^१ने क्षीणकषायवर्ती को प्रदेशका भी अवन्धक कहा है और योगसे मात्र प्रकृतिबन्ध कहा है, किन्तु गो० क० गाथा २५७ में योगको प्रकृति व प्रदेश दोनोंके बन्धका कारण कहा है ।

३. घवल पु० १३ पृष्ठ ४७ से ५४ तक ।

मैं जो गुणश्रेणिनिर्जरा होती थी, क्षीणकषायगुणस्थानमें वह गुणश्रेणीनिर्जरा पूर्वसे असंख्यात-गुणी हो जाती है । सकषायपरिणामसे होनेवाली गुणश्रेणिनिर्जराकी अपेक्षा अकषाय-परिणामोंसे होनेवाली गुणश्रेणिनिर्जरा असंख्यातगुणी है । सम्यक्त्वप्रकृतिके चरमस्थिति-काण्डकघात तथा देयमान व दृश्यमानद्रव्य एवं गुणश्रेणिनिर्जराका जैसा कथन (गाथा २०५ में) है उसीप्रकार यहां भी जानना चाहिए ।

धादीण मुहुत्तं अघादियाणं असंखगा भागा ।

ठिदिखंडं रसखंडो अणंतभागा असत्थाणं ॥२१०॥६०१॥

अर्थ—क्षीणकषायगुणस्थानमें तीनधातियाकर्मोंका अन्तर्मुहूर्तप्रमाण और तीनअघातिया कर्मोंका पूर्वसत्त्व असंख्यातबहुभागमात्र स्थितिकाण्डकायाम है तथा अप्रशस्तप्रकृतियोंके पूर्व अनुभागको अनन्तका भाग देनेपर उसमें से बहुभागप्रमाण अनु-भागकाण्डकायाम है ।

विशेषार्थ—क्षीणकषायगुणस्थानके प्रथमसमयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन धातियाकर्मोंका अन्तर्मुहूर्त आयामवाला स्थितिकाण्डकघात होता है, उन्हीं कर्मोंके घातसे शेष रहे हुए अनुभागके बहुभागका अनुभागकाण्डकघात होता है । नाम-गोत्र व वेदनीय इन तीन अघातियाकर्मोंकी शेष स्थितिसत्त्वके असंख्यातबहुभाग-वाला स्थितिकाण्डकघात होता है और इन तीनों अघातियाकर्मोंकी अप्रशस्तप्रकृतियोंके अनुभागसत्त्वके अनन्तबहुभागका अनुभागकाण्डकघात करता है । छहों कर्मोंके प्रदेश-पिण्डको अपकर्षण करके गुणश्रेणिरूपसे विन्यास करनेवाला उदयस्थितिमें स्तोक प्रदेशाग्र देता है, उससे अनन्तरस्थितिमें असंख्यातगुणा प्रदेशाग्र निक्षिप्त करता है । क्षीणकषाय-कालसे असंख्यातवैभाग आगे जाकर गुणश्रेणिशीर्ष प्राप्त होनेतक इसप्रकार असंख्यात-गुणश्रेणिरूपसे प्रदेशाग्र देता जाता है, पुनः गुणश्रेणिशीर्षसे अनन्तर उपरिम स्थितिमें भी असंख्यातगुणा द्रव्य देता है, क्योंकि गुणश्रेणिमें अपकर्षितद्रव्यका असंख्यातवांभाग दिया जाता है और असंख्यातबहुभाग गुणश्रेणिशीर्षसे ऊपरकी स्थितियोंमें दिया जाता है । इसको उपरिमअध्वानसे खण्डित करनेपर अर्थात् उपरिमअध्वानमें विभाजन करने-पर एकखण्डप्रमाण प्रदेशाग्रसे गुणश्रेणीशीर्षकी अनन्तर उपरिमस्थिति रची जाती है ।

अतः उपरिम अनन्तरस्थितिमें गुणश्रेणीशीर्षसे असंख्यातगुणे प्रदेशाग्र हैं, उसके ऊपर चरमस्थितिसे आवलिपूर्वतक विशेषहीन-विशेषहीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं । इसप्रकार द्वितीयादि समयोंमें भी अवस्थितगुणश्रेणी प्ररूपणा जानकर करना चाहिए^१ ।

बहुठिदिखंडे तीदे संखा भागा गदा तदद्वाए ।

चरिमं खडं गिरहदि लोभं वा तत्थ दिजादि ॥२११॥६०२॥

अर्थ—पूर्वोक्तक्रमसे बहुत (संख्यातहजार) स्थितिकाण्डक व्यतीत हो जानेपर क्षीणकषायकालके संख्यातबहुभाग चले जानेके पश्चात् जब एकभाग अवशेष रहा तब तीन घातियाकर्मोंके चरमकाण्डकको ग्रहण करता है । वहां देयआदि द्रव्यका विधान सूक्ष्मलोभके समान जानना ।

विशेषार्थ—यहां क्षीणकषायगुणस्थानके अवशिष्टकालके बिना तीनघातिया कर्मोंकी शेष बची सर्वस्थितिको चरमकाण्डकके द्वारा घातता है । क्षीणकषायगुणस्थानके ऊपर और क्षीणकषायसम्बन्धी गुणश्रेणिशीर्षके नीचे गुणश्रेणिके अधस्तनवर्ती क्षीणकषायकालके संख्यातवैभागप्रमाण निषेक और गुणश्रेणिशीर्षके ऊपर संख्यातगुणे उपरितन निषेकको ग्रहणकरके अन्तिमकाण्डकद्वारा लाङ्छित (खंडित) करता है ऐसा जानना । उसके (अन्तिमकाण्डक) द्रव्य देनेका विधान जैसे लोभके अन्तिमकाण्डकमें कहा था उसीप्रकार जानना । इसप्रकार अन्तिमकाण्डककी प्रथमादि फालियोंका घातकरके पश्चात् किञ्चित्कृत द्रव्यगुणहानि (डेढ़गुणहानि) गुणित समयप्रबद्धप्रमाण चरमफालिके द्रव्यको उदयनिषेकसे लेकर क्षीणकषायके द्विचरमसमयपर्यन्त असंख्यातगुणे क्रमसे और द्विचरमसमयमें दिये गए द्रव्यसे असंख्यातपत्यवर्गमूलशुणा द्रव्य क्षीणकषायके चरमसमयसम्बन्धी निषेकमें देता है ।

जबतक एकसमयअधिक आवलिकाल शेष रहता है तबतक तीनघातिया कर्मोंकी उदीरणा होती है उसके पश्चात् उदयावलि शेष रह जानेपर उदीरणा नहीं होती । प्रतिसमय एक-एक निषेकका उदय होकर निर्जरा होती है । क्षीणकषायकालमें प्रथमशुक्लध्यान और पश्चात् द्वितीयशुक्लध्यान होता है, क्योंकि सुविशुद्ध शुक्लध्यानपरिणामके बिना कर्म निर्मूल नहीं होते हैं^२ ।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२६५ ।

२. जयधवल मूल पृष्ठ २२६५ ।

चरिमे खंडे पडिदे कदकरणिज्जोत्ति भरणदे एसो ।

तस्स दुचरिमे गिहा पयला सत्तुदयवोच्छिरणा ॥२१२॥६०३॥

अर्थ—अन्तिमकाण्डकके पतित होनेपर कृतकृत्य छद्मस्थ कहलाता है + क्षीण-कषायके द्विचरमसमयमें निद्रा और प्रचला सत्त्व-उदयसे व्युच्छिन्न हो जाते हैं ।

विशेषार्थ—चरमस्थितिकाण्डक निवृत्त होनेके पश्चात् तीनधातिया कर्मोंकी गुणश्रेणिक्रिया नहीं होती, किन्तु उदयावलिके बाहर स्थित प्रदेशाग्रसे असंख्यातगुणी श्रेणिरूपसे उदीरणा होती है अतः वह कृतकृत्य है^१ । क्षीणकषायके चरमसमयसे अनंतर अधस्तनसमय द्विचरमसमय है, उस द्विचरमसमयमें दर्शनावरणकर्मकी निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतियाँ एकसाथ उदय और सत्त्वसे व्युच्छिन्न होती हैं, क्योंकि धातियाकर्मरूप ईधनको जलानेवाली द्वितीयशुक्लध्यानरूप अग्निके द्वारा क्षीणकषायीके निद्रा व प्रचला प्रकृतिकी उदयव्युच्छिस्ति सम्भव है ।

शङ्का—क्षीणकषायी जीवके ध्यानपरिणामसे विरुद्धस्वभाववाली निद्रा और प्रचलाका उदय कैसे सम्भव है ?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि ध्यानयुक्त अवस्थामें भी निद्रा और प्रचलाके अवक्तव्य (अवक्तव्य-अप्रगट) उदयके विरोधका अभाव है ।

क्षीणकषायकालके आदिसे लेकर कुछ कालतक तो पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथमशुक्लध्यानका पालन करते हुए जब अपने कालका संख्यातवांभाग शेष रह जाता है तब एकत्ववितर्क अवीचार नामक द्वितीयशुक्लध्यानको अर्थ व्यञ्जन व योगसंक्रातिसे रहित ध्यानेवाला अवस्थित यथाख्यातविहारशुद्धिसंयम परिणामवाला, अवस्थित गुण-श्रेणि निक्षेपके द्वारा प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जेरा करनेवाला क्षीणकषायगुणस्थान-वर्ती जीव अपने द्विचरमसमयमें निद्रा और प्रचला प्रकृतिके सत्त्व और उदयकी व्युच्छिस्ति करता है^२ । कहा भी है—

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२६५ ।

२. जयधवल मूल पृष्ठ २२६६ ।

‘उपशान्तकषायी अथवा क्षीणकषायी पूर्वोक्तों के ज्ञाता तीनों योगवालेके, शुक्ल-
लेश्यायुक्त एवं उत्तमसंहननवालेके प्रथमशुक्लध्यान होता है । प्रथमशुक्लध्यानके समान
ही द्वितीयशुक्लध्यान भी जानना, किन्तु इतनी विशेषता है कि द्वितीयशुक्लध्यान एक-
योगवालेके होता है । ‘क्षीणकषायीके यह द्वितीयशुक्लध्यान ज्ञानावरण, दर्शनावरण व
अन्तरायकर्मका निरोध करनेके लिये होता है ।

‘कोहस्स य पढमठिदीजुत्ता कोहादि एक्कदोतीहि ।

खवणद्धाहि कमसो माणतियाणं तु पढमठिदी ॥२१३॥६०४॥

माणतियाणुदयमहो कोहादि गिदुतियं खवियपणिधम्हि ।

इयकरणकिट्टिकरणं किच्चा लोहं विणासेदि ॥२१४॥६०५॥

अर्थ—क्रोधकी प्रथमस्थितिसहित क्रोधादि एक-दो-तीन कषायोंका क्षपणाकाल
क्रमसे मानादि तीनकषायोंकी प्रथमस्थिति होती है । मानादि तीनकषायोंसहित श्रेणी
चढ़नेवाला जीव क्रमसे क्रोधादि एक-दो-तीन कषायोंके क्षपणाकालके निकट अश्वकर्ण-
सहित कृष्टिकरणको करके लोभको नष्ट करता है ।

विशेषार्थ—अन्तरकरणसे लेकर सूक्ष्मसाम्परायपर्यन्त अबतक जो प्ररूपणा की
गई है वह पुरुषवेदके उदयसहित संज्वलनक्रोधके उदयवाले क्षपककी प्ररूपणा है, किन्तु

१.. “शान्त-क्षीणकषायस्य, पूर्वजस्य त्रियोगिनः । शुक्लाद्यं शुक्ललेश्यस्य, मुख्यं संहननस्य तत् ॥१॥
द्वितीयस्याद्यवत्सर्वं विशेषस्त्वेकयोगिनः । विघ्नावरणरोधाय क्षीणमोहस्य तत्स्मृतम् ॥२॥
(जयधवल मूल पृष्ठ २२६६)

२. “एतत्तवियक्क-अवीयार-जम्भाणस्स अप्पडिवाइविसेसणं किण्ण कदं ? ए, उवसंतकसायस्मि
भवद्धा खएहि कसाएसु णिवदिदस्मि पडिवादुवलंभादो ।” [धवल पु० १३ पृष्ठ ८१] एकत्व-
वितर्क-अवीचार ध्यानके लिये ‘अप्रतिपाती’ विशेषण क्यों नहीं दिया ? समाधान—नहीं,
क्योंकि उपशान्तकषाय जीवके भव तप और काल क्षयके निमित्त पुनः कषायोंको प्राप्त होनेपर
एकत्ववितर्क-अविचार ध्यानका प्रतिपात देखा जाता है । धवल पु० १३ के इस प्रमाणसे सिद्ध
होता है कि उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवेंगुणस्थानमें भी एकत्ववितर्क-अवीचार नामक दूसरा
शुक्लध्यान होता है ।

३. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६० से ८६२ सूत्र १५०२ से १५३४; धवल पु० ६ पृष्ठ ४०७; जयधवल
मूल पृष्ठ २२५५-५६ ।

इन गाथाओंमें पुरुषवेदसहित मानके उदयके साथ क्षपकश्रेणि चढ़नेवालेकी प्ररूपणा है । जबतक अन्तर नहीं किया गया यानि अन्तर करनेसे पूर्वतक क्रोध या मानसहित क्षपक-श्रेणिपर आरोहण करनेवाले जीवकी क्रियाओंमें कोई अन्तर नहीं है, अन्तर करनेके पश्चात् विभिन्नता है और वह विभिन्नता यह है कि अन्तरके पश्चात् क्रोधकी प्रथम-स्थिति नहीं होती । जिसप्रकार पुरुषवेदसहित क्रोधोदयके साथ क्षपकके अन्तर्मुहूर्तप्रमाण क्रोधकी प्रथमस्थिति होती थी उसीप्रकार पुरुषवेदोदयसहित मानोदयवाले क्षपकके मान-की प्रथमस्थिति होती है । क्रोधोदयसे श्रेणि चढ़नेवाले क्षपकके कृष्टिकरणकालपर्यन्त क्रोधकी प्रथमस्थिति और क्रोधकी तीनों संग्रहकृष्टिका क्षपणाकाल, इन दोनोंको मिलाने-से कालका जो प्रमाण होता है उतनाकाल मानोदयसे श्रेणिपर आरोहण करनेवालेके मानकी प्रथमस्थितिका है । क्रोधोदयसे चढ़े हुए क्षपकके जिस कालमें अश्वकर्णकरण व अपूर्वस्पर्धक करता है उसकालमें मानोदयसे श्रेणी चढ़ा हुआ क्षपक क्रोधका स्पर्धकरूपसे क्षय करता है, क्योंकि मानोदयसे श्रेणी चढ़े क्षपकके क्रोधोदयका अभाव होनेसे स्पर्धक-रूपसे विनाश होनेमें कोई विरोध नहीं है । अनिवृत्तिकरणपरिणामोंका अभिन्नस्वभाव होते हुए भी भिन्न कषायोदयरूप सहकारिकारणके सन्निधानके वशसे प्रकृतमें नानापना सिद्ध है अर्थात् एककालमें कार्योकी विभिन्नता हो जाती है । क्रोधोदयसे युक्त क्षपक जिसकालमें चार संज्वलनकषायोंकी कृष्टियां करता है उसकालमें मानोदयसहित क्षपक उससमय तीन संज्वलनकषायोंका अश्वकर्णकरण करता है । क्रोधोदयी क्षपक जिस-कालमें क्रोधकी तीनसंग्रहकृष्टियोंका क्षय करता है उसकालमें मानोदयी क्षपक संज्वलन-मान-माया-लोभकी (३×३) ९ संग्रहकृष्टियां करता है । क्रोधोदयवाला क्षपक जिस-कालमें मानकी तीनसंग्रहकृष्टियोंका क्षय करता है उसीकालमें मानोदयीक्षपक भी मान-की तीनसंग्रहकृष्टियोंका क्षय करता है इसमें कोई अन्तर नहीं है । इस स्थलसे लेकर आगे जिसप्रकार क्रोधके उदयसे श्रेणि चढ़नेवालेकी क्षपणाविधि कही गई है वैसी ही विधि मानोदयसे श्रेणी चढ़नेवाले जीवको जानना चाहिए । आगे पुरुषवेदसहित मायो-दयसे श्रेणि चढ़नेवाले क्षपककी विभिन्नता बतलाते हैं—

अन्तर करके मायाकी प्रथमस्थिति करता है, क्योंकि क्रोध व मानकषायके उदयका अभाव है । क्रोधकी प्रथमस्थिति, अश्वकर्णकरणकाल, कृष्टिकरणकाल, क्रोधकी तीनसंग्रहकृष्टियोंका क्षपणाकाल, मानकी तीनों संग्रहकृष्टियोंका क्षपणाकाल, इनसर्व कालोंको मिलानेसे कालका जो प्रमाण हो उतनाकाल मायोदयीक्षपककी प्रथमस्थितिका

काल है, क्योंकि इतने कालके बिना प्रथमस्थितिमें किये जानेवाले कार्य पूर्ण नहीं हो सकते । क्रोधोदयवाला क्षपक जिसकालमें अश्वकर्णकरण करता है उसीकालमें मायोदयोक्षपक क्रोधका क्षय करता है । क्रोधोदयोक्षपक जिसकालमें कृष्टियां करता है उसकालमें मायोदयवाला क्षपक मानका स्पर्धकरूपसे क्षय करता है । क्रोधोदयोक्षपक जिसकालमें क्रोधकी तीनसंग्रहकृष्टियोंका क्षय करता है उसकालमें मायोदयवाला क्षपक संज्वलनमाया व लोभका अश्वकर्णकरण और अपूर्वस्पर्धक करता है । सहकारीकारण कषायोदयमें भेद होनेपर नानाजीवोंके अनिवृत्तिकरणपरिणाम भिन्न-भिन्न स्वरूपसे हो जाते हैं । क्रोधोदयवाला क्षपक जिसकालमें मानकी तीनसंग्रहकृष्टियोंका क्षय करता है उसकालमें मायोदयवाला क्षपक संज्वलनमाया और लोभकी छह कृष्टियोंकी रचना करता है । क्रोधोदयोक्षपक जिसकालमें मायाकी तीनसंग्रहकृष्टियोंका क्षय करता है उसी कालमें मायोदयवाला क्षपक मायाकी तीनसंग्रहकृष्टियोंका क्षय करता है इसमें कोई अन्तर नहीं है तथैव लोभके क्षपणमें भी कोई अन्तर नहीं है । पुरुषवेदसहित लोभोदयसे क्षपकश्रेणि चढ़नेवालेकी विभिन्नताका कथन करते हैं—

जबतक अन्तर नहीं करता तबतक कोई भेद नहीं है । अन्तर करनेके पश्चात् लोभकी प्रथमस्थिति होती है जिसका प्रमाण क्रोधकी प्रथमस्थितिमें क्रोध, मान व माया क्षपणाकाल, अश्वकर्णकाल और कृष्टिकरणकाल मिलानेसे उत्पन्न होता है । क्रोधोदयोक्षपक जिसकालमें अश्वकर्णकरण करता है उसकालमें लोभोदयवाला क्षपक क्रोधका क्षय करता है । क्रोधोदयवाला क्षपक जिससमयमें कृष्टियां करता है उससमयमें लोभोदयोक्षपक मानका क्षय करता है । क्रोधोदयोक्षपक जिससमय क्रोधका क्षय करता है उसीकालमें लोभोदयोक्षपक मायाका क्षय करता है । क्रोधोदयवाला क्षपक जिससमय मानका क्षय करता है लोभोदयोक्षपक उससमय अश्वकर्णकरण करता है । यहांपर एक-संज्वलन लोभकषाय है । यद्यपि संज्वलनलोभकषायके अनुभागका अश्वकर्णआकारसे विन्यास होना सम्भव नहीं है तथापि अनुभागका विशेषघात होकर अपूर्वस्पर्धक विधानकी अपेक्षा अश्वकर्णकरण कहनेमें कोई विरोध नहीं है । क्रोधोदयवाला क्षपक जिससमय मायाका क्षय करता है उससमय लोभोदयोक्षपक लोभकषायके पूर्व व अपूर्वस्पर्धकोंकी अवर्तना करके लोभकी तीनसंग्रहकृष्टियोंको करता है, क्योंकि शेष कषायोंका क्षय हो चुका है । क्रोधोदयवाला क्षपक जिससमय लोभका क्षय करता है उसी

समयमें लोभोदयीक्षपक भी लोभका क्षय करता है यह सब सन्निकर्षप्ररूपणा पुरुषवेदसे उपस्थित क्षपककी की गई है^१ ।

‘पुरिसोदयण चडिदस्सिस्थी खवणछउत्ति पढमठिदी ।

इत्थिस्स सत्तकम्मं अवगदवेदो समं विणासेदि ॥२१५॥६०६॥

अर्थ—पुरुषवेदोदयसे श्रेणीपर चढ़ा हुआ जिस कालतक स्त्रीवेदका क्षय करता है वहांतक स्त्रीवेदके उदयसे श्रेणीपर चढ़े हुए जीवके स्त्रीवेदकी प्रथमस्थिति है । अपगतवेदी होनेपर सातकर्मों (सात नोकषाय) का एकसाथ क्षय करता है ।

विशेषार्थ—जबतक अन्तर नहीं करता तबतक स्त्रीवेदोदयसे श्रेणि चढ़े हुए और पुरुषवेदोदयसे चढ़े हुए जीवमें कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि अन्तरकरणसे पूर्व दोनों क्षपकोंकी क्रियाविशेषमें कोई भिन्नता नहीं है । अन्तर करनेपर स्त्रीवेदोदयवाले-के स्त्रीवेदकी प्रथमस्थिति होती है । पुरुषवेदोदयीक्षपकके नपुंसकवेद व स्त्रीवेदके क्षय-कालको मिलानेपर जितना काल होता है उतनाकाल स्त्रीवेदोदयवाले क्षपककी प्रथम-स्थितिका है । नपुंसकवेदके क्षयसम्बन्धी प्ररूपणामें कोई अन्तर नहीं है । नपुंसकवेद-का क्षय करनेके पश्चात् स्त्रीवेदका क्षय करता है । पुरुषवेदोदयसे उपस्थित क्षपकके जितना बड़ा काल स्त्रीवेदकी क्षपणाका है उतना ही बड़ा काल स्त्रीवेदसे उपस्थित क्षपकके स्त्रीवेदक्षपणाका है । स्त्रीवेदकी प्रथमस्थिति क्षीण हो जानेपर अपगतवेदी हो जाता है तब अपगतवेदभागमें पुरुषवेद और हास्यादि छह नोकषायका क्षय करता है, किन्तु पुरुषवेदोदयसे श्रेणीपर चढ़ा हुआ क्षपक सवेदभागमें हास्यादि छह नोकषाय और पुरुषवेदके पुरातन सत्कर्मका क्षय करता है । स्त्रीवेदोदयसे श्रेणी चढ़े हुए क्षपकके पुरुषवेदके पुरातनसत्कर्मका क्षय हो जानेपर भी एकसमयकम दोभावलिप्रमाण तबक-समयप्रबद्ध शेष रह जाता है, किन्तु स्त्रीवेदोदयसे श्रेणी चढ़े क्षपकके वह तबकसमय-प्रबद्ध नहीं रहता, क्योंकि अवेदभावसे वर्तमानके पुरुषवेदका बन्ध नहीं होता । इस उपर्युक्त विभिन्नताके अतिरिक्त अन्य कोई अन्तर पुरुषवेदोदयीक्षपक व स्त्रीवेदोदयी-क्षपकमें नहीं है^३ ।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२५५ से २२६० तक ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८६३ सूत्र १५३५ से १५४३ । घ० पु० ६ पृष्ठ ४०६ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २२६० से २२६२ तक ।

‘थीपठमट्टिदिमेत्ता संढस्सवि अंतरादु सेढेक्क ।

तस्सच्चाति तदुवरिं संढा इत्थि च खवदि थीचरिमे ॥२१६॥६०७॥

अवगदवेदो संतो सत्त कसाये खवेदि कोहुदये ।

पुरिसुदये चडणविही सेसुदयाणं तु हेट्ठुवरिं ॥२१७॥६०८॥

अर्थ—नपुंसकवेदोदयसे चढ़े क्षपकके प्रथमस्थितिका काल उतना ही है जितना स्त्रीवेदोदयसे श्रेणी चढ़े क्षपकके प्रथमस्थितिका काल है । अंतरके पश्चात् नपुंसकवेदके क्षपणाकाल है उसके ऊपर स्त्रीवेदका क्षपणाकाल उसके कालमें नपुंसक और स्त्रीवेदकी क्षपणा करता हुआ प्रथमस्थितिके चरमसमयमें नपुंसकवेदसहित स्त्रीवेदका क्षय करता है तथा अपगतवेदी होकर सात नोकषायका क्षय करता है, इससे नीचे और ऊपरकी विधि पुरुषवेद व कोधोदयसे श्रेणी चढ़े क्षपकके समान है ।

विशेषार्थ—स्त्रीवेदोदयसे श्रेणी चढ़े क्षपककी प्रथमस्थितिके समान नपुंसकवेदोदयसे श्रेणी चढ़े क्षपककी प्रथमस्थिति है अर्थात् इन दोनों प्रथमस्थितियोंका काल समान है । पुनः अन्तर करनेके द्वितीयसमयमें नपुंसकवेदका क्षय करना प्रारम्भ करता । पुरुषवेदोदयीक्षपकके जितना नपुंसकवेदका क्षपणाकाल है, नपुंसकवेदोदयीक्षपकके उतना काल व्यतीत हो जानेपर नपुंसकवेद क्षीण नहीं होता, क्योंकि अन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्रथमस्थिति अब भी शेष है । पश्चात् अनन्तरसमयमें स्त्रीवेदकी क्षपणा प्रारम्भ करके स्त्रीवेदका क्षय करता हुआ नपुंसकवेदका भी क्षय करता है । पुरुषवेदोदयवाला क्षपक जिस कालमें स्त्रीवेदका क्षय करता है उसी समय नपुंसकवेदोदयीक्षपक स्त्री व नपुंसकवेदका युगपत् क्षय करता है । यह स्थूल कथन है, किन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे सवेदकालके द्विचरमसमयमें नपुंसकवेदकी प्रथमस्थितिके दो समयमात्र शेष रहने पर स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके सत्तामें स्थित समस्त निषेकोंको पुरुषवेदमें संक्रमित हो जानेपर नपुंसकवेद की उदयस्थितिकी अन्तिम स्थितिका विनाश नहीं हुआ उसका विनाश अगले समय में होगा । (जयधवल पु० २ पृष्ठ २४६) अपगतवेदी होकर पुरुषवेद और हास्यादि छह नोकषाय इन सात कर्मप्रकृतियोंका एकसाथ क्षय करता है, इन सातोंका ही क्षपणाकाल समान है । शेष पदोंमें जैसी विधि पुरुषवेदसे उपस्थित क्षपककी कही गई है वैसी

ही हीनाधिकतासे विधि यहां भी कहना चाहिए। तीनों कालमें नानाजीवोंके अनिवृत्ति-करण परिणामोंमें विलक्षणता सम्भव नहीं है तथापि वेद और कषायके उदयमें भेद होनेसे अनिवृत्तिकरण परिणामोंमें नानाविशिष्टकार्य होनेमें कोई विरोध नहीं है।

‘चरिमे पढमं विग्धं चउदंसण उदयसत्तवोच्छिण्ण।

से काले जोगिजिणो सव्वराहु सव्वदरसी य ॥२१८॥६०६॥

अर्थ—क्षीणकषायगुणस्थानके अन्तसमयमें प्रथम अर्थात् ज्ञानावरण, अन्तराय और चारदर्शनावरण, ये कर्मप्रकृतियाँ सत्त्वसे व्युच्छिन्न होती हैं और अनन्तरकालमें सयोगिजिन सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाते हैं।

विशेषार्थ—क्षीणकषायनामक १२वें गुणस्थानके चरमसमयमें एकत्ववितर्क-अधीचार नामक द्वितीयशुक्लध्यानके द्वारा (मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय-केवल) पांच ज्ञानावरण, पांच (दान, लाभ, भोग, उपभोग व वीर्य) अन्तराय, (चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवलरूप) चारदर्शनावरण इसप्रकार तीनघातिया कर्मोंकी १४ प्रकृतियोंकी उदय व सत्त्वव्युच्छिन्ति हो जाती है अर्थात् इन प्रकृतियोंका क्षय हो जाता है, क्योंकि इनको बन्धव्युच्छिन्ति सूक्ष्मसाम्परायनामक १०वें गुणस्थानमें ही हो जाती है।

शंका—क्षीणकषायगुणस्थानके चरमसमयमें घातियाकर्मोंके साथ अघातिया-कर्मोंका क्षय क्यों नहीं हो जाता, क्योंकि कर्मत्वकी अपेक्षा घातिया व अघातियाकर्मोंमें कोई अन्तर नहीं है ?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि विशेषघातभावकी अपेक्षा घातिया और अघातिया कर्मोंमें अन्तर पाया जाता है। इसीलिए क्षीणकषायगुणस्थानके चरमसमयमें अघातियाकर्मोंका स्थितिसत्कर्म रहता है, क्योंकि इनकी स्थितिके विशेषघातका अभाव है। अघातियाकर्मोंकी स्थितिके विशेषघातका अभाव असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि अघातियाकर्म घातियाकर्मोंके समान अप्रशस्त नहीं हैं। घातियाकर्मोंमें मोहनीयकर्म अधिक अप्रशस्त है इसलिए विशेषघातभावके कारण पूर्वमें अर्थात् सूक्ष्म-साम्परायगुणस्थानके चरमसमयमें क्षय हो जाता है। यद्यपि कर्मत्वकी अपेक्षा घातिया व

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२६२-६३।

२. क. पा. सुत्त पृष्ठ ८६६ सूत्र १५७१। धवल पु० ६ पृष्ठ ४१२। गो० जीवकाण्ड गाथा ६४।

अघातियाकर्मोंमें विशेषता नहीं है तथापि घातकी अपेक्षा विशेषता होनेसे द्वितीय शुक्ल-
ध्यानरूप अग्निके द्वारा क्षीणकषायके चरमसमयमें घातियाकर्मोंका निर्मूल क्षय हो
जाता है । क्षीणकषायगुणस्थानके चरमसमयमें घातियाकर्मोंके नाशका यह कथन उप-
पादानुच्छेद नयकी अपेक्षासे है अन्यथा उस चरमसमयमें अन्तिमनिषेकका सत्त्व और
उदय पाया जाता है । बन्धकी अपेक्षा इन घातियाकर्मोंका और जीवप्रदेशोंका एकत्व-
रूप परिणमन हो रहा था । बन्धके कारणोंके प्रतिपक्षी मोक्षके कारणभूत परिणामरूप-
यन्त्रके द्वारा पेलनेपर जीवप्रदेशोंसे कर्मप्रदेशोंका निर्मूल हो जाना क्षय है । जीवसे
पृथक् हो जानेपर भी अकर्मभावसे परिणत कर्मपुद्गलोंका पुद्गलस्वरूपसे क्षय नहीं
होता, जैसे मलसे व्यावृत्ति होनेपर कपड़ा निर्मल हो जाता है, किन्तु मलकी सत्ताका
अत्यन्त विनाश नहीं होता वैसे ही आत्मा कर्मोंसे निर्वृत्त होनेपर परिशुद्ध हो जाता
है^१ । पश्चात् अनन्तरसमयमें अनन्तकेवलज्ञान-केवलदर्शन और अनन्तवीर्यसे युक्त जिन,
केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होकर सयोगिजिन हो जाते हैं ।

खीणे घादिचउक्के णांतधउक्कस्स होदि उत्पत्ती ।

सादी अपज्जवसिदा उक्कस्साणांतपरिसंखा ॥२१६॥६१०॥

अर्थ—घातियाकर्म चतुष्टयका नाश होनेपर अनन्तचतुष्टयकी उत्पत्ति होती
है, यह अनन्तचतुष्टय सादि व अपर्यवसित (अविनाशी) है तथा उत्कृष्टअनन्त संख्या-
वाला है ।

विशेषार्थ—सादि अर्थात् उत्पत्तिकालमें आदिसहित है तथापि अपर्यवसिता
यानि अवसान-अन्तसे रहित होनेसे अनन्त है अथवा अविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा इनकी
उत्कृष्टअनन्तानन्तप्रमाण संख्या है अतः अनन्त कहते हैं ।

किस कर्मके नाशसे कौनसा गुण होता है, सो आगे कहते हैं—

आवरणदुगाण खये केवलणाणं च दंसणं होदि ।

विरियंतरायियस्स य खएण विरियं हवे णांतं ॥२२०॥६११॥

अर्थ—दोनों आवरणोंके क्षयसे केवलज्ञान व केवलदर्शन तथा वीर्यान्तराय-
कर्मके क्षयसे अनन्तवीर्य होता है ।

विशेषार्थ—ज्ञानावरण व दर्शनावरण इन दोनोंके नाशसे केवलज्ञान और केवलदर्शन होता है । इनमें केवलज्ञान तो इन्द्रिय, मन व प्रकाशादिकी सहायतारहित है इसलिए केवल है । परमाणु आदि सूक्ष्म हैं अतीत-अनागतकालसम्बन्धी अन्तरित अर्थात् द्रव्य अनादि-अनन्त है, अतीतमें भी था और अनागतमें भी रहेगा अतः द्रव्यको जाननेसे अतीत व अनागतका जानना हो जाता है तथा दूरवर्ती क्षेत्रमें स्थित 'दूर' कहलाता है । इन सूक्ष्म, अन्तरित व दूरवर्ती सर्वपदार्थोंको केवलज्ञान युगपत् जानता है एवं केवलदर्शन देखता है । जैसे चन्द्रमें शीतस्पर्श व श्वेतवर्णता युगपत् है वैसे जितेन्द्र-भगवान्में केवलज्ञान व केवलदर्शन युगपत् प्रवर्तता है छद्मस्थजीवके समान कमवर्ती नहीं है । वीर्यान्तरायकर्मके क्षयसे अप्रतिहत सामर्थ्यवाला अनन्तवीर्य होता है जिसके सद्भावमें समस्तज्ञेयोंको सदाकाल जानते हुए भी खेद उत्पन्न नहीं होता । अनन्तवीर्यके बलाधान विना निरन्तर अवस्थित उपयोगकी वृत्ति नहीं हो सकती । अनन्तवीर्यकी सामर्थ्यविना अनवस्थित उपयोगका प्रसंग आ जावेगा^१ ।

एवणोकसायविग्घचउक्काणं च य खयादणंतसुहं ।

अणुवममव्वावाहं अप्पसमुत्थं णिरावेक्खं ॥२२१॥६१२॥

अर्थ—नवनोकषाय और दानादि अन्तरायचतुष्कके क्षयसे अनन्तसुख होता है और वह सुख अनुपम, अव्याबाध, अन्यकी अपेक्षासे रहित आत्मासे उत्पन्न है ।

विशेषार्थ—नव नोकषाय और दानादि अन्तरायचतुष्कके क्षयसे होनेवाला अनन्तसुख अनुपम है, क्योंकि अन्यत्र ऐसा सुख नहीं पाया जाता है, किसीके द्वारा बाधित नहीं है अतः अव्याबाध है, आत्मासे उत्पन्न होनेसे आत्मसमुत्थ है तथा इन्द्रिय-विषय, प्रकाशादिकी अपेक्षासे रहित है इसलिए निरापेक्ष है । इसप्रकार ज्ञान-वैराग्यकी उत्कृष्टताको प्राप्त हुआ अनाकुललक्षण अनन्तसुख केवलीके पाया जाता है^२ ।

१. "तव वीर्यविघ्नविलपेन समभवदनन्तवीर्यता । तत्र सकलभुवनाधिगमप्रभृति स्वशक्तिभिरवस्थितो भवानिति ॥१४२॥" [जयधवल मूल पृष्ठ २२६६]

२. "वीतरागहेतुप्रभवं न चेतुःखं न नाम किञ्चित्तदिति स्थितावयम् । स चेन्निमित्तं स्फुटमेव नास्ति तत् त्वदन्यतस्सत्त्वयियेन केवलम् ॥१४४॥ [जयधवल मूल पृष्ठ २२७०]

सत्तरहं पयडीणं खयादु खइयं तु होदि सम्मत्तं ।

वरचरणं उवसमदो खयदो दु चरित्तमोहस्स ॥२२२॥६१३॥

अर्थ—सातप्रकृतियोंके क्षयसे क्षायिकसम्यक्त्व तथा चारित्रमोहनीयकर्मके क्षयसे या उपशमसे उत्कृष्ट-यथाख्यातचारित्र होता है ।

विशेषार्थ—अनन्तानुबन्धी चारकषाय व तीन दर्शनमोह (मिथ्यात्व, सम्यग्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व) इन ७ प्रकृतियोंके क्षयसे तत्त्वोंका यथार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व होता है सो क्षायिक सम्यक्त्व है । चारित्रमोहनीयकर्मकी २१ प्रकृतियोंके उपशम या क्षयसे उत्कृष्टचारित्र (यथाख्यातचारित्र) होता है जो निष्कषाय आत्माचरणरूप है । यद्यपि यहां क्षायिक यथाख्यातचारित्रका प्रकरण है तथापि उपशान्तकषायगुणस्थानमें भी यथाख्यातचारित्रका प्रसंग होनेसे उपशमयथाख्यातचारित्रको भी कह दिया है ।

केवली भगवान्के असातावेदनीयकर्मके उदयसे क्षुधादि परीषह पाये जाते हैं अतः उनके भी आहारादिक्रिया होती है इसप्रकारकी शंका होनेपर उसके परिहार स्वरूप गाथा कहते हैं ।

जं णोकसायविग्घचउक्काण बलेण दुक्खपहुदीणं ।

असुहपयडिणुदयभवं इंदियखेदं हवे दुक्खं ॥२२३॥६१४॥

अर्थ—नोकषाय और अन्तरायचतुष्कके उदयके बलसे दुःखरूप असाता-वेदनीयादि अशुभप्रकृतियोंके उदयसे उत्पन्न इन्द्रियोंके खेदरूप आकुलताका नाम दुःख है और वह दुःख केवलीभगवानके नहीं पाया जाता है ।

जं णोकसाय विग्घं चउक्काण बलेण साद पहुदीणं ।

सुहपयडीणुदयभवं इंदियतोसं हवे सोक्खं ॥२२४॥६१५॥

अर्थ—नोकषाय और अन्तरायचतुष्कके उदयके बलसे सातावेदनीयादि शुभ-प्रकृतियोंके उदयसे उत्पन्न इन्द्रियोंके संतुष्टिरूप कुछ निराकुलसुख भी केवलीभगवानके नहीं पाया जाता है । क्योंकि—

१. "सपरं बाहासद्वियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं । जं इंदियलदं तं सोक्खं दुःखमेव सदा ॥७६॥" (प्रवचनसार)

एष्टा य रायदोसा इंदियणां च केवलिम्हि जदो ।

तेण दु सादासादजसुहदुक्खं एत्थि इंदियजं ॥२२५॥६१६॥

अर्थ—केवलीभगवान्‌के राग-द्वेष नष्ट हो गए हैं तथा इन्द्रियजनित ज्ञान भी नष्ट हुआ है इसलिए साता-असातावेदनीयके उदयसे उत्पन्न सुख-दुःख नहीं है ।

समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स ।

तेण असादस्सुदओ सादसरुवेण परिणमदि ॥२२६॥६१७॥

अर्थ—एकसमयप्रमाण स्थितिवाला सातावेदनीयकर्म बंधता है जो कि उदयरूप ही है इसलिए उनके (केवलीभगवान्‌के) असाताका उदय भी सातारूप होकर परिणमन करता है ।

विशेषार्थ—असातावेदनीयका वेदन करनेवाले जिनदेव आमय और तृष्णासे रहित कैसे हो सकते हैं, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि असातावेदनीय वेदित होकर भी वेदित नहीं है, कारण कि अपने सहकारीकारणरूप घातियाकर्मोंका अभाव हो जानेसे उसमें दुःखको उत्पन्न करनेकी शक्ति माननेमें विरोध आता है ।

शङ्का—निर्वीज हुए प्रत्येकशरीरके समान निर्वीज हुए असातावेदनीयका उदय क्यों नहीं होता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि भिन्नजातीय कर्मोंकी समान शक्ति होनेका कोई नियम नहीं है ।

शङ्का—यदि असातावेदनीयकर्म निष्फल ही है तो वहां उसका उदय है, ऐसा क्यों कहा जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि भूतपूर्व नयकी अपेक्षासे वैसा कहा जाता है । दूसरी बात यह है कि सहकारीकारणरूप घातियाकर्मोंका अभाव होनेसे ही शेषकर्मोंके समान असातावेदनीयकर्म न केवल निर्वीजभावको प्राप्त हुआ है, किन्तु उदयस्वरूप सातावेदनीयका बन्ध होनेसे और उदयागत उत्कृष्टअनुभागायुक्त सातावेदनीयरूप सहकारीकारण होनेसे उसका उदय भी प्रतिहत हो जाता है । यदि कहा जाय कि बन्धके उदयस्वरूप

रहते हुए सातावेदनीयकर्मकी गोपुच्छ स्तुविकसंक्रमणद्वारा असातावेदनीयकी प्राप्त होती होगी, सो बात भी नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध आता है ।

शङ्का—यदि यहाँ स्तुविकसंक्रमणका अभाव मानते हैं तो साता और असाता-वेदनीयकी सत्त्वव्युच्छित्ति अयोगी गुणस्थानके अन्तिमसमयमें होनेका प्रसंग आता है ।

समाधान—नहीं, क्योंकि सातावेदनीयकी बन्धव्युच्छित्ति हो जानेपर अयोगी-गुणस्थानमें सातावेदनीयके उदयका कोई नियम नहीं है ।

शङ्का—इसप्रकार तो सातावेदनीयका उदयकाल अन्तर्मुहूर्त विनष्ट होकर कुछकम पूर्वकोटिप्रमाण प्राप्त होता है ।

समाधान—नहीं, क्योंकि सयोगकेवल गुणस्थानको छोड़कर अन्यत्र उदय-कालका अन्तर्मुहूर्तप्रमाण नियम ही स्वीकार किया गया है^१ ।

गाथा २१६ से २२६ सम्बन्धी विशेषकथन :—

घातियाकर्मोंके क्षय होजाने के अनन्तरसमयमें अष्टबीजके समान चारों अघातियाकर्म शक्तिरहित हो जानेसे युगपत् उत्पन्न होवेवाले अवन्तकेवलज्ञान-दर्शन व वीर्यसे युक्त, स्वयंभूषणको आत्मसात् करके जिन, केवली, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाते हैं उन्हीं भगवान् अर्हन्तपरमेष्ठीको सयोगोजिन भी कहते हैं, क्योंकि उस अवस्थामें ईर्यापथबन्धका हेतुभूत तथा वचन और कायके परिस्पन्दलक्षणस्वरूप योगविशेषका सद्भाव होता है । केवलज्ञानादिका स्वरूप कहते हैं—केवलका अर्थ असहाय है, जिसमें इन्द्रिय, प्रकाश और मनकी अपेक्षा नहीं हो वह असहाय है । जो ज्ञान केवल (असहाय) हो वह केवलज्ञान है । केवलज्ञान अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्टपदार्थोंको जानता है, करण (इन्द्रिय) क्रम और व्यवधानसे रहित है, ज्ञानावरणकर्मका पूर्णरूपसे क्षय हो जानेपर उत्पन्न हुआ है, उस प्रकाशसे बढ़कर अन्य कोई प्रकाश नहीं है और उससे अधिक कोई अतिशय नहीं, ऐसा वह केवलज्ञान है । उस केवलज्ञानका जो आनन्त्यविशेषण दिया गया है वह केवलज्ञान अविनश्वरताको बतलाता है । क्षायिक-भाव केवलज्ञानके सादि-अपर्यवसित अवस्थानको प्रगट करता है । जैसे घटका प्रध्वंसाभाव सादि-अपर्यवसित है उसीप्रकार केवलज्ञान भी क्षायिक होनेसे सादि-अपर्यवसित है ।

सर्वद्रव्य और उनकी पर्यायोंको विषय करनेवाला केवलज्ञान है, इससे यह बतलाया गया है कि केवलज्ञान परमोत्कृष्टअनन्तपरिणामवाला है । प्रमेय आनन्त्य (अविनश्वर) हैं अतः उनके जाननेवाली ज्ञानशक्तिके भी आनन्त्यपना सिद्ध हो जाता है । प्रतिषेधका अभाव होनेसे केवलज्ञान उपचारमात्रसे आनन्त्य नहीं है, किन्तु परमार्थसे आनन्त्य है । समस्त ज्ञेयराशिसे केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं, यह आगमसे भलेप्रकार जाना जाता है । कहा भी है कि “जो नाशवान नहीं है वह द्रव्य है अतः इसके आनन्त्य अनुपचरित है” ऐसा निश्चय करना चाहिए । कहा है—

केवलज्ञान क्षायिक है, एक है, अनन्त है, भूत-भविष्यत और वर्तमान, इन तीनों कालोंमें सर्व अर्थ (जैयों) को युगपत् जानता है, अतिशयातीत है, अन्त्यातीत है, अच्युत है, व्यवधानसे रहित है^१ ।

इसीप्रकार केवलदर्शनका व्याख्यान करना चाहिए । दर्शनावरणका अत्यन्त-रूपसे पूर्ण क्षय होनेपर प्रगट होनेवाला दर्शनोपयोग अशेष (समस्त) पदार्थोंका अवलोकन जिसका स्वभाव है, उसको भी आनन्त्य विशेषण प्राप्त है और वह केवलदर्शन कहा जाता है । प्रतिबन्धकी अनुपलब्धि मात्रसे ही उसके आनन्त्य नहीं मानना चाहिए, किन्तु अविनाशी होनेसे आनन्त्य है ।

शङ्का—सकल कैवल्य अवस्थामें ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगमें कोई भेद नहीं है, क्योंकि अशेष पदार्थोंको साक्षात् करना दोनोंका स्वभाव होनेके कारण दोनोंका विषय एक होनेसे दोनोंके विषयमें कोई भेद नहीं है इसलिए एकसे ही समस्त पदार्थोंका जानना हो जावेगा दूसरा व्यर्थ है फिर दोनों उपयोगोंका कथन क्यों किया गया ?

समाधान—असंकीर्णस्वरूपसे केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दोनोंका विषय विभाग अर्थात् विषयभेद असकृत देखा जाता है अतः कैवल्यअवस्थामें सकल विमल केवलज्ञानके समान अकलंक केवलदर्शनका भी अस्तित्व है यह सिद्ध हो जाता है, अन्यथा आगमविरोधरूप दोषका परिहार नहीं हो सकेगा ।

१. क्षायिकमेकमनन्तं त्रिकालसर्वार्थं युगपदवभासि । निरतिशयमनन्त्यमच्युतमव्यवधानं च केवल-ज्ञानम् ॥” (जयधवल मूल पृष्ठ २२६६)

केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों प्रकाश एक हैं ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि बाह्यपदार्थको विषय करनेवाला साकारोपयोग अर्थात् जानोपयोग है और अन्तरङ्गपदार्थको विषय करनेवाला अनाकारोपयोग अर्थात् दर्शनोपयोग है^१ । "अंतरंग-विसयस्स उवजोगस्स दंसणत्तब्भुवगमादो । तं कथं णव्वदे ? अणायारत्तप्पणाणु-धवत्तीदो^२ ।" अर्थात् अन्तरङ्गपदार्थको विषय करनेवाले उपयोगको दर्शन स्वीकार किया है । यदि दर्शनोपयोगका विषय अन्तरङ्ग पदार्थ न माना जाय तो वह अनाकार नहीं बन सकता । इसप्रकार विषयभेद होनेसे दोनों उपयोगोंका कार्य भिन्न-भिन्न है अतः कोई भी उपयोग व्यर्थ नहीं है ।

यदि दर्शनका सद्भाव न माना जावे तो दर्शनावरणकर्मके बिना सात ही कर्म होंगे, क्योंकि आवरण करनेयोग्य दर्शनका अभाव माननेपर उसके आवरणका सद्भाव माननेमें विरोध आता है^३ । दर्शन है, क्योंकि सूत्रमें आठकर्मोंका निर्देश किया गया है । यह भी नहीं कह सकते कि दर्शनावरणका निर्देश केवल उपचारसे किया गया है, क्योंकि मुख्य वस्तुके अभावमें उपचारकी उत्पत्ति नहीं बनती^४ ।

वीर्यान्तरायकर्मका निमूँल क्षय हो जानेसे अनन्तवीर्यकी उत्पत्ति होती है जो परिश्रमसे उत्पन्न होनेवाली थकावटका विरोधी है तथा अप्रतिहतसामर्थ्यवाला है, अन्तराय-रहित है वह अनन्तवीर्य कहा जाता है । भगवान् अशेष (समस्त) पदार्थोंको विषय करनेवाले ध्रुवउपयोगरूप परिणामवाले हैं अर्थात् भगवान् निरन्तर ध्रुवरूपसे समस्त पदार्थोंको जानते हैं तथापि उनको खेद नहीं होता यह अनन्तवीर्यका उपग्रह (उपकार) है और यही उसकी उपयोगिता है । उस अनन्तवीर्यके बलाघानबिना सान्त्वितिक उप-योगकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अन्यथा हम जैसे छद्मस्थोंके उपयोगके समान उस उप-योग (केवलीके उपयोग) की सामर्थ्यका विरह (अभाव) होनेसे अनवस्थाका प्रसंग आ जायेगा । कहा भी है—

१. जयधवल पु० १ पृष्ठ ३५८ ।

२. जयधवल पु० १ पृष्ठ ३३७ ।

३. जयधवल पु० १ पृष्ठ ३५८-५९ ।

४. धवल पु० ७ पृष्ठ ६८ ।

“तव वीर्यविघ्नविलयेन समभवदनन्तवीर्यता ।

तत्र सकल भुवनाधिगमप्रभृति स्वशक्तिभिरवस्थितो भवानिति’ ॥”

हे भगवन् ! आपके वीर्यान्तराय कर्मका विलय हो जानेसे अनन्तवीर्य हो गया है । अपने वीर्यके द्वारा समस्तभुवनको जानने आदिरूप प्रवृत्तिमें अवस्थित हैं अर्थात् आपका उपयोग किंचित् भी चलायमान नहीं होता । इसके द्वारा केवलीके आत्यन्तिक सुखका व्याख्यान हो जाता है, क्योंकि अनन्तज्ञान-दर्शन-वीर्य उपवृंहित सामर्थ्यवाले, वीरमोहस्वरूप, ज्ञान और वैराग्यकी अतिशय पराकाष्ठापर आरुढ़, परमनिर्वाण, लक्षण-वाले, सुखकी आत्यन्तिक (अविनाशी) रूपसे उपलब्धि होती है । अतिशय ज्ञान व वैराग्यसे उत्पन्न वीतरागसुखसे अन्य किंचित् सुख नहीं । सरागसुख तो एकान्ततः दुःख ही है । कह. ली. है—

“सपरं बाहासहियं विच्छिन्नं बंधकारणं विसमं ।

जं इदिएहि लद्धं तं सोकखं दुक्खमेव सदा ॥”

विरागहेतु प्रभवं न चेत्सुखं न नाम किञ्चित्तदिति स्थितावयमू ।

स चेन्निमत्तं स्फुटमेव वास्ति तत् त्वदन्यतस्सत्त्वयि येन केवलम् ॥”

जो सुख पांचों इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त होता है वह परद्रव्योंकी अपेक्षासे होता है इन्कारण पराधीन है, क्षुधा-तृषा आदि अनेक रोगोंके कारण बाधासहित है, असाता-वेदनीयकर्मोदयके कारण नाशवान तथा अन्तरसहित है, देखे-सुने व अनुभव किये हुए भोगोंकी इच्छादि अनेक दुष्परिणामोंसे नरकगति आदि अशुभकर्म बन्धते हैं जिनका उदय होनेपर नरकादि गतियोंमें जाकर नानाप्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं, हानिवृद्धि होनेसे एकसा नहीं रहता अतः विषम है इन पांच कारणोंसे यह सांसारिकसुख दुःख-रूप ही है ।

“विरागहेतुसे उत्पन्न हुआ सुख यदि सुख नहीं है तो निश्चयसे कोई सुख है ही नहीं, ऐसा हमें निश्चय हो गया है, विराग हेतु निमित्त है यह स्पष्ट है । आपसे अर्थात् केवलीसे अन्यमें वह हेतु नहीं है, क्योंकि वह हेतु केवल आपमें ही है ।” इसलिए

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२६६ ।

२. प्रवचनसार गाथा ७६ ।

जिस सुखमें अनन्तज्ञान-दर्शन-वीर्य-चारित्र्य प्रधान हैं जो अनुपरतवृत्ति अर्थात् विच्छिन्न नहीं होता, निरतिशय अर्थात् उस सुखसे बढ़कर कोई अतिशय नहीं है, आत्मासे उत्पन्न होता है, ऐसा अनन्तसुख अतीन्द्रिय और निष्प्रतिद्वन्द्व (विरोधरहित) है ।

किसी वादीको यह दृढ़निश्चय है कि सयोगकेवलीके असातावेदनीयका उदय होनेसे अनन्तसुखका अभाव और यह बात उल्लघन भी नहीं की जा सकती, क्योंकि सयोगकेवलीके कवलाहारवृत्ति पाई जाती है । इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि सयोगकेवलीके असातावेदनीयके उदयमें सहकारीकारणका अभाव होनेसे वह (उदय) अकिञ्चित्कर (व्यर्थ) है । जैसे सहकारीकारणके अभावमें परघातका उदय अकिञ्चित्कर है । अतः अनन्तज्ञान-दर्शन-वीर्य-चारित्र्य व सुख परिणामी होनेसे सयोगकेवली कवलाहार (भोजन) नहीं करते, जैसे सिद्ध परमेष्ठी अनन्तज्ञान-दर्शन-वीर्य-चारित्र्य व सुख-परिणामि होनेसे कवलाहार नहीं करते, क्योंकि सयोगकेवली और सिद्धपरमेष्ठी इन दोनोंके समस्त अन्तरायकर्मका पूर्णरूपसे क्षय हो जानेके कारण अनन्तवीर्यके द्वारा उपलब्ध अनन्तदान-लाभ-भोग व उपभोगलब्धिमें कोई विशेषता नहीं है । सयोगकेवलीके स्वरूपका निरूपण करनेवाली निम्नलिखित दो गाथाएँ हैं—

“केवलभाणदिवायरकिरणकलापप्पणासियणाणो ।

णवकेवललद्धुगमसुजणिय परमप्पववएसो ॥

असहायणाणदंसण सहिओ इदि केवली हू जोएण ।

जुत्तो त्ति सजोगो इदि अणाइ-णिहणारिसे उत्तो’ ॥”

केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंके समूहसे अज्ञानरूपी अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है और जिसने नवकेवललब्धियोंके प्रगट होनेसे ‘परमात्मा’ इस संज्ञाको प्राप्त कर लिया है, वह इन्द्रियादिकी अपेक्षा न रखनेवाले असहायज्ञान व दर्शनसे युक्त होनेके कारण केवली, तीनों योगोंसे युक्त होनेके कारण सयोगी और घातियाकर्मोंको जीत लेने अर्थात् क्षय कर देनेसे जिन कहे जाते हैं ऐसा अनादिनिघन आर्षमें कहा गया है^१ ।

१. धवल पु० १ पृष्ठ १६१-६२ ।

२. जयधवल मूल पृष्ठ २२७० ।

भगवत् अहंस्परमेष्ठी स्वयं पदार्थज्ञानमें स्थित है, तथापि परार्थप्रवृत्ति स्वभावसे^१ निकटभव्योंके हितके लिए धर्माभ्युदयकी वृष्टि करते हुए अबुद्धिपूर्वक सर्वप्राणियोंके उद्धारकी भावनाके अतिशयसे प्रेरित होकर^२ भव्यजनोंके पुण्यके कारण तथा शेष कर्म-फलके सम्बन्धसे बिहार करते हैं। प्रतिसमय कर्मप्रदेशोंकी असंख्यातगुणश्रेणीनिर्जरा करते हुए धर्मतोष प्रवर्तनके लिए यथोचित धर्मक्षेत्रमें अतिशयीविभूतिके साथ प्रशस्त-विहायोगति नामकर्मके कारण तथा स्वभावसे बिहार करते हैं^३।

शङ्का—अहंभगवान्का व्यापार अर्थात् अतिशयबिहार अभिसन्धिपूर्वक (हरादेसे) हाता है, अन्यथा यत्किञ्चनकरित्व (यद्वा-तद्वा कुछ भी किये जानेपर) के दोष (अनुषङ्गनात्) का प्रसंग आ जावेगा। यदि अभिसंधि पूर्वक माना जाता है तो इच्छा होनेसे असर्वज्ञ हो जावेंगे जो इष्ट नहीं है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि कल्पतरुके समान इच्छाके बिना भी केवली के परार्थको सामर्थ्य उत्पन्न होता है अथवा दीपकके समान। जैसे दीपक कृपालु होकर स्व और परके अन्धकारको दूर नहीं करता, किन्तु स्वभावसे ही स्वपरसम्बन्धी अन्धकारको दूर करता है इसमें कुछ भी बाधा नहीं आती है। कहा भी है—

“जगते त्वया हितमवादि न च विवदिषा जगद्गुरो ।
कल्पतरुरभिसन्धिरपि प्रणयिभ्य ईप्सितफलानि यच्छति ॥
“कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तत्र मुनेश्चकीर्षया ।
नासमोक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर ! तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥
विवक्षासन्निधानेऽपि वाग्वृत्तिर्जातु नेक्ष्यते ।
वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥”

“हे जगद्गुरो ! आपके द्वारा जगत्का कल्याण विवादका विषय नहीं है, क्योंकि इच्छा रखनेवाले प्राणियोंके लिए कल्पवृक्ष बिना इच्छाके ही वाञ्छितफलोंको

१. “परार्थप्रवृत्तिस्वभाव्यात्” (जयधवल मूल पृष्ठ २२७१)

२. “अबुद्धिपूर्वमेव सर्वसत्त्वाभ्युद्धारभावनातिशय प्रेरितः” (ज. घ. मूल पृष्ठ २२७१)

३. प्रवचनसारगाथा ४४-४५ ।

४. स्वयंभूस्तोत्र श्लोक ७४ ।

देता है । हे मुनीश ! आपकी मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियाँ इच्छापूर्वक नहीं होती, हे घोर ! असमीक्षापूर्वक (बिनाविचारे) आपकी प्रवृत्तियाँ नहीं होती इसलिए आपकी प्रवृत्ति अचिन्त्य है । कहनेकी इच्छा होनेपर भी वचनप्रवृत्ति कदाचित् नहीं देखी जाती, जैसे मन्दबुद्धिलोग शास्त्रोंके वक्ता होनेकी इच्छा रखते हुए भी मन्दबुद्धिके कारण कुछ कह नहीं सकता ।" इसलिए परमोपेक्षासंयमविशुद्धिमें स्थित केवलीके विशेष अतिशय व्याहार (दिव्यध्वनि) आदि व्यापार स्वाभाविक हैं, पुण्यबन्धके कारण नहीं हैं । आर्ष-में कहा भी है—

“तित्थयरस्स विहारो लोयसुहो णेव तस्स पुण्णफलो ।

वयणं च दाणपूजारंभयरं तण्ण लेवेइ^१ ॥”

भगवानका बिहाररूप अतिशय भूमिको स्पर्श न करते हुए आकाशमें भक्तिसे प्रेरित देवोंके द्वारा रचित स्वर्णमयी कमलोंपर प्रयत्न विशेषके बिना ही अपने माहात्म्यातिशयसे होता है ऐसा जानना चाहिए, क्योंकि उनके योगशक्ति अचिरव्य है । कहा भी है—

“नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारः ।

पादाम्बुजं पातितमारदर्षो भूमौ प्रजानां विजह्यं भूत्यै^२ ॥

हे जिनेन्द्र ! कामदेवके गर्वको नष्ट करनेवाले आपने सहस्रदल कमलोंके मध्यमें चलनेवाले अपने चरणकमलोंके द्वारा आकाशतलको पल्लवोंसे युक्त जैसा करते हुए पृथ्वीपर स्थित प्रजाजनोंकी विभूतिके लिए बिहार किया था ।

सयोगिजिनके प्रथमसमयसे लेकर केवलीसमुद्रुत्रातके अभिमुख केवलीके प्रथम-समयतक अवस्थित एकरूपसे गुणश्रेणि निक्षेपका क्रम जानना चाहिए, क्योंकि प्रतिसमय परिणाम अवस्थित हैं और परिणामोंके निमित्तसे होनेवाला कर्मप्रदेशोंका अपकर्षण व गुणश्रेणिनिक्षेपका आयाम सदृश अर्थात् अवस्थितरूपको छोड़कर विसदृशरूप परिणामन नहीं करता यानि अपकर्षित कर्मप्रदेशोंकी संख्यामें या गुणश्रेणिआयाममें हीनाधिकता नहीं होती, किन्तु क्षीणकषायगुणस्थानमें गुणश्रेणिके निमित्तसे जो द्रव्य अपकर्षित किया

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२७१ ।

२. स्वयंभूस्तोत्र प्लोक ३० ।

जाता था उससे असंख्यातगुणा द्रव्य सयोगकेवली अपकर्षित करते हैं । गुणश्रेणिनिक्षेप-
का आयाम संख्यातगुणा हीन है, क्योंकि छद्मस्थके परिणामोसे केवलीके परिणाम विशुद्ध-
तर है, ऐसा ११वीं गुणश्रेणिप्ररूपणामें कहा गया है । इसप्रकार आयुर्कर्मको छोड़कर
शेष तीनअध्यातिया कर्मोंके प्रदेशोंकी असंख्यातगुणश्रेणिनिजंरा करनेवाले तथा धर्मतीर्थको
फैलानेवाले उत्कृष्टरूपसे कुछकम पूर्वकोटि कालतक बिहार करते हैं । तीर्थङ्करकेवलीके
और अन्य केवलियोंके अधन्यकालका उत्कृष्टकालप्रमाण आगमसे जान लेना चाहिए ।
तीर्थङ्करकेवली समवशरणविभूतिके साथ बिहार करते हैं^१ ।

पडिसमयं दिव्वतमं जोगी णोकम्मदेहपडिबद्धं ।

समयपबद्धं बंधादि गलिदवसेसाउमेत्तठिदी ॥२२७॥६१८॥

अर्थ—सयोगिजिन प्रतिसमय औदारिकशरीररूप नोकर्मसम्बन्धी आहार-
वर्गणारूप समयप्रबद्धको बांधते हैं जिसकी स्थिति सयोगिजिनसे पूर्व अवस्थामें व्यतीत
हुई आयुके बिना शेष बची आयुप्रमाण जानना ।

विशेषार्थ—नोकर्मवर्गणा ग्रहणकरना ही आहारमार्गणा है और इसका सद्-
भाव केवलीभगवान्के है, क्योंकि जोज, जेर, मानसिक, कदल, कर्म और नोकर्मके भेद-
से छहप्रकारका आहार है । इन छहप्रकारके आहारमें से कर्म व नोकर्मरूप दोप्रकारका
आहार पाया जाता है । सातावेदनीयके समयप्रबद्धको ग्रहण करता है वह कर्मआहार
है तथा औदारिकशरीररूप समयप्रबद्धको ग्रहण करता है वह नोकर्म आहार है ।

एवरि समुग्घादगदे पदरे तह लोगपूरणे पदरे ।

एत्थितिसमये णियमा णोकम्माहारयं तत्थ ॥२२८॥६१९॥

अर्थ—इतनी विशेषता है कि केवलीसमुद्घातको प्राप्त केवलीभगवान्में प्रतरके
दो, लोकपूरणके एक इन तीनसमयोंमें नोकर्मका आहार नहीं है अन्यसर्वकालमें नोकर्म-
का आहार पाया जाता है ।

अथानन्तर पश्चिमस्कंधद्वारका कथन करते हैं—

अंतोमुहुत्तमाऊ परिसेसे केवली समुग्घादं ।

दंड कवाटं पदरं लोगस्स य पूरणं कुणदी ॥२२९॥६२०॥

हेट्टा दंडस्संतोमुहुत्तमावज्जिदं हवे करणं ।
 तं च समुग्वादस्स य अहिमुहभावो जिणिदस्स ॥२३०॥६२१॥
 सट्ठाणे आवज्जिदकरणेवि य णत्थि ठिदिरसाण हदी ।
 उदयादि अवट्ठिदया गुणसेढी तस्स दब्बं च ॥२३१॥६२२॥
 जोगिस्स सेसकाले गयजोगी तस्स संखभागो य ।
 जावदियं तावदिया आवज्जिदकरणगुणसेढी ॥२३२॥६२३॥
 ठिदिखंडमसंखेउजे भागे रसखंडमप्पसत्थाणं ।
 हणदि अणंता भागा दंडादी चउसु समएसु ॥२३३॥६२४॥
 चउसमएसु रसस्स य अणुसमओवट्ठणा असत्थाणं ।
 ठिदिखंडस्सिगिसमयिगवादो अंतोमुहुत्तुवरिं ॥२३४॥६२५॥
 जगपूरणमिह एकका जोगस्स य वग्गणा ठिदी तत्थ ।
 अंतोमुहुत्तमेत्ता संखगुणा आउआ होदि ॥२३५॥६२६॥
 एत्तो पदर कवाडं दंडं पच्चा चउत्थसमयमिह ।
 पाविसिय देहं तु जिणो जोगणिरोधं करेदीदि ॥२३६॥कुल्लयं॥६२७॥

अर्थ—अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयु शेष रहनेपर केवलीभगवान् समुद्घातक्रिया दंड, कपाट, प्रतर व लोकपूरणरूपसे करते हैं । दंडसमुद्घात करनेके समयमें अन्तर्मुहूर्तकाल-तक अधः (पहले) आवर्जितकरण होता है । जिनेन्द्रभगवानका समुद्घात करनेके सम्मुख होना ही आवर्जितकरण कहलाता है । आवर्जितकरणकरनेके पहले जो स्वस्थान है उसमें और आवर्जितकरणमें सयोगकेवलीके स्थिति व अनुभागघात नहीं है तथा उदयादि अवस्थितरूप गुणश्रेणि आयाम है एवं उस गुणश्रेणिआयामका द्रव्य भी अवस्थित है । आवर्जितकरण करनेके पहले समयमें जो सयोगकेवलीका अवशिष्टकाल और अयोग-केवलीके सर्वकालका संख्यातवांभाग इन दोनोंको मिलानेपर जितना प्रमाण आवे उतने प्रमाण आवर्जितकरणकालका अवस्थितगुणश्रेणिआयाम जानना । दंडादिसमुद्घातके चारसन्धियोंमें स्थिति तो असंख्यातबहुभ गप्रमाण और अप्रशस्तकर्मोंका अनुभागका अन्त-

बहुभागप्रमाण घात होता है । इसप्रकार चारसमयोंमें अप्रशस्तप्रकृतियोंके अनुभागका प्रतिसमय अपवर्तन तथा स्थितिकण्डका एकसमयवाला घात हुआ । एक-एकसमयमें जो एक-एकस्थितिकाण्डकघात किया सो यह समुद्रघात क्रियाका माहात्म्य है । लोकपूरणके अनन्तर अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितिकाण्डक या अनुभागकाण्डकका आयाम (उत्कीर्णकाल) होता है । लोकपूरण समुद्रघातमें योगकी समानता हो जानेपर योगकी एकवर्गणा हो जाती है । यहाँ आयुसे संख्यातगुणी अन्तर्मुहूर्तप्रमाणस्थितिको स्थापित करता है । लोकपूरणके अनन्तर प्रथमसमयमें लोकपूरणको समेटकर आत्मप्रदेशोंको कपाटरूप करता है तथा तृतीयसमयमें कपाटको समेटकर दण्डरूप आत्मप्रदेशोंको करता है, इसके अनन्तर चतुर्थसमयमें दण्डको समेटकर सर्वआत्मप्रदेश मूलशरीरमें प्रवेश कर जाते हैं । यहांसे अन्तर्मुहूर्त जाकर जिन (अर्हन्तभगवान्) योगका निरोध करते हैं ।

विशेषार्थ—केवलज्ञानको उत्पन्नकरके स्वस्थान सयोगकेवली होकर उत्कृष्टसे कुछकम पूर्वकोटिप्रमाण विहार करते हैं । अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयु शेष रहनेपर अघातिया-कर्मोंकी स्थितिको समान करनेके लिए सर्वप्रथम आवर्जितनामक क्रियान्तरको करता है ।

शङ्का—आवर्जितकरण किसे कहते हैं ?

समाधान—केवलीसमुद्रघातके अभिमुखभावको आवर्जितकरण कहते हैं । केवली आवर्जितकरणका पालन करते हैं, क्योंकि अन्तर्मुहूर्तप्रमाणवाले आवर्जितकरणके बिना केवलीसमुद्रघातक्रियाके अभिमुखभावकी उत्पत्ति नहीं होती । उससमय नाम-गोत्र व वेदनीयकर्मके प्रदेशपिण्डका अपकर्षणकरके उदयस्थितिमें स्तोकप्रदेशाग्र देता है उसके अनन्तर असंख्यातगुण प्रदेशाग्रको देता है । इसप्रकार शेष सयोगकेवली व अयोग-केवलीकालसे विशेषअधिककालतक असंख्यातगुणी श्रेणिरूपसे देता जाता है जबतक अपना गुणश्रेणिशीर्ष प्राप्त नहीं होता । इससे पूर्वसमयमें स्वस्थानसयोगकेवलीके गुण-श्रेणिआयामसे वर्तमानगुणश्रेणिआयाम संख्यातगुणाहीन है अतः पूर्वके गुणश्रेणिशीर्षसे उपरिम अनन्तरस्थितिमें भी असंख्यातगुणे प्रदेशाग्र देता है उससे ऊपर सर्वत्र विशेष (चय) हीन देता है । इसप्रकार आवर्जितकरणकालमें सर्वत्र गुणश्रेणिनिक्षेप जानना । यहांसे लेकर सयोगकेवलीके द्विचरम स्थितिकाण्डककी चरमफालिपर्यन्त गुणश्रेणिनिक्षेपा-यामका अवस्थितआयामरूपसे प्रवृत्तिका नियम देखा जाता है; यह असिद्ध भी नहीं क्योंकि सूत्रअविरुद्ध परमगुरुसम्पदाके बलसे सुपरितिश्चित है ।

शङ्का—स्वस्थानकेवलीके और क्रियाभिमुखकेवलीके अवस्थित एकस्वरूप परिणाम होते हुए भी गुणश्रेणिनिक्षेपमें विसदृशपना किसकारणसे है ?

समाधान—वीर्यपरिणामोंमें भेदका अभाव होनेपर भी अन्तर्मुहूर्त शेष रह जानेकी अपेक्षा अन्तरंगपरिणामोंकी विशेषतावाले और क्रियाभेदके साधनमें प्रवर्तने-वालेके प्रतिबन्धका अभाव है^१ । अर्थात् स्वस्थानकेवलीसे आवर्जितकरण केवलीके गुण-श्रेणिआयाम व गुणश्रेणिप्रदेशनिक्षेप समान होना चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है । इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकालतक आवर्जितकरणसम्बन्धी व्यापारविशेषका पालनकरके स्थितकेवली अनन्तर समयमें केवलीसमुद्घातको करता है ।

शंका—केवलीसमुद्घात किसे कहते हैं ?

समाधान—“उद्गमनमुद्घातः, जीवप्रदेशानां विसर्पणमित्यर्थः । समीचीन उद्घातः समुद्घातः, केवलानां समुद्घातः केवलीसमुद्घातः”^२ उद्गमको उद्घात कहते हैं अर्थात् जीवप्रदेशोंका फैलना उद्घात है, समीचीन उद्घात समुद्घात है । केवलियोंका समुद्घात केवलीसमुद्घात है । अधातियाकर्मोंकी स्थितिका समीकरण करनेके लिए केवलोजिनके आत्मप्रदेशोंका आगमअविरुद्धसे ऊपर, नीचे व तिर्यकरूपसे फैलनेको केवलीसमुद्घात कहते हैं । अन्य समस्त समुद्घातोंका निषेध करनेके लिये यहांपर केवली विशेषण दिया गया है, क्योंकि यहां अन्यसमुद्घातोंका अधिकार नहीं है । दण्ड, कपाट, प्रतर व लोकपूरणके भेदसे वह केवलीसमुद्घात चारप्रकारका है । उनमें सर्वप्रथम दंडसमुद्घातका स्वरूप कहते हैं, केवलोजिन सर्वप्रथम दंडसमुद्घातको ही करते हैं ।

शंका—दण्डसमुद्घातका क्या लक्षण है ?

समाधान—अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयु शेष रह जानेपर केवलीसमुद्घातको करने-वाले केवलोजिन पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होकर कायोत्सर्ग या पत्यंकासनमें स्थित

१. षेदमेत्यासंकण्डर्जं, सस्थानकेवलियो किरियाहिमूहकेवलियो च अवद्विदेगसरूपपरिणामत्ते संते कुदो एवमेत्युद् से गुणसेद्विगिक्सेवस्स विसग्गिभावो जादोत्ति । किं कारणं ? वीयरायपरिणामभेदाभावे वि अंतोमुहूर्तसेसाउसव्वपेक्खणमंतरंगपरिणामविसेसाण किरियाभेदसाहणभावेण पयट्टमाणं पडिबंभाभावादो । (जयधवल मूल पृष्ठ २२७८)

२. जयधवल मूल पृष्ठ २२७८ ।

होते हैं । कायोत्सर्गसे दण्डसमुद्घात करनेवालेके विस्तारमें मूलशरीरकी परिधिप्रमाण-
वाले जीवप्रदेश निकलकर दण्डाकार कुछकम १४ राजू आयामवाले हो जाते हैं ।
'देसोरा' से अभिप्राय लोकके ऊपर और नीचे वातवलयोंसे अविरुद्धक्षेत्रका है क्योंकि
स्वभावसे ही उस अवस्थामें केवलीजिनके प्रदेशोंका वातवलयमें प्रवेशका अभाव है ।
इसीप्रकार पत्यंकासनवाले केवलियोंके दण्डसमुद्घातका कथन करना चाहिए, किन्तु
इतनी विशेषता है कि मूलशरीरकी परिधिसे दण्डसमुद्घातकी परिधि तिगुनी होती
है । इसप्रकारकी अवस्था विशेषको दण्डसमुद्घात कहते हैं । इसमें जीवप्रदेश दण्डाकार
से फैलते हैं अतः यह दण्डसमुद्घात कहलाता है । दण्डसमुद्घातमें औदारिककाययोग
होता है, क्योंकि अन्ययोग असम्भव है । उसीसमय पत्योपमके असंख्यातवैभागप्रमाण
स्थिति सत्कर्मवाले तीनअधातियाकर्मोंकी स्थितिके असंख्यातबहुभाग घात करनेसे
संख्यातवैभागप्रमाण स्थिति शेष रह जाती है । केवलीसमुद्घातके प्रभावसे एकसमयमें
ही स्थितिघात हो जाता है । अप्रशस्तप्रकृतियोंका जो अनुभाग क्षीणकषायगुणस्थानके
द्विचरमसमयमें था चरमसमयमें उसका अनन्तबहुभाग घातहोकर अनन्तवैभागप्रमाण
अनुभागसत्कर्म शेष रह जाता है, उसका भी अनन्तबहुभाग समुद्घातगत केवलीके प्रथम-
समयमें होकर अनन्तवैभागप्रमाण अनुभागसत्कर्म रह जाता है । प्रशस्तप्रकृतियोंका
स्थितिघात तो होता है, किन्तु अनुभागघात यहां नहीं होता है । आवर्जितकरणमें जैसी
गुणश्रेणिप्ररूपणा की गई थी वैसी ही प्ररूपणा यहां भी करना चाहिए । (इससे यह
सिद्ध हो जाता है कि स्वस्थानकेवलि व आवर्जितकरणकेवलिके स्थिति व अनुभागघात
सहीं होता ।)

अनन्तरसमयमें अर्थात् केवलीसमुद्घातके द्वितीयसमयमें कपाटसमुद्घात होता
है । जैसे किवाड़ (कपाट) बाह्य (मोटाई) में स्तोक होकर भी विषकम्भ और
आयाममें (लम्बाई-चौड़ाईमें) बढ़ता है उसीप्रकार विस्तारमें जीवप्रदेश मूलशरीर-
प्रमाण या मूलशरीरसे तिगुने होकर कुछकम चौदहराजू लम्बे और दोनों पार्श्वभागोंमें
सातराजू या हानि-वृद्धिरूप सातराजू चौड़े फैल जाते हैं इसलिए इसको कपाट (किवाड़)
समुद्घात कहा है । यहां स्फुट कपाटरूप संस्थान उपलब्ध होता है तथा पूर्व या उत्तर-
मुखके कारण विष्कम्भमें भेद हो जाता है । कपाटसमुद्घातमें औदारिकमिश्रकाययोग-
होता है । कार्भण और औदारिक इन दोनोंकी मिली हुई अवस्थाके अवलम्बनसे जीव-
प्रदेशोंकी परिस्पन्दरूप पर्याय उत्पन्न होती है । शेषकर्मस्थितिका असंख्यातबहुभाग

और अप्रशस्तप्रकृतियोंके शेष अनुभागके अनन्तबहुभागका घात कपाटसमुद्घातमें होता है । यहाँ गुणश्रेणीकी प्ररूपणा आवर्जितकरणमें कथित गुणश्रेणिप्ररूपणाके समान ही है ।

केवलीसमुद्घातके तृतीयसमयमें मंथ (प्रतर) समुद्घात होता है, जिसके द्वारा कर्मोंका मथन किया जावे वह मन्थ है । अघातियाकर्मोंकी स्थिति व अनुभागका हनन होता है और आत्मप्रदेशोंकी अवस्थाविशेष (प्रतररूपसे फैल जाते हैं) को प्रतरसंज्ञा-वाला मन्थ कहा गया है । इस अवस्थाविशेषमें वर्तन करनेवाले केवलीके जीवप्रदेश चारों ओर प्रतराकारसे फैल जाते हैं, घातवलयोंके अतिरिक्त शेष समस्त लोकाकाशके प्रदेशोंमें व्याप्त हो जाते हैं, क्योंकि इस अवस्थामें घातवलयोंमें केवलीके जीवप्रदेशोंके संचारका अभावस्वरूप स्वभाव है, जीवप्रदेशोंकी ऐसी अवस्थाको प्रतरसंज्ञा आगमरुद्धिके बलसे जानना । इस अवस्थामें केवली कामणकाययोगी व अनाहारक हो जाते हैं । मूल-शरीरके अवलम्बनसे उत्पन्न जीवप्रदेशोंका परिणमन असंख्य है क्योंकि शरीरके तत्प्रायोग्य नोकर्म पुद्गलपिण्डके ग्रहणका अभाव है । स्थितिसत्कर्मके असंख्यातबहुभाग और अप्रशस्तप्रकृतियोंके अनुभागसत्कर्मके अनन्तबहुभागका पूर्वके समान ही घात होता है और उसीप्रकार प्रदेश निर्जरा भी होती है । स्वस्थानकेवलीकी गुणश्रेणिनिर्जरासे असंख्यातगुणी गुणश्रेणिनिर्जरा आवर्जितकरण आदि अवस्थाओंमें होती है ।

तदनन्तर चतुर्थसमयमें लोकपूरणसमुद्घात होता है । घातवलयसे अविच्छेद लोकाकाशके प्रदेशोंमें जीवप्रदेश प्रवेशकर जानेपर जीवप्रदेश व लोकाकाशके प्रदेशोंमें समानता होनेसे सम्पूर्ण लोकाकाशमें जीवप्रदेश निरन्तर (अन्तररहित) व्याप्त हो जाते हैं इसलिए 'लोकपूरण' संज्ञावाला यह चतुर्थ केवलीसमुद्घात है । यहाँपर भी कामण-काययोग व अनाहारकअवस्था होती है, क्योंकि शरीरनिर्वृत्तिके लिए औदारिकरूप नो-कर्मवर्गणाओंका निरोध देखा जाता है । लोकपूरणसमुद्घातमें वर्तन करनेवाले केवलीके लोकप्रमाण समस्त जीवप्रदेशोंमें वृद्धि-हानिके बिना योग-अविभागप्रतिच्छेद सदृश होकर परिणमन करते हैं इसलिए सर्वजीवप्रदेशोंमें एक योगवर्गणा हो जाती है अर्थात् सर्वजीव प्रदेशोंमें समान योग होता है । सर्वजीवप्रदेशोंमें सदृशयोगशक्तिके अतिरिक्त विसदृश-योग शक्तिकी अनुपलब्धि है । सूक्ष्मनिगोदिया जीवके जघन्ययोगसे असंख्यातगुणा तत्प्रा-योग्य मध्यमयोगस्वरूप वह सदृशयोग परिणाम होता है । लोकपूरण समुद्घातमें असंख्यातबहुभागप्रमाण स्थितिका घात हो जानेपर शेषस्थिति अन्तर्मुहूर्तप्रमाण रह

जाती है जो शेषआयुसे संख्यातगुणी है । लोकपूरणसमुद्घात हो जानेपर भी तीन-अघातियाकर्मोंका स्थितिसत्कर्म आयुकर्मके समान नहीं हुआ, किन्तु संख्यातगुणा है, परन्तु महावाचक आर्यमंशु आचार्यने अपणके उपदेशमें यह कहा है कि लोकपूरणसमुद्घातमें नाम-गोत्र व वेदनोयकर्मका स्थितिसत्कर्म अन्तर्मुहूर्तप्रमाण शेषआयुके बराबर हो जाता है । इस व्याख्यानसे चूणिसूत्र (यतिवृषभाचार्यकृत) विरुद्ध है, क्योंकि चूणि-सूत्रमें मुक्तकण्ठसे कहा गया है कि शेषआयुसे संख्यातगुणी अघातियाकर्मोंकी स्थिति रह जाती है । इसप्रकार यहां दो उपदेश हैं । प्रवृत्तमान उपदेशकी प्रधानताका अवलम्बन लेकर यहां शेष आयुसे संख्यातगुणी तीन अघातियाकर्मोंकी स्थिति कहो गई है ।

समुद्घातके इन चारसमयोंमें प्रतिसमय अप्रशस्तकर्मोंके अनुभागका अपवर्तना-घात होता है । इनचार समयोंमें एक-एकसमयमें एक-एकस्थितिघात होता है । आवर्जित-करणके अनन्तर केवलीसमुद्घात करके नाम-गोत्र व वेदनोयकर्मकी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थिति शेष रह जाती है ।

शङ्का — लोकपूरणसमुद्घातक्रियाके पूर्ण होनेपर केवली समुद्घातक्रियाका उपसंहार (संकोच) करके स्वस्थानको किसप्रकार प्राप्त होते हैं ?

समाधान—लोकपूरणसमुद्घातके अनन्तर पुनः मन्थक्रिया होती है, क्योंकि मन्थपरिणाम (पर्याय) के बिना संकोच नहीं हो सकता । लोकपूरणसमुद्घात संकुचित होवेपर समययोगपर्यायका नाश होकर आगमके अविरोधसे सर्व पूर्वयोग-स्पर्धक उदुघाटित हो जाते हैं । मन्थ (प्रतर) का संकोच होकर कपाटरूप प्रवृत्ति होती है, क्योंकि कपाट-रूप पर्यायके बिना मन्थका संकोच नहीं हो सकता । अनन्तरसमयमें दण्डसमुद्घातरूप परिणमन करनेपर कपाटका संकोच होता है तथा तदनन्तरसमयमें स्वस्थानकेवलीपर्याय के द्वारा दण्डसमुद्घातका संकोच करके होनाधिकतासे रहित मूलशरीरप्रमाण जोव-प्रदेशोंका अवस्थान हो जाता है । इसप्रकार संकोच करनेवालेके तीनसमयप्रमाण काल है, चौथेसमयमें स्वस्थानकेवली हो जाते हैं । किन्हींके व्याख्यानुसार संकोच करनेवाले-का चारसमय काल है, क्योंकि जिससमयमें दण्डसमुद्घातका संकोच होता है वह समय भी समुद्घातमें ही अन्तर्भूत कर लिया है । पूर्ववत् प्रतरसमुद्घातमें कार्मणकाययोग, कपाटसमुद्घातमें औदारिकमिश्रकाययोग और दण्डसमुद्घातमें औदारिककाययोग होता है । कहा भी है—

दण्डं प्रथमे समये कपाटमथ चोत्तरे तथा समये ।
 मंथानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थेतु ॥
 संहरति पंचमे त्वन्तराणि मंथानमथ पुनः षष्ठे ।
 सप्तमके च कपाटं संहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ॥

प्रथमसमयमें दण्ड, अनन्तर अगलेसमयमें कपाट, तृतीयसमयमें मंथान और चतुर्थसमयमें लोकव्यापी, पांचवें समयमें संकोचक्रिया, छठे समयमें मंथान, सातवें समयमें कपाट तथा उसका संकोच होकर आठवें समयमें दण्ड हो जाता है । इसप्रकार समुद्र-घात प्ररूपणा समाप्त हुई^१ ।

लोकपूरणसमुद्रघातसे उतरनेवाला अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितिके संख्यातबहुभाग-को घातनेके लिए स्थितिकाण्डकघातको और अप्रशस्तप्रकृतियोंके पूर्वधातित अवशेष अनुभागके अनन्तबहुभागको घातनेके लिए अनुभागकाण्डकघात प्रारम्भ करता है । यहां स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघातका उत्कीरणकाल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि लोकपूरणसमुद्रघातके अनन्तरसमयसे प्रतिसमय एकसमयवाला स्थितिघात व अनुभाग-घात नहीं होता । इसप्रकारसे समुद्रघातको संकोच करनेके कालमें और स्वस्थानकालमें संख्यासहजार स्थितिकाण्डक व अनुभागकाण्डकघात हो जावेपर योग विरोध करता है ।

बादरमण वचि उस्सास कायजोगं तु सुहुमजचउक्कं ।
 रुंभदि कमसो बादरसुहुमेण य कायजोगेण ॥२३७॥६२८॥
 सरिणविसुहुमाणि पुणणे जहरणमणवयणकायजोगादो ।
 कुणदि असंखगुणं सुहुमणिपुणणवरदोवि उस्सासं ॥२३८॥६२९॥
 एक्कक्कस्स णिठंभणकालो अंतोमुहुत्तमेत्तो हु ।
 सुहुमं देहणिमाणमाणं हियमाणि करणाणि ॥२३९॥६३०॥

अर्थ—बादर काययोगद्वारा मनोयोग-वचनयोग-उच्छ्वास-काययोग, इत चारों को क्रमसे नष्ट करता है तथा सूक्ष्मकाययोगरूप होकर उन चारोंसूक्ष्म योगोंको क्रमसे

नष्ट करता है । संज्ञोपपत्तिके जो जघन्यमनोयोग पाया जाता है उससे असंख्यातगुणा-
हीन सूक्ष्ममनोयोग करता है और द्वोन्द्रियपर्याप्तिके जो जघन्य वचनयोग पाया जाता
उससे असंख्यातगुणाहीन सूक्ष्मवचनयोग करता है तथा सूक्ष्मनिगोद पर्याप्तिके जघन्य
काययोगसे असंख्यातगुणाहीन सूक्ष्मकाययोग करता है तथा सूक्ष्मनिगोदिया पर्याप्तिके
जघन्यउच्छ्वाससे असंख्यातगुणाहीन सूक्ष्म उच्छ्वास करता है । एक-एकबादर व सूक्ष्म
मनोयोगादिके निरोधकरनेका काल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण जानना तथा सूक्ष्मकाययोगमें स्थित
रहते हुए सूक्ष्मउच्छ्वासको नष्टकरनेके अनन्तर सूक्ष्मकाययोगको नष्ट करनेके लिए
प्रवृत्त होता है ।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त विधिसे समुद्धातको संकोचकरके स्वस्थानकेवली होकर
संख्यातहजार स्थितिकाण्डक व अनुभागकाण्डक व्यतीत हो जानेपर योगनिरोधके लिए
क्रियान्तर करते हैं ।

शङ्का—योग किसे कहते हैं ?

समाधान—मन-वचन-कायको चेष्टासे निर्वर्तित कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण-
भूत शक्तिस्वरूप जोषप्रदेशोंका परिस्पन्दन योग कहा जाता है ।

वह योग तीनप्रकारका है—मनोयोग, वचनयोग व काययोग । उनमेंसे प्रत्येक
योग सूक्ष्म व बादरके भेदसे दोप्रकारका है । योगनिरोधक्रियासे पूर्व सर्वत्र बादरयोग
होता है, बादरयोगके पश्चात् सूक्ष्मयोगरूपसे परिणमनकर योगनिरोध करता है, मात्र
बादरयोगसे ही प्रवृत्ति करनेवालेके योगनिरोध नहीं होता । योगनिरोध करनेवाले
केवलीभगवान् सर्वप्रथम ही बादरकाययोगके अवलम्बनके बलसे बादरमनोयोगका निरोध
करते हैं । बादरकाययोगसे वर्तन करते हुए बादरमनोयोगकी शक्तिको निरोधकर
सूक्ष्मभावसे संज्ञोपचेन्द्रिय पर्याप्तिके सर्वजघन्य मनोयोगसे नीचे असंख्यातगुणी हीन शक्ति
वाले सूक्ष्ममनोयोगको स्थापित करते हैं । बादरमनोयोगकी शक्तिका निरोध करके
अन्तर्मुहूर्तप्रमाणकालके द्वारा बादरकाययोगका अवलम्बन लेकर बादरवचनयोगशक्तिका
भी निरोध करते हैं । द्वोन्द्रिय पर्याप्तिकी सर्वजघन्य योगशक्तिसे लेकर उपरिम सर्व-
वचनयोगशक्ति बादर वचनयोगशक्ति है । उस बादरवचनयोग शक्तिको रोककर
द्वोन्द्रियपर्याप्तिकी सर्वजघन्य वचनयोगशक्तिसे नीचे असंख्यातगुणाहीन सूक्ष्मवचनयोगरूप
कर देते हैं, उसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तसे बादरकाययोगके द्वारा बादरउच्छ्वास-निश्वासका

निरोध करते हैं । सूक्ष्मनिगोदनिवृत्तिपर्याप्त अर्थात् आनयानपर्याप्तसे पर्याप्तके सर्वजघन्य-उच्छ्वास-निःश्वासशक्तिसे असंख्यातगुणी संज्ञीपंचेन्द्रियकी उच्छ्वास-निःश्वासरूप परि-स्पन्दशक्तिका बादरउच्छ्वास-निःश्वासरूपसे ग्रहण करना चाहिए । उस बादरउच्छ्वास-निःश्वासका निरोधकरके सूक्ष्मनिगोदियाकी सर्वजघन्यउच्छ्वासशक्तिसे नीचे असंख्यात-गुणीहीन सूक्ष्मशक्तिरूप कर देता है, उसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तसे बादरकाययोगके द्वारा बादरकाययोगका निरोधकर सूक्ष्मरूप कर देते हैं, सूक्ष्मनिगोदियाके जघन्यकाययोगसे असंख्यातगुणीहीनशक्तिसे परिणमा देते हैं । इस सम्बन्धमें दो उपयोगीश्लोक हैं—

“पंचेन्द्रियोऽथ संज्ञी यः पर्याप्तो जघन्ययोगी स्यात् ।

निरुणद्धि मनोयोगं ततोऽप्य संख्यातगुणहीनं ॥

द्वीन्द्रियसाधारणयोर्वागुच्छ्वासावबो जयति तद्वत् ।

निरुणद्धि काययोगं जघन्यपर्याप्तकस्याधः ॥”

संज्ञीपञ्चेन्द्रियपर्याप्तके जघन्ययोगका निरोध होकर, उससे भी असंख्यातगुणा-हीन मनोयोग हो जाता है । द्वीन्द्रियपर्याप्तके जघन्यवचनयोगका निरोध होकर उससे भी असंख्यातगुणाहीन वचनयोग हो जाता है । साधारण अर्थात् निगोदियाके जो जघन्य-उच्छ्वास है तथा सूक्ष्मवनस्पतिकाय अर्थात् सूक्ष्मनिगोदिया जीवके जो जघन्य उच्छ्-वास है तथा सूक्ष्मवनस्पतिकाय अर्थात् सूक्ष्मनिगोदियाके जो जघन्यकाययोग है उन बादर-बादर वचन, उच्छ्वास व काययोगका निरोध होकर उनसे भी असंख्यातगुणा-हीन वचनयोग, उच्छ्वास व काययोग हो जाता है । इसप्रकार यथाक्रम बादरमनोयोग, बादरवचनयोग, बादरउच्छ्वास-निःश्वास व बादरकाययोगशक्तिका निरोध होकर सूक्ष्म-परिस्पन्दशक्ति हो जाती है । इसके अन्तर्मुहूर्त पश्चात् सूक्ष्मकाययोगके द्वारा सूक्ष्ममनो-योगका निरोध करते हैं अर्थात् विनाश करते हैं । यहांपर सूक्ष्ममनोयोगसे, संज्ञीपंचेन्द्रिय-पर्याप्तके सर्वजघन्य परिणामसे असंख्यातगुणेहीन अवस्तव्यस्वरूप द्रव्यमनोयोगके निमित्त से जो जीवप्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है, उसका ग्रहण होता है । उसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त-कालके द्वारा सूक्ष्मकाययोगसे सूक्ष्मवचनयोगका निरोध अर्थात् विनाश होता है । द्वीन्द्रिय-पर्याप्तके सर्वजघन्यवचनयोगशक्तिसे नीचे असंख्यातगुणेहीन वचनयोगको सूक्ष्मवचनयोग कहते हैं, उसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तमें सूक्ष्मकाययोगके द्वारा सूक्ष्मउच्छ्वासका निरोध (नाश) करता है । यहां भी सूक्ष्मनिगोदियापर्याप्तजीवके सर्वजघन्यउच्छ्वाससे नीचे

असंख्यातगुणीहीन उच्छ्वासशक्तिका ग्रहण होता है । बादर व सूक्ष्ममनोयोगादि प्रत्येकके निरोध करनेमें अन्तर्मुहूर्तकाल लगता है । योगनिरोध करनेवाले केवल ही सूक्ष्मकाययोग के द्वारा मन, वचन व उच्छ्वासकी सूक्ष्मशक्तिको भी यथोक्तक्रमसे निरोध (नाश) करके सूक्ष्मकाययोगका निरोध करनेके लिए इन करणोंको अबुद्धिपूर्वक करते हैं^१ ।

सुदृमस्स य पढमादो मुहुत्तअंतोत्ति कुणदि हु अपुव्वे ।

पुव्वगफड्डुगहेट्ठा सेडिस्स असंखभागमिदो ॥२४०॥६३१॥

पुव्वादिवग्गणाणं जीवपदेसा विभागपिडादो ।

होदि असंखं भागं अपुव्वपढमम्हि ताण दुगं ॥२४१॥६३२॥

ओक्कट्टदि पडिसमयं जीवपदेसे असंखगुणियकमे ।

कुणदि अपुव्वफड्डुयं तग्गुणहीणक्कमेणेव ॥२४२॥६३३॥

सेडिपदस्स असंखं भागं पुव्वाण फड्डुयाणं वा ।

सव्वे होंति अपुव्वा हु फड्डुया जोगपडिवद्धा ॥२४३॥कुलयं॥६३४॥

अर्थ—सूक्ष्मयोग होनेके प्रथमसमयसे अन्तर्मुहूर्त व्यतीतकर पूर्वस्पर्धकोंके नीचे जगच्छ्रेणीके असंख्यातवैभागप्रमाण अपूर्वस्पर्धक करते हैं । पूर्वस्पर्धकसम्बन्धी जीवप्रदेशके असंख्यातवैभागप्रमाण जीवप्रदेशोंद्वारा प्रथमसमयमें अपूर्वस्पर्धकोंकी रचना होती है जिनमें पूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणाके असंख्यातवैभागप्रमाण अविभागप्रतिच्छेद होते हैं । प्रतिसमय असंख्यात-असंख्यातगुणे क्रमसे जीवप्रदेशोंका अपकर्षण करते हैं, किन्तु नवीन अपूर्वस्पर्धक असंख्यातगुणेहीन क्रमसे रचे जाते हैं । योगसम्बन्धी सर्व अपूर्व-स्पर्धक जगच्छ्रेणीके प्रथमवर्गमूलके असंख्यातवैभागप्रमाण अथवा सर्व पूर्वस्पर्धकोंके असंख्यातवैभागप्रमाण होते हैं ।

विशेषार्थ—सूक्ष्मनिगोदियाजीवके जघन्ययोगसे असंख्यातगुणीहीन सूक्ष्मकाय-परिस्पन्दनशक्तिरूप परिणमन होतेपर भी पूर्वस्पर्धक ही हैं, उससे अन्तर्मुहूर्त जाकर प्रथमसमयमें पूर्वस्पर्धकोंके नीचे अपूर्वस्पर्धकोंकी रचना होती है जिनकी सख्या पूर्व-

स्पर्धकोंके अथवा जगत्श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण है । सूक्ष्मनिगोदिया जीवके जघन्य-योगस्थानसे असंख्यातगुणेहीन सूक्ष्मकाययोगके अविभागप्रतिच्छेद होते हैं । इसमें भी आदिवर्गणाके असंख्यातवें भागरूप परिणामकर अपूर्वस्पर्धकोंकी रचना होती है । यहां असंख्यातवें भागसे पत्यका असंख्यातवां भाग ग्रहण करना चाहिए । प्रथमसमयमें असंख्यातवें भागप्रमाण जीवप्रदेशोंका अपकर्षणकरके अपकर्षित जीवप्रदेशोंमें से बहुत जीवप्रदेश अपूर्वस्पर्धकोंकी आदिवर्गणामें दिये जाते हैं, क्योंकि सर्वजघन्यशक्तिरूपसे परिणामन करते हुए जीवप्रदेशोंमें बहुत्व होनेमें विरोधका अभाव है । अपूर्वस्पर्धकोंकी ही द्वितीयवर्गणामें विशेषहीन प्रदेशाग्र दिये जाते हैं । इसप्रकार विशेषहीन-विशेषहीन प्रदेशाग्र दिये जानेका यह क्रम अपूर्वस्पर्धकोंकी चरमवर्गणातक जानना चाहिए । विशेषहीनके लिए प्रतिभागका प्रमाण श्रेणिका असंख्यातवां भाग है । पुनः अपूर्वस्पर्धकोंकी चरमवर्गणासे असंख्यातगुणेहीन जीवप्रदेश पूर्वस्पर्धकोंकी आदिवर्गणामें दिये जाते हैं । यहां हानिगुणकारका प्रमाण पत्यके असंख्यातवें भागमात्र होते हुए भी अपकर्षण उत्कर्षण-भागहारसे अधिक है । उससे ऊपर आगमसे अविरुद्धरूपसे विशेषहीन-विशेषहीन जीवप्रदेशोंका विन्यासक्रम जानना चाहिए । इसप्रकार प्रथमसमयमें अपूर्वस्पर्धकोंकी प्ररूपणा कही, तथैव द्वितीयसमयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तकालतक अपूर्वस्पर्धकोंकी रचना होती है । प्रथमसमयमें किये गए अपूर्वस्पर्धकोंके नीचे उनसे असंख्यातगुणेहीन अपूर्वस्पर्धक द्वितीयसमयमें किये जाते हैं, द्वितीयसमयमें रचित अपूर्वस्पर्धकोंसे असंख्यातगुणेहीन उनके नीचे तृतीयसमयमें अन्य अपूर्वस्पर्धक रचे जाते हैं । इसप्रकार नीचे-नीचे अन्तर्मुहूर्तके चरमसमयपर्यन्त असंख्यातगुणेहीन-असंख्यातगुणेहीनरूपसे अपूर्वस्पर्धक रचे जाते हैं, किन्तु प्रथमसमयमें जितने जीवप्रदेशोंका अपकर्षण किया था उनसे असंख्यातगुणे जीवप्रदेश द्वितीयसमयमें अपकर्षित किये जाते हैं । इसप्रकार तृतीयादि समयोंमें भी असंख्यातगुणे जीवप्रदेशोंके अपकर्षणका यह क्रम जानना चाहिए । द्वितीयसमयमें अपकर्षित जीवप्रदेशोंके द्वारा रचे गए अपूर्वस्पर्धकोंकी आदिवर्गणामें बहुत जीवप्रदेश दिये जाते हैं तथा उससे आगे द्वितीयसमयमें ही रचे गये अपूर्वस्पर्धकोंकी चरमवर्गणातक आदिवर्गणा से विशेषहीन-विशेषहीन जीवप्रदेश दिये जाते हैं । उससे ऊपर प्रथमसमयमें रचित अपूर्वस्पर्धकोंमें से जघन्यस्पर्धकोंकी आदिवर्गणामें असंख्यातगुणेहीन जीवप्रदेश दिये जाते हैं, इससे ऊपर सर्वत्र विशेषहीन-विशेषहीन जीवप्रदेश दिये जाते हैं । इसीप्रकार तृतीयादि समयोंमें असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे जीवप्रदेशोंका अपकर्षण होकर तथा उस

उससमयमें रचे गये अपूर्वस्पर्धकोंकी प्रथमादिवर्गणाओंमें एवं उससे ऊपर पूर्वसमयमें रचे गए लपूर्वस्पर्धकोंकी अत्यन्तादिवर्गणाओं जीवप्रदेश दिये जाते हैं । सर्व अपूर्वस्पर्धकोंका प्रमाण जसच्छ्रेणीके प्रथमवर्गमूलका असंख्यातर्वाभाग है । पूर्वस्पर्धकोंके असंख्यातर्वभागप्रमाण अपूर्वस्पर्धक हैं, क्योंकि पूर्वस्पर्धकोंमें पत्यके असंख्यातर्वभागप्रमाण गुणहानियाँ हैं, उनमेंसे एकगुणहानि स्थानान्तरमें जितने स्पर्धक हैं उनसे भी असंख्यातगुणेहीन अपूर्वस्पर्धक हैं ।

शंका—गाथासूत्रके बिना यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—सूत्रसे अविरुद्ध गुरूपदेशके बलसे उसप्रकारकी सिद्धि होनेमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि व्याख्यानसे विशेषार्थकी प्रतिपत्ति होती है ऐसा न्याय है । इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तप्रमाण अपूर्वस्पर्धक करनेका जो काल है उसके चरमसमयमें अपूर्वस्पर्धकक्रिया समाप्त हो जाती है । अपूर्वस्पर्धकक्रिया समाप्त हो जानेपर भी सर्व पूर्वस्पर्धक उसीप्रकार स्थित हैं, क्योंकि अभी तक उनके विनाशका अभाव है । यहाँ सर्वत्र सयोगकेवलीके चरमसमयतक स्थितिघात, अनुभागघात तथा गुणश्रेणीनिर्जराकी प्ररूपणा पूर्वोक्त क्रमसे जानना चाहिए, क्योंकि उनकी प्रवृत्तिमें प्रतिबन्धका अभाव है । इसप्रकार अपूर्वस्पर्धकक्रियासम्बन्धी कथन समाप्त हुआ ।

एत्ता करेदि किट्ठिं सुहुत्तअंतोत्ति ते अपुठ्वाणं ।

हेट्ठादु फट्ठयाणं सेट्ठिस्स असंखभागमिदं ॥२४४॥६३५॥

अपुठ्वादिवर्गणाणं जीवपदेसाविभागपिडादो ।

होति असंखं भागं किट्ठीपढमम्हि ताण दुगं ॥२४५॥६३६॥

ओक्कट्ठदि पडिसमयं जीवपदेसे असंखगुणिदकमे ।

तग्गुणहीणकमेण य करेदि किट्ठिं तु पडिसमए ॥२४६॥६३७॥

सेट्ठिपदस्स असंखं भागमपुठ्वाणं फट्ठयाणं व ।

सत्त्वाओ किट्ठीओ पल्लस्स असंखभागगुणिदकमा ॥२४७॥६३८॥

अर्थ— इसके अनन्तर अन्तर्मुहूर्तकालपर्यन्त अपूर्वस्पर्धकोंके नीचे सूक्ष्मकृष्टि करता है, उन सूक्ष्मकृष्टियोंका प्रमाण जगच्छ्रेणिके असंख्यातवैभागमात्र है । अपूर्वस्पर्धकसम्बन्धी सर्व जीवप्रदेश और अपूर्वस्पर्धककी प्रथमवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेद इन दोनोंके असंख्यातवैभागप्रमाणकृष्टि प्रथमसमयमें होती है । द्वितीयादि समयोंमें प्रतिसमय असंख्यातगुणे क्रमसे जीवप्रदेशोंका अपकर्षण करता है तथा प्रतिसमय की गई कृष्टियोंके नीचे असंख्यातगुणेहीन क्रमसहित नवीनकृष्टियां करता है । सर्वसमयोंमें की गई कृष्टियोंका प्रमाण जगच्छ्रेणिके असंख्यातवैभागप्रमाण है अथवा अपूर्वस्पर्धकोंके प्रमाणका असंख्यातवैभागप्रमाण है । सर्वकृष्टियां पत्यके असंख्यातवैभागगुणित क्रमसे हैं ।

विशेषार्थ— अपूर्वस्पर्धक करनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकालतक कृष्टिकरनेके लिए प्रतिसमय असंख्यातगुणितक्रमसे जीवप्रदेशोंका अपकर्षण करते हैं । जघन्यकृष्टिमें समान (सदृश) अविभागप्रतिच्छेदवाले असंख्यातजगत्प्रतरप्रमाण जीवप्रदेश हैं । जघन्यकृष्टिके एकजीवप्रदेशसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेदोंको पत्यके असंख्यातवैभागसे गुणा करनेपर द्वितीयकृष्टिके एकजीवप्रदेशसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद होते हैं । इसप्रकार चरमकृष्टिपर्यन्त पत्योपमके असंख्यातवैभागप्रमाण प्रत्येककृष्टिगत अविभागप्रतिच्छेदसम्बन्धी गुणकार जातना । चरमकृष्टिके एकप्रदेशसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेदोंको पत्यके असंख्यातवैभागसे गुणा करनेपर अपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणामें एकजीवप्रदेशसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद होते हैं । उससे ऊपर ऊपर स्पर्धकोंमें अविभागप्रतिच्छेद विशेषअधिक क्रमसे होते हैं, यह कथन एकजीवप्रदेशकी अपेक्षा किया गया है । अथवा

जघन्यकृष्टिको पत्यके असंख्यातवैभागसे गुणा करनेपर द्वितीयकृष्टि होती है । यह गुणकार चरमकृष्टितक जातना चाहिए । कृष्टिगत जीवप्रदेशोंके सदृश अविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षासे गुणकारका यह कथन किया गया है । चरमकृष्टिमें सदृश अविभागप्रतिच्छेदवाले समस्त जीवप्रदेशोंके अविभागप्रतिच्छेदसमुदायसे अपूर्वस्पर्धकोंकी आदिवर्गणासे सदृश अविभागप्रतिच्छेदवाले जीवप्रदेशोंमें अविभागप्रतिच्छेदोंका समूह असंख्यातगुणाहीन है । उपरिम अविभागप्रतिच्छेदसम्बन्धी गुणकारके अधस्तनवर्ती जीवप्रदेशसम्बन्धी गुणकार असंख्यातगुणा है । यद्यपि चरमकृष्टिके एकवर्गसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेदोंसे अपूर्वस्पर्धककी आदिवर्गणाके अविभागप्रतिच्छेद एकवर्गमें असंख्यातगुणे हैं, किन्तु जीवप्रदेशोंकी संख्या आदिवर्गणाकी अपेक्षा चरमकृष्टिमें असंख्यातगुणी है ।

जीवप्रदेशोंका गुणकार अविभागप्रतिच्छेदोंके गुणकारसे असंख्यातगुणा है जो श्रेणिके असंख्यातवैभागप्रमाण है । अर्थात् अपूर्वस्पर्धकको आदिवर्गणासम्बन्धी जीवप्रदेशोंका और एकवर्गके अविभागप्रतिच्छेदोंका परस्परगुणा करनेसे जो प्रमाण आता है वह चरम-कृष्टिसम्बन्धी जीवप्रदेशोंका और एकवर्गके अविभागप्रतिच्छेदोंके परस्पर गुणनफलसे असंख्यातगुणाहीन है, क्योंकि चरमकृष्टिसे असंख्यातगुणेहीन जीवप्रदेश आदिवर्गणामें दिये जाते हैं । श्रेणिके प्रथमवर्गमूलके असंख्यातवैभागप्रमाण कृष्टियां हैं तथा अपूर्व-स्पर्धक भी श्रेणिके असंख्यातवैभागप्रमाण हैं, किन्तु पूर्वस्पर्धकसम्बन्धी एकगुणहानि-स्थानान्तरमें स्पर्धकशलाकाके असंख्यातवैभागप्रमाण अपूर्वस्पर्धक हैं । एकस्पर्धकसम्बन्धी वर्गणाओंके असंख्यातवैभागप्रमाण कृष्टियां हैं जो अपूर्वस्पर्धकोंके असंख्यातवैभागप्रमाण हैं । इसप्रकार एक अन्तर्मुहूर्त कृष्टिकरणकाल है ।

एतथापुव्वविहाणं अपुव्वफड्डयविहिं व संजलणे ।

बादरकिट्टिविहिं वा करणं सुहुमाण किट्टीणं ॥२४८॥६३६॥

अर्थ—योगोंके अपूर्वस्पर्धक करनेका विधान जैसे पहले संज्वलनकषायके अपूर्वस्पर्धक करनेका विधान कहा है उसीप्रकार जानना तथा योगोंको सूक्ष्मकृष्टि करने का विधान भी पहले कहे हुए संज्वलनकषायकी बादरकृष्टि करनेके विधान सदृश ही जानना ।

किट्टीकरणे चरमे से काले उभयफड्डये सव्वे ।

णासेदि सुहुसं तु किट्टीगदवेदगो नोगी ॥२४९॥६४०॥

पढमे असंखभागं हेट्ठुवरिं णासिदूण विदियादी ।

हेट्ठुवरिमसंखगुणं कमेण किट्टिं विणासेदि ॥२५०॥६४१॥

मज्झिम बहुभागुदया किट्टिं वक्खिय विसेसहीणकमा ।

पडिसमयं सत्तीदो असंखगुणहीणया होति ॥२५१॥६४२॥

अर्थ—कृष्टिकरणकालके चरमसमयके अनन्तर कालमें सर्व पूर्व-अपूर्वस्पर्धक-रूप प्रदेशोंको नष्ट करता है तथा अन्तर्मुहूर्तकालमें कृष्टिको प्राप्त योगका अनुभव

करता है ; इसप्रकार प्रदेशोंमें जो कृष्टिरूप योगशक्ति हुई वह अब प्रगटरूप परिणमन करती है । कृष्टिवेदककालके प्रथमसमयमें स्तोक अविभागप्रतिच्छेदयुक्त अवस्तन और बहुत अविभागप्रतिच्छेदयुक्त ऊपरितनकृष्टियोंको मध्यकी कृष्टिरूप परिणमाकर नष्ट करता है, उनका प्रमाण सर्वकृष्टियोंके असंख्यातवैभागप्रमाण है तथा द्वितीयादि समयोंमें उनसे असंख्यातगुण क्रमसहित ऊपरितन कृष्टियोंको उसीप्रकार नष्ट करता है । सर्व कृष्टियोंको असंख्यातका भाग देनेपर उसमेंसे बहुभागप्रमाण मध्यवर्तीकृष्टियाँ उदयरूप होती हैं । वे कृष्टियाँ प्रथमसमयसे द्वितीयादि समयोंमें विशेषहीन क्रमसहित जानना चाहिए । इसप्रकार सयोगीके अविभागप्रतिच्छेदरूप शक्तिकी अपेक्षा प्रथमसमयसे द्वितीयादि चरमसमयपर्यन्त असंख्यातगुणहीन क्रमसहित योग पाया जाता है ।

विशेषार्थ—कृष्टिकरणकालके चरमसमयतक पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धकोंका नाश नहीं होता ; अविनष्टरूपसे दिखाई देते हैं, किन्तु प्रतिसमय पूर्व-अपूर्वस्पर्धकोंका असंख्यातवैभाग कृष्टिस्वरूपसे परिणमन होता है । कृष्टिकरणके चरमसमयसे अनन्तर-समयमें सर्व पूर्व-अपूर्वस्पर्धक अपने स्वरूपका परित्याग करके कृष्टिरूपसे परिणमन कर जाते हैं । अधन्यकृष्टिसे उत्कृष्टकृष्टिपर्यन्त सर्वकृष्टियोंके सदृश होकर उसीसमयमें परिणमन कर जाते हैं तब अन्तर्मुहूर्तकालतक योगकृष्टि वेदककाल होता है, उस अन्तर्मुहूर्तकालतक अवस्थितयोग नहीं होता । प्रथमसमयमें कृष्टियोंके असंख्यातबहुभागका वेदन होता है । प्रथमसमयमें जिनकृष्टियोंका वेदन किया था उनमेंसे ऊपर और नीचेकी असंख्यातवैभागप्रमाण कृष्टियाँ अपने स्वरूपको छोड़कर मध्यमकृष्टिरूपसे द्वितीयसमयमें अनुभव की जाती हैं । प्रथमसमयके योगसे द्वितीयसमयमें असंख्यातगुणाहीन योग होता है । इसीप्रकार तृतीयादि समयोंमें भी जानना चाहिए । प्रथमसमयमें बहुत-कृष्टियोंको तथा द्वितीयसमयमें उससे विशेषहीन कृष्टियोंको वेदते हैं । इसप्रकार चरमसमयपर्यन्त विशेषहीन क्रमसे कृष्टियोंका वेदन करते हैं ।

अथवा द्वितीय उपदेशानुसार प्रथमसमयमें स्तोक कृष्टियोंको वेदते हैं, क्योंकि प्रथमसमयमें ऊपर-नीचेकी असंख्यातवैभागप्रमाण कृष्टियाँ नष्ट हो जाती हैं । यहाँ प्रधानरूपसे इसीकी विवक्षा है । द्वितीयसमयमें प्रथमसमयकी अपेक्षा असंख्यातगुणी कृष्टियोंका अनुभव करते हैं, प्रथमसमयमें जो कृष्टियाँ नष्ट हुई हैं उनसे असंख्यातगुणी कृष्टियाँ जो कि ऊपर-नीचेकी कृष्टियोंके असंख्यातवैभागप्रमाण हैं वे द्वितीयसमयमें नष्ट होती हैं । इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकालतक असंख्यातगुणितश्रेणिरूपसे कृष्टिगत योगका

वेदन करते हैं, क्योंकि प्रतिसमय मध्यमकृष्टि आकारसे परिणमन करनेवाली कृष्टियों-को असंख्यातगुणितभावसे प्रवृत्ति होती है ।

शङ्का—प्रथमादि समयोंमें यथाक्रम जिन जीवप्रदेशोंकी कृष्टियाँ केवलीके द्वारा अनुभव की गई हैं वे जीवप्रदेश द्वितीयादि समयोंमें निष्कम्परूपसे अयोगभावको प्राप्त हो जाते हैं ऐसा क्यों नहीं स्वीकार करते ?

समाधान—नहीं, क्योंकि एक जीवमें सयोग और अयोगपर्यायकी अक्रमरूप (युगपत्) प्रवृत्तिका विरोध है । प्रतिसमय ऊपर व नीचेकी असंख्यातवैभागप्रमाण कृष्टि असंख्यातगुणित श्रेणिरूपसे मध्यमकृष्टिआकाररूप परिणमन करके नाशको प्राप्त होती हैं, यह सिद्ध हो जाता है । इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकालपर्यन्त कृष्टिगतयोगका अनुभव करनेवाले सूक्ष्मकाययोगी केवलीके ध्यानका कथन आगे करते हैं^१ ।

किट्टिगजोगी भाणं भायदि तदियं खु सुहुमकिरियं तु ।

चरिमे असंखभागे किट्ठीणं णासदि सजोगी ॥२५२॥६४३॥

अर्थ—सूक्ष्मकृष्टिवेदक सयोगीजिन तृतीय सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति नामक शुक्ल-ध्यानको ध्याता है । सयोगीगुणस्थानके चरमसमयमें कृष्टियोंके असंख्यातबहुभागप्रमाण मध्यकी जो कृष्टि अवशेष रहें उनको नष्ट करता है, क्योंकि इसके अनन्तर अयोगी होना है ।

विशेषार्थ—सूक्ष्मकृष्टिको प्राप्त सूक्ष्मतर काययोग जनित क्रिया अर्थात् परिस्पन्द पाया जाता है और अप्रतिपाती अर्थात् अधःप्रतिपातसे रहित है इसलिए उस ध्यानका सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती नाम सार्थक है और इसका फल योगनिरोध अर्थात् सूक्ष्मतर कायपरिस्पन्दनका भी वहाँ निरन्वरूपसे निरोध हो जाता है । यद्यपि सकल-पदार्थ विषयक प्रत्यक्ष निरन्तर ज्ञानीके एकाग्रचिन्तानिरोध लक्षणरूप ध्यान असम्भव है इसलिए ध्यानकी उत्पत्ति नहीं है तथापि योगका निरोध होनेपर कर्मास्त्रिक निरोध-रूप ध्यान फलको देखकर उपचारसे केवलीके ध्यान कहा है । अथवा छद्मस्थोंके चिन्ताका कारण योग है इसलिए कारणमें कार्यका उपचार करके योगको भी चिन्ता कहते हैं,

उस चिंताका एकाग्रभावसे यहां निरोध होता है इसकारण भी ध्यानसंज्ञा सम्भव है । छद्मस्थोंके अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त एकवस्तुमें चिंताके निरोध अर्थात् अवस्थानको ध्यान कहते हैं तथा केवलीभगवान्‌के योगनिरोधका नाम ध्यान है । इसप्रकार ध्यान करनेवाले परमऋषिके परमशुक्लध्यानरूप अग्निके द्वारा प्रतिसमय असंख्यातगुणश्रेणि निर्जरा करनेवाले तथा स्थितिकाण्डकघात व अनुभागकाण्डकघात करनेवालेकं पूर्वोक्तप्रकार प्रतिसमय असंख्यातगुणं क्रमसहित कृष्टियोंको नष्ट करते हुए योगशक्तिको क्रमशः हीयमान करता है एवं सयोगकेवलीगुणस्थानके चरमसमयमें सर्वकृष्टियोंके असंख्यातबहुभागप्रमाण मध्यवर्ती जितनी कृष्टियां अवशेष बचीं उनको नष्ट करता है, क्योंकि इसके पश्चात् श्रयोगी होना है । इससम्बन्धमें उपयोगी श्लोक—

“तृतीयं काययोगस्य सर्वज्ञस्याद्भुतस्थितेः ।
योगक्रियानिरोधार्थं शुक्लध्यानं प्रकीर्तितम् ॥”

अद्भुत स्थितिवाले काययोगी सर्वज्ञके योगक्रिया निरोधके लिये तृतीयशुक्ल-ध्यान कहा गया है ।

“अंतोमुहुत्तमद्धं चिंतावत्थाणमेयवत्युम्मि ।
छदुमत्थाणं भाणं जोगणिरोधो जिणाणंतु ॥”

अर्थात् अन्तर्मुहूर्तकालतक एकवस्तुमें चिंताका अवस्थान छद्मस्थोंका ध्यान है और योगनिरोध जिनेन्द्र भगवान्‌का ध्यान है ।

केवलीभगवान्‌ कर्मको ग्रहण करनेको सामर्थ्यवाले योगको पूर्णरूपसे निरोध करनेके लिए सूक्ष्मक्रियाप्रतिफलनामक तृतीयशुक्लध्यानको ध्याते हैं । प्रतिसमय योगशक्ति क्रमसे घटती जाती है और सयोगकेवली गुणस्थानके चरमसमयमें निर्मूलतः नष्ट हो जाती है ।

जोगिस्स सेसकालं मोत्तूण अजोगिसव्वकालं य ।
चरिमं खंडं गेहदि सीसेण य उवरिमटिदीओ ॥२५३॥६४४॥
तत्थ गुणसेडिकरणं दिज्जादिकमो य सम्मखवणं वा ।
अंतिमफालीपडणं सजोगगुणठाणचरिमम्हि ॥२५४॥६४५॥

से काले जोगिजिणो ताहे आउगसमा हि कम्माणि ।

अर्थ—सयोगकेवलीगुणस्थानके शेषकाल तथा अयोगकेवलीके सर्वकाल इन दोनों कालोंको छोड़कर शेष सर्वस्थितिकी गुणश्रेणिशीर्षसहित उपरितनस्थितिका घात करनेके लिए अघातियाकर्मोंके चरमस्थितिकाण्डकमें ग्रहण करता है । वहां गुणश्रेणिका करना और देयद्रव्यादिका क्रम सम्यक्त्वप्रकृतिकी क्षपणाविधिके समान है । सयोगकेवली गुणस्थानके चरमसमयमें अन्तिमफालिका पतन होता है तथा वहीं पर सयोगीजिनके (नाम-गोत्र व वेदनीय) कर्मोंकी स्थिति आयुकर्मके समान हो जाती है ।

विशेषार्थ—सयोगीजिनका शेषकाल और अयोगीजिनके सर्वकाल, इन कालोंको छोड़करगुणश्रेणिशीर्षसहित उपरितन सर्वस्थितियोंको नाम-गोत्र व वेदनीयकर्मके चरमस्थितिकाण्डकमें घात करनेके लिए ग्रहण करता है । उससमय प्रदेशाग्रको अपकर्षित करके उदयस्थितिमें स्तोक देता है तथा अनन्तरस्थितिमें असंख्यातगुणे प्रदेशाग्र देता है । स्थितिकाण्डकघातकी जघन्यस्थितिके नीचे अनन्तरस्थितिपर्यन्त असंख्यातगुणे क्रमसे प्रदेशाग्र देता है अर्थात् १४वें गुणस्थानके अन्ततक असंख्यातगुणे क्रमसे देता है, यही वर्तमान गुणश्रेणिका शीर्ष है । इस गुणश्रेणिशीर्षसे अनन्तरस्थितिमें भी जो गुणश्रेणिशीर्षकी जघन्यस्थिति है उसमें असंख्यातगुणित प्रदेशाग्र देता है, उससे अनन्तरस्थितिसे लेकर पुरातनगुणश्रेणिशीर्षतक विशेषहीन क्रमसे प्रदेशाग्र देता है । यहांसे गलितावशेष गुणश्रेणि प्रारम्भ हो जाती है । इस अन्तिम स्थितिकाण्डकको द्विचरमफालितक यहक्रम रहता है, किन्तु चरमफालिके द्रव्यमेंसे उदयस्थितिमें स्तोक प्रदेशाग्र देता है, उससे अनन्तरस्थितिमें असंख्यातगुणा प्रदेशाग्र देता है । इसप्रकार असंख्यातगुणा क्रम अयोगकेवलीके चरमसमयपर्यन्त जानना चाहिए । चरमफालिके पतनसमयमें योगनिरोधक्रिया तथा सयोगकेवली कालकी परिसमाप्ति हो जाती है, इससे आगे (१४वें गुणस्थानमें) गुणश्रेणि, स्थितिघात और अनुभागघात नहीं है, मात्र असंख्यातगुणश्रेणीरूपसे अघःस्थितिगलन होता है अर्थात् प्रतिसमय अधस्तन एकस्थितिकालका नाश होनेसे स्थितिका क्षय होता है । यहीपर सातावेदनीयकर्मकी बन्धव्युच्छिन्ति हो जाती एवं (३६) प्रकृतियोंकी उदीरणाव्युच्छिन्ति भी हो जाती है तथा उसीसमयमें नाम-गोत्र व वेदनीयकर्मकी घातकरनेसे शेष बची स्थिति आयुकर्मके समान हो जाती है अर्थात् अयोगकेवलीकालके बराबर इन अघातिया (नाम-गोत्र व वेदनीय) कर्मोंकी स्थिति शेष

रह जाती है। इसप्रकार सयोगकेवलीगुणस्थानका पालन करके उसके कालकी परि-
समाप्ति हो जाती है तथा उससे अनन्तरसमयमें अयोगीजिन हो जाता है।

तुरियं तु समुच्छिद्यं किरियं भायदि अजोगिजिणो ॥२५५॥६४६॥
'सीलेसि संपत्तो गिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो ।
'बंधरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥२५६॥६४७॥

अर्थ—अयोगीजिन समुच्छिद्यक्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको ध्याते
हैं तथा शैलेश्यभावको प्राप्त करके निःशेष (सम्पूर्ण) आस्रवका निरोधकर बन्धरूपी
रजसे मुक्त होकर योगरहित केवली हो जाते हैं ।

विशेषार्थ—समुच्छिद्य अर्थात् लच्छेद हुआ है मन-वचन-कायरूप क्रियाका
जहां तथा निवृत्ति (प्रतिपात) से रहित अथवा मोक्षसे रहित होनेसे जो अनिवृत्त है
ऐसा यह ध्यान सार्थक नामवाला है । यहां भी ध्यानका उपचाररूप कथन पूर्वोक्तप्रकार
ही जानना, क्योंकि यथार्थतया तो एकाग्रचित्तानिरोध ही ध्यानका लक्षण है जो कि
केवलीभगवान्के सम्भव नहीं है । समस्त आस्रवसे रहित केवलीभगवान्के अवशेषकर्म-
निर्बंरामें कारणभूत स्वात्मानमें प्रवृत्तिरूप ध्यान ही पाया जाता है^१ । इसप्रकार सयोग-
गुणस्थानके अनन्तर पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकालतक अयोगकेवली होकर शैलेश्यभगवान्
अलेश्यभावको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् योगनिरोध हो जानेसे योगजनित लेश्याका भी
अभाव हो जाता है ।

शंका—शैलेश्य किसे कहते हैं ?

समाधान—शीलका ईश (स्वामी) शीलेश है, उस शीलेशका भाव शैलेश्य
कहलाता है । समस्त गुणशीलके अधिपतित्वको प्राप्त कर लिया है यह इसका अर्थ है ।

शङ्का—यदि ऐसा है तो इस विशेषणका यहां आरम्भ नहीं होना चाहिए ।
भगवत् अर्हत्परमेष्ठीके सयोगकेवली अवस्थामें समस्त गुण-शीलका आधिपत्य अविकल-

१. धवल पु० १ पृष्ठ १६६, पंचसंग्रह १-३०, जीवकाण्ड गाथा ६५, विशेषकथनके लिए अष्टसहस्री
पृष्ठ २३६-३७ एवं प्रमेयकमलमार्तण्ड भी देखना चाहिए ।

२. कम्मरय इति पाठान्तरं ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २२६२-६३ ।

रूपसे प्राप्त अर्थात् आत्मसात् हो जाता है, अन्यथा सयोगकेवलीके परिपूर्ण गुण-शील होनेसे हमारे समान परमेष्ठीपनेकी अनुत्पत्ति हो जावेगी ।

समाधान—यह सत्य है, सयोगकेवली भी आत्मस्वरूपकी प्राप्ति हो जानेसे अशेषगुणनिघान, निष्कलंक, परमोपेक्ष यथाख्यात विहारशुद्धिसंयमकी पाराकाष्ठाकी प्राप्ति हो जाते हैं । इसप्रकार अविकल स्वरूपसे सकल गुण-शील प्रगट हो जाते हैं, किन्तु सयोगअवस्थामें योग व आस्रवकी अपेक्षा निःशेषकर्मोंकी निर्जरा जिसका फल है ऐसा सकलसंवर उत्पन्न नहीं हुआ । अयोगकेवलीके निःशेष आस्रवद्वारा निरुद्ध हो जानेसे निष्प्रतिपक्षस्वरूपसे आत्मलाभ प्राप्त हो गया है । अतः मात्र अयोगकेवलीके हो शैलेश्यभाव अनुजात होता है, इसमें दोषको कुछ भी अवसर नहीं है^१ ।

बाहत्तरिपयडोओ दुचरिमगे तेरसं य चरिमग्निह ।

भाणजलणेण कवलिय सिद्धो सो होदि से काले ॥२५७॥६४८॥

अर्थ—अयोगकेवलीगुणस्थानके द्विचरमसमयमें (अनुदयरूप) ७२ प्रकृतियोंको तथा चरमसमयमें (उदयरूप) १३ प्रकृतियोंको शुक्लध्यानरूपी अग्निद्वारा कवलित (प्रासीभूत) करता है अर्थात् नष्ट करता है और अनन्तरवर्तिसमयमें सिद्ध होता है ।

विशेषार्थ—अयोगकेवलीगुणस्थानका काल पांच ह्रस्वाक्षर (अ इ उ ऋ लृ) के उच्चारणमें जितना समय लगता है उतना है^२ । उसकालमें एक-एकसमयमें एक-एक निषेकके गलनरूप जो अधःस्थितिगलन है उसके द्वारा क्षीण हुई अनुदयरूप ७२ प्रकृतियाँ द्विचरमसमयमें तथा चरमसमयमें उदयरूप १३ प्रकृतियाँ, शुक्लध्यानरूपी ज्वलन अर्थात् अग्निके द्वारा कवलित (नष्ट) होती हैं^३ । इनमें अनुदयरूप वेदनीय, देवगति, ५ शरीर, ५ बंधन, ५ संघात, ६ संस्थान, ६ संहनन, ३ आंगोपांग, वर्णादि २०, देवगत्यानुपूर्वी,

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२६२ ।

२. “अयोगकेवलिगुणावस्थानकालः शैलेश्यद्धा नाम । स पुनः पंचह्रस्वाक्षरोच्चारणकालावच्छिन्न परिमाणेत्यागमविदां निश्चयः ।” (जयधवल मूल पृष्ठ २२६३)

३. अत्रायोगीकेवलीद्विचरमसमये अनुदयरूपा वेदनीय-देवगतिपुरस्सराः द्वासप्ततिप्रकृतीः क्षपयन्ति । चरमसमये च सोदयवेदनीय-मनुष्यायु-मनुष्यगतिप्रभृतिकास्त्रयोदशप्रकृतीः क्षपयतीति प्रतिपत्तव्यम् । (जयधवल मूल पृष्ठ २२६३)

अगुरुलघु, उपधात, परधात, उच्छ्वास, अप्रधास्तविहायोगति, प्रधास्तविहायोगति, अपर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति, निर्माण, नीचगोत्र ये ७२ प्रकृतियां हैं तथा उदयरूप वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, मनुष्यानुपूर्वी,^१ त्रस, दादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थङ्कर, उच्चगोत्र ये १३ प्रकृतियां हैं। इसप्रकार इन ७२ व १३ प्रकृतियोंका क्रमशः द्विचरम-समय व चरमसमयमें क्षयकरनेके अनंतरसमयमें जिसप्रकार कालिमारहित शुद्धसोना निष्पन्न होता है उसीप्रकार सर्व कर्ममलरहित कृतकृत्यताकी प्राप्ति यह आत्मा सिद्ध हो जाता है।

तिहुवणसिहरेण मही विरथारे अट्टजोयणुदयथिरे ।

धवलच्छत्तायारे मणोहरे ईसिपव्भारे^२ ॥२५८॥६४६॥

अर्थ—तीनलोकके शिखरमें ४५ लाखयोजन विस्तृत एवं ८ योजन ऊंची, स्थिर, श्वेतवर्णवाली, छत्राकार ईषत्प्राग्भारनामक मनोहरपृथ्वी है।

विशेषार्थ—सिद्ध होनेपर ऊर्ध्वगमनस्वभावसे यह जीव तीनलोकके शिखरमें ईषत्प्राग्भारनामक अष्टमपृथ्वीपर एकसमयमात्रमें पहुँचकर तनुवातवलयके अन्तमें विराजमान होता है। वह सिद्धभूमि मनुष्यपृथ्वीके समान ४५ लाखयोजन विस्तृत गोलआकारवाली आठयोजनऊंची, स्थिर, श्वेतछत्रके आकारकी मध्यमें मोटी व सिरों-पर पतली तथा मनोहर है। यद्यपि ईषत्प्राग्भारनामक पृथ्वी घनोदधि-वातवलयपर्यन्त हैं, किन्तु यहां उस पृथ्वीके मध्य पार्श्व जांचेवाली सिद्धशिलाकी अपेक्षा यह प्ररूपण किया गया है। घर्मास्तिकायके अभावसे उससे आगे गमन नहीं होता है^३ अतः वहीं चरमशरीरसे किञ्चित्ऊन आकाररूप जीवद्रव्य अनन्तज्ञानानन्दमय विराजते हैं।

१. १४ वें गुणस्थानमें 'मनुष्यगत्यानुपूर्वी' अनुदयप्रकृति है। (धवल पु० ६ पृष्ठ ४१७, धवल पु० १० पृष्ठ ३२६, भगवति आराधना गाथा २११७-१८)

२. तन्वी मनोज्ञा सुरभिः पुण्या परम भास्वरा । प्राग्भारानाम वसुधा लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता । त्रिलोकतुल्यविषकम्भा सितच्छत्रनिभाशुभा । उर्ध्वं तस्याः क्षितेः सिद्धा लोकान्ते समवस्थिताः ॥ १८४-८५ (ज. घ. मूल पृष्ठ २२६६)

३. ततोऽप्यूर्ध्वगतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः । घर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परा ॥ (जयधवल मूल पृष्ठ २२६६ श्लोक १८८)

पुढ्वरहस्स तिजोगो संतो खीणो य पढमसुक्कं तु ।

विदियं सुक्कं खीणो इगिजोगो भायदे भाणी ॥२५६॥६५०॥

अर्थ—पूर्व अर्थात् ग्यारहअङ्ग व १४ पूर्वके ज्ञाताके तथा तीनोंयोगवालोंके उपशान्तमोह और क्षीणमोहगुणस्थानमें प्रथमशुक्लध्यान होता है एवं क्षीणमोहगुण-स्थानवर्ती और एकयोगवाले द्वितीयशुक्लध्यानको ध्याते हैं ।

विशेषार्थ—इस गाथामें प्रथमशुक्लध्यानके स्वामी उपशान्तमोहनामक ११वें गुणस्थानवाले तथा क्षीणमोहनामक १२वें गुणस्थानवालोंको बताया है । अर्थात् ११वें गुणस्थानसे पूर्वके गुणस्थानोंमें शुक्लध्यान नहीं होता, किन्तु धर्मध्यान होता है ऐसा इस गाथाके पूर्वार्धिका अभिप्राय जानना चाहिए । धर्मध्यान सकषायी जीवोंके और शुक्ल-ध्यान कषायरहित जीवोंके होता है । कहा भी है—

“धम्मज्झाणमेयवत्थुम्हि थोव कालावट्ठाइ । कुदो ? सकषाय परिणामस्स गहमहरंतट्ठिपईवस्सेव चिरकालमवट्ठाणाभावादो । धम्मज्झाणं सकसाएसु चेव होदि त्ति कर्ध णव्वदे ? असंजवसम्मादिट्ठि-संजवासंजव-पमत्तसंजव-अपमत्तसंजव-अपुव्वसंजव-अणियट्ठिसंजव-सुहुमसांपराइयत्तवगोवसाएसु धम्मज्झास्स पवुत्तो होवि त्ति जिणोवए-सादो । सुक्कज्झाणस्स पुण एककम्हि वत्थुम्हि धम्मज्झाणावट्ठाणकालादो संखेज्जगुण-कालमवट्ठाणं होदि, वीयरायपरिणामस्स मणिसिहाए व बहुएण वि कालेण संचाला-भावादो ।” अर्थात् धर्मध्यान एकवस्तुमें स्तोककालतक रहता है, क्योंकि कषायसहित परिणामका गर्भग्रहके भीतर स्थित दीपकके समान चिरकालतक अवस्थान नहीं बन सकता । असंयतसम्पगृह्णित, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, क्षपक व उपशामक अपूर्वकरणसंयत-अनिवृत्तिकरणसंयत-सूक्ष्मसाम्परायसंयतोके धर्मध्यानकी प्रवृत्ति होता है ऐसा जिनेन्द्रदेवका उपदेश है । इससे जाना जाता है कि धर्मध्यान सकषाय जीवोंके होता है, किन्तु शुक्लध्यानका एकपदार्थमें स्थितरहनेका काल धर्मध्यानके अवस्थानकाल से संख्यातगुणा है, क्योंकि वीतरागपरिणाम मणिकी शिखाके समान बहुतकालके द्वारा भी चलायमान नहीं होते ।

यद्यपि धर्मध्यानअवस्थामें कर्मबन्ध भी होता है, क्योंकि वह सकषायी जीवोंके होता है; तथापि वह संवर निर्जरा व कर्मरूप शत्रुकी सेनाके राजा मोहनीयकर्मका विनाश करनेवाला है ।

“किं फलमेदं धम्मज्झाणं ? अवलवएसु विउलामर सुहफलं गुणसेडोए कम्म-णिज्जराफलं । खवएसु पुण असंखेज्जगुणसेडोए कम्मपदेसणिज्जराणफलं सुहकम्माण-मुक्कस्साणुभागविहाणफलं च^१ । मोहरणीयविणासो पुण धम्मज्झाणफलं, सुहुमसांपराइय-चरससमए तस्स विणासुवलंभादो^२ । अर्थात्—

शङ्का—धर्मध्यानका क्या फल है ?

समाधान—अक्षपक जीवोंको देवपर्यायसंबंधी विपुलसुख मिलना और कर्मोंकी गुण-श्रेणितिर्जरा होना धर्मध्यानका फल है । क्षपक जीवोंके तो असंख्यातगुणश्रेणिरूपसे कर्म-निर्जरा होना और शुभकर्मोंका उत्कृष्टअनुभाग होना धर्मध्यानका फल है । मोहनीय-कर्मका विनाश करना भी धर्मध्यानका फल है ।

धर्मध्यानपूर्वक ही शुक्लध्यान होता है, क्योंकि धर्मध्यानके द्वारा मोहनीयकर्म-का उपशम या क्षय हो जानेपर ही वीतरागता होती है । अब शुक्लध्यानका कथन करते हैं—

शङ्का—शुक्लध्यानके शुक्लपना किस कारणसे प्राप्त है ?

समाधान—कषायमलका अभाव होनेसे शुक्लध्यानके शुक्लपना प्राप्त है । वह शुक्लध्यान चारप्रकारका है—पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कअवीचार, सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति और समुच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाति । इनमेंसे प्रथमशुक्लध्यानका लक्षण इसप्रकार है—पृथक्त्वका अर्थ भेद है, वितर्क द्वादशांगश्रुतको कहते हैं और वीचारका अर्थ मन-वचन-काययोग तथा अर्थ (पदार्थ) और व्यंजनकी संक्रान्ति है । पृथक्त्व अर्थात् भेदरूपसे वितर्क (श्रुत) का वीचार (संक्रान्ति) जिसध्यानमें होता है वह पृथक्त्ववितर्क-वीचारनामक ध्यान है ।

१. धवल पु० १३ पृष्ठ ७७ ।

२. धवल पु० १३ पृष्ठ ८१ ।

यतः उपशान्तमोहजीव अनेक द्रव्योंका तीनों योगके आलम्बनसे ध्यान करते हैं इसलिए उसे पृथक्त्व कहा है । यतः वितर्कका अर्थ श्रुत है और यतः पूर्वगतअर्थमें कुशल साधु ही इसध्यानको ध्याते हैं इसलिए इसध्यानको सवितर्क कहा है । अर्थ-व्यंजन और योगोंका संक्रम वीचार है, ऐसे संक्रमसे जो ध्यानयुक्त होता है वह सवीचार कहा जाता है^१ ।

चौदह, दस और नौ पूर्वका धारी प्रशस्त तीनसंहननवाला और तीन योगोंमें किसी एकयोगमें विद्यमान ऐसा उपशान्तकषायवीतरागजीव बहुत नयरूपी वनमें लीन हुए ऐसे एकद्रव्य या पर्यायको श्रुतरूपी रविकिरणके प्रकाशके बलसे ध्याता है । इसप्रकार उसी पदार्थको अन्तर्मुहूर्तकालतक ध्याता है, इसके पश्चात् अर्थान्तरपर नियमसे संक्रमित होता है अथवा उसी अर्थके गुण या पर्यायपर संक्रमित होता है और पूर्वयोगसे कथंचित् योगान्तरपर संक्रमित होता है । इसप्रकार एकअर्थ, अर्थान्तर, गुण, गुणान्तर और पर्याय, पर्यायान्तरको नीचे-ऊपर स्थापित करके फिर तीन योगोंको एकपंक्तिमें स्थापित करके द्विसंयोग और त्रिसंयोगकी अपेक्षा यहां पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानके ४२ भङ्ग उत्पन्न करना चाहिए ।

द.	गु.	प.			
द.	अ.	गु.	अ.	प.	अ.
			म.	अ.	का.

जीव, पुद्गल, धर्म-द्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश, काल ये छह द्रव्य हैं; इनके

सहभावीगुण और क्रमभावो पर्याय हैं । प्रत्येकद्रव्यकी अपेक्षा अन्यद्रव्य द्रव्यान्तर है, प्रत्येकगुणकी अपेक्षा अन्य सभी गुण गुणान्तर हैं और प्रत्येकपर्यायकी अपेक्षा अन्यपर्याय पर्यायान्तर है । द्रव्य, द्रव्यान्तर, गुण, गुणान्तर, पर्याय, पर्यायान्तर छहोंके योगत्रय-संक्रमणसे १८ भंग होते हैं । भावतत्त्वके गुण-गुणान्तर तथा पर्याय-पर्यायान्तर इन चारोंमें योगत्रय संक्रमणकी अपेक्षा १२ भंग और द्रव्य तत्त्वके गुण-गुणान्तर व पर्याय पर्यायान्तर इन चारोंमें योगत्रय संक्रमणकी अपेक्षा १२ भंग होते हैं, ये मिलकर कुल-भंग $१८ + १२ + १२ = ४२$ होते हैं । इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकालतक शुक्ललेश्यावाला उपशान्तकषायजीव छह द्रव्य और नौ पदार्थविषयक पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यानको अन्तर्मुहूर्तकालतक ध्याता है । अर्थसे अर्थान्तरका संक्रम होनेपर भी ध्यानका विनाश नहीं

होता, क्योंकि इससे चिन्तान्तरमें गमन नहीं होता । इसध्यानके फलस्वरूप संवर, निर्जरा और अमर (देव) सुख प्राप्त होता है; क्योंकि इससे मुक्तिको प्राप्ति नहीं होती । यद्यपि प्रथमशुक्लध्यान शुद्धोपयोग है, तथापि मोहनीयकर्मका उपशम होनेसे मुक्ति नहीं होती । क्षपकश्रेणिवालेके धर्मध्यानरूप शुभोपयोग मोक्षका कारण है, क्योंकि धर्मध्यानसे मोहनीयकर्मका क्षय होता है । उपशमश्रेणिवालेके शुक्लध्यानरूप शुद्धोपयोग मुक्तिका कारण नहीं है, क्योंकि मोहनीयकर्मका क्षय नहीं हुआ^१ ।

एकत्ववितर्कविचार नामक द्वितीयशुक्लध्यानका कथन इसप्रकार है—एकका भाव एकत्व है, वितर्क द्वादशांगको कहते हैं और अविचारका अर्थ असंक्रान्ति जिस-ध्यानमें होती है वह एकत्ववितर्क-अविचारध्यान है । इस विषयमें कहा भी है—

यतः क्षीणकषायजीव एक ही द्रव्यका किसी एक योगके द्वारा ध्यान करता है इसलिए उस ध्यानको एकत्व कहा है । यतः वितर्कका अर्थ श्रुत है और यतः पूर्वगत अर्थमें कुशल साधु इसध्यानको ध्याते हैं इसलिये इसध्यानको सवितर्क कहा गया है । अर्थ-व्यंजन और योगोंके संक्रमका नाम विचार है, उस विचारके अभावसे यह ध्यान अविचार है^२ । अर्थात् जिसके शुक्ललेण्या है, जो निसर्गसे बलशाली है, स्वभावसे शूर है, वज्रवृषभसंहननका घारी किसी एक संस्थानवाला है, चौदहपूर्व-दसपूर्व या नौपूर्व-घारी है, क्षाप्तिकसम्यग्दृष्टि है, और जिसने समस्त कषायवर्गका क्षयकर ऐसा क्षीण-कषायजीव नोपदार्थोंमें से किसी एक पदार्थका द्रव्य, गुण और पर्यायके भेदसे ध्यान करते हैं । इसप्रकार किसी एक योग और एक व्यंजन (शब्द) के आलम्बनसे यहां एक-द्रव्य, गुण या पर्यायमें मेरुपर्वतके समान निश्चलभावसे अवस्थित चित्तवाले असंख्यात-गुणश्रेणि क्रमसे कर्मस्कन्धोंके गलाने वाले अनन्तगुणो श्रेणि क्रमसे कर्मोंके अनुभागको शोषित करनेवाले और कर्मोंकी स्थितियोंको एक तथा एकशब्दके अवलम्बनसे प्राप्त हुए ध्यानके बलसे घात करनेवाले उनका अन्तर्मुहूर्तकाल व्यतीत होता है । तदनन्तर शेष बचे क्षीणकषायके कालप्रमाण स्थितियोंको छोड़कर उपरिम सर्वस्थितियोंकी उदयादि गुणश्रेणिरूपसे रचना करके पुनः स्थितिकाण्डकघात बिना अवस्थितिगलवा द्वारा ही असंख्यातगुणश्रेणिक्रमसे कर्मस्कन्धोंका घात करता हुआ क्षीणकषायके अन्तिस-

१. धवल पु० १३ पृष्ठ ७७ से ७९ ।

२. धवल पु० १३ पृष्ठ ७६ गाथा ६१-६२-६३ ।

समय प्राप्त होनेतक जाता है और वहाँ क्षीणकषायके चरमसमयमें ज्ञानावरण, दर्शना-
वरण और अन्तराय इन तीनकर्मोंका युगपत् नाश करता है, क्योंकि तीनधातिया कर्मों-
का निर्मूल विनाश करना एकत्ववितर्कबीचार ध्यानका फल है^१ ।

शंका—एकत्ववितर्कबीचारध्यानके लिए 'अप्रतिपाति' विशेषण क्यों नहीं दिया ।

समाधान—नहीं, क्योंकि उपशान्तकषायजीवके भवक्षय और कालक्षयके
निमित्तसे पुनः कषायोंको प्राप्त होनेपर एकत्ववितर्क-अबीचारध्यानका प्रतिपात देखा
जाता है ।

शंका—यदि उपशान्तकषायगुणस्थानमें एकत्ववितर्क-अबीचार ध्यान होता है
तो 'उवसंतो दु पुषत्ता' इत्यादि वचनके साथ विरोध आता है ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि उपशान्तकषायगुण-
स्थानमें केवल पृथक्त्वबीचारध्यान हो होता है ऐसा कोई नियम नहीं है^२ ।

शङ्का—पृथक्त्ववितर्कबीचार प्रथमशुक्लध्यान व एकत्ववितर्कबीचारनामक
शुक्लध्यान इन दोनोंका काल परस्पर समान है या हीनाधिक है ?

समाधान—एकत्ववितर्कअबीचार शुक्लध्यानका काल अल्प है और पृथक्त्व-
वितर्कबीचारनामक शुक्लध्यानका काल अधिक है^३ ।

शंका—पृथक्त्ववितर्कबीचार प्रथमशुक्लध्यानमें योगका संक्रमण होता है और
एकत्ववितर्क-अबीचारमें योगसंक्रान्ति नहीं होती इसमें क्या कारण है ?

समाधान—लक्षणभेदसे योगसंक्रमण व असंक्रमका भेद हो जाता है । प्रथम-
शुक्लध्यान सबीचार होनेसे उसमें अर्थ, व्यंजन (शब्द) और योगकी संक्रान्ति होती है ।
कहा भी है—जिस ध्यानमें अर्थ-व्यंजन-योगमें संक्रान्तिरूप बीचार हो वह एकत्ववितर्क-
अबीचारध्यान है ।

१. धवल पु० १३ पृष्ठ ७६-८० । 'तिष्ठणं धादिकम्मार्णं सिम्पूलविणासकलमेयत्तविदक्कअबीचार-
ज्झाणं' (धवल पु० १३ पृष्ठ ८१)

२. धवल पु० १३ पृष्ठ ८१ ।

३. जयधवल पु० १ पृष्ठ ३४४ व ३६१ ।

शङ्का—गृहस्थके धर्म या शुक्लध्यानमेंसे कौनसा ध्यान होता है ?

समाधान—गृहस्थके धर्म या शुक्लध्यान सम्भव नहीं, क्योंकि वह ग्रहकार्योंमें फंसा रहता है । श्री शुभचन्द्राचार्यने कहा है—

“खपुष्पमथवाशुङ्ग खरस्यापि प्रतीयते । न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गहाश्रमे ॥

आकाशके पुष्प और गंधके सींग नहीं होते हैं । कदाचित् किसी देश या काल में इनके होनेकी प्रतीति हो सकती है, किन्तु गृहस्थाश्रममें ध्यानकी सिद्धि होने तो किसी देश व कालमें सम्भव नहीं है’ । पुनरपि कहा है—

“मुनीनामेव परमात्मध्यानं घटते ।

तप्तलोहगोलकसमानगृहीणां परमात्मध्यानं संगच्छते ॥”

मुनियोंके ही परमात्माका ध्यान अर्थात् धर्मध्यान घटित होता है । तप्तलोहके गोलके समान गृहस्थियोंके परमात्माका ध्यान अर्थात् धर्मध्यान नहीं होता^१ । इसीप्रकार भावसंग्रहमें भी कहा है—

“अटुरच्छद् भाणं भद् अतिथिं तस्मिन् गुणठाणे ।

बहु आरंभपरिग्रह जुत्तस्स य एतिथिं तं धम्मं^२ ॥”

गृहस्थके इस (५वें) गुणस्थानमें आर्त-रौद्र और भद्र ये तीनप्रकारके ध्यान होते हैं, इस गुणस्थानवर्तीजोवके बहुत आरम्भ व परिग्रह होता है इसलिए इस गुणस्थानमें धर्मध्यान नहीं होता । और भी कहा है—

“घरवावारा केई करणीया अतिथि ते ण ते सठवे ।

भाणट्टियस्स पुरआ चिट्ठंति णिमोलियच्छिस्स^३ ॥”

गृहस्थोंको घरके कितने ही कार्य करने पड़ते हैं और जब वह गृहस्थ अपने वेत्रोंको बन्दकर ध्यान करने बैठता है तब उसके सामने घरके करने योग्य सब व्यापार आ जाते हैं ।

१. जानार्णव अ० ४ श्लोक १७ ।

२. मोक्षप्राभृत गाथा २ की टीका ।

३. भावसंग्रह गाथा ३५७ ।

४. भावसंग्रह गाथा ३५५ ।

तत्त्वानुशासनमें धर्मध्यानका जो लक्षण कहा गया है उससे भी सिद्ध है कि गृहस्थके धर्मध्यान नहीं होता, क्योंकि गृहस्थके चारित्र नहीं होता । तद्यथा—

“सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।

तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद्गुणध्यानमभ्यधुः” ॥”

धर्मके ईश्वर गणधरादि देवोंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहा है जो उस रत्नत्रयरूप धर्मसे उत्पन्न हो उसे ही आचार्यगण धर्मध्यान कहते हैं । गृहस्थके रत्नत्रयरूप धर्म नहीं होता अतः उसके धर्मध्यान भी नहीं होता ।

शङ्का—आचार्योंने चतुर्थगुणस्थानसे धर्मध्यान कहा है तब फिर उपर्युक्त कथनका आचार्यवाक्योंसे विरोध क्यों नहीं होगा ?

समाधान—चतुर्थादि गुणस्थानोंमें धर्मध्यानका निरूपण आगममें पाया जाता है, किन्तु वहाँ औपचारिक धर्मध्यान होता है, क्योंकि वही प्रमाद विद्यमान है । तत्त्वानुशासन व भावसंग्रहमें कहा भी है—

“मुख्योपचारभेदेन धर्मध्यानमिहद्विधा ।

अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वोपचारिकं” ॥”

“मुखं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमायविरहिणं ठाणे ।

देसविरणं पमत्ते उदयारेणं व पायव्वं” ॥”

मुख्य और उपचारके भेदसे धर्मध्यान दो प्रकारका है, उसमेंसे अप्रमत्तगुण-स्थावमें मुख्य और चतुर्थ-पंचम व छठे गुणस्थानमें औपचारिकधर्मध्यान होता है । गृहस्थोंके दानपूजादिको उपचारसे धर्मध्यान कहा गया है, क्योंकि गृहस्थधर्ममें दान-पूजादिकी मुख्यता है । कहा भी है—

“तेषां दानपूजापर्वोपवाससम्यक्त्वप्रतिपालनशीलव्रतरक्षणादिकं गृहस्थधर्म-
एवोपदिष्टं भवन्तीति भावार्थः । ये गृहस्थापि सन्तो मनागात्मभावनाभासाद्य वयं ध्यानिन
इति ब्रुवते ते जिनधर्मविराघका मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्यः” ॥”

१. तत्त्वानुशासन श्लोक ५१ ।
२. तत्त्वानुशासन श्लोक ४७ ।
३. भावसंग्रह गाथा ३७१ ।
४. मोक्षपाहुड़ गाथा २ की टीका ।

गृहस्थोंके दान-पूजा, पूर्वउपवास, सम्यक्त्वप्रतिपालन, शीलव्रतरक्षणादि धर्म कहा है, जो गृहस्थ होते हुए भी किंचित् भी आत्मभावनाको प्राप्त करके अपने आपको ध्यानी कहते हैं वे जिनधर्मके विराधक मिथ्यादृष्टि हैं । और भी कहा है—

“जिण-साहुगुणुक्किताण-पसंसणा-विणय-दाणसंपण्णा ।

-सील-संजमरदा धम्मज्झाणे मुणेषव्वा” ॥

जिनेन्द्रभगवान् और साधुके गुणोंका कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, दानसम्पन्नता, श्रुत-शील व संयममें रत होना इत्यादि कार्य धर्मध्यानमें होते हैं, ऐसा जानना चाहिए । अतः गृहस्थके औपचारिक धर्मध्यान कहा गया है ।

यद्यपि गाथा २५६में प्रथम व द्वितीयशुक्लध्यानका ही कथन किया गया है, किन्तु यह कथन तृतीय व चतुर्थशुक्लध्यानकी सूचनार्थ है । अतः तृतीय व चतुर्थ शुक्ल-ध्यानका कथन करते हैं—

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तृतीयशुक्लध्यान है । क्रियाका अर्थ योग है, जो ध्यान पतनशील हो वह प्रतिपाती कहलाता है और उसका प्रतिपक्ष अप्रतिपाती कहलाता है । जिसमें क्रिया अर्थात् योग सूक्ष्म होता है वह सूक्ष्मक्रिया कहा जाता है । सूक्ष्म-क्रिय होकर जो अप्रतिपाती होता है वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान कहलाता है । यहाँ केवलज्ञानके द्वारा श्रुतज्ञानका अभाव हो जाता है इसलिए यह ध्यान अवितर्क है । अर्थान्तर-व्यञ्जन-योगकी संक्रान्तिका अभाव होनेसे अवीचार है ।

शंका—तृतीयशुक्लध्यानमें अर्थ-व्यञ्जन व योगकी संक्रान्तिका अभाव कैसे है ?

समाधान—इनके अवलम्बन बिना ही युगपत् त्रिकालगोचर अशेषपदार्थोंका ज्ञान होता है इसलिए इस ध्यानमें इनकी संक्रान्तिके अभावका ज्ञान होता है^१ ।

“अविदक्कमवीचारं सुद्धमकिरियबंधणं तदियसुक्कं ।

सुद्धमम्हि कायजोसे भणिदं तं सव्वभावगदं ॥

१. धवल पु० १३ पृष्ठ ७६ गाथा ५५ ।

२. धवल पु० १३ पृष्ठ ८३ ।

सुहृमम्हि कायजोमे वटुंतो केवली तदियसुक्कं ।

ज्झायदि णिहंभिदुं जो सुहृमं तं कायजोगं पि^१ ॥”

तृतीयशुक्लध्यान अवितर्क-अवीचार और सूक्ष्मक्रियासे सम्बन्ध रखनेवाला होता है, क्योंकि काययोगके सूक्ष्म होनेपर सर्वभावगत यह ध्यान कहा गया है । जो केवलोजित सूक्ष्मकाययोगमें विद्यमान होते हैं, वे तृतीयशुक्लध्यानका ध्यान करते हैं और उस सूक्ष्मकाययोगका भी निरोध करनेके लिए उसका ध्यान करते हैं ।

शंका—योगनिरोध किसे कहते हैं ?

समाधान—योगके विनाशको योगनिरोध कहते हैं^२ ।

अन्तर्मुहूर्तकालतक कृष्टिगत योगवाले अर्थात् सूक्ष्मकाययोगवाले होते हैं तथा उसीकालमें सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानको ध्याते हैं । अन्तिमसमयमें कृष्टियोंके असंख्यात-बहुभागका नाश होता है ।

शंका—केवलीजितके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान नहीं बनता, क्योंकि केवली-जित अशेषद्रव्य और उनकी पर्यायोंको विषय करते हैं, अपने सम्पूर्णकालमें एकरूप रहते हैं और इन्द्रियज्ञानसे रहित हैं अतएव उनका एकवस्तुमें मनका निरोध करना उपलब्ध नहीं है तथा मनका निरोध किये बिना ध्यान होना सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्यत्र वैसा देखा नहीं जाता ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि प्रकृतमें “एकवस्तुमें चिन्ताका निरोध करना ध्यान है,” यदि ऐसा ग्रहण किया जाता तो उक्त दोष आता, किन्तु यहां ऐसा ग्रहण नहीं है । यहां तो उपचारसे योगका अर्थ चिन्ता है और उसका एकाग्ररूपसे निरोध अर्थात् विनाश जिसध्यानमें किया जाता है वह ध्यान है, ऐसा यहां ग्रहण करना चाहिए । अतः यहां पूर्वोक्त दोष सम्भव नहीं है ।

“तोयमिव णालियाए तत्तायसभायणोदरत्थं वा ।

परिहादिकमेण तहा जोगजलं ज्झाण जलणेण^३ ॥”

१. भगवती आराधना गाथा १८८६-८७ ।

२. “को जोगनिरोहो ? जोगविणासो” (ध० पु० १३ पृष्ठ ८४)

३. धवल पु० १३ पृष्ठ ८६ गाथा ७४ ।

जिसप्रकार नाली द्वारा जलका क्रमशः अभाव होता है या तपे हुए लोहपात्रमें स्थित जलका क्रमशः अभाव होता है उसीप्रकार ध्यानरूपी अग्निके द्वारा योगरूपी जलका क्रमशः नाश होता है । उक्तं च—

“जहसव्वसरीरगदं मंतेण विस्सं णिरुंभए ङंके ।
तत्तो पुणोऽवणिज्जदि पहाणज्झरमंत जोएण ॥
तह बादरतणुविसयं जोगविसं ज्झाणमंतबलजुत्तो ।
अणुभावमिह णिरुंभदि अवणेदि तदो वि जिणवेज्जो^१ ।”

जिसप्रकार मंत्रके द्वारा सर्वशरीरमें व्याप्त विषका डंकके स्थानमें निरोध करते हैं और प्रधान क्षरण करनेवाले मंत्रके बलसे उसे पुनः निकालते हैं उसीप्रकार ध्यानरूपी मन्त्रके बलसे युक्त सयोगकेवलीजिनरूपी वैद्य बादरशरीर विषयक योगविषको पहले पकसा है और इसके बाद उसे निकाल देता है ।

चतुर्थशुक्लध्यानका कथन इसप्रकार है—

जिसमें क्रिया अर्थात् योग सम्यक्प्रकारसे उच्छिन्न हो गया है वह समुच्छिन्नक्रिय कहलाता है । समुच्छिन्नक्रिय होकर जो अप्रतिपाति है वह समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यान है । यह श्रुतज्ञानसे रहित होनेके कारण अवितर्क है, जोवप्रदेशोंके परिस्पन्दका अभाव होनेसे अवीचार है या अर्थ-व्यञ्जन-योगकी संक्रान्तिका अभाव होनेसे अवीचार है ।

“अविदक्कमवीचारं अणियट्ठी अकिरियं च सेलेसि ।

ज्झाणं णिरुद्धजोगं अपच्छिमं उत्तमं सुक्कं^२ ॥”

अन्तिम उत्तम शुक्लध्यान वितर्करहित, बीचाररहित है, अनिवृत्ति है, क्रियारहित है, शैलेशी अवस्थाको प्राप्त है और योगरहित है ।

योगका निरोध होनेपर शेषकर्माकी स्थिति आयुर्कर्मके समान अन्तर्मुहूर्त होती है, तदनन्तरसमयमें शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होता है और समुच्छिन्नक्रिय अनिवृत्ति शुक्लध्यानको ध्याता है ।

१. धवल पु० १३ पृष्ठ ८७ गाथा ७५-७६ ।

२. धवल पु० १३ पृष्ठ ८७ गाथा ७७ ।

शङ्का—यहाँ ध्यानसंज्ञा किस कारणसे दी गई है ।

समाधान—एकाग्ररूपसे जीवके चिन्ताका निरोध अर्थात् परिस्पन्दका अभाव होना ही ध्यान है । इसदृष्टिसे यहाँ ध्यानसंज्ञा दी गई है ।

शङ्का—इस ध्यानका क्या फल है ?

समाधान—अघातिचतुष्कका विनाश करना इस ध्यानका फल है तथा योगका निरोध करना तृतीयशुक्लध्यानका फल है ।

शैलेशी अवस्थाका काल क्षीण होनेपर सर्वकर्मोंसे मुक्त हुआ यह जीव एक-समयमें सिद्धिको प्राप्त होता है^१ । कहा भी है—

“जोगविणासं किञ्चा कम्म चउक्कस्स खवणकरणट्ठं ।

जं भायदि अजोगिजिणो णिक्किरियं तं चउत्थं य^२ ॥”

योगका अभाव करके अयोगकेवलभगवान् चार अघातिया कर्मोंको नष्ट करनेके लिए जो ध्यान करते हैं वह चतुर्थ व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यान है, इसका दूसरा नाम समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाति भी है । इसके द्वारा वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चार अघातियाकर्मोंका क्षय होता है । १४वें गुणस्थानवाले अयोगिजिन इसध्यानके स्वामी हैं ।

शंका—ध्यान मनसहित जीवोंके होता है, केवलीके मन नहीं है अतः वहाँ ध्यान नहीं है ?

समाधान—ध्यानके फलस्वरूप कर्मनिर्जराको देखकर केवलीके उपचारसे ध्यान कहा गया है । अथवा यद्यपि यहाँ मनका व्यापार नहीं है तथापि पूर्ववृत्तिकी अपेक्षा उपचारसे ध्यान कहा गया है । पुनरपि कहा है—

भ्र्माणं सजोइकेवलं जह सह अजोइ एत्थि परमत्थे ।

उवयारेण पउत्ती भूयत्थ णय विवक्खा य ॥

१. धवल पु० १३ पृष्ठ ८७-८८ ।

२. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४८७ ।

भाणं तह भायारो भेयवियप्पा य होति मणसहिण् ।

तं णत्थि केवलि दुगे तम्हा भाणं एण संभवदि^१ ॥”

ध्यान, ध्याता, ध्येय और विकल्प ये सब मनसहित जीवोंके होते हैं, परन्तु वह मन सयोग व अयोगकेवलीके नहीं है अतः इनके ध्यान सम्भव नहीं है । जिसप्रकार सयोगकेवलीके ध्यान नहीं है उसीप्रकार अयोगकेवलीके ध्यान नहीं है, इनके भूतपूर्वनय-की अपेक्षा औपचारिकध्याव माना जाता है । तथापि उक्त—

“यद्यत्र मानसो व्यापारो नास्ति तथाप्युपचारकियया ध्यानमित्युपचर्यते । पूर्ववृत्तिमपेक्ष्य घृतघटवत् । यथा घटः पूर्वं घृतेन भृतः पश्चाद् रिक्तः कृतः घृतघटं आनीयतामित्युच्यते तथा पूर्वं मानसव्यापारत्वात्^२ ॥”

यद्यपि यहां मनका व्यापार नहीं है तथापि पूर्ववृत्तिकी अपेक्षा उपचारसे ध्यान कहा गया है । जैसे घटमें पहले घी भरा हुआ था पश्चात् वह रिक्त हो गया फिर भी वह घीका घट कहलाता है । पहले मनका व्यापार था, केवली होनेपर मनका व्यापार नहीं रहा तथापि भूतपूर्व नयसे ध्यानका उपचार किया जाता है । और भी कहा है—

“निरवशेष निरस्तज्ञानावरणे युगपत् सकलपदार्थाविभासि केवलज्ञानातिशये चिन्ता निरोधाभावेऽपि तत्फलकर्मनिर्हरणफलापेक्षया ध्यानोपचारवत्^३ ।”

समस्तज्ञानावरणके नाश हो जानेपर युगपत् समस्तपदार्थोंके रहस्यको प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञानका अतिशय होनेपर चिन्तानिरोधका अभाव होनेपर भी कर्मोंके नाशरूप उसके फलकी अपेक्षा ध्यानका उपचार किया जाता है ।

सो मे तिहुणमहिदो सिद्धो बुद्धो गिरंजणो णिच्चो ।

दिसदु वरणाणदंसणचरित्तसुद्धिं समाहिं च॥२६०॥६५१॥

अर्थ—तीनलोकसे पूजित, बुद्ध, गिरंजन, चित्त ऐसे सिद्धभगवान् मुझे उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन व चारित्र्यकी शुद्धि तथा समाधि देवें ।

१. भावसंग्रह गा० ६८२-८३ ।

२. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ४८७ की टीका पृष्ठ ३८५ ।

३. सर्वार्थसिद्धि अ. ६ सूत्र ११ ।

विशेषार्थ—पंच लघुअक्षर (अ इ उ ऋ लृ) के उच्चारणमें जितना काल लगता है उतने कालप्रमाणवाले अयोगकेवली नामक १४वें गुणस्थानको अधःस्थिति-गलनके द्वारा व्यतीतकरके समस्तकर्मोंके पूर्णरूपसे क्षय होजानेके कारण निरंजन हैं । अनन्तज्ञान व अनन्तदर्शन पराकाष्ठाको प्राप्त हो जानेसे बुद्ध हैं, अविकल आत्मस्वरूपकी उपलब्धि हो जानेसे नित्य, अविनाशी अर्थात् आत्मस्वरूपसे चलायमान होनेवाले नहीं हैं । समस्त पुरुषार्थ सिद्ध हो जानेसे सिद्ध हैं, तीनलोकके शिखरपर विराजमान हो जानेसे तीनलोकसे पूजित हैं अथवा उनका ध्यान करनेसे भव्यजीवोंकी मोक्षकी सिद्धि हो जाती है इसलिए भी वे सिद्धभगवान् पूजित हैं । चरमशरीरसे किंचित् न्यून आकारवाले अमूर्तिक (कर्म-लोकमसे रहित होनेके कारण) सिद्ध भगवान् मुझे क्षायिक-ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य तथा समाधि (वीतरागता) देवें ।

जैसे दीपकका बुझना प्रदीपका निर्वाण है उसीप्रकार आत्माकी स्कन्धसन्तान का उच्छेद होनेसे अभावमात्र निर्वाणकी कल्पना बौद्ध करता है । अभावलक्षणवाले निर्वाणका विरोध करनेके लिए सर्वपुरुषार्थकी सिद्धिसे सिद्ध तथा ज्ञान व दर्शनकी पराकाष्ठाको प्राप्त हो गये ऐसा कहा गया है । ज्ञानीजन स्वनाशके लिए पुरुषार्थ नहीं करते, किन्तु अपूर्वलाभके लिए पुरुषार्थ करते हैं । नैयायिक कहता है कि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार, इन नव आत्मगुणोंके नाशसे निर्वाणकी कल्पना करते हैं, किन्तु यह कल्पना उचित नहीं है, क्योंकि गुणोंके अभावसे गुणो आत्माका भी अभाव हो जावेगा । अतः उपर्युक्त पुरुषार्थसिद्धि व परमकाष्ठाको प्राप्त ज्ञान-दर्शन विशेषण दिए गए हैं । इसीप्रकार गंधके सींचके समान मुक्तावस्थामें आत्माका अभाव माननेवालोंका तथा कार्य-कारणसम्बन्धसे रहित बहुत सोते हुए पुरुष के समान आत्माके अव्यक्त चैतन्य मानने वालोंका विरोध हो जाता है । अतः हमारे सिद्धान्तमें स्वात्मोपलब्धि ही निर्वाण (सिद्धि) है, यह सिद्ध हो जाता है' ।

‘अह खवणाहियार -- चूलिया

दर्शनमोह और चारित्र्यमोह कर्मप्रकृतियोंकी क्षपणाविधि पूर्वमें कही गई उसका उपसंहार करते हुए आगे ११ गाथाओंमें चूलिकारूप व्याख्यान किया जाता है—

अण मिच्छ मिस्स सम्मं अट्टणवुंसिस्थिवेदछक्कं च ।
पुंवेद च खवेदि हु कोहादीए च संजलणे ॥१॥

अर्थ—अनन्तानुबन्धी, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति, आठकषाय, तपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह लोकषाय, पुरुषवेद और तत्पश्चात् क्रोधादि चार सज्जलन-कषायका क्षय करता है ।

विशेषार्थ—‘अण’ अर्थात् चार अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन क्रियाके द्वारा सर्वप्रथम नाश करता है । ‘मिच्छ’ दर्शनमोहकी क्षपणाकेके लिए आरुढ़ हुआ पूर्वमें मिथ्यात्वका क्षय करता है । ‘मिस्स’ उसके पश्चात् सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय करता है । ‘सम्म’ उसके पश्चात् सम्यक्त्वप्रकृतिका क्षय करके क्षायिकसम्यग्दृष्टि हो जाता है । ‘अट्ट’ अपने योग्यगुणस्थानमें सप्त प्रकृतियोंका क्षय करके पश्चात् क्षपकश्रेणी पर आरुढ़ होता हुआ अनिवृत्तिकरणगुणस्थानमें अन्तरकरणसे पूर्व आठ कषायोंका क्षय

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२७२ । “चूलिका विशेष व्याख्यानम् अथवा उक्तानुक्तव्याख्यानम्, उक्तानुक्तसंकीर्णव्याख्यानम् ।” (ध० द्र० सं० क्षेपक गाथा १-२ की टीका अन्तमें) ‘सुत्त सूदत्थ पयासणं चूलिया एणं ।’ (धवल पु० १० पृष्ठ ३६५) “कालविद्वाणेण सूचिदस्थानं विवरणं चूलिया । जाए अत्थ परूवणाए कदाए पुब्बपरूविदत्थम्मि सिस्साणं णिच्छओ उप्पज्जदि सा चूलिया ति भणिदं होदि ।” (धवल पु० ११ पृष्ठ १४०) । “एक्कारुस अणिओगदारेसु सूद-दत्थस्स विसेसियूण परूवणा चूलिया ।” (ध० पु० ७ पृष्ठ ५७५) । विशेष व्याख्यान अथवा उक्तानुक्त व्याख्यान चूलिका है । सूत्र सूचित अर्थके प्रकाशित करनेका नाम चूलिका है । सूचित अर्थका विशेष वर्णन करना चूलिका है । जिस अर्थ प्ररूपणाके किये जानेपर पूर्वमें दणित पदार्थके विषयमें शिष्यको निश्चय उत्पन्न हो वह चूलिका है ।

करता है । इसीप्रकार (अन्तरकरणके पश्चात्) गाथानुसार क्रमसे नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा), पुरुषवेदका क्षय करता है । अवेदी होकर संज्वलनक्रोध, संज्वलनमान और संज्वलनभायाका क्रमसे क्षय करके सूक्ष्म-साम्परायगुणस्थानमें संज्वलन लोभका क्षय करता है' ।

इसप्रकार प्रथमगाथामें चार अनन्तानुबन्धोक्तषाय और दर्शनमोहकी तीन-प्रकृतियोंके क्षयसे क्षाधिकसम्यक्त्वकी उत्पत्ति बताकर चारित्रमोहकी नव नोकषाय व चारसंज्वलन कषायोंके क्षयका क्रम बतलाकर अब दूसरी गाथामें क्षय होनेवाली सोलह प्रकृतियोंके नाम कहते हैं—

‘अहं थीणगिद्धिकम्मं णिदाणिदा य पयलपयला य ।

अहं णिरय-तिरियणामा खीणा संखोहणादीसु ॥२॥

अर्थ—स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, नरकगति-तिर्यञ्चगति और सहचरी नामकर्मकी प्रकृतियोंका अन्य प्रकृतियोंमें संक्रमण करके नाश करता है ।

विशेषार्थ—अन्तरकरण करनेसे पूर्व क्षपकश्रेणी पर आरुढ़ हुआ मनुष्य प्रथम आठ मध्यवर्ती कषाय (अप्रत्याख्यानावरण ४, प्रत्याख्यानावरण ४) का क्षय करता है उसके पश्चात् दर्शनावरणकर्मकी तीन प्रकृतियाँ (स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा और प्रचलाप्रचला) तथा नामकर्मकी १३ प्रकृतियाँ—नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्च-गत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म व साधारण इसप्रकार (३ + १३) इन सोलह प्रकृतियोंमें संक्रमण करके इनका क्षय करता है ।

अन्तरकरण करनेके पश्चात् मोहनीयकर्मका आनुपूर्विसंक्रमण होता है उसीको तीन गाथाओंमें कहते हैं—

सव्वस्स मोहणीयस्स आणुपुव्वी य संकमो होइ ।

लोहकसाण्णियमा असंकमो होइ बोद्धव्वो ॥३॥

२. जयधवल मूल पृष्ठ २२७२-७३ ।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२७३, क० पा० सुत्त गा० १२८ पृष्ठ ७५६ ।

संछुहदि पुरिसवेदे इत्थीवेदं एणुंसयं चेव ।

सत्तेव लोकसाए शियमा कोहम्हि संछुहदि ॥४॥

कोहस्स छुहइ माणे माणं मायाए शियमसा छुहइ ।

मायं च छुहइ लोहे पडिलोमो संकमो एत्थि ॥५॥'

अर्थ—अन्तरकरण करनेके पश्चात् द्वितीयसमयसे सर्व मोहनीयकर्मका आनु-पूर्वोसंक्रमण होता है । लोभकषायका नियमसे असक्रामक होता है ऐसा जानना चाहिए । स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके द्रव्यको पुरुषवेदमें संक्रमित करता है । सात (पुरुषवेद व छह नोकषाय) नोकषायके द्रव्यको नियमसे क्रोधमें संक्रमित करता है । क्रोधके द्रव्यको मानमें, मानके द्रव्यको मायामें और मायाके द्रव्यको लोभमें संक्रमित करता है । प्रतिलोम संक्रमण नहीं होता ।

विशेषार्थ—चारित्र्यमोहनीयकर्म नव नोकषाय और तीन संज्वलनकषायका स्वमुखक्षय नहीं परमुखक्षय होता है । अर्थात् इनके द्रव्यका परप्रकृतिरूप संक्रमण होकर इनका क्षय होता है । वह पर प्रकृतिरूप संक्रमण आनुपूर्वरूपसे होता है प्रतिलोम (पश्चादानुपूर्वी) विधिसे नहीं होता । सबसे अन्तमें लोभकषायके पश्चात् कोई कषाय नहीं है जिसमें लोभकषायका द्रव्य संक्रमित हो सके । अतः लोभकषायका संक्रमण नहीं होता, इसका स्वमुखसे क्षय होता है ।

सर्वप्रथम नपुंसकवेदका क्षय होता है । इसके पश्चात् स्त्रीवेदका क्षय होता है । स्त्रीवेदका बन्ध नहीं होता, पुरुषवेदका बन्ध होता है । अतः नपुंसकवेद व स्त्रीवेदके द्रव्यका संक्रमण पुरुषवेदमें होता है । पुरुषवेद और छह नोकषाय इन सातके पुरातनद्रव्यका क्रोधकषायमें संक्रमण होकर क्षय होता है । क्रोध-मान-माया-लोभ ऐसा क्रम है । संज्वलन क्रोधके द्रव्यका संज्वलनमान कषायमें संक्रमण होकर संज्वलनक्रोधका क्षय होता है । संज्वलनमानके द्रव्यका संज्वलनमायामें संक्रमण होकर क्षय होता है और संज्वलन मायाके द्रव्यका संज्वलनलोभमें संक्रमण होकर क्षय होता है । अन्तरकरण करनेके पश्चात् प्रतिलोम (पश्चादानुपूर्वी) संक्रमण नहीं होता अर्थात् लोभका

संक्रमण माया, मान, क्रोधमें अथवा मायाका संक्रमण क्रोध-मानमें या मानका संक्रमण क्रोधमें नहीं होता है । बन्धप्रकृतिमें ही संक्रमण होता है—

‘जो जम्हि संलुहंतो णियमा बंधम्हि दोई संलुहणा ।

बंधेण हीणदरगे अहिण वा संकमो णत्थि ॥६॥

अर्थ—जो जीव जिसप्रकृतिका संक्रमण करता है वह नियमसे बध्यमान प्रकृतिमें संक्रमण करता है । जिस स्थितिको बांधता है उसके सदृशस्थितिमें अथवा उससे हीन स्थितिमें संक्रमण करता है, किन्तु अधिक स्थितिमें संक्रमण नहीं करता ।

विशेषार्थ—इस गाथामें बध्यमान प्रकृतियोंमें संक्रमण किये जानेवाली बध्यमान या अबध्यमान प्रकृतियोंका किसप्रकार संक्रमण होता है, यह बतलाया गया है । क्षपकश्रेणीमें जो जीव जिस विवक्षित प्रकृतिके कर्मप्रदेशोंको उत्कीर्णकर जिस प्रकृतिमें संक्रमण करता है नियमसे बन्धसदृशमें संक्रान्त करता है । यहां पर ‘बन्ध’ से साम्प्रतिक-बन्धकी अग्रस्थितिका ग्रहण होता है, क्योंकि स्थितिबन्धके प्रति उसकी ही प्रधानता है । अर्थात् इससमय बंधनेवाली प्रकृतिकी जो स्थिति है उसमें उसके समान प्रमाण-वाली विवक्षित संक्रम्यमान प्रकृतिके प्रदेशाग्रको उत्कीर्णकर संक्रान्त करता है । ‘बंधेण हीणदरगे’ इसका अभिप्राय यह है कि बन्धनेवाली अग्रस्थितिसे एकसमयादि कम अधस्तन बन्धस्थितियोंमें भी जो आबाधाकालसे बाहर स्थित है, अधस्तन प्रदेशाग्रको स्वस्थान या परस्थानमें उत्कीर्णकर संक्रमण करता है, किन्तु वर्तमानमें बन्धनेवाली स्थितिसे उपरिम सत्त्वस्थितियोंमें उत्कर्षण संक्रमण नहीं होता है । यह ‘अहिण वा संकमो णत्थि’ का अर्थ है । आबाधाकालका परप्रकृतिरूप संक्रमण समस्थितिमें प्रवृत्त होता है । क्षपकश्रेणीमें बध्यमान और अबध्यमान प्रकृतियोंको यथासम्भव संक्रमण करता हुआ बध्यमान प्रकृतियोंके प्रत्यग्रबन्धस्थितिसे अधस्तन और उपरितन स्थितियोंमें से समस्थितिमें संक्रमण करता है^१ ।

‘बंधेण होइ उदओ अहिय उदण्ण संकमो अहिओ ।

गुणसेदि अणंतगुणा बोद्धवो होइ अणुभागो ॥७॥

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२७३, क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६५ गा० १४० ।

२. जयधवल मूल पृष्ठ १६८६-६० ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २२७४; क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६६ गा० १४४ ।

‘बंधेण होइ उदओ अहिओ उदएण संकमो अहिओ ।

गुणसेडि असंखेज्जा य पदेसग्गेण बोद्धवा ॥८॥

उदओ य अणंतगुणो संपहि बंधेण होइ अणुभागो ।

से काले उदयादो संपहि बंधो अणंतगुणो ॥९॥

अर्थ—बन्धसे अधिक उदय होता है और उदयसे अधिक संक्रमण होता है । इसप्रकार अनुभागके विषयमें अनन्तगुणित गुणश्रेणि जानना चाहिए । बंधसे अधिक उदय होता है और उदयसे अधिक संक्रमण होता है । इसप्रकार प्रदेशके विषयमें असंख्यातगुणश्रेणी जानना चाहिए । अनुभागविषयक साम्प्रतिकबन्ध अनन्तगुणा होता है ।

विशेषार्थ—गाथा नं० ७ में अनुभागकी अपेक्षा, बन्ध, उदय व संक्रमणका अल्पबहुत्व कहा गया है । अनुभागकी अपेक्षा बन्ध अल्प है, क्योंकि यहाँपर तत्काल होनेवाले बन्धकी विवक्षा है । बन्धसे उदय अनन्तगुणा है, क्योंकि वह चिरन्तन सत्त्वके अनुभागरूप है । उदयसे संक्रमण अनन्तगुणा है । इसका कारण यह है कि उदयमें तो अनुभागसत्त्व अनन्तगुणाहीन होकर आता है, किन्तु परप्रकृतिरूप संक्रमण तो चिरन्तन-सत्त्वका तदवस्थारूपसे होता है । यह अल्पबहुत्व धातियाकर्मोंकी अपेक्षासे कहा गया है^१ ।

गाथा नं० ८ में प्रदेश विषयक अल्पबहुत्व बतलाया गया है । अनिवृत्तिकरण-गुणस्थानके उक्त स्थलपर पुरुषवेद आदि जिस किसी भी कर्मका तबकबन्ध समयप्रबद्ध प्रमाण होता है वह प्रदेशोंकी अपेक्षा उदयादिसे अल्प है । बन्धसे प्रदेशोदय असंख्यात-गुणा है, क्योंकि आयुकर्मके अतिरिक्त अन्यकर्मोंका उदय गुणश्रेणी गोपुच्छाके माहात्म्य-से समयप्रबद्धसे असंख्यातगुणा हो जाता है । उदयरूप प्रदेशोंसे संक्रमणरूप प्रदेश भी असंख्यातगुणे होते हैं । इसका कारण यह है कि जिनकर्मोंका गुणसंक्रमण होता है उन कर्मोंका गुणसंक्रमण द्रव्य और जिनका अधःप्रवृत्त संक्रमण होता है उनका अधःप्रवृत्त-संक्रमण द्रव्य असंख्यात समयप्रबद्धप्रमाण होनेसे उदयकी अपेक्षा असंख्यातगुणा हो जाता है^२ ।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२७४ व घ० पु० ६ पृष्ठ ३६२ गा. २७, क. पा. सुत्त पृष्ठ ७७० गा. १४५ ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६६ ।

३. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७६६ ।

गाथा ६ में जिस अनुभाग-अल्पबहुत्वका कथन पूर्वानुपूर्वी क्रमसे किया है चूर्णि-सूत्रकारने उसको पश्चात्तानुपूर्वी क्रमसे कहा है । चूर्णिसूत्रोंमें कथन इसप्रकार है—विवक्षितसमयके अनन्तरकालमें होनेवाला अनुभागबन्ध अल्प है । इस अनुभागबन्धसे उसीसमय होनेवाला उदय अनन्तगुणा है, इसका कारण गाथा नं० ७ में कहा गया है । इसके अनन्तर समयवर्ती अनुभागोदयसे विवक्षित समयमें अनुभागबन्ध अनन्तगुणा है, क्योंकि प्रतिसमय अनन्तगुणी बढ़नेवाली विशुद्धिके माहात्म्यसे विवक्षित समयकी विशुद्धि से अनन्तरसमयकी विशुद्धि अनन्तगुणी होती है । इसलिए पूर्व-पूर्व समयके उदयसे उत्तरोत्तर समयका बन्ध भी अनन्तगुणा हीन होता है अथवा उत्तरोत्तर समयके उदयसे पूर्व-पूर्व समयका बन्ध अनन्तगुणा होता है यह सब विशुद्धिका माहात्म्य है^१ ।

मोहनीयकर्मके अतिरिक्त अनिवृत्तिकरणगुणस्थानके अन्तसमयमें शेष कर्मोंका स्थितिबन्ध—

चरिमे बादररागे णामा गोदाणि वेदणीयं च ।

वस्सस्संतो बंधदि दिवसस्संतो य जं सेसे ॥१०॥^२

अर्थ—बादरसाम्परायके चरमसमयमें नाम-गोत्र-वेदनीय इन तीन अघातिया-कर्मोंका स्थितिबन्ध अन्तःवर्षप्रमाण और शेष तीन घातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध अन्तः-दिवस प्रमाण होता है ।

विशेषार्थ—चरमसमयवर्ती बादरसाम्परायके नाम, गोत्र व वेदनीयकर्मोंका स्थितिबन्ध कुछकम एक वर्ष प्रमाण होता है और तीन घातिया कर्मोंका पृथक्त्वमुहूर्त-प्रमाण स्थितिबन्ध अन्तःवर्षप्रमाण और तीन घातियाकर्मोंका पृथक्त्वमुहूर्तप्रमाण स्थिति-बन्ध होता है, किन्तु मोहनीयकर्मका अन्तर्मुहूर्तमात्र होता है^३ ।

‘जं चात्रि संखुहंतो खवेदि किट्ठि अवंधगो तिस्से ।

सुहुमम्हि संपराप अवंधगो बंधगियराणं ॥११॥

१. क० पा० सुत्त पृष्ठ ७७० ।

२. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८७४ गा० २०६ व पृष्ठ ६६६ गा० १०, ज. घ. मूल पृष्ठ २२२१ व २२७४ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २२२२ ।

४. क० पा० सुत्त पृष्ठ ८८१ गा० २१७ व पृष्ठ ६६६ गा० ११; ज. घ. मूल पृ० २२६५ व २२७४ ।

अर्थ—जिस कृष्टिको भी संक्रमण करता हुआ क्षय करता है उसका अबन्धक होता है । सूक्ष्मसाम्परायमें भी अबन्धक होता है, किन्तु इतरकृष्टियोंके वेदन व क्षपणा-कालमें उनका बन्धक होता है ।

विशेषार्थ—दो समयकम दो आवलिपूर्व तबकबन्धकृष्टियोंका संक्रमण करके क्षय करनेवाला उस अवस्थामें उन कृष्टियोंका अबन्धक होता है । सूक्ष्मसाम्पराय नामक १०वें गुणस्थानमें सूक्ष्मकृष्टियोंका वेदन करते हुए भी उनका अबन्धक होता है, क्योंकि वहांपर तत्त्ववर्तिका अभाव है । तादरसाम्परायगुणस्थानमें क्षय होनेवाली कृष्टियोंके वेदककालमें कृष्टियोंका बाधक होता है । अर्थात् जिस जिस कृष्टिको क्षय करता नियमसे उसका बन्धक होता है, किन्तु दो समयकम दो आवलिबद्ध कृष्टियोंके क्षपणाकालमें सूक्ष्मसाम्परायिक कृष्टियोंके क्षपणाकालमें उनका बन्ध नहीं करता । इन ग्यारह गाथाओं द्वारा सूक्ष्मसाम्परायपर्यन्त चारित्रमोहकी क्षपणाविधि चूलिकारूपसे कही गई । कुछ गाथा पूर्वमें कही जा चुकी हैं, किन्तु पुनरुक्त दोष नहीं आता^१ ।

‘जाव ए छदुमत्थादो तिरहं घादीण वेदगो होइ ।

अहऽणंतरेण खइया सव्वएहु सव्वदरिसी य ॥१२॥

अर्थ—जबतक क्षीणकषायवीतरागसंयतछद्मस्थ अवस्थासे नहीं निकलता तब-तक वह तीनघातियाकर्मोंका वेदक होता है । इसके पश्चात् अनन्तर समयमें तीनघातिया-कर्मोंका क्षय करके सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है ।

विशेषार्थ—जबतक छद्मस्थ पर्यायको निष्क्रान्त नहीं करता तबतक ज्ञाना-वरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोंका नियमसे वेदन करता है, अन्यथा छद्मस्थभाव उत्पन्न नहीं होंगे । अनन्तर समयमें द्वितीय शुक्लध्यानरूपी अग्निके द्वारा समस्त घातिया कर्मरूपी गहन वनको दग्ध करके छद्मस्थ पर्यायसे निष्क्रान्त होकर क्षायिकलब्धिको प्राप्त कर [क्षायिकज्ञान दर्शन-सम्यक्त्व-चारित्र्य दान-लाभ-भोग-उपभोग और वीर्य इन ६ क्षायिक भावोंको प्राप्तकर] सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हुए विहार करते हैं । इन १२ गाथाओंके समाप्त होनेपर चारित्रमोहक्षपणा चूलिका सम्पूर्ण होती है^२ ।

१. जयधवल मूल पृष्ठ २२३५ ।

२. जयधवल मूल पृष्ठ २२७४ ।

३. जयधवल मूल पृष्ठ २२७५ ।

नोट—उपर्युक्त १२ गाथाओंका ग्रन्थान्तर (जयघवल मूल) से क्षपणाधिकार-की चूलिकाका कथन हिन्दी टीकाकारने उद्धृत किया है । इसके अनन्तर आचार्य नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा क्षपणासारका उपसंहार करते हुए अन्तिम मंगल दो गाथाओं द्वारा किया गया है ।

उसीको कहते हैं—

वीरिंदणं दिवच्छेणप्पसुदेणभयणं दिसिस्सेण ।

दंसणचरित्तलद्धी सुसूयिदाणेमिचंदेण ॥२६१॥६५२॥

अर्थ—इसप्रकार धीरनन्दि और इन्द्रनन्दिआचार्यके वत्स तथा अभयनन्दि-आचार्यके शिष्य मुक्त अल्पज्ञ नेमिचन्द्रके दर्शन व चारित्र्यलब्धि को भले प्रकारसे कहा है ।

अब आचार्य गुरुनमस्कार पुरस्सर अन्तिममङ्गल करते हैं—

अस्स य पायपसाण्णणंतसंसारजलहिमुत्तिणो ।

वीरिंदणं दिवच्छेणमामि तं अभयणं दिगुरुं ॥२६२॥६५३॥

अर्थ—वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि आचार्यका वत्स मैं नेमिचन्द्रआचार्य जिनके चरणप्रसादसे अनन्तसंसारसमुद्रसे पार हुआ उन अभयनन्दिनामक गुरुको नमस्कार करता हूँ ।



चारित्रमोहोपशामना परिशिष्ट अधिकार ।

कर्मों का उदय आदि (उदय-उदीरणा) परिणामनके बिना उपशान्तरूपसे अवस्थानको उपशामना कहते हैं । वह उपशामना दो प्रकारकी होती है—१. करणोपशामना २. अकरणोपशामना । प्रशस्त और अप्रशस्त परिणामोंके द्वारा कर्म प्रदेशोंका उपशान्तभावसे रहना करणोपशामना है अथवा करणोंकी उपशामनाको करणोपशामना कहते हैं । अप्रशस्त निधत्ति, निकाचित आदि 'आठकरणोंको अप्रशस्त उपशामना द्वारा उपशान्त करना या उत्कर्षण आदि करणोंका अप्रशस्त उपशामनाके द्वारा उप-

करणोपशामना है । इससे भिन्न लक्षणावली अकरणोपशामना है । प्रशस्त-अप्रशस्त परिणामोंके बिना उदय-अप्राप्तकाल वाले कर्मप्रदेशोंके उदयरूप परिणामके बिना अवस्थित रहने को अकरणोपशामना कहते हैं । इसीका दूसरा नाम अनुदीरणोपशामना है । द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका आश्रय लेकर कर्मोंके होने वाले विपाक परिणामको उदय कहते हैं । इसप्रकारके उदयसे परिणतकर्मको उदीर्ण कहते हैं । इस उदीर्ण दशासे भिन्न (उदयावस्थाको नहीं प्राप्त हुए कर्मोंको) दशाको अनुदीर्ण कहते हैं । अनुदीर्ण कर्मकी उपशामनाको अनुदीर्णोपशामना कहते हैं, क्योंकि करण-परिणामकी अपेक्षा नहीं होती इसलिए इसको अकरणोपशामना भी कहते हैं । इसका विस्तारपूर्वक कथन कर्मप्रवाद नामक आठवें पूर्वमें है ।

करणोपशामनाके दो भेद हैं—देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामना । अप्रशस्त उमशमकरणादि (अप्रशस्तउपशमकरणा, निधत्तिकरणा, निकाचितकरणादि) के द्वारा कर्मप्रदेशोंके एकदेश उपशान्त करनेको देशकरणोपशामना कहते हैं, किन्तु कुछ आचार्य कहते हैं कि देशकरणोपशामनाका इसप्रकार लक्षण करनेपर इसका

१. अटुविहं ताव करणं । जहा—अप्यसत्यउपशमणकरणं, शिष्यत्तिकरणं, शिकाचणाकरणं, बंधणकरणं, उदीरणाकरणं, ओकड्डणाकरणं उक्कड्डणाकरणं संकमणकरणं च ।

(क. पा. सुत्त पृ. ७१२ सूत्र ३५८, ज. व. मूल पृ. १८८४)

अकरणोपशामनामें अन्तर्भाव हो जावेगा इसलिए इसका लक्षण इसप्रकार है—दर्शन-मोहनीय कर्म उपशमित हो जानेपर अप्रशस्तोपशम, निवृत्ति, निकाचित, बन्धन, उत्कर्षण, उदीरणा और उदय ये सातकरण उपशान्त हो जाते हैं तथा अपकर्षण और परप्रकृतिसंक्रमण ये दो करण अनुपशान्त रहते हैं । अतः कुछ करणों के उपशमित होनेसे और अन्य करणोंके अनुपशमित रहनेसे इसे देशकरणोपशामना कहते हैं । अथवा उपशमश्रेणि चढ़नेवाले जीवके अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमें अप्रशस्त उपशमकरण, निवृत्तिकरण और निकाचितकरण, ये तीनकरण अपने-अपने स्वरूपसे विनष्ट हो जाते हैं । संसार अवस्थामें इन तीनोंकरणोंके कारण उदय, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण, उपशान्त थे अर्थात् होते नहीं थे, किन्तु इन तीन करणोंका नाश होनेपर अपकर्षणादि क्रिया होने लगती है । इनका विनाश होनेपर उपशमका अभाव नहीं होता, क्योंकि पूर्व संसारावस्थामें अप्रशस्त उपशमकरण आदि तीन करणोंके द्वारा गृहीत प्रदेशोंका उस स्वरूपसे (अप्रशस्तोपशम, निवृत्ति, निकाचित स्वरूपसे) जो विनाश होता है वह देशकरणोपशामना है । अप्रशस्त उपशम आदि तीन करणोंका विनाश होनेपर अपकर्षणादि क्रिया सम्भव होनेसे अनिवृत्तिकरण व सूक्ष्मसाम्परायमें देशकरणोपशामना होती है । अथवा नपुंसकवेदके प्रदेशाग्रका उपशम करते हुए जबतक उसका सर्वोपशम नहीं हो जाता तबतक उसका नाम देशकरणोपशामना है । अथवा नपुंसकवेदके उपशान्त होनेपर और शेष कर्मोंके अनुपशान्त रहनेका अवस्था विशेषको देशोपकरण-शामना कहते हैं, क्योंकि करण परिणामोंके द्वारा (विवक्षित एक भागरूप) कर्म-प्रदेशोंको उपशान्त अवस्था हुई है ।

सर्वकरणोंकी उपशामना सर्वकरणोपशामना है । अप्रशस्त उपशम, निवृत्ति, निकाचित आदि आठ प्रकारके करणोंका अपनी क्रियाको छोड़कर प्रशस्त उपशामनाके द्वारा जो सर्वोपशम होता है वह सर्वकरणोपशामना है^१ ।

शङ्का:— यदि सर्वकरणोपशामनामें अपकर्षण आदि क्रियाका अभाव है तो अप्रशस्तोपशम, निवृत्ति, निकाचित करणोंमें भी अपकर्षणादिका अभाव सम्भव है । अपकर्षणादि क्रियाके अभावमें अप्रशस्तोपशमकरणादिको उत्पत्तिका प्रसंग आ जानेसे उनका उपशम कैसे सम्भव है ?

समाधानः—यह दोष नहीं आता, क्योंकि अनिवृत्तिकरणमें प्रवेशके प्रथम-समयमें ही अप्रशस्त उपशमकरण, निधत्तिकरण, निकाचितकरण नष्ट हो जाते हैं और वह संतति अविच्छिन्नरूपसे ऊपर चली जानेसे उनकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है । अतः सर्वोपशामनामें उन अप्रशस्त उपशमकरण, निधत्तिकरण आदिका उपशम सिद्ध हो जाता है । सर्वोपशामना करणमें अपकर्षणादिका अभाव होनेपर भी अप्रशस्त उपशम-करणादिकी उत्पत्ति नहीं होती । संसार अवस्थामें अपकर्षणादिका अभाव होनेपर भी अप्रशस्त उपशमकरणादिकी उत्पत्ति नहीं होती । संसार अवस्थामें अपकर्षणादि सम्भव होनेपर भी बन्धके समय अन्तरंग कारणके वशसे कितने ही कर्म परमाणुओंका उदीरणा-उदय आदिका न होना अप्रशस्त उपशमकरण आदिका व्यापार है ।^१

श्री यद्विषभाचार्यने कषायपाहुह पर रचित चूर्णि सूत्रोंमें देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामनाका कथन इसप्रकार किया है—

देशकरणोपशामनाके दो नाम हैं—देशकरणोपशामना, अप्रशस्तोपशामना । जयधवलकारने इसकी व्याख्या इसप्रकार की है—संसार प्रायोग्य अप्रशस्त परिणाम निबन्धन होनेसे इस देशकरणोपशामनाको अप्रशस्तोपशामना कहा गया है । अप्रशस्त परिणामोंका निबन्धन असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि अतितीव्र संक्लेशके वशसे अप्रशस्तोपशामनाकरण, निधत्तिकरण, निकाचितकरणकी प्रवृत्ति देखी जाती है । क्षपकश्रेणी व उपशमश्रेणिमें विशुद्ध परिणामोंके द्वारा इनका विनाश हो जाता है, इसलिए अप्रशस्त भावकी सिद्धि हो जाती है । इसप्रकार जो अप्रशस्तोपशामना है, वही देशकरणोपशामना कही जाती है । कर्म प्रकृति प्राभूतमें अर्थात् दूसरापूर्व, पंचमवस्तु, उसकी चतुर्थ प्राभूतके कर्मप्रकृति अधिकारमें देशकरणोपशामनाका सविस्तार कथन है ।

सर्वकरणोपशामनाके भी दो नाम हैं—सर्वकरणोपशामना और प्रशस्त-करणोपशामना । प्रथम सर्वकरणोपशामनाका कथन पूर्वमें किया जा चुका है । प्रशस्तकरणोपशामना संज्ञा सुप्रसिद्ध है, क्योंकि इसमें प्रशस्तकरण परिणाम कारण हैं । कषायोपशामनाकी प्ररूपणाके अवसरमें सर्वकरणोपशामनाकी विवक्षा है । अकरणोपशामना व देशकरणोपशामनाका यहां प्रयोजन नहीं है ।^२

१. जयधवल मूल पृ० १८७२-७३ ।

२. जयधवल मूल पृ० १८७४ एवं क. पा. सुत्त पृ० ७०७-७०६ ।

मोहनीय कर्मके अतिरिक्त अन्य कर्मोंका उपशम नहीं होता, क्योंकि ज्ञानावरणादि कर्मोंके उपशमनारूप परिणाम सम्भव नहीं है । अकरणोपशमना और देशकरणोपशमना उन कर्मोंमें होती है, किन्तु यहां प्रशस्तकरणोपशमनाका प्रकरण है इसलिए मोहनीयकर्मकी ही प्रशस्त उपशमना के द्वारा उपशम होता है । (अनिवृत्तिकरणगुणस्थानके प्रथमसमयमें ज्ञानावरणादि सर्व कर्मोंके अप्रशस्त उपशमना, निधत्ति और निकाचित ये तीनोंकरण व्युच्छिन्न हो जाते हैं ।^१

उपशमश्रेणिमें दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम नहीं होता, क्योंकि दर्शनमोहनीयका उपशम या क्षय पूर्वमें ही हो जाता है । अनन्तानुबन्धी कषायका भी उपशम नहीं होता, क्योंकि पहले अनन्तानुबन्धीकषायकी विसंयोजना करके पश्चात् उपशमश्रेणि चढ़ता है । बारह कषाय और नव नोकषायका उपशम होता है।



१. अंशियद्विपदमसमये सब्बकम्माणां पि अप्पसत्थउवसांमणाकरणं, शिघत्तीकरणं, शिकाचणाकरणं
अ वोच्छिण्णाणि ।
(ज. ध. सू. पृ. १८८५, क. पा. सुत्त पृ. ७१२ सूत्र ३५६)

उपशान्तकषायगुणस्थानसे अधःपतनका कथन ।

“उपशान्तकषायतः अधःपतनकथनाधिकारः”

अवस्थित परिणामवाला उपशान्तकषायकोरसी कोहने जिन कारणोंसे गिरता है; उसमें सर्वप्रथम भवक्षयरूप कारण को कहते हैं—

उवसंते पडिवडिदे भवक्षये देवपढमसमयम्हि ।

उग्घाडिदाणि सव्ववि करणाणि हवन्ति णियमेण ॥३०८॥

अर्थः—भवक्षय होनेपर उपशान्तकषायसे गिरकर देवोंमें उत्पन्न होनेवालेके प्रथमसमयमें नियमसे समस्तकरण उद्घाटित हो जाते हैं ।

विशेषार्थः—अवस्थित परिणामवाले उपशान्तकषायका प्रतिपात दो प्रकार है १. भवक्षय निबन्धन २. उपशमनकाल क्षय निबन्धन । इनमें भवक्षय अर्थात् प्रथमादि किसी भी समयमें आयुक्षयसे प्रतिपातको प्राप्त हुए जीवके देवोंमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें ही असंयत हो जानेसे बंध, उदीरणा एवं संक्रमणादि सब करण निज स्वरूपसे प्रवृत्त हो जाते हैं । उपशान्तकषायमें जो करण उपशान्त थे वे सब देव असंयतमें उपशम रहित हो जाते हैं । उपशान्तकषायसे परिणाम हानिके कारण नहीं गिरता, क्योंकि अवस्थित परिणाम होनेके कारण परिणाम हानि सम्भव नहीं है ।

आगे भवक्षयसे उपशान्तकषायगुणस्थानसे प्रतिपत्तित देव असंयतके प्रथम-समयमें सम्भव कार्यविशेषका कथन करते हैं—

सोदीरणाण दव्वं देदि हु उदयावलिम्हि इयरं तु ।

उदयावलिवाहिरगे गोपुच्छाए देदि सेढीए ॥३०९॥

अर्थः—उदयरूप प्रकृतियोंका द्रव्य उदयावलिमें भी दिया जाता है, इतर

(अनुदय) प्रकृतियोंका द्रव्य उदयावलि के बाहर तथा अन्तरायाममें गोपुच्छाकार श्रेणिरूपसे निक्षिप्त होते हैं ।

विशेषार्थः—देवोंमें उत्पन्न होनेसे प्रथम तययर्षे शेष-नाम-मात्र शेष इन चार कषायोंमें से किसी एक कषायके अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनरूप भेद तथा पुरुषवेद, हास्य, रति इन उदयरूप प्रकृतियोंके द्रव्यको और यदि भय व जुगुप्साका उदय हो तो उनके भी द्रव्यको अपकर्षण भागहारका भाग देकर एक भागके असंख्यातलोकमें भागप्रमाण द्रव्यका उदयावलिमें दिया जाता है और शेष असंख्यातलोक बहुभाग द्रव्य उदयावलिसे बाहर प्रथम निषेकसे लगाकर अवशेष अन्तरायाममें, और उपरितन द्वितीय स्थितिमें चयहीन गोपुच्छाकार श्रेणिरूपसे देता है । उदयरहित नपुंसकवेदादिक मोहकी प्रकृतिके द्रव्यका अपकर्षण करके उसे उदयावलीमें न देते हुए उदयावलीसे बाह्य अन्तरायाम, उपरितन स्थितिमें विशेषहीन क्रमसे देता है । इसप्रकार अवशिष्टान्तर पूरा जाता है अर्थात् जो अवशिष्ट अन्तररूप निषेक रहे थे उनमें द्रव्यका निक्षेपण होनेसे उनका सद्भाव हो जाता है ।

अब उपशान्त-कालक्षयके कारण उपशान्तकषायगुणस्थानसे गिरनेका कथन करते हैं—

अद्धाखण्ड पडंतो अधापवत्तोत्ति पडदि हु कमेण ।

सुज्झंतो आरोहदि पडदि हु सो संकिलिस्संतो ॥३१०॥

अर्थः—उपशान्तकालका क्षय होनेसे गिरनेपर अधःप्रवृत्ततक क्रमसे गिरता है, विणुद्ध परिणामोंसे पुनः श्रेणिपर चढ़ता है और संक्लेश परिणामोंसे उससे भी नीचे गिरता है ।

विशेषार्थः—अन्तर्मुहूर्तमात्र अर्थात् दो क्षुद्रभवप्रमाण उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थानका काल है, उसकालमें अवस्थित परिणामवाला रहता है, किन्तु उसकालका अन्त हो जानेपर सूक्ष्मसाम्पराय होकर अनिवृत्तिकरण होता है, पीछे अपूर्वकरण होकर अधःप्रवृत्तकरण अप्रमत्त हो जाता है । इसप्रकार अधःप्रवृत्तकरण तक क्रमशः पतन होता है । तत्पश्चात् प्रमत्त होकर विणुद्ध परिणामोंसे पुनः श्रेणिपर चढ़ता है, किन्तु संक्लेश परिणामोंके द्वारा अधःप्रवृत्तकरणसे भी गिरता है । उपशान्तकषायसे चढ़ना या गिरना विणुद्ध व संक्लेश परिणामोंके निमित्तसे नहीं होता,

क्योंकि उपशान्तकषायमें अवस्थित विशुद्धतारूप परिणाम रहता है ।

उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थानका काल समाप्त होनेपर नियमसे उपशमकालका क्षय हो जाता है, अतः उपशान्तकषायसे पतन होता है । विशुद्धतामें हीनाधिकताके कारण पतन नहीं होता है, क्योंकि वहां विशुद्धता अवस्थित है, हीनाधिक नहीं है । कालक्षयके अतिरिक्त अन्य भी कोई कारण पतनका नहीं है ।^१

उपशान्तकषायसे गिरकर सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानमें आये जीवका कार्यविशेष ४ गाथाओंमें कहते हैं—

सुहुमण्विदुसमयेणद्धुवसामण तिलोहगुणसेढी ।

सुहुमद्धादो अहिया अवट्टिदा मोहगुणसेढी ॥३११॥

अर्थः—उपशान्तकषायके पश्चात् सूक्ष्मसाम्परायमें प्रविष्ट हुआ, वहां प्रथम समयमें नष्ट हो गया है उपशमकरण जिनका ऐसी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलनलोभको गुणश्रेणि प्रारम्भ होती है । इस गुणश्रेणिआयामका प्रमाण, अवरोहक सूक्ष्मसाम्परायकालसे एक आवलि अधिक है यहां मोहको गुणश्रेणिका आयाम अवस्थितरूप है ।

विशेषार्थः—उपशान्तकषाय गुणस्थानसे गिरकर सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थान को प्राप्त होनेके प्रथमसमयमें अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन इन तीन प्रकारके लोभका द्वितीय स्थितिसे अपकर्षण करके संज्वलनकी उदयादि गुणश्रेणि की जाती है । कृष्टिगत लोभ वेदककालसे विशेष अधिक कालवाला गुणश्रेणि निक्षेप है । दोप्रकार अर्थात् प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्यानावरणलोभका भी उतना ही निक्षेप है, किन्तु उदयावलिसे बाहर निक्षेप होता है । तीनप्रकारके लोभका उतना-उतना ही निक्षेप है अर्थात् अवस्थित गुणश्रेणि है । उसी समय अर्थात् प्रथमसमयमें ही तीनप्रकारका लोभ एकसमयमें ही प्रशस्तोपशमनाको छोड़ अनुपशान्त होजाता है ।^२

उदयाणं उदयादो सेसाणं उदयवाहिरे देदि ।

अण्हं बाहिरसेसे पुव्वसिगादहियणिव्खेओ ॥३१२॥

१. ज. ध. मूल पृ. १८६१-६२ ।

२. क. पा. सु. पृ. ७१५, ज. ध. मूल पृ. १८६२; घ. पु. ६ पृ. ३१८ ।

अर्थः—उदयगत प्रकृतियोंके द्रव्यका निक्षेप उदय निषेकसे प्रारम्भ होता है, शेष कर्मोंका उदयावलिसे बाहर निक्षेप प्रारम्भ होता है । छह कर्मोंका गुणश्रेणिनिक्षेप अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्पराय इन तीनसे विशेष अधिक है । उदयावलिके बाहर इन छह कर्मोंका गलिताशेषआयामरूप गुणश्रेणिनिक्षेप प्रवृत्त होता है ।

विशेषार्थः—उदयरूप संज्वलनलोभकी द्वितीय स्थितिमें स्थित द्रव्यको अपकर्षित करके उसमें पत्यके असंख्यातवैभागका भाग देकर एक भागको उदयरूप प्रथम, समयसे लेकर गुणश्रेणिआयामके अन्तिम निषेकपर्यन्त असंख्यातगुणे क्रमसे तब तक निक्षिप्त करता है, जबतक अन्तर पूरा नहीं जाता । बहुभागप्रमाण द्रव्यको गुणश्रेणि आयामके अन्तिम निषेकसे ऊपर पाये जाने वाले अन्तरायामको छोड़कर उसके ऊपर द्वितीयस्थितिमें चयहीन क्रमसे निक्षिप्त करता है । तथा उदयरहित अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानलोभकी द्वितीय स्थितिमें स्थित द्रव्यको अपकर्षित करके उदयावलिसे बाहर प्रथम समयसे लेकर गुणश्रेणिके अन्तपर्यन्त असंख्यातगुणे क्रमसे और उसके ऊपर अन्तरायामको छोड़कर द्वितीय स्थितिमें चयहीन क्रमसे पूर्ववत् निक्षिप्त करता है । आयु व मोहके बिना छहकर्मोंके द्रव्यको अपकर्षित करके उसमें पत्यके असंख्यातवैभागका भागदेकर उसमेंसे एक भाग उदयावलिमें देता है और बहुभाग गुणश्रेणि आयाममें देता है । सो इनका यह गुणश्रेणिआयाम उतरनेवाले सूक्ष्मसाम्पराय, अनिवृत्तिकरण और अपूर्वकरणके सम्मिलित कालसे कुछ अधिक प्रमाण युक्त गलितावशेषरूप जानना । इसमें असंख्यातगुणा कमयुक्त द्रव्य देता है । अपकर्षित द्रव्यमें जो बहुभाग रहा उसको उपरितन स्थितिमें चयहीन क्रमसे देता है ।^१

ओदरसुहुमादीए बंधो अंतोमुहुत्त बत्तीसं ।

अडदालं च मुहुत्ता तिघादिणामदुग्धवेयणीयाणं ॥३१३॥

अर्थः—उपशान्तकषायसे अवतरित हुए जीवके सूक्ष्मसाम्परायके आदिमें तीन घातिया कर्मोंका अन्तर्मुहूर्तप्रमाण, नामद्विकका बत्तीस मुहूर्तप्रमाण और वेदनीयका अड़तालीस मुहूर्तप्रमाण बन्ध होता है ।

विशेषार्थः—उपशान्तकषायसे उतरते हुए सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम समयमें

ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोंका अन्तर्मुहूर्त, नाम व गोत्र कर्मका ३२ मुहूर्त एवं वेदनीयका ४८ मुहूर्त मात्र स्थिति बन्ध जानना, क्योंकि आरोहक-सूक्ष्मसाम्परायके अन्तिम समयमें जो स्थितिबन्ध होता है उससे अवरोहक सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम समयमें दुगुणा स्थितिबन्ध है । उपशमश्रेणि चढ़नेवालेको आरोहक और उतरनेवालेको अवरोहक कहते हैं ।

गुणसेढीसत्थेदररसबंधो उवसमादु विवरीयं ।

एवमुदश्यो किङ्कीर्यनतंलभात्ता वितेतअहियकमा ॥३१४॥

अर्थः—तदनन्तर समयमें (द्वितीयादि समयोंमें) अवरोहकके गुणश्रेणि अपकृष्टद्रव्य, प्रशस्त व अप्रशस्तप्रकृतियोंका अनुभागबन्ध आरोहकसे विपरीतक्रम लिये होता है । प्रथम समयमें जितनी कृष्टियोंका उदय होता है, द्वितीयादि समयोंमें उसके असंख्यातवैभाग विशेष अधिक क्रमसे उदय होता है ।

विशेषार्थः—अवरोहक (उतरनेवाला) सूक्ष्मसाम्परायके द्वितीयादि समयों में प्रतिसमय प्रथमसमय सम्बन्धी द्रव्यसे असंख्यातगुणा हीन क्रमयुक्त द्रव्य अपकर्षित करके गुणश्रेणि करता है । सातावेदनीयादि प्रशस्त प्रकृतियोंका अनन्तगुणा हीन क्रम लीये और ज्ञानावरणादि अप्रशस्त प्रकृतियोंका अनन्तगुणा बढ़ता क्रम लीये अनुभागबन्ध होता है, क्योंकि यहां प्रतिसमय विशुद्ध व संक्लेशकी यथाक्रम अनन्तगुणा हानि व वृद्धि होती है । इसलिए उपशमश्रेणि पर आरोहण करते समयसे उतरते समय विपरीतपना कहा है । स्थितिबन्ध तो प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त समान ही है । प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तमें आरोहकके स्थितिबन्धसे अवरोहकके यथास्थान दुगुणा स्थितिबन्ध सूक्ष्म साम्परायके अन्तिम समय पर्यन्त जानना । चढ़ते हुए जिस स्थानपर जितना स्थिति-बन्ध होता था उससे दूना स्थितिबन्ध उसी स्थानपर उतरते हुए होता है । जैसे चढ़ते समय स्थितिबन्धापसरण द्वारा स्थितिबन्ध घटाकर एक-एक अन्तर्मुहूर्तमें समान बन्ध करता था वैसे ही यहां स्थितिबन्धोत्सरण द्वारा स्थितिबन्ध बढ़ाकर एक-एक अन्तर्मुहूर्त में समानबन्ध करता है । अवरोहक सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम समयमें उदयरूप जो निषेक कृष्टि पाई जाती है उसको पत्यके असंख्यातवै भागका भाग दिया उसमेंसे बहुभाग-

प्रमाण मध्यकी कृष्टि उदयमें आती है तथा अवशिष्ट एकभागको पल्यके असंख्यातवें भागकी सहनानी पांचके अंकका भाग देनेपर उसमेंसे दो भागमात्र तो आदि कृष्टिसे लेकर जो अधस्तनकृष्टि हैं वे अनुदयरूप हैं और तीनभाग मात्र अन्तिमकृष्टिसे लेकर जो ऊपरितनकृष्टि हैं वे अनुदयरूप कृष्टि कही हैं, वे अपने स्वरूपको छोड़कर, जो आदिकृष्टिसे लेकर अधस्तनकृष्टि हैं वे तो अनन्तगुणे अनुभागरूप परिणमित हो मध्यमकृष्टिरूप होकर उदयमें आती हैं । तथा अन्तिमकृष्टिसे लेकर जो ऊपरितनकृष्टियां हैं वे अनन्तवेंभाग अनुभागरूप परिणमित हो मध्यमकृष्टिरूप होकर उदयमें आती हैं ।

अंक संदृष्टि—माना कि उदयरूप निषेकमें १००० कृष्टि हैं उनको ५ का भाग देनेपर बहुभागप्रमाण ८०० मध्यकी कृष्टि तो उदयरूप है । अवशिष्ट एकभाग (२००) प्रमाणमें ५ का भाग देकर उसमेंसे एक भाग (४०) पृथक् रख, अवशिष्टके (१६०) दो भाग करके उसमें से एकभाग प्रमाण (८०) कृष्टि तो जघन्यकृष्टिसे लेकर अधस्तनकृष्टियां अनुदयरूप हैं वे कृष्टियां अनुभागवृद्धिके कारण मध्यमकृष्टिरूप हो परिणमतकर उदयमें आती हैं । तथा एक भागमें (८०) पृथक् रखा हुआ (४०) भाग मिलानेपर (८०+४०) १२० कृष्टि हुई । वे अन्तिमकृष्टिसे लेकर ऊपरितन कृष्टि अनुदयरूप हैं । वे अनुभाग घटनेके कारण मध्यमकृष्टिरूप होकर उदयमें आती हैं ऐसा जानना चाहिए ।

प्रथमसमयमें अनुदयरूप ऐसी आदि कृष्टिको द्वितीयसमयमें पल्यके असंख्यातवें भागका भाग देनेपर एकभागप्रमाण नवीनकृष्टियां अनुदयरूप कीं और प्रथमसमयमें अनुदयरूप ही अन्तिमकृष्टिको पल्यके असंख्यातवेंभागका भाग देनेपर एकभागप्रमाण कृष्टियोंको नवीन उदयरूप कीं । यहां उदयरूप की गई कृष्टियोंके प्रमाणमें से अनुदयरूप की गई कृष्टियोंका प्रमाण घटानेपर जितना अवशिष्ट रहे उतने प्रमाणरूप प्रथमसमय सम्बन्धी उदयकृष्टियोंसे अधिक द्वितीयसमयमें उदयकृष्टियां होती हैं । अंक-संदृष्टि द्वारा इसप्रकार कथन समझना—

प्रथमसमयमें उदयरूपकृष्टियां ८०० थीं, तब द्वितीयसमयमें पहले उदयसे ऊपरितन १२० कृष्टियां अनुदयरूप थीं, उनको ५से भाजित करनेपर लब्ध २४ प्रमाण ऊपरितन नवीनकृष्टियां उदयरूप हुईं और अधस्तनकृष्टि (८०) में ५का भाग देनेपर लब्ध १६ प्रमाणकृष्टियां नवीन उदयरूप नहीं होतीं । अतः नवीन उदयरूप २४में से

अनुदयरूप १६ कम करने पर लब्ध (२४-१६) = आया सो इतनी कृष्टियां बढ़ने से द्वितीय समयमें (८००+८) = ८०८ कृष्टियां उदय होती हैं । इसीप्रकार अर्थसंदृष्टि द्वारा भी यथार्थ कथना जानना चाहिए ।

यहां बहुत अनुभागयुक्त उपरितन कृष्टिके उदय होनेसे और अल्प अनुभाग-युक्त अधस्तन कृष्टि न उदय नहीं होनेसे प्रथम समयापेक्षा द्वितीय समयमें अनुभाग अनन्तगुणा बढ़ता है । ऐसा जानना चाहिए । इसीप्रकार तृतीयादि अन्तिम समय पर्यन्त समयोंमें विशेष अधिक कृष्टि उदय होती है ।^१ इसीकारण प्रतिसमय कृष्टियों का अनन्तगुणा अनुभाग उदय होता है । इसप्रकार सूक्ष्म साम्परायका काल व्यतीत होता है । चढ़ते हुए सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम स्थितिबन्धसे दुगुणा स्थितिबन्ध गिरनेवाले सूक्ष्मसाम्परायके अन्तिम समयमें होता है ।^२

अथ अवरोहकके तत्त्वगुणस्थानमें क्रियाविशेषका कथन दोगाथाओंमें करते हैं—

बादरपदमे किट्टी मोहस्स य आणुपुव्विसंकमणं ।

णट्ठं ए च उच्छिष्टं फड्ढयत्तोहं तु वेदयदि ॥३१५॥

अर्थ:—बादरलोभके प्रथम समय अर्थात् सूक्ष्मसाम्परायसे गिरकर बादर लोभके उदयके प्रथमसमयमें सूक्ष्मकृष्टियां नष्ट हो जाती हैं और मोहका आनुपूर्वीसंकम नष्ट हो जाता है, किन्तु उच्छिष्टावलि अर्थात् उदयावलिप्रमाण कृष्टियां नष्ट नहीं होतीं, स्पर्धकगत लोभका वेदन होता है ।

विशेषार्थ:—अवरोहक अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमें पाई जानेवाली सूक्ष्म-कृष्टियां उच्छिष्टावलिप्रमाण निषेक बिना अन्य सभी स्वरूपसे नष्ट हुईं । सूक्ष्मकृष्टि की अनुभाग शक्तिसे अनन्तगुणी शक्ति युक्त जो स्पर्धक हैं उसरूप होकर एकही समयमें परिणामित हुईं ।^३ तथा कृष्टिके उच्छिष्टावलिप्रमाण जो निषेक रहे वे प्रतिसमय

१. सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें चढ़ते समय विशुद्धि के कारण जैसे विशेष हानिरूपसे कृष्टियोंका वेदन करता है वैसे ही उतरते समय संक्लेशके कारण असंख्यातभागवृद्धि से कृष्टियोंका वेदन करता है; यह सूक्ष्मसाम्पराय के अन्तिमसमयतक जानना चाहिए । (ज. ध. मूल. पृ. १८६५)

२. ज. ध. मूल. पृ. १८६४-६५ ।

३. किट्टियो सव्वाओ णट्ठाओ । तासि सव्वासिमेगसमणोव पदयभावेण परिणामदंसणादो । ज० धवल १८६५ ।

एक-एक निषेकरूपसे उदयमान स्पर्धकोंके निषेकोंमें स्तुविक संक्रमण द्वारा तद्रूप परिणमन कर^१ उदय होंगे ।^२ उसी प्रथम समयमें मोहका आनुपूर्वी संक्रम भी नष्ट हुआ । इतना विशेष जानना कि यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण लोभका बध्यमान संज्वलनलोभमें हो संक्रमण होना प्रारम्भ हुआ, तथापि इसमें आनुपूर्वी संक्रमकी विवक्षा नहीं है । तथा संज्वलन लोभके कोई बध्यमान स्वजातीय प्रकृति नहीं है, अतः व्यक्ति की अपेक्षा अभी भी आनुपूर्वी संक्रम है ।^३ शक्तिकी अपेक्षा संज्वलनलोभके अनानुपूर्वी से अन्य प्रकृतिमें संक्रम होनेका परिणाम हुआ है । सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें मोहके बन्धके अभावसे^४ संक्रम सम्भव नहीं है । स्पर्धकरूप उदित बादरलोभ का वेदन करता हुआ यह प्रथमसमयवर्ती अनिवृत्तिकरण बादर साम्पराय मुनि संज्वलन लोभके द्रव्यका अपकर्षण करके उदयरूप समयसे लेकर आवली से अधिक बादरलोभ वेदककाल [अवरोहकके लोभवेदक कालका साधिक दो बटे तीन भाग] प्रमाण गुणश्रेणी आयाममें असंख्यातगुणे क्रमसे निक्षिप्त करता है । प्रत्याख्यान तथा अप्रत्याख्यान लोभके द्रव्यको उदयावलीसे बाह्य पूर्वोक्त गुणश्रेणि आयाममें असंख्यातगुणे क्रमसे निक्षिप्त करता है । तथा अनिवृत्तिकरणकालके दितीयादि समयमें असंख्यातगुणा हीन — (घटता) क्रम लिये द्रव्यका अपकर्षण करके अवस्थित गुणश्रेणी-आयाम में पूर्वोक्त प्रकार निक्षेपण करता है । अन्य कर्मोंकी गलितावशेषगुणश्रेणी जाननी चाहिए ।

ओदरबादरपडमे लोहस्संतो मुहुत्तियो बंधो ।

दुदिणंतो घादितियं चउवस्संतो अघादितियं ॥३१६॥

अर्थः—सूक्ष्मसाम्परायसे उतरने पर बादर लोभके प्रथमसमयमें संज्वलनलोभका स्थितिवन्ध अन्तर्मुहूर्तप्रमाण, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन

१. क्योंकि स्पर्धकों के वेदन होनेपर उदयावली में प्रविष्ट कृष्टियोंका भी स्पर्धकभावसे उदय-विपाकको छोड़कर प्रकारान्तररूपने का सम्भव नहीं पाया जाता है । जयधवल मूल १८६६
२. एवरि जाओ उदयावलियब्धंतराओ ताओ त्थिवुक्कसंकमेण फड्डएसु विपच्चहिंति । ज.ध. १८६६
३. वत्तोए पुण अज्जवि आणुपुव्विसंकमो चेव । ज० धवल १८६६
४. लोभं परिषय्य अन्धाणां प्रकृतीनां बन्धो अस्मिन्नवसरे नास्ति । जयधवल १८६७

घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध दो दिनसे कम, नाम-गोत्र और वेदनीय इन तीन अघातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध कुछकम चारवर्षप्रमाण होता है ।

विशेषार्थः—अवरोहक बादरसाम्पराय अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयमें संज्वलन लोभका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है जो आरोहक अनिवृत्तिकरणके अन्तिमसमय सम्बन्धी स्थितिबन्ध दोगुणा है । तीन घातियाकर्मोंका कुछकम दो दिन, नाम-गोत्र और वेदनीयकर्मका कुछकम चारवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध है । अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त इसी-प्रकार समानरूपसे बन्ध हुआ । पश्चात् द्वितीय स्थितिबन्ध संज्वलन लोभका तो पहले से विशेष अधिक, तीन घातियाकर्मोंका पृथक्त्व दिन प्रमाण, तीन अघातिया कर्मोंका संख्यातहजारवर्ष प्रमाण हुआ । इसप्रकार वृद्धिरूप संख्यातहजार स्थितिबन्ध होने पर लोभवेदककाल सम्बन्धी द्वितीय विभागका संख्यातवांभाग व्यतीत हुआ तब संज्वलन-लोभका पृथक्त्वमुहूर्त, तीनघातिया कर्मोंका अहोरात्रसे बढ़कर पृथक्त्व हजारवर्ष और तीन अघातियाकर्मोंका संख्यात हजारवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध हो जाता है तथा सहस्रों स्थितिबन्ध व्यतीत हो जानेपर लोभवेदकका काल समाप्त होता है । आरोहकके लोभ-वेदककालसे अवरोहकका लोभवेदककाल किंचित् न्यून है । इसीप्रकार मायावेदक कालादिकमें भी किंचित् न्यूनता जानना । जिस कषायके जितने कालमें उदयका भोगना होता है उतने प्रमाण उसका वेदककाल होता है ।'

आगे मायावेदकके क्रियाविशेषका कथन वो गाथाओंमें करते हैं—

ओदरमायापडमे मायातिरहं च लोहतिरहं च ।

ओदरमायावेदगकालादहियो दु गुणसेढी ॥३१७॥

अर्थः—(संज्वलनलोभसे) मायामें अवतरण करनेके प्रथमसमयमें तीन प्रकारकी (अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन) माया व तीनप्रकार के लोभकी अवतरित माया वेदककालसे अधिक आयामवाली गुणश्चैलि करता है ।

विशेषार्थः—लोभवेदककालके अनन्तर मायावेदककालके प्रथमसमयमें उतरने वाला अनिवृत्तिकरणजीव अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन मायाके द्रव्यको अपनी-अपनी द्वितीयस्थितिमेंसे अपकर्षितकर उदयरूप संज्वलनमायाके द्रव्यको तो

उदयावलीके प्रथम समयसे लेकर और उदयरहित अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानरूप मायाके द्रव्यको उदयावलीसे बाहर^१ प्रथम समयसे लेकर आवलि अधिक मायावेदककालप्रमाण अवस्थित आयामवाली गुणश्रेणी करता है । उदयरहित तीनप्रकारके लोभके भी द्वितीय सम्बन्धी द्रव्यको अपकर्षित करके उदयावलिसे बाहरसाधिक मायावेदक काल-प्रमाण अवस्थित आयामवाली गुणश्रेणी करता है । यहां ज्ञातव्य है कि तीन प्रकारके लोभ व तीनप्रकारकी मायाका गुणश्रेणी निक्षेप तुल्य और अवस्थित है^२ गलितावशेष नहीं है । अवशिष्ट छह कर्मोंकी पूर्वोक्त अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण कालसे विशेष अधिक आयामवाली गुणश्रेणी करता है । तथा उसी मायावेदककालके प्रथमसमयमें तीन प्रकारके लोभ व दो प्रकारकी माया सम्बन्धी द्रव्यको संज्वलन मायामें संक्रमित करता है वैसे ही तीनप्रकारकी माया व दोप्रकारका लोभ लोभसंज्वलनमें संक्रमण करता है । क्योंकि यहां संज्वलनलोभ एवं संज्वलनमायाका ही बन्ध है और बन्धमें ही संक्रमण होता है । आनुपूर्वी संक्रमणके अभावसे इसप्रकारका संक्रमण संभव है ।^३

ओदरमायापढमे मायालोहे दुमासठिदिबन्धो ।

छगहं पुण वस्साणं संखेज्जसहस्सवस्साणि ॥३१८॥

अर्थः—उतरने वालेके मायावेदककालके प्रथमसमयमें संज्वलनमाया व लोभ का दोमासप्रमाण तथा शेष छहकर्मोंका संख्यातहजार वर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है ।

विशेषार्थः—उपशम श्रेणी चढ़नेवाला मायावेदक कालके चरमसमयमें संज्वलनमाया व लोभका स्थितिबन्ध एक मासप्रमाण होता था अब उतरनेवालेके मायावेदककालके प्रथमसमयमें उससे दो गुणा अर्थात् दो मासप्रमाण होता है, क्योंकि चढ़नेवालोंके परिणामोंसे उतरने वालोंके परिणाम कम विशुद्ध होते हैं । इसीप्रकार गिरनेरूप परिणामोंकी विशेषतासे शेष (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, वेदनीय, नाम व गोत्र) छह कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजारवर्ष प्रमाण होता है । उपशमश्रेणी चढ़नेवालोंके प्रत्येक स्थितिबन्ध संख्यातगुणे हीन क्रमसे होता था, किन्तु उतरने

१. कारण यह कि उन नहीं वेदो जाती हुई प्रकृतियोंका, उदयावली के भीतर (प्रदेशनिषेकोंका) असम्भवपना है । जयधवल १८६८

२. जयधवल मूल पृ० १८६८ ।

३. जयधवल मूल पृ० १८६८-६० ।

वालोंके ज्ञानावरणादिका प्रत्येक स्थितिबन्ध संख्यातगुणित वृद्धिक्रमसे होता है । चढ़ने वालोंके मोहनीयका प्रत्येक स्थितिबन्ध विशेषहीन क्रमसे होता है और गिरनेवालोंके मोहनीयका प्रत्येक स्थितिबन्ध विशेष अधिक क्रमसे होता है । इसलिए यहां पर मोहनीयके अतिरिक्त अन्यकर्मोंका पुनः पुनः संख्यातगुणा स्थितिबन्ध होता है और मोहनीयका पुनः पुनः विशेष अधिक स्थितिबन्ध होता है । इस क्रमसे संख्यातहजार स्थितिबन्धोंके ओतनेपर तत्प्रथमसमयकी भावप्रवृत्ति होता है, तत्प्रथम माया और लोभ इन दो संज्वलनकषायोंका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तक्रम चारमाह और ज्ञानावरणादि शेष छह कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजार वर्षप्रमाण होता है, क्योंकि चढ़नेवालोंके स्थितिबन्ध से उतरनेवालोंका स्थितिबन्ध दो गुणा होता है ।^१

अथानन्तर दो गाथाओंमें मानवेदक जीवके कार्य विशेषको कहते हैं—

ओदरगमाणपडमे तेत्तियमाणदियाण पयडीणं ।

ओदरगमाणवेदककालादहियं दु गुणसेढी ॥३१६॥

अर्थः—उतरनेवाला मायावेदककालके अनन्तर मानवेदकके प्रथमसमयमें मानवेदककालसे अधिक मानादि प्रकृतियोंकी गुणश्रेणि करता है ।

विशेषार्थः—उसके अनन्तर मानवेदककालके प्रथमसमयमें संज्वलनमानके द्रव्यको अपकर्षितकरके उदयावलि के प्रथमसमयसे लेकर तथा दो प्रकारके मान, तीन प्रकारकी माया व तीनप्रकारके लोभ सम्बन्धी द्रव्यको अपकर्षित करके उदयावलिसे बाहर प्रथमसमयसे लेकर आवलिअधिक मानवेदककालप्रमाण अवस्थित आयामवाली गुणश्रेणि करता है । अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन लोभ, माया व मान इन नौप्रकारकी कषायका गुणश्रेणि निक्षेप होता है और शेष छह कर्मोंका गलितावशेष गुणश्रेणि आयाम पूर्ववत् है । उसीसमय अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलनलोभ-माया-मानरूप नौ कषायोंका द्रव्य यहां बध्यमान संज्वलन मान-माया-लोभमें आनुपूर्वी रहित जहां तहां संक्रमण करता है ।^२

ओदरगमाणपडमे चउमासा माणपहुदिठिदिबंधी ।

१. जय धवल मूल पृ० १८६६-१८७० ।

२. जय धवल मूल पृ० १८७० ।

अथहं पुण वस्साणं संखेजसहस्समेत्ताणि ॥३२०॥

अर्थः—उसी उतरनेवाले भानवेदककालके प्रथमसमयमें संज्वलन भान-माया-लोभका चारमास और शेष छह कर्मका संख्यातहजार वर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है (जो चढ़नेकी अपेक्षा दोगुणा है ।)

विशेषार्थः—इसप्रकार सहस्रों स्थितिबन्ध व्यतीत होते हैं तब भानवेदकके अन्तिम समयमें तीन (लोभ-माया-मान) संज्वलन कषायोंका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त-कम आठ मास होता है और शेष छह कर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यात सहस्रवर्षप्रमाण होता है । इसप्रकार भानवेदककाल समाप्त हो जाता है ।

आगे बोधायाओंमें संज्वलनक्रोधमें होनेवाली क्रिया विशेषका विचार करते हैं—

ओदरगकोहपढमे छक्कम्मसमाण्या हु गुणसेढी ।

वादरकसायणं पुण एतो गलिदावसेसं तु ॥३२१॥

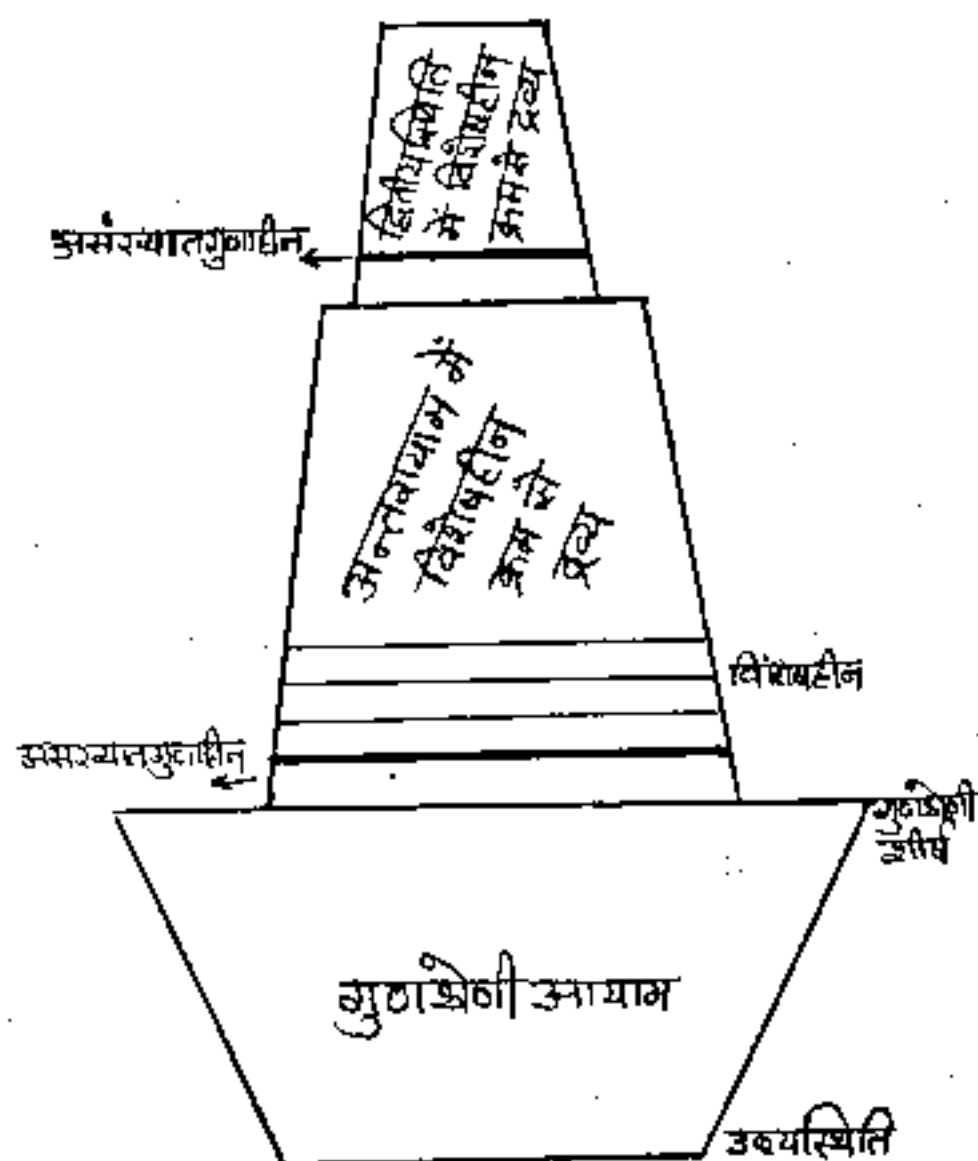
अर्थः—इसके अनन्तर उतरनेवाले अनिवृत्तिकरण जीवके संज्वलनक्रोधके उदय सम्बन्धी प्रथमसमयमें अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलनक्रोध-मान-माया-लाभरूप बारह कषायोंकी ज्ञानावरणादि छह कर्मोंके समान गलितावशेष गुणश्रेणि करता है ।

विशेषार्थः—गुणश्रेणी आयामका प्रमाण उतरनेवाले अनिवृत्तिकरणके अपूर्वकरणके कालकी अपेक्षा कुछ अधिक है । यहांसे पहले मोहका गुणश्रेणि आयाम अवस्थित था अब गलितावशेषरूप प्रारम्भ हुआ है ।

जिस कषायके उदयसहित उपशमश्रेणि चढ़ा हो तथा उतरते हुए उस कषाय का जिससमय उदय हो उस समयसे लेकर सर्वमोहनीयकी गलितावशेष गुणश्रेणी करता है और अन्तरका पूरना करता है । यहां क्रोधकी विवक्षा है । वह इसप्रकार है—अन्तरपूरण विधान—बारह प्रकारकी कषायोंके द्रव्यको अपकर्षित करके उससमय गुणश्रेणि निक्षेप करता हुआ ओधसंज्वलनके उदयमें स्तोक प्रवेशाग्र देता है । उससे आगे तबतक असंख्यातगुणा क्रमसे देता है जबतक कि ज्ञानावरणादि कर्मोंके पूर्व निक्षिप्त गुणश्रेणिशीर्षको प्राप्त हो जाय । पुनः तदनन्तर उपरिम अनन्तर समयमें

एकबार असंख्यातगुणाहीन निश्चित करता है । उससे आगे अन्तर सम्बन्धों अन्तिम स्थितिके प्राप्त होनेतक विशेषहीन क्रमसे द्रव्यका निक्षेप करता है । उससे आगे द्वितीय स्थितिके आदि निषेधमें असंख्यातगुणेहीन द्रव्यका निक्षेप करता है । उसके आगे तब तक सर्वत्र विशेषहीन क्रमसे द्रव्य देता है जबतक कि अपनी-अपनी अतिस्थापनाको प्राप्त हो जावे । इसप्रकार शेष कषायोंके अन्तरको पूरा करता है उनके द्रव्यका उदयावलि के बाहर निक्षेप करता है । इतना विशेष है ।

सात नोकषाय, स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके अन्तरको भी इसी विधानसे यथा अवसर पूर्ण करता है । क्रोध उदयके प्रथमसमयमें बारह कषायोंके द्रव्यको तत्काल बध्यमान संज्वलनक्रोधादि चारकषायोंमें आनुपूर्वी क्रमरहित जहां-तहां संक्रमित करता रहता है ।
(जयधवल मूल पृ० १६०१-१६०२)



ओदरगकोहपदमे संजलणाणं तु अट्टमासठिदी ।

छएहं पुण वस्साणं संखेजसहस्सवस्साणि ॥३२२॥

अर्थः—उतरनेवालेके क्रोध उदयके प्रथमसमयमें संज्वलन क्रोधादि चार कषायोंका आठमास और छहकर्मोंका संख्यातहजार वर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है ।

विशेषार्थः—उपशमश्रेणि चढ़नेवालेके क्रोध वेदककालके अन्तिम समयमें स्थितिबन्ध होता था उससे दोगुणा गिरनेवालेके क्रोधवेदकके प्रथमसमयमें होता है । वह स्थितिबन्ध संज्वलन चतुष्कका आठ मास और शेष कर्मोंका संख्यातहजार वर्ष-प्रमाण है । संख्यातहजार स्थितिबन्ध होजाने अर्थात् अन्तर्मुहूर्त नीचे उतर जानेपर क्रोध वेदक (अवेदो क्रोधवेदक) के अन्तिमसमयमें मोहनीय अर्थात् चारकषायोंका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तकम ६४ वर्ष होता है, क्योंकि उपशमश्रेणि चढ़नेवालेके क्रोध उपशमकके प्रथमसमयमें अन्तर्मुहूर्तकम ३२ वर्ष होता था उसका दोगुणा अन्तर्मुहूर्त-कम ६४ वर्ष होता है । उसी चरमसमयमें शेषकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजारवर्ष प्रमाण होता है वही मोहनीयकर्मके चतुर्विधबन्धका अन्तिमसमय है ।*

अब अधरोहक नवमगुणस्थानवर्तोंके पुरुषवेदोदय कालमें होनेवाली क्रिया-विशेषको ४ गाथाओंमें बताते हैं—

ओदरगपुरिसपदमे सत्तकसाया पणट्ठउवसमणा ।

उणवीसकसायाणं छक्कम्माणं समाणगुणसेढी ॥३२३॥

अर्थः—पुरुषवेदमें उतरनेके प्रथमसमयमें (स्त्री-नपुंसकवेदके अतिरिक्त) सात नो कषायकी प्रशस्तोपशमना नष्ट हो जाती है । उन्नीस (१२ कषाय और ७ नोकषाय) कषायोंको गुणश्रेणि ज्ञानावरणादि छहकर्मोंकी गुणश्रेणिके समान हो जाती है ।

विशेषार्थः—मोहनीयकर्मके चतुर्विधबन्धके अन्तिमसमयमें ही अपगतवेद पर्यायिका व्यय हो जानेपर अनन्तरसमयमें सवेदभागका वर्तन हो हानेसे पुरुषवेदका उदय व बन्ध होने लगता है अर्थात् मोहनीयका पांचप्रकृति बन्धका प्रथमसमय होता

है । पुरुषवेद सहित छह नोकषायकी प्रशस्तोपशामना नष्ट हो जानेसे अनुपशान्तभावमें संक्रमण, उत्कर्षण आदि होने लगते हैं । उससमय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और पुरुषवेद इन सात नोकषायोंके कर्मांशोंका अपकर्षण करके पुरुषवेदकी तो उदयादि गुणश्रेणिको करता है और छह नोकषायके कर्मांशोंकी उदयावलिके बाहर गुणश्रेणि करता है । बारहकषाय और सात नोकषायका गुणश्रेणि निक्षेप आयुर्कर्म को छोड़कर शेष कर्मोंके गुणश्रेणिनिक्षेपके तुल्य होता है । शेष-शेषमें निक्षेप होता है अर्थात् गलितावशेष गुणश्रेणि होती है । उदयरूप पुरुषवेद और सज्ज्वलनक्रोधके द्रव्य को अपकर्षित करके उदय समयसे लगाकर और अन्य कषाय व नोकषायके द्रव्यको अपकर्षित करके उदयावलिसे बाहर समयसे लगाकर गुणश्रेणिआयाम, अन्तरायाम, द्वितीयस्थितिमें निक्षेप होता है और सात नोकषायका अन्तरायाम पूरा होजाता है ।^१

पुंसंजलणिदराणं वस्सा वत्तीसयं तु चउसट्ठी ।

संखेजसहस्साणि य तक्काले होदि ठिदिबंधो ॥३२४॥

अर्थ:—उतरनेवालेके पुरुषवेदके प्रथमसमयमें पुरुषवेदका ३२ वर्ष, संज्वलन चतुष्कका ६४ वर्ष, तीन घातियाकर्मोंका संख्यातहजारवर्ष, उससे नाम व गोत्रका संख्यातगुणा तथा उससे डेढ़गुणा स्थितिबन्ध वेदनीयकर्मका होता है ।

पुरिसे दु अणुवसंते इरथी उवसंतगोत्ति अद्धाप ।

संखाभागासु गदे ससंखवस्सं अधादिठिदिबंधो ॥३२५॥

णवरि य णामदुगाणं बीसियपडिभागदो हवे बंधो ।

तीसियपडिभागेण य बंधो पुण वेयणीयस्स ॥३२६॥

अर्थ:—पुरुषवेदके उदयकालमें स्त्रीवेदका उपशम जबतक नष्ट नहीं होता उतनेकालके संख्यात बहुभाग व्यतीत होकर एकभाग अवशिष्ट रहनेपर अधातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध असंख्यातहजार वर्षमात्र होता है ।

इतनी विशेषता है कि बीसिय नामद्विक (नाम-गोत्र) का जितना स्थिति बन्ध होता है उसके त्रैराशिक क्रमसे अर्थात् ड्योढ़ा तीसिय-वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध

होता है । विशेषता—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातहजार वर्षमात्र होता है । मोहनीयका उससे संख्यातगुणाहीन तत्-प्रायोम्य संख्यातहजार वर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है । उपशमश्रेणि चढ़नेवालेके सात नोकषायके उपशम करनेके कालमें संख्यातवांभाग व्यतीत हो जानेपर (जिस स्थानपर) नाम, गोत्र, वेदनीयका स्थितिबन्ध संख्यातवर्षप्रमाण होता था, उतरने वालेके पुरुषवेद अनुपशान्त हो जानेपर और जबतक स्त्रीवेद उपशान्त रहता है तबतक इस मध्यवर्ती कालके संख्यात बहुभाग बीत जानेपर (चढ़ने वालेके उस स्थानके नहीं प्राप्त हुए ही इसके) नाम, गोत्र और वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध संख्यातवर्षको उत्तलंघकर असंख्यात वर्षका होने लगता है । चढ़नेवालेके स्थितिबन्ध संख्यातवर्षका होता था अतः उतरने-वालेके दोगुणा स्थितिबन्ध होना चाहिए ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए । गिरनेवाले के संक्लेश विशेषके कारण असंख्यातवर्षका स्थितिबन्ध हो जाता है । बीसिय—नाम, गोत्रका पत्यके असंख्यातवर्षभाग प्रमाण स्थितिबन्ध होता है तो तीसिय अघातिकर्म-वेदनीयका कितना स्थितिबन्ध होगा ? इसप्रकार त्रैराशिक करनेसे वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध पत्यके असंख्यातवर्ष भागका डेढ़गुणा होगा । उससमय स्थितिबन्धका अल्प-बहुत्व इसप्रकार होगा—

मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध सबसे अल्प है । तीन घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है, क्योंकि इनका स्थितिबन्ध उतरनेवाले जीवके सूक्ष्मसाम्पराय नामक १०वें गुणस्थानके प्रथमसमयमें प्रारम्भ हो गया था और मोहनीय कर्मका स्थितिबन्ध बादरलोम अर्थात् ६वें गुणस्थानमें प्रारम्भ हुआ है । नाम-गोत्रका स्थितिबन्ध असंख्यात गुणा है और वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक है । अधिकका प्रमाण द्विभाग है^१ ।

प्रागे स्त्रीवेदके उपशमके विनाशकी प्ररूपणा दो गाथाओंमें करते हैं—

थी अणुवसमे पढमे वीसकसायाण होदि गुणसेढी ।

संडुवसमोत्ति मउक्के संखाभागेषु तीदेसु ॥३२७॥

घादितियाणं णियमा असंखवंसं तु होदि ठिदिबंधो ।

१. ज. ध. मूल पृ. १६०३-१६०४; क. पा. जू. सूत्र ४६१-४६६ ।

तवकाले दुष्टाणं रसबंधो ताण देसघादीणं ॥३२८॥

अर्थः—स्त्रीवेदके अनुपशान्त होनेके प्रथम समयमें बीस कषायोंकी गुणश्रेणी होती है । यहांसे लेकर नपुंसकवेदके उपशान्त रहनेतक कालके संख्यात बहुभाग बीत जानेपर तीन घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध नियमसे असंख्यातवर्षप्रमाण हो जाता है और उसीसमय उनकी देशघाति प्रकृतियोंका अनुभागबन्ध द्विस्थानिक हो जाता है ।

विशेषार्थः—पूर्वोक्त गाथा कथित कालसे आगे सहस्रों स्थितिबन्धोंके व्यतीत होनेपर स्त्रीवेदको एकसमयमें अनुपशान्त करता है । उसीसमयसे स्त्रीवेदका द्रव्य उत्कर्षण आदिके योग्य हो जाता है । प्रथमसमयमें ही अनुदयरूप प्रकृति स्त्रीवेदके द्रव्यको अपकर्षित करके उदयावलिके बाहरसे अन्य १६ प्रकृतियोंके समान गलिहावशेष गुणश्रेणि आयाममें, अन्तरायाममें और द्वितीय स्थितिमें निक्षिप्त करता है । मोहनीय कर्मकी पूर्वोक्त १६ प्रकृतियों (१२ कषाय व ७ नो कषाय) के द्रव्यको भी अपकर्षित करके इसीप्रकार निक्षिप्त करता है । इसप्रकार बीस प्रकृतियोंको गलितावशेष गुणश्रेणि होती है ।

स्त्रीवेद अनुपशान्त होनेपर जबतक नपुंसकवेद उपशान्त रहता है तबतक इस मध्यवर्तीकालके संख्यात बहुभागोंके बीतनेपर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध असंख्यातवर्ष हो जाता है । उससमयमें मोहनोयकर्मका स्थितिबन्ध सबसे अल्प, तीन घातियाकर्मोंका असंख्यातगुणा, इससे असंख्यातगुणा नाम व गोत्रका और उससे विशेष अधिक अर्थात् डेढ़गुणा वेदनोयकर्मका स्थितिबन्ध होता है । जिससमय तीन घातियाकर्मोंका असंख्यातवर्षकी स्थितिवाला बन्ध होता है उससमय मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय इन चार ज्ञानावरणीय, चक्षु-अचक्षु-अवधि इन तीनप्रकारके दर्शनावरणीय और पांचों (दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य) अन्तरायकर्म अनुभागबन्धकी अपेक्षा लता, दारुह्य द्विस्थानोय अनुभागबन्धवाले हो जाते हैं ।

१. जयधवल मूल पृ. १६०४-५ । आरोग्यके संख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबन्धके प्रारम्भके समकालमें ही इन कर्मोंका एक स्थानिक बन्ध उत्पन्न हो गया ; यहां भी संख्यातवर्ष स्थितिबन्धके अवसान को प्राप्त होनेपर असंख्यातवर्षीय स्थितिबन्धके प्रारम्भके समकालमें ही एक स्थानिकबन्ध समाप्त होगया, यहांसे लेकर उन सकल प्रकृतियोंका द्विस्थानिक ही अनुभाग बंधता है ; इतना विशेष है ।
(ज. घ. मूल पृ. १६०५)

अब नपुंसकवेदके उपशमका विनाश व उससमय होनेवाली क्रिया विशेष २ गाथाओंमें कहते हैं—

संडणुवसमे पडमे मोहिगिवीसाण होदि पुणसेढी ।

अंतरकदोत्ति मज्जे संखाभागासु तीदासु ॥३२६॥

मोहस्स असंखेज्जा वस्सपमाणा हवेज्ज ठिदिबंधो ।

ताहे तस्स य जादं बंधं उदयं च दुट्ठाणं ॥३३०॥

अर्थः—नपुंसकवेद अनुपशान्त हो जानेपर २१ प्रकृतियोंकी गुणश्रेणी होती है । यहाँसे अन्तरकरण करनेके स्थानको प्राप्त होनेतक जो मध्यवर्तीकाल है उसकाल के संख्यात बहुभाग बीत जानेपर मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध असंख्यातवर्षप्रमाण होने लगता है । उसीसमय मोहनीयकर्मका अनुभागबन्ध व उदय द्विस्थानीय हो जाता है ।

विशेषार्थः—पूर्वोक्त गाथा कथितकालके पश्चात् संख्यात सहस्र स्थितिबन्धों के बीत जानेपर नपुंसकवेद अनुपशान्त हो जाता है । उसीसमय नपुंसकवेदके द्रव्यको अपकर्षित करके उदयावलिके बाहर गुणश्रेणि-आयाममें, अन्तरायाममें और द्वितीय-स्थितिमें निक्षिप्त करता है । यह गुणश्रेणि निक्षेप अन्य बीस प्रकृतियोंके गलिताव-शेष गुणश्रेणि निक्षेपके सदृश होता है ।

नपुंसकवेदके अनुपशान्त हो जानेपर जबतक अन्तर करनेके कालको नहीं प्राप्त होता इस मध्यवर्तीकालके संख्यात बहुभागप्रमाणकाल व्यतीत हो जानेपर मोहनीयकर्मका असंख्यातवर्षवाला स्थितिबन्ध होने लगता है । उपशमश्रेणि चढ़नेवाला जिस स्थानपर (अवस्थामें) अन्तरकरण करके मोहनीयकर्मका संख्यातवर्षवाला स्थितिबन्ध आरम्भ करता है, उतरते समय उस स्थानको अन्तर्मुहूर्त द्वारा नहीं प्राप्त करता कि इस अवस्थामें वर्तमान इस जीवके प्रतिपातकी प्रधानतासे मोहनीय कर्मका असंख्यातवर्ष प्रमाण स्थितिबन्ध प्रारम्भ हो जाता है । क्योंकि चढ़नेवालेकी अपेक्षा उतरने वालेका काल स्तोक है, कारण कि चढ़नेवालेके सर्वकालोंकी अपेक्षा उतरनेवाले के सर्वकाल हीन होते हैं जैसे चढ़नेवालेके सूक्ष्मसाम्परायके कालसे उतरने वालेका सूक्ष्मसाम्परायकाल अन्तर्मुहूर्त हीन होता है । इसप्रकार चढ़ने और उतरने सम्बन्धी सर्वकालोंमें परस्पर विशेष अधिकता व हीनता लगा लेनी चाहिए ।

शङ्का:—अन्तरकरण करके आरोहक सम्बन्धी जो काल अतिक्रान्त कर दिया है वह काल उतरते समय लौटकर पुनः प्राप्त नहीं होता, क्योंकि जो काल बीत गया उसके पुनः आगमनमें विरोध है, फिर यह कैसे कहा गया कि नपुंसकवेद अनुपशान्त हो जानेपर जबतक अन्तरकरण कालको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि इस-प्रकारकी सम्भावना युक्तिसे बाह्य है ।

समाधान:—यह सत्य है कि वह काल पुनः नहीं आने वाला है, यह इष्ट है, किन्तु अन्तरकरण करके और ऊपर चढ़कर तथा उपशान्तकषाय होकर पुनः नीचे उतरनेवाले जीवके उपशान्तकालसे ऊपर होकर स्थित हुआ यह नपुंसकवेदका अनुपशान्तकाल, उपशामकके नपुंसकवेदकी उपशामनाके कालसे, थोड़ा मिलानेसे सदृश परिणामवाला हो जाता है, ऐसा समझकर इसकालमें उपशामकके उत्तकालको उपचार करनेसे और यहीपर अन्तरकरणसम्बन्धी स्थानकी बुद्धिसे कल्पना करके यतः यह प्ररूपणा आरम्भ की है इसलिए कुछ विरुद्ध नहीं होती, क्योंकि उपशामकके कालके विपर्याससे गिरनेवालेके कालोंको विलोमक्रमसे स्थापितकर यह प्ररूपणा आरम्भ की है । इसलिए नपुंसकवेदके अनुपशान्त होनेपर जबतक अन्तरकरण अवस्था प्राप्त नहीं होती इस मध्यवर्तीकालके संख्यात खण्ड करके उनमें बहुत-भाग व्यतीत होकर व संख्यातवांभाग शेष रह जानेपर मोहनीयकर्म संख्यातवर्षवाले स्थितिबन्धको उल्लंघनकर असंख्यात वर्षवाला स्थितिबन्ध होने लगता है यह सुसम्बद्ध है । उसीसमय अनुभागबन्ध व उदय द्विस्थानिक (लता, दारुरूप) हो जाता है । मोहनीयकर्मका एक स्थानीय (लतारूप) अनुभागबन्ध व उदय संख्यातवर्षीय स्थितिबन्धके समकालीन था । संख्यातवर्षवाले स्थितिबन्धका अवसान (समाप्ति) होनेपर एक स्थानीय अनुभागबन्ध व उदय की भी परिसमाप्ति हो जाती है ।

अब उतरते समय लोभ संक्रमण, बंधावलि व्यतीत होनेपर उबीरणादिको प्ररूपणा तीन गाथाओंमें करते हैं—

लोहस्स असंकमणं क्षावलितीदेसुदीरणत्तं च ।

णियमेण पडंताणं मोहस्सणुपुट्विसंकमणं ॥३३१॥

अर्थ:—लोभका असंक्रमण, छह आवलियां बीत जानेपर उदीरणा, मोहनीय का आनुपूर्वी संक्रमण ये नियम थे, किन्तु अधःपतन होनेपर इनसे विपरीत होने लगता है ।

विशेषार्थः—ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थानसे गिरनेवाले सभी जीवोंके छह आवलियोंके बीत जानेपर ही उदीरणा हो ऐसा नियम नहीं रहा, किन्तु बन्धावलि व्यतीत होनेपर उदीरणा होने लगती है । उपशमश्रेणि चढ़नेवालोंके यह नियम बतलाया गया था कि नवोन बंधनेवाले कर्मोंकी उदीरणा बन्धके छह आवलि पश्चात् ही हो सकती है, उससे पूर्व नहीं, किन्तु श्रेणिसे उतरने वालेके लिए यह नियम नहीं रहा । उनके एक आवलिके पश्चात् ही बंधे हुए कर्मोंकी उदीरणा होने लगती है । कुछ आचार्य ऐसा व्याख्यान करते हैं कि ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरते समय भी जबतक मोहनीयकर्मका संख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है तबतक छह आवलियोंके व्यतीत होनेपर ही उदीरणाका नियम रहता है, किन्तु जहांसे मोहनीय कर्मका स्थितिबंध असंख्यातवर्षप्रमाण होने लगता है वहांसे छह आवलि पश्चात् उदीरणाका नियम नहीं रहता । परन्तु यह व्याख्यान चूणिसूत्र ४८१ के अनुरूप नहीं है । उपशमकके अंतरक्रिया समाप्तिकालमें जो यह मोहनीयका आनुपूर्वी संक्रमण व संज्वलन लोभके असंक्रमणका नियम हो गया था वह नियमभी श्रेणिसे उतरने वालेके अनिवृत्तिकरणकालसे लेकर नष्ट हो गया अब मोहनीयकर्मका अनानुपूर्वीसंक्रमण तथा लोभका भी संक्रमण होने लगा ।

शङ्का—उपशमश्रेणिसे उतरनेवालेके सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके प्रथमसमयसे ही मोहनीयकर्मका अनानुपूर्वी संक्रमण क्यों नहीं कहा गया ?

समाधान—नहीं कहा गया, क्योंकि सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें मोहनीयकर्मके बन्धका अभाव होनेसे मोहनीयकर्मका संक्रमण सम्भव नहीं है । इसीलिए सूक्ष्मसाम्परायमें संज्वलनलोभका संक्रमण भी नहीं होता । जबतक तीन प्रकारकी माया (संज्वलनमाया, प्रत्याख्यानमाया, अप्रत्याख्यानमाया) का अपकर्षण नहीं होता तब तक मोहनीयकर्मके अनानुपूर्वीसंक्रमणकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि संज्वलन लोभके प्रतिग्रहका अभाव होनेसे संक्रमणकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है ।^१

विवरीयं पडिहरणदि विरयादीणं च देसघादितं ।

तह य असंखेज्जाणं उदीरणा समयप्रबद्धाणं ॥३३२॥

लोथाणमसंखेज्जं समयप्रबद्धस्स होदि पडिभागो ।

तत्तियमेत्तद्ववस्सुदीरणा वट्टदे तत्तो ॥३३३॥

अर्थः— (उपशमश्रेणिसे उतरनेवालेके) वीर्यान्तरायकादि कर्मोंका देशघाति बन्ध होता था वह विपरीत होकर सर्वघाति होने लगा । असंख्यात समयप्रबद्धोंकी उदीरणाका अभाव होकर एक समयप्रबद्धके असंख्यातलोकवें भाग मात्र द्रव्यकी उदीरणा होने लगी ।

विशेषार्थः—गाथा ३३० में कहे गए क्रम अनुसार संख्यातहजार स्थितिबन्धों के व्यतीत हो जानेपर वीर्यान्तरायकर्म अनुभागबन्धकी अपेक्षा सर्वघाती हो जाता है । तत्पश्चात् स्थितिबन्ध पृथक्त्वसे अभिनिबोधिक (मति) ज्ञानावरण और परिभोग-अन्तरायकर्म सर्वघाति हो जाते हैं । तदनन्तर स्थितिबन्ध पृथक्त्वसे चक्षुदर्शनावरण कर्म सर्वघाति हो जाता है । उसके पश्चात् स्थितिबन्ध पृथक्त्वसे श्रुतज्ञानावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय और भोगान्तरायकर्म सर्वघाती हो जाते हैं । तदनन्तर स्थितिबन्ध पृथक्त्वसे अवधिज्ञानावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और लाभान्तरायकर्म सर्वघाती हो जाते हैं । तत्पश्चात् स्थितिबन्ध पृथक्त्वसे मनःपर्ययज्ञानावरणीय और दानान्तरायकर्म सर्वघाती हो जाते हैं । उपशमश्रेणि चढ़नेवालेके इन बारहकर्मोंका अनुभागबन्ध जिस क्रमसे देशघाती हुआ था, उतरनेवालेके उसी क्रमसे पश्चादनुपूर्वी द्वारा देशघातिकरण नष्ट होनेपर सर्वघाति अनुभागबन्ध हो जाता है ।

तत्पश्चात् सहस्रों स्थितिबन्धोंके व्यतीत हो जानेपर असंख्यात समय प्रबद्धों की उदीरणा नष्ट हो जाती है । उपशमश्रेणि चढ़नेवालेके हजारों स्थितिबन्ध बीत जानेपर एक समयप्रबद्धके असंख्यातलोकवें भाग उदीरणा असंख्यातगुणी वृद्धिको प्राप्त होकर आयु और वेदनीयकर्मोंको छोड़कर शेष सर्वकर्मोंकी उदीरणा असंख्यात समय प्रबद्ध होने लगे थी, श्रेणिसे उतरनेवालेके सर्वघाती अनुभागबन्धके पश्चात् पुनः

१. एक समयप्रबद्धको असंख्यातलोकसे भाग देनेपर जो लब्ध आवे उतने प्रदेशाशकी असंख्यातलोकवें भाग संज्ञा जानना ।

असंख्यात समयप्रबद्धकी उदीरणा नष्ट होकर समयप्रबद्धके असंख्यातलोक भागी (असंख्यात लोकसे समयप्रबद्धको भागित करनेपर एकाग्र मान) उदीरणा प्रवृत्त होती है । उसीसमय मोहनीयका स्थितिबन्ध स्तोक, घातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा नाम और गोत्रका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा, वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक । स्थितिबन्धका जैसा अल्पबहुत्व गाथा ३३० में कहा था वैसा ही अल्प-बहुत्व यहां भी कहा गया है । विशेषता यह है कि पूर्व स्थितिबन्धसे असंख्यातगुणा स्थितिबन्धसे असंख्यातगुणा स्थितिबन्ध बढ़ जाता है ।

क्रमकरणके नाशका विधान ७ गाथाओंमें कहते हैं—

तत्काले मोहणियं तीसियं वीसियं च वेयणियं ।

मोहं वीसिय तीसिय वेयणीय कर्मं द्वे तत्तो ॥३३४॥

मोहं वीसिय तीसिय तो वीसिय मोहतोसयाण कर्मं ।

वीसिय तीसिय मोहं अप्पाबहुगं तु अविरुद्धं ॥३३५॥

अर्थः—उसी काल (समय) में मोहनीय, तीसिया (ज्ञानावरण-दर्शना-वरण-अन्तराय), वीसिया (नाम-गोत्र) और वेदनीय इस क्रमसे उसके पश्चात् मोहनीय वीसिय, तीसिय और वेदनीय इस क्रमसे; उसके पश्चात् मोहनीय वीसिय और तीसिय इस क्रमसे; उसके पश्चात् वीसिय मोहनीय और तीसिय इस क्रमसे; उसके पश्चात् वीसिय, तीसिय, मोहनीय इन अल्पबहुत्व क्रमसे स्थितिबन्ध होता है ।

विशेषार्थः—जिसकालमें समयप्रबद्धकी असंख्यातलोक प्रतिभागी उदीरणा प्रवृत्त होती है, उससमय मोहनीयका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक है, शेष घातिया (ज्ञाना-वरण, दर्शनावरण, अन्तराय) कर्मोंका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा है, इससे नाम-गोत्र का स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा है, वेदनीयका स्थितिबन्ध विशेष अधिक है । इस अल्प-बहुत्व विधिसे संख्यातहजार स्थितिबन्ध हो जानेपर और उपशमश्चेतिसे उतरनेवाला अन्तर्मुहूर्त नीचे उतर जाता है तब एक साथ मोहनीयका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक, नाम-गोत्रका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा हो जाता है और इससे तीन घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध विशेष अधिक और वेदनीयका स्थितिबन्ध विशेष अधिक होता है । अर्थात् एक बारमें ही नाम-गोत्रका स्थितिबन्ध तीन घातिया कर्मोंसे नीचे आ

जाता है और नाम-गोत्रके स्थितिबन्धसे तीन घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध विशेष अधिक हो जाता है । इससे भी वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष-अधिक होता है; क्योंकि परिणाम विशेषके कारण इसप्रकारके बन्धकी निर्वाधरूपसे सिद्धि होजाती है । उपशम श्रेणि चढ़नेवालेके जिस स्थानपर नाम-गोत्रके स्थितिबन्धसे तीन घातिया (ज्ञाना-वरण-दर्शनावरण-अन्तराय) कर्मोंका स्थितिबन्ध एकसाथ असंख्यातगुणा हीन हो जाता है; उस स्थानसे कुछ पूर्व उतरनेवालेके स्थितिबन्धमें उपर्युक्त परिवर्तन हो जाता है अर्थात् नाम-गोत्रके स्थितिबन्धसे तीन घातियाकर्मोंका स्थितिबन्ध विशेष अधिक हो जाता है ।

शङ्का—यदि ऐसा है तो नाम-गोत्रकर्मके स्थितिबन्धसे तीन घातिया कर्मोंका स्थितिबन्ध विशेष अधिक वृद्धिरूप क्यों होता है; असंख्यातगुणो वृद्धिरूप क्यों नहीं हो जाता ?

धान—श्रेणिसे उतरनेवालेके सर्व स्थितिबन्धोंमें विशेष अधिकरूपसे वृद्धिकी प्रवृत्ति होती है ऐसा नियम देखा जाता है । अथवा ऐसे नियमका निर्निबन्धन-पना नहीं है, किन्तु निबन्धनरूपसे यहाँ चूणिसूत्रकी प्रवृत्ति हुई है ।

पुनः इसक्रमसे संख्यातहजार स्थितिबन्धोत्सरण होकर अन्तर्मुहूर्तकाल नीचे उतरकर वहाँ अन्यप्रकारके अल्पबहुत्व वाला स्थितिबन्ध होता है । अर्थात् इसप्रकार संख्यातहजार स्थितिबन्ध करके तत्पश्चात् एक साथ मोहनोयकर्मका स्थितिबन्ध सबसे कम होता है इससे नाम गोत्रका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा होता है । इससे ज्ञाना-वरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मोंका स्थितिबन्ध परस्पर तुल्य होते हुए विशेष अधिक होता है ।

शङ्का:—पूर्वमें ज्ञानावरणादि कर्मोंके स्थितिबन्धसे वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक होता था, पुनः एक साथ वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध तीन घातियाकर्मों के स्थितिबन्धके सदृश कैसे हो गया ?

समाधान:—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि अन्तरङ्ग परिणाम विशेषके आश्रयसे वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध तीन घातियाकर्मोंके स्थितिबन्धके सदृश होनेमें विरोधका अभाव है । श्रेणि चढ़नेवाला जिसस्थानपर ज्ञानावरणादिके स्थिति

बन्धसे वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा अधिक करता है, उस स्थानसे कुछ पूर्व गिरनेवाला इसप्रकारका स्थितिबन्ध करता है । पुनः इस अल्पबहुत्व विधिसे संख्यातहजार स्थितिबन्धोत्सरणके द्वारा अन्तर्मुहूर्तकाल अतिक्रान्त करके नीचे उतरने-वालेके अन्यप्रकारका स्थितिबन्ध होता है ।

इसप्रकार संख्यातहजार स्थितिबन्ध व्यतीत होनेपर अन्य स्थितिबन्ध प्रारम्भ होता है । एक साथ नाम-गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक हो जाता है, इससे मोहनीयका स्थितिबन्ध विशेष-अधिक होता है । इससे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तरायकर्मोंका स्थितिबन्ध परस्पर तुल्य होते हुए विशेष अधिक होता है ।

शंका—मोहनीयकर्मके स्थितिबन्धसे नाम-गोत्रकर्मका स्थितिबन्ध एकसाथ असंख्यातगुणपनाके परित्यागके साथ विशेष हीन भावसे नीचे हो गया । यहां ऐसा क्यों ?

समाधान—परिणाम विशेषके आश्रयसे विशेषहीन होता है । ऐसा पूर्वमें बहुतबार कहा जा चुका है । इस क्रमसे बहुतसे स्थितिबन्धोत्सरण-सहस्र बीतनेपर एक साथ नाम-गोत्रका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक, इससे चारकर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय) का स्थितिबन्ध परस्पर तुल्य होकर विशेष अधिक होता है, इससे मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध विशेष अधिक होता है । परिणाम विशेषके कारण मोहनीयके स्थितिबन्धसे चारकर्मोंका स्थितिबन्ध विशेष हीन हो जाता है ।^१ यहांपर क्रमकरण नष्ट हो जाता है ।

क्रमकरणविण्टादो उवरिडविदा विसेसअहियाओ ।

सव्वासि तरणछे हेट्टा सव्वासु अहियकमं ॥३३६॥

अर्थ—क्रमकरण नष्ट होनेके पश्चात् (पूर्वोक्त अल्पबहुत्वके अनुसार कर्मों का परस्पर विशेष अधिक क्रमसे) जो स्थितिबन्ध होते हैं उनमें विशेष अधिकका प्रमाण अपनी-अपनी उत्कृष्टस्थितिके अनुपातसे होता है ।^२ उपशमश्रेणिसे गिरनेवालेके

१. जयधवल मूल पृ० १६०८-१६०९ सूत्र ४६४-५१२ ।

२. एत्तो पहुडि सव्वत्थेव अप्पप्पणो उक्कस्स टिडिबध पडिभागेण विसेसाहियत्तमुवगंतव्वं (ज. ध. मू. पृ. १६०९)

नीचे उतरकर जब पल्यके असंख्यातवेंभाग स्थितिबन्ध नहीं होता अर्थात् जबतक संख्यातहजार वर्षप्रमाण स्थितिबन्ध होता है तबतक एक स्थितिबन्धसे दूसरा स्थितिबन्ध विशेष अधिक होता है ।

विशेषार्थः—पूर्वोक्त स्थितिबन्धोंके द्वारा क्रमकरणका विनाश हो जानेके पश्चात् स्थितिबन्धोंमें जो नाम-गोत्र कर्मकी स्थितिसे ज्ञानावरणादिकी स्थिति विशेष अधिक बंधती है वहांपर विशेष अधिक प्रमाण नाम-गोत्रकी स्थितिका द्वितीयभाग है, क्योंकि नाम-गोत्रकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर है और ज्ञानावरणादिकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ीसागर है । ज्ञानावरणादिकी स्थितिसे मोहनीयकी स्थिति विशेष अधिक बंधती है वहां विशेष अधिकका प्रमाण ज्ञानावरणादिकी स्थिति का तृतीयभाग है, क्योंकि उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ीसागर व चालीस कोड़ाकोड़ीसागरमें यह अनुपात है । नीचे उतरते-उतरते श्रेणिसे गिरनेवालेके जबतक स्थितिबन्ध संख्यातहजार वर्ष रहता है असंख्यातवर्ष नहीं होता अर्थात् पल्यका असंख्यातवां भाग नहीं होता तब तक पूर्ण स्थितिबन्धसे अगला स्थितिबन्ध विशेष अधिक होता है गुणाकाररूप नहीं होता ।

ततोपाये होदि हु असंखवस्सप्पमाणठिदिबंधो ।

ततोपाये अणं ठिदिबंधमसंखगुणियकमं ॥३३७॥

एवं पल्लासंखं संखं भागं च होई बंधेण ।

ततोपाये अणं ठिदिबंधो संखगुणियकमं ॥३३८॥

अर्थः—जिस स्थल पर स्थितिबन्ध असंख्यातवर्षप्रमाण होता है उस स्थलसे लेकर अन्य स्थितिबंध असंख्यातगुणित क्रमसे होते हैं । इसक्रमसे पल्यके असंख्यातवेंभाग व पल्यके संख्यातवेंभाग स्थितिबन्ध होता है । उस स्थलके (पल्यके संख्यातवेंभाग) पश्चात् अन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणित क्रमसे होते हैं ।

१. तद्धो एव विहट्ठिदिबंधपरावत्ताणण जहाकमं कादूण हेट्ठा ओदरमाणस्स पुरो वि संखेज्जसहस्स-
मेत्ताणि ट्ठिदिबंधभुस्सरणाणि एदेशेव कमेण एदव्वाणि जाव सव्व पच्छिमो पल्लिदो असंख-
भागिजो ट्ठिदि बंधोत्ति । (ज० ध० मूल पृ० १६१० पं १-२)

विशेषार्थः—जहांसे लेकर नाम-गोत्र आदि कर्मोंका स्थितिबन्ध प्रथमबार असंख्यातवर्षका होता है वहांसे लेकर जबतक पत्यके असंख्यातवर्षभाग स्थितिबन्ध नहीं होता इस अन्तरालमें अन्य-अन्य स्थितिबन्ध पुनः पुनः असंख्यातगुणवृद्धिसे बढ़ता है, क्योंकि वहांपर पर्यायान्तर असम्भव है । इस क्रमसे सातों ही कर्मोंका स्थितिबन्ध एक साथ पत्यके असंख्यातवर्षभागप्रमाण होकर पत्यके संख्यातवर्षभागप्रमाण हो जाता है ।

शंका—श्रेणि चढ़नेवालेके सातोंकर्मोंका दूरापकृष्ट स्थितिबन्ध क्रमसे हुआ था, किन्तु उतरनेवालेके सातोंकर्मोंका स्थितिबन्ध पत्यके असंख्यातवर्षभागसे संख्यातवर्षभागप्रमाण होना एक साथ कैसे सम्भव है ।

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि श्रेणिसे उतरनेवालेके परिणाम-माहृत्यसे सातकर्मोंका एकसाथ पत्यके असंख्यातवर्षभागसे पत्यके संख्यातवर्षभाग होनेमें विरोधका अभाव है । इस स्थलसे लेकर आगे प्रत्येक स्थितिबन्धके पूर्ण होनेपर अन्य-अन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणित क्रमसे होते हैं, क्योंकि पत्यके संख्यातवर्षभाग स्थितिबन्ध होनेके पश्चात् संख्यातगुणवृद्धिके अतिरिक्त पर्यायान्तर असम्भव है ।

मोहस्स य ठिदिबंधो पल्ले जादे तदा दु परिवड्ढी ।

पल्लस्स संखभागं इगिविगलासरिणबंधसमं ॥३३६॥

मोहस्स पल्लबंधे तीसदुगे तत्तिपादमद्धं च ।

दुतिचरुसत्तमभागा वीसतिये एयवियलठिदी ॥३४०॥

अर्थः—मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध पत्यप्रमाण हो जानेपर स्थितिबन्धमें पत्यके संख्यातवर्षभाग वृद्धि होती है । पुनः क्रमसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रियके स्थितिबन्धके समान स्थितिबन्ध होजाता है । मोहनीयकर्मका पत्यप्रमाण स्थितिबन्ध होनेपर तीसिय (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय) कर्मोंका स्थितिबन्ध ३ पत्य अर्थात् पौन पत्य और दोकर्म (नाम-गोत्र) का स्थितिबन्ध अर्ध पत्यप्रमाण होता है । एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रियकी स्थितिके समान स्थितिबन्ध होनेपर नाम-गोत्रका दो बटे सात (३) भाग ज्ञानावरण, दर्शनावरण,

वेदनीय व अन्तरायका तीन बटे सात (३) तथा मोहनोयकर्मका चार बटे सात (३) भाग स्थितिबन्ध होता है ।

विशेषार्थः—इसप्रकार संख्यातगुणवृद्धिके क्रमसे बढ़ता हुआ सभी कर्मोंके पत्यके संख्यातवैभागप्रमाण संख्यातहजार स्थितिबन्ध बीत जानेपर वृद्धिगत अपूर्व-स्थितिबन्ध पत्यके संख्यातवैभागप्रमाण होता है । पत्यके असंख्यातवैभागप्रमाण स्थिति-बन्धोंमें संख्यातगुणी वृद्धि होते हुए जिस कालमें मोहनोयकर्मका स्थितिबन्ध सम्पूर्ण पत्यप्रमाण हो जाता है उससमय पत्यके संख्यातवैभागप्रमाणवाले पूर्व स्थितिबन्धमें पत्यके संख्यातगुणप्रमाण अपूर्ववृद्धि होती है, अन्यथा पत्यप्रमाण स्थितिबन्धकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है । उससमय ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मोंके स्थितिबन्धमें अपूर्ववृद्धि होकर कुछअधिक चतुर्थभागकम पत्यप्रमाण अर्थात् कुछकम ३ अथवा देशोन तीन चौथाई पत्यप्रमाण ज्ञानावरणादिके स्थितिबन्धकी वृद्धि होती है । पत्योपमके चारभाग करके उनमेंसे एक चतुर्थभागको निकालकर शेष तीन चतुर्थभागको ग्रहण करनेपर ज्ञानावरणादि चारकर्मोंके तात्कालिक स्थिति-बन्धका प्रमाण होता है । इसका कारण यह है कि चालीस (४०) कोड़ाकोड़ीप्रमाण स्थितिवाले मोहनोयकर्मका यदि एक पत्योपमप्रमाण स्थितिबन्ध होता है तो तीस कोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण स्थितिवाले ज्ञानावरणादि कर्मोंका कितना स्थितिबन्ध होगा [४० | १ | ३०] इसप्रकार त्रैराशिक करनेपर उसका प्रमाण ३ पत्य प्राप्त होता है । इस तीन चतुर्थभागमें से पूर्व स्थितिबन्धके प्रमाण पत्यके संख्यातवैभागको घटानेपर कुछ कम पत्यका तीन बटा चार (३) शेष रहता है, यही यहांकी वृद्धिका प्रमाण है । इसीप्रकार त्रैराशिक क्रमसे नाम व गोत्रका तात्कालिक स्थितिबन्ध अर्धपत्यप्रमाण होता है । इसमेंसे पत्यके संख्यातवैभागप्रमाण पूर्व स्थितिबन्धको घटानेपर कुछकम अर्धपत्यप्रमाण वृद्धिका प्रमाण प्राप्त होता है । जिससमय यह अपूर्ववृद्धि होती है उस समय मोहनोयकर्मका ज-स्थितिबन्ध पत्योपमप्रमाण, ज्ञानावरणादि चार कर्मोंका ज-स्थितिबन्ध चतुर्थभागसे हीन पत्योपमप्रमाण, नाम व गोत्रका ज-स्थितिबन्ध अर्धपत्यो-पमप्रमाण होता है ।

शङ्का—ज-स्थितिबन्ध किसे कहते हैं ?

समाधानः—आवाधा सहित स्थितिको ज-स्थिति^१ कहते हैं ।^२ इस स्थलसे अर्थात् मोहनीयकर्मका पत्यप्रमाण स्थितिबन्ध होनेके पश्चात् प्रत्येक स्थितिबन्धके पूर्ण होने पर तबतक पत्योपमके संख्यातवेंभागसे वृद्धि होती है जबतक जितना अनिवृत्तिकरणकाल शेष है और सर्व अपूर्वकरणकाल है । अर्थात् अनिवृत्तिकरणका संख्यातबहु-भागप्रमाण काल और अपूर्वकरणका सर्वकाल शेष है । पत्यके स्थितिबन्धके पश्चात् संख्यातहजार स्थितिबन्धोंके द्वारा वृद्धिको प्राप्त, अनिवृत्तिकरणकालमें, मोहनीयकर्म का स्थितिबन्ध एकसागरके चार बटे सात (४) एकेन्द्रियके स्थितिबन्ध सदृश हो जाता है । शेष कर्मोंका अपने-अपने प्रतिभागसे एकेन्द्रियके समान बन्ध होता है । अर्थात् ज्ञानावरणादि चारकर्मोंका एकसागरके सात भागमें से तीनभाग प्रमाण (३ सागर) तथा नाम व गोत्रकर्मका एकसागरके सातभागोंमेंसे दोभाग प्रमाण (२ सागर) स्थितिबन्ध होता है । इसी क्रमसे स्थितिबन्ध पुनः बढ़ता हुआ यथाक्रम द्वीन्द्रियके समान, त्रीन्द्रियके समान, चतुरिन्द्रियके समान और असंज्ञीपंचेन्द्रियके समान २५, ५०, १००, १००० सागरके ५, ३, ३ प्रमाण हो जाता है । यह सब अनिवृत्तिकरणकालके भीतर ही हो जाता है ।^३

अब अवरोहक अनिवृत्तिकरणके चरमसमयका स्थितिबन्ध कहते हैं—

ततो अणियट्ठस्स य अंतं पत्तो हु तत्थ उदधीणं ।

लक्खपुधत्तं बंधो से काले पुव्वकरणो हु ॥३४१॥

अर्थः—उसके पश्चात् अणियसे गिरता हुआ अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके अंत को प्राप्त हो जाता है उससमय लक्षपृथक्त्वसागरका स्थितिबन्ध होता है पुनः अनन्तर-समयमें अपूर्वकरण गुणस्थानको प्राप्त हो जाता है ।

१. अर्थात् वृद्धिसहित पूरा स्थितिबन्ध । अथवा सवृद्धि, मूलस्थितिबन्ध = ज-स्थितिबन्ध (जयधवल मूल पृ. १६१२)

२. "सादस्स उक्कसम्भो ट्ठिदिबन्धो विसेसाहिम्भो ॥ २२७ ॥ जट्ठिदिबन्धो विसेसाहिम्भो ॥ २८८ ॥ केत्तियमेत्तेण ? सग-आवाधाभेत्तेण । असादस्स उक्कस्साट्ठिदिबन्धो विसेसाहिम्भो ॥ २३१ ॥ जट्ठिदिबन्धो विसेसाहिम्भो ॥ २३२ ॥ केत्तियमेत्तेण ? तिण्णवाससहस्समेत्तेण । जट्ठिदिबन्धो एवम् आवाहाए सहिद" (ध० पु० ११ पु० ३३६-३४०-३४१)

३. जयधवल मूल पृ० १६१२ सूत्र ५२३-५२५ ।

विशेषार्थः—तत्पश्चात् असंज्ञीके समान बंधसे आगे संख्यातहजार स्थिति-बन्धोत्सरण होनेपर उतरनेवाले अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयको प्राप्त हुआ वहां मोहनीय, तीसिय (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय) बोसीय (नामगोत्र) कमौका क्रमसे अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपमपृथक्त्वलक्ष सागरोंका ३, ३ और ३ भागप्रमाण स्थितिबन्ध होता है । उसके अनन्तरवर्ती समयमें उतरनेवाले अपूर्वकरणको प्राप्त होता है ।

अपूर्वकरणमें होनेवाले कार्य विशेषको कहते हैं—

उवसामणा निधत्ती णिकाचणुग्धाडिदाणि तत्थेव ।

चदुतीसदुगार्णा च य बंधो अस्सपवत्तो य ॥३४२॥

अर्थः—श्रेणिसे उतरते हुए अपूर्वकरणगुणस्थानको प्राप्त होनेपर अप्रशस्तोप-शामना, निधत्ति एवं निकाचना उद्घाटित-प्रगट हो जाते हैं और वहां पर क्रमशः चार, तीस व दो प्रकृतियोंका बन्ध होने लगता है । वहांसे गिरकर अधःप्रवृत्तकरणको प्राप्त हो जाता है ।

विशेषार्थः—अनिवृत्तिकरणका काल समाप्त हो जानेपर गिरकर अनन्तर समयमें अपूर्वकरणमें प्रवेश करता है, उसीसमय अप्रशस्तोपशामनाकरण, निधत्ति-करण व निकाचनाकरण उद्घाटित हो जाते हैं, क्योंकि जो पूर्वमें अनिवृत्तिकरणरूप परिणामोंके कारण उपशान्तभावसे परिणत थे अब अपूर्वकरणमें प्रवेश होनेपर पुनः उद्भव हो जाता है । उस समय हास्य-रति, भय व जुगुप्साका बन्ध प्रारम्भ होनेसे मोहनीयकी नव प्रकृतियोंका बन्ध होने लगता है, उसीसमय हास्य-रति, अरति-शोकमें से किसी एक युगलका उदय होनेसे तथा भय व जुगुप्साका वैकल्पिक (भजनीय) उदय होनेसे इन छह लोकषायकी आगमसे अविरुद्ध पुनः प्रवृत्ति हो जाती है । श्रेणिसे उतरनेवालेके अपूर्वकरणके प्रथम सप्तमभागके चरमसमयमें पूर्वोक्त परभविक नामकर्म की देवगति, पंचेन्द्रियजाति आदि प्रकृतियोंका बन्ध परिणाम विशेषके कारण प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु आहारकद्विक व तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध भजनीय है । उसके पश्चात् हजारों स्थितिबन्धोंके हो जानेपर अपूर्वकरणके सात भागोंमें अन्य पांच भाग व्यतीत

हो जानेपर छठे भागके अन्तिमसमयमें निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंका बन्ध प्रारम्भ हो जाता है । निद्रा-प्रचलाका बन्ध प्रारम्भ हो जानेके पश्चात् संख्यातहजार स्थितिवन्ध हो जानेपर अपूर्वकरणके अन्तिम सप्तमभागको बिताकर श्रेणिसे उतरने-वाला अपूर्वकरणके चरमसमयको प्राप्त हो जाता है, उससमय पृथक्त्वलक्षकरोड़सागर अर्थात् अन्तकोड़ाकोड़ीसागर स्थितिवन्ध हो जाता है । श्रेणिसे उतरनेवाले सभीके स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात नहीं होते ।^१ मात्र गलितावशेष आयामवाली गुणश्रेणि होती है, प्रतिसमय असंख्यातगुणाहीन द्रव्य अपकषित होता है । तदनन्तर समयमें अनन्तगुणाहीन विशुद्धिके कारण गिरकर अप्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त हो प्रथम समयवर्ती अधःप्रवृत्त हो जाता है ।^२

अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयमें अवस्थित गुणश्रेणिका निर्वेश करते हैं—

पढमो अधापवत्तो गुणसेडिमवद्विदं पुराणादो ।

संखगुणं तच्चंतोमुहुत्तमेत्तं करेदो हु ॥ ३४३ ॥

अर्थः—अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयमें अवस्थित गुणश्रेणिको करता है जिसका आयाम पुरातन गुणश्रेणिआयामसे संख्यातगुणा होते हुए भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है ।

विशेषार्थः—श्रेणिसे उतरनेवालेके अपूर्वकरणके अन्तिमसमयमें जितने प्रदेशाग्रका अपवर्तन हुआ था उससे असंख्यातगुणाहीन प्रदेशाग्रको अपकषित करके प्रथमसमयवर्ती अधःप्रवृत्तसंयत गुणश्रेणि करता है । जो प्रथमसमय सूक्ष्मसाम्परायके द्वारा अनिवृत्तिकरण, अपूर्वकरणके कालसे विशेष अधिक आयाममें पुरातन गुणश्रेणि निक्षेप द्वारा ज्ञानावरणादि कर्मोंका निक्षेप हुआ था । अब उससे संख्यातगुणे आयामके द्वारा गुणश्रेणि विन्यास करता है, क्योंकि मन्दतर विशुद्धिके कारण सर्वत्र गुणश्रेणि-आयाम फैल जाता है अर्थात् बढ़ जाता है ।^३

१. सर्वस्वेव मोदरमाणयस्स एत्थि दिठ्ठिघादो अनुभागघादो वा । जय धवल मूल पृ० १६२६ एवं १६१३ ।

२. ज. घ. मूल पृ. १६१३ सूत्र ५२६-५३३ ।

३. ज. घ. मूल पृ. १६१४ सूत्र ५३६ । घ. पु. १२ पृ. ७८; त. सू. अ. ६ सू. ४५ । क. पा. सु. प. ७२६; घ. पु. ६ पृ. ३३० ।

नं० १ का निषेक गल जानेसे उपरिद्वितन स्थिति का
नं० ६ का निषेक गुरुश्रेणि में आ गया ।

गलितावशेष मुद्राश्रेणि

नं० १ का निषेक गल, जैनपर ८ निषेककी गुणधर्मणि

प्रवर्धित गुणधर्माणि

६ निषेकोकी गदितावशेष गुणश्च रिह

34113

பிழைப்பு

आगे प्राचीन गुणश्रेणिके विशेष निर्देश करते हैं—

ओदरसुहुमादीदो अपुठवचरिमोत्ति गलिदसेसे व ।

गुणसेढी शिक्खेवो सट्ठाणे होदि तिट्ठाणं ॥३४४॥

अर्थः—श्रेणिसे उतरते हुए सूक्ष्मसाम्परायकी आदिसे लेकर अपूर्वकरणके अन्त पर्यन्त गलितावशेष गुणश्रेणि निक्षेप होता है, किन्तु स्वस्थानसंयमीके गुणश्रेणिके तीन स्थान होते हैं ।

विशेषार्थ—उतरनेवाले सूक्ष्मसाम्परायके प्रथमसमयसे लेकर अपूर्वकरणके चरमसमयपर्यन्त ज्ञानावरणादिकर्मोंका गुणश्रेणि-आयाम गलितावशेष है, क्योंकि शेष शेषमें निक्षेप होता है । इतनी विशेषता है कि सूक्ष्मसाम्परायके प्रथम समयसे लेकर कितने ही काल पर्यन्त गुणश्रेणिआयाम अवस्थित होता है । पश्चात् अन्य कर्मोंका गुणश्रेणि आयामके समान मोहनीयकर्मका गुणश्रेणी आयाम गलितावशेष होता है, क्योंकि तीन स्थानोंमें वृद्धिको प्राप्त होकर अवस्थित गुणश्रेणि आयाम होता है ।

यथा—उतरनेवाले सूक्ष्मसाम्परायके प्रथमसमयसे लेकर अवस्थित गुणश्रेणि आयाम ही है । तथा स्पर्धकरूप बादरलोभके द्रव्यके अपकर्षणमें एकबार गुणश्रेणि आयाम वृद्धिगत होकर बादरलोभ वेदककाल पर्यन्त अवस्थित रहता है । मायाके द्रव्य का अपकर्षणमें दूसरीबार वृद्धिको प्राप्त होकर मायाके वेदककाल पर्यन्त अवस्थित गुणश्रेणि आयाम रहता है । मानके द्रव्यका अपकर्षणमें तीसरीबार बढ़कर मानके वेदककाल पर्यन्त अवस्थित गुणश्रेणि आयाम रहता है । इसप्रकार तीनबार अवस्थित गुणश्रेणि-आयाम होता है । पुनः चौथीबार क्रोधके अपकर्षणमें बढ़कर अपूर्वकरणके अन्त-पर्यन्त अन्यकर्मोंके समान मोहनीयकर्मका भी गलितावशेष गुणश्रेणि आयाम होता है । अधःप्रवृत्तकरणके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त पुराने गुणश्रेणि आयामसे संख्यातगुणा ज्ञानावरणादिकर्मोंका अवस्थित गुणश्रेणि-आयाम होता है । अधःप्रवृत्त-करणका जितना अन्तर्मुहूर्तप्रमाणकाल है उतने कालमें प्रतिसमय एकान्तरूपसे अनन्त-गुणीहीन विशुद्धतासे उतरकर पश्चात् स्वस्थान अप्रमत्त होता है । उससमय गुणश्रेणि के तीन स्थान होते हैं जिनका कथन आगे करते हैं ।^१

१. ज. ध. मूल. पत्र १६१४ सूत्र ५३७ की टीका ।

अथानन्तर स्वस्थानसंयमीके गुणश्रेणि आयाम सम्बन्धी तीन स्थानों का कथन करते हैं—

सट्ठाणे तावदियं संखगुणं तु उवरि चडमाणे ।

विरदाविरदाहिमुहे संखेजगुणं तदो तिविहं ॥३४५॥

अर्थ:—उपशमश्रेणिसे उतरनेवालेके स्वस्थान संयत होनेपर भी गुणश्रेणि आयाम उतना ही रहता है । पुनः ऊपर चढ़नेपर गुणश्रेणि-आयाम संख्यातगुणाहीन हो जाता है । विरताविरतके अभिमुख होनेपर गुणश्रेणिआयाम संख्यातगुणा हो जाता है ।

विशेषार्थ:—उपशमश्रेणिसे उतरनेवालेके अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयमें जो अन्तर्मुहूर्तप्रमाण वाला गुणश्रेणि निक्षेप (आयाम) था वह अन्तर्मुहूर्तकालतक अवस्थित रहता है, क्योंकि वृद्धि-हानिके कारणोंका अभाव है, किन्तु प्रदेशाग्रीकी अपेक्षा नियमसे हीयमान है कारण कि विशुद्धिमें अनन्तगुणी हानिके कारण परिणाम हीयमान होते हैं । अन्तर्मुहूर्तकाल बीत जानेके पश्चात् गुणश्रेणिआयाम कथंचित् वृद्धिको प्राप्त होता है, कथंचित् घटता है और कथंचित् अवस्थित रहता है । अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तकालतक अवस्थित गुणश्रेणिआयाममें गुणश्रेणि निक्षेप करके उसके पश्चात् गुणश्रेणिनिक्षेपके आयाममें वृद्धि-हानि और अवस्थान इन तीनोंमें से कोई एक अवस्था होती है । स्वस्थान अप्रमत्तसंयत होकर प्रमत्त-संयत-अप्रमत्तसंयत गुणस्थानोंमें भूलनेवालेके अवस्थित आयामवाला गुणश्रेणि निक्षेप होता है । संयमासंयम गुणस्थानको गिरकर प्राप्त होनेवालेके गुणश्रेणिनिक्षेपका आयाम संख्यातगुणवृद्धिके द्वारा बढ़ जाता है । नीचे गिरकर आगम-अविरोधसे पुनः उपशम या क्षपकश्रेणि चढ़नेवालेके पूर्व गुणश्रेणिशीर्षसे नीचे संख्यातगुणहानिके द्वारा हीन होकर गुणश्रेणि निक्षेपका आयाम होता है । इसीप्रकार सभी गुणश्रेणिनिक्षेपोंके आयामके विषयमें समझना चाहिए ।

प्रदेशोंकी अपेक्षा वृद्धि हानि और अवस्थान विषय विभागको जानकर लगा लेना चाहिए । अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कालको छोड़कर उसके आगे स्वस्थान संयत भावसे वर्तन नहीं करनेवालेके संक्लिष्ट विशुद्ध परिणामोंके वशसे वृद्धि-हानि और अवस्थान

सम्भव है, क्योंकि विप्रतिषेधका अभाव है ।^१

अथानन्तर अबरोहक अप्रमत्तके अधःप्रवृत्तकरणमें संक्रम विशेषका कथन करते हैं—

करणे अधापवत्ते अधापवत्तो दु संक्रमो जादो ।

विजभादमबंधाणे णट्ठो गुणसंक्रमो तत्थ ॥३४६॥

अर्थ—गिरते हुए अधःप्रवृत्तकरणमें गुणसंक्रमण नष्ट हो जाता है और अधःप्रवृत्तसंक्रमण होने लगता है । अबन्ध प्रकृतियोंका विध्यातसंक्रमण होता है ।

विशेषार्थ—अपूर्वकरणसे उतरकर अधःप्रवृत्तकरणमें प्रवेश करनेपर प्रथम समयमें गुणसंक्रमण व्युच्छिन्न हो जाता है और बंधनेवाली प्रकृतियोंका अधःप्रवृत्तसंक्रमण प्रारम्भ हो जाता है । जिन प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता ऐसी नपुंसकवेद आदि अप्रशस्त प्रकृतियोंका विध्यातसंक्रमण होता है । अपूर्वकरणमें गुणसंक्रमण होता है । परिणामोंमें विशुद्धिकी हानि होनेके कारण अधःप्रवृत्तकरणमें गुणसंक्रमण अर्थात् प्रत्येक समयमें द्रव्यका गुणाकाररूपसे संक्रमण होना रुक जाता है और अधःप्रवृत्तभागहारके द्वारा भाजित द्रव्यका अधःप्रवृत्त संक्रमण प्रारम्भ हो जाता है । संज्वलन-कषाय, पुरुषवेद आदि बंधनेवाली प्रकृतियोंका अधःप्रवृत्तसंक्रमण होने लगता है । अबन्ध प्रकृतियोंके द्रव्यको विध्यातभागहारका भाग देनेपर जो एकभागप्रमाण द्रव्य प्राप्त हो उतने द्रव्यका विध्यात संक्रमण होता है ।^२

अब दो गाथाओंमें द्वितीयोपशमसम्यक्त्वके कालका प्रमाण कहते हैं—

चडणोदरकालादो पुब्बादो पुब्बगोत्ति संखगुणं ।

कालं अधापवत्तं पालदि सो उवसमं सम्मं ॥३४७॥

अर्थ—द्वितीयोपशम सम्यक्त्वसहित जीव चढ़ते हुए अपूर्वकरणके प्रथमसमय से लेकर उतरते हुए अपूर्वकरणके अन्तिमसमयपर्यन्त जितनाकाल हुआ उससे संख्यात-गुणाकाल अधःप्रवृत्तकरणसहित इस द्वितीयोपशम सम्यक्त्वको पालता है ।

१. जयधवल मूल पृ० १६१४ सूत्र ५३८-५३९ ।

२. जयधवल मूल पृ० १६१४; ध० पु० ६ पृ० ३३०-३३१; क० पा० सुत्त पृ० ७२६ एवं ध० पु० ६ पृ० ४०६ ।

विशेषार्थः—उपशमश्रेणि पर आरोहण करते हुए अपूर्वकरण गुणस्थानके प्रथमसमयसे लेकर चारित्रमोहकी २१ प्रकृतियोंका सर्वोपशम करके उतरते हुए पुनः प्राप्त अपूर्वकरणगुणस्थानके अन्तिमसमयतक जो कालका प्रमाण, उसकालसे संख्यात गुणित कालतक लौटता हुआ अधःप्रवृत्तकारणके साथ द्वितीयोपशम सम्यक्त्वको पालता है । अर्थात् उपशमश्रेणि चढ़ने और उतरनेमें जितना काल लगता है उससे भी संख्यातगुणाकाल अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थानका काल है । इस गाथाके द्वारा द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके कालका महत्त्व बताया गया है ।

तस्सम्मत्तच्छाप असंजमं देससंजमं वापि ।

गच्छेज्जावलिच्चक्के सेसे सासादणगुणं वापि ॥३४८॥

अर्थ—इस द्वितीयोपशमसम्यक्त्वके कालमें गिरकर असंयमको प्राप्त हो जावे अथवा देशसंयमको प्राप्त हो जावे अथवा छह आवलियोंके शेष रहनेपर सासादनगुणस्थानको भी प्राप्त हो जावे ।

विशेषार्थ—उपशमश्रेणिसे उतरनेके पश्चात् अप्रमत्त-प्रमत्त गुणस्थानमें भ्रमण करते हुए यदि अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण दोनोंप्रकारकी कषायोंका उदय हो जावे तो असंयत नामक चतुर्थगुणस्थानमें तथा यदि मात्र प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होजावे तो देशसंयम नामक पंचमगुणस्थानमें अथवा देशसंयमसे असंयम को या असंयमसे देशसंयमको अर्थात् दोनों गुणस्थानोंको प्राप्त हो जावे । अथवा द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके कालमें उत्कृष्ट छह आवलियां और अधन्य एकसमय शेष रहने पर यदि परिणामोंके कारण अनन्तानुबन्धी कषायकी संयोजना होकर उदय हो जावे तो सासादनगुणस्थानमें आ जावे ।^१ जिसने विसंयोजनाके द्वारा अनन्तानुबन्धी चतुष्क को निःसत्त्व कर दिया है उसके भी परिणाम विशेषके कारण शेष कषायोंका द्रव्य उसीसमय अनन्तानुबन्धी कषायरूपसे परिणामनकर अनन्तानुबन्धीकषायका उदय हो जाता है और वह सासादनगुणस्थानको प्राप्त हो जाता है ।^२ यह श्री यतिवृषभाचार्यका

१. ज. घ. मू. पृ. १६१५ सूत्र ५४११ व. पु. ६ पृ. ३३११ घ. पु. ५ पृ. १४ पर अप्रमत्तगुणस्थानके अन्तरके कथनसे इस गाथाकी पुष्टि होती है ।

२. जयधवल मूल पृ. १६१६ सूत्र ५४२-४३ ।

३. ज. घ. पु. ४ पृ. २४; ज. घ. पु. १० पृ. १२४ ।

मत उनके कषायपाहुड़के चूणिसूत्रमें प्रतिपादित है, किन्तु षट्खण्डागमके कर्त्ता श्री पुष्पदन्त-भूतबलीका यह मत नहीं है ।^१

अब द्वितीयोपशमसम्यक्त्वसे सासादन प्राप्त जीवके मरणका कथन करते हुए उस सासादनगुणस्थानकी ओरका प्रत्येक पक्षिप्रथमें उतरा यहाँ होनेके कारणका निर्देश करते हैं—

जदि मरदि सासणो सो गिरयतिरिक्खं णरं ए गच्छेदि ।

णियमा देवं गच्छदि जइवसहमुणिदवयणेण^२ ॥३४६॥

एरतिरियक्खणराउगसत्तो सक्को ए मोहमुवसमिदुं ।

तम्हा तिसुवि गदीसु ए तस्स उप्पउज्जणं हादि ॥३५०॥

अर्थः—उपशमश्रेणिसे उतरा हुआ जो सासादन जीव है वह आयु नाशसे मरण करे तो नरक, तिर्यंच व मनुष्यगतिको प्राप्त नहीं होता नियमसे देवगतिको ही प्राप्त होता है । इसप्रकार उपशमश्रेणिसे उतरनेवाले जीवके सासादनगुणस्थानकी प्राप्ति और उसके मरण होनेका विशेष कथन कषायप्राभृतग्रन्थके चूणिसूत्रोंमें यति-वृषभाचार्यने प्रतिपादित किया है उसीके अनुसार यहाँ कथन किया गया है ।

बध्यमान नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायुके सत्त्ववाले मनुष्यके मोहनीयकर्म का उपशम होना शक्य नहीं है इसलिए इन तीन गतियोंमें उसका उत्पाद नहीं होता ।

विशेषार्थः—उपशमश्रेणिसे गिरनेवाला जीव सासादनगुणस्थानको प्राप्त होकर मरता है तो नरकगति, तिर्यंचगति अथवा मनुष्यगतिको नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि ऐसा नियम है कि नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायु इन तीनों आयुमेंसे किसी भी एक आयुको बांधनेवाला मनुष्य अणुव्रत-महाव्रत ग्रहण तथा कषायोंका उपशम करनेमें समर्थ नहीं हो सकता ।^३ इसकारण उपशमश्रेणिसे उतरकर सासादनगुण-

१. “उवसमसेढीदो ओदिण्णाणं सासणगमणाभावादो । तं वि कुदो एव्वदे ? एदम्हादो चेव भूदबली वयणादो । (ध० पु० ५ पु० ११)

२. सासाणं पुण्णदो जदि मरदि, ए सक्को गिरयगदि तिरिक्खगदि मणुसगदि । णियमा देवगदि गच्छदि । (क. पा. सुत्त पृ. ७२७ सूत्र ५४५)

३. “अणुव्वदमह्व्वदाइ ए लहइ देवाउगं मोत्तु” (गो. क. गा. ३३४); गो. जी. गा. ६५३; ध. पु. ६ पृ. ३२६, प्रा. पं. सं. अ. ६ गा. २०६; देवायुके बन्ध बिना अन्य तीन आयुके बन्धवाला अणुव्रत-महाव्रत धारण नहीं कर सकता ।

स्थानको प्राप्त मनुष्य नरकगति, तिर्यचगति और मनुष्यगतिको प्राप्त नहीं होता, किन्तु नियमसे देवगतिको प्राप्त होता है। पूर्वमें जिसने आयुका बन्ध नहीं किया उसका यहांपर मरण सम्भव नहीं है^१।

अब उपशमश्रेणिसे उतरते हुए जीवके सासादनकी प्राप्तिके अभावका कथन करते हैं—

उवसमसेढीदो पुण ओदियणो सासणं ण पाउणदि ।

भूदबलिणाहणिम्मलसुत्तस्स फुडोवदेसेण ॥३५१॥

अर्थः—उपशमश्रेणिसे उतरता हुआ सासादनगुणस्थानको प्राप्त नहीं होता ऐसा श्री भूतबलीमुनिनाथ द्वारा विरचित निर्मलसूत्रका प्रगट उपदेश है।^२

विशेषार्थः—श्री गुणधराचार्यने गाथाओं द्वारा कषाय पाहुड़की रचना की है जिसपर यतिवृषभाचार्यने चूणिसूत्रकी रचना की। उस चूणिसूत्रके अनुसार उपशम श्रेणिसे उतरता हुआ सासादनगुणस्थानको प्राप्त होता है और श्री वीरसेन आचार्यने भी कषायपाहुड़ पर लिखी गई अपनी जयधवला टीकामें पूर्ण समर्थन किया है जैसा कि जयधवल पु० ४ पृ० २४ व पु० १० पृ० १२४ से स्पष्ट है। श्री धरसेनाचार्यको द्वादशांगका एकदेश ज्ञान था। श्री पुष्पदन्त-भूतबली आचार्योंको द्वादशांगके सूत्र श्री-धरसेनाचार्यसे प्राप्त हुए, जिनको उन्होंने षट्खण्डागमरूपसे लिपिबद्ध किया उसपर भी वीरसेनाचार्यने ही धवला टीका रची। उस षट्खण्डागमका प्रथमखण्ड जीवस्थान है। तत्सम्बन्धी सत् प्ररूपणसूत्रोंको तो श्री पुष्पदन्ताचार्यने लिपिबद्ध किया और शेष सूत्रोंको श्री भूतबली आचार्यने लिपिबद्ध किया। जीवस्थान सम्बन्धी अन्तरानुगमका ७वां सूत्र इसप्रकार है—“सासणसम्मादिट्ठणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ? एगजीवं पडुच्च जहण्णेण पलिदोवमस्स असंखेज्जदि भागो ।” सासादन सम्यग्दृष्टि जीवका अन्तर कितने कालतक होता है ? एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर पल्योपमके

१. जयधवल मूल पु० १६१६-१७। क० पा० सुत्त पु० ७२७ सूत्र ५४४-४६।

२. व० पु० ५ पु० ११।

३. जइसो कसाय उवसामणादोपरि वदिदो दंसणमोहणीय उवसंतद्धाए अचरिमेसु समएसु भासाणं गच्छइ तदो भासाणमणादो से काले पणवीसं पयडोओ पविसंति । (ज. घ. पु. १० पृ. १२३)

असंख्यातवैभागमात्र है । इस सूत्र पर शङ्का व समाधान इसप्रकार है—“सासण-
पच्छायदमिच्छादिट्ठ संजमं गेण्हाविय दंसणतियमुवसामिय पुणो चरित्तमोहमुवसामेदूण
हेट्ठा ओयरिय आसाणं गदस्स अंतोमुहुत्तांतरं किण्ण परूविदं ? ए, उवसमसेढीदो
ओदिण्णाणं सासणगमणाभावादो । तं वि कुदो णव्वदे ? एदम्हादो चेव भूदव्वली
वयणादो ।”

शङ्का—सासादनगुणस्थानसे पीछे लीट्टे हुए मिथ्यादृष्टिजीवको संयम ग्रहण
कराकर और दर्शनमोहनोयकी तीन प्रकृतियोंका उपशमन कराकर पुनः चारित्रमोहका
उपशम कराकर नीचे उतारकर सासादनगुणस्थानको प्राप्त हुए जीवके अंतर्मुहूर्तप्रमाण
अन्तर क्यों नहीं बताया ?

समाधानः—नहीं, क्योंकि उपशमश्रेणिसे उतरनेवाले जीवोंके सासादनगुण-
स्थानमें गमन करनेका अभाव है ।

शङ्का—यह कैसे जाना ?

समाधानः—भूतवली आचार्यके इसी वचनसे जाना जाता है ।

इसप्रकार अवरोहकके सासादनाभावका निर्णय किया गया ।

अथानन्तर उपशमश्रेणि चढ़नेवाले १२ प्रकारके जीवोंकी क्रियामें पाये जाने
वाले भेदका कथन १२ गाथाओंमें करते हैं—

पुं क्रोधोदयचलियस्सेसाह परूवणा हु पुं माणे ।

मायालोहे चलिदस्सत्थि विसेसं तु पत्तेयं ॥३५२॥

अर्थ—पूर्वमें कही सर्व प्ररूपणा पुरुषवेद और क्रोधोदय सहित उपशमश्रेणी
चढ़नेवाले जीवकी कही गई है । पुरुषवेद और संज्वलन मान, माया या लोभ सहित
उपशमश्रेणि चढ़नेवाले जीवोंमें से प्रत्येक की क्रिया विशेष है । उसीका कथन आगे
करते हैं—

दोण्हं तिण्हं चउण्हं कोहादीणं तु पढमठिदिमित्तं ।

माणस्स य मायाए बादरलोहस्स पढमठिदी ॥३५३॥

जस्सुदयेणारूढो सेडिं तस्सेव ठविदि पढमठिदि ।
 सेसाणावलिमेत्तं मोत्तूण करेदि अंतरं णियमा ॥३५४॥
 जस्सुदयेणारूढो सेडिं तक्कालपरिसमत्तीप ।
 पढमठिदिं करेदि हु अणंतस्वरुदयमोहस्स ॥३५५॥
 माणोदएण चडिदो कोहं उवसमदि कोह अच्चाए ।
 मायोदएण चडिदो कोहं माणं सगच्चाए ॥३५६॥
 लोहोदएण चडिदो कोहं माणं च मायमुवसमदि ।
 अप्पएण अच्चाणे ताणं पढमठिदी एत्थि ॥३५७॥
 माणोदयचडपडिदो कोहोदयमाणमेत्तमाणुदओ ।
 माणतियाणं सेसे सेससमं कुणदि गुणसेढी ॥३५८॥
 माणादितियाणुदये चडपडिदे सगसगुदयसंपत्ते ।
 एवद्धत्तिकसायाणं गलिदवसेसं करेदि गुणसेढी ॥३५९॥
 जस्सुदएण य चडिदो तम्हि य उक्कट्टियम्हि पडिऊण ।
 अंतरमाऊरेदि हु एवं पुरिसोदए चडिदो ॥३६०॥

अर्थः—पुरुषवेद सहित क्रोधोदयसे श्रेणि चढ़नेवालेके क्रोध-मान-माया-लोभकी पृथक्-पृथक् प्रथमस्थिति होती है । मानोदयसे श्रेणि चढ़नेवालेके क्रोधका उदय न होने से क्रोध और मान इन दोनोंकी प्रथमस्थितिप्रमाण मानकी प्रथमस्थिति होती है । मायोदयसे श्रेणि चढ़नेवालेके क्रोध-मानका उदय नहीं अतः क्रोध-मान-माया इन तीन प्रथमस्थितिप्रमाण मायाकी प्रथमस्थिति होती है । लोभोदयसे श्रेणि चढ़नेवालेके क्रोध-मान-मायाका उदय नहीं अतः लोभकी प्रथमस्थितिका प्रमाण क्रोध-मान-माया-लोभ इन चारकी प्रथमस्थितिके तुल्य है ॥३५३॥ जिस कषायके या वेदके उदयसे श्रेणि चढ़ता है उसकी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्रथमस्थितिको छोड़कर और शेष अनुदयरूप वेद व कषायोंकी आवलिमात्र स्थितिको छोड़कर 'अन्तर' करता है ॥३५४॥ जिस

कषायोदयसे श्रेणि चढ़ता है उसका (प्रथमस्थिति) काल समाप्त होनेपर उपरि अनन्तरवर्ती उदयमें आनेवाली मोह (कषाय) की प्रथमस्थिति करता है ॥३५५॥ मानोदयसे श्रेणि चढ़नेवाला उदयरहित क्रोधको उसके काल में उपशमाता है, और मायासे श्रेणि चढ़नेवाला उदयरहित क्रोध और मानको उनके कालमें उपशमाता है ॥३५६॥ लोभोदयसे श्रेणि चढ़नेवाला अनुदय स्वरूप क्रोध-मान-मायाको अपने-अपने कालमें उपशमाता है, उदयरहित कषायोंकी प्रथमस्थिति नहीं होती ॥३५७॥ मानोदयसे श्रेणि चढ़कर गिरनेवालेके क्रोध व मानके उदयकालप्रमाण मानोदयकाल होता है । त्रिविध मानकी गलितावशेष गुणश्रेणि होती है ॥३५८॥ मान या माया अथवा लोभके उदयसे श्रेणि चढ़कर गिरनेवालेके अपनी-अपनी कषायके उदय होनेपर नव, द्वादश, तीन कषायोंकी गलितावशेष गुणश्रेणि होती है ॥३५९॥ जिस कषायोदयसहित चढ़कर गिरा हुआ जीव उस कषायको अपकर्षित कर अन्तरको पूरता है । यह पुरुष-वेदोदयसहित जीवका कथन है ॥३६०॥

विशेषार्थः—पुरुषवेदोदयसहित क्रोध, मान, माया या लोभके उदयके साथ उपशमश्रेणि चढ़नेवालेके अदःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयसे लेकर अन्तरकरण करके नपुंसकवेद व स्त्रीवेदके उपशमानेके अनन्तर सात नोकषायकी उपशामनाके अन्ततक कोई क्रोधसे श्रेणि चढ़नेवालेकी प्ररूपणा और अन्य कषायसे उपशमश्रेणि चढ़नेवाले की प्ररूपणामें कोई अन्तर नहीं है । क्रोधका वेदन (अनुभव) करते हुए उपशम-श्रेणि चढ़नेवाला तीनप्रकारके क्रोधको उपशमाता है, किन्तु मानोदयसे उपशमश्रेणि चढ़नेवाला मानका वेदन करते हुए तीन प्रकारके क्रोधको उपशमाता है । दोनोंके क्रोधके उपशमानेका काल सदृश है नानापन नहीं है । क्रोधोदयवालेके जहाँपर क्रोध का उपशमनकाल है वहींपर मानवालेके क्रोधका उपशामना काल है । क्रोधसे चढ़नेवालेके जिसप्रकार क्रोधकी प्रथमस्थिति अन्तर्मुहूर्तप्रमाण थी उसप्रकार मानोदयसे श्रेणि चढ़नेवालेके क्रोधकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाणवाली प्रथमस्थिति नहीं होती, किन्तु अन्तर करनेपर मानकी प्रथम स्थिति होती है । क्रोधोदयसे श्रेणि चढ़नेवालेके जितनी क्रोध और मान दोनोंको प्रथमस्थिति थी उतनी मानोदय श्रेणि चढ़नेवालेकी मानकी प्रथमस्थिति होती है ।

शंका—मानोदयसे श्रेणि चढ़नेवालेके मानकी प्रथमस्थितिमें वृद्धि होकर

क्रोधोदयसे श्रेणि चढ़नेवालेसे मानकी प्रथमस्थितिमें विभिन्नता क्यों हुई ?

समाधान—मानकी इतनी लम्बी प्रथमस्थितिके बिना नव नोकषाय, तीन-प्रकारके क्रोध और तीनप्रकारके मानकी उपशामनाक्रियामें समानता नहीं हो सकती थी । इसलिए मानोदयसे श्रेणि चढ़नेवालेके मानकी प्रथमस्थिति, क्रोधोदयसे श्रेणि चढ़नेवालेके क्रोध और मानकी प्रथमस्थितिके सदृश; जहांकी तहां होती है । मानोदयसे श्रेणि चढ़नेवालेके इससे ऊपर शेष कषाय अर्थात् माया व लोभकी उपशामना विधि वही है ।

अब उपशमश्रेणिसे गिरनेवालेके विषयमें विचार किया जाता है—मान-कषायके उदयसे उपशमश्रेणि चढ़कर उपशान्तकषाय नागल ११वें गुणस्थानमें अन्त-मुहूर्तकालतक ठहरकर गिरनेवाले जोवके जब कृष्टिगत व स्पर्धकगत तथा मायाका अपने-अपने स्थानपर वेदन करता है तबतक किंचित् भी नानापना (विभिन्नता) नहीं है, क्योंकि वहांपर वही पूर्वोक्त अवस्थित आयामवाला गुणश्रेणि निक्षेप व दोनों कषायोंका अपने-अपने पूर्व वेदककालमें वेदन करता है ।^१

उसके आगे मानका वेदन करनेवालेके विभिन्नता है । क्रोधोदयसे चढ़नेवाले व चढ़कर पुनः उतरनेवाले मानवेदकके अपने वेदककालसे कुछ अधिक अवस्थित गुणश्रेणि आयाममें निक्षेपणा होता है । क्रोधका अपकर्षण होनेपर बारह कषायोंकी ज्ञानावरणादि कमोंका गुणश्रेणिके सदृश प्रमाणवाले गलितावशेष गुणश्रेणि-आयाममें विन्यास होता है, किन्तु मानोदयसे चढ़नेवाले व चढ़कर पुनः उतरनेवालेके तीनप्रकारके मानका अपकर्षण होनेके अनन्तर ही नवकषायोंका, ज्ञानावरणादि कमोंकी गुणश्रेणिके सदृश आयामवाली गलितावशेष गुणश्रेणिमें निक्षेप होकर अन्तरको पूरा जाता है, इतनी विभिन्नता है ।

जिस कषायोदयसे श्रेण्यारोह करता है उसी कषायको अपकर्षित करनेपर अन्तरको भरना व ज्ञानावरणादिकी गुणश्रेणिके तुल्य उदयावलिसे बाहर गलितावशेष गुणश्रेणि निक्षेपका आरम्भ करता है ।^२

१. जयधवल मूल पृ० १६१७-१८ सूत्र ५४८-५५७ ।

२. ज. ध. मूल पृ. १६१६ सूत्र ५६० की टीका ।

क्रोधोदयसे श्रेणि चढ़े हुए उपशामकके पुनः गिरनेपर जितना मानवेदककाल है उतने प्रमाणकालसे मानोदयसे श्रेणि चढ़कर गिरनेपर मानको वेदनकर अनंतर समयमें मानका वेदन करता हुआ एकसमयके द्वारा क्रोधको अनुपशांतकर अपकर्षण करता है । क्रोध से चढ़कर गिरनेवाला क्रोधोदयमें तीनप्रकारके क्रोधका अपकर्षणकर संज्वलनक्रोधकी उदयादिगलितावशेष गुणश्रेणि करता है, किंतु मानसे श्रेणि चढ़कर गिरनेवाला मानवेदन कालमें क्रोधका अपकर्षणकर संज्वलनक्रोधकी उदयावलि बाहर गलितावशेष गुणश्रेणि है । इन दोनोंमें यह विभिन्नता है ।^१ अर्थात् मानके साथ चढ़नेवालेके प्रथमसमय करता अवेदीसे लेकर जबतक क्रोधका उपशामनाकाल है तबतक विभिन्नता है^२ तथा मानके साथ श्रेणि चढ़कर उतरनेवालेके मानको वेदन करते हुए तबतक विभिन्नता है जबतक क्रोधका अपकर्षण नहीं करता ।^३ क्रोधके अपकर्षण करनेपर क्रोधकी उदयादि गुणश्रेणी नहीं होती । मान ही वेदा जाता है । क्रोधकी उदयादि गुणश्रेणि नहीं है व मानका ही वेदन होता है ये दो नानात्व हैं । क्रोधके अपकर्षणसे लगाकार जबतक अधःप्रवृत्त संयत होता है तबतक ये विभिन्नताएं होती हैं ।

क्रोधकषायके साथ उपशमश्रेणि चढ़नेवालेके क्रोध, मान व मायाकी जितनी प्रथमस्थितियां होती हैं वे तीनों प्रथमस्थितियां यदि सम्मिलित कर दी जावें तो उतनी माया कषायके साथ उपशमश्रेणि चढ़नेवालेके माया कषायकी प्रथमस्थिति होती है व अन्तरकरण करनेके प्रथमसमयमें मायाकी प्रथमस्थितिको करता है इस प्रथमस्थिति के अभ्यन्तर तीनप्रकारके क्रोधको और तीनप्रकारके मानको और तीनप्रकारकी माया को यथाक्रम उपशमाता है ।^४ तदनन्तर लोभको उपशमाता है उसमें कोई अन्तर नहीं है । मायाके साथ उपशमश्रेणि चढ़कर उतरनेवालेके लोभके वेदनकालतक कोई विभिन्नता नहीं है । उसके पश्चात् विभिन्नता है । क्रोधके साथ श्रेणि चढ़कर उतरनेवालेके मायाकी प्रथमस्थिति मायावेदककालसे आवलिप्रमाण अधिक ही होती है,

१. ज. घ. मूल. पृ० १६१६ सूत्र ५६१-६२ ।

२. सूत्र ५६७ ।

३. ज. घ. मूल पृ. १६२१ सूत्र ५७२ ।

४. ज. घ. मूल १६२१ । क. पा. सुत्त पृ. ७२६-३०, घ. पु. ६ पृ. ३३३ । ज. घ. मूल पृ. १६२४ । घ. पु. ६ पृ. ३३४; क. पा. सुत्त पृ. ७३० ।

किन्तु मायोदयसे श्रेणि चढ़कर उतरनेवालेके तीनप्रकारकी मायाका और तीनप्रकारके लोभका गुणश्रेणि निक्षेप ज्ञानावरणादि कर्मोंके सदृश होकर गुणश्रेणिआयाम गलिताव-
शेष होता है, यह यहांपर विभिन्नता है । तथा मायाका वेदन करते हुए ही शेष
(मान-क्रोध) कषायोंका अपकर्षण करते हैं, किन्तु उनका गुणश्रेणिनिक्षेप उदयावलिसे
बाहर होता है ।

लोभके उदयसे श्रेणि चढ़नेवालेकी विभिन्नता इसप्रकार है—अन्तरकरणके
प्रथमसमयमें लोभकी प्रथमस्थितिको करता है । क्रोधसे श्रेणि चढ़नेवालेके जितनी
क्रोधकी, मानकी, मायाकी और लोभकी प्रथमस्थिति होती है लोभोदयसे श्रेणि चढ़ने-
वालेके उतनी संज्वलनलोभकी प्रथमस्थिति होती है । शेष संज्वलन कषायोंकी प्रथम-
स्थिति नहीं होती, क्योंकि उनका उदय नहीं है । सूक्ष्मसाम्परायिक लोभके प्राप्त होने
में और उतरनेमें कोई विभिन्नता नहीं है, किन्तु गिरकर अनिवृत्तिकरणप्रवेशके प्रथम-
समयमें विभिन्नता है । अनिवृत्तिकरणमें प्रवेश करते ही लोभका अपकर्षणकर ज्ञाना-
वरणादिकर्मोंकी गुणश्रेणिके तुल्य आयामवाला गुणश्रेणि निक्षेप करता है । जिस
कषायोदयके साथ श्रेणि चढ़ता है गिरनेपर जब उस कषायका अपकर्षण करता है
तो गुणश्रेणिनिक्षेप-आयाम ज्ञानावरणादिकी गुणश्रेणिके तुल्य होकर अन्तर पूरा जाता
है । लोभका वेदन करते हुए शेष कषायोंका अपकर्षण करता है । सर्वकषायोंका गुण-
श्रेणि निक्षेप ज्ञानावरणादि कर्मोंके गुणश्रेणिनिक्षेपके तुल्य है । शेष शेषमें निक्षेपण
होता है अर्थात् गलितावशेष गुणश्रेणि होती है । क्रोध कषायके उदयके साथ श्रेणि
चढ़नेवाले और उतरनेवालेसे शेष कषायोंके साथ श्रेणि चढ़नेवाले व उतरनेवालेके
यह विभिन्नता है ।

थी उदयस्स य एवं अगदवेदो हु सत्त कम्मसे ।

सममुवसामदि संढस्सुदण चडिदस्स वोच्छामि ॥३६१॥

अर्थः—स्त्रीवेदोदयसे श्रेणिपर आरोहण करनेवाला जीव अपगतवेदो होकर
सात नोकषायोंको एकसाथ उपशमाता है । नपुंसक वेदोदयसे श्रेणि चढ़नेवालेका आगे
कथन किया जावेगा ।

विशेषार्थः—स्त्रीवेदोदयसे चारोंकषायों सहित चढ़नेवालेकी प्ररूपणा पुरुष-

वेदोदयसे चढ़नेवालेके समान जानना, किन्तु पुरुषवेदोदयवालेके^१ छह नो कषायके उपशामनाकालसे पुरुषवेदका उपशामनाकाल एकसमयकम दो आवलि अधिक है,^२ क्योंकि एक समयकम दोआवलिकालमें पुरुषवेदके नवकबन्धको उपशमाता है । स्त्री वेदोदयसे श्रेणिचढ़नेवाला स्त्रीवेदकी प्रथमस्थितिको गलाकर तदनन्तर समयमें अपगत-वेदी हो पुरुषवेदका अबन्ध होकर अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा सात नो कषायोंको एक साथ उपशमाता है तथा सातों ही का उपशमनकाल तुल्य है । यह विभिन्नता है । इसीप्रकार स्त्रीवेदके उतरते समय भी कुछ विशेषता है सो जानकर कहना चाहिए ।^३

संदुदयंतरकरणो संदद्याणमिह अणुवसंत्ते से ।

इत्थिस्स य अद्धाए संढं इत्थिं च समगमुवसमदि ॥३६२॥

ताहे चरिमसवेदो अवगदवेदो हु सत्तकम्मसे ।

सममुवसामदि सेसा पुरिसोदयचडिदभंगा हु ॥३६३॥

अर्थः—नपुंसकवेदोदयसे उपशमश्रेणि चढ़नेवाला अन्तरकरणके पश्चात् नपुंसकवेदको उपशमाता हुआ भी पुरुषवेदोदयवालेके नपुंसक-उपशान्तकालमें पूर्ण नहीं उपशमाता अतः जो अनुपशांत अंश रह जाता है उसको स्त्रीवेद उपशांतकालमें स्त्रीवेद के साथ उपशमाता हुआ सवेदभागके चरम समयको प्राप्त हो जाता है । अनन्तर अपगतवेदी होकर सातकर्मोंको एक साथ उपशमाता है । शेष पुरुषवेदोदय सहित श्रेणि चढ़नेवालेके समान भङ्ग है ।

विशेषार्थः—पुरुषवेदोदयसे उपशमश्रेणि चढ़नेवाला पूर्वमें नपुंसकवेदको उपशमाकर तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा स्त्रीवेदको उपशमाता है । नपुंसक-वेदोदयसे चढ़नेवाला प्रथमस्थितिको करता है । जितना नपुंसकवेद व स्त्रीवेद दोनोंका उपशामनाकाल है उतना प्रथमस्थितिका प्रमाण है । प्रथमस्थितिमें नपुंसकवेदको उपशमाना प्रारम्भ करता है । पुरुषवेदवालेके जितना नपुंसकवेदका जितना उपशामना-काल है उतनाकाल बीत जाता है तोभी नपुंसकवेदकी उपशामना समाप्त नहीं होती ।

१. पुरुषवेदी सवेदी होता हुआ ही सात कषायोंको उपशमाता है । (ज. घ. मूल पृ. १६२४)

२. दृश्यताम् ज. घ. मूल पत्र १६३० ।

३. जयधवल मूल पृ. १६२४ ।

वहांसे स्त्रीवेदकी भी उपशमना प्रारम्भ कर देता है । दोनोंका उपशम करता हुआ प्रथमस्थितिका चरमसमय अर्थात् स्त्रीवेदका उपशमनाकाल पूर्ण होनेपर नपुंसकवेद व स्त्रीवेद दोनोंको एक साथ उपशमा देता है, यह एक विभिन्नता है । इसके पश्चात् अपगतवेदी होकर युगपत् सात नोकषायोंको उपशमाता है । सातों नोकषायोंका उपशमनाकाल तुल्य है । यह दूसरी विभिन्नता है इसीसे उतरनेवालेकी विभिन्नता जान लेनी चाहिए ।^१

आगे उपशमक्षेत्रीमें अल्पबहुत्वके कथनकी प्रतिज्ञारूप गाथा कहते हैं—

पुंकोहस्स य उदए चडपलिदेऽपुव्वदो अपुव्वोत्ति ।

एदिस्से अच्चाणं अप्पावहुगं तु वोच्छामि ॥३६४॥

अर्थः—पुरुषवेद और क्रोधकषायोदय सहित श्रेणि चढ़कर गिरनेवाला जीवके आरोहक अपूर्वकरणके प्रथम समयसे लेकर अवरोहक अपूर्वकरणके चरमसमयपर्यंत इस मध्यवर्ती कालमें जो काल संयुक्त पद हैं, उनके अल्पबहुत्व स्थानोंका आगे कथन करेंगे ।

विशेषार्थः—यहां श्रेणि चढ़नेवालेको आरोहक और उतरनेवालेको अवरोहक जानना । तथा अल्पबहुत्वमें जहां विशेष अधिक कहा है वहां पूर्वसे कुछ अधिक जानना ।^२

अथानन्तर २७ गाथाओं द्वारा अल्पबहुत्व स्थानोंका कथन करते हैं—

अवरादो वरमहियं खंडुक्कीरणस्स अच्चाणं ।

संखगुणं अवरट्ठदिखंडस्सुक्कीरणो कालो ॥३६५॥

अर्थः—जघन्य अनुभाग काण्डोत्कीरण कालसे (१) उत्कृष्ट अनुभागकाण्डोत्कीरणकाल विशेष अधिक है (२) इससे जघन्य स्थितिकाण्डोत्कीरण काल संख्यात-गुणा है । (३)

विशेषार्थः—सबसे स्तोक जघन्य अनुभाग काण्डोत्कीरणकाल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है सो यही ज्ञानावरणादि कर्मोंका तो आरोहक-सूक्ष्मसाम्परायके अन्तिम अनुभाग-

१. जयधवल मूल पृ० १६२५ ।

२. जयधवल मूल पृ० १६२५ ।

काण्डकोत्कीरण जानना और मोहनीयकर्मका अन्तर करते हुए अन्तिम अनुभाग काण्डकोत्कीरणकाल जानना (१) । इससे उत्कृष्ट अनुभाग काण्डकोत्कीरणकाल विशेष अधिक है सो यह भी सर्व कर्मोंके आरोहक-अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें सम्भव है (२) । इससे सूक्ष्मसाम्परायकी अन्तिम अवस्थामें पाया जानेवाला ज्ञानावरणादि कर्मोंका जघन्य स्थितिकाण्डकोत्कीरणकाल व स्थितिबन्धकाल और अनिवृत्तिकरणकी अन्तिम अवस्थामें मोहनीयकर्मका जघन्य स्थितिबन्धकाल संख्यातगुणा^१ है तथा दोनों परस्पर समान हैं (३) । अनिवृत्तिकरणके अन्तिमसमयके पश्चात् मोहनीयकर्मका स्थितिबन्ध नहीं होता ।^२

पडणजहरणट्ठिदिबन्धद्धा तह अंतरस्स करणद्धा ।

जेट्ठट्ठिदिबन्धट्ठिदीउक्कीरद्धा य अहियकमा ॥३६६॥

अर्थः—इससे गिरते हुएका जघन्य स्थितिबन्धकाल विशेष अधिक है (४) । इससे अन्तर करनेका विशेष अधिक है (५) । इससे उत्कृष्ट स्थितिबन्धकाल व उत्कृष्ट स्थितिकाण्डकोत्कीरणकाल दो तुल्य होकर विशेष अधिक हैं (६) ।

विशेषार्थः—उससे अवरोहकके सूक्ष्मसाम्परायमें ज्ञानावरणादि कर्मोंका प्रथमस्थितिबन्ध और अवरोहकके अनिवृत्तिकरणमें मोहनीयकर्मका प्रथमस्थितिबन्ध विशेष अधिक है, क्योंकि चढ़नेवालेके स्थितिबन्ध कालसे उतरनेवालेका स्थितिबन्धकाल विशेष अधिक होता है, इसमें कारण संक्लेश परिणाम हैं । अवरोहकके सभी अवस्थाओंमें स्थितिघात व अनुभागघात नहीं होता ।^३ यदि होता है तो स्थितिबन्धकालके साथ स्थितिकाण्डकोत्कीरणकालको भी कहना चाहिए और ऐसा नहीं, क्योंकि ऐसा अनुपदिष्ट है (४) । उससे अन्तरकरणका काल अर्थात् अन्तरकी फालियोंका उत्कीरणकाल तथा वहांपर होने वाला स्थितिकाण्डकोत्कीरणकाल व स्थितिबन्धकाल

१. इनका पूर्व वाले से अर्थात् उत्कृष्ट अनुभागकाण्डकोत्कीरण कालसे संख्यातगुणत्व असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि सर्वजघन्य एक स्थितिकाण्डकोत्कीरणकालमें भी संख्यात सहस्र प्रमाण अनुभागखण्ड के अस्तित्वके उपदेशके बलसे इसकी सिद्धि हो जाती है । (ज. घ. मूल पृ. १६२६)

२. जयधवल मूल पृ० १६२६ ।

३. जयधवल मूल पृ० १६२६, १६१३, १६३७ आदि ।

तुल्य होकर विशेष अधिक है, क्योंकि उपरिम स्थितिवन्धकालसे नीचेका स्थितिवन्ध-
काल यथाक्रम विशेष अधिक होता है (५) । इससे आरोहकके अपूर्वकरणके प्रथम-
समयमें स्थितिका उत्कृष्ट बंधकाल और उत्कृष्ट काण्डकोत्कीरणकाल विशेष
अधिक है ।^१

सुहमंतिमगुणसेढी उवसंतकसायगस्स गुणसेढी ।

पडिवदसुहुमद्धावि य तिरिणवि संखेज्जगुणिदकमा ॥३६७॥

अर्थ—(इससे) चरमसमयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिकका गुणश्रेणि निक्षेप
संख्यातगुणा है (७) । इससे उपशान्तकषायका गुण-श्रेणिनिक्षेप संख्यातगुणा है (८) ।
इससे गिरनेवाले सूक्ष्मसाम्परायिकका काल संख्यातगुणा है (९) । ये तीनों क्रमसे
संख्यातगुण हैं ।

विशेषार्थः—उससे सूक्ष्मसाम्परायिकके अन्तिमसमयमें पाया जानेवाला गलिताव-
शेष गुणश्रेणी-आयाम संख्यातगुणा है, क्योंकि अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें गुणश्रेणि-
निक्षेप अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण व सूक्ष्मसाम्परायिकसे विशेष अधिक या वह गलकर
सूक्ष्मसाम्परायिकके चरमसमयमें अन्तर्मुहूर्तप्रमाण रह गया । इसको गुणश्रेणिशीर्ष भी
कहा गया है, क्योंकि नीचे गलकर शेष गुणश्रेणिनिक्षेप शीर्ष भावसे देखे जाते हैं (७) ।
इससे उपशान्तकषायका गुणश्रेणि-आयाम संख्यातगुणा है । यद्यपि यह काल उपशान्त-
कषाय कालके संख्यातवेभाग है, किन्तु पूर्व गुणश्रेणिशीर्षसे संख्यातगुणा है (८) ।
उससे गिरनेवाले सूक्ष्मसाम्परायिककाल संख्यातगुणा है, क्योंकि पूर्वमें सूक्ष्मसाम्परायिकका
संख्यातवांभाग काल था (९) ।^२

तग्गुणसेढी अहिया खलसुहुमो किट्टिउवसमद्धा य ।

सुहुमस्स य पडमठिदी तिरिणवि सरिसा विसेसाहिया ॥३६८॥

अर्थः—इससे उतरनेवाले सूक्ष्मसाम्परायिककी गुणश्रेणि विशेष अधिक
है (१०) । इससे चढ़नेवालेका सूक्ष्मसाम्परायिककाल, कृष्टि उपशमानेका काल और

१. ज. ध. मूल. पृ० १६२६-२७ ।

२. ज. घ. पृ. १६२७ ।

सूक्ष्मसाम्परायिककी प्रथमस्थिति ये तीनों परस्पर तुल्य होकर विशेष अधिक (११) ।

विशेषार्थः—इससे गिरनेवाले सूक्ष्मसाम्परायके लोभका गुणश्रेणि-आयाम आवलीमात्र विशेष अधिक है, क्योंकि सूक्ष्मसाम्परायके कालसे आवलिमात्र ज्यादा लोभका गुणश्रेणिनिक्षेप होता है (१०) । उससे आरोहक सूक्ष्मसाम्परायका काल, सूक्ष्मकृष्टि उपशमावनेका काल और सूक्ष्मसाम्परायका प्रथमस्थितिआयाम यथासम्भव अन्तर्मुहूर्तमात्र विशेष अधिक है । ये तीनों परस्पर तुल्य हैं । अधिकताका कारण यह है कि अवरोहकसे आरोहकका प्रत्येककाल अधिक है (११) ।

किट्टीकरणछहिया पडबादरलोहवेदगद्धा हु ।

संखगुणा तस्सेव य तिलोहगुणसेडिणिकखेओ ॥३६६॥

अर्थ—कृष्टिकरणकाल विशेष अधिक है (१२) । उतरनेवालेका बादरलोभ वेदककाल संख्यातगुणा है (१३) । उसीके तीनों लोभका गुणश्रेणिनिक्षेप विशेष अधिक है (१४) ।

विशेषार्थः—उससे सूक्ष्मकृष्टिकरणकाल विशेष अधिक है । यद्यपि यह काल लोभवेदककालका विभाग है तथापि उपरिम तिहाई काल (सूक्ष्मसाम्परायकाल) से निचला (कृष्टिकरणकाल) विशेष अधिक है (१२) । उससे गिरनेवाले बादर साम्परायके बादरलोभका वेदककाल संख्यातगुणा है, क्योंकि बादरलोभ वेदककाल, लोभवेदककालका द्वि विभाग (३) है । अतः पूर्वके विभागसे दो गुणा है (१३) । उससे गिरनेवालेके लोभवेदककालसे तीन लोभकी गुणश्रेणि-आयाम आवलिमात्र अधिक है, क्योंकि वेदक कालसे आवलिप्रमाण अधिक कालसे गुणश्रेणि निक्षेप होता है (१४) ।^२

चडबादरलोहस्स य वेदगकालो य तस्स पडमठिदी ।

पडलोहवेदगद्धा तस्सेव य लोहपडमठिदी ॥३७०॥

अर्थः—चढ़नेवालेके बादरलोभ वेदककाल विशेष अधिक है (१५) । उसीको

१. ज. घ. मूल पृ. १६२८-२९ ।

२. ज. घ. मूल पृ. १६२८ ।

प्रथमस्थिति विशेष अधिक है (१६) । उतरनेवालेके लोभवेदककाल विशेष अधिक है (१७) । उसीके लोभकी प्रथमस्थिति विशेषअधिक है (१८) ।^१

विशेषार्थ—इससे आरोहक बादरसाम्परायिकके बादरलोभ वेदककाल विशेष अधिक है । यद्यपि पूर्वका स्थान भी लोभवेदककालका द्वि विभाग (३) है और वर्तमानकाल भी लोभवेदककालका द्वि विभाग (३) है तथापि अनिवृत्तिकरण गुण-स्थानमें उतरनेवालेकी अपेक्षा चढ़नेवालेका काल विशेष अधिक होता है (१५) । उससे आरोहक अनिवृत्तिकरणके बादरलोभका प्रथमस्थिति सम्बन्धी आयाम विशेष अधिक है, विशेषाधिकका प्रमाण आवलीमात्र है । इसका कारण यह है कि आरोहक अनिवृत्तिकरण चारों संज्वलनोंके अपने-अपने वेदककालसे उच्छिष्टावलिमात्र अधिक प्रथमस्थिति विन्यास करता है (१६) । उससे गिरनेवालेके लोभका वेदककाल विशेष अधिक है, क्योंकि इसमें सूक्ष्मसाम्परायकाल भी सम्मिलित है (१७) । उससे उतरने वालेके लोभकी प्रथमस्थितिका आयाम आवलीमात्र अधिक है (१८) ।^२

तन्मायावेदका पडिबडछगहंपि खित्तगुणसेढी ।

तन्माणवेदगद्धा तस्स एवगहंपि गुणसेढी ॥३७१॥

अर्थः—उतरनेवालेके मायावेदककाल विशेष अधिक है (१९) । उतरने वालेके छह कर्मोंका गुणश्रेणिनिक्षेप विशेष अधिक है (२०) । उतरनेवालेका मान वेदककाल विशेष अधिक है (२१) । उन्हींके नौ कर्मोंका गुणश्रेणिनिक्षेप विशेष अधिक है (२२) ।

विशेषार्थ—उससे उतरनेवालेके मायावेदककाल विशेष अधिक है, क्योंकि

१. १८वें नं० का स्थान कषायपाहुड सुत्तमें नहीं कहा गया है । लब्धिसारके कस्तनि भी गिरनेवालेके माया, मान और क्रोधकी प्रथमस्थितिका कथन नहीं किया है । सम्भव है उतरनेवालेके कषायका अपकर्षण होकर उदय आनेसे उस कषाय सम्बन्धी घन्तर नहीं रहता हो इसीलिए चूणिसूत्रकार ने उतरनेवालेके लोभ, माया, मान व क्रोधकी प्रथमस्थितिका कथन नहीं किया है । स्वयं नेमि-चन्द्राचार्य ने भी उतरनेवालेके माया, मान व क्रोधकी प्रथमस्थितिका कथन नहीं किया । इस गाथाका मिलान मूडविद्री स्थित ताडपत्रीय प्रतिसे होना अत्यन्त अपेक्षित है ।

२. जयधवल मूल पृ. १६२८ । १८वें नं० का स्थान जयधवलमें नहीं है ।

ऊपरितन स्थानसे नीचेका स्थान यथाक्रम विशेष अधिक होता है (१६) । उससे उतरनेवाले मायावेदकके छह (३लोभ, ३माया) कषायोंका गुणश्रेणि आयाम आवलि से अधिक है (२०) । उससे पड़ने (गिरने) वालेके मानवेदककाल विशेष अधिक है (२१) । उससे उसीके नव (३ लोभ, ३ माया, ३ मान) कषायोंका गुणश्रेणि-आयाम आवलिसे अधिक है (२२) ।^१

चढमायावेदञ्चा पढमट्ठदिमायउवसमञ्चा य ।

चलमाणवेदगञ्चा पढमट्ठदिमाणउवसमञ्चा य ॥३७२॥

अर्थ:—चढ़नेवालेके मायावेदककाल विशेष अधिक है (२३) । मायाकी प्रथमस्थिति विशेषअधिक है (२४) । मायाका उपशामनकाल विशेषअधिक है (२५) । चढ़नेवालेका मानवेदककाल विशेषअधिक है (२६) । मानकी प्रथमस्थिति विशेषअधिक है (२७) । मानका उपशामनकाल विशेष अधिक है (२८) ।

विशेषार्थ:—उससे चढ़नेवालेके मायावेदककाल विशेष अधिक है, क्योंकि चढ़नेवालेका काल विशेष अधिक होता है (२३) । उससे उसके प्रथमस्थितिका आयाम उच्छिष्टावलिसे अधिक है (२४) । उससे मायाके उपशमानेका काल एक समयकम आवलिमात्र अधिक है, क्योंकि नवक समयप्रबद्धकी अपेक्षा है (२५) । उससे चढ़नेवालेके मानवेदककाल अन्तर्मुहूर्तसे अधिक है (२६) । उससे उसकी प्रथमस्थिति का आयाम उच्छिष्टावलिमात्र अधिक है (२७) । उससे उसके मान उपशमावनेका काल एकसमयकम आवलिमात्र अधिक है, क्योंकि नवकसमयप्रबद्धकी अपेक्षा है । (नवकसमयप्रबद्ध=एक समयकम दो आवलि) (समयकम दो आवलि — उच्छिष्टावलि = समयकम आवलि) ॥२८॥^२

कोहोवसामणञ्चा छप्पुरिसित्थीण उवसमाणं च ।

खुद्भवगहणं च य अहियकमा एकवीसपदा ॥३७३॥

अर्थ:—क्रोधका उपशामनकाल विशेषअधिक है (२९) । छह नोकषायों

१. जयधवल मूल पृ. १६२६ ।

२. ज. ध. मूल पृ. १६३० ।

(हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) का उपशामनकाल विशेष अधिक है (३०) । पुरुषवेदका उपशामनकाल विशेष अधिक है (३१) । स्त्रीवेदका उपशामनकाल विशेष अधिक है (३२) । नपुंसकवेदका उपशामनकाल विशेष अधिक है (३३) । क्षुद्रभव विशेष अधिक है (३४) । इसप्रकार २१ पद विशेष अधिक क्रमसे हैं ।

विशेषार्थ—उससे क्रोधके उपशमानेका काल अन्तर्मुहूर्त अधिक है, क्योंकि ऊपरके कालसे नीचेका काल अधिक होता है (२६) । उससे छह नोकषायके उपशमानेका काल अन्तर्मुहूर्त अधिक है, क्योंकि यह पूर्वसे नीचेका स्थान है (३०) । इससे पुरुषवेदके उपशमानेका काल नवकसमयप्रबद्धकी अपेक्षा एकसमयकम दोआवलि अधिक है (३१) इससे स्त्रीवेद उपशमानेका काल विशेष अधिक है (३२) इससे नपुंसकवेद उपशमानेका काल विशेष अधिक है, क्योंकि ये दोनों ही स्थान अद्वैत (निचरले) स्थान हैं, इसलिए विशेषाधिक हो गए हैं (३३) । इससे क्षुद्रभवका काल विशेष अधिक है (३४) ।

शङ्का—क्षुद्रभवग्रहण क्या है ?

समाधान—सबसे छोटे भवग्रहणको क्षुद्रभव कहते हैं और यह एक उच्छ्वास (संख्यात आवलि समूह निष्पन्न) के साधिक अठारहवें भागप्रमाण होता हुआ संख्यात आवली सहस्रप्रमाण होता है ऐसा जानना चाहिए । तद्यथा—

तिणिशया छसोसा छासदिठसहस्रमेव मरणाणि ।

अंतोमुहूर्तकाले तावदिषा चैव क्षुद्रभवा ॥^१

तिणिशसहस्रा सत्तायसदाणि तेवत्तरि च उस्तासा ।

एतो हषड् मुहूर्तो सव्वेसि चैव मणुआणं ॥^२

— एक अन्तर्मुहूर्तकालमें ६६३३६ क्षुद्रमरण होते हैं और उतने ही क्षुद्रभव होते हैं । “सभी मनुष्योंके ३७७३ उच्छ्वासोंका एक मुहूर्त होता है” इस वचनके अनुसार एक मुहूर्तके भीतर ६६३३६ क्षुल्लक (क्षुद्र) भव होते हैं ।^३ एकमुहूर्तके

१. घ. पु. १४ पृ. ३६२ गाथा २०; गो. जी. गा. १२३; भावपाहुङ्गाथा २६ ।

२. घवल पु. १४ पृ. ३६२ गा. १६ ।

३. “इदिवयणादो एणमुहूर्तभंतरे एत्तियाणि खुदाभवग्गहणाणि होति ६६३३६ ।” (घ. पु. १४ पृ. ३६३)

३७७३ उच्छ्वास स्थापित करके इन्हें पूर्वगाथा निर्दिष्टप्रमाण एक मुहूर्तकी खुद्भभवग्रहण शलाकाओंसे अपवर्तित करनेपर एक उच्छ्वासका साधिक $\frac{१}{२}$ भागप्रमाण क्षुद्रभवग्रहणका काल जानना चाहिए । इसप्रकार प्राप्त इस क्षुद्रभवग्रहणमें संख्यातआवलि होती हैं । वह इसप्रकार है—(यदि अन्यमतानुसार) एक उच्छ्वासकालके भीतर जघन्यसे २१६ आवलि मानी जाती है तो क्षुद्रभवग्रहणकाल सासादनके कालसे दुगुना-मात्र प्राप्त होता है, जो अनिष्ट है, क्योंकि सासादनगुणस्थानके कालसे संख्यातगुणे नीचेके कालसे इसका बहुत्व अन्यथा नहीं उत्पन्न होता इस कारण; यहां आवलिका गुणकार बहुत है अतः संख्यातहजार कोड़ाकोड़ीप्रमाण आवलियोंसे (जहां कि एक आवलि भी जघन्ययुक्तासंख्यात समयप्रमाण होती है) एक उच्छ्वास निष्पन्न होता है एवं उसका कुछकम $\frac{१}{२}$ वें भागप्रमाण ($\frac{१}{४}$ वां भाग) क्षुद्रभवग्रहण होता है ऐसा ग्रहण करना चाहिए । इसकारण नपुंसकवेदोपशनकालसे क्षुद्रभवग्रहणकाल विशेषाधिक है ऐसा उचित है ।

उपसंतप्ता दुगुणा ततो पुरिसस्स कोहपढमठिदी ।

मोहोवसामणद्धा तिरिणवि अहियक्कमा होति ॥३७४॥

अर्थः—उपशान्तकाल दुगुणा है (३५) । पुरुषवेदकी प्रथमस्थिति विशेष अधिक है (३६) । क्रोधकी प्रथमस्थिति विशेष अधिक है (३७) मोहनीयका उपशामन काल विशेष अधिक है (३८) । तीनपद अधिक क्रमसे हैं ।

विशेषार्थः—उस क्षुद्रभवसे उपशांतकषायका काल दुगुणा है जो एक सेकिण्ड का बारहवां भाग [$\frac{१}{२}$ सेकिण्ड] है [३५] । उससे पुरुषवेदकी प्रथमस्थितिका आयाम विशेष अधिक है, क्योंकि नपुंसकवेदके उपशमानेकाकाल, स्त्रीवेदके उपशमानेकाकाल और छह नोकषायोंके उपशमानेका काल इनतीनों कालोंका समूह पुरुषवेदकी प्रथमस्थिति है [३६] । उससे संज्वलनक्रोधकी प्रथमस्थितिका आयाम किंचित् न्यून त्रि-भागमात्रसे अधिक है, क्योंकि क्रोधके उपशामनाकालमें भी पुरुषवेदका प्रवेश देखा जाता है [३७] । उससे सर्वमोहनीयका उपशमावनेका काल है, वह मान-माया-लोभके

उपशमनकालोंसे अधिक है (३८) । ३६-३७ व ३८वां ये तीन पद अधिकक्रमसे हैं^१ ।

पडणस्स असंखाणं समयप्रबद्धाणुदीरणाकालो ।

संखगुणो चडणस्स य तवकालो होदि अहिया य ॥३७५॥

अर्थ:—उससे गिरनेवालेके असंख्यात समयप्रबद्धकी उदीरणा होनेका काल संख्यातगुणा है (३९) । उससे चढ़नेवालेके असंख्यात समयप्रबद्धकी उदीरणा होनेका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र अधिक है (४०) ।

विशेषार्थ:—उपशमश्रेणिसे गिरनेवालेके जबतक असंख्यात समय प्रबद्धोंकी उदीरणा होती है तबतकका वह काल मोहनीयके उपशमनकालसे संख्यातगुणा है, क्योंकि नीचे उतरनेवालेके सूक्ष्मसाम्परायसे लेकर अन्तरकरणके स्थानसे नीचे वीर्यन्ति-राय आदि बारह कर्मोंका सर्वघाति अनुभागबन्ध करके पुनः उसके नीचे संख्यातहजार स्थितिबन्ध होजाने तक इतना काल असंख्यात समयप्रबद्ध उदीरणाका है^२ (३९) । उपशमश्रेणि चढ़नेवालोंके जबतक असंख्यात समयप्रबद्धोंकी उदीरणा होती है तबतक का वह काल पूर्वकालसे अधिक है, क्योंकि चढ़नेवाला जहांपर असंख्यात समयप्रबद्धकी उदीरणा प्रारम्भ करता है उस स्थानको अन्तर्मुहूर्त द्वारा पाकर उतरते हुंके असंख्यात लोक प्रतिभागवाली उदीरणा प्रारम्भ होजाती है इसकारण इसका पूर्वस्थानसे विशेषाधिकत्व विरुद्ध नहीं है ।^३

पडणाणियट्टियद्धा संखगुणा चडणगा विसेसहिया ।

पडमाणा पुव्वद्धा संखगुणा चडणगा अहिया ॥३७६॥

अर्थ —उससे गिरनेवालेके अनिवृत्तिकरणकाकाल संख्यातगुणा है, क्योंकि पूर्वोक्त सर्वपद अनिवृत्तिकरणके संख्यातवेंभाग हैं (४१) । उससे चढ़नेवालेके अनिवृत्तिकरणका काल अन्तर्मुहूर्तमात्रसे अधिक है (४२) । उससे गिरनेवालेके अपूर्व-

१. ज. घ. मूल पृ. १६३१ ।

२. ज. घ. मूल पृ० १६३१ । क्योंकि अन्तरकरणादि उपरिम अशेष अध्वानको देखते हुए संख्यात-गुणो नीचे के अध्वानका प्रधानभावसे यहां विवक्षितपना है ।

३. ज. घ. मूल पृ. १६३१ ।

करणका काल संख्यातगुणा है (४३) । उससे चढ़नेवालेके अपूर्वकरणकाकाल (अन्त-मुहूर्त) अधिक है ।^१

पडिवडवरगुणसेढी चढमाणपुव्वपढमगुणसेढी ।

अहियकमा उवसामगकोहस्त य वेदगद्धा हू ॥३७७॥

अर्थ:—गिरनेवालेका उत्कृष्ट गुणश्रेणिनिक्षेप विशेष अधिक है (४५) । चढ़नेवालेका अपूर्वकरणके प्रथम समयमें गुणश्रेणिनिक्षेप विशेष अधिक है (४६) । उपशामकके क्रोधवेदककाल संख्यातगुणा है (४७) ।

विशेषार्थ:—उससे गिरनेवालेके सूक्ष्मसाम्परायके प्रथमसमयमें प्रारम्भ किया गया उत्कृष्ट गुणश्रेणि आयाम विशेष अधिक है, क्योंकि यह अवरोहक सूक्ष्मसाम्पराय-अनिवृत्तिकरण-अपूर्वकरण व उपशमनाकालके संख्यातवैभाग इन कालोंका समूहप्रमाण है (४५) । उससे चढ़नेवालेके अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें प्रारम्भ हुआ उत्कृष्ट गुण-श्रेणि आयाम अन्तर्मुहूर्तसे अधिक है । यह भी अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण-सूक्ष्मसाम्परायके कालसे अन्तर्मुहूर्तप्रमाण अधिक है, किन्तु उतरनेवालेके कालसे चढ़नेवालेके कालका विशेषाधिकपना है ऐसा समझकर पूर्वसे यह अधिक कहा है ॥४६॥ उससे चढ़नेवालेके क्रोधवेदककाल संख्यातगुणा है, क्योंकि श्रेणिपर आरोहण करनेके पूर्व ही अन्तर्मुहूर्तकाल तक अप्रमत्तभावसे वर्तमान जीवके क्रोधवेदककालके साथ अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके प्रति-प्रतिबद्धकाल यहांपर विवक्षित है । अर्थात् अप्रमत्तागुण-स्थानके साथ यहां अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण सम्बन्धी क्रोधवेदककाल लिया गया है इसलिए वह पूर्वके कालसे संख्यातगुणा हो जाता है ।^२

संजदअधापवत्तगगुणसेढी दंसणोवसंतद्धा ।

चारित्तंतरिगठिदी दंसणमोहंतरठिदीओ ॥३७८॥

अर्थ:—अधःप्रवृत्तसंयतका गुणश्रेणिनिक्षेप संख्यातगुणा है (४८) । दर्शनमोहनीयका उपशान्तकाल संख्यातगुणा है (४९) । चारित्रकी आन्तरिक स्थितियां संख्यात-

१. अ. ध. मूल. पृ० १६३१-३२ ।

२. अ. ध. मूल. पृ. १६३२ ।

गुणी हैं (५०) । दर्शनमोहनीयकी अन्तरस्थितियां संख्यातगुणी हैं (५१) ।

विशेषार्थः—अवरोहक अवःप्रवृत्तसंघर्षके प्रथम समयमें जिस गुणश्रेणि आयामका प्रारम्भ होता है वह पूर्वोक्त गुणश्रेणिनिक्षेप आयामसे संख्यातगुणा है, क्योंकि स्वसंस्थानसंघर्ष परिणामकी प्रधानता है । उससे दर्शनमोहनीयका उपशान्त-काल अर्थात् द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकाकाल संख्यात गुणा है क्योंकि श्रेणि चढ़ने और उतरनेके कालसे, श्रेणीसे पूर्व व पश्चात् संख्यातगुणे कालमें भी द्वितीयोपशम सम्यक्त्व पाया जाता है । अर्थात् द्वितीयोपशम सम्यक्त्व श्रेणि चढ़नेसे पूर्व उत्पन्न हो जाता है । इस कालका प्रमाण श्रेणीके चढ़ने उतरनेके कालसे संख्यातगुणा है और श्रेणी उतरनेके पश्चात् भी श्रेणीके कालसे संख्यातगुणे कालतक द्वितीयोपशम सम्यक्त्व रहता है । इसप्रकार द्वितीयोपशम सम्यक्त्वका काल, श्रेणी चढ़ने व उतरने के कालसे संख्यातगुणा है । उससे चारित्रमोहकी जिन स्थितिनिषेकोंको उत्कीर्ण करके अन्तर किया जाता है वह अन्तरायाम संख्यातगुणा है । उससे दर्शनमोहका अन्तर करते हुए जिन स्थिति निषेकोंका आयाम अर्थात् अन्तरायाम संख्यातगुणा है ।

नोट—यहाँपर अन्तरायामका काल द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके कालसे अधिक कहा, किन्तु उस अन्तरायामके कालमें दर्शनमोहकी किसी एक प्रकृतिकी अपकर्षणके द्वारा उदीरणा कर अन्तरायामका काल समाप्त कर दिया जाता है ।

अवराजेट्ठावाहा चडपडमोहस्स अवरठिदिबंधो ।

चडपडतिवादि अवरट्ठिदिबंधतो मुहुत्तो य ॥३७६॥

अर्थः—जघन्य आबाधा संख्यातगुणी है (५२) । उत्कृष्ट आबाधा संख्यात-गुणी है (५३) । चढ़नेवालेके मोहनीयका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है (५४) । उतरनेवालेके मोहनीयका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है (५५) । चढ़नेवालेके तीन घातियाकर्मोंका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है (५६) । उतरनेवालेके तीन घातियाकर्मोंका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है (५७) । अंतर्मुहूर्त संख्यातगुणा है ।

विशेषार्थः—उससे चढ़नेवालेके सूक्ष्मसाम्परायके अन्तिम समयमें पाये जाने-वाले ज्ञानावरणादि कर्मोंके और अनिवृत्तिकरण उपशामकके चरमसमयमें पाये जाने-

वाले मोहनीयकर्मके स्थितिबन्धकी जघन्य आबाधा संख्यातगुणी है ^१ (५२) । उससे उतरनेवालेके अपूर्वकरणके अन्तिमसमयमें पायी जानेवाली सर्वकर्मोंकी अन्तःकोटाकोटी-सागरप्रमाण स्थितिबन्धकी तत्प्रायोग्य अन्तर्मुहूर्तप्रमाण उत्कृष्ट आबाधा संख्यातगुणी है (५३) । उससे चढ़नेवालेके अनिवृत्तिकरणके चरमसमयमें पाये जानेवाले मोहनीय-कर्मका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है यह भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है (५४) । उससे उतरनेवालेके अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयमें पाया जानेवाला मोहनीयकर्मका जघन्य स्थितिबन्धका प्रमाण संख्यातगुणा है । यहां संख्यातका प्रमाण दो जानना यह भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण ही है (५५) । उससे चढ़नेवालेके सूक्ष्मसाम्परायके अन्तसमयमें पाया जानेवाला ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोंका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है (५६) । उससे उतरनेवालेके सूक्ष्मसाम्परायके प्रथमसमयमें पाया जानेवाला ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोंका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है जो दुगुणा जानना (५७) । उससे उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त संख्यातगुणा है जो एक समयकम दो घड़ी प्रमाण है (५८) यहां अन्तर्दीपक न्यायसे पूर्वमें जो सर्वकाल कहे वे सभी अन्तर्मुहूर्तमात्र ही जानना, क्योंकि अन्तर्मुहूर्तके बहुत भेद हैं ।^२

चढमाणस्स य णामागोदजहरणट्ठदीण बंधो य ।

तेरसपदासु कमसो संखेण य होति गुणिदकमा ॥३८०॥

अर्थः—चढ़नेवालेके नाम व गोत्रका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है (५९) । ये १३ पद क्रमशः संख्यातगुणे हैं ।

विशेषार्थः—उससे चढ़नेवालेके नाम व गोत्रकर्मका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है जो सोलह मुहूर्तप्रमाण है (५९) । यह जघन्यबन्ध अपनी व्युच्छित्ति के चरमसमयमें जानना । ४६वें पदसे आगे ५९वें पद तक तेरह पदोंमें संख्यातगुणित क्रम है ।^३

१. और यह (आबाधा) अन्तरायामसे ऊपर संख्यातगुणे अश्वानको व्यतीत करके स्थित है, इस प्रकार यह बात इसी सूत्रसे जानी जाती है । (ज. घ. मूल. पृ. १६३३)

२. जयधवल मूल पृ. १६३३-३४ ।

३. ज. घ. मूल पृ. १६३४ ।

चडतदियअवरबंधं पडणामागोदअवरठिदिबंधो ।

पडतदियस्स य अवरं तिणिण पदा होति अद्वियकमा ॥३८१॥

अर्थः—चढ़नेवालेके तीसरे (वेदनीय) कर्मका जघन्य स्थितिबन्ध विशेष अधिक है (६०) । गिरनेवालेके नाम-गोत्रकर्मका जघन्य स्थितिबन्ध विशेष अधिक है (६१) । गिरनेवालेके (वेदनीय) तीसरे कर्मका जघन्य स्थितिबन्ध विशेष अधिक है (६२) । ये तीनों पद अधिकक्रम वाले हैं ।

विशेषार्थः—उससे चढ़नेवालेके वेदनीयकर्मका जघन्य स्थितिबन्ध विशेष अधिक है, क्योंकि यह २४ मुहूर्तमात्र है (६०) । उससे गिरनेवालेके नाम-गोत्रका जघन्य स्थितिबन्ध विशेष अधिक है, क्योंकि ३२ मुहूर्तमात्र है (६१) । उससे गिरने वालेके वेदनीयकर्मका जघन्य स्थितिबन्ध विशेष अधिक है, क्योंकि यह ४८ मुहूर्तमात्र है (६२) । इन तीनों पदोंमें से प्रत्येक पद पूर्व पदसे विशेष अधिक है ।

चडमायमाणकोहो मासादीदुगुण अवरठिदिबंधो ।

पडणे ताणं दुगुणं सोलसवस्साणि चडणपुरिसस्स ॥३८२॥

पडणस्स तस्स दुगुणं संजलणाणं तु तत्थ दुट्ठाणे ।

वत्तीसं चउसट्ठी वस्सपमाणेण ठिदिबंधो ॥३८३॥

अर्थः—चढ़नेवालेके माया, मान व क्रोधका जघन्य स्थितिबन्ध एक मासको आदिकरके दुगुणा-दुगुणा है (६३-६४-६५) । गिरते हुए के उनका जघन्य स्थितिबन्ध द्विगुणा है (६६-६७-६८) । चढ़नेवालेके पुरुषवेदका जघन्य स्थितिबन्ध सोलहवर्ष है (६९) । गिरनेवालेके पुरुषवेदका जघन्यस्थितिबन्ध द्विगुणा है (७०) । पुरुषवेदके दोनों स्थानोंपर संज्वलनकषायोंका स्थितिबन्ध ३२ व ६४ वर्षप्रमाण है (७१-७२) ।

विशेषार्थः—चढ़नेवालेके मायाका जघन्य स्थितिबंध १ मासप्रमाण है जो पूर्वमें कहे गए वेदनीयके जघन्य स्थितिबन्धसे संख्यातगुणा है । गिरनेवालेके मायाका जघन्य स्थितिबन्ध और चढ़नेवालेके मानका जघन्य स्थितिबन्ध द्विगुणा अर्थात् दो मास है । गिरनेवालेके मानका जघन्य स्थितिबन्ध और चढ़नेवालेके क्रोधका जघन्य स्थितिबन्ध

दुगुणा अर्थात् चार मासप्रमाण है । गिरनेवालेके क्रोधका जघन्य स्थितिबन्ध दूणा अर्थात् आठमास है । चढ़नेवालेके पुरुषवेदका जघन्य स्थितिबन्ध १६ वर्ष है । उसी स्थानपर अर्थात् उसीसमय चारों संज्वलन कषायोंका स्थितिबन्ध ३२ वर्ष है । गिरनेवालेके पुरुषवेदका जघन्य स्थितिबन्ध चढ़नेवालेसे दूणा अर्थात् ३२ वर्ष है । उसी स्थान पर चारों संज्वलन कषायोंका स्थितिबन्ध ६४ वर्ष है ।

चडपडणमोहपढमं चरिमं चरिमं तु तहा तिघादियादीणं ।
संखेजवस्स बंधो संखेजगुणकमो छण्हं ॥३८४॥

अर्थ—चढ़नेवालेके मोहनीयकर्मका संख्यात वर्षवाला प्रथम स्थितिबन्ध और गिरनेवालेके संख्यातवर्षवाला अन्तिम स्थितिबन्ध तथा चढ़नेवालेके तीन घातियाकर्मोंका संख्यातवर्षवाला प्रथमस्थितिबन्ध व उतरनेवालेके संख्यातवर्षकी स्थितिवाला अन्तिम स्थितिबन्ध एवं चढ़नेवालेके तीन अघातिया कर्मोंका संख्यातवर्षकी स्थितिवाला प्रथम-स्थितिबन्ध और उतरनेवालेके तीन अघातिया कर्मोंका अन्तिम स्थितिबन्ध (७३ से ८) ये छहों स्थान संख्यातगुणे कमवाले हैं ।

विशेषार्थ—उससे चढ़नेवालेके अन्तरकरण करनेकी समाप्ति होनेके अनन्तर समयमें पाया जानेवाला मोहनीयकर्मका संख्यातवर्षकी स्थितिवाला प्रथम स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है जो कि संख्यातहजार वर्षमात्र है । उससे उतरनेवालेके उस समयकी समान अवस्थामें पाया जानेवाला मोहनीयकर्मका संख्यातवर्षकी स्थितिवाला अन्तिम-बन्ध संख्यातगुणा है । इसका प्रमाण भी संख्यातहजार वर्षमात्र है । जिसप्रकार पहले चढ़नेवाले से उतरनेवालेके दूणा स्थितिबन्ध कहा था वैसा अब नहीं जानना, किन्तु यथासम्भव संख्यातगुणा जानना । उससे चढ़नेवालेके तीन घातियाकर्मोंका संख्यातवर्ष की स्थितिवाला प्रथम स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है । उससे उतरनेवालेके तीनघातिया कर्मोंका संख्यातवर्षकी स्थितिवाला अन्तिम स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है । उससे चढ़नेवालेके सात नोकषायोंके उपशमकालमें उपशामक कालका संख्यातवां भाग बीत जानेपर तीन अघातियाकर्मोंका संख्यातवर्षकी स्थितिवाला प्रथम स्थितिबन्ध संख्यातगुणा

१. क्योंकि मोहनीयके समान इनका अत्यधिक स्थितिबन्धापसरण असम्भव है । (ज. घ. मूल पृ. १६३५) जयधवल पृ. १६३५ । गाथा २४८, २५६ व २६१ देखना चाहिए ।

है । उससे उतरनेवालेके वहां संख्यातवर्षकी स्थितिवाला अन्तिम स्थितिबन्ध संख्यात-गुणा है (७३-७८)

चढपडण मोहचरिमं पडमं तु तहा तिघादियादीणं ।

असंखेज्जवस्सवधोऽसंखेज्जगुणकमो छरहं ॥ ३८५ ॥

अर्थ:—चढ़नेवालेके मोहनीयकर्मका असंख्यातवर्षवाला अन्तिम स्थितिबन्ध और गिरनेवालेके असंख्यातवर्षवाला प्रथम स्थितिबन्ध (७६-८०) तथा चढ़नेवालेके तीन घातियाकर्मोंका असंख्यातवर्षवाला अन्तिम स्थितिबन्ध और उतरनेवालेका असंख्यात वर्षवाला प्रथमस्थितिबन्ध (८१-८२) एवं चढ़नेवालेके तीन अघातियाकर्मोंका असंख्यात वर्षवाला अन्तिम स्थितिबन्ध तथा उतरनेवालेके असंख्यात वर्षवाला प्रथम स्थितिबन्ध (८३-८४) ये छहों स्थान असंख्यातगुणो क्रमवाले हैं ।

विशेषार्थ:—उससे चढ़नेवालेके मोहनीयकर्मका असंख्यात वर्षमात्र अन्तिम-स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा है जो कि असंख्यात हजारवर्षप्रमाण है और यह अन्तर-करणकालका समकालभावी स्थितिबन्ध है । उससे उतरनेवालेके मोहनीयकर्मका असंख्यातवर्षमात्र प्रथम स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा है, गिरनेवालेके यहांपर असंख्यात-गुणो प्रवृत्ति देखी जाती है । उससे चढ़नेवालेके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोंका असंख्यात वर्षवाला अन्तिम स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा है । यह स्त्रीवेदके उपशमकालके संख्यातवैभाग व्यतीत होजाने पर होता है । उससे उतरने वालेके तीनघातिया कर्मोंका असंख्यात वर्षवाला प्रथमस्थितिबन्ध असंख्यातगुणा है । उससे चढ़नेवालेके तीन अघातिया (नाम-गोत्र-वेदनीय) कर्मोंका असंख्यातवर्ष स्थिति-वाला अन्तिम स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा है, यह सात नो कषायोंके उपशमनकालमें संख्यातवैभागके व्यतीत होनेपर होता है । उससे उतरनेवालेके तीन अघातिया कर्मोंका असंख्यातवर्षवाला प्रथम स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा है । यहाँ उतरनेवालेके जो स्थिति-बन्ध कहा है वह चढ़नेवालेके उस स्थितिबन्ध होनेके काल स्थानको स्तोक अन्तरसे न प्राप्त होकर संभवता है । चढ़नेवालेके जो प्रथम स्थितिबन्ध होता है उतरनेवालेके उसके निकटवर्ती अवस्थाको पानेपर अन्तिम स्थितिबन्ध होता है ।'

चडणे णामदुगाणं पढमो पलिदोवमस्स संखेज्जो ।

भागो ठिदिस्स बंधो हेट्ठिल्लादो असंखगुणो ॥३८६॥

अर्थः—उससे चढ़नेवालेके नाम-गोत्रकर्मका पत्यके संख्यातवैभागमात्र हुआ प्रथम स्थितिबन्ध नीचेके अधातित्रयके स्थितिबन्धसे असंख्यातगुणा है (८५) ।^१

विशेषार्थः—यहां “नाम गोत्रका पत्यकं संख्यातवैभाग मात्र हुआ प्रथम स्थितिबन्ध” ऐसा कहनेपर जहां पत्योपम स्थितिबन्धसे संख्यात बहुभाग घटाकर पत्य के संख्यातवैभागप्रमाण प्रथम स्थितिबन्ध उत्पन्न हुआ वह ग्रहणकरना चाहिए ।

तीसियचउरह पढमो पलिदोवम संखभागठिदिबंधो ।

मोहस्सवि दोणिण पदा विसेस अहियक्कमा होंति ॥३८७॥

अर्थः—चढ़नेवालेके तीसिया चतुष्कका पत्योपमके संख्यातवैभागवाला प्रथम-स्थितिबन्ध (८६) तथा मोहनीयकर्मका पत्योपमके संख्यातवैभागवाला प्रथम स्थितिबंध (८७) ये दोनों स्थान विशेष अधिक कमवाले हैं ।

विशेषार्थः—तीसिया चतुष्क अर्थात् तीस कोड़ाकोड़ीसागरकी स्थितिबन्धवाले चार कर्म—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तरायका पत्योपमके संख्यातवैभागप्रमाण प्रथम स्थितिबन्ध नाम गोत्रके पूर्वोक्त बन्धसे विशेष अधिक है विशेषका प्रमाण अपनी स्थितिबन्धके अर्द्धभाग प्रमाण है (८६) । इससे मोहनीयकर्मका पत्योपमके संख्यातवैभागप्रमाण प्रथम स्थितिबन्ध विशेष अधिक है, विशेषका प्रमाण अपने बन्धके त्रिभाग प्रमाण है (८७) । क्योंकि ये दोनों पद विशेष अधिक कमवाले हैं तथा नामगोत्र वीसिया हैं और ज्ञानावरणादि तीसिया हैं । अतः वीसिया से तीसिया विशेष अधिक है गुणाकाररूप नहीं है । चारित्रमोहनीय चालीसिया है जो ज्ञानावरणादि तीसियासे विशेष अधिक है, क्योंकि तीससे चालीस विशेष अधिक है गुणकाररूप नहीं है ।^२

ठिदिखंडयं तु चरिमं बंधोसरणट्ठदी य पल्लद्धं ।

पल्लं चडपडबादरपढमो चरिमो य ठिदिबंधो ॥३८८॥

१. जयधवल मूल पृ० १६३६ ।

२. जयधवल मूल पृ० १६३६ ।

अर्थः—चरम स्थितिकाण्डक संख्यातगुणा है (८८) । स्थितिबन्ध घटाकर पत्यप्रमाण स्थितिबन्ध करनेके लिए जो स्थितिबन्धापसरणरूप पत्यका संख्यातवांभाग है वह संख्यातगुणा है (८९) । पत्य संख्यातगुणा है (९०) । चढ़नेवालेके बादरलोभ के स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है (९१) । उतरनेवालेके बादरलोभ (अनिवृत्तिकरण) के अन्तिम स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है (९२) ।

विशेषार्थः—उससे चरम स्थितिखण्ड अर्थात् जितनी स्थितियोंकोघातके लिए ग्रहण की गई हैं वे स्थितियां संख्यातगुणी हैं । ज्ञानावरणीय आदि कमौका अन्तिम स्थितिखण्ड सूक्ष्मसाम्परायके अन्तमें होता है । मोहनीयकर्मका अन्तिम स्थितिखण्ड अन्तरकरणके समकालमें होता है । अर्थात् अन्तरकरणके समकालीन है । यद्यपि यह स्थितिखण्ड भी पत्यके असंख्यातवें भागमात्र है तथापि पूर्वसे संख्यातगुणा है । उससे वह स्थिति जिसको वन्धापसरणके द्वारा दृष्टकर पत्यप्रमाण स्थितिबंध किया गया संख्यातगुणी है । यद्यपि कम की गई स्थितिका प्रमाण भी पत्यके संख्यातवेंभागमात्र है, किन्तु पूर्वसे संख्यातगुणा है । उससे पत्य संख्यातगुणा है, क्योंकि घटाई गई स्थितिका प्रमाण पत्यके संख्यातवेंभागमात्र था । उससे अनिवृत्तिकरणके उपशामकके प्रथम समयमें स्थितिबंध पृथक्त्व लक्ष सागर प्रमाण होता है । उससे उतरनेवाले अनिवृत्तिकरणके चरमसमयमें होनेवाला स्थितिबंध संख्यातगुणा है (८८-९२) ।^१

चडपडअपुठवपडमो चरिमो ठिदिबंधओ य पडणस्से ।

तच्चरिमं ठिदिसंतं संखेज्जगुणक्कमा अट्ठ ॥३८६॥

अर्थ—चढ़नेवालेके अपूर्वकरणका प्रथम स्थितिबंध संख्यातगुणा है (९३) । गिरनेवालेके अपूर्वकरणका अन्तिम स्थितिबंध संख्यातगुणा है (९४) । गिरनेवालेके अपूर्वकरणका अन्तिम स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा है (९५) । गाथा ३८८ व ३८९ में कहे गए आठस्थान संख्यातगुणेक्रमवाले हैं ।

विशेषार्थः—उससे चढ़नेवालेके अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें स्थितिबंध संख्यातगुणा है और वह अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरमात्र है । उससे गिरनेवालेके अपूर्वकरणके अन्तिमसमयमें स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है, वह दूणा अथवा यथासम्भव संख्यातगुणा

जानना । उससे गिरनेवालेके अपूर्वकरणके चरमसमयमें स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा है । यद्यपि स्थितिसत्त्वका प्रमाण अन्तःकांडाकोड़ी है तथापि स्थितिबन्धसे संख्यातगुणा है, क्योंकि सम्यग्दृष्टिके सर्वदा स्थितिबन्धसे स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा है ।

तप्पढमट्ठदिसत्तं पडिवडअणियट्ठचरिमठिदिसत्तं ।

अहियकमा चडवादरपढमट्ठदिसत्तयं तु संखगुणं ॥३६०॥

अर्थ—उसी गिरनेवाले अपूर्वकरणका स्थितिसत्त्व विशेष अधिक है (६६) । उससे गिरनेवाले अनिवृत्तिकरणका अंतिम स्थितिसत्त्व विशेष अधिक है (६७) । उससे चढ़नेवाले बादरलोभ अर्थात् अनिवृत्तिकरणका प्रथम स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा है (६८) ।

विशेषार्थ—उससे गिरनेवालेके अपूर्वकरणके प्रथम समयमें जो स्थितिसत्त्व है वह एक समयकम अपूर्वकरणके कालप्रमाण अधिक है, क्योंकि उतरनेमें प्रथमसमय-वर्ती स्थितिसत्त्वसे अंतिम समयवर्ती स्थितिसत्त्वकी हीनता उतने समयमात्र ही होती है ।^१ उससे गिरनेवाले अनिवृत्तिकरणके अंतिम समयमें स्थितिसत्त्व एकसमय अधिक है । उससे चढ़नेवाले अनिवृत्तिकरणके प्रथमसमयमें स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा है, क्योंकि प्रथम समयमें अनिवृत्तिकरणके परिणामोंसे स्थितिसत्त्वका खण्ड नहीं होता है । स्थितिकाण्डककी अंतिम फालिके पतन होनेपर स्थितिघात होता है ।^२ (६६-६८)

चडमाणअपुव्वस्स य चरिमट्ठिदिसत्तयं विसेसहियं ।

तस्सेव य पढमठिदीसत्तं संखेज्जसंगुणियं ॥३६१॥

अर्थ—चढ़नेवाले अपूर्वकरणके अंतिम स्थितिसत्त्व विशेषअधिक है (६९) । उसीका प्रथमस्थितिसत्त्व संख्यातगुणा है (१००) ।

विशेषार्थ—उससे चढ़नेवाले अपूर्वकरणके अंतिम समयमें स्थितिसत्त्व विशेष अधिक है, क्योंकि अंतिमकाण्डकको अंतिमफालिका प्रमाण पत्यके संख्यातवैभागमात्र पाया जाता है, सो इतना अधिक जानना, इससे उसीका प्रथम स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा

१. क्योंकि नीचे उतरते हुए के स्थितिकाण्डकघात तो है नहीं (ज. घ. मूल पृ. १६३७, १६१३ तथा १६२६ आदि ।

२. ज. घ. मूल पृ. १६३७ ।

है, कारण कि चढ़नेवाले अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा है । वह अंतःकोटाकोटीप्रमाण है । अपूर्वकरणके कालमें संख्यातहजार स्थितिकाण्डक होता है उससे उसके प्रथमसमयमें जो स्थिति पाई जाती है उसका संख्यात बहुभागमात्र स्थिति घात होता है तथा उसके अंतिमसमयमें एकभागमात्र स्थितिसत्त्व रहता है और उस प्रथम समयवर्ती स्थितिसत्त्वसे पहले (पूर्वमें) स्थितिकाण्डकका घात है नहीं, उससे उसका चरमसमयवर्ती स्थितिसत्त्वसे प्रथम समयवर्ती स्थितिसत्त्व संख्यातगुणा जानना (६६-१००) । इसप्रकार अल्पबहुत्वका कथन पूर्ण हुआ । चारित्रमोहके उपशमावने का विधान समाप्त हुआ ।'



१. विशेष टिप्पणी—लघुसागर गाथा ३६५ से ३६९ तक १०० पदों के अल्प बहुत्वका कथन किया गया है, किन्तु कषायपाहुड़ सुक्त पृ० ७३२ से ७३७ तक तथा चूर्णिसूत्र ६०६ से ७०५ तक १०० सूत्रों द्वारा ६६ पदोंके अल्पबहुत्वका कथन किया गया है, क्योंकि लघुसागर गाथा ३७० में “उतरने वाले लोभ की प्रथम स्थितिवाला” जो १८वां पद है उसका कथन चूर्णिसूत्रमें नहीं है । धवल पु. ६ पु. ६३५ से ६४५ तक ६७ पदों के अल्पबहुत्वका कथन है, इसमें तीन पद कम हैं । लघुसागर गाथा ३७० में जो उक्त १८वां पद है वह ध. पु. ६ में नहीं है तथा गाथा ३७१ में “गिरनेवालेका मानवेदककाल” वाला २१वां व नोकषायोंका गुणश्रेणि आयामरूप २२वां पद, ये दोनों पद भी ध. पु. ६ में नहीं हैं । अन्य जो विशेषताएं हैं वे मिलान करके जानना चाहिए । लघुसागर गाथा ३७० में १८वें नं० का स्थान जयधवलमें नहीं है ।

शुद्धि-पत्र

क्षपणासार

पृष्ठ	वृत्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	११	समस्याए	खवणाए
२	१६	असंख्यातवां भाग मात्र	संख्यातवां भाग मात्र
४	५	चतुर्थानिक	चतुःस्थानिक
६	११	देशामर्शक	देशामर्शक
८	६	दुस्वर	दुःस्वर
८	१५	हो जाती है। यहाँ पर	हो जाती है; क्योंकि इनका उदय प्रसक्तसंयत भूरास्वान तक पाया जाता है। यहाँ पर
८	२४	संक्रमण	संक्रमण
९	६	कर्मों का अनुभागकाण्डक घात	कर्मों का स्थितिघात होने पर स्थिति स्थान कौन सा रह जाता है अर्थात् स्थितिकाण्डक होने पर कितनी स्थिति भेष रह जाती है? अनुभाग में प्रवर्तमान कर्मों का अनुभागकाण्डकघात
९	२३	पल्य के असंख्यातवें भाग	पल्य के संख्यातवें भाग
१०	१	अन्तरसमय	अनन्तर समय
११	६	ओव्वट्टणा	ओव्वट्टणा
१२	२१	१८वें निषेक तक	१७वें निषेक तक
१३	५	९७८	९६८
१३	६	९७७	९६७
१४	२२	अपकर्षित प्रदेशाग्र दूसरे	अपकर्षित प्रदेशाग्र का दूसरे
१५	२	संक्रमण के लिये	संक्रमण तथा उदीरणा के लिये
१५	३	जाते हैं, अपकर्षण	जाते हैं; कुछ का अपकर्षण
१८	३	(५) उत्कर्ष सम्बन्धी	(५) उत्कर्षण सम्बन्धी
२३	२६	अणियट्टिस्स	अणियट्टिस्स
२४	१२	ठिदिखंडव	ठिदिखंडव
२६	१५	जबतक	हुआ है अतः
२९	१५	हो जाता उससे	संख्यात गुणा
३१	२१	असंख्यात गुणा	कहना है या वहाँ
३४	१०	कहते हैं और वहाँ	कहना चाहिये
३४	११	कहेंगे	असंख्यात गुणा है। पुनः
३५	१३	संख्यात गुणा है। पुनः	

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३७	११	संक्रमण होता है । इसप्रकार	संक्रमण होता है । ऐसे ही द्वितीयकाण्डक का संक्रमण होता है । ऐसे क्रम से पृथक्त्व स्थितिकाण्डक के द्वारा न कषाय के द्रव्य का पर प्रकृतिरूप संक्रमण होता है । इसप्रकार
३८	७-८	प्रथमकाण्डकवात् होकर	प्रथम काण्डकधातु होता है । ऐसे
४२	२२	चवद्व	चवद्व
४३	८	किन्तु स्थितिबन्ध	
		पत्नीपम के असंख्यातवें भाग	
		प्रमाण ही होता है । इसप्रकार	
४३	९	अनुभाग स्तोक होने से	अनुभाग स्तोक व अधिक होने से
४३	१२	एो कसायाएां	एो कसायाएां
४३	१७	उपरितनवर्ती	उपरितन
४४	२१	अपकर्षित द्रव्य को निषिद्ध है ।	उत्कर्षित द्रव्य को निषिद्ध है ।
४५	२२	परप्रकृति समस्थितिसंक्रम	परप्रकृतिसंक्रम
४५	२४	प्रथमस्थिति में अपकर्षण और	प्रथमस्थिति में अपकर्षण संक्रमण द्वारा देता है; उदय को प्राप्त संज्वलनों की प्रथम स्थिति में अपकर्षण और
४६	८	असंख्यातवें भाग को	संख्यातवें भाग को
४६	२४	इति पाठो ।	इति पाठः ।
४६	२५	“आउत्तकरण” इति पाठो स च उपमुक्तो प्रतिभाति ।	“आउत्तकरण” इति पाठः, स च उपयुक्तः प्रतिभाति ।
४७	१६	(६) नपुंसकवेदता	नपुंसकवेदता
	१६	त्रय हो जाता है ।	क्षय हो जाता है ।
५१	२३	इति पाठो प्रतिभाति ।	इति पाठः प्रतिभाति ।
५२	२१	भेवरूप	भेदरूप
५२	२२	लिये स्थिति	लिये अन्य स्थिति
५६	२	होता है । १	होता है । १ इसी क्रम से अर्थात् प्रतिसमय अनन्त गुणित हीन क्रम से अप्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाव का बन्ध भी होता है ।
५६	७	वही	वहीं
५६	८	वही	वहीं
५६	११	विवक्षित समय में	विवक्षित समय से
५८	११	करना	करनी
५८	२३	आडत्तो	आडत्तो

पृष्ठ	पंक्ति	प्रशुद्ध	शुद्ध
६०	२१	उपपादानुच्छेद	उत्पादानुच्छेद
६१	२	अनुपपादानुच्छेद	अनुत्पादानुच्छेद
६१	१४	एरोण	एदेण
६३	८	इस नवकसमयप्रबन्ध का	उस नवकसमयप्रबन्ध का
६३	८	अपगतवेदी का	अपगतवेदी की
६६	४	असंख्यातवर्ष	असंख्यात हजार वर्ष
७१	१६	परितासंख्यातस्पर्धककी	परीतासंख्यातवें स्पर्धक की
७१	१६	आदि वर्गणा में नीचे के	आदि वर्गणा में तदनन्तर नीचे के
७१	१८	जघन्यपरीतानन्त	जघन्यपरीतानन्तवें
७३	८	तु होदि अपुष्वादिमवगणाउ	तु देदि अपुष्वादिमवगणाउ
७४	११	अपूर्वस्पर्धक वर्गणा पूर्व- स्पर्धक वर्गणाओं के	अपूर्वस्पर्धक की सकलवर्गणाएं पूर्व स्पर्धक की आदि वर्गणा के
७७	२२	करके जो प्रमाण	करके रूपाधिक करके जो प्रमाण
७८	२	अपूर्व खण्डों के	अपूर्वस्पर्धक के सकल खण्डों के
७९	९	श्रीघादि चार	श्रीघादि चारों
७९	१६	काण्डकप्रमाण में एक	काण्डकप्रमाण में क्रमशः एक
८०	१२	बोध हो जावे जयघबला टीकाकार	बोध हो जावे, एतदर्थ जयघबला टीकाकार
८१	१७	दूसरी कथाय का	दूसरी कथाय की
८२	४ से ७	इससे अपूर्वस्पर्धकों का भागहार असंख्यातगुणा है ।	इससे अपूर्वस्पर्धकों की अपेक्षा एक प्रदेश गुरुहानिस्था- नान्तर का अवहारकाल असंख्यातगुणा है । क्योंकि एक प्रदेश गुरुहानिस्थानान्तर के स्पर्धकों की स्थापित करके पुनः उनमें से अपूर्व स्पर्धकों का प्रमाण एक बार अपहृत करना (घटाना) चाहिये । और एक अव- हारकालका स्थापित करनी चाहिये । इसप्रकार पुनः पुनः अपहृत करने पर [घटाते जाने पर] अपकर्षण- उत्कर्षणभागहार से असंख्यातगुणा, पत्थोपम का असंख्यातधां भाग प्राप्त होता है । इस कारण यह अवहारकाल पूर्वोक्त से असंख्यातगुणा है; ऐसा निर्दिष्ट किया गया है । [ज०ध० २०३२]
८२	२०	मुवदेहि	ममुदेदि
८३	१९	हीणो अनुभाग	हीणो अनुभाग अथवा रसस्त्वन्धी या "रसबन्धोय"
८३	२३	अनुभाग	अनुभाग
८३	२४	७४९	७९४
८६	५	अनुभागसम्बन्ध	अनुभागसम्बन्धी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८६	१४	असंख्यातवें भाग गुराणी	असंख्यातवें भाग गुराणित अनन्तगुराणी
८९	१६	स्पर्धकों की संख्या	स्पर्धकों के वर्गणाओं की संख्या
८९	२२	वर्गणा का	सर्ववर्गणाओं का
८९	२२-२३	पूर्वस्पर्धकों के अनन्तवें भाग प्रमाण	अब चूँकि
८६	२३	जाता है ।	जाता है ।१
८९	२८	क्योंकि अनुभाग सण्ड के	क्योंकि प्रथम अनुभागसण्ड के

नोट—पृष्ठ ८६ की टिप्पणी

$$१-सकल अपूर्व स्पर्धक वर्गणाएँ = \frac{\text{एक गुराहानि० की स्पर्धक संख्या}}{\text{असंख्यात}} \times \frac{\text{एक स्पर्धकगत अनन्त वर्गणा}}{१} \dots\dots (i)$$

$$\text{जबकि सकलपूर्व स्पर्धक} = \frac{\text{पूर्व स्पर्धक संबंधी नाना गुराहानिशलाका}}{१} \times \frac{\text{एक गुराहानि में स्पर्धक संख्या}}{१}$$

$$\text{या } ,, ,, = \frac{\text{एक स्पर्धक की वर्गणाएँ} \times \text{अनन्त}}{१} \times \frac{\text{एक गुराहानि में स्पर्धक संख्या}}{१}$$

[ज० ध० मूल पृ० २०४३ से]

$$\text{या सकल पूर्व स्पर्धक} = \text{एक स्पर्धक गत अनन्त वर्गणा} \times \text{अनन्त} \times \frac{\text{एक गुराहानि में स्पर्धक संख्या}}{१} \dots\dots (ii)$$

अब सूत्र (i) से सूत्र (ii) में मान स्पष्टतया अनन्तगुराणी होने से यह सिद्ध होता है कि—सकल अपूर्व स्पर्धक वर्गणाओं से पूर्व स्पर्धकों की संख्या अनन्तगुराणी है । इति सिद्धम् ।

६०	३	अनन्तगुराणी वर्गणाओं से मायास्पर्धक	अनन्तगुराणी उनकी वर्गणाओं से माया के पूर्व स्पर्धक
६२	१०	है एवं	है ।
९४	२२	जयधवल पु० ६ पृष्ठ ३८१	जयल पु० ६ पृष्ठ ३८१
९६	११	उपर्युक्त सूत्र से	उपर्युक्त कथन से
९६	१२	प्रदेशाग्र संख्यात गुराणित है ।	प्रदेशाग्र सबसे कम हैं । तृतीय संग्रह कृष्टि में विशेष अधिक हैं क्रोध की तृतीय संग्रह कृष्टि से ऊपर उसकी ही प्रथम संग्रह कृष्टि में प्रदेशाग्र संख्यात गुराणित है ।
६६	१	प्रकार क्रोध कषाय की	से क्रोध कषाय की
१००	२३	अंतराहंशाम	अंतराहंशाम ।
१००	२७-२६	अर्थात्.....(जयधवल मूल पृष्ठ २०५१)	अर्थात् स्वस्थान गुणकार की "कृष्टि-अन्तर", ऐसी संज्ञा है तथा परस्थान गुणकारों की "संग्रह कृष्टि अन्तर", ऐसी संज्ञा है । (जयधवल मूल पृ० २०५०)

पृष्ठ पंक्ति

अशुद्ध

शुद्ध

१०४ संदृष्टि के १० बार दुगुणा करने पर
नीचे से

तीसरी लाइन

१०५ १७ निक्षिप्तमान

१०५ २०-२३ इस विधान से.....अन्य कोई

दुगुणा-दुगुणा करने पर

देता हुआ

इसप्रकार इस विधान से अनन्तरोपनिधा की अपेक्षा ऊपर सर्वत्र एक-एक वर्गणा विशेष प्रमाण हीन करते हुए तब तक ले जाना चाहिये जब तक कि समस्त संग्रह कृष्टियों की अन्तर कृष्टियों को उत्लंघन करके सर्वोत्कृष्ट चरम क्रीड कृष्टि (यानी क्रीड की तृतीय संग्रह कृष्टि की अन्त कृष्टि) को प्राप्त हो जाय। क्योंकि इस अध्वान में अनन्तर उत्तर की अनन्तर पूर्व से अनन्तभाग हानि को छोड़कर प्रकारान्तरता संभव नहीं है।

इति पाठः ।

१०५	२५	इति पाठो
१०६	१	पर्याय असम्भव है।
१०६	३	अनन्तवे भाग प्रमाण है और
१०६	४	विशेष से हीन समस्त द्रव्य है । १
१०७	५	१२ कृष्टियों के नीचे
१०७	१८	जाननी । दृश्यमान में
१०८	१४	प्रथमसंग्रह कृष्टि में अनन्त भाग
१०९	३	से हीन
१०९	३	जाते हैं । अपूर्व
१०९	६	तृतीयसंग्रहकृष्टि के नीचे अन्तर
१०९	६	कृष्टियों में भी
१०९	१७	चरम कृष्टि से बारह
११०	१०	सुज्जुतो
१११	२०	अनुभवता
११२	७	वेदना
११३	१४	जानना कि
११३	१५	ये सर्वनिषेक
११४	१४	सब संज्वलन के

अनन्तवे भाग प्रमाण है यहां हीन सकल द्रव्य का प्रमाण

विशेष है । १

१२ कृष्टियों में से प्रत्येक की जघन्य कृष्टि के नीचे जाननी । इसप्रकार देय (दीयमान) द्रव्य में तेबीस स्थानों में उद्भूत रचना होती है । दृश्यमान में प्रथम संग्रहकृष्टि की जघन्यकृष्टि से अनन्तर द्वितीय-कृष्टि में अनन्तभाग से हीन

जाते हैं; अपूर्व

तृतीय संग्रह कृष्टि में भी

चरम कृष्टियों से बारह

संजुतो

भोगता

वेदन करना

जानना । तथा

अवशेष सर्वनिषेक

वर्हा संज्वलन के

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११४	२३-२४	लब्ध में से एक भाग	लब्ध एक भाग
११५	६	था उसको	है उसको
११६	६-७	उपरितन कृष्टि प्रमाण का	उपरितन; कृष्टि प्रमाण का
११६	१६	द्वितीयादि अघस्तन	द्वितीयादि निचली
११६	२०	प्रमाण पश्चात्	प्रमाण है । पश्चात्
११७	६	अघस्तन व उपरितन अनुभय आदि	निचली अनुभय कृष्टि आदि
११८	१६	वर्तमान में उत्तर-	वर्तमान उत्तर-
११८	२६	नीचे की केवल	नीचे की कृष्टि केवल
११९	१	संप्रति	साम्प्रतिक
११९	२३	उदय कृष्टि में	उदय की उत्कृष्ट कृष्टि में
१२०	२	अनुभाग वाली है । इसप्रकार	अनुभाग वाली है । उससे दूसरे समय में बन्ध की
			जघन्य कृष्टि अमन्तगुणे हीन अनुभाग युक्त है । उससे
			उसी समय में जघन्य उदय कृष्टि अनन्तगुणे हीन अनु-
			भागयुक्त है । इसप्रकार
१२०	५	द्वितीयसंग्रहकृष्टिवेदक के	द्वितीय तृतीय संग्रह कृष्टि वेदक के
१२४	१९	घातक द्रव्य से व्यय और	घात द्रव्य से व्ययद्रव्य और
१२५	७	एक भाग के	एक भाग का
१२६	२२	चदुसठारोसु	चदुसठारोसु
१२७	१०	रची जाती हैं, क्योंकि	रची जाती हैं, क्योंकि बध्यमान द्रव्य एक समयप्रबद्ध
			प्रमाण है । संक्रम्यमाण प्रदेशाग्र से असंख्यातगुणी
			अपूर्वकृष्टियां रची जाती हैं । क्योंकि
			[अर्थात् अपकर्षित समस्त द्रव्य]
१२९	३	अर्थात् अपकर्षित समस्त द्रव्य	
१२९	४	जो	
१२९	४	रची जाती है उससे	रची जाती है ।
१२९	११	'इदराणाम'	'इदराण'
१३०	१२	कृष्टिवेदककाल की	कृष्टिवेदककाल में
१३०	१३	प्रथमसमय में निर्वर्त्यमान	प्रथम समय में उस प्रदेशाग्र के द्वारा निर्वर्त्यमान
१३०	१४	चरमकृष्टि में निर्वर्तित	चरमकृष्टि के
१३०	१४	जघन्य कृष्टि के प्रथम समय में	जघन्य अर्थात् प्रथम कृष्टि में
१३०	२०	उसके आगे	उसके आगे
१३१	७	पूर्वकृष्टि में से	पूर्व संग्रहकृष्टि में से
१३१	१५	अर्थात् प्रथम	अर्थात् पत्योपम के प्रथम
१३२	१९-२१	प्रथम समय में विनष्ट कृष्टियों से	द्वितीय समय में असंख्यात गुणीहीन कृष्टियों का नाश
		रहित शेष बची हुई कृष्टियों के	करता है । क्योंकि घाते गये अनुभाग के बाद शेष रहे

पृष्ठ पंक्ति

मशुद्ध

शुद्ध

असंख्यातर्वा भाग का घात करता है इसलिए द्वितीय समय में असंख्यातगुणीहीन कृष्टियों का नाश करता है । इसीप्रकार

अनुभाग को नष्ट करने में कारणभूत यहां की विषुद्धियों की उसी प्रकार से प्रवृत्ति होने का नियम देखा जाता है । इसीप्रकार

१३४	२०	प्राप्त होते हैं, जो कि प्रथम संग्रह-कृष्टि वेदकाल के त्रिभाग से कुछ अधिक है ।
१३७	१	उस संग्रहकृष्टि को
१३७	२	चरमसमयवर्ती
१३९	४	करता है,
१३६	१४	अतिस्थापना
१४०	१०	सहिया
१४०	१२	अवयव कृष्टियों के द्रव्य का
१४०	१४	द्वितीय कृष्टि में कृष्टियों का
१४०	१५	संख्यातगुणा
१४१	१०	चौदह गुणा हो गया । १
१४६	५	प्रथमस्थिति शेष रह
१४९	१८	अन्तर कृष्टियों के नीचे
१५०	७	वेद करके
१५१	६	अपेक्षा असंख्यात-
१५३	१	विशेष कृष्टियों का
१५४	१४	एक भाग प्रमाण द्रव्य दिया जाता है ।
१५४	१५	एक सण्ड द्रव्य जघन्य बादर
१५५	१५	जाता तथा
१५५	२२	दिया जाता है । इससे आगे
१५७	१	अर्थ—सूक्ष्मसाम्पराधिककृष्टिकारक

प्राप्त होते हैं । प्रथम संग्रह कृष्टि वेदकाल त्रिभाग से कुछ अधिक है ।

उस संग्रहकृष्टि की

चरम समय में

करता है । किन्तु

प्रतिस्थापना

अहिया

अवयव कृष्टियों का और द्रव्य का

द्वितीय कृष्टि में संख्यातगुणा कृष्टियों का

× ×

चौदह गुणा हो गया । १ इन अन्तरकृष्टियों के प्रदेशाग्र का भी अल्पबहुत्व इसी प्रकार जानना चाहिए ।

प्रथम शुद्ध स्थिति में समयाधिक भावली काल शेष रह कृष्टि अन्तर्ग में

वेदन करके

अपेक्षा संख्यात-

अन्तर कृष्टियों का

एक भाग प्रमाण द्रव्य चढ़े गये अध्वान प्रमाण विशेषों से हीन करके दिया जाता है ।

एक सण्ड द्रव्य विशेषाधिक करके (चयाधिक करके) जघन्य बादर

जाता है तथा

दिया जाता है । पूर्वनिर्वातित कृष्टि को प्रतिपद्यमान प्रदेशाग्र का असंख्यातर्वा भाग हीन दिया जाता है । इससे आगे

अर्थ—लोभ की तृतीय संग्रहकृष्टि से जो द्रव्य सूक्ष्म कृष्टि रूप परिणत हुआ वह स्तोक है । उससे लोभ की द्वितीय संग्रह कृष्टि से जो द्रव्य लोभ की तृतीय संग्रह कृष्टिरूप परिणत हुआ वह संख्यातगुणा है ।

पृष्ठ पंक्ति

अशुद्ध

शुद्ध

उससे लोभ की द्वितीय संग्रहकृष्टि से जो द्रव्य सूक्ष्म कृष्टिरूप परिणत हुआ वह संख्यात गुणा है ।

विशेषार्थ—सूक्ष्मसाम्प्रायिककृष्टिकारक

१५७ ११ प्रतिग्राह्य के अल्पबहुत्व के अनुसार
१५७ ११ अर्थात् प्रतिग्राह्य
१५७ १२ का अल्पबहुत्व
१५८ १५ करने वाले के क्रोध की
१५८ २८ होता है, अतः यहाँ पर

प्रतिग्रह के माहात्म्य के अनुसार ही
अर्थात् प्रतिगृह्यमाण
की प्रवृत्ति

करने वाले के जो प्रदेशाग्र क्रोध की होता है, किन्तु लोभ की प्रथम संग्रह कृष्टि के द्रव्य का लोभ की द्वितीय तृतीय संग्रह कृष्टि में संक्रमण होता है अतः यहाँ पर

१६० १६ ही होता है तथा
१६२ १० बादरकृष्टिवेदन ने
१६३ ४ आश्रम भी इतना है ।

ही होता था, वह भी एक गया तथा
बादरकृष्टिवेदन के
आश्रम भी सामान्य से इतना है ।

१६३ १७ अधिक, क्योंकि
१६३ १९ अवरहिया

अधिक है, क्योंकि

१६५ २६ असंख्यातगुणेहीन
१६८ २३ गुणसेद्धि

अवरहिया

विशेष (चय) हीन

१६८ २३ होदि विसेसाहिय

गुणसेद्धिसए

१६८ २४ अट्ठ वस्सट्ठि

होदि, विसेसाहियं

१६९ १५ तत्प्रायोग्य संख्यातगुणा

अट्ठवस्सट्ठिदि

१७० १३ उदीर्यमान

तत्प्रायोग्य संख्यात

१७० १४ संख्यातवैभाग को

उदीर्यमान

१७० १८ उदीर्यमान

असंख्यातवै भाग को

१७१ ३ स्थितिकाण्डकों को

उदीर्य

स्थितिकाण्डकों के यथाक्रम बीत जाने पर चरम स्थितिकाण्डक को

१७२ २३ ऊपर जो

ऊपर पहले (पुरातन) जो

१७२ २४ दिया जाता है, यह द्रव्य

दिया जाता है, यहाँ प्रथम निषेक में दिया गया द्रव्य अनन्तर स्थिति में [तृतीय पर्व की प्रथम स्थिति में] देता है ।

१७३ ३ अनन्तर स्थिति में देता है ।

१७६ ४ देयमान

दीयमान

१७७ ११-१२ क्षीराकषायगुणस्थान के ऊपर और

×

१७८ १ पडिदे

पदिदे

१७९ १७ तत्स्मृतम्

तत्संस्मृतम्

१८० १० जिस काल में अवबर्णकरण

जिस काल में चार कषायों का अवबर्णकरण

पृष्ठ संक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१=० २६	अश्वकर्णकरणकाल, कृष्टिकरणकाल	
१=१ १६	" " "	
१=३ १	सेढेक	संढेक
१=४ ७	कर्मप्रकृतियों सत्त्व से	कर्म प्रकृतियों उदय और सत्त्व से
१=५ ९	निर्मल	निर्मल
१=६ ३	अन्तरित	अन्तरित कहलाता है ।
१=७ १६	विश्व च उक्काण	विश्वचउक्काण
१=९ १	स्तुतिक	स्तुतिक
१=९ २३	केवलज्ञान अविनश्वरता को	केवलज्ञान की अविनश्वरता को
१६०	प्रमेय आनन्त्य	प्रमेय में आनन्त्य
१६० ३	अतः उनके	अतः उनको
१९० ३	आनन्त्यपना	आनन्त्य
१६० ४	केवलज्ञान उपचारमात्र से	केवलज्ञान में उपचारमात्र से
१६१ १०	आवारक	आवारक
१६१ २१	अनवस्था	अनवस्थान
१६३ ५	अभाव और	अभाव है और
१६३ १९	केवलज्ञानरूपी	जिसका केवलज्ञानरूपी
१९३ २२-२३	और घातिया कर्मों को जीत लेने अर्थात् श्रम कर देने से जिन कहे जाते हैं	कहा जाता है
१९५ ५	सकता	सकते
१९५ ६	आदि व्यापार स्वाभाविक	व्यापार आदि स्वाभाविक
१६५ १५	पादाम्बुजै	पादाम्बुजैः
१९६ ९	बंधादि	बंधादि
१६७ १४	पाविसिय	पाविसिय
१९७ २१	अवशिष्टकाल; और अयोग	अवशिष्ट काल; अयोगी का सर्वकाल और अयोग
१९७ २२	सर्वकालका संख्यातवांभाग इन दोनोंको	काल का संख्यातवां भाग इनको
१६८ ७	आत्मप्रदेशों को कपाटरूप	आत्मप्रदेशों को प्रतररूप करता है । द्वितीयसमय में प्रतर समेट कर आत्मप्रदेशों को कपाटरूप
१९८ २२-२३	गुणश्रेणिशीर्ष से उपरिम	गुणश्रेणिशीर्ष से वर्तमान गुणश्रेणिशीर्ष नीचे है । किन्तु पूर्व की अपेक्षा असंख्यातगुणे प्रदेशाग्र का विन्यास करता है । यह गुणश्रेणी के ११ स्थानों की प्ररूपणा वाले सूत्र से सिद्ध है । गुणश्रेणि शीर्ष से उपरिम

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६८	२७	परमगुरुसम्पदा	परमगुरुसम्प्रदाय
१६९	३	बीर्यपरिणामों में	बीतराग परिणामों में
१६६	३	होने पर भी अन्तर्मुहूर्त	होने पर भी आयु के अन्तर्मुहूर्त
२००	११	असंख्यातवें	असंख्यातवें
२००	२७	होता है । कामंण	होता है । क्योंकि कामंण
२०१	१०	जाते हैं । मूल	जाते हैं । क्योंकि वहां मूल
२०१	११	असम्भव है क्योंकि	असम्भव है और क्योंकि
२०२	३	क्षपण के उपदेश में यह	
२०३	६	लोकव्यापी, पांचवें समय में संकोच- क्रिया	लोकव्यापी, फिर क्रमशः पांचवें समय में लोकपूरण की संकोचक्रिया
२०३	७	उसका संकोच होकर आठवें समय में दण्ड हो जाता है ।	आठवें समय में दण्ड का संकोच हो जाता है ।
२०३	१४	काल में और	बाद
२०३	१८	सण्णिविसुहमाणि	सण्णिविसुहमाणि
२०६	१३	व्यसीत् कर	तक
२०७	३	असंख्यातवें भागरूप परिणामाकर	असंख्यातवें भाग प्रमाण अविभागी प्रतिच्छेद अपूर्व स्पर्धकों की चरम वर्गणा में होते हैं । अर्थात् पूर्व स्पर्धकों में से जीव प्रदेशों का अपकर्षण कर उनको पूर्व स्पर्धकों की आदि वर्गणा के अविभागी प्रतिच्छेदों के असंख्यातवें भाग रूप परिणामाकर
२०८	१६	एता	एतो
२०६	५	ख्यातगुणो क्रम से	प्रतिसमय असंख्यातगुणो क्रम से
२११	१२	परिणामन	परिणत
२११	२३-२८	अथवा द्वितीय उपदेशानुसार..... द्वितीय समय में नष्ट होती है ।	अथवा प्रथम समय में स्तोक कृष्टियों का वेदन करता है; क्योंकि अधस्तन और उपरिम असंख्यातवें भाग प्रमाण ही कृष्टियों प्रथम समय में विनाश को प्राप्त होवी हुई प्रधानरूप से विवक्षित हैं । दूसरे समय में असंख्यातगुणी कृष्टियों का वेदन करता है । क्योंकि प्रथम समय में विनाश को प्राप्त होने वाली कृष्टियों से दूसरे समय में, अधस्तन और उपरिम, असंख्यातवें भाग से सम्बन्ध रखने वाली, असंख्यातगुणी कृष्टियां, विनाश को प्राप्त होती हैं; यह उक्त कथन का सात्पर्य है । स्थितिकाण्डक की जघन्यस्थिति
२१४	१४-१५	गुणश्रेणिशीर्ष की जघन्य स्थिति	

पृष्ठ पंक्ति

अशुद्ध

शुद्ध

२१४	१६	प्रदेशाग्र देता है । यहाँ से
२१६	१	परिपूर्ण
२१६	६	निर्जरा जिसका
२२०	८	एकद्रव्य या पर्याय को
२२१	२१	एक तथा एक शब्द के
२२२	२०	बीचार हो वह एकत्ववितर्क
२२३	९	परमात्मध्यान संगच्छते
२२५	४	जिण-साहुगुणविकृताण
२२६	८	घृतघट
२२९	१२	वह घी का घट कहलाता है ।
२३१	५	पुंवेद
२३२	१०	क्षीणा
२३२	११-१२	अर्थ-स्थानगृह्णित्वा करके नाश करता है ।
२३३	२५	गा० १३६, १३८-१३९
२३४	२३	अहिग्रो
२३४	२४	बोधव्वा
२३४	२४	अणुभागे
२३५	३	अणुभागे
२३५	८	अणुभागविषयक
२३६	२	पञ्चादानुपूर्वी
२३६	१३	सेसे
२३६	१८-१९	और तीन घातिया कर्मों का पृथक्त्व-

प्रदेशाग्र देता है । पुरातन गुणश्रेणिशेष से अनन्तर उपरिम स्थिति में असंख्यातगुणा हीन देता है । उसके ऊपर सर्वत्र विशेषहीन-विशेषहीन प्रदेशाग्र देता है । यहाँ से
अपरिपूर्ण
निर्जरा ही जिसका
एक द्रव्य या गुण-पर्याय को
एक योग तथा एक शब्द के
बीचार हो वह पृथक्त्ववितर्कबीचार नामक भ्रुवलभ्यान् है । जिस ध्यान में अर्थ; व्यञ्जन व योग की संक्रान्ति न हो, वह एकत्ववितर्क
परमात्मध्यानं न संगच्छते ।
जिण-साहुगुणविकृताण
घृतघट
"घी का घटा नाभो"; ऐसा कहा जाता है । वैसे ही
पुंवेदं
क्षीणा
अर्थ—मध्यम ८ कषायों के क्षय करने के अनन्तर स्थानगृह्णिकर्म, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला; इन तीन दर्शनावरण की प्रकृतियों को, तथा नरकगति और तिर्य्यचगति सम्बन्धी नामकर्म की १३ प्रकृतियों को संक्रम आदि करते समय (अर्थात् सर्वसंक्रम आदि में पानी संक्रम काण्डकघात आदि करके) क्षीण करता है
गा० ३-४-५
अहिग्रो
बोधव्वा
अणुभागे
अणुभागे
अणुभाग को अपेक्षा साम्प्रतिक बन्ध से साम्प्रतिक उदय अनन्तगुणा होता है । इसके अनन्तरकाल में होने वाले उदय से
पञ्चादानुपूर्वी
सेसं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		मुहूर्त प्रमाण स्थितिवन्ध अन्तःवर्षप्रमाण	
२३७	८	बाधक	बन्धक
२३७	९	करता नियम से	करता है; नियम से
२३७	१०	क्षपणकाल में सूक्ष्मसाम्प्रायिक	क्षपणकाल में और सूक्ष्मसाम्प्रायिक
२३८	१	उपर्युक्त १२ गाथाओं का	
२३८	१	(जयधवलमूल) से	(जयधवलमूल) के
२३८	२	चूलिका का कथन	चूलिका में स्थित उपर्युक्त १२ गाथाओं का कथन



लक्षणावली

अपणासार

शब्द ग्रन्थ में जहाँ
आया वह पृष्ठ

परिभाषा

अघस्तन कृष्टि ११५

अघःप्रवृत्त संक्रम
भागहार

प्रथम, द्वितीय आदि कृष्टियों को अघस्तन कृष्टि कहते हैं।

पत्य के अर्द्धच्छेद के असंख्यातवें भाग प्रमाण अघःप्रवृत्त संक्रम भागहार होता है। जहाँ विस्फातक सम्भव हो, जहाँ जो विवक्षित प्रकृति, उसके परमाणुओं को अघःप्रवृत्त संक्रम भागहार का भाग देने पर एक भाग मात्र परमाणु अन्य प्रकृति रूप हो जाते हैं, यह अघःप्रवृत्तसंक्रम कहलाता है।

अनुत्पादानुच्छेद २३१-६०

अनुभागकाण्डक

काल ५६

अनुसमयाप-

वर्तन १६७, १३४

देखो—उत्पादानुच्छेद की परिभाषा में।

एक अनुभागकाण्डक का घात अन्तर्मुहूर्त काल में पूरा होता है; इस काल का नाम अनुभागकाण्डकोत्कीरण काल या अनुभागकाण्डककाल है।

जहाँ प्रति समय अनन्त गुरु के कम से अनुभाग घटाया जाय वहाँ अनुसमयापवर्तन कहलाता है। पूर्व समय में जो अनुभाग था उसको अनन्त का भाग देने पर बहु-भाग का नाश करके एक भाग मात्र, अनुभाग अवशेष रखता है। ऐसे समय-समय अनुभाग का घटाना हुआ; अतः इसका नाम अनुसमयापवर्तन है। कहा भी है—उत्कीरण काल के बिना एक समय द्वारा ही जो घात होता है वह अनुसमयापवर्तन है। (धवला १२/३२) अर्थात् प्रतिसमय कुल अनुभाग के अनन्त बहुभाग का अभाव करना अनुसमयापवर्तन है।

शंका—अनुसमयापवर्तन को अनुभाग काण्डकघात क्यों नहीं कहते ?

समाधान—नहीं कहते; क्योंकि प्रारम्भ किये गये प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा जो घात निष्पन्न होता है वह अनुभागकाण्डकघात है; परन्तु उत्कीरण काल के बिना एक समय द्वारा ही जो घात होता है वह अनुसमयापवर्तन है। दूसरे; अनुसमयापवर्तन में नियम से अनन्तबहुभाग नष्ट होता है, परन्तु अनुभागकाण्डकघात में यह नियम नहीं है, क्योंकि वह प्रकार की हानि द्वारा काण्डकघात की उपलब्धि होती है। धवला १२ पृष्ठ ३२

अन्तरकृष्टि

६९

एक-एक संप्रह कृष्टि में अनन्तर कृष्टि अनन्त होती हैं। क्योंकि अनन्तकृष्टि के

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
अन्तरित	१८६, १८९	समूह का ही नाम संग्रह कृष्टि है । तथा संग्रह कृष्टि की ये अवान्तर कृष्टियाँ हो "अन्तर कृष्टि" कहलाती हैं । (अवयवकृष्टि=अन्तरकृष्टि क० पा० ८०६)
अन्तरित	१८६, १८९	अतीत, अनागत काल सम्बन्धी अन्तरित कहलाता है । जैसे राम, रावण आदि । आप्त मीमांसा० वृ० ५ तथा न्याय दी० पृ० ४१ । परन्तु पञ्चाध्यायी में ऐसे कहा है—अन्तरिता यथा द्वीपसरित्नाथनगाधिपाः ॥२/४८४ अर्थात् द्वीप, समुद्र, पर्वत आदिक पदार्थ अन्तरित हैं; क्योंकि इनके बीच में बहुत सी चीजें आ गई हैं; इसलिये ये दिख नहीं सकते ।
अन्तर्दिवस	२३६	दिवस से कुछ कम को अन्तर्दिवस (अन्तःदिवस) कहते हैं ।
अन्तःकोटा- कोटि सागर	२१	अन्तः अर्थात् अन्दर । अतः लहो विनम्रित मगरा से कुछ कम हो नहो अन्तः संज्ञा होती है । इसी तरह कोड़ा कोड़ी से नीचे तथा कोड़ी से ऊपर को अन्तः कोटा कोटी कहते हैं । कहा भी है—“अन्तः कोड़ा कोड़ी सागर” ऐसा कहने पर एक कोड़ा कोड़ी सागरोपमको संख्यात कोटियों से खण्डित करने पर जो एक खण्ड होता है वह अन्तः कोड़ा कोड़ी सागर का अर्थ ग्रहण करना चाहिये । (धवल ६/१७४ चरम पेरा)
अपवर्तनोद्धर्तनकरण	६४	अश्वकर्णकरण, आदोलकरण, अपवर्तनोद्धर्तनकरण; ये तीनों एकार्थक नाम हैं । उनमें से अश्वकर्णकरण ऐसा कहने पर उसका अर्थ होता है अश्व का कर्ण अश्व कर्ण । अश्वकर्ण के समान जो करण वह अश्वकर्णकरण है । जिस प्रकार अश्व

के मूल कथन दिया जाता है ताकि अन्तर सुस्पष्ट हो जायगा—

(i) अन्तरिताः कालविप्रकृष्टाः अर्थाः (i) अन्तरिता यथा द्वीपसरित्नाथनगाधिपाः

आ० मी० वृ० ५

साटीसंहिता संग ४ श्लोक ८

पूर्वार्ध पृ० ५१

(ii) अन्तरिताः कालविप्रकृष्टा रामादयः (ii) अन्तरिता यथा द्वीपसरित्नाथनगाधिपाः

न्यायदीपिका पृ० ४१

पञ्चाध्यायी २/४८४ राजमल्ल

(iii) अतीत अनागतकाल सम्बन्धी अन्तरित कहिये । (iii)

प० टोडरमलजी

नोट—यहां उक्त ग्रन्थों में काल से अन्तरित नोट—ऊपर दोनों ग्रन्थों में क्षेत्र से अन्तरित

(व्यवहित)अथवा विप्रकृष्ट (दूर)

व्यवहित (आती विप्रकृष्ट) को

पदार्थ को “अन्तरित” कहा है ।

“अन्तरित” कहा है ।

शब्द

पृष्ठ

परिभाषा

आगे से लेकर मूल तक क्रम से घटता हुआ दिखाई देता है उसी प्रकार यह करण भी क्रोध संज्वलन से लेकर लोभ संज्वलन तक क्रम से अनन्तगुण हीन अनुभाग के आकाररूप से व्यवस्था का कारण होकर अवकर्णकरण इस नाम से लक्षित होता है । अब आदोलकरण का अर्थ—आदोल नाम हिंडोला का है । आदोल के समान जो करण वह आदोल करण है । जिसप्रकार हिंडोले के सम्भे और रस्सी अन्तरान्त में त्रिकोण होकर कर्ण रेखा के आकार रूप से दिखाई देते हैं, वैसे ही यहाँ भी क्रोधादिक कषायों का अनुभाग का सन्निवेश क्रम से हीयमान दिखाई देता है । इसलिये अवकर्णकरण की आदोलकरण संज्ञा हो गई है । इसीप्रकार अपवर्तना-उद्धर्तनाकरण यह पर्यायवाचक शब्द भी अनुगत अर्थ वाला है, ऐसा ज्ञातव्य है । यतः क्रोधादि संज्वलन कषायों के अनुभाग का विन्यास हानि-वृद्धि रूप से अवस्थित देख कर उसकी पूर्वाचार्यों ने "अपवर्तना-उद्धर्तनाकरण"; यह संज्ञा प्रवर्तित की है । जय धवला मूल पृष्ठ २०२२ एवं धवल पु० ६/३६४; कषाय पाहुड सुत्त पृ० ७८७ अभिप्राय यह है कि प्रकृत में अवकर्णकरण की अपवर्तनो-द्धर्तनकरण और आदोलकरण ये दो संज्ञाएँ होने का कारण यह है कि संज्वलन क्रोध से संज्वलन लोभ तक के अनुभाग को देखने पर वह उत्तरोत्तर अनन्तगुणा हीन दिखलाई देता है और संज्वलन लोभ से लेकर संज्वलन क्रोध तक के अनुभाग को देखने पर वह उत्तरोत्तर अनन्तगुणा अधिक दिखलाई देता है । जैसे घोड़े के कान मूल से लेकर दोनों ओर क्रम से घटते जाते हैं वैसे ही क्रोध संज्वलन से लेकर अनुभाग स्पर्शक रचना क्रम से अनन्तगुणी हीन होती चली जाती है इस कारण तो अवकर्णकरण संज्ञा है । आदोल (हिंडोला) के सम्भे और रस्सी अन्तरान्त में कर्ण रेखा के आकाररूप से दिखाई देते हैं उसी प्रकार यहाँ भी क्रोधादि कषायों के अनुभाग की रचना क्रम से दोनों ओर घटती हुई दिखाई देती है अतः आदोलकरण नाम है । इसी तरह इसी अपवर्तन-उद्धर्तनकरण संज्ञा भी सार्थक है; क्योंकि क्रोधादि संज्वलनों के अनुभाग की रचना हानि-वृद्धि रूप से अवस्थित है । जौ० ल० १/१९५

अपूर्व स्पर्शक

४, २

जिन स्पर्शकों को पहले कभी प्राप्त नहीं किया, किन्तु जो क्षणक खेरी में ही अवकर्णकरण के काल में प्राप्त होते हैं और जो संसार अवस्था में प्राप्त होने वाले पूर्व स्पर्शकों से अनन्तगुणित हानि के द्वारा क्रमशः हीयमान स्वभाव वाले हैं, उन्हें अपूर्व स्पर्शक कहते हैं ।

क० पा० सु० पृष्ठ ७८६; जय घ० अ० ११०६;

कहा भी है—वधर्मान तो पूर्व स्पर्धक तथा हीयमान अपूर्व स्पर्धक हैं । इसप्रकार दो प्रकार के स्पर्धक जानना चाहिये । पंच सं० अमृत० १/४६

अश्वकर्णिकरण के प्रथम समय से लगाकर उसके अन्तिम समय पर्यन्त बराबर यह अपूर्वस्पर्धक बनाने का कार्य चलता रहता है । अर्थात् अश्वकर्ण करण का अन्त-मुहूर्त प्रमाण काल हो इसकी विधि का काल है (इसके ऊपर कृष्टिकरण का काल प्रारम्भ होता है ।) ऐसा जानना चाहिये ।

अवयव कृष्टि ६४

एक-एक संग्रह कृष्टि की अनन्त अवयव कृष्टियां होती हैं । एक-एक संग्रह कृष्टि में जो अनन्त कृष्टियां होती हैं; वे ही अवयव कृष्टियां हैं । क० पा० सु० ८०६

अश्वकर्णिकरण ६४, ८७,
८६, ८८

देखो—अपवर्तनोद्वर्तनकरण की परिभाषा में ।

आदोलकरण ११

आयद्रव्य १२१

जिस प्रकार लोक व्यवहार में जमा-खर्च कहा जाता है । उसी प्रकार यहां भी आयद्रव्य और व्ययद्रव्यरूप कथन करते हैं । अन्य संग्रह कृष्टियों का जो द्रव्य संक्रमण करके विवक्षित संग्रहकृष्टि में आया; (प्राप्त हुआ) उसे आय द्रव्य और विवक्षित संग्रहकृष्टि का द्रव्य संक्रमण करके अन्य संग्रह कृष्टियों में गया उसे व्यय द्रव्य कहते हैं ।

आवर्जितकरण १९८

केवलि समुद्धात के अभिमुख होने को आवर्जित करण कहते हैं । अर्थात् केवलि-समुद्धात करने के लिये जो आवश्यक तैयारी की जाती है उसे शास्त्रकारों ने “आवर्जितकरण” संज्ञा दी है । इसके किये बिना केवलि समुद्धात का होना सम्भव नहीं है, अतः पहले अन्तमुहूर्त तक केवली आवर्जितकरण करते हैं । क० पा० सु० पृ० ६००

उच्छिष्टावलि ३८

सत्त्व के घटते २ जो आवली मात्र स्थिति अवशिष्ट रह जाती है उसका नाम

१ वैसे तो कृष्टिकरण काल में भी अश्वकर्णिकरण पाया जाता है । क्योंकि वहां भी अश्वकर्ण के आकार संज्वलनों का अनुभागसत्त्व या अनुभागकाण्डक होता है । क्ष० सा० ४९१ परन्तु “अपूर्वस्पर्धक सहित अश्वकर्णिकरण का काल” यहां प्रकृत है ।

शब्द पृष्ठ

परिभाषा

“उच्छिष्टावली” है। यानी स्थितिसत्त्व में आवली मात्र के अवशिष्ट रहने पर वह उच्छिष्टावली कहलाती है।

उत्कृष्ट कृष्टि	११९	सबसे अधिक अनुभाग सहित अन्तिम कृष्टि उत्कृष्ट कृष्टि है।
उपरितन कृष्टि	११५	चरम, द्विचरम आदि कृष्टियों को उपरितन कृष्टि कहते हैं।
उष्टकूट श्रेणी	१०९	जिस प्रकार ऊँट की पीठ पिछले भाग में पहले ऊँची होती है पुनः मध्य में नीची होती है, फिर आगे नीची-ऊँची होती है; उसी प्रकार यहाँ भी प्रदेशों का निषेक आदि में बहुत होकर फिर थोड़ा रह जाता है। पुनः सन्धिविशेषों में अधिक और हीन होता हुआ जाता है। इस कारण से यहाँ पर होने वाली प्रदेश श्रेणी की रचना को उष्टकूट श्रेणी कहा है। क० पा० सु० पृ० ८०३; जयधवल २०५९-६४
काण्डक	४८	अन्तर्मुहूर्त मात्र फालियों का समूह रूप “काण्डक” है।
कृष्टि अन्तर	१००-१०१	एक-एक कृष्टि सम्बन्धी अवान्तर कृष्टियों के अन्तर की संज्ञा “कृष्टि अन्तर” है। क० पा० सु० ७६६
केवलि-समुद्घात	१६६	केवली भगवान् अघातिया कर्मों की हीनाधिक स्थिति के समीकरण के लिये जो समुद्घात (अपने आत्म प्रदेशों को ऊपर, नीचे और तिर्यक् रूप से फैलाना) करते हैं, उसे केवलि-समुद्घात कहते हैं। इस समुद्घात को दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरणरूप चार अवस्थाएँ होती हैं। दण्ड समुद्घातमें आत्म प्रदेश दण्ड के आकार रूप फैलते हैं। कपाट समुद्घात में कपाट (किवाड़) के समान आत्मप्रदेशोंका विस्तार बाहुल्य की अपेक्षा तो अल्प परिमाणमय ही रहता है, पर विष्कम्भ और आयाम की अपेक्षा बहुत परिमाणमय होता है। तृतीय समुद्घातमें अघातिया कर्मों की स्थिति और अनुभाग का मन्थन किया जाता है, अतः तीसरा “मन्थसमुद्घात” कहलाता है। इसे (तृतीय समुद्घातको) प्रतर समुद्घात और रुजक समुद्घात भी कहते हैं। समस्त लोक में आत्म प्रदेशों का फैलाव, चौथे समयमें हो जाने से, चौथे समयमें लोकपूरण समुद्घात कहलाता है। विशेष के लिए जयधवल का पश्चिमस्कन्ध अर्थाधिकार तथा प्रस्तुत ग्रन्थ पृष्ठ १६६ से २०३ देखना चाहिए।
कोटाकोटीसागर	१६	दस कोड़ाकोड़ी पत्त (अद्वापत्य) का एक सागर (अद्वासागर) होता है। तथा एकसागर को “करोड़ X करोड़” से गुणा करने पर जो आवे वह कोटाकोटी-

सागर कहलाता है । अर्थात् करोड़ × करोड़ × सागर = कोड़ाकोड़ीसागर ।

[कर्मों की स्थिति अद्वापत्य, अद्वासागर से वर्णित है]

क्रोधकाण्डक

७९

क्रोध की अपूर्वस्पर्धकसंख्या को मान कषाय की अपूर्व स्पर्धक संख्या में से घटाने पर जो शेष रहे उसका क्रोध की अपूर्वस्पर्धक संख्या में भाग देने पर “क्रोध के काण्डक” का प्रमाण प्राप्त होता है । तथा उस काण्डकप्रमाण में क्रमशः एक-एक अधिक करने से मान, माया एवं लोभ; इन तीन काण्डकों का प्रमाण प्राप्त होता है । यानी क्रोध के काण्डक (क्रोध काण्डक) से एक अधिक का नाम मान काण्डक है । इससे एक अधिक का नाम माया काण्डक है । तथा इससे भी एक अधिक का नाम लोभकाण्डक है ।

सायिक चारित्र

सकल चारित्रमोहनीय के क्षम से उत्पन्न होने वाले चारित्र को सायिक चारित्र कहते हैं । त. वृत्ति २-४; ल. सा. ६०६; धवल पु. १४/१६ [चारित्तमोह-कवण सभुषणं खड्यं चारित्त]; त. वा. २/४/७; स. सि. २/४ आदि ।

गुणश्रेणिनिर्जरा

३९

विशुद्धिवश गुणश्रेणी के द्वारा कर्मप्रदेशों की निर्जरा होना गुणश्रेणि निर्जरा है । “गुणश्रेणी” की परिभाषाके लिए देखो—उदयादि अवस्थित गुणश्रेणी आध्याम की परिभाषा में । इतना विशेष जानना कि गुणश्रेणि निर्जरा कर्म की होती है; नोकर्म की नहीं । ध० ९/३५२

गुणसंक्रम

११

“समयं पडि असंखेज्जगुणाए सेहीए जो पदेससंकमो सो गुणसंकमो ति भण्णदे ।” अर्थात् प्रत्येक समय असंख्यातगुणी श्रेणी के द्वारा जो प्रदेश संक्रम (अन्य प्रकृति रूप परिणामन) होता है वह गुणसंक्रम कहलाता है । जयधवल पु० ९ पृ० १७२ गो० क० जी० प्र० ४१२ आदि कहा भी है—अप्रमत्त गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में बन्ध से रहित प्रकृतियों का गुणसंक्रम और सर्व संक्रम होता है । धवल १६/४०९ प्रस्तुत ग्रन्थ में भी कहा है कि प्रतिसमय असंख्यातगुणों क्रम से युक्त, अबन्ध अप्रशस्त प्रकृतियोंका द्रव्य, बध्यमान स्वजातीय प्रकृतियों में संक्रान्त होता है; यह गुणसंक्रम है । ल. सा. ४००; गो० क० ४१६ अर्थात् विशुद्धि के वश प्रतिसमय असंख्यातगुणित वृद्धि के क्रम से अबध्यमान अशुभ प्रकृतियों के द्रव्य को जो शुभ प्रकृतियों में दिया जाता है इसका नाम गुण संक्रम है ।

चूलिका

२३१

सूत्र-सूचित अर्थ के प्रकाशित करने का नाम चूलिका है । धवल १०/३९५ जिस अर्थ-प्रकरण के किये जानेपर पूर्व में वर्णित पदार्थ के विषय में शिष्य को निश्चय

शब्द

पृष्ठ

परिभाषा

उत्पन्न हो; वह चूलिका है। धवल ११।१४० पूर्व निरूपित अनुयोग द्वारों में एक, दो भ्रष्टवा सभी अनुयोगद्वारों से सूचित अर्थों की विशेष प्ररूपणा जिस सन्दर्भ के द्वारा की जाती है उसका नाम चूलिका है। धवल पृ० ७ पृ० ५७५

छद्मस्थ २३७

ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का नाम "छद्म" है। इस छद्म में जो स्थित रहते हैं, उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। धवल १०।२९६; धवल १।१९०; धवल १।१८८

जघन्य कृष्टि ११९

सबसे स्तोक अनुभाग वाली प्रथम कृष्टि ही जघन्य कृष्टि कहलाती है।

दूरवर्ती १८६-१८९

दूरवर्ती क्षेत्र में स्थित "दूर" कहलाती है। स. तार ६११ एवं न्यायदीपिका पृ. ४१ कहा भी है—“स्वभाव विप्रकर्षी परमाणु आदि, काल विप्रकर्षी राम, रावण आदि और देश विप्रकर्षी हिमवान् आदि सूक्ष्म, अन्तरित एवं दूरार्थ माने गये हैं।”
- आ. मी. ५ (कारिकाकार स्वामी समन्तभद्र) पृ० ३५; ३४ अनु० मूलचन्दजी न्यायतीर्थ अतः हिमवान् पर्वत आदि "दूर" कहलाते हैं। (दूर अर्थात् दूरवर्ती) परन्तु पंचाध्यायी उ० श्लोक ४८४ में लिखा है कि राम, रावण, चक्रवर्ती (बल-भद्र, अर्द्धचक्री, चक्री) जो हो गये हैं और जो होने वाले हैं वे दूरार्थ (दूरवर्ती) कहलाते हैं (यथा—दूरार्था भाविनोतीता रामरावणचक्रिणः) यही बात लाटी-संहिता ४-८ पर लिखी है। फर्क इतना है कि पंचाध्यायी व लाटीसंहिता में काल की अपेक्षा दूर से "दूर" लिया है। परन्तु ऊपर प्रस्तुत ग्रन्थ में एवं प्राप्तमीमांसा में देश (क्षेत्र) की अपेक्षा दूर को "दूर" कहा है। अन्य कोई बात नहीं है।

परमुख क्षय २३३

अर्थात् विवक्षित कर्मद्रव्य का परप्रकृतिरूप संक्रमण होकर क्षय होना।

परस्थान संक्रमण १२०-१३६

निकटतम ग्रन्थ कषाय की प्रथम संग्रह कृष्टि में विवक्षित कषाय के द्रव्यका संक्रमण करना परस्थान संक्रमण कहलाता है। ज. घ. २१८३-८४ जो द्रव्य जिस कषाय में संक्रमण करता है वह उसी कषायरूप परिणामन कर जाता है।

पश्चादानुपूर्वी २३६

जो प्ररूपणा ऊपर से नीचे की परिपाटी से अर्थात् विपरीत क्रम से की जाती है उसे पश्चादानुपूर्वी उपक्रम कहा जाता है। जैसे—मैं मोक्ष सुख की इच्छा से वर्धमान स्वामीको तथा शेष तीर्थंकरों को भी नमस्कार करता हूँ—यह प्ररूपणा।

१. अर्थात् पहले वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करता हूँ। और विलोमक्रम से वर्धमान के बाद पार्श्वनाथ को, पार्श्वनाथ के बाद नेमिनाथ को; इत्यादि क्रम से शेष जिनेन्द्रों को भी नमस्कार करता हूँ। (घ. १।७४; मूलाचार १०५) यह पश्चादानुपूर्वी है।

धवल १।७४ कहा भी है—विलोमेण प्ररूपणा पच्छाणुपूर्वी एवम् । धवल ९।१३५ अर्थात् विलोम क्रम से प्ररूपणा करना पश्चादानुपूर्वी है । (ध. ९।१३५ प्रथम पेरा) जयधवल पुस्तक १ पृ. २५ प्रकरण २२ (प्रथम पेरा) में भी कहा है कि—उस पदार्थ की विलोम क्रमसे अर्थात् अन्त से लेकर आदि तक गणना करना पश्चादानुपूर्वी है ।

पूर्वानुपूर्वी

२३६

उद्दिष्ट क्रम से अर्थाधिकार की प्ररूपणा का नाम पूर्वानुपूर्वी है । (धवल ९।१३५ प्रथम पेरा ।) जो पदार्थ जिस क्रम से सूत्रकार के द्वारा स्थापित किया गया हो, अथवा जो पदार्थ जिस क्रम से उत्पन्न हुआ हो उसकी उसी क्रम से गणना करना पूर्वानुपूर्वी है । जयधवल १।२५ । जो वस्तु का विवेचन मूल से परिपाटी द्वारा किया जाता है उसे पूर्वानुपूर्वी कहते हैं : अथवा उदाहरण रूप प्रकार है—‘ऋषभनाथ की वन्दना करता हूँ, अजितनाथ की वन्दना करता हूँ’ इत्यादि क्रम से ऋषभनाथ को आदि लेकर महावीरस्वामी पर्यन्त क्रम वार वन्दना करता, सो वन्दना सम्बन्धी पूर्वानुपूर्वी उपक्रम है । धवल १।७४

प्रदेश

४६

(i) जितने क्षेत्र में एक परमाणु रहता है उसका नाम प्रदेश है । श्रु. स. सि. ५-८; द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र १४०; प्र. सा. (जय.) २,४५; नियमसार पृ० ३५

(ii) ग्रन्थ विवक्षा में—स्कन्ध के आधे के आधे भाग को या देश के आधे भाग को प्रदेश कहते हैं । श्रु. त० सा० ३।५७; वसुनन्दिश्राव० १७ गो० जी०, जी० प्र० ६०४; पं० का० ७५; मूला० ५-३४ (वट्टकेराचार्य); भाव सं० ३०४; गो० जी० ६०४ आदि ।

(iii) परन्तु यहां कर्म शास्त्र में, प्रकृत में प्रदेश शब्द से, परमाणुरूप द्रव्य जानना चाहिए । लब्धिसार-क्षपणासार में जहां प्रदेश शब्द आया है, वहां प्रायः “कर्मपरमाणु” अर्थ में ही आया है । प्रदेश = कर्मपरमाणु । (देखो क्षपणासार गा० ४४१ पृ० ४६ आदि पर आगत प्रदेश शब्द]

प्रध्वंसाभाव

१८६

(i) कार्य के विनाश का नाम प्रध्वंसाभाव है । धवल १५।२६

(ii) दही में जो दूध का अभाव है वह प्रध्वंसाभाव स्वरूप है । जै० ल० ३।७६५

(iii) प्रध्वंस अर्थात् कार्य का विघटन नामक धर्म ।

श्रु. नोट—ये दोनों (i) व (ii) परिभाषाएं परिज्ञान मात्र के लिए दी गई हैं ।

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		(iv) आगामी पर्याय में वर्तमान पर्याय के अभाव को प्रध्वंसाभाव कहते हैं । जे० सि० प्र० १८३
फालि	४८	(i) समय-समय में जितना द्रव्य संक्रमित होता है वह फालि है । (संक्रम प्रकरण में) (ii) स्थिति काण्डक के प्रकरण में जितना द्रव्य काण्डक में से प्रति समय अव- शिष्ट नीचे की स्थिति में दिया जाता है वह फालि है । (iii) ऐसे ही उपशमनकाल में पहले समय जितना द्रव्य उपशमाया वह उपशम की प्रथम फालि, द्वितीय समय में उपशमाया वह उसकी द्वितीय फालि इत्यादि । भावतः समुदायरूप एक क्रिया में पृथक्-पृथक् खण्ड करके विशेष करना “फालि” कहलाता है ।
अवधायली		इसे अवलावली भी कहते हैं । प्रकृति का बन्ध होने के बाद आवली मात्र काल- तक वह उदय, उदीरणादिरूप होने योग्य नहीं होता, यही आवलीकाल अवा- वली है । इसे आवाधावली भी कहते हैं ।
मान काण्डक	८०	देखो—शोधकाण्डक की परिभाषा में ।
माया काण्डक	८१	” ”
लोभ काण्डक	८२	” ”
व्ययद्रव्य	१२१	देखो—आयद्रव्य की परिभाषा में ।
संक्रमावली		जिस आवली में संक्रमण पाया जाय वह संक्रमावली है ।
संग्रहकृष्टि	९४	श्रीश्रादि संज्वलन कषायों की जो बारह, नी, छः और तीन कृष्टियाँ होती हैं क० पा० सु० पृ० ८०६ वे ही संग्रह कृष्टियाँ हैं । पुनः इस एक-एक संग्रह कृष्टि की अवयव या अन्तर कृष्टियाँ अनन्त होती हैं । (क० पा० सु० पृ० ८०६) क्योंकि अनन्त कृष्टियों के समूह का ही नाम संग्रह कृष्टि है ।
संग्रहकृष्टि अन्तर	१००-१०१	(i) परस्थान गुणकार का नाम संग्रहकृष्टि-अन्तर है । (जयधवल मू० २०५०) (ii) संग्रहकृष्टियों के और संग्रहकृष्टियों के अधस्तन-उपरिम अन्तर ११ होते हैं, उनकी संज्ञा “संग्रहकृष्टिअन्तर”; ऐसी है । क. पा सु. पृ. ७९९ सू. ६११
सूक्ष्म	१८६-१८८	परमाणु आदिक सूक्ष्म हैं । धर्मद्रव्य, कालाणु, पृद्गलपरमाणु आदि सूक्ष्म हैं । पंचाध्यायी २।४८३, लाटी संहिता ४।७ आदि ।
सूक्ष्मसाम्पराय- कृष्टिकरण	१५०	संज्वलन लोभकषाय के अनुभाग की वादर साम्परायिक कृष्टियों से भी अनन्त गुणित हानिरूप से परिणमित करके अत्यन्त सूक्ष्म या मन्द अनुभागरूप से

शब्द	पृष्ठ	परिभाषा
		अवस्थित करने को सूक्ष्मसान्प्रशिवकृष्टिकरण कहते हैं । जघधवल मूल पृ० २१६४-९५ तथा क० पा० मुत्त पृ० ८६२
स्थितिकाण्डककाल	५३	एक स्थितिकाण्डककाल में लगने वाला काल स्थितिकाण्डककाल कहलाता है । यह अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होता है । यह स्थितिकाण्डकोत्कीरण काल भी कहलाता है ।
स्थितिबन्धापसरणकाल	५३	एक स्थितिबन्धापसरणकाल में लगने वाले काल को स्थितिबन्धापसरण काल कहते हैं । यह भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होता है । इसे स्थितिबन्धकाल भी कहते हैं । एक स्थितिकाण्डककाल (यानी स्थितिकाण्डककाल) और स्थितिबन्धापसरण का काल परस्पर तुल्य होते हैं । (ल० सा० गाथा ७६ पृ० ६४, ६५, ७६ क्ष० रा० पृ० ३४ आदि)
स्वमुखक्षय	२३३	स्वस्वरूपसे उदित होते हुए क्षय होना ।
स्वस्थान संक्रमण	१२०-१३९	विवक्षित कषाय की संग्रह कृष्टि का द्रव्य जब अन्य संग्रह कृष्टि में संक्रमण करता है तो उस विवक्षित कषाय की ही शेष अघस्तनकृष्टियों में संक्रमण करता है यह स्वस्थान संक्रमण है । स्वस्थान में अर्थात् अपनी ही अन्य संग्रहकृष्टियोंमें । संक्रमण करना, अर्थात् तद्रूप परिणामन करना; ऐसा अर्थ है ।



क्षपणा सार

“टीकायामुद्धृतगाथासूचिः”

पृष्ठ	गाथांश	अन्य ग्रन्थ में जहां आई है—
२२३	अद्वैतउद्वं भासां	भावसंग्रह गा० ३५७
२२१	अण मिच्छ मिस्स	ज० घ० मूल पृ० २२७२ गा० १
२२२	अध थीणगिद्धि—	ज० घ० मूल पृ० २२७३ गा० २ तथा क० पा० सु० पृ० ७५६ गा० १२८
२२७	अविद्वक्कमवीचारं अणियट्ठी	धवल १३ पृ० ८७ गा० ७७
२२५	अविद्वक्कमवीचारं सुहुम-	भ० आ० गा० १८८६
१६३	असहायणाणदंसण	ज० घ० मूल पृ० २२७७ गा० २ तथा धवल पु० १ पृ० १६१-६२
२३५	उदयो च अणंतगुणो	ज० घ० मूल पृ० २२७४ गा० ६
२१३	अंतीमुहत्तमद्धं	ज० घ० मूल पृ० २२६१ गा० १५७
४	काणि वा पुब्बवद्धाणि	क० पा० सु० पृ० ६१४ गा० ६२
१६४	कायवाक्यमनसां	ज० घ० मूल पृ० २२७१ गा० १४८ तथा स्वयंभू-स्तोत्र ७४
४	किं ट्ठिदिपाणि कम्माणि	क० पा० सु० पृ० ६१५ गा० ६४
४	के असे स्त्रीयदे पुब्बं	क० पा० सु० पृ० ६१५ गा० ६३
१६३	केवलणाणदिवायर-	ज० घ० मूल पृ० २२७० गा० १ तथा धवल १/ १६१-६२
२३३	कोहस्स छुहइ भाणे	ज० घ० मूल पृ० २२७३ गा० ५ तथा क० पा० सु० पृ० ७६४-६५
२२३	घरवावारा केई	भावसंग्रह गा० ३८५
२३६	चरिमे वादररागे	ज० घ० मूल पृ० २२७४ गा० १० तथा क० पा० सु० पृ० ८७४ गा० २०६
१६४	जगते श्वया हितम—	ज० घ० पृ० २२७१ गा० १४७
२२७	जहसव्वसरीरगद	धवल १२ पृ० ८७ गा० ७५
२३७	जात्र एण छुदुमत्थादो	ज० घ० मूल पृ० २२७४ गा० १२
२२५	जिण साहुणुविकत्तण-	धवल १३ पृ० ७६
२२८	जोगविणासं किच्चा	स्वा० कार्ति० अनु० गा० ४८७
२३४	जो जम्हि संछुहंतो	ज० घ० मूल पृ० २२७३ गा० ६ तथा क० पा० सु० पृ० ७६५ गा० १४०
२३६	जं चावि संछुहंतो	ज० घ० मूल पृ० २२७४ गा० ११; क० पा० सु० पृ० ८८१ गा० २१७ तथा क० पा० सु० पृ० ६२५ गा० ११

पृष्ठ	गाथांश	अन्य ग्रन्थ में जहाँ आई है—
२२६	भाणं तह भायारो	भावसंग्रह गा० ६८३
२२८	भाणं सजोइकेवलि	भावसंग्रह गा० ६८२
१७५	णिस्सेसखोणमोहो	गो० जी० ६२
१६२	तव वीर्यविघ्नविलयेन	ज० घ० मूल पृ० २२६६ गा० १४२
२२७	तह बादरतणुविसयं	धवल १३ पृ० ८७ गा० ७६
१६५	तिस्थयरस्स विहारो	जय ध० मूल पृ० २२७६ गा० १६०
२१३	ततीयं काययोगस्स	जय ध० मूल पृ० २२६० श्लोक १५६
२२६	तौयमिव णालियाए	धवल १३/८६ गा० ७४
१	तो सुअदेवयमिणमो	ज० घ० मूल पृ० १६३६
२०३	दण्डं प्रथमे समये	जय ध० मूल पृ० २२८२ गा० १५२
२०५	द्वीन्द्रियसाधारणयो-	जय ध० मूल पृ० २२८४ श्लोक १५५
१६५	नभस्तलं पल्लवयन्	जय ध० मूल पृ० २२७२ तथा स्वयंभूस्तोत्र; पद्म- प्रभस्तवन गा० ४
२०५	पञ्चेन्द्रियोऽथ संज्ञी यः	ज० घ० मूल पृ० २२८४ श्लोक १५४
२३५	बंधेण होइ उदयो	ज० घ० मूल पृ० २२७४ गा० ८ तथा धवल पु० ६ पृ० ३३२ गा० २७ एवं क० पा० सु० पृ० ७७०
२३४	बंधेण होइ उदयो	ज० घ० मूल पृ० २२७४ गा० ७ तथा क० पा० सु० पृ० ७६६ गा० १४४
२२४	मुखं धम्मजभाणं	भावसंग्रह गा० ३७१
२२४	मुखोपचारभेदेन	तत्त्वानुशासन श्लोक ४७
१	मुखियपरमत्थवित्थर	जय ध० मूल पृ० १६३६
१६२	विरागहेतु प्रभवं न	जय ध० मूल पृ० १६७० गा० १४४
१६४	विवक्षासन्निवानेऽपि	जय ध० मूल पृ० २२७१ गा० १४६
२२४	सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि	तत्त्वानुशासन श्लोक ५१
१६२	सपर बाहासहियं	प्रवचनसार गा० ७६ तथा जयधवल मूल पृ० २२७० गा० १४३
२३२	सव्वस्स मोहणीयस्स	जय ध० मूल पृ० २२७३ गा० ३ तथा क० पा० सु० पृ० ७६४-६५ गा० १३६
१	सुसुदेवयाए भत्ती सुदो-	ज० घ० मूल पृ० १६३६
२२६	सुहममिह कायजोगे	भ० आ० गा० १८८७
४	संकामणपट्ठवगस्स	क० पा० सुत्त० पृ० ६१४ गाथा ६१
२३३	संछुहदि पुरिसवेदे	जयधवल मूल पृष्ठ २२७३ गाथा ४ तथा क० पा० सुत्त पृ० ७६४-६५
२०३	संहरति पंचमे स्वन्तराणि	जयधवल मूल पृ० २२८२ गा० १५३



क्षयभासार विशेष शब्द-सूची

अग्रस्थिति	१२	अश्वकर्णकरण	१८०, १७६, ६४, ८७, ८८
अतिस्थापना	११, १६४	असंक्रामक	२३३
अतिस्थापनावली	१६७	आगाल	६०
अवस्तनकृष्टि	११५	आदोलकरण	६४, ८७, ८८
अधःकरण	२	आनुपूर्वसंक्रमण	४६
अधःप्रवृत्तसंक्रम	४६	आवाधा	४६
अधःप्रवृत्तसंक्रम भागहार	१५८	आयद्वय	१२१, १२२, १२४
अनिवृत्तिकरण	२, २४	आयुक्तकरण	४७
अनुत्पादानुच्छेद	६०, २३१	आवर्जितकरण	१६७, १६८
अनुभागकाण्डककाल	५६	आवर्जितकरण केवली	२००
अनुभागकाण्डकधात	४, १०	ईषत् प्राग्भावर पृथिवी	२१७
अन्तदीपक	६७	उच्छिष्टावली	३८
अन्तरकरण	४३	उत्कीर्ण	२३४
अन्तरकृष्टि	६६	उत्कृष्टकृष्टि	११६
अन्तरायाम	१६५	उत्पादानुच्छेद	२३, ६१
अन्तरित	१८६, १८६	उपरितनकृष्टि	११५
अन्तःकोड़ाकोड़ी	२१	उपरितनस्थिति	१०
अन्तःदिवस	२३६	उष्ट्रकूटश्रेणी	१०६, ११०
अन्तःवर्ष	२३६	एकत्ववितर्क अवीचार	२२२
अपकर्षण	१०	कपाटसमुद्घात	१६७, १६६
अपकर्षण उत्कर्षण भागहार	६	काण्डक	४८
अपवर्तन	६४, ६६, ८७	कृष्टि	६३
अपवर्तनोद्वर्तनकरण	२	कृष्टि अनुभवन	२, ११२
अपूर्वकरण	६०, ६३, ८८	कृष्टि अन्तर	१००, १०१
अपूर्वस्पर्धक	२	कृष्टिकरण	२
अपूर्वस्पर्धककरण	१६४	केवलीसमुद्घात	१६६
अभिसन्धि	६४	कोड़ाकोड़ी	१६
अवयवकृष्टि	१७८	क्रमकरण	२६
अवस्थित गुणश्रेणी			

क्रोधकाण्डक	७६	पूर्वस्पर्धक	७२
गलितावशेषगुणश्च एणौ	१०, २०	पूर्वनिपूर्वी	२३६
गुणश्रेणि अप्रामा	१०	पृथक्त्व	३१, ३२, २३६
गुणश्रेणि निर्जरा	३६	पृथक्त्व वितकं सविचार	२२२
गुणश्रेणी शीर्ष	१७७	प्रतर समुद्घात	१६७, १६६
गुणसंक्रमण	११, २०	प्रतिग्रह	१५७
गोपुच्छा	५६	प्रतिग्रहस्थान	१५६
घातद्रव्य	१२५	प्रतिग्रह्यमाण	१५७
चालीसीय	२७, २६	प्रत्यागाल	६०
चूलिका	२३१	प्रत्यावली	६०, ६१
छद्मस्थ	२३६	प्रथम वर्गमूल	१७७
जघन्यकृष्टि	११६	प्रदेश	४६
जघन्य वर्गणा	६६	प्रदेशगुणहानिस्थानान्तर	८६
डेढ़गुणहानि	१७३	प्रध्वंसाभाव	१८६
तीसीय	२७, २६	फालि	४६, ४८
दण्डसमुद्घात	१६७, १६६	बादर उच्छ्वास निःश्वास	२०३
दीयमान	११४, १७६, १३०	बादर काययोग	२०३
दूरवर्ती	१८६, १८६	बादर मनोयोग	२०३
दूरापकृष्टि	२६, ३०, ३१	बादर वचनयोग	२०३
दृश्यमान	११४, १३०, १५७, १६८	बीसीय	२७, २८, २६
देशघातिकरणा	१६६, १७६	भजितव्य	१४
देशामर्शक	४२, २	महावाचक आर्यमंशु	२०२
द्रव्यवेद	११	मानकाण्डक	८०
ध्यान	६	मायाकाण्डक	८१
नवकसमय प्रबद्ध	२१३	यति वृषभाचार्य	२०२
निक्षेप	११३	योगनिरोध	१६८
निःसिचमानप्रदेशाय	११	लोकपूरणसमुद्घात	१६७, १६६
परमुखउदय	१३०	लोभकाण्डक	८२
परमुख क्षय	६	वर्षपृथक्त्व	
परस्थान	२३३	विशेषहीन	१६५
परस्थानगुणकार	२३४	विसंधोजना	३, २३१
परस्थानसंक्रमण	१०१	व्ययद्रव्य	१२२, १२३, १२४, १२१
पर्व	१२०	व्युपरतक्रियानिवर्ती	२२७
पल्योपम	१६३	शेषशेष	२६
पश्चादानुपूर्वी	२०, १७७	शैलेश्य भाव	२१५
	२३६		

संक्रमण	४	सूक्ष्मसाम्परायिक कृष्टि	१५०
संक्रान्त	२३४	स्तिवुक संक्रमण	१८६
संग्रहकृष्टि	६७, ६४	स्थितिकाण्डकघात	४, १०
संग्रहकृष्टिअन्तर	१००, १०१	स्थितिबन्धापसरण	२१, २३
सत्त्वापसरण	२	स्थितिबन्धापसरणकाल	५३
सिद्धान्तचक्रवर्ती	२३८	स्थितिसत्कर्म	१५
सूक्ष्म	१८६, १८६	स्वजातीय	३८
सूक्ष्म उच्छ्वास निःश्वास	२०३	स्वमुखक्षय	२३३
सूक्ष्मकृष्टि	१७०	स्वस्थान केवली	१६६, २००
सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती	२२५	स्वस्थानगुणकार	१०१
सूक्ष्ममनोयोग	२०३	स्वस्थान संक्रमण	१३६
सूक्ष्मवचनयोग	२०३		



“क्षपणासारस्य गाथानुक्रमणिका”

मा. सं.	गाथा	पृ. सं.	मा. सं.	गाथा	पृ. सं.
	“अ”				
४९५/१०४	अकसायकसायाणं	६४	५९६/२०५	एतो सुहुमंतो त्ति य	१७२
४११/२०	अणियट्टिस्स य पढमे	२३	६३९/२४८	एत्थापुग्गविहाणं	२१०
६३६/२४५	अपुग्गविहाणं	२०८	५६३/२०२	एदेण्णावहुग-	१६९
६०८/२१७	अवगमवेदो संतो	१८३	४२०/२९	एवं पल्लं जादा	६६
४०९/१८	असुहाणं पयडीसं	२२		“ओ”	
	“आ”		५८४/१९३	ओक्कट्टिदिग्गिभागं	१६३
४०६/१५	आउगवज्जाणं ठिदि	२०	६३३/२४२	ओक्कट्टि पडिसमयं	२०६
३६६/५	आदिमकरणद्धाए	२	६३७/२४६	ओक्कट्टि पडिसमयं	२०८
४८३/६२	आदोलस्स य चरिमे	८७	४७०/७६	ओक्कट्टिदं तु देदि	७३
४८२/९१	आदोलस्स य पढमे	८७	४०७/१२	ओक्कट्टि जे अंसे	१४
४८४/६३	आदोलस्स य पढमे	८८	४९३/१०२	ओक्कट्टिद दब्बस्स य	
५२४/१३४	आयादो वममहिं	१२४	४०१/१०	ओक्कट्टिणा जहण्णा	११
६११/२२०	आवरणादुगाण खये	१८५		“अं”	
	“इ”		४६०/६६	अंतरकदपडमादो	६१
४४३/५२	इदि संठं संकामिय	५१	५८९/१६८	अंतरपडमठिदि त्ति य	१६७
	“उ”		५८६/१९५	अंतरपडमठिदि त्ति य	१६४
५६७/२०६	उक्किण्णे अबसाणे	१७३	५८७/१६६	अंतरपडमठिदि त्ति य	१६६
४३५/४४	उक्कीरिदं तु दब्बं	४४	५९०/१९६	अंतरपडमठिदि त्ति य	१६८
४१४/२३	उदधिसहस्स पुधत्तां	२६	४०७/१६	अंतोकोडाकोढी	२१
४२१/३०	उदधि सहस्स पुधत्तां	३१	६२०/२२६	अंतोमुहुत्तमाज	१६६
५२७/१३६	उदयगदसंगहस्स य	१२४		“क”	
५१७/१२५	उत्तरि उदयट्ठाणा	११६	६४३/२५२	किट्टिमजोगी भाणं	२१२
	“ए”		५०६/११५	किट्टीकरणद्धाए	११०
४१७/२६	एइदिपट्ठीदीदी	२८	६४०/२४९	किट्टीकरणे चरिमे	२१०
६३०/२३९	एक्कस्स रिण्ठभण	२०३	४६४/१०३	किट्टीयो इगिफट्ठय	६४
४०८/१७	एक्केवकट्ठिदिखंडय	२१	५१४/१२३	किट्टीवेदमपडमे	११४
४०४/१३	एक्कं च ठिदिविसेसं	१५	५७५/१८४	किट्टीवेदमपडमे	१५७
६३५/२४४	एत्तो करेदि किट्ठि	२०८	४७४/८३	कोहुसेसेणवहिद	७९
६२७/२३६	एत्तो षवर क्वाड	१६७	५५६/१६५	कोहुपडमं य माणो	१४४
			५६७/१७६	कोहुस्स पडमकिट्टी	१५१
			५४७/१५६	कोहुस्स पडमकिट्टी	१३९

गा. सं.	गाथा	पृ. सं.	गा. सं.	गाथा	पृ. सं.
५३०/१३३	कोहस्त पढमकिट्टी	१२६	६०३/२१२	चरिमे लंडे पडिदे	१७८
५१६/१२५	कोहस्त पढमसंगह	११६	६०९/२१८	चरिमे पढमं वगधं	१८४
५४२/१५१	कोहस्त पढमसंगह	१३५		"छ"	
५३७/१४६	कोहस्त य जे पढमे	१३२	४१०/२६	छक्कम्मे संछुडे	९१
६०४/२१३	कोहस्त य पढमठिदी	१७९		"ज"	
५७७/१८६	कोहस्त य पढमादो	१५७	६२६/२३५	जगपूरसाम्हि एकका	१९७
४९७/१०६	कोहस्त य माणस्त य	९९	५४८/१५७	जस्त कसायस्त जं	१३९
५४४/१५३	कोहस्त विदियकिट्टी	१३७	६५३/२६२	जस्त य पावपसाए	२३८
५४५/१५४	कोहस्त विदियसंगह	१३७	४७३/८२	जे हीराण अवहारे	७६
५३८/१४७	कोहादि किट्टियादि	१३३	६२३/२३२	जोगिस्त सेसकाले	१६७
५३६/१४५	कोहादि किट्टिवेदग	१३२	६४४/२५३	जोगिस्त सेसकालं	२१३
४९२/१०१	कोहादीरां सगसग	९३	६१४/२२३	जं एोकसायविग्घ-	१८७
४७१/८०	कोहादीणमपुवं	७९	६१५/२२४	जं एोकसायविग्घ-	१८७
४३९/४८	कोहं व छुहदिमाणे	४८		"ठ"	
५८८/१९७	कंडयगुणचरिमठिदी	१६६	४५१/६०	ठिदिसंढपुधत्तगदे	५४
	"ल"		६२४/२३३	ठिदिसंढमसंसेजे	१९७
६१०/२१६	खीणो घादिचउक्के	१८५	४३३/४२	ठिदिसंढसहस्तगदे	४३
	"ग"		४३१/४०	ठिदिवंधपुधत्तगदे	४२
४६७/७६	गणरादेयपदेसे	७०	४३०/३९	ठिदिवंधपुधत्तगदे	३७
४५४/६३	गुणसेदि अणंतगुणे	५७	४५०/५९	ठिदिवंधपुधत्तगदे	५४
४४२/५१	गुणसेदि असंखेज्जा	५०	४१५/२४	ठिदिवंधसहस्तगदे	२६
५८३/१९२	गुणसेदि अंतरदिठदि	५८१	४१६/२५	ठिदिवंधसहस्तगदे	२७
३६३/२	गुणसेदी गुणसंकम	१	४२६/३८	ठिदिवंधसहस्तगदे	३६
३६७/६	गुणसेदी गुणसंकम	९	४४०/४६	ठिदिवंधसहस्तगदे	४८
३६८/७	गुणसेदीदीहत्तां	१०	४८९/६८	ठिदिसत्तमघादीणं	६१
५८५/१९४	गुणाय चउरादिसंढे	१६३	४५८/६७	ठिदिसंत घादीणं	६०
	"घ"			"ण"	
५२६/१३५	घादयदब्बादो पुण	१२४	६१६/२२५	णदठा य रायदोसा	१८८
५०८/११७	घादितियाणं संजं	११०	६१२/२२१	णवणोकसायविग्घ	१८६
५४०/१४९	घादितियाणं वंधो	१३३	४७८/८७	णवफड्डमाण करणं	८४
५५२/१६१	घादितियाणं वंधो	१४२	६१९/२२८	णवरि समुग्घादगदे	१९६
५५३/१६२	घादितियाणं सत्तां	१४२	५९८/२०७	णामकुणे वेयलीये	१७४
६०१/२१०	घादीणं मुहुत्तंतं	१७६	५२४/१३३	णासेदि परदठाणिय	१२३
	"च"				
६२५/२३४	चउसमएसु रसस्त य	६२५			

गा. सं.	गाथा	पृ. सं.	गा. सं.	गाथा	पृ. सं.
	"स"			"द"	
४१८/२७	तक्काले ठिदिसंतं	२८	५०६/११८	पडिपदमणंतगुणिदा	१११
४२६/३५	तक्काले वेयणियं	३३	५००/९	पडिसमयमसंखगुणं	१०
५७६/१८८	तत्तो सुहुमं गण्णवि	१६०	५०२/१११	पडिसमयमसंखगुणं	१०६
६४५/२५४	तत्थ गुणसेडिकरणं	२१३	५२३/१३२	पडिसमयमसंखेज्जदि	१२३
५६१/१७०	तदियगमायाचरिमे	१४८	४५२/६१	पडिसमयं असुहाणं	५५
५५८/१६७	तदियस्स माणचरिमे	१४६	५२१/१३०	पडिसमयं अहिगदिगा	११९
४३७/४६	तस्साणुपुण्विसंक्रम	४६	३९९/८	पडिसमयं ओक्कट्टिदि	१०
५८१/१६०	ताणं पुणं ठिदिसंतं	१६१	६१८/२२७	पडिसमयं दिव्वतमं	१९६
४७६/८५	ताहे अपुण्वफड्डय	८२	५५९/१६८	पढमगमाया चरिमे	१४७
४४७/५२	ताहे असंखगुणियं	५२	५६१/२००	पढमगुणसेडिसीसं	१६८
५१२/१२१	ताहे कोहुच्छिट्ठं	११२	५१५/१२४	पढमस्स य संगहस्सं य	११५
४७५/८४	ताहे दव्ववहारो	८१	४८१/९०	पढमाणुभागखंडे	८६
४४६/५५	ताहे मोहो थोवो	५२	४७९/८८	पढमादिसु दिव्वकमं	८५
४४५/५४	ताहे संखसहस्सं	५२	४८०/८९	पढमादिसु दिस्सकमं	८६
४६३/७२	ताहे संजलराणं	६५	५७३/१८२	पढमादिसु दिस्सकमं	१५६
४६६/७५	ताहे संजलराणं	६८	४९६/१०५	पढमादिसंगहाधो	९६
५३९/१४८	ताहे संजलराणं	१३३	५४३/१५२	पढमादिसंगहाणं	१३६
५५१/१६०	ताहे संजलराणं	१४२	६४१/२५०	पढमे असंखभागं	२१०
३६२/१	तिकरणमुभयोसरणं	१	४१०/१९	पढमे छट्ठे चरिमे	२२
५६९/२०८	तिण्हं चादीणं ठिदि-	१७४	५४६/१५५	पढमो विदिये तदिये	१३८
६४९/२५८	तिहुवणसिहरेण मही	२१७	३९५/४	पल्लस्स संखभागं	२
४२८/३७	तीदे वंघसहस्से	३६	४०५/१४	पल्लस्स संखभागं	१८
४२३/३२	तेत्तियमेत्तो वंघे	३२	४१३/२२	पल्लस्स संखभागं	२४
४२४/३३	तेत्तियमेत्तो वंघे	३२	४१९/२८	पल्लस्स संखभागं	२८
४२५/३४	तेत्तियमेत्तो वंघे	३३	४३२/४१	पुणरवि मदिपरिभोगं	४२
	"थ"		४५६/६८	पुरिसस्स य पढमट्ठिदि	६०
४४४/५३	थीअट्ठासंखेज्जा	५१	६०६/२१५	पुरिसोदयेण चट्ठिदि	१८२
६०७/२१६	थीपढमट्ठिदिमेत्ता	१८३	६५०/२५९	पुण्वण्हस्स सिजोवो	२१८
	"द"		४६८/७७	पुण्वाराणकड्डयाणं	७२
५७२/१८१	दव्वगपढमे सेसे	१५५	५०४/११३	पुण्वादिम्म अपुण्वा	१०४
५७०/१७९	दव्वं पढमे समये	१५४	६३२/२४१	पुण्वादिवग्गाराणं	२०६
५३३/१४२	दिज्जदि अणंतभागे	१२७	५१०/११६	पुण्वापुण्वफड्डय	१११
			५१६/१२८	पुण्विल्लबंधेज्जट्ठा	११८

गा. सं.	गाथा	पृ. सं.	गा. सं.	गाथा	पृ. सं.
	"अ"				
६०२/२११	बहुविदिखे तीदे	१७७	५१३/१२२	लोहादी कोहादी	११३
४१२/२१	बादरपदमे पदमं	२४		"अ"	
६२८/२३७	बादरमण बजि उस्सा	२०३	५०५/११४	बारेककारमणंत	१०७
६४८/२५७	माहत्तरि पयडीओ	२१६	५६०/१६६	विदियगभाषाचरिमे	१४७
५३१/१४०	बंधरादब्बादी पुण	१२६	४९१/१००	विदियतिभाषो किट्टी-	९२
५२९/१३८	बंधरादब्बाणीतिम	१२६	५५७/१६६	विदियस्स माणचरिमे	१४५
४४१/५०	बंधरा होदि उदओ	४६	५१८/१२७	विदियादिसु चउठाणा	११७
४५३/६२	बंधरा होदि उदओ	५६	५७१/१८०	विदियादिसु समयेसु	१५४
४२७/३६	बंधे मोहादि कमे	३३	४७७/८६	विदियादिसु समयेसु वि	८३
४५५/६४	बंधोदएहि रियमा	५८	६५२/२६१	कीरिदरांविदब्बे	२३८
	"म"		५५०/१५९	वेदज्जादिट्ठिदीए	१४१
६४२/२४८	मज्झिमबहुभागुदया	२१०		"स"	
५४९/१५८	माणतियकोहसविदे	१४०	४७२/८१	सगसगफड्कएहि	७६
६०५/२१४	माणतियाणुदयमहो	१७६	६२२/२३१	सट्ठारो आवज्जिद	१६७
४८६/६५	माणादीएहियकमा	८८	६२९/२३७	सण्णविसुहुमणि पुणो	२०३
५७६/१८५	मायातियादी लोह-	१५७	४३६/४५	सत्तकरणाणि अंतर-	४६
५६२/१७१	मासपुष्पतां वासा	१४८	४४९/५८	सत्तण्हं पढमट्ठिदि	५३
४२२/३१	मोहमपल्लासंख	३१	४४८/५७	सत्तण्हं पढमट्ठिदि	५२
	"ए"		६१३/२२२	सत्तण्हं पयडीणं	१८७
४६५/७४	रसखंडफड्कयाओ	६७	४५७/६६	सत्तण्हं संकाभग	५६
४८७/९६	रसठिदिखडाणव	६०	३९४/३	सत्थाराणमसत्थाराणं	१
४६४/७३	रससंतं आगहिदं	६६	४६१/७०	समऊणदोण्णि आवलि	६१
	"ल"		४६६/७८	समसंखं सविसेसं	७३
५८०/१८९	लोहस्स तिघादीणं	१६१	६१७/२२६	समयट्ठिदिगो बंधो	१८८
५७८/१८७	लोहस्स विदियकिट्ठि	१६०	६४७/२५६	सीलेसि संपत्तो	२१५
४९६/१०८	लोहादी कोहो ति य	१००	५९२/२०१	सुहुमद्धादी महिया	१६९
५००/१०६	लोहस्स अवरकिट्ठिग	१०५	६३१/२४०	सुहुमस्स य पढमादो	२०६
५०१/११०	लोहस्स अवरकिट्ठिग	१०५	५६६/१७८	सुहुमाओ किट्टीओ	१५३
५६६/१७५	लोहस्स तदियसंगह	१५०	५६४/२०३	सुहुमाणां किट्टीणां	१७०
५६८/१७७	लोहस्स पढमकिट्टी	१५१	५९५/२०४	सुहुमे संखसहस्से	१७०
५६३/१७२	लोहस्स पढमचरिमे	१४९	४६२/७१	से काले ओवट्ठणु-	६४
५७४/१८३	लोहस्स य तदियादी	१५६	५११/१२०	से काले किट्टीओ-	११२
			५५४/१६३	से काले कोहस्स य	१४३

गा. सं.	गाथा	पृ. सं.	गा. सं.	गाथा	पृ. सं.
५४१/१५०	से काले कोहस्त य	१३५	४०२/११	संकाभेदुक्कडुदि	१३
६४६/२५५	से काले जोगिजिणो	२१५	५३२/१४१	संस्त्रातीदगुणाणि य	१२७
५५५/१६४	से काले भाणुस्त य	१४३	५३५/१४४	संगहभ्रंतरजाणं	१२६
५६५/१७४	से काले लोहस्त य	१५०	४९७/१०६	संगहगे एक्केक्के	६९
५८२/१९१	से काले सुहुमगुणं	१६२	४३८/४७	संछुहदि पुरिसवेदे	४८
६००/२०६	से काले सो खीण-	१७४	४३४/४३	संजलणाणं एक्कं	४४
६३४/२४३	सेट्ठिपदस्स असंखं	२०६		"ह"	
६३८/२४७	सेट्ठिपदस्स असंखं	२०८	४८८/६७	हयकणाकरणाचरिमे	६१
५६४/१७३	सेसाणं पयडीणं	१४९	५२८/१३७	हेट्ठाकिट्ठिप्पहुदिसु	१२५
५०७/११६	सेसाणं वस्साणं	११०	५०३/११२	हेट्ठा असंखभागं	१०६
६५१/२६०	सो भे त्तिहुवणमहियो	२२६	६२१/२३०	हेट्ठा दंडस्संतो	१९७
४५६/६५	सकमणं तदवत्थं	५८	५२०/१२९	हेट्ठिमणुभयवरादी	११८
५२२/१३१	संकमदि संगहाणं	१२०	४८५/९४	होदि असंखेज्जगुणं	८८
५३४/१४३	संकमदो किट्ठीणं	१२८			

